ॐ

महाभारत

आरण्यकपर्व

दूसरा भाग

: १५४ :

वैशम्पायन उवाच

ततस्तान्परिविश्वस्तान्वसतस्तत्र पाण्डवान्।
गतेषु तेषु रक्षःसु भीमसेनात्मजेऽपि च ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! जब भीमसेनके पुत्र घटोत्कच तथा अन्य राक्षस चले गये और पाण्डव विश्वासपूर्वक रहने लगे ॥ १ ॥

रहितान्भीमसेनेन कदाचित्तान्यदृच्छया ।
जहार धर्मराजानं यमौ कृष्णां च राक्षसः ॥ २ ॥

तब एक दिन भीमसेनकी अनुपस्थितिमें इच्छानुसार घूमता हुआ एक राक्षस धर्मराज, नकुल, सहदेव और द्रौपदीको हर ले गया ॥ २ ॥

ब्राह्मणो मन्त्रकुशलः सर्वास्त्रेष्वस्त्रवित्तमः ।
इति ब्रुवन्पाण्डवेयान्पर्युपास्ते स्म नित्यदा ॥ ३ ॥

वह अपनेको मन्त्र और सब अस्त्रोंका जाननेवाला उत्तम ब्राह्मण बता कर पाण्डवोंकी रोज सेवा किया करता था ॥ ३ ॥

परीक्षमाणः पार्थानां कलापानि धनूंषि च ।
अन्तरं समभिप्रेप्सुर्नाम्ना ख्यातो जटासुरः ॥ ४ ॥

वह रोज पाण्डवोंके बाण और धनुषोंको देखता रहता था । वह हमेशा समयकी प्रतीक्षा करता रहता था । वह पापबुद्धि जटासुरके नामसे प्रसिद्ध था ॥ ४ ॥

स भीमसेने निष्क्रान्ते मृगयार्थमरिंदमे ।
अन्यद्रूपं समास्थाय विकृतं भैरवं महत् ॥ ५ ॥
गृहीत्वा सर्वशस्त्राणि द्रौपदीं परिगृह्य च ।
प्रातिष्ठत स दुष्टात्मा त्रीन्गृहीत्वा च पाण्डवान् ॥ ६ ॥

हे शत्रुनाशन ! एक दिन जिस समय भीमसेन शिकार खेलने निकल गए थे उसी समय राक्षसका विकृत और भयानक रूप बनाकर वह दुष्टात्मा सब शस्त्र, द्रौपदी, महाराज, नकुल और सहदेव इन तीनों पाण्डवोंको लेकर वहांसे चल दिया ॥ ५-६ ॥

सहदेवस्तु यत्नेन ततोऽपक्रम्य पाण्डवः ।
आक्रन्दद्भीमसेनं वै येन यातो महाबलः ॥ ७ ॥

परन्तु पाण्डुनन्दन सहदेव बहुत यत्न करके निकल गये और जिधर महाबली भीमसेन गये थे उधर जाकर भीमको पुकारने लगे ॥ ७ ॥

तमब्रवीद्धर्मराजो ह्रियमाणो युधिष्ठिरः।
धर्मस्ते हीयते मूढ न चैनं समवेक्षसे ॥ ८ ॥

(जब राक्षस उन्हें हरकर लिए जा रहा था) उसी समय हरे जाते हुए महाराजने राक्षससे कहा– कि रे मूर्ख! तेरा धर्म नष्ट हुआ जाता है और तू उसे नहीं देखता ॥ ८ ॥

येऽन्ये केचिन्मनुष्येषु तिर्यग्योनिगता अपि।
गन्धर्वयक्षरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा
मनुष्यानुपजीवन्ति ततस्त्वमुपजीवसि ॥ ९ ॥

किसी किसी स्थलमें मनुवंशियोंके बीच जो तिर्यक्योनिवाले हैं वे तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, पक्षी पशु सब मनुष्योंसे ही जीते हैं, तुम्हारी जीविका भी मनुष्योंहीसे है ॥ ९ ॥

समृद्ध्या ह्यस्य लोकस्य लोको युष्माकमृध्यते।
इमं च लोकं शोचन्तमनुशोचन्ति देवताः।
पूज्यमानाश्च वर्धन्ते हव्यकव्यैर्यथाविधि ॥ १० ॥

इस लोकके बढनेसे तुम्हारा लोक भी बढता है, इस लोकके दुःखी होनेसे देवता भी दुःखी होते हैं। इन्हीं मनुष्योंके द्वारा विधिपूर्वक हव्यकव्य कर्मोंसे पूजित होकर देवता भी प्रसन्न होते हैं ॥ १० ॥

वयं राष्ट्रस्य गोप्तारो रक्षितारश्च राक्षस।
राष्ट्रस्यारक्ष्यमाणस्य कुतो भूतिः कुतः सुखम् ॥ ११ ॥

हे राक्षस! हम भी राष्ट्रके पालक और रक्षक हैं, जब राष्ट्रकी रक्षा करनेवाला न हो तो और सुख और धन कहांसे होगा! ॥ ११ ॥

न च राजावमन्तव्यो रक्षसा जात्वनागसि।
अण्वप्यपचारश्च नास्त्यस्माकं नराशन ॥ १२ ॥

रे राक्षस! निरपराध राजाका किञ्चित् भी निरादर न करना चाहिये। रे मनुष्योंको खानेवाले राक्षस! तुम्हारे प्रति हम लोगोंसे जरा भी अपराध नहीं हुआ है ॥ १२ ॥

द्रोग्धव्यं न च मित्रेषु न विश्वस्तेषु कर्हिचित्।
येषां चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात्प्रतिश्रयः ॥ १३ ॥

पुरुषको चाहिए कि अपने मित्र और विश्वाससहित पुरुषसे कभी द्रोह न करे, जिसके आश्रयसे रहे और जिसका अन्न खाये उसके द्रोह न करे ॥ १३ ॥

स त्वं प्रतिश्रयेऽस्माकं पूज्यमानः सुखोषितः।
भुक्त्वा चान्नानि दुष्प्रज्ञ कथमस्माञ्जिहीर्षसि ॥ १४ ॥

तू हमारे आश्रयसे पूजित होता हुआ सुखपूर्वक रहा है। हे दुर्मते! वह तू हमारा अन्न खाकर अब हमीको क्यों हरण करना चाहता है ॥ १४ ॥

एवमेव वृथाचारो वृथावृद्धो वृथामतिः ।
वृथामरणमर्हस्त्वं वृथाद्य न भविष्यसि ॥ १५ ॥

ऐसा करनेसे तेरा आचार, तेरी बुद्धि, तेरी अवस्था और तेरा मरण सभी वृथा हो जायेंगे; अतएव आज तू ऐसा कर्म करके वृथा ही अपने प्राण गंवा बैठेगा ॥ १५ ॥

अथ चेद्दुष्टबुद्धिस्त्वं सर्वैर्धर्मैर्विवर्जितः ।
प्रदाय शस्त्राण्यस्माकं युद्धेन द्रौपदीं हर ॥ १६ ॥

यदि तू महादुष्ट होकर सब धर्मोंसे रहित भी होगया हो तो भी हमारे शस्त्र हमको दे दे; और फिर युद्ध करके द्रौपदीको लेजा ॥ १६ ॥

अथ चेत्त्वमविज्ञाय इदं कर्म करिष्यसि ।
अधर्मं चाप्यकीर्तिं च लोके प्राप्स्यसि केवलम् ॥ १७ ॥

यदि तू अज्ञानसे इन कर्मोंको करेगा तो तू लोकमें केवल अपकीर्ति और अधर्मकोही प्राप्त होगा ॥ १७ ॥

एतामद्य परामृश्य स्त्रियं राक्षस मानुषीम् ।
विषमेतत्समालोड्य कुम्भेन प्राशितं त्वया ॥ १८ ॥

हे राक्षस! तू इस मनुष्य जातिमें उत्पन्न हुई स्त्रीको ले जारहा है, तो तू आज समझ ले कि तूने घडेमें विषको घोट कर पिया है ॥ १८ ॥

ततो युधिष्ठिरस्तस्य भारिकः समपद्यत ।
स तु भाराभिभूतात्मा न तथा शीघ्रगोऽभवत् ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर महाराज युधिष्ठिर बहुत भारी होगये, उनके बोझसे वह राक्षस शीघ्र न चल सका ॥ १९ ॥

अथाब्रवीद् द्रौपदीं च नकुलं च युधिष्ठिरः ।
मा भैष्ट राक्षसान्मूढाद्गतिरस्य मया हृता ॥ २० ॥

तब महाराजने द्रौपदी और नकुलसे कहा—कि तुम लोग जरा भी भय मत करो, मैंने इस मूर्ख राक्षसकी गतिका नाश कर दिया है ॥ २० ॥

नातिदूरे महाबाहुर्भविता पवनात्मजः ।
अस्मिन्मुहूर्ते संप्राप्ते न भविष्यति राक्षसः ॥ २१ ॥

और महाबाहु वायुपुत्र भीमसेन भी बहुत दूर नहीं होंगे, इसी क्षण वह यहां आजायेंगे तो यह राक्षस जीता न बचेगा ॥ २१ ॥

सहदेवस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं मूढचेतसम्।
उवाच वचनं राजन्कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ २२ ॥
हे महाराज! जब सहदेवने उस मूर्ख राक्षसको देखा, तो कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिरसे कहने लगे ॥ २२ ॥

राजन्किं नाम तत्कृत्यं क्षत्रियस्यास्त्यतोऽधिकम्।
यद्युद्धेऽभिमुखः प्राणांस्त्यजेच्छत्रूञ्जयेत वा ॥ २३ ॥
हे महाराज! क्षत्रियके लिए इससे अधिक और कौनसी बात होगी कि या तो वह युद्धमें स्थिर होकर मर जाए या शत्रुको जीत ले ॥ २३ ॥

एष चास्मान्वयं चैनं युध्यमानाः परंतप।
सूदयेम महाबाहो देशकालो ह्ययं नृप ॥ २४ ॥
हे शत्रुनाशन! या तो युद्ध करते हुए हमही इसको जीत लेंगे या यही हमें जीत लेगा। हे महाबाहु! हे नरनाथ! यही युद्धका देश और काल है; हम अभी इसको मार डालेंगे ॥ २४ ॥

क्षत्रधर्मस्य सम्प्राप्तः कालः सत्यपराक्रम।
जयन्तः पात्यमाना वा प्राप्तुमर्हाम सद्गतिम् ॥ २५ ॥
हे सत्यपराक्रम! यही क्षत्रियोंके धर्मका समय आगया है, यदि हम युद्धमें मर गये या मारेंगे तो अच्छी गतिको प्राप्त होंगे ॥ २५ ॥

राक्षसे जीवमानेऽद्य रविरस्तमियाद्यदि।
नाहं ब्रूयां पुनर्जातु क्षत्रियोऽस्मीति भारत ॥ २६ ॥
हे भारत! यदि सूर्यास्त होनेतक वह राक्षस जीता रह जायेगा तो फिर कभी मैं यह नहीं कहूंगा कि 'मैं क्षत्रिय हूँ' ॥ २६ ॥

भो भो राक्षस तिष्ठस्व सहदेवोऽस्मि पाण्डवः।
हत्वा वा मां नयस्वैनान्हतो वाद्येह स्वप्स्यसि ॥ २७ ॥
हे राक्षस! खडा रह! खडा रह! मैं पाण्डुका पुत्र सहदेव हूँ, तू मुझे मारकर ही इन सबको ले जा अथवा तू ही आज मारा जाकर यहां सो जाएगा ॥ २७ ॥

तथैव तस्मिन्ब्रुवति भीमसेनो यदृच्छया।
प्रादृश्यत महाबाहुः सवज्र इव वासवः ॥ २८ ॥
जब सहदेव ऐसा कह ही रहे थे, कि उसी समय इच्छानुसार घूमते हुए, वज्रधर इन्द्रके समान गदा लिये हुए भीमसेन दिखाई दिए ॥ २८ ॥

सोऽपश्यद्भ्रातरौ तत्र द्रौपदीं च यशस्विनीम् ।
क्षितिस्थं सहदेवं क्षिपन्तं राक्षसं तदा ॥ २९ ॥

उन्होंने युधिष्ठिर, नकुल और यशस्विनी द्रौपदीको राक्षससे पकडे हुए तथा सहदेवको पृथ्वीमें खडे और राक्षसको फटकारते देखा ॥ २९ ॥

मार्गाच्च राक्षसं मूढं कालोपहतचेतसम् ।
भ्रमन्तं तत्र तत्रैव दैवेन विनिवारितम् ॥ ३० ॥

मूर्ख, कालके वशमें हुए, अतएव इधर उधर भ्रमण करनेवाले तथा दैव द्वारा ही वहां रोके गए राक्षसको भी भीमसेनने देखा ॥ ३० ॥

भ्रातॄंस्तान्हियतो दृष्ट्वा द्रौपदीं च महाबलः ।
क्रोधमाहारयद्भीमो राक्षसं चेदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

जब उन्होंने देखा कि द्रौपदी और मेरे भाइयोंको राक्षस लिये जाता है, तो महाबली भीम क्रोधसे व्याकुल होकर राक्षससे यह कहने लगे ॥ ३१ ॥

विज्ञातोऽसि मया पूर्वं चेष्टञ्शस्त्रपरीक्षणे ।
आस्था तु त्वयि मे नास्ति यतोऽसि न हतस्तदा ।
ब्रह्मरूपप्रतिच्छन्नो न नो वदसि चाप्रियम् ॥ ३२ ॥

रे पापी ! शस्त्रोंकी परीक्षा करनेकी चेष्टा करनेके समय ही मैंने तुझको पहिचान लिया था। यद्यपि मेरा तुझपर विश्वास नहीं था, पर जो तू ब्राह्मणके रूपमें छिपा हुआ था और कभी भी हमसे अप्रिय नहीं बोलता था, इसीलिये तू आजतक मरा नहीं ॥ ३२ ॥

प्रियेषु चरमाणं त्वां न चैवाप्रियकारिणम् ।
अतिथिं ब्रह्मरूपं च कथं हन्यामनागसम् ।
राक्षसं मन्यमानोऽपि यो हन्यान्नरकं व्रजेत् ॥ ३३ ॥

मैंने सोचा कि जो अनपराधी, अतिथि, ब्राह्मण, प्रियवादी और हमारे प्रिय कामोंका करनेवाला है तथा कभी भी जो अप्रिय नहीं करता है, उसे मैं क्यों मारूं, क्योंकि जो ब्राह्मणरूप धारण किये हुए राक्षसको भी जानकर मारता है वह भी नरकमें जाता है ॥ ३३ ॥

अपक्वस्य च कालेन वधस्तव न विद्यते ।
नूनमद्यासि संपक्वो यथा ते मतिरीदृशी ।
दत्ता कृष्णापहरणे कालेनाद्भुतकर्मणा ॥ ३४ ॥

और तुझे मारनेका समय भी नहीं आया था, इसीसे तू बचा रहा। समयकी बडी विचित्र गति है, क्योंकि तुझे द्रौपदीके हर लेजानेकी ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई। निश्चय अब तेरे मरनेका समय आ गया है ॥ ३४ ॥

वडिशोऽयं त्वया ग्रस्तः कालसूत्रेण लम्बितः ।
मत्स्योऽम्भसीव स्यूतास्यः कथं मेऽद्य गमिष्यसि ॥ ३५ ॥

रे राक्षस! तूने यह कालरूपी सूतसे बन्धी हुई बंसीको निगला है, अब तेरा मुंह पानीमें मछलीके समान इस कांटेमें अटक गया है, अतः अब तू मुझसे बचकर कैसे जाएगा? ॥ ३५ ॥

यं चासि प्रस्थितो देशं मनः पूर्वं गतं च ते ।
न तं गन्तासि गन्तासि मार्गं बकहिडिम्बयोः ॥ ३६ ॥

जिस देशको जाना चाहता था और तेरा मन जहां पहले ही पहुंच गया था अब तू वहां नहीं जा सकेगा। वरन जिस मार्गसे बक और हिडिम्ब गये हैं, उसी मार्गसे तू भी जायेगा ॥ ३६ ॥

एवमुक्तस्तु भीमेन राक्षसः कालचोदितः ।
भीत उत्सृज्य तान्सर्वान्युद्धाय समुपस्थितः ॥ ३७ ॥

भीमसेनके ऐसे वचन सुनकर कालसे प्रेरित वह राक्षस उन सबको छोडकर युद्ध करनेके लिये खडा हो गया ॥ ३७ ॥

अब्रवीच्च पुनर्भीमं रोषात्प्रस्फुरिताधरः ।
न मे मूढा दिशः पाप त्वदर्थं मे विलम्बनम् ॥ ३८ ॥

और क्रोधसे ओंठोंको फडकाता हुआ भीमसेनसे बोला— कि रे पापी! मेरे लिये कोई दिशा अगम्य नहीं है परन्तु तेरे ही लिये इतनी देर रुक गया था ॥ ३८ ॥

श्रुता मे राक्षसा ये ये त्वया विनिहता रणे ।
तेषामद्य करिष्यामि तवास्रेणोदकक्रियाम् ॥ ३९ ॥

जिस जिस राक्षसको युद्धमें तूने मारा है मैंने उन सबका नाम सुना है। आज तेरे रुधिरसे उन सबको जलदान करूंगा ॥ ३९ ॥

एवमुक्तस्ततो भीमः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
स्मयमान इव क्रोधात्साक्षात्कालान्तकोपमः ।
बाहुसंरम्भमेवेच्छन्नभिदुद्राव राक्षसम् ॥ ४० ॥

राक्षसके ऐसे वचन सुनकर भीम क्रोधसे अपने ओठोंको चाटने लगे। उनका स्वरूप उस समय ऐसा हो गया जैसा प्रलय कालमें यमराजका होता है। क्रोधसे मुस्कराते हुए भीमसेन मानो अपने भुजाओंको आजमानेके लिए राक्षसकी ओर दौडे ॥ ४० ॥

राक्षसोऽपि तदा भीमं युद्धार्थिनमवस्थितम् ।
अभिदुद्राव संरब्धो बले वज्रधरं यथा ॥ ४१ ॥

और जब राक्षसने देखा, कि भीम युद्धके लिये मेरी ओर दौडे आते हैं तो वह भी भीमकी ओर ऐसे दौडा जैसे इन्द्रको पकडनेके लिए बल दौडा था ॥ ४१ ॥

वर्तमाने तदा ताभ्यां बाहुयुद्धे सुदारुणे ।
माद्रीपुत्रावतिक्रुद्धावुभावप्यभ्यधावताम् ॥ ४२ ॥

उस समय जटासुर और भीमसेनका घोर बाहुयुद्ध हुआ, तब नकुल और सहदेव ये दोनों माद्रीपुत्र क्रोधसे राक्षसकी ओर दौडे ॥ ४२ ॥

न्यवारयत्तौ प्रहसन्कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
शक्तोऽहं राक्षसस्येति प्रेक्षध्वमिति चाब्रवीत् ॥ ४३ ॥

परन्तु कुन्तीनन्दन भीमने उनको हंसते हुए रोका और कहा- कि तुम लोग देखते रहो, मैं अकेले ही इस राक्षसको मार डालनेमें समर्थ हूँ ॥ ४३ ॥

आत्मना भ्रातृभिश्चाहं धर्मेण सुकृतेन च ।
इष्टेन च शपे राजन्सूदयिष्यामि राक्षसम् ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! मैं अपने भाई, धर्म, कर्म और इष्टकी शपथ खाता हूँ, कि मैं अकेले ही इस राक्षसको मार दूंगा ॥ ४४ ॥

इत्येवमुक्त्वा तौ वीरौ स्पर्धमानौ परस्परम् ।
बाहुभिः समसज्जेतामुभौ रक्षोवृकोदरौ ॥ ४५ ॥

इस प्रकार कहकर परस्पर मुकाबला करते हुए वे वीर भीमसेन और राक्षस बाहुयुद्ध करने लगे ॥ ४५ ॥

तयोरासीत्संप्रहारः क्रुद्धयोर्भीमरक्षसोः ।
अमृष्यमाणयोः संख्ये देवदानवयोरिव ॥ ४६ ॥

उन दोनों क्रुद्ध हुए हुए तथा एक दूसरेका न सहनेवाले राक्षस और भीमका युद्धमें प्रहार देवता और दानवके समान हुआ ॥ ४६ ॥

आरुज्यारुज्य तौ वृक्षानन्योन्यमभिजघ्नतुः ।
जीमूताविव घर्मान्ते विनदन्तौ महाबलौ ॥ ४७ ॥

वे दोनों वृक्ष उखाड उखाडकर एक दूसरेको मारने लगे, दोनों महापराक्रमी गर्मीके बाद आनेवाले मेघके समान गर्जने लगे ॥ ४७ ॥

बभञ्जतुर्महावृक्षानूरुभिर्बलिनां वरौ ।
अन्योन्येनाभिसंरब्धौ परस्परजयैषिणौ ॥ ४८ ॥

एक दूसरेपर प्रहार करनेवाले तथा एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा करनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ उन दोनोंकी जांघोंकी चोटोंसे बडे बडे वृक्ष टूटने लगे ॥ ४८ ॥

तद्वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ।
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरेव कपिसिंहयोः ॥ ४९ ॥
तब पेडोंका नाश करनेवाला वृक्षोंका युद्ध उन दोनोंका उसी प्रकार हुआ, जिसप्रकार पहले वानरोंमें सिंहवत् श्रेष्ठ वाली और सुग्रीव इन दोनों भाइयोंमें हुआ था ॥ ४९ ॥

आविध्याविध्य तौ वृक्षान्मुहूर्तमितरेतरम् ।
ताडयामासतुरुभौ विनदन्तौ मुहुर्मुहुः ॥ ५० ॥
वे दोनों प्रतिक्षण वृक्षोंको उखाड उखाड और घुमा घुमाकर एक दूसरेकोको मारने लगे, तथा वार बार गर्जने लगे ॥ ५० ॥

तस्मिन्देशे यदा वृक्षाः सर्व एवः निपातिताः ।
पुञ्जीकृताश्च शतशः परस्परवधेप्सया ॥ ५१ ॥
एक दूसरेको मारनेकी इच्छावाले इन दोनोंके द्वारा उस स्थानमें जब सभी वृक्ष गिरा दिए गए तब सैकडों वृक्ष ठूंठ हो गए ॥ ५१ ॥

तदा शिलाः समादाय मुहूर्तमिव भारत ।
महाभ्रैरिव शैलेन्द्रौ युयुधाते महाबलौ ॥ ५२ ॥
फिर वे दोनों महावली एक दूसरेके ऊपर शिला बरसाने लगे। यह युद्ध थोडी देर तक हुआ; शिला फेंकते हुए राक्षस और भीम ऐसे शोभायमान हुए जैसे महामेघोंके सहित दो पर्वत ॥ ५२ ॥

उग्राभिरुग्ररूपाभिर्बृहतीभिः परस्परम् ।
वज्रैरिव महावेगैराजघ्नतुरमर्षणौ ॥ ५३ ॥
महाबलवान् जटासुर और भीमसेन वज्रके समान भारी भयंकर रूपवाले तथा बडी बडी शिलाओंको चलाते हुए युद्ध करने लगे ॥ ५३ ॥

अभिहत्य च भूयस्तावन्योन्यं बलदर्पितौ ।
भुजाभ्यां परिगृह्याथ चकर्षाते गजाविव ॥ ५४ ॥
अभिमानसे भरे हुए महापराक्रमी भीम और जटासुर एक दूसरेको मारते हुए अपने हाथसे पकडकर हाथीके समान खींचने लगे ॥ ५४ ॥

मुष्टिभिश्च महाघोरैरन्योन्यमभिपेततुः ।
तयोश्चटचटाशब्दो बभूव सुमहात्मनोः ॥ ५५ ॥
फिर वे दोनों भयंकर मुक्कोंसे युद्ध करने लगे, तब उन दोनों महात्माओंके मुक्कोंका चटचट शब्द होने लगा ॥ ५५ ॥

ततः संहृत्य मुष्टिं तु पञ्चशीर्षमिवोरगम्।
वेगेनाभ्यहनद्भीमो राक्षसस्य शिरोधराम् ॥ ५६ ॥

तदनन्तर भीमसेनने पांच फनवाले सर्पके समान अपने हाथकी मुट्ठी बांधकर वह राक्षसके सिरपर जोरसे दे मारी ॥ ५६ ॥

ततः श्रान्तं तु तद्रक्षो भीमसेनभुजाहतम्।
सुपरिश्रान्तमालक्ष्य भीमसेनोऽभ्यवर्तत ॥ ५७ ॥

भीमके भुजाओंके आघातसे अच्छी तरह थके हुए उस राक्षसको देखकर भीम उस राक्षसकी तरफ दौडे ॥ ५७ ॥

तत एनं महाबाहुर्बाहुभ्याममरोपमः।
समुत्क्षिप्य बलाद्भीमो निष्पिपेष महीतले ॥ ५८ ॥

देवके समान पराक्रमी महाबाहु पाण्डुनन्दन भीमसेनने राक्षसको पृथ्वीपर पटककर बलसे उसके सब शरीरको पीस दिया ॥ ५८ ॥

तस्य गात्राणि सर्वाणि चूर्णयामास पाण्डवः।
अरत्निना चाभिहत्य शिरः कायादपाहरत् ॥ ५९ ॥

पाण्डुपुत्र भीमने उसके सभी अंगोंको चूर चूर कर दिया, और फिर एक मुक्का मारकर उसका सिर शरीरसे अलग कर दिया ॥ ५९ ॥

संदष्टोष्ठं विवृत्ताक्षं फलं वृन्तादिव च्युतम्।
जटासुरस्य तु शिरो भीमसेनबलाद्धृतम्।
पपात रुधिरादिग्धं संदष्टदशनच्छदम् ॥ ६० ॥

उस समय उसके होठ कट गए और आंखें बाहर निकल आयीं। जैसे फल डालीसे गिरता है, वैसे ही भीमसे बलपूर्वक काटा गया जटासुरका सिर उसके धडसे अलग हो गया। वह दांतोंसे कटे हुए होठोंवाला सिर पृथ्वी पर गिर गया ॥ ६० ॥

तं निहत्य महेष्वासो युधिष्ठिरमुपागमत्।
स्तूयमानो द्विजाग्र्यैस्तैर्मरुद्भिरिव वासवः ॥ ६१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुःपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥
समाप्तं जटासुरवधपर्व ॥ ९२१२ ॥

महाधनुर्धारी भीमसेन जटासुरको मारकर युधिष्ठिरके पास गये। तब सब ब्राह्मण भीमसेनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे, जैसे मरुद्गण इन्द्रकी स्तुति करते हैं ॥ ६१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ चौव्वनवां अध्याय समाप्त ॥ १५४ ॥ जटासुरवधपर्व समाप्त ॥ ९२१२ ॥

: १५७ :

वैशम्पायन उवाच

निहते राक्षसे तस्मिन्पुनर्नारायणाश्रमम्।
अभ्येत्य राजा कौन्तेयो निवासमकरोत्प्रभुः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! जब जटासुर मार दिया गया, तब महाराज कुन्ती-नन्दन युधिष्ठिर फिर नारायणके आश्रममें आकर रहने लगे ॥ १ ॥

स समानीय तान्सर्वान्भ्रातॄनित्यब्रवीद्वचः।
द्रौपद्या सहितान्काले संस्मरन्भ्रातरं जयम् ॥ २ ॥
समाश्चतस्रोऽभिगताः शिवेन चरतां वने।
कृतोद्देशश्च बीभत्सुः पञ्चमीमभितः समाम् ॥ ३ ॥

एक दिन महाराजने अपने सब भाईयों और द्रौपदीको बुलाकर अर्जुनका स्मरण करके कहा– कि हमलोगोंको कल्याणपूर्वक वनमें विहार करते हुए चार वर्ष बीत गये, अब पांचवां वर्ष आरम्भ हुआ है और इसी वर्षमें अर्जुन आनेको कह गये हैं ॥ २-३ ॥

प्राप्य पर्वतराजानं श्वेतं शिखरिणां वरम्।
तत्रापि च कृतोद्देशाः समागमदिदृक्षुभिः ॥ ४ ॥

हम लोग अर्जुनको देखनेकी इच्छासे पहाडोंमें श्रेष्ठ पर्वतराज श्वेतगिरि पर चलकर रहें ॥४॥

कृतश्च समयस्तेन पार्थेनामिततेजसा।
पञ्च वर्षाणि वत्स्यामि विद्यार्थीति पुरा मयि ॥ ५ ॥

उस अत्यन्त तेजस्वी अर्जुनने पहले मुझसे यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं पांच वर्ष तक विद्यार्थी रहूंगा ॥ ५ ॥

तत्र गाण्डीवधन्वानमवाप्तास्त्रमरिन्दमम्।
देवलोकादिमं लोकं द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ॥ ६ ॥

हम शत्रुनाशन गाण्डीव धनुषधारी अर्जुनको देवलोकसे अस्त्र प्राप्त कर इस लोकको फिर आया हुआ देखेंगे ॥ ६ ॥

इत्युक्त्वा ब्राह्मणान्सर्वानामन्त्रयत पाण्डवः।
कारणं चैव तत्तेषामाचचक्षे तपस्विनाम् ॥ ७ ॥

ऐसा कहकर महाराजने सब ब्राह्मणोंको अपने पास बुलाया और उन तपस्वियोंसे सब कारण कह सुनाया ॥ ७ ॥

चकोरैः शतपत्रैश्च भृङ्गराजैस्तथा शुकैः ।
कोकिलैः कलविङ्कैश्च हारितैर्जीवजीवकैः ॥ ४७ ॥

चकोर, शतपत्र, भौंरे, तोते, कोयल, कलविंक, हारित, जीव, जीवक ॥ ४७ ॥

प्रियव्रतैश्चातकैश्च तथान्यैर्विविधैः खगैः ।
श्रोत्ररम्यं सुमधुरं कूजद्भिश्चाप्यधिष्ठितान् ॥ ४८ ॥

प्यारे पपीहा, तथा, और और भी अनेक पक्षी सब कानको सुख देनेवाले मीठी मीठी बोली बोल रहे थे ॥ ४८ ॥

सरांसि च विचित्राणि प्रसन्नसलिलानि च ।
कुमुदैः पुण्डरीकैश्च तथा कोकनदोत्पलैः ।
कल्हारैः कमलैश्चैव आचितानि समन्ततः ॥ ४९ ॥

जिस वनमें जहां कुमुद पुण्डरीक, कोकनद, उत्पल, कल्हार और कमलोंसे चारों ओरसे व्याप्त विचित्र और निर्मल जलवाले तालाव थे ॥ ४९ ॥

कादम्बैश्चक्रवाकैश्च कुररैर्जलकुक्कुटैः ।
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैर्बकैर्मद्गुभिरेव च ।
एतैश्चान्यैश्च कीर्णानि समन्ताज्जलचारिभिः ॥ ५० ॥

उन तालावोंमें कदम्ब, चकवी, चकवे, कुमरी, जलकुक्कुट कारण्डव, सारस, हंस, बगुले और टीटीरी आदि अनेक पक्षी प्रसन्न होकर जलमें क्रीडा कर रहे थे ॥ ५० ॥

हृष्टैस्तथा तामरसरसासवमदालसैः ।
पद्मोदरच्युतरजःकिञ्जल्कारुणरञ्जितैः ॥ ५१ ॥

जहां तडागोंमें कमलके मध्यसे छूटे हुए, केशरके रङ्गसे रङ्गे हुए रसरूपी शरावके मदसे मत्त ॥ ५१ ॥

मधुरस्वरैर्मधुकरैर्विरुतान्कमलाकरान् ।
पश्यन्तस्ते मनोरम्यान्गन्धमादनसानुषु ॥ ५२ ॥

मीठे स्वरवाले भौंरोंके गुंजनसे गुंजित कमलसे भरपूर मनोहर तालावोंको पुरुषसिंह पाण्डवोंने गन्धमादनपर्वतपर देखा ॥ ५२ ॥

तथैव पद्मषण्डैश्च मण्डितेषु समन्ततः ।
शिखण्डिनीभिः सहिताँल्लतामण्डपकेषु च ।
मेघतूर्यरवोद्दाममदनाकुलितान्भृशम् ॥ ५३ ॥

उन्होंने लताके घरोंमें बैठे हुए; मेघके शब्दोंको सुनकर उत्तेजित हुए हुए, कामवाले हुए मदसे भरे हुए, विचित्र शिखावाले तथा हिरणियोंके साथ अनेक मोरोंको मीठे स्वरसे गाते हुए देखा ॥ ५३ ॥

कृत्वैव केकामधुरं संगीतमधुरस्वरम् ।
चित्रान्कलापान्विस्तीर्य सविलासान्मदालसान् ।
मयूरान्ददृशुश्चित्रान्नृत्यतो वनलासकान् ॥ ५४ ॥

मधुर केकारव करते हुए और मीठे स्वरसे गाते हुए अपने रंगबिरंगे पंखोंको फैलाये हुए विलासी तथा मदसे अलसित, वनकी शोभाको बढानेवाले नाचते हुए चित्र विचित्र मोरोंको देखा ॥ ५४ ॥

कान्ताभिः सहितानन्यानपश्यन्रमतः सुखम् ।
वल्लीलतासंकटेषु कुटजेषु स्थितांस्तथा ॥ ५५ ॥

सुखसे रमते हुए पाण्डवोंने बेल और लताके कुंजोंमें तथा गुल्मोंमें अपनी स्त्रियों सहित बैठे हुए पक्षियोंको देखा ॥ ५५ ॥

कांश्चिच्छकुलजातांश्च विटपेषूत्कटानपि
कलापरचिताटोपान्विचित्रमुकुटानिव ।
विवरेषु तरूणां च मुदितान्ददृशुश्च ते । ॥ ५६ ॥

कोई इन्द्रजवके वृक्षके ऊपर उद्यत रूपसे बैठा था, कोई आनन्दसे अपनी वाणीको बोलता हुआ वृक्षकी शाखापर मुकुटके समान बैठा था। किन्हीं पक्षियोंको पेडोंके विवरमें आनन्दसे बैठे देखा ॥ ५६ ॥

सिन्धुवारानथोदारान्मन्मथस्येव तोमरान् ।
सुवर्णकुसुमाकीर्णान्गिरीणां शिखरेषु च ॥ ५७ ॥

पाण्डवोंने कामदेवके शस्त्रोंके समान सिन्धुवार और अनेक फूले हुए और सोनेके रङ्गवाले फूलोंको पहाडोंकी चोटियोंपर देखा ॥ ५७ ॥

कर्णिकारान्विरचितान्कर्णपूरानिवोत्तमान् ।
अथापश्यन्कुरबकान्वनराजिषु पुष्पितान् ।
कामवश्योत्सुककरान्कामस्येव शरोत्करान् ॥ ५८ ॥

कानके आभूषणके समान फूले हुए अनेक कनेरोंको देखा। नवीन वनमें फूले हुए, कुरैआके अनेक वृक्षोंको देखा, जो कामासक्त पुरुषोंको और ज्यादा उत्सुक बनानेवाले कामदेवके बाणोंके समूहके समान जान पडते थे ॥ ५८ ॥

तथैव वनराजीनामुदारान्रचितानिव ।
विराजमानांस्तेऽपश्यंस्तिलकांस्तिलकानिव ॥ ५९ ॥

उन्होंने वन पंक्तियोंमें खिले हुए तिलकोंको वनके माथेपर सुन्दर तिलकके समान देखा ॥५९॥

तथानङ्गशराकारान्सहकारान्मनोरमान् ।
अपश्यन्भ्रमराराबान्मञ्जरीभिर्विराजितान् ॥ ६० ॥

यह सब फूल वनमें विराजमान थे, कामदेवके बाणके समान आकारवाले मनको हरनेवाले आमकी मञ्जरियोंपर बैठकर गुंजन करते हुए भौंरोंको देखा ॥ ६० ॥

हिरण्यसदृशैः पुष्पैर्दावाग्निसदृशैरपि ।
लोहितैरञ्जनाभैश्च वैडूर्यसदृशैरपि ॥ ६१ ॥

उस वनमें कुछ फूल सोनेके रङ्गवाले और कुछ अग्निके समान रंगवाले थे, कुछ फूल लाल वो कुछ अंजनके समान काले और कुछ मणिके समान रङ्गवाले थे ॥ ६१ ॥

तथा शालांस्तमालांश्च पाटल्यो बकुलानि च ।
माला इव समासक्ताः शैलानां शिखरेषु च ॥ ६२ ॥

शाल, आबनूस, पाटली और मौलसरीके वृक्ष पर्वतके शिखरोंपर मालाके समान विराजमान थे ॥ ६२ ॥

एवं क्रमेण ते वीरा वीक्षमाणाः समन्ततः ।
गजसंघसमाबाधं सिंहव्याघ्रसमायुतम् ॥ ६३ ॥

इस प्रकार हाथियोंके समूहोंसे व्याप्त तथा बाघ और सिंहोंसे भरे हुए वनोंको चारों ओरसे देखते हुए वीर पाण्डव वहां घूमने लगे ॥ ६३ ॥

शरभोन्नादसंघुष्टं नानारावनिनादितम् ।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं गन्धमादनसानुषु ॥ ६४ ॥

शरभ पक्षीके नादसे गुंजित, अनेक तरहके शब्दोंसे निनादित, सब ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले फलोंसे युक्त वृक्षवाले वन पाण्डवोंने उस गंधमादन पर्वतकी चोटियोंपर देखे ॥६४॥

पीता भास्वरवर्णाभा बभूवुर्वनराजयः ।
नात्र कण्टकिनः केचिन्नात्र केचिदपुष्पिताः ।
स्निग्धपत्रफलाः वृक्षा गन्धमादनसानुषु ॥ ६५ ॥

गंधमादन पर्वतकी चोटियोंपर पेडोंकी पंक्तियां पीले और चमकीले वर्णोंसे तथा चिकने चिकने पत्ते और फलोंसे युक्त होकर शोभा दे रहीं थीं। वहांपर कांटोंवाले कोई वृक्ष नहीं थे और न कोई फूलोंसे रहित वृक्ष ही थे ॥ ६५ ॥

विमलस्फाटिकाभानि पाण्डुरच्छदनैर्द्विजैः ।
राजहंसैरुपेतानि सारसाभिरुतानि च ।
सरांसि सरितः पार्थाः पश्यन्तः शैलसानुषु ॥ ६६ ॥

उस पर्वतपर निर्मल स्फटिकके समान स्वच्छ पाण्डुर रंगके पंखवाले कलहंस और सारसोंके झुन्दसे शोभायमान अनेक तालाबोंको उन पहाडोंकी चोटियोंपर देखा ॥ ६६ ॥

पद्मोत्पलविचित्राणि सुखस्पर्शजलानि च ।
गन्धवन्ति च माल्यानि रसवन्ति फलानि च ।
अतीव वृक्षा राजन्ते पुष्पिताः शैलसानुषु ॥ ६७ ॥

उस पर्वतकी चोटियोंपर विचित्र लाल और नीले कमल थे । सुखदायक स्पर्श देनेवाले जल थे । फूल सुगंध युक्त थे और फल रसयुक्त थे तथा वृक्ष बहुत फूलोंसे युक्त होकर सुशोभित हो रहे थे ॥ ६७ ॥

एते चान्ये च बहवस्तत्र काननजा द्रुमाः ।
लताश्च विविधाकाराः पत्रपुष्पफलोच्चयाः ॥ ६८ ॥

इसके अलावा भी वहां बहुतसे दूसरे जंगली पेड थे । तथा अनेक तरहकी विविध प्रकारके फूल और फलोंसे युक्त लतायें भी थीं ॥ ६८ ॥

युधिष्ठिरस्तु तान्वृक्षान्पश्यमानो नगोत्तमे ।
भीमसेनमिदं वाक्यमब्रवीन्मधुराक्षरम् ॥ ६९ ॥

उस श्रेष्ठ पर्वतपर उन वृक्षोंको देखकर युधिष्ठिर भीमसेनसे यह मीठे अक्षरोंवाले वाक्य बोले ॥ ६९ ॥

पश्य भीम शुभान्देशान्देवाक्रीडान्समन्ततः ।
अमानुषगतिं प्राप्ताः संसिद्धाः स्म वृकोदर ॥ ७० ॥

देवोंके खेल करनेके इन सब उत्तम और शुभ देशोंको देखो । हे वृकोदर ! ये स्थान मनुष्योंके आने योग्य नहीं हैं, अब हमलोग यहां आकर अमानुष गतिको प्राप्तकर सिद्ध होगये ॥ ७० ॥

लताभिश्चैव बह्वीभिः पुष्पिताः पादपोत्तमाः ।
संश्लिष्टाः पार्थ शोभन्ते गन्धमादनसानुषु ॥ ७१ ॥

हे भीम ! इस गंधमादनकी चोटियोंपर बहुतसी लताओंसे लिपटे हुए खिले हुए फूलोंवाले श्रेष्ठ वृक्ष शोभा दे रहे हैं ॥ ७१ ॥

शिखण्डिनीभिश्चरतां सहितानां शिखण्डिनाम् ।
नर्दतां शृणु निर्घोषं भीम पर्वतसानुषु ॥ ७२ ॥

और इस पर्वतकी चोटियों पर मोरनियोंके साहित विचरनेवाले तथा केका करनेवाले मोरोंके शब्दको सुनो ॥ ७२ ॥

चकोराः शतपत्राश्च मत्तकोकिलशारिकाः ।
पत्रिणः पुष्पितानेतान्संश्लिष्यन्ति महाद्रुमान् ॥ ७३ ॥

चकोर, शतपत्र, मतवाले कोकिल और सारिका आदि पक्षी बैठे हुए इन सब फूले और फले वृक्षोंपर बैठे हुए हैं ॥ ७३ ॥

रक्तपीतारुणाः पार्थ पादपाग्रगता द्विजाः।
परस्परमुदीक्षन्ते बहवो जीवजीवकाः ॥ ७४ ॥

लाल, पीले और गुलाबी रंगवाले बहुतसे जीव और जीवक पक्षी इन वृक्षोंके अग्रभागोंपर बैठे हुए एक दूसरेको देख रहे हैं ॥ ७४ ॥

हरितारुणवर्णानां शाद्वलानां समन्ततः।
सारसाः प्रतिदृश्यन्ते शैलप्रस्रवणेष्वपि ॥ ७५ ॥

हरी और लाल रंगकी घास पर बैठे हुए सारस पहाडी झरनोंके पास दिखाई दे रहे हैं ॥ ७५ ॥

वदन्ति मधुरा वाचः सर्वभूतमनोनुगाः।
भृङ्गराजोपचक्राश्च लोहपृष्ठाश्च पत्रिणः ॥ ७६ ॥

भौंरा, चकवा और लोहपृष्ठ आदि सभी पक्षी प्राणियोंके मनोंको प्रसन्न करनेवाली मीठी बोली बोल रहे हैं ॥ ७६ ॥

चतुर्विषाणाः पद्माभाः कुञ्जराः सकरेणवः।
एते वैडूर्यवर्णाभं क्षोभयन्ति महत्सरः ॥ ७७ ॥

चार दांतवाले कमलके समान आभावाले हाथी अपनी हथनियोंके सहित वैडूर्यके वर्णके समान कांतिवाले महान् तालावको मथ रहे हैं ॥ ७७ ॥

बहुतालसमुत्सेधाः शैलशृङ्गात्परिच्युताः।
नानाप्रस्रवणेभ्यश्च वारिधाराः पतन्त्यमूः ॥ ७८ ॥

अनेकों तालाबोंको सींचनेवाले तथा पहाडोंकी चोटियोंसे गिरनेवाले अनेक झरनोंसे ये जलकी धारायें बह रही हैं ॥ ७८ ॥

भास्कराभप्रभा भीम शारदाभ्रघनोपमाः।
शोभयन्ति महाशैलं नानारजतधातवः ॥ ७९ ॥

हे भीम! सूर्यके समान और शरद् ऋतुके मेघके समान चांदी आदि अनेक धातुयें इस पर्वतको सुशोभित कर रही हैं ॥ ७९ ॥

क्वचिदञ्जनवर्णाभाः क्वचित्काञ्चनसन्निभाः।
धातवो हरितालस्य क्वचिद्धिङ्गुलकस्य च ॥ ८० ॥

कहीं अञ्जनके समान काली और कहीं सोनेके समान चमकीली आदि धातुयें इस पर्वतपर हैं। कहीं हरताल, कहीं सिङ्गरफ ॥ ८० ॥

मनःशिलागुहाश्चैव सन्ध्याभ्रनिकरोपमाः ।
शशलोहितवर्णाभाः क्वचिद्गैरिकधातवः ॥ ८१ ॥

कहीं मनःशिला धातु ऐसे दिखाई दे रही हैं, जैसे सन्ध्याके मेघ । कहीं खरहेके रुधिरके समान आभावाला गेरु बह रहा है ॥ ८१ ॥

सितासिताभ्रप्रतिमा बालसूर्यसमप्रभाः ।
एते बहुविधाः शैलं शोभयन्ति महाप्रभाः ॥ ८२ ॥

कहीं सफेद और काले मेघके समान तथा प्रातःकालके सूर्यके समान कांतिवाली अनेक तरहके धातुयें पर्वतको सुशोभित कर रही हैं ॥ ८२ ॥

गन्धर्वाः सह कान्ताभिर्यथोक्तं वृषपर्वणा ।
दृश्यन्ते शैलशृङ्गेषु पार्थ किंपुरुषैः सह ॥ ८३ ॥

हे पृथापुत्र भीम! वृषपर्वा मुनिके कहनेके अनुसार ये गन्धर्व अपनी स्त्रियोंके तथा किंपुरुषोंके साथ इन पर्वतकी चोटियों पर विहार कर रहे हैं ॥ ८३ ॥

गीतानां तलतालानां यथा साम्नां च निस्वनः ।
श्रूयते बहुधा भीम सर्वभूतमनोहरः ॥ ८४ ॥

हे भीम! यहां सम-तालके सहित गीत तथा सामके गानका सब प्राणियोंके मनको हरनेवाला शब्द भी सुनाई दे रहा है ८४ ॥

महागङ्गामुदीक्षस्व पुण्यां देवनदीं शुभाम् ।
कलहंसगणैर्जुष्टामृषिकिंनरसेविताम् ॥ ८५ ॥

हे भीम! उस पवित्र देवनदी गङ्गाको तुम देखो; वहां अनेक कलहंस, ऋषि, किन्नर विहार कर रहे हैं ॥ ८५ ॥

धातुभिश्च सरिद्भिश्च किंनरैर्मृगपक्षिभिः ।
गंधर्वैरप्सरोभिश्च काननैश्च मनोरमैः ॥ ८६ ॥
व्यालैश्च विविधाकारैः शतशीर्षैः समन्ततः ।
उपेतं पश्य कौन्तेय शैलराजमरिंदम ॥ ८७ ॥

हे शत्रुनाशी कुन्तीपुत्र भीम! धातुओं, नदियों, किन्नरों, पशुपक्षियों, गन्धर्वों, अप्सराओं, सुन्दर सुन्दर जंगलों, चारों ओर घूमनेवाले, विविध आकारवाले, सौ सौ फनोंवाले सांपोंसे युक्त इस पर्वतराजको देखो ॥ ८६-८७ ॥

ते प्रीतमनसः शूराः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ।
नातृप्यन्पर्वतेन्द्रस्य दर्शनेन परंतपाः ॥ ८८ ॥

उत्तम गतिको प्राप्त होनेके कारण प्रसन्न मनवाले शत्रुनाशी शूरवीर पाण्डव उस पर्वतराजको बार बार देखनेपर भी तृप्त नहीं हुए ॥ ८८ ॥

उपेतमथ माल्यैश्च फलवद्भिश्च पादपैः ।
आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेराश्रमं ददृशुस्तदा ॥ ८९ ॥

तब उन्होंने अनेक फले फूले वृक्षोंसे युक्त राजऋषि आर्ष्टिषेण मुनिके आश्रमको देखा ॥८९॥

ततस्तं तीव्रतपसं कृशं धमनिसंततम् ।
पारगं सर्वधर्माणामार्ष्टिषेणमुपागमन् ॥ ९० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥ ५३०२ ॥

तदनन्तर उन्होंने महातपस्वी, दुर्बल, मांसरहित और सब धर्मोंके पारंगत आर्ष्टिषेण मुनिका दर्शन किया ॥ ९० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ पचपनवां अध्याय समाप्त ॥ १५५ ॥ ५३०२ ॥

: १५६ :

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तमासाद्य तपसा दग्धकिल्बिषम् ।
अभ्यवादयत प्रीतः शिरसा नाम कीर्तयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् ! महाराज युधिष्ठिरने उनके पास जाकर अपना नाम सुनाकर तपसे दग्ध पापवाले आर्ष्टिषेण मुनिको सिरसे प्रणाम किया ॥ १ ॥

ततः कृष्णा च भीमश्च यमौ चापि यशस्विनौ ।
शिरोभिः प्राप्य राजर्षिं परिवार्योपतस्थिरे ॥ २ ॥

तदनन्तर द्रौपदी, भीमसेन, यशस्वी नकुल और सहदेवने प्रणाम किया और राजऋषि आर्ष्टिषेणको चारों ओरसे घेरकर बैठ गए ॥ २ ॥

तथैव धौम्यो धर्मज्ञः पाण्डवानां पुरोहितः ।
यथान्यायमुपाक्रान्तस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् धर्म जाननेवाले पाण्डवोंके पुरोहित धौम्य मुनिने उन व्रतशील मुनिसे रीतिके अनुसार वार्तालाप किया ॥ ३ ॥

अन्वजानात्स धर्मज्ञो मुनिर्दिव्येन चक्षुषा ।
पाण्डोः पुत्रान्कुरुश्रेष्ठानास्यतामिति चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

तब महात्मा आर्ष्टिषेण मुनिने अपनी दिव्य दृष्टिसे जान लिया कि कुरुवंशी पाण्डुराजाके पुत्र आये हैं; तब उन्होंने उन कुरुश्रेष्ठोंसे कहा कि " आइये, बैठिए " ॥ ४ ॥

कुरूणामृषभं प्राज्ञं पूजयित्वा महातपाः ।
सह भ्रातृभिरासीनं पर्यपृच्छदनामयम् ॥ ५ ॥

महातपस्वी आर्ष्टिषेणने अपने भाइयोंके साथ बैठे हुए कुरुकुलमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् युधिष्ठिरका सत्कार करके उनसे कुशल पूछी और बोले ॥ ५ ॥

नानृते कुरुषे भावं कच्चिद्धर्मे च वर्तसे ।
मातापित्रोश्च ते वृत्तिः कच्चित्पार्थ न सीदति ॥ ६ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! कहीं अनृतमें तो तुम्हारी वृत्ति तो नहीं है ? तुम्हारी वृत्ति धर्ममें है न ? तुम माता और पिताकी सेवा तो करते हो न ? ॥ ६ ॥

कच्चित्ते गुरवः सर्वे वृद्धा वैद्याश्च पूजिताः ।
कच्चिन्न कुरुषे भावं पार्थ पापेषु कर्मसु ॥ ७ ॥

तुम अपने गुरु, बूढे और वैद्योंकी पूजा तो करते हो न ? तुम्हारी बुद्धि कभी पाप कर्ममें तो नहीं जाती ? ॥ ७ ॥

सुकृतं प्रतिकर्तुं च कच्चिद्धातुं च दुष्कृतम् ।
यथान्यायं कुरुश्रेष्ठ जानासि न च कत्थसे ॥ ८ ॥

कहो, तुम्हारी बुद्धि धर्म करने और पाप छोडनेमें तो लगी रहती है न ? हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम न्यायके अनुसार धर्मका आचरण करके अपनी प्रशंसा तो नहीं करते ? ॥ ८ ॥

यथार्हं मानिताः कच्चित्त्वया नन्दन्ति साधवः ।
वनेष्वपि वसन्कच्चिद्धर्ममेवानुवर्तसे ॥ ९ ॥

तुमसे यथायोग्य पूजित होकर साधु प्रसन्न तो रहते हैं ? कहो, वनमें रहकर भी धर्मका पालन तो करते हो न ? ॥ ९ ॥

कच्चिद्धौम्यस्त्वदाचारैर्न पार्थ परितप्यते ।
दानधर्मतपःशौचैरार्जवेन तितिक्षया ॥ १० ॥

हे कुन्तीनन्दन ! कहो, तुम्हारे आचरणोंसे धौम्यको दुःख तो नहीं होता ? तुम्हारा धर्म, तप, शील, पवित्रता और अलोभ तो ठीक है न ? ॥ १० ॥

पितृपैतामहं वृत्तं कच्चित्पार्थानुवर्तसे ।
कच्चिद्राजर्षियातेन यथा गच्छसि पाण्डव ॥ ११ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! तुम अपने पिता और पितामहकी वृत्तिका अनुसरण तो करते हो न ? हे पाण्डव ! जिस मार्गसे राजर्षि गये हैं, तुम उसीसे चलते हो न ॥ ११ ॥

स्वे स्वे किल कुले जाते पुत्रे नप्तरि वा पुनः।
पितरः पितृलोकस्थाः शोचन्ति च हसन्ति च ॥ १२ ॥

पितृलोकमें स्थित पितरगण अपने अपने वंशमें उत्पन्न हुए पुत्रोंको और पोतोंको देखकर प्रसन्न और दुःखी होते हैं ॥ १२ ॥

किं न्वस्य दुष्कृतेऽस्माभिः संप्राप्तव्यं भविष्यति।
किं चास्य सुकृतेऽस्माभिः प्राप्तव्यमिति शोभनम् ॥ १३ ॥

कि इसके दुष्कर्म करनेपर हमें क्या बुराई मिलेगी और इसके सुकृत करनेपर हमें क्या अच्छाई मिलेगी ॥ १३ ॥

पिता माता तथैवाग्निर्गुरुरात्मा च पञ्चमः।
यस्यैते पूजिताः पार्थ तस्य लोकावुभौ जितौ ॥ १४ ॥

जो पुरुष पिता, माता, अग्नि, गुरु और आत्मा इन पांचोंकी पूजा करते हैं, वे दोनों लोकोंको जीत लेते हैं ॥ १४ ॥

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च प्लवमाना विहायसा।
जुषन्ते पर्वतश्रेष्ठमृषयः पर्वसंधिषु ॥ १५ ॥

प्रतिपदा और पूर्णमासीके दिन इस पर्वतश्रेष्ठपर जल और वायुका भक्षण करनेवाले मुनि आकाशसे आकर इकट्ठे होते हैं ॥ १५ ॥

कामिनः सह कान्ताभिः परस्परमनुव्रताः।
दृश्यन्ते शैलशृङ्गस्थास्तथा किम्पुरुषा नृप ॥ १६ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! किम्पुरुष तथा कामी लोग अपनी पतिव्रता स्त्रियोंके सहित एक दूसरेपर आकृष्ट होकर इन पर्वतके शिखरोंपर दिखाई देते हैं ॥ १६ ॥

अरजांसि च वासांसि वसानाः कौशिकानि च।
दृश्यन्ते बहवः पार्थ गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ १७ ॥

रेशमके बने हुए निर्मल वस्त्र और माला धारण करके अनेक गन्धर्व और अप्सराओंके गण यहां दिखाई देते हैं ॥ १७ ॥

विद्याधरगणाश्चैव स्रग्विणः प्रियदर्शनाः।
महोरगगणाश्चैव सुपर्णाश्चोरगादयः ॥ १८ ॥

हे राजन् ! सुन्दर रूपवाले विद्याधर उत्तम मालाओंको धारण करके इस पर्वतपर आते हैं। इस पर्वतपर बडे बडे सांपोंके गण भी आते हैं। बडे सर्प और गरुडादि भी यहां आते हैं ॥ १८ ॥

अस्य चोपरि शैलस्य श्रूयते पर्वसंधिषु ।
भेरीपणवशङ्खानां मृदङ्गानां च निस्वनः　　　　॥ १९ ॥

प्रतिपदा और पूर्णमासीको इस पर्वतके ऊपर भेरी, शङ्ख, मृदङ्ग और नगाडोंका शब्द सुनाई देता है ॥ १९ ॥

इहस्थैरेव तत्सर्वं श्रोतव्यं भरतर्षभाः ।
न कार्या वः कथंचित्स्यात्तत्राभिसरणे मतिः　　　　॥ २० ॥

हे पाण्डवो ! तुम वहां जानेकी बुद्धि कभी मत करना, यहीं बैठकर उन सब शब्दोंको सुनना ॥ २० ॥

न चाप्यतः परं शक्यं गन्तुं भरतसत्तमाः ।
विहारो ह्यत्र देवानाममानुषगतिस्तु सा　　　　॥ २१ ॥

हे भरतश्रेष्ठो ! यहांसे आगे मनुष्य नहीं जा सकते क्योंकि इसके आगे देवोंके विहार करनेकी जगह है इसलिए वहां मनुष्योंकी गति नहीं है ॥ २१ ॥

ईषच्चपलकर्माणं मनुष्यमिह भारत ।
द्विषन्ति सर्वभूतानि ताडयन्ति च राक्षसाः　　　　॥ २२ ॥

हे भारत ! यहांपर जो पुरुष जरासी भी चपलता करता है, उससे सब जन्तु द्वेष करते हैं और राक्षस उसे मार डालते हैं ॥ २२ ॥

अभ्यतिक्रम्य शिखरं शैलस्यास्य युधिष्ठिर ।
गतिः परमसिद्धानां देवर्षीणां प्रकाशते　　　　॥ २३ ॥

हे युधिष्ठिर ! इस पर्वतके शिखरके पार सिद्ध और देवऋषियोंका मार्ग प्रकाशित होता है ॥ २३ ॥

चापलादिह गच्छन्तं पार्थ यानमतः परम् ।
अयःशूलादिभिर्घ्नन्ति राक्षसाः शत्रुसूदन　　　　॥ २४ ॥

हे शत्रुनाशी युधिष्ठिर ! जो चपलता करके यहांसे आगे जाना चाहता है, उसको राक्षस भाले आदिसे मार डालते हैं ॥ २४ ॥

अप्सरोभिः परिवृतः समृद्ध्या नरवाहनः ।
इह वैश्रवणस्तात पर्वसन्धिषु दृश्यते　　　　॥ २५ ॥

हे तात ! इस स्थानपर प्रतिपदा और पूर्णमासीको समृद्धिसे युक्त नरवाहन महाराज कुबेर अप्सराओंके सहित आकर यहां दर्शन देते हैं ॥ २५ ॥

शिखरे तं समासीनमधिपं सर्वरक्षसाम् ।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि भानुमन्तमिवोदितम् ॥ २६ ॥

उदय हुए सूर्यके समान तेजस्वी तथा सब राक्षसोंके स्वामी कुबेरको शिखर पर बैठे हुए प्राणी देखते हैं ॥ २६ ॥

देवदानवसिद्धानां तथा वैश्रवणस्य च ।
गिरेः शिखरमुद्यानमिदं भरतसत्तम ॥ २७ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ! पहाडकी यह चोटी देवता, दानव, सिद्ध और कुबेरके विहार करनेका स्थान है ॥ २७ ॥

उपासीनस्य धनदं तुम्बुरोः पर्वसंधिषु ।
गीतसामस्वनस्तात श्रूयते गन्धमादने ॥ २८ ॥

हे तात ! पर्वकी संधियोंके अवसर पर इस शिखर पर बैठ कर कुबेर तुम्बुरु गन्धर्वसे गीत और सामवेद सुनते हैं ॥ २८ ॥

एतदेवंविधं चित्रमिह तात युधिष्ठिर ।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि बहुशः पर्वसन्धिषु ॥ २९ ॥

हे प्रिय युधिष्ठिर ! इस पर्वतके रहनेवाले सब प्राणी इन सब आश्चर्योंको पर्वसन्धियोंके अवसरों पर यहींसे बैठकर देखते हैं ॥ २९ ॥

भुञ्जानाः सर्वभोज्यानि रसवन्ति फलानि च ।
वसध्वं पाण्डवश्रेष्ठा यावदर्जुनदर्शनम् ॥ ३० ॥

हे श्रेष्ठ पाण्डवो ! तुम लोग भी सबके द्वारा खाने योग्य सुरस फलोंको खाकर अर्जुनके दर्शन होने तक यहीं रहो ॥ ३० ॥

न तात चपलैर्भाव्यमिह प्राप्तैः कथञ्चन ।
उषित्वेह यथाकामं यथाश्रद्धं विहृत्य च ।
ततः शस्त्रभृतां श्रेष्ठ पृथिवीं पालयिष्यसि ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥ ५२३२ ॥

पर, हे तात ! यहांपर आनेवालोंको जरा भी चंचल नहीं होना चाहिए । हे शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ ! तुम यहां श्रद्धा और इच्छानुसार निवास और विहार करके पृथ्वीका पालन करो ॥ ३१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ छप्पनवां अध्याय समाप्त ॥ १५६ ॥ ५२३२ ॥

: १५७ :

जनमेजय उवाच

पाण्डोः पुत्रा महात्मानः सर्वे दिव्यपराक्रमाः ।
कियन्तं कालमवसन्पर्वते गन्धमादने ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– पाण्डुके वे सब दिव्य पराक्रमी पुत्र और महात्मा पाण्डव उस गन्धमादन पर्वतपर कितने समय तक रहे ? ॥ १ ॥

कानि चाभ्यवहार्याणि तत्र तेषां महात्मनाम् ।
वसतां लोकवीराणामासंस्तद्ब्रूहि सत्तम ॥ २ ॥

और रहते हुए उन महात्मा वीर पाण्डवोंका वहांका खान पान कैसा था ? वह सब हमसे कहिये ॥ २ ॥

विस्तरेण च मे शंस भीमसेनपराक्रमम् ।
यद्यच्चक्रे महाबाहुस्तस्मिन्हैमवते गिरौ ।
न खल्वासीत्पुनर्युद्धं तस्य यक्षैर्द्विजोत्तम ॥ ३ ॥

महाबाहु भीमसेनने उस हिमालय पर्वतपर रहकर कौन कौनसे काम किये ? उनके पराक्रमको विस्तारपूर्वक आप मुझसे कहिये । हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! उनसे और यक्षोंसे फिर तो युद्ध नहीं हुआ ? ॥ ३ ॥

कच्चित्समागमस्तेषामासीद्वैश्रवणेन च ।
तत्र ह्यायाति धनद आर्ष्टिषेणो यथाब्रवीत् ॥ ४ ॥

जैसा कि भगवान् आर्ष्टिषेणने कहा था, कि कुबेर यहां आते हैं, तो कहिये, कि उनकी कुबेरसे भेंट तो हुई न ? ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
न हि मे शृण्वतस्तृप्तिरस्ति तेषां विचेष्टितम् ॥ ५ ॥

क्योंकि पाण्डवोंका चरित्र सुननेसे मेरी तृप्ति नहीं होती है । अतः वह सब सुनना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतदात्महितं श्रुत्वा तस्याप्रतिमतेजसः ।
शासनं सततं चक्रुस्तथैव भरतर्षभाः ॥ ६ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंने अत्यन्त तेजस्वी उन मुनिके अपना हित करनेवाले वचनोंको सुनकर उनकी आज्ञाका वैसा ही पालन किया ॥ ६ ॥

भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च।
शुद्धबाणहतानां च मृगाणां पिशितान्यपि ॥ ७ ॥
मेध्यानि हिमवत्पृष्ठे मधूनि विविधानि च।
एवं ते न्यवसंस्तत्र पाण्डवा भरतर्षभाः ॥ ८ ॥

इस प्रकार वे भरतश्रेष्ठ पाण्डव पवित्र हिमाचलपर रहते हुए मुनियोंके खाने योग्य रसभरे फलोंको और शुद्ध बाणोंसे मारे हुए हरिणोंके मांसको खाते हुए और अनेक प्रकारकी मीठी वस्तुओंको खाते हुए निवास करने लगे ॥ ७-८ ॥

तथा निवसतां तेषां पञ्चमं वर्षमभ्यगात्।
शृण्वतां लोमशोक्तानि वाक्यानि विविधानि च ॥ ९ ॥

इस प्रकार सब पाण्डवोंको वहां रहते हुए और लोमशके द्वारा कही गई विविध कथाओंको सुनते हुए पांचवां वर्ष आरम्भ हुआ ॥ ९ ॥

कृत्यकाल उपस्थास्य इति चोक्त्वा घटोत्कचः।
राक्षसैः सहितः सर्वैः पूर्वमेव गतः प्रभो ॥ १० ॥

हे पृथ्वीनाथ! घटोत्कच राक्षसोंके सहित 'हम उचित समयपर फिर आयेंगे' यह कहकर पहिले ही चला गया था ॥ १० ॥

आर्ष्टिषेणाश्रमे तेषां वसतां वै महात्मनाम्।
अगच्छन्बहवो मासाः पश्यतां बह्वद्भुतम् ॥ ११ ॥

महात्मा पाण्डवोंको आर्ष्टिषेणके आश्रमपर रहते और अनेक आश्चर्योंको देखते हुए अनेक महीने बीत गये ॥ ११ ॥

तैस्तत्र रममाणैश्च विहरद्भिश्च पाण्डवैः।
प्रीतिमन्तो महाभागा मुनयश्चारणास्तथा ॥ १२ ॥
आजग्मुः पाण्डवान्द्रष्टुं सिद्धात्मानो यतव्रताः।
तैस्तैः सह कथाश्चक्रुर्दिव्या भरतसत्तमाः ॥ १३ ॥

महात्मा पाण्डवोंके विहार करते समय अनेक व्रतधारी पवित्रआत्मा महाभाग्यशाली और पाण्डवोंपर प्रेम करनेवाले मुनि और चारण उनको देखने आये। भरतकुलश्रेष्ठ पाण्डव भी उनसे दिव्य वार्तालाप करने लगे ॥ १२-१३ ॥

ततः कतिपयाहस्य महाह्रदनिवासिनम्।
ऋद्धिमन्तं महानागं सुपर्णः सहसाहरत् ॥ १४ ॥

कुछ दिनोंके बाद महाह्रदमें रहनेवाले समृद्धियुक्त एक महासांपको गरुडने अचानक पकड लिया ॥ १४ ॥

प्राकम्पत महाशैलः प्राभृज्यन्त महाद्रुमाः ।
ददृशुः सर्वभूतानि पाण्डवाश्च तदद्भुतम् ॥ १५ ॥

उसके पकडनेसे वह महान् पर्वत भी हिल गया और वृक्ष टूटने लगे । इस आश्चर्यको सब प्राणियोंके सहित पाण्डवोंने देखा ॥ १५ ॥

ततः शैलोत्तमस्याग्रात्पाण्डवान्प्रति मारुतः ।
अवहत्सर्वमाल्यानि गन्धवन्ति शुभानि च ॥ १६ ॥

उसके पश्चात् वायुने पर्वतके शिखरसे सुगन्धसे भरे हुए सुन्दर फूलोंको पाण्डवोंकी ओर उडाया ॥ १६ ॥

तत्र पुष्पाणि दिव्यानि सुहृद्भिः सह पाण्डवाः ।
ददृशुः पञ्चवर्णानि द्रौपदी च यशस्विनी ॥ १७ ॥

उन पांच रङ्गके दिव्य फूलोंको मित्रोंके सहित पाण्डवोंने और यशस्विनी द्रौपदीने देखा ॥ १७ ॥

भीमसेनं ततः कृष्णा काले वचनमब्रवीत् ।
विविक्ते पर्वतोद्देशे सुखासीनं महाभुजम् ॥ १८ ॥

तब उचित समयपर जनरहित स्थानमें एक सुन्दरशिला पर सुखसे बैठे हुए महाबाहु भीमसेनसे द्रौपदी बोली ॥ १८ ॥

सुपर्णानिलवेगेन श्वसनेन महाबलात् ।
पञ्चवर्णानि पात्यन्ते पुष्पाणि भरतर्षभ ।
प्रत्यक्षं सर्वभूतानां नदीमश्वरथां प्रति ॥ १९ ॥

हे भरतकुलसिंह ! गरुडके पंखोंसे उठे हुए वायुने महाबलसे यह पांच रङ्गके फूल फेंके हैं। जो सब प्राणियोंके आगे अश्वरथा नदीमें वह रहे हैं ॥ १९ ॥

खाण्डवे सत्यसंधेन भ्रात्रा तव नरेश्वर ।
गन्धर्वोरगरक्षांसि वासवश्च निवारितः ।
हता मायाविनश्चोग्रा धनुः प्राप्तं च गाण्डिवम् ॥ २० ॥

हे नरेश्वर ! तुम्हारे भाई सत्यवादी अर्जुनने खाण्डव वनमें गन्धर्व, सांप, राक्षस और इन्द्रका भी निवारण कर दिया था, और मायावी राक्षसोंको मारकर गाण्डीव धनुषको प्राप्त किया था ॥ २० ॥

तवापि सुमहत्तेजो महद्बाहुबलं च ते ।
अविषह्यमनाधृष्यं शतक्रतुबलोपमम् ॥ २१ ॥

हे भीम ! तुम्हारा तेज अत्यधिक है और बाहुबल भी बहुत है । हे इन्द्रतुल्य पराक्रमवाले तुमको कोई नहीं जीत सकता और तुम्हारे तेजको कोई नहीं सह सकता ॥ २१ ॥

त्वद्बाहुबलवेगेन त्रासिताः सर्वराक्षसाः।
हित्वा शैलं प्रपद्यन्तां भीमसेन दिशो दश ॥ २२ ॥

तुम्हारे बाहुबलके पराक्रमसे सब राक्षसलोग डरते हैं। हे भीमसेन! तुम्हारे पराक्रमसे वे राक्षस इस पर्वतको छोडकर दसों दिशाओं भाग जायें ॥ २२ ॥

ततः शैलोत्तमस्याग्रं चित्रमाल्यधरं शिवम्।
व्यपेतभयसंमोहाः पश्यन्तु सुहृदस्तव ॥ २३ ॥

तुम्हारे मित्रलोग सुख देनेवाले मालाधारी इस पर्वतके शिखरको सुख और निर्भयतासे देखें ॥ २३ ॥

एवं प्रणिहितं भीम चिरात्प्रभृति मे मनः।
द्रष्टुमिच्छामि शैलाग्रं त्वद्बाहुबलमाश्रिता ॥ २४ ॥

हे भीम! बहुत दिनसे मेरे मनमें यह इच्छा थी। तुम्हारे बाहुओंसे रक्षित होकर मैं इस पर्वतके शिखरको देखना चाहती हूँ ॥ २४ ॥

ततः क्षिप्तमिवात्मानं द्रौपद्या स परंतपः।
नामृष्यत महाबाहुः प्रहारमिव सद्गवः ॥ २५ ॥

महाबाहु भीमने द्रौपदीके इन वचनोंको अपने ऊपर आक्षेप ही समझा और जिस प्रकार एक उत्तम बैल अपने ऊपर प्रहारको नहीं सह सकता, उसी तरह भीम द्रौपदीके उन वचनोंको न सह सके ॥ २५ ॥

सिंहर्षभगतिः श्रीमानुदारः कनकप्रभः।
मनस्वी बलवान्हृप्तो मानी शूरश्च पाण्डवः ॥ २६ ॥

श्रीमान्, सिंह और शार्दूलके समान गतिवाले, सोनेके समान रङ्गवाले, मनस्वी, बलवान्, अभिमानी, शूर ॥ २६ ॥

लोहिताक्षः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः।
सिंहदंष्ट्रो बृहत्स्कन्धः शालपोत इवोद्गतः ॥ २७ ॥

लालनेत्र और ऊंचे कन्धेवाले, मतवाले हाथीके समान बली, सिंहके समान दांतवाले, शालके समान ऊंचे ॥ २७ ॥

महात्मा चारुसर्वाङ्गः कम्बुग्रीवो महाभुजः।
रुक्मपृष्ठं धनुः खड्गं तूणांश्चापि परामृशत् ॥ २८ ॥

महात्मा, सर्वाङ्गसुन्दर, शंखके समान कण्ठवाले महाबाहु भीमसेनने स्वर्णपीठवाले धनुष, खड्ग और तूणीरको धारण किया ॥ २८ ॥

केसरीव यथोत्सिक्तः प्रभिन्न इव वारणः ।
व्यपेतभयसंमोहः शैलमभ्यपतद्बली ॥ २९ ॥

तदनन्तर सिंहके समान उद्धत और मतवाले हाथीके समान भय और मोहको छोडकर पहाडकी तरफ चले ॥ २९ ॥

तं मृगेन्द्रमिवायान्तं प्रभिन्नमिव वारणम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि बाणखड्गधनुर्धरम् ॥ ३० ॥

तलवार और धनुषको धारण करनेवाले उन भीमको सब प्राणियोंने मृगराज सिंह अथवा भिन्न गण्डस्थलवाले हाथीके समान आते हुए देखा ॥ ३० ॥

द्रौपद्या वर्धयन्हर्षं गदामादाय पाण्डवः ।
व्यपेतभयसंमोहः शैलराजं समाविशत् ॥ ३१ ॥

पाण्डुनन्दन भीम द्रौपदीका आनन्द बढाते हुए हाथमें गदा लेकर शोक और भयको छोडकर पर्वतके शिखरकी ओर चले ॥ ३१ ॥

न ग्लानिर्न च कातर्यं न वैक्लव्यं न मत्सरः ।
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः ॥ ३२ ॥

वायुके आत्मज भीमको न ग्लानि थी, न डर था, न व्याकुलता थी और न उन्हें कभी ईर्ष्या ही आती थी ॥ ३२ ॥

तदेकायनमासाद्य विषमं भीमदर्शनम् ।
बहुतालोच्छ्रयं शृङ्गमारुरोह महाबलः ॥ ३३ ॥

महाबली भीमसेन अनेक ताडोंके समान ऊंचे, घोर रूप बहुत ही विषम और एक मार्गवाले शिखरपर चढ गये ॥ ३३ ॥

स किन्नरमहानागमुनिगन्धर्वराक्षसान् ।
हर्षयन्पर्वतस्याग्रमाससाद महाबलः ॥ ३४ ॥

वे महाबली भीम किन्नर, महानाग, मुनि, गन्धर्व और राक्षसोंको हर्षित करते हुए पर्वतकी चोटीपर जा पहुंचे ॥ ३४ ॥

ततो वैश्रवणावासं ददर्श भरतर्षभः ।
काञ्चनैः स्फाटिकाकारैर्वेश्मभिः समलंकृतम् ॥ ३५ ॥

वहां चढकर भीमने कुबेरका घर देखा, वह स्थान सोने और स्फटिकका बना हुआ और अनेक स्थानोंसे घिरा हुआ था ॥ ३५ ॥

मोदयन्सर्वभूतानि गन्धमादनसंभवः ।
सर्वगन्धवहस्तत्र मारुतः सुसुखो ववौ ॥ ३६ ॥

सब तरहकी सुगन्धिसे भरा हुआ सब प्राणियोंको सुख देनेवाला गन्धमादनसे होकर आनेवाला सुखदायक वायु वहां चलने लगा ॥ ३६ ॥

चित्रा विविधवर्णाश्चित्रमञ्जरिधारिणः ।
अचिन्त्या विविधास्तत्र द्रुमाः परमशोभनाः ॥ ३७ ॥

भीमसेनने उस शिखरपर अनेक वर्णवाले, विचित्र सौन्दर्यसे युक्त मंजरियोंके धारण करनेके कारण अत्यन्त सुन्दर दीखनेवाले, अदृष्टपूर्व विविध तरहके वृक्ष देखे ॥ ३७ ॥

रत्नजालपरिक्षिप्तं चित्रमाल्यधरं शिवम् ।
राक्षसाधिपतेः स्थानं ददर्श भरतर्षभः ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ भीमसेनने अनेक रत्नोंके जालोंसे बंधे हुए विचित्र मालाधारी कल्याणकारी राक्षसोंके स्वामी कुबेरके स्थानको देखा ॥ ३८ ॥

गदाखड्गधनुष्पाणिः समभित्यक्तजीवितः ।
भीमसेनो महाबाहुस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ ३९ ॥

महाबाहु भीमसेन अपने हाथमें गदा, धनुष और खड्ग धारणकर प्राणको हथेलीपर रखकर पर्वतके समान स्थिर हो गए ॥ ३९ ॥

ततः शङ्खमुपाध्मासीद्द्विषतां लोमहर्षणम् ।
ज्याघोषतलघोषं च कृत्वा भूतान्यमोहयत् ॥ ४० ॥

तदनन्तर शत्रुओंके रोंगटोंको खडा कर देनेवाले शङ्खको बजाया तथा धनुष और तालोंका घोर शब्द किया और उससे प्राणियोंको मोह लिया ॥ ४० ॥

ततः संहृष्टरोमाणः शब्दं तमभिदुद्रुवुः ।
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पाण्डवस्य समीपतः ॥ ४१ ॥

उस शब्दको सुनकर राक्षसोंके रोएं खडे हो गये। तब अनेक यक्ष, गन्धर्व और राक्षस उस घोषको लक्ष्य करके भीमसेनकी ओर दौडे ॥ ४१ ॥

गदापरिघनिस्त्रिंशशक्तिशूलपरश्वधाः ।
प्रगृहीता व्यरोचन्त यक्षराक्षसबाहुभिः ॥ ४२ ॥

यक्ष और राक्षस अपने हाथोंमें गदा, परिघ, खड्ग, शक्ति, शूल और परश्वध आदि अनेक शस्त्रोंको धारण करके सुशोभित होने लगे ॥ ४२ ॥

ततः प्रववृते युद्धं तेषां तस्य च भारत।
तैः प्रयुक्तान्महाकायैः शक्तिशूलपरश्वधान्।
भल्लैर्भीमः प्रचिच्छेद भीमवेगतरैस्ततः ॥ ४३ ॥

हे भारत जनमेजय ! तब उन राक्षसोंका और भीमसेनका युद्ध होने लगा। भीमसेनने महा वेगवाले मायाके सहित राक्षसोंके छूटे हुए शूल शक्ति और परश्वध आदि शस्त्रोंको अपने बाणोंसे काट दिया ॥ ४३ ॥

अन्तरिक्षचराणां च भूमिष्ठानां च गर्जताम्।
शरैर्विव्याध गात्राणि राक्षसानां महाबलः ॥ ४४ ॥

महाबली भीमने भूमिपर खडे हुए तथा अन्तरिक्षमें विचरते हुए तथा गर्जते हुए राक्षसोंके शरीरोंको अपने बाणोंसे काट दिया ॥ ४४ ॥

सा लोहितमहावृष्टिरभ्यवर्षन्महाबलम्।
कायेभ्यः प्रच्युता धारा राक्षसानां समन्ततः ॥ ४५ ॥

भीमके द्वारा काटे जाते हुए राक्षसोंके शरीरोंसे चारों ओर खून की धारा वह निकली, और उस रुधिरकी महावृष्टि महाबलशाली भीमपर बरसने लगी ॥ ४५ ॥

भीमबाहुबलोत्सृष्टैर्बहुधा यक्षरक्षसाम्।
विनिकृत्तान्यदृश्यन्त शरीराणि शिरांसि च ॥ ४६ ॥

भीमसेनके बाहुबलसे छूटे हुए बाणोंने यक्ष और राक्षसोंके शिर और शरीर कटे हुए दिखाई पडने लगे ॥ ४६ ॥

प्रच्छाद्यमानं रक्षोभिः पाण्डवं प्रियदर्शनम्।
ददृशुः सर्वभूतानि सूर्यमभ्रगणैरिव ॥ ४७ ॥

उस समय राक्षसोंसे घिरे हुए प्रियदर्शी भीमको सब प्राणियोंने इस रूपमें देखा जैसा कि बादलसे घिरे हुए सूर्य ॥ ४७ ॥

स रश्मिभिरिवादित्यः शरैररिनिघातिभिः।
सर्वानार्छन्महाबाहुर्बलवान्सत्यविक्रमः ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे सबको आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार सत्य पराक्रमी, बलवान् और महाबाहु भीमने शत्रुओंको नष्ट करनेवाले बाणोंसे सबको आच्छादित कर लिया ॥ ४८ ॥

अभितर्जयमानाश्च रुवन्तश्च महारवान्।
न भीहं भीमसेनस्य ददृशुः सर्वराक्षसाः ॥ ४९ ॥
सब राक्षसोंने भीमसेनको बहुत डराया और अनेक प्रकारके भयङ्कर शब्द भी किए परन्तु भीमसेनको जरा भी ः हित होते नहीं देखा ॥ ४९ ॥

ते शरैः क्षतसर्वाङ्गा भीमसेनभयार्दिताः।
भीममार्तस्वरं चक्रुर्विप्रकीर्णमहायुधाः ॥ ५० ॥
वे भीमके डरसे व्याकुल और उनके बाणोंसे सभी अंगोंसे घायल होकर अपने अपने शस्त्रोंको डाल डालकर भयङ्कर आर्तनाद करने लगे ॥ ५० ॥

उत्सृज्य त गदाशूलानसिशक्तिपरश्वधान्।
दक्षिणां दिशमाजग्मुस्त्रासिता दृढधन्वना ॥ ५१ ॥
राक्षस और यक्ष महाधनुषधारी भीमसेनके भयसे व्याकुल होकर गदा, शूल, शक्ति और परश्वधोंको छोडकर दक्षिण दिशाकी ओर भागे ॥ ५१ ॥

तत्र शूलगदापाणिर्व्यूढोरस्को महाभुजः।
सखा वैश्रवणस्यासीन्मणिमान्नाम राक्षसः ॥ ५२ ॥
उनमें शूल और गदाको हाथोंमें धारण करनेवाला, चौडी छातीवाला महाबाहु मणिमान् नामक राक्षस कुबेरका मित्र था ॥ ५२ ॥

अदर्शयदधीकारं पौरुषं च महाबलः।
स तान्दृष्ट्वा परावृत्तान्स्मयमान इवाब्रवीत् ॥ ५३ ॥
वह महाबली मणिमान् राक्षस सब राक्षसोंको युद्धसे भागते देखकर अपना पुरुषार्थ और अधिकार दिखाने लगा और मुस्कराकर बोला ॥ ५३ ॥

एकेन बहवः संख्ये मानुषेण पराजिताः।
प्राप्य वैश्रवणावासं किं वक्ष्यथ धनेश्वरम् ॥ ५४ ॥
कि युद्धमें एक ही मनुष्यने बहुतसे राक्षसोंको हरा दिया। अब तुम धनेश्वर कुबेरके पास जाकर क्या कहोगे ? ॥ ५४ ॥

एवमाभाष्य तान्सर्वान्न्यवर्तत स राक्षसः।
शक्तिशूलगदापाणिरभ्यधावच्च पाण्डवम् ॥ ५५ ॥
उस मणिमान् राक्षसने सब राक्षसोंसे ऐसा कहकर उन्हें लौटाया और स्वयं भी शक्ति, शूल और गदा धारण करके पाण्डुपुत्र भीमसेनकी ओर दौडा ॥ ५५ ॥

तमापतन्तं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम् ।
वत्सदन्तैस्त्रिभिः पार्श्वे भीमसेनः समर्पयत् ॥ ५६ ॥
जब भीमने उसको मतवाले हाथीके समान वेगसे आते हुए देखा, तो उसके बगलमें वत्सदन्त नामक अत्यन्त तीक्ष्ण तीन बाण मारे ॥ ५६ ॥

मणिमानपि संक्रुद्धः प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
प्राहिणोद्भीमसेनाय परिक्षिप्य महाबलः ॥ ५७ ॥
तब क्रुद्ध होकर मणिमान्ने भी एक बडी भारी गदा हाथमें लेकर उसे महाबली भीमकी ओर लक्ष्य करके फेंकी ॥ ५७ ॥

विद्युद्रूपां महाघोरामाकाशे महतीं गदाम् ।
शरैर्बहुभिरभ्यर्छद्भीमसेनः शिलाशितैः ॥ ५८ ॥
भीमने विद्युत्के समान प्रकाशमान् उस महाघोर गदाको आकाशसे गिरती हुई देखकर शिलाको काटनेवाले अनेक बाणोंको मारा ॥ ५८ ॥

प्रत्यहन्यन्त ते सर्वे गदामासाद्य सायकाः ।
न वेगं धारयामासुर्गदावेगस्य वेगिताः ॥ ५९ ॥
वे सब बाण गदासे टकराकर टूट गए। वे बाण वेगसे छोडे जानेके बावजूद भी वेगसे आनेवाली गदाकी गतिको रोक न सके ॥ ५९ ॥

गदायुद्धसमाचारं बुध्यमानः स वीर्यवान् ।
व्यंसयामास तं तस्य प्रहारं भीमविक्रमः ॥ ६० ॥
तब महापराक्रमी बलवान् गदायुद्धकी रीतिको जाननेवाले भीमने मणिमान्की गदाको व्यर्थ कर दिया ॥ ६० ॥

ततः शक्तिं महाघोरां रुक्मदण्डामयस्मयीम् ।
तस्मिन्नेवान्तरे धीमान्प्रजहाराथ राक्षसः ॥ ६१ ॥
उसी बीचमें बुद्धिमान् मणिमानने लोहेकी बनी सोनेके दण्डवाली एक घोर शक्ति भीमसेनके मारी ॥ ६१ ॥

सा भुजं भीमनिर्ह्रादा भित्त्वा भीमस्य दक्षिणम् ।
साग्निज्वाला महारौद्रा पपात सहसा भुवि ॥ ६२ ॥
वह घोर शब्दवाली शक्ति भीमसेनके दहिने हाथमें लगी। वह अग्नि-ज्वालावाली घोर शक्ति भीमसेनके हाथमें लगकर पृथ्वीपर गई ॥ ६२ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासः शक्त्याभितपराक्रमः।
गदां जग्राह कौरव्यो गदायुद्धविशारदः ॥ ६३ ॥
तब अमित पराक्रमी कुरुवंशी महाधनुर्धारी भीम उस शक्तिके लगनेसे क्रोधमें भर कर गदा लेकर राक्षसकी ओर दौडे ॥ ६३ ॥

तां प्रगृह्योन्नदन्भीमः सर्वशैक्यशायसीं गदाम्।
तरसा सोऽभिदुद्राव मणिमन्तं महाबलम् ॥ ६४ ॥
लोहेकी गदाको हाथमें लेकर घोर शब्द किया और उस गदाको लेकर वे महाबलशाली मणिमान्की तरफ वेगसे दौडे। ॥ ६४ ॥

दीप्यमानं महाशूलं प्रगृह्य मणिमानपि।
प्राहिणोद्भीमसेनाय वेगेन महता नदन् ॥ ६५ ॥
तब महाबली मणिमान्ने भी एक जलते हुए महाशूलको लेकर बडेही वेगसे गर्जते हुए भीमसेनकी ओर फेंका ॥ ६५ ॥

भङ्क्त्वा शूलं गदाग्रेण गदायुद्धविशारदः।
अभिदुद्राव तं तूर्णं गरुत्मानिव पन्नगम् ॥ ६६ ॥
गदा युद्धमें निपुण भीमसेनने उस त्रिशूलको अपनी गदासे तोड डाला। फिर जैसे सांपको मारनेके लिये गरुड दौडता है उसी प्रकार वे मणिमान्की तरफ दौडे ॥ ६६ ॥

सोऽन्तरिक्षमभिप्लुत्य विधूय सहसा गदाम्।
प्रचिक्षेप महाबाहुर्विनद्य रणमूर्धनि ॥ ६७ ॥
महापराक्रमी भीमसेनने आकाशमें जाकर जोरसे गदाको घुमाया और फिर बहुत जोरसे गरजकर वह गदा मणिमान्के मारी ॥ ६७ ॥

सेन्द्राशनिरिवेन्द्रेण विसृष्टा वातरंहसा।
हत्वा रक्षः क्षितिं प्राप्य कृत्येव निपपात ह ॥ ६८ ॥
वायुके समान वेगवान् भीमसेनके हाथसे छूटकर इन्द्रके वज्रके तुल्य वह गदा उस राक्षसके हृदयमें जा लगी। वह गदा भी राक्षसको मारकर कृत्याके समान भूमिपर गिर गई ॥ ६८ ॥

तं राक्षसं भीमबलं भीमसेनेन पातितम्।
ददृशुः सर्वभूतानि सिंहनेव गवां पतिम् ॥ ६९ ॥
भीमके द्वारा मारकर गिराये गये भयंकर बलवाले उस राक्षसको सब प्राणियोंने इस प्रकार देखा, कि मानों किसी सिंहने गायोंके स्वामी वृषभको मार गिराया हो ॥ ६९ ॥

तं प्रेक्ष्य निहतं भूमौ हतशेषा निशाचराः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा जग्मुः प्राचीं दिशं प्रति ॥ ७० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥ ५४०३ ॥

जब राक्षसोंने उसे मरा हुआ देखा, तो मरनेसे बचे हुए सब राक्षस रोने चिल्लाते हुए पूर्व दिशाको भाग गये ॥ ७० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ सत्तावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५७ ॥ ५४०३ ॥

: १५८ :

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा बहुविधैः शब्दैर्नाद्यमाना गिरेर्गुहाः ।
अजातशत्रुः कौन्तेयो माद्रीपुत्रावुभावपि ॥ १ ॥
धौम्यः कृष्णा च विप्राश्च सर्वे च सुहृदस्तथा ।
भीमसेनमपश्यन्तः सर्वे विमनसोऽभवन् ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– अनेक प्रकारके शब्दोंसे पहाडकी गुफाओंके गूंजनेकी आवाज सुनकर कुन्तीपुत्र अजातशत्रु युधिष्ठिर, दोनों माद्री पुत्र नकुल और सहदेव, धौम्य, द्रौपदी, ब्राह्मण तथा मित्रगण वहां भीमसेनको न देखनेके कारण व्याकुल मनवाले हो गए ॥ १-२ ॥

द्रौपदीमार्ष्टिषेणाय प्रदाय तु महारथाः ।
सहिताः सायुधाः शूराः शैलमारुरुहुस्तदा ॥ ३ ॥

तदनन्तर द्रौपदीको आर्ष्टिषेण मुनिके आश्रममें छोडकर महारथी वीर पाण्डव शस्त्रोंको लेकर पहाडपर चढ गये ॥ ३ ॥

ततः संप्राप्य शैलाग्रं वीक्षमाणा महारथाः ।
ददृशुस्ते महेष्वासा भीमसेनमरिंदमम् ॥ ४ ॥

तब पर्वतकी चोटीपर पहुंचकर इधर उधर देखनेवाले महारथी महाधनुर्धारी पाण्डवोंने उस शिखरपर शत्रुनाशक भीमसेनको देखा ॥ ४ ॥

स्फुरतश्च महाकायान्गतसत्त्वांश्च राक्षसान् ।
महाबलान्महाघोरान्भीमसेनेन पातितान् ॥ ५ ॥

और भीमसेनके हाथसे मारे गए तथा तडफते हुए, बडे शरीरवाले बलवान् महावीर्यवान् राक्षसोंको भी देखा ॥ ५ ॥

शुशुभे स महाबाहुर्गदाखड्गधनुर्धरः ।
निहत्य समरे सर्वान्दानवान्मघवानिव ॥ ६ ॥

उनके बीचमें गदा, खड्ग और धनुष धारण करनेवाले भीम इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे, युद्धमें जैसे सब दैत्योंको मारकर इन्द्र सुशोभित हुए थे ॥ ६ ॥

ततस्ते समतिक्रम्य परिष्वज्य वृकोदरम् ।
तत्रोपविविशुः पार्थाः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥ ७ ॥

तब महारथी पाण्डवोंने अपने भाई भीमसेनको गलेसे लगा लिया और उस उत्तम गतिको प्राप्त होकर वे सब लोग एक स्थानपर बैठ गये ॥ ७ ॥

तैश्चतुर्भिर्महेष्वासैर्गिरिशृङ्गमशोभत ।
लोकपालैर्महाभागैर्दिवं देववरैरिव ॥ ८ ॥

उन महाधनुर्धारी महावीरोंके बैठनेसे यह पर्वतका शिखर ऐसे सुशोभित हुआ, जैसे देवोंमें श्रेष्ठ महाभाग लोकपालोंके बैठनेसे स्वर्ग ॥ ८ ॥

कुबेरसदनं दृष्ट्वा राक्षसांश्च निपातितान् ।
भ्राता भ्रातरमासीनमभ्यभाषत पाण्डवम् ॥ ९ ॥

महाराज युधिष्ठिरने कुबेरका स्थान और उन मरे हुए राक्षसोंको देखकर बैठे हुए पाण्डुपुत्र भीमसेनसे कहा ॥ ९ ॥

साहसाद्यदि वा मोहाद्भीम पापमिदं कृतम् ।
नैतत्ते सदृशं वीर मुनेरिव मृषावचः ॥ १० ॥

हे भीम तुमने यह काम चाहे साहससे किया हो, या भूलसे किया हो, पर यह काम तुम्हारे लिए उसी तरह अयोग्य था, जैसा कि मुनिके लिए असत्य बोलना ॥ १० ॥

राजद्विष्टं न कर्तव्यमिति धर्मविदो विदुः ।
त्रिदशानामिदं द्विष्टं भीमसेन त्वया कृतम् ॥ ११ ॥

धर्मके जाननेवाले मुनियोंने कहा है, कि राजाके विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिये । हे भीमसेन ! तुमने यह काम देवोंके विरुद्ध किया है ॥ ११ ॥

अर्थधर्मावनादृत्य यः पापे कुरुते मनः ।
कर्मणां पार्थ पापानां स फलं विन्दते ध्रुवम् ।
पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ १२ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! जो कोई अर्थ और धर्मका निरादर करके पापकर्ममें अपनी बुद्धिको लगाता है उसको निश्चयसे पापका फल मिलता है । यदि तुम मेरा प्रिय काम करना चाहते हो, तो फिर ऐसा काम कभी मत करना ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्राता भ्रातरमच्युतम् ।
अर्थतत्त्वविभागज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
विरराम महातेजास्तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥ १३ ॥

अर्थ और धर्मके जाननेवाले धर्मात्मा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अपने बलवान् भाईसे ऐसा कहकर चुप हो गये । परन्तु महातेजस्वी युधिष्ठिर इसी बातको अपने मनमें विचारते रहे ॥ १३ ॥

ततस्ते हतशिष्टा ये भीमसेनेन राक्षसाः ।
सहिताः प्रत्यपद्यन्त कुबेरसदनं प्रति ॥ १४ ॥

दूसरी तरफ भीमसेनके मारनेसे जो राक्षस बच गए थे, वे सब मिलकर कुबेरके स्थान पर गये ॥ १४ ॥

ते जवेन महावेगाः प्राप्य वैश्रवणालयम् ।
भीममार्तस्वरं चक्रुर्भीमसेनभयार्दिताः ॥ १५ ॥

वे वेगसे चलकर कुबेरके महलमें जा पहुंचे । वहां जाकर भीमसेनके भयसे पीडित होकर आर्तनाद करने लगे ॥ १५ ॥

न्यस्तशस्त्रायुधाः श्रान्ताः शोणिताक्तपरिच्छदाः ।
प्रकीर्णमूर्धजा राजन्यक्षाधिपतिमब्रुवन् ॥ १६ ॥

हे राजन् ! अस्त्र शस्त्र छोडकर भागे हुए, थके हुए, रुधिरसे भीगे, खुले हुए बालोंवाले वे राक्षस कुबेरसे कहने लगे ॥ १६ ॥

गदापरिघनिस्त्रिंशतोमरप्रासयोधिनः ।
राक्षसा निहताः सर्वे तव देव पुरःसराः ॥ १७ ॥

हे धनेश्वर ! आपके सब वीर जो गदा, परिघ, खड्ग और तोमरोंसे युद्ध करते थे उन सबको एक मनुष्यने मार डाला ॥ १७ ॥

प्रमृद्य तरसा शैलं मानुषेण धनेश्वर ।
एकेन सहिताः संख्ये हताः क्रोधवशा गणाः ॥ १८ ॥

हे धनेश्वर ! एक मनुष्यने अपने बलसे पर्वतको मथकर उसने अकेले ही युद्धमें इकट्ठे हुए क्रोधवश नामके राक्षसगणोंको मार डाला है ॥ १८ ॥

प्रवरा राक्षसेन्द्राणां यक्षाणां च धनाधिप ।
शेरते निहता देव गतसत्त्वाः परासवः ॥ १९ ॥

हे धनोंके स्वामिन् देव ! यक्षों और राक्षसेन्द्रोंके मध्यमें जो जो श्रेष्ठ थे, वे सब मारे जानेके कारण निर्बल और निष्प्राण होकर भूमिपर पडे सो रहे हैं ॥ १९ ॥

लब्धः शैलो वयं मुक्ता मणिमांस्ते सखा हतः ।
मानुषेण कृतं कर्म विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ २० ॥

पर्वतोंकी गुफाओंमें छिप जानेके कारण हम बच गए, पर आपका मित्र मणिमान् मारा गया है। जो कुछ उस पुरुषने कर्म किया था, वह सब हमने आपसे कह सुनाया; अब जो इच्छा हो सो कीजिये ॥ २० ॥

स तच्छ्रुत्वा तु संक्रुद्धः सर्वयक्षगणाधिपः ।
कोपसंरक्तनयनः कथमित्यब्रवीद्वचः ॥ २१ ॥

यक्षगणोंके राजा कुबेर उनके वचन सुनकर बहुत क्रुद्ध हो गए और क्रोधसे नेत्र लाल करके यह वाक्य बोले— यह कैसे हुआ ? ॥ २१ ॥

द्वितीयमपराध्यन्तं भीमं श्रुत्वा धनेश्वरः ।
चुक्रोध यक्षाधिपतिर्युज्यतामिति चाब्रवीत् ॥ २२ ॥

यक्षोंके राजा धनेश्वर कुबेर भीमका यह दूसरा अपराध सुनकर बहुत ही क्रोधित हुए और उन्होंने आज्ञा दी कि मेरा रथ जोडो ॥ २२ ॥

अथाभ्रघनसंकाशं गिरिकूटमिवोच्छ्रितम् ।
हयैः संयोजयामासुर्गान्धर्वैरुत्तमं रथम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर पर्वतके शिखरके समान ऊंचे और मेघके समान गंभीर कुबेरके उत्तम रथमें गन्धर्व देशमें उत्पन्न घोडे जोडे गए ॥ २३ ॥

तस्य सर्वगुणोपेता विमलाक्षा हयोत्तमाः ।
तेजोबलजवोपेता नानारत्नविभूषिताः ॥ २४ ॥

वे घोडे गुणोंसे भरे, निर्मल नेत्रवाले, तेज और बल वेगसे युक्त अनेक तरहके रत्नोंसे भूषित थे ॥ २४ ॥

शोभमाना रथे युक्तास्तरिष्यन्त इवाशुगाः ।
हर्षयामासुरन्योन्यमिङ्गितैर्विजयावहैः ॥ २५ ॥

वे घोडे रथमें जोडे जानेपर बहुत सुशोभित हुए और वे इतने शीघ्रगामी थे कि मानों अभी सब कुछ लांघ जायेंगे। वे विजयको प्राप्त करानेवाले संकेतोंसे एक दूसरेको हर्षित करने लगे ॥ २५ ॥

स तमास्थाय भगवान्राजराजो महारथम् ।
प्रययौ देवगन्धर्वैः स्तूयमानो महाद्युतिः ॥ २६ ॥

राजाओंके राजा भगवान् कुबेर उस महारथपर बैठकर देवता और गन्धर्वोंसे स्तुति सुनते हुए चले ॥ २६ ॥

तं प्रयान्तं महात्मानं सर्वयक्षधनाधिपम् ।
रक्ताक्षा हेमसंकाशा महाकाया महाबलाः ॥ २७ ॥

सब यक्ष और धनोंके स्वामी महात्मा यक्षराज कुबेरको चलते हुए देखकर लाल नेत्रवाले महाबलवान् सोनेके समान रङ्गवाले बडे शरीरवाले ॥ २७ ॥

सायुधा बद्धनिस्त्रिंशा यक्षा दशशतायुताः ।
जवेन महता वीराः परिवार्योपतस्थिरे ॥ २८ ॥

एक लाख यक्ष शस्त्रोंको धारण करके और कवच पहनकर बडे वेगसे कुबेरको घेर कर खडे हो गए ॥ २८ ॥

तं महान्तमुपायान्तं धनेश्वरमुपान्तिके ।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पाण्डवाः प्रियदर्शनम् ॥ २९ ॥

उस महान् कुबेरको पासमें आते हुए पाण्डवोंने देखा । सुन्दर कुबेरको देखते ही पाण्डवोंके रोयें खडे हो गये ॥ २९ ॥

कुबेरस्तु महासत्त्वान्पाण्डोः पुत्रान्महारथान् ।
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशान्दृष्ट्वा प्रीतोऽभवत्तदा ॥ ३० ॥

कुबेरने भी महारथ और महा पराक्रमी पाण्डवोंको धनुष और खड्ग धारण किये हुए देखा तब कुबेर उनसे बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

ते पक्षिण इवोत्पत्य गिरेः शृङ्गं महाजवाः ।
तस्थुस्तेषां समभ्याशे धनेश्वरपुरःसराः ॥ ३१ ॥

हे राजन् ! उसी समय उस पर्वतके शिखरपर कुबेरके साथ चलनेवाले महावेगवाले राक्षस पक्षीके समान उडते हुए उनके पास आकर खडे हो गए ॥ ३१ ॥

ततस्तं हृष्टमनसं पाण्डवान्प्रति भारत ।
समीक्ष्य यक्षगन्धर्वा निर्विकारा व्यवस्थिताः ॥ ३२ ॥

हे भारत ! जब उन्होंने कुबेरको प्रसन्नचित्तसे पाण्डवोंके पास खडे हुए देखा तो वे लोग भी क्रोधरहित होकर निर्विकारभावसे खडे हो गये ॥ ३२ ॥

पाण्डवाश्च महात्मानः प्रणम्य धनदं प्रभुम्।
नकुलः सहदेवश्च धर्मपुत्रश्च धर्मवित् ॥ ३३ ॥
अपराद्धमिवात्मानं मन्यमाना महारथाः।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे परिवार्य धनेश्वरम् ॥ ३४ ॥

महात्मा पाण्डवोंने हाथ जोडके प्रभु कुबेरको प्रणाम किया। धर्म जाननेवाले युधिष्ठिर महारथ नकुल और सहदेव अपनेको अपराधी समझकर चारों ओरसे धनेश्वर कुबेरको घेरकर हाथ जोडकर खडे हो गए ॥ ३३-३४ ॥

शय्यासनधरं श्रीमत्पुष्पकं विश्वकर्मणा।
विहितं चित्रपर्यन्तमातिष्ठत धनाधिपः ॥ ३५ ॥

सुन्दर शय्या और आसनोंवाले, शोभासम्पन्न, विश्वकर्माके द्वारा निर्मित, चित्रविचित्र पुष्पकपर धनाधिपति कुबेर बैठे ॥ ३५ ॥

तमासीनं महाकायाः शङ्कुकर्णा महाजवाः।
उपोपविविशुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ॥ ३६ ॥

उनके बैठते ही बडे शरीरवाले, बडे बडे कानोंवाले महावेगवान् सहस्रों यक्ष और राक्षस भी चारों ओर बैठ गये ॥ ३६ ॥

शतशश्चापि गन्धर्वास्तथैवाप्सरसां गणाः।
परिवार्योपतिष्ठन्त यथा देवाः शतक्रतुम् ॥ ३७ ॥

सैकडों हजारों अप्सरायें और गन्धर्व उनके चारों ओर बैठ गये। उस समय कुबेर देवोंसे घिरे हुए इन्द्रके समान शोभा पाने लगे ॥ ३७ ॥

काञ्चनीं शिरसा बिभ्रद्भीमसेनः स्रजं शुभाम्।
बाणखड्गधनुष्पाणिरुदैक्षत धनाधिपम् ॥ ३८ ॥

अपने शिरपर सोनेकी माला धारण किये भीम भी बाण खड्ग और धनुषको अपने हाथमें लिये कुबेरकी ओर देखने लगे ॥ ३८ ॥

न भीर्भीमस्य न ग्लानिर्विक्षतस्यापि राक्षसैः।
आसीत्तस्यामवस्थायां कुबेरमपि पश्यतः ॥ ३९ ॥

भीम युद्धमें राक्षसोंके द्वारा बुरी तरह घायल किए जा चुके थे, फिर भी उस अवस्थामें कुबेरको देखकर भीम न तो डरे और न दुःखी ही हुए ॥ ३९ ॥

आददानं शितान्बाणान्योद्धुकाममवस्थितम् ।
दृष्ट्वा भीमं धर्मसुतमब्रवीन्नरवाहनः ॥ ४० ॥

जब नरवाहन कुबेरने तीक्ष्ण बाणोंको धारण किये युद्धकी इच्छासे खडे हुए भीमसेनको देखा तो युधिष्ठिरसे कहने लगे ॥ ४० ॥

विदुस्त्वां सर्वभूतानि पार्थ भूतहिते रतम् ।
निर्भयश्चापि शैलाग्रे वस त्वं सह बन्धुभिः ॥ ४१ ॥

हे कुन्तीनन्दन! तुम सब प्राणियोंके कल्याणको चाहनेवाले हो । इसी रूपमें तुम्हें सब लोग जानते हैं, इसलिए अपने भाइयोंके सहित निर्भय होकर इस पर्वतके शिखरपर निवास करो ॥ ४१ ॥

न च मन्युस्त्वया कार्यो भीमसेनस्य पाण्डव ।
कालेनैते हताः पूर्वं निमित्तमनुजस्तव ॥ ४२ ॥

हे पाण्डव! तुम भीमसेनके ऊपर कुछ क्रोध मत करना, इन सब राक्षसोंका काल आगया था, इसी कारण ये सब मर गए, तुम्हारे भाई तो केवल निमित्त मात्र ही हुए हैं ॥ ४२ ॥

व्रीडा चात्र न कर्तव्या साहसं यदिदं कृतम् ।
दृष्टश्चापि सुरैः पूर्वं विनाशो यक्षरक्षसाम् ॥ ४३ ॥

भीमसेनने जो यह कर्म किया है तुम इससे कुछ लज्जा मत अनुभव करो । देवोंने पहलेही इन यक्ष और राक्षसोंका नाश सोच रखा था ॥ ४३ ॥

न भीमसेने कोपो मे प्रीतोऽस्मि भरतर्षभ ।
कर्मणानेन भीमस्य मम तुष्टिरभूत्पुरा ॥ ४४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! मैं भीमके ऊपर जरासा भी क्रोधित नहीं हूँ । मैं इनके इस कर्मसे पहले भी बहुत प्रसन्न हुआ था ॥ ४४ ॥

एवमुक्त्वा तु राजानं भीमसेनमभाषत ।
नैतन्मनसि मे तात वर्तते कुरुसत्तम ।
यदिदं साहसं भीम कृष्णार्थे कृतवानसि ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् जनमेजय! महाराज युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर कुबेर भीमसेनसे बोले— हे कुरुसत्तम! हे तात भीम! तुमने द्रौपदीके लिए जो यह साहसिक कर्म किया, मेरे मनमें उसका जरा भी विचार नहीं है ॥ ४५ ॥

आमनादृत्य देवांश्च विनाशं यक्षरक्षसाम् ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य तेनाहं प्रीतिमांस्त्वयि ।
शापादस्मि विनिर्मुक्तो घोरादद्य वृकोदर ॥ ४६ ॥

हे भीम ! तुमने जो द्रौपदीके निमित्त अपने बाहुबलका सहारा लेकर मेरा और देवोंका अनादर करके सब यह साहसका कर्म किया तथा यक्ष तथा राक्षसोंका विनाश किया, इससे मैं बहुत प्रसन्न हुआ । इससे, हे वृकोदर ! आज मैं एक घोर शापसे छूट गया ॥४६॥

अहं पूर्वमगस्त्येन क्रुद्धेन परमर्षिणा ।
शप्तोऽपराधे कस्मिंश्चित्तस्यैषा निष्कृतिः कृता ॥ ४७ ॥

हे वृकोदर ! एक समय मेरे किसी अपराधके कारण महा ऋषि अगस्त्य क्रुद्ध हो गए थे और उन्होंने मुझे घोर शाप दिया था । उस घोर शापका यह प्रायश्चित है ॥ ४७ ॥

दृष्टो हि मम संक्लेशः पुरा पाण्डवनन्दन ।
न तवात्रापराधोऽस्ति कथंचिदपि शत्रुहन् ॥ ४८ ॥

हे पाण्डव ! पहलेसे ही मेरा दुःख निर्दिष्ट था, अतः, हे शत्रुनाशी ! उसमें तुम्हारा कुछ अपराध नहीं है ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं शप्तोऽसि भगवन्नगस्त्येन महात्मना ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं देव तवैतच्छापकारणम् ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भगवन् ! महात्मा अगस्त्यने आपको शाप क्यों दिया था ? हे देव ! आपको शाप दिए जानेके कारणको मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ४९ ॥

इदं चाश्चर्यभूतं मे यत्क्रोधात्तस्य धीमतः ।
तदैव त्वं न निर्दग्धः सबलः सपदानुगः ॥ ५० ॥

मुझे यह बहुत आश्चर्य मालूम होता है, कि उस बुद्धिमान् अगस्त्यके क्रोधसे आप अपने अनुचरों और सेनाओंके सहित उसी समय भस्म नहीं हो गये ॥ ५० ॥

वैश्रवण उवाच

देवतानामभून्मन्त्रः कुशवत्यां नरेश्वर ।
वृतस्तत्राहमगमं महापद्मशतैस्त्रिभिः ।
यक्षाणां घोररूपाणां विविधायुधधारिणाम् ॥ ५१ ॥

कुबेर बोले– हे नरेश्वर ! कुशवती स्थानमें देवोंकी एक सभा जुडी थी; उस सभामें मैं भी आमंत्रित होकर तीन सौ महापद्म यक्षोंके सहित गया था । मेरे सङ्ग जो यक्ष थे वे शस्त्रधारी और घोर रूपवाले थे ॥ ५१ ॥

अध्वन्यहमथापश्यमगस्त्यमृषिसत्तमम्।
उग्रं तपस्तपस्यन्तं यमुनातीरमाश्रितम्।
नानापक्षिगणाकीर्णे पुष्पितद्रुमशोभितम् ॥ ५२ ॥

मैंने मार्गमें अनेक तरहके पक्षीगणोंसे व्याप्त तथा फूले हुए पेडोंसे शोभित यमुनाके किनारे घोर तप करते हुए मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यको देखा ॥ ५२ ॥

तमूर्ध्वबाहुं दृष्ट्वा तु सूर्यस्याभिमुखं स्थितम्।
तेजोराशिं दीप्यमानं हुताशनमिवैधितम् ॥ ५३ ॥
राक्षसाधिपतिः श्रीमान्मणिमान्नाम मे सखा।
मौर्ख्यादज्ञानभावाच्च दर्पान्मोहाच्च भारत।
न्यष्ठीवदाकाशगतो महर्षेस्तस्य मूर्धनि ॥ ५४ ॥

सूर्यके सामने हाथ उठा कर बैठे हुए, तेजके समूह, प्रदीप्त अग्निके समान देदीप्यमान उन ऋषिको देखकर, हे भारत ! राक्षसोंके राजा श्रीमान् मणिमान् नामके मेरे मित्रने मूर्खता अज्ञान, अभिमान और भूलसे वहां थूक दिया, वह थूक आकाशसे गिरकर महर्षि अगस्त्यके सिरपर जा गिरा ॥ ५३–५४ ॥

स कोपान्मामुवाचेदं दिशः सर्वा दहन्निव।
मामवज्ञाय दुष्टात्मा यस्मादेष सखा तव ॥ ५५ ॥
धर्षणां कृतवानेतां पश्यतस्ते धनेश्वर।
तस्मात्सहैभिः सैन्यैस्ते वधं प्राप्स्यति मानुषात् ॥ ५६ ॥

वे अपनी दृष्टिसे दसों दिशाओंको भस्म करते हुए मुझसे बोले– हे धनेश्वर ! चूंकि तुम्हारे दुष्टात्मा इस मित्रने मेरा तिरस्कार करके तुम्हारे देखते देखते मेरा अपमान किया है इसलिए यह तुम्हारा मित्र इस सब सेनाके सहित एक मनुष्यके हाथसे मारा जायेगा ॥ ५५-५६ ॥

त्वं चाप्येभिर्हतैः सैन्यैः क्लेशं प्राप्येह दुर्मते।
तमेव मानुषं दृष्ट्वा किल्बिषाद्विप्रमोक्ष्यसे ॥ ५७ ॥

इन सबके मरनेसे तुम्हें भी बहुत क्लेश होगा, तुम भी उसी सैन्यके नाश करनेवाले मनुष्यको देखकर शापसे मुक्त होगे ॥ ५७ ॥

सैन्यानां तु तवैतेषां पुत्रपौत्रबलान्वितम्।
न शापं प्राप्स्यते घोरं गच्छ तेऽऽज्ञां करिष्यति ॥ ५८ ॥

तुम्हारी इस सेनामें जो तुम्हारी आज्ञाका पालन करेगा, वह अपने पुत्र और पौत्रके सहित इस शापसे बचेगा। अब तुम जाओ ॥ ५८ ॥

एष शापो मया प्राप्तः प्रागगस्त्यादृषिसत्तमात्।

स भीमेन महाराज भ्रात्रा तव विमोक्षितः ॥ ५९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥ ५४६२ ॥

हे महाराज ! मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यसे पहिले यह शाप मुझे मिला था। आज तुम्हारे भाई भीमने उस शापसे मुझे छुडा दिया ॥ ५९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ अट्ठावनवां अध्याय समाप्त ॥ १५८ ॥ ५४६२ ॥

: १५९ :

वैश्रवण उवाच

युधिष्ठिर धृतिर्दाक्ष्यं देशकालौ पराक्रमः।

लोकतन्त्रविधानानामेष पञ्चविधो विधिः ॥ १ ॥

कुबेर बोले- हे युधिष्ठिर ! धृति, दक्षता, देश, समय और पराक्रम यही लोकमें कार्य करनेकी पांच विधियां हैं ॥ १ ॥

धृतिमन्तश्च दक्षाश्च स्वे स्वे कर्मणि भारत।

पराक्रमविधानज्ञा नराः कृतयुगेऽभवन् ॥ २ ॥

हे भारत ! धृतिशील और यत्नोंमें कुशल, अपने अपने कर्मोंको करनेवाले, पराक्रम और विधानके जाननेवाले पुरुष सतयुगमें होते थे ॥ २ ॥

धृतिमान्देशकालज्ञः सर्वधर्मविधानवित्।

क्षत्रियः क्षत्रियश्रेष्ठ पृथिवीमनुशास्ति वै ॥ ३ ॥

हे क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! बुद्धिमान्, देश कालको जाननेवाला, धर्मों और विधानोंमें पण्डित क्षत्रिय ही बहुत कालतक पृथ्वी पर राज्य करता है ॥ ३ ॥

य एवं वर्तते पार्थ पुरुषः सर्वकर्मसु।

स लोके लभते वीर यशः प्रेत्य च सद्गतिम् ॥ ४ ॥

हे वीर कुन्तीनन्दन ! जो पुरुष इस प्रकार सब कामोंमें व्यवहार करते हैं, उनको इस लोकमें यश और परलोकमें उत्तम गति मिलती है ॥ ४ ॥

देशकालान्तरप्रेप्सुः कृत्वा शक्रः पराक्रमम्।

संप्राप्तस्त्रिदिवे राज्यं वृत्रहा वसुभिः सह ॥ ५ ॥

वृत्रासुरके मारनेवाले इन्द्र देशकालके अनुसार पराक्रम करके वसुओंके सहित स्वर्गमें देवोंके राजा हो गये ॥ ५ ॥

पापात्मा पापबुद्धिर्यः पापमेवानुवर्तते।
कर्मणामविभागज्ञः प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ ६॥

जो पापात्मा और पापकी बुद्धिवाला मनुष्य पापकर्म ही करता है,-वह कर्मोंको न जाननेवाला मूर्ख दोनों लोकोंमें नष्ट हो जाता है ॥ ६॥

अकालज्ञः सुदुर्मेधाः कार्याणामविशेषवित्।
वृथाचारसमारम्भः प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ ७॥

कालको न जाननेवाला, दुष्ट बुद्धिवाला और कार्योंकी विशेषता न जाननेवाला जो मूर्ख वृथा क्रोध करता है, उसका इस लोकमें और परलोकमें नाश हो जाता है ॥ ७॥

साहसे वर्तमानानां निकृतीनां दुरात्मनाम्।
सर्वसामर्थ्यलिप्सूनां पापो भवति निश्चयः ॥ ८॥

जो केवल साहसके वशमें होकर पाप करता है और जो दुष्टात्मा सब सामर्थ्यके कर्मोंको करनेकी इच्छा करता है, उसको निश्चय ही पाप प्राप्त होता है ॥ ८॥

अधर्मज्ञोऽवलिप्तश्च बालबुद्धिरमर्षणः।
निर्भयो भीमसेनोऽयं तं शाधि पुरुषर्षभ ॥ ९॥

हे पुरुषसिंह! यह तुम्हारा भाई भीमसेन धर्मको न जाननेवाला, अभिमानी, बालबुद्धि, क्रोधी और भयरहित है, तुम इसको अपनी आज्ञामें रखो ॥ ९॥

आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेः प्राप्य भूयस्त्वमाश्रमम्।
तामिस्रं प्रथमं पक्षं वीतशोकभयो वस ॥ १०॥

तुम राजऋषि आर्ष्टिषेणके आश्रम पर फिर जाकर कृष्णपक्षके पन्द्रह दिन तक शोक और भयसे रहित होकर रहो ॥ १०॥

अलकाः सह गन्धर्वैर्यक्षैश्च सह राक्षसैः।
मन्नियुक्ता मनुष्येन्द्र सर्वे च गिरिवासिनः
रक्षन्तु त्वा महाबाहो सहितं द्विजसत्तमैः ॥ ११॥

हे महाबाहु मनुष्येन्द्र! अलका निवासी गन्धर्व यक्ष राक्षस और वनवासी मेरी आज्ञासे तुम्हारी और तुम्हारे साथ रहनेवाले द्विजोंकी रक्षा करेंगे ॥ ११॥

साहसेषु च संतिष्ठन्निह शैले वृकोदरः।
वार्यतां साध्वयं राजंस्त्वया धर्मभृतां वर ॥ १२॥

हे धर्म जाननेवालोंमें श्रेष्ठ राजन्! यह तुम्हारा भाई भीमसेन जो इस पर्वत पर केवल साहस ही के काम सदा करता रहता है, अच्छा हो कि तुम इसको रोक दो ॥ १२॥

इतः परं च राजेन्द्र द्रक्ष्यन्ति वनगोचराः ।
उपस्थास्यन्ति च सदा रक्षिष्यन्ति च सर्वशः ॥ १३ ॥

हे राजन् ! आजके बादसे वनवासी लोग तुम्हें देखेंगे; वे सदा तुम्हारे पास रहेंगे और हर तरहसे तुम्हारी रक्षा करेंगे ॥ १३ ॥

तथैव चान्नपानानि स्वादूनि च बहूनि च ।
उपस्थास्यन्ति वो गृह्य मत्प्रेष्याः पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! ये मेरे अनुचर सेवक तुम्हारे लिये अन्न, स्वादु जल तथा और भी अनेक प्रकारकी वस्तु ला दिया करेंगे ॥ १४ ॥

यथा जिष्णुर्महेन्द्रस्य यथा वायोर्वृकोदरः ।
धर्मस्य त्वं यथा तात योगोत्पन्नो निजः सुतः ॥ १५ ॥

हे युधिष्ठिर ! जैसे इन्द्रके अर्जुन, वायुके भीम, धर्मके संयोगसे उसके औरसपुत्रके रूपमें तुम उत्पन्न हुए हो ॥ १५ ॥

आत्मजावात्मसंपन्नौ यमौ चोभौ यथाश्विनोः ।
रक्ष्यास्तद्वन्ममापीह यूयं सर्वे युधिष्ठिर ॥ १६ ॥

अश्विनीकुमारके नकुल और सहदेव योगसे उत्पन्न हुए पुत्र हैं और वे जैसे तुम सबकी रक्षा किया करते हैं, वैसे ही मैं भी तुम्हारी रक्षा करूंगा ॥ १६ ॥

अर्थतत्त्वविभागज्ञः सर्वधर्मविशेषवित् ।
भीमसेनादवरजः फल्गुनः कुशली दिवि ॥ १७ ॥

अर्थके तत्त्वको अलग अलग रूपसे जाननेवाले और सब धर्मोंके जाननेवाले भीमसेनके छोटे भाई अर्जुन स्वर्गमें कुशलसे हैं ॥ १७ ॥

याः काश्चन मता लोकेष्वग्र्याः परमसंपदः ।
जन्मप्रभृति ताः सर्वाः स्थितास्तात धनंजये ॥ १८ ॥

हे तात ! जो स्वर्गकी सम्पदा इस लोकमें दुर्लभ हैं वे सब जन्मसे अर्जुनमें स्थित हैं ॥ १८ ॥

दमो दानं बलं बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम् ।
एतान्यपि महासत्त्वे स्थितान्यमिततेजसि ॥ १९ ॥

महातेजस्वी और महाबलशाली अर्जुनमें दम (इन्द्रियोंको जीतनेकी शक्ति) दान, बुद्धि, लज्जा, धृति, शक्ति और उत्तम तेज ये सभी गुण हैं ॥ १९ ॥

न मोहात्कुरुते जिष्णुः कर्म पाण्डव गर्हितम् ।
न पार्थस्य मृषोक्तानि कथयन्ति नरा नृषु ॥ २० ॥

हे पाण्डव ! महाबलवान् अर्जुन कभी भूलसे भी बुरा काम नहीं करते । 'उन्होंने मनुष्योंमें कभी असत्यवचन नहीं' कहे, ऐसा ही मनुष्य उनके बारेमें कहते हैं ॥ २० ॥

स देवर्षिपितृगन्धर्वैः कुरूणां कीर्तिवर्धनः।
मानितः कुरुतेऽस्त्राणि शक्रसद्मनि भारत ॥ २१ ॥

हे भारत! महात्मा कुरुवंशी कीर्ति बढानेवाले अर्जुनका देवता, पितर और गन्धर्व भी सम्मान करते हैं। अब वह इन्द्रके घरमें शस्त्रविद्या सीख रहे हैं ॥ २१ ॥

योऽसौ सर्वान्महीपालान्धर्मेण वशमानयत्।
स शंतनुर्महातेजाः पितुस्तव पितामहः।
प्रीयते पार्थ पार्थेन दिवि गाण्डीवधन्वना ॥ २२ ॥

हे कुन्तीनन्दन! जिसने धर्मसे सब राजाओंको अपने वशमें किया था वही तुम्हारे पिताके पितामह महातेजस्वी शन्तनु तुम्हारे भाई गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुनके कर्मोंसे स्वर्गमें प्रसन्न हो रहे हैं ॥ २२ ॥

सम्यक्चासौ महावीर्यः कुलधुर्य इव स्थितः।
पितॄन्देवांस्तथा विप्रान्पूजयित्वा महायशाः।
सप्त मुख्यान्महामेधानाहरद्यमुनां प्रति ॥ २३ ॥

महात्मा और महाबलवान् अर्जुन अपने कुलमें श्रेष्ठ हैं। तुम्हारे प्रपितामह महायशस्वी स्वर्गको जीतनेवाले महाराज शन्तनुने पितर, देवता, ऋषि और ब्राह्मणोंकी पूजा करके यमुनाके तटपर सात अश्वमेधयज्ञ किये थे ॥ २३ ॥

अधिराजः स राजंस्त्वां शंतनुः प्रपितामहः।
स्वर्गजिच्छक्रलोकस्थः कुशलं परिपृच्छति ॥ २४ ॥

वही राजाओंके राजा तथा तुम्हारे परदादा शन्तनु आज इन्द्रलोकमें हैं और तुम्हारी कुशल पूछते हैं ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शक्तिं गदां खड्गं धनुश्च भरतर्षभ।
प्राध्वं कृत्वा नमश्चक्रे कुबेराय वृकोदरः ॥ २५ ॥

वैशम्पायन बोले— तदनन्तर, हे भरतश्रेष्ठ जनमेजय! भीमने शक्ति, गदा, खड्ग और धनुषको नीचे रखकर कुबेरको प्रणाम किया ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीद्धनाध्यक्षः शरण्यः शरणागतम्।
मानहा भव शत्रूणां सुहृदां नन्दिवर्धनः ॥ २६ ॥

तब शरणागतकी रक्षा करनेवाले कुबेरने शरणागत भीमसे कहा— कि तुम अपने शत्रुओंको मारनेवाले और मित्रोंके आनन्द बढानेवाले होओ ॥ २६ ॥

स्वेषु वेश्मसु रम्येषु वसताग्निप्रतापनाः ।
कामानुपहरिष्यन्ति यक्षा वो भरतर्षभाः ॥ २७ ॥

शत्रुओंको सन्ताप देनेवाले भरतश्रेष्ठ पाण्डवो! तुम जब अपने रमणीय आश्रमोंमें रहोगे तब यक्ष तुम्हारी चाही हुई सब वस्तुओंको वहां ले आया करेंगे ॥ २७ ॥

शीघ्रमेव गुडाकेशः कृतास्त्रः पुरुषर्षभः ।
साक्षान्मघवता सृष्टः संप्राप्स्यति धनंजयः ॥ २८ ॥

पुरुषोंमें श्रेष्ठ, गुडाकेश धनंजय अर्जुन भी शीघ्र ही शस्त्रोंको सीखकर साक्षात् इन्द्रसे आज्ञा लेकर यहां आएंगे ॥ २८ ॥

एवमुत्तमकर्माणमनुशिष्य युधिष्ठिरम् ।
अस्तं गिरिवरश्रेष्ठं प्रययौ गुह्यकाधिपः ॥ २९ ॥

गुह्यकोंके राजा कुबेर उत्तम कर्मवाले युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर उसी श्रेष्ठ पर्वतमें अन्तर्ध्यान हो गये ॥ २९ ॥

तं परिस्तोमसंकीर्णैर्नानारत्नविभूषितैः ।
यानैरनुययुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ॥ ३० ॥

उनके पीछे रत्नोंसे विभूषित तथा अनेक गद्दियोंसे सम्पन्न विमानोंपर चढकर यक्ष और राक्षस कुबेरके पीछे चले ॥ ३० ॥

पक्षिणामिव निर्घोषः कुबेरसदनं प्रति ।
बभूव परमाश्वानामैरावतपथे यताम् ॥ ३१ ॥

कुबेरके भवनकी ओर ऐरावतके मार्ग अर्थात् आकाशके मार्गसे जानेवाले उन उत्तम घोडोंका शब्द पक्षियोंके समान होता था ॥ ३१ ॥

ते जग्मुस्तूर्णमाकाशं धनाधिपतिवाजिनः ।
प्रकर्षन्त इवाभ्राणि पिबन्त इव मारुतम् ॥ ३२ ॥

धनेश्वर कुबेरके वे घोडे मानो मेघको चीरते और वायुको पीते हुए शीघ्रतासे आकाशमें चले ॥ ३२ ॥

ततस्तानि शरीराणि गतसत्त्वानि रक्षसाम् ।
अपाकृष्यन्त शैलाग्राद्धनाधिपतिशासनात् ॥ ३३ ॥

तब धनेश्वर कुबेरकी आज्ञासे मरे हुए राक्षसोंके शरीर पर्वतके शिखरपरसे उठाकर फेंक दिये गये ॥ ३३ ॥

तेषां हि शापकालोऽसौ कृतोऽगस्त्येन धीमता ।
समरे निहतास्तस्मात्सर्वे मणिमता सह ॥ ३४ ॥

बुद्धिमान् अगस्त्यके द्वारा दिए गए उन राक्षसोंके शापका यही समय था । इसीलिये वे मणिमान्के साथ युद्धमें मार दिए गए ॥ ३४ ॥

पाण्डवास्तु महात्मानस्तेषु वेश्मसु तां क्षपाम् ।
सुखमूषुर्गतोद्वेगाः पूजिताः सर्वराक्षसैः ॥ ३५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥ ५४९७ ॥

महात्मा पाण्डव उन घरोंमें सब राक्षसोंसे पूजित होकर उद्वेग रहित होकर सुखपूर्वक उस रात रहे ॥ ३५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ उनसठवां अध्याय समाप्त ॥ १५९ ॥ ५४९७ ॥

: १६० :

वैशम्पायन उवाच

ततः सूर्योदये धौम्यः कृत्वाह्निकमरिन्दम ।
आर्ष्टिषेणेन सहितः पाण्डवानभ्यवर्तत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे शत्रुनाशक जनमेजय ! सूर्यके उदय होनेपर धौम्य ऋषि आर्ष्टिषेण मुनिके सहित नित्यक्रिया समाप्त करके पाण्डवोंके पास गये ॥ १ ॥

तेऽभिवाद्यार्ष्टिषेणस्य पादौ धौम्यस्य चैव ह ।
ततः प्राञ्जलयः सर्वे ब्राह्मणांस्तानपूजयन् ॥ २ ॥

पाण्डवोंने आर्ष्टिषेण और धौम्यके पैरोंको छू करके हाथ जोडकर सब ब्राह्मणोंकी पूजा की ॥ २ ॥

ततो युधिष्ठिरं धौम्यो गृहीत्वा दक्षिणे करे ।
प्राचीं दिशमभिप्रेक्ष्य महर्षिरिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

तब महर्षि धौम्य मुनिने युधिष्ठिरका दाहिना हाथ पकडकर और पूर्व दिशाको देखकर कहा ॥ ३ ॥

असौ सागरपर्यन्तां भूमिमावृत्य तिष्ठति ।
शैलराजो महाराज मन्दरोऽभिविराजते ॥ ४ ॥

हे महाराज ! इस समुद्रपर्यन्तकी भूमिको घेरे हुए यह पर्वतराज मन्दराचल विराजमान है ॥ ४ ॥

इन्द्रवैश्रवणावेतां दिशं पाण्डव रक्षतः ।
पर्वतैश्च वनान्तैश्च काननैश्चोपशोभिताम् ॥ ५ ॥

हे पाण्डव ! पर्वत और वनों और काननोंसे शोभायमान इस दिशाकी इन्द्र और कुबेर रक्षा करते हैं ॥ ५ ॥

एतदाहुर्महेन्द्रस्य राज्ञो वैश्रवणस्य च।
ऋषयः सर्वधर्मज्ञाः सद्म तात मनीषिणः ॥ ६ ॥

हे तात! बुद्धिमान् और सब धर्मोंको जाननेवाले ऋषि इसी दिशामें इन्द्र और कुबेरका स्थान बतलाते हैं ॥ ६ ॥

अतश्चोद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठन्ति वै प्रजाः।
ऋषयश्चापि धर्मज्ञाः सिद्धाः साध्याश्च देवताः ॥ ७ ॥

इसी कारण धर्मको जाननेवाले ऋषि, सिद्ध, साधु और देवगण उदय होते सूर्यकी उपासना करते हैं ॥ ७ ॥

यमस्तु राजा धर्मात्मा सर्वप्राणभृतां प्रभुः।
प्रेतसत्त्वगतीश्चेतां दक्षिणामाश्रितो दिशम् ॥ ८ ॥

सब प्राणोंको धारण करनेवालोंके स्वामी धर्मात्मा राजा यम मृत्युके बाद प्राणियोंकी गतिरूप इस दक्षिण दिशामें रहते हैं ॥ ८ ॥

एतत्संयमनं पुण्यमतीवाद्भुतदर्शनम्।
प्रेतराजस्य भवनमृद्ध्या परमया युतम् ॥ ९ ॥

यह संयमन नामक परम पवित्र और अद्भुत प्रेतराजका ऋद्धिसिद्धिसे भरा हुआ स्थान है ॥ ९ ॥

यं प्राप्य सविता राजन्सत्येन प्रतितिष्ठति।
अस्तं पर्वतराजानमेतमाहुर्मनीषिणः ॥ १० ॥

हे राजन्! सूर्य जब इसपर जाते हैं तो सत्यसे स्थिर होते हैं और पर्वतराजपर जाकर अस्त होते हैं अतः बुद्धिमान् उसे अस्ताचल कहते हैं ॥ १० ॥

एतं पर्वतराजानं समुद्रं च महोदधिम्।
आवसन्वरुणो राजा भूतानि परिरक्षति ॥ ११ ॥

इस पर्वतराज और महान् समुद्रमें निवास करते हुए महाराज वरुण प्रजाकी रक्षा करते हैं ॥ ११ ॥

उदीचीं दीपयन्नेष दिशं तिष्ठति कीर्तिमान्।
महामेरुर्महाभाग शिवो ब्रह्मविदां गतिः ॥ १२ ॥

हे महाभाग्यशाली युधिष्ठिर! यह महायशस्वी महामेरु उत्तर दिशाको देदीप्यमान करता हुआ इस दिशामें स्थित है। ब्रह्मको जाननेवाले जीव इसी लोकको प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

यस्मिन्ब्रह्मसदश्चैव तिष्ठते च प्रजापतिः ।
भूतात्मा विसृजन्सर्वं यत्किंचिज्जङ्गमागमम् ॥ १३ ॥

इसी पर्वतराजपर प्रजापतिकी सभा है । इसी पर्वतराजपर सब प्राणियोंकी आत्मा प्रजापतिने सर्व प्रथम स्थावर जंगमात्मक सृष्टि रची थी ॥ १३ ॥

यानाहुर्ब्रह्मणः पुत्रान्मानसान्दक्षसप्तमान् ।
तेषामपि महामेरुः स्थानं शिवमनामयम् ॥ १४ ॥

ब्रह्माके दक्ष आदि जो सात मानसपुत्र कहे जाते हैं, उनका भी यह महामेरु सुखमय और कल्याणमय स्थान है ॥ १४ ॥

अत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनरत्रोदयन्ति च ।
सप्त देवर्षयस्तात वसिष्ठप्रमुखाः सदा ॥ १५ ॥

हे राजन् ! वसिष्ठादि सप्तऋषि इसी पर्वतपर उदय होके इसी पर्वतपर अस्त होते हैं ॥१५॥

देशं विरजसं पश्य मेरोः शिखरमुत्तमम् ।
यत्रात्मतृप्तैरध्यास्ते देवैः सह पितामहः ॥ १६ ॥

वह देखो धूलसे रहित मेरुका उत्तम शिखर है । इसीपर अपनी आत्मामें ही तृप्तिका अनुभव करनेवाले देवोंके सहित ब्रह्मा निवास करते हैं ॥ १६ ॥

यमाहुः सर्वभूतानां प्रकृतेः प्रकृतिं ध्रुवम् ।
अनादिनिधनं देवं प्रभुं नारायणं परम् ॥ १७ ॥

इन्हींको सब प्राणियोंकी प्रकृतिका उपादान कारण कहते हैं। ये ही अनादि, अनन्त, देव, प्रभु और परं नारायण हैं ॥ १७ ॥

ब्रह्मणः सदनात्तस्य परं स्थानं प्रकाशते ।
देवाश्च यत्नात्पश्यन्ति दिव्यं तेजोमयं शिवम् ॥ १८ ॥

उन ब्रह्माके स्थानसे परम स्थान प्रकाशित होता है । उनके तेज भरे दिव्य स्थानको देव-लोग भी बडे यत्न करनेपर देख सकते हैं ॥ १८ ॥

अत्यर्कानलदीप्तं तत्स्थानं विष्णोर्महात्मनः ।
स्वयैव प्रभया राजन्दुष्प्रेक्ष्यं देवदानवैः ॥ १९ ॥

जहां सूर्य और अग्निका प्रकाश नहीं होता, जो अपने तेजसे अत्यन्त प्रकाशमान है, जिसको राक्षस और देवता भी नहीं देख सकते हैं, हे राजन् ! यही महात्मा विष्णुका स्थान है ॥१९॥

तद्वै ज्योतींषि सर्वाणि प्राप्य भासन्ति नोऽपि च।
स्वयं विभुरदीनात्मा तत्र ह्यभिविराजते ॥ २० ॥

उस स्थानको सभी ज्योतियां प्राप्त होकर मन्द ज्योतिवाली हो जाती हैं और वे अच्छी तरह प्रकाशित नहीं हो पातीं। अदीन आत्मा भगवान् विष्णु यहीं निवास करते हैं ॥ २० ॥

यतयस्तत्र गच्छन्ति भक्त्या नारायणं हरिम्।
परेण तपसा युक्ता भाविताः कर्मभिः शुभैः ॥ २१ ॥
योगसिद्धा महात्मानस्तमोमोहविवर्जिताः।
तत्र गत्वा पुनर्नेमं लोकमायान्ति भारत ॥ २२ ॥

इस स्थानमें यति नारायणकी भक्ति करके पहुंचते हैं। परम तपस्यासे युक्त, शुभकर्मोंसे अंतःकरणकी शुद्धि करनेवाले, योगाभ्याससे सिद्ध बने हुए, अज्ञान और मोहसे रहित महात्मा वहां जाकर, हे भरतकुलोत्पन्न! फिर इस लोकको प्राप्त नहीं होते ॥ २१-२२ ॥

स्थानमेतन्महाभाग ध्रुवमक्षयमव्ययम्।
ईश्वरस्य सदा ह्येतत्प्रणमात्र युधिष्ठिर ॥ २३ ॥

ईश्वरका यह स्थान अक्षय अव्यय और अविनाशी है। हे महाभाग्यशाली युधिष्ठिर! तुम इसे प्रणाम करो ॥ २३ ॥

एतं ज्योतींषि सर्वाणि प्रकर्षन्भगवानपि।
कुरुते वितमस्कर्मा आदित्योऽभिप्रदक्षिणम् ॥ २४ ॥

सब नक्षत्रोंको अपने साथ खींचते हुए भगवान् सूर्य अंधकारका नाश करते हुए इस पर्वतकी प्रदक्षिणा करते हैं ॥ २४ ॥

अस्तं प्राप्य ततः सन्ध्यामतिक्रम्य दिवाकरः।
उदीचीं भजते काष्ठां दिशामेष विभावसुः ॥ २५ ॥

सन्ध्या समय अस्ताचल पर अस्त होकर दिवाकर उत्तर दिशामें प्राप्त होते हैं, अतः यह विभावसु सूर्यके अस्तकी दिशा है ॥ २५ ॥

स मेरुमनुवृत्तः सन्पुनर्गच्छति पाण्डव।
प्राङ्मुखः सविता देवः सर्वभूतहिते रतः ॥ २६ ॥

हे पाण्डव! मेरुकी प्रदक्षिणा करके प्रातःकाल पूर्वदिशासे सब प्राणियोंका हित करनेवाले सूर्य फिर उदय होते हैं ॥ २६ ॥

स मासं विभजन्कालं बहुधा पर्वसन्धिषु।
तथैव भगवान्सोमो नक्षत्रैः सह गच्छति ॥ २७ ॥

वह सूर्य पर्वकी संधियोंमें मासादि कालका विभाग करते हैं। ऐसे ही भगवान् चन्द्रमा सब तारागणके सहित गमन करते हैं ॥ २७ ॥

एवमेष परिक्रम्य महामेरुमतन्द्रितः ।
भावयन्सर्वभूतानि पुनर्गच्छति मन्दरम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार सूर्य आलस्य रहित होकर मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा कर सब प्राणियोंको प्रकाश देते हुए फिर मन्दराचलको जाते हैं ॥ २८ ॥

तथा तमिस्रहा देवो मयूखैर्भावयञ्जगत् ।
मार्गमेतदसंबाधमादित्यः परिवर्तते ॥ २९ ॥

सूर्य अपनी किरणोंसे अन्धकारका नाश करके जगत्को प्रकाशित करते हुए नित्यकी गतिसे इस मार्गका आक्रमण करते हैं ॥ २९ ॥

सिसृक्षुः शिशिराण्येष दक्षिणां भजते दिशाम् ।
ततः सर्वाणि भूतानि कालः शिशिरमृच्छति ॥ ३० ॥

पश्चात् सर्दी उत्पन्न करनेके लिये सूर्य दक्षिणकी ओर झुकते हैं। इससे सब प्राणियोंको सर्दीके दिन प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

स्थावराणां च भूतानां जङ्गमानां च तेजसा ।
तेजांसि समुपादत्ते निवृत्तः सन्विभावसुः ॥ ३१ ॥
ततः स्वेदः क्लमस्तन्द्री ग्लानिश्च भजते नरान् ।
प्राणिभिः सततं स्वप्नो ह्यभीक्ष्णं च निषेव्यते ॥ ३२ ॥

जब सूर्य अस्त होते हुए सब स्थावर और जङ्गम प्राणियोंका तेज अपने तेजसे खींच लेते हैं, तभी मनुष्य पसीनेसे तर होकर, थकावट, आलस्य और ग्लानिको प्राप्त करते हैं और प्राणी हमेशा नींदका ही अनुभव किया करते हैं ॥ ३१-३२ ॥

एवमेतदनिर्देश्यं मार्गमावृत्य भानुमान् ।
पुनः सृजति वर्षाणि भगवान्भावयन्प्रजाः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार अंतरिक्ष मार्गका आक्रमण करते हुए सूर्य फिर प्रजाओंके कल्याणके लिये पर्जन्यकी वृष्टि करते हैं ॥ ३३ ॥

वृष्टिमारुतसन्तापैः सुखैः स्थावरजङ्गमान् ।
वर्धयन्सुमहातेजाः पुनः प्रतिनिवर्तते ॥ ३४ ॥

फिर अपनी किरणोंसे ऋतुमें भगवान् सूर्य जल वर्षाते हुए सब प्रजाका पालन करते हैं। इस प्रकार वर्षा, वायु और धूपसे स्थावर और जङ्गम प्राणियोंको सुख पहुंचाते हुए सूर्य सदा गमन आगमन किया करते हैं ॥ ३४ ॥

एवमेव चरन्पार्थ कालचक्रमतन्द्रितः ।
प्रकर्षन्सर्वभूतानि सविता परिवर्तते ॥ ३५ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! इस रीतिसे कालका विभाग करते और प्राणियोंको सुख देते हुए सूर्य विचरते रहते हैं ॥ ३५ ॥

सन्तता गतिरेतस्य नैष तिष्ठति पाण्डव ।
आदायैव तु भूतानां तेजो विसृजते पुनः ॥ ३६ ॥

हे पाण्डव! सूर्यकी गति सदा ऐसी ही रहती है। यह सूर्य कभी स्थिर नहीं होते। सूर्य प्राणियोंका तेज लेकर फिर उन्हींको दे देते हैं ॥ ३६ ॥

विभजन्सर्वभूतानामायुः कर्म च भारत ।
अहोरात्रान्कलाः काष्ठाः सृजत्येष सदा विभुः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥ ५५२४ ॥

सब प्राणियोंकी आयु और रात दिन पल घडी आदिका विभाग सूर्यकी गतिहीसे होता है ॥ ३७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ साठवां अध्याय समाप्त ॥ १६० ॥ ५५२४ ॥

: १६१ :

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्नगेन्द्रे वसतां तु तेषां महात्मनां सद्व्रतमास्थितानाम् ।
रतिः प्रमोदश्च बभूव तेषामाकाङ्क्षतां दर्शनमर्जुनस्य ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– अर्जुनके दर्शनकी इच्छासे उस पर्वतपर रहते हुए उत्तम व्रतधारी महात्मा पाण्डवोंको बहुत प्रसन्नता और आनन्द हुआ ॥ १ ॥

तान्वीर्ययुक्तान्सुविशुद्धसत्त्वांस्तेजस्विनः सत्यधृतिप्रधानान् ।
संप्रीयमाणा बहवोऽभिजग्मुर्गन्धर्वसंघाश्च महर्षयश्च ॥ २ ॥

उन बलवान्, शुद्ध इच्छा करनेवाले, सत्य बोलनेवाले, धारणाशील पाण्डवोंके पास अनेक आनन्दित गन्धर्व और ऋषि लोग आये ॥ २ ॥

तं पादपैः पुष्पधरैरुपेतं नगोत्तमं प्राप्य महारथानाम् ।
मनःप्रसादः परमो बभूव यथा दिवं प्राप्य मरुद्गणानाम् ॥ ३ ॥

जैसे स्वर्गमें जानेसे मरुद्गण प्रसन्न होते हैं, वैसे ही अनेक फले हुए वृक्षोंसे युक्त उस पर्वत पर रहनेसे महात्मा पाण्डव भी प्रसन्न हुए ॥ ३ ॥

मयूरहंसस्वननादितानि पुष्पोपकीर्णानि महाचलस्य।
शृङ्गाणि सानूनि च पश्यमाना गिरेः परं हर्षमवाप्य तस्थुः ॥ ४ ॥
पर्वतके शिखरोंको मयूर और हंसोंके शब्दसे तथा फूले हुए वृक्षोंसे विराजमान देखते हुए पाण्डव वहां रहने लगे ॥ ४ ॥

साक्षात्कुबेरेण कृताश्च तस्मिन्नगोत्तमे संवृतकूलरोधसः।
कादम्बकारण्डवहंसजुष्टाः पद्माकुलाः पुष्करिणीरपश्यन् ॥ ५ ॥
साक्षात् कुबेरके उस उत्तम पर्वतपर हंस और सारसादिक पक्षियोंसे युक्त कमलोंसे भरा हुआ उत्तम तटवाला तालाब बना था। ऐसे तालाबोंको पाण्डवोंने देखा ॥ ५ ॥

क्रीडाप्रदेशांश्च समृद्धरूपान्सुचित्रमाल्यावृतजालशोभान्।
मणिप्रवेकान्सुमनोहरांश्च यथा भवेयुर्धनदस्य राज्ञः ॥ ६ ॥
जैसे राजा कुबेरके विहार करनेके स्थान चाहिये वैसे ही ऋद्धियोंसे भरे हुए अनेक मणियोंसे युक्त फूलोंकी मालासे विराजमान वह स्थान मनोहर था ॥ ६ ॥

अनेकवर्णैश्च सुगन्धिभिश्च महाद्रुमैः सन्ततमभ्रमालिभिः।
तपःप्रधानाः सततं चरन्तः शृङ्गं गिरेश्चिन्तयितुं न शेकुः ॥ ७ ॥
पाण्डव अनेक रंगवाले सुगन्धसे भरे हुए मेघोंकी मालासे छाये हुए अनेक वृक्षोंको देखते हुए उस पर्वतके शिखरपर रह कर तप करने लगे और उन्हें किसी भी प्रकारकी चिन्ता नहीं रही ॥ ७ ॥

स्वतेजसा तस्य नगोत्तमस्य महौषधीनां च तथा प्रभावात्।
विभक्तभावो न बभूव कश्चिदहर्निशानां पुरुषप्रवीर ॥ ८ ॥
हे पुरुषप्रवीर! उस पर्वतपर रहते हुए पाण्डवोंको पर्वत और औषधियोंके तेजसे दिन और रातमें कुछ भेद नहीं जान पडा ॥ ८ ॥

यमास्थितः स्थावरजङ्गमानि विभावसुर्भावयतेऽमितौजाः।
तस्योदयं चास्तमयं च वीरास्तत्र स्थितास्ते ददृशुर्नृसिंहाः ॥ ९ ॥
पुरुषसिंह पाण्डवोंने जिसमें स्थावर और जंगम रहते हैं, जिस तेजस्वीको विभावसु कहते हैं, उस सूर्यके उदय और अस्तको देखा ॥ ९ ॥

रवेस्तमिस्रागमनिर्गमांस्ते तथोदयं चास्तमयं च वीराः।
समावृताः प्रेक्ष्य तमोनुदस्य गभस्तिजालैः प्रदिशो दिशश्च ॥ १० ॥
वीर पाण्डवोंने सूर्यके उदय और आगमनको देखा, तथा उनकी किरणोंके तेजसे सब दिशाओंको व्याप्त देखा ॥ १० ॥

स्वाध्यायवन्तः सततक्रियाश्च धर्मप्रधानाश्च शुचिव्रताश्च ।
सत्ये स्थितास्तस्य महारथस्य सत्यव्रतस्यागमनप्रतीक्षाः ॥ ११ ॥
वेदपाठी सदा क्रिया करनेवाले धर्म और पवित्रतामें निरत सत्यवादी पाण्डव वहीं रह कर महारथ सत्यव्रत अर्जुनका मार्ग देखने लगे ॥ ११ ॥

इहैव हर्षोऽस्तु समागतानां क्षिप्रं कृतास्त्रेण धनञ्जयेन ।
इति ब्रुवन्तः परमाशिषस्ते पार्थास्तपोयोगपरा बभूवुः ॥ १२ ॥
पाण्डवोंने यह विचार किया कि हम लोग इसी स्थानपर शीघ्र अर्जुनसे मिलके प्रसन्न होंगे; इसलिये वे वहीं रहकर तप और योग करने लगे ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा विचित्राणि गिरौ वनानि किरीटिनं चिन्तयतामभीक्ष्णम् ।
बभूव रात्रिर्दिवसश्च तेषां संवत्सरेणैव समानरूपः ॥ १३ ॥
अर्जुनकी चिन्ता करते हुए और पर्वतोंके विचित्र वनोंको देखते हुए उनके दिन और रात वर्षके समान बीतने लगे ॥ १३ ॥

यदैव धौम्यानुमते महात्मा कृत्वा जटां प्रव्रजितः स जिष्णुः ।
तदैव तेषां न बभूव हर्षः कुतो रतिस्तद्गतमानसानाम् ॥ १४ ॥
जब महात्मा अर्जुन धौम्यकी आज्ञासे जटा बनाकर वनको गये थे, उसी दिनसे पाण्डवोंको प्रसन्नता नहीं हुई थी ॥ १४ ॥

भ्रातुर्नियोगात्तु युधिष्ठिरस्य वनादसौ वारणमत्तगामी ।
यत्काम्यकात्प्रव्रजितः स जिष्णुस्तदैव ते शोकहता बभूवुः ॥ १५ ॥
जिस दिन मतवाले हाथीके समान चलनेवाले अर्जुन अपने भाई युधिष्ठिरकी आज्ञानुसार काम्यक वनसे चले गये थे, उसी दिनसे पाण्डव शोकसे व्याकुल हो गये थे ॥ १५ ॥

तथा तु तं चिन्तयतां सिताश्वमस्त्रार्थिनं वासवमभ्युपेतम् ।
मासोऽथ कृच्छ्रेण तदा व्यतीतस्तस्मिन्नगे भारत भारतानाम् ॥ १६ ॥
हे भारत ! जब अर्जुन अस्त्रोंकी इच्छासे इन्द्रके पास गये थे तब पाण्डवोंको एक एक दिन एक एक महीनेके समान बीतने लगा था ॥ १६ ॥

ततः कदाचिद्धरिसंप्रयुक्तं महेन्द्रवाहं सहसोपयातम् ।
विद्युत्प्रभं प्रेक्ष्य महारथानां हर्षोऽर्जुनं चिन्तयतां बभूव ॥ १७ ॥
एकदिन अर्जुनकी चिन्ता करते समय पाण्डवोंने बिजलीके समान प्रकाशमान घोडोंके सहित आते हुए एक रथको देखा, उसको देखते ही वह लोग बहुत प्रसन्न हुए ॥ १७ ॥

स दीप्यमानः सहसान्तरिक्षं प्रकाशयन्मातलिसंगृहीतः ।
बभौ महोल्केव घनान्तरस्था शिखेव चाग्नेर्ज्वलिता विधूमा ॥ १८ ॥
वह रथ मातली सारथीके सहित आकाशको प्रकाशित करता हुआ ऐसा शोभित होने लगा जैसे बादलोंके बीचमें उल्का अथवा विना धुवेंकी मशाल होती है ॥ १८ ॥

तमास्थितः सन्ददृशे किरीटी स्रग्वी वराण्याभरणानि बिभ्रत् ।
धनञ्जयो वज्रधरप्रभावः श्रिया ज्वलन्पर्वतमाजगाम ॥ १९ ॥
हृदयमें माला और नवीन आभूषणोंको धारण किये उसमें इन्द्रके समान पराक्रमवाले अपने तेजसे प्रकाशमान अर्जुन बैठे थे। इस प्रकार वह रथ पर्वतपर आ पहुंचा ॥ १९ ॥

स शैलमासाद्य किरीटमाली महेन्द्रवाहादवरुह्य तस्मात् ।
धौम्यस्य पादावभिवाद्य पूर्वमजातशत्रोस्तदनन्तरं च ॥ २० ॥
वृकोदरस्यापि ववन्द पादौ माद्रीसुताभ्यामभिवादितश्च ।
समेत्य कृष्णां परिसान्त्व्य चैनां प्रह्वोऽभवद्भ्रातुरुपह्वरे सः ॥ २१ ॥
तब माला और मुकुटधारी बुद्धिमान् अर्जुनने उस पर्वतपर पहुंचकर और इन्द्रके रथसे उतरकर पहले धौम्य फिर युधिष्ठिर और उसके बाद भीमसेनके चरणोंको छूकर प्रणाम किया। फिर माद्रीपुत्र नकुल और सहदेवसे सत्कृत होकर अर्जुन द्रौपदीसे मिलकर युधिष्ठिरके पास नम्र भावसे बैठे ॥ २०-२१ ॥

बभूव तेषां परमः प्रहर्षस्तेनाप्रमेयेण समागतानाम् ।
स चापि तान्प्रेक्ष्य किरीटमाली ननन्द राजानमभिप्रशंसन् ॥ २२ ॥
तदनन्तर पराक्रमवाले युधिष्ठिर अर्जुनसे मिलकर प्रसन्न हुए और अर्जुनने भी अपने भाई-की बहुत प्रशंसा कर उनको प्रसन्न किया ॥ २२ ॥

यमास्थितः सप्त जघान पूगान्दितेः सुतानां नमुचेर्निहन्ता ।
तमिन्द्रवाहं समुपेत्य पार्थाः प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ २३ ॥
जिसपर चढकर नमुचिके मारनेवाले इन्द्रने दैत्योंके सात गणोंका नाश- किया था, महा पराक्रमी पाण्डवोंने उस इन्द्रके रथकी प्रदक्षिणा की ॥ २३ ॥

ते मातलेश्चक्रुरतीव हृष्टाः सत्कारमग्र्यं सुरराजतुल्यम् ।
सर्वं यथावच्च दिवौकसस्तानपृच्छुरेनं कुरुराजपुत्राः ॥ २४ ॥
प्रसन्नचित्त पाण्डवोंने मातलीका सत्कार इन्द्रके समान किया और सब देवताओंका यथायोग्य कुशल पूछा ॥ २४ ॥

*

तानप्यसौ मातलिरभ्यनन्दत्पितेव पुत्राननुशिष्य चैनान् ।
ययौ रथेनाप्रतिमप्रभेण पुनः सकाशं त्रिदिवेश्वरस्य ॥ २५ ॥

मातलीने भी पाण्डवोंको पिता जिस प्रकार पुत्रोंको शिक्षा देता है उसी प्रकार पुत्रके समान शिक्षा दी । फिर अप्रतिम तेजवाले रथपर चढकर इन्द्रके पास चले गये ॥ २५ ॥

गते तु तस्मिन्वरदेववाहे शक्रात्मजः सर्वरिपुप्रमाथी ।
शक्रेण दत्तानि ददौ महात्मा महाधनान्युत्तमरूपवन्ति ।
दिवाकराभाणि विभूषणानि प्रीतः प्रियायै सुतसोममात्रे ॥ २६ ॥

उनके जानेके पश्चात् पुरुषों और देवताओंमें श्रेष्ठ इन्द्रके पुत्र राक्षसोंके मारनेवाले अर्जुनने युधिष्ठिरको इन्द्रके दिये हुए उत्तम रूपवाले धन दिये और सूर्यके समान प्रकाशवाले अनेक आभूषण अपनी प्रियतमा द्रौपदीको दिये ॥ २६ ॥

ततः स तेषां कुरुपुङ्गवानां तेषां च सूर्याग्निसमप्रभाणाम् ।
विप्रर्षभाणामुपविश्य मध्ये सर्वं यथावत्कथयांबभूव ॥ २७ ॥

तदनन्तर सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान प्रकाशवाले कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवों और ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ, मुनियोंके बीचमें बैठकर सब पहिली कथाओंको कहने लगे ॥ २७ ॥

एवं मयास्त्राण्युपशिक्षितानि शक्राच्च वाताच्च शिवाच्च साक्षात् ।
तथैव शीलेन समाधिना च प्रीताः सुरा मे सहिताः सहेन्द्राः ॥ २८ ॥

कि मैंने इस प्रकार इन्द्र, वायु और साक्षात् शिवसे अस्त्र सीखे । मैंने अपने शील और समाधिके बलसे इन्द्रके सहित देवोंको प्रसन्न किया ॥ २८ ॥

संक्षेपतो वै स विशुद्धकर्मा तेभ्यः समाख्याय दिवि प्रवेशम् ।
माद्रीसुताभ्यां सहितः किरीटी सुष्वाप तामावसतिं प्रतीतः ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥ ५५६३ ॥

इस प्रकार शुद्धकर्मवाले अर्जुनने अपने स्वर्गमें रहनेकी कथा संक्षेपसे कही । तदनन्तर नकुल और सहदेवके सहित उस स्थानमें आनन्दसे सो गए ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ इकसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६१ ॥ ५५६३ ॥

१६२

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु सर्ववादित्रनिस्वनः ।
बभूव तुमुलः शब्दस्त्वन्तरिक्षे दिवौकसाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– उसी समय आकाशमें देवोंके सभी तरहके बाजोंका महान् शब्द हुआ ॥ १ ॥

रथनेमिस्वनश्चैव घण्टाशब्दश्च भारत ।
पृथग्व्यालमृगाणां च पक्षिणां चैव सर्वशः ॥ २ ॥

हे भारत ! उसी समय रथके पहियोंके और घंटाओंके शब्द सुनाई देने लगे। इसी शब्दके साथ सांप, हिरण और पक्षियोंका शब्द भी सुनाई देने लगा ॥ २ ॥

तं समन्तादनुययुर्गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
विमानैः सूर्यसङ्काशैर्देवराजमरिन्दमम् ॥ ३ ॥

उसके बाद सूर्यके समान प्रकाशमान् विमानोंपर बैठे हुए गन्धर्व और अप्सरायें इन्द्रको घेरके आने लगीं ॥ ३ ॥

ततः स हरिभिर्युक्तं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
मेघनादिनमारुह्य श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ४ ॥
पार्थानभ्याजगामाशु देवराजः पुरन्दरः ।
आगत्य च सहस्राक्षो रथादवरुरोह वै ॥ ५ ॥

उसी समय उत्तम घोडोंसे युक्त, सोनेके बने हुए, मेघके समान शब्दवाले रथ पर चढ कर अपने तेजसे प्रकाशमान इन्द्र पाण्डवोंके पास आये। सहस्र नेत्रवाले इन्द्र पाण्डवोंके पास आकर उतरे ॥ ४-५ ॥

तं दृष्ट्वैव महात्मानं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान्देवराजमुपागमत् ॥ ६ ॥

उन महात्मा देवराज इन्द्रको देखते ही श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाईयोंके सहित उनके पास गए ॥ ६ ॥

पूजयामास चैवाथ विधिवद्भूरिदक्षिणः ।
यथार्हममितात्मानं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ७ ॥

विधिपूर्वक बहुतसी दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिरने पूजाके योग्य और अमित आत्मशक्तिवाले इन्द्रकी विधिपूर्वक कर्मसे पूजा की ॥ ७ ॥

धनञ्जयश्च तेजस्वी प्रणिपत्य पुरन्दरम् ।
भृत्यवत्प्रणतस्तस्थौ देवराजसमीपतः ॥ ८ ॥

महातेजस्वी धनञ्जय भी इन्द्रको प्रणाम करके देवराजके पास दासके समान विनीत भावसे खडे हो गये ॥ ८ ॥

आप्याययत महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धनञ्जयमभिप्रेक्ष्य विनीतं स्थितमन्तिके ॥ ९ ॥

महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने इन्द्रके पास विनीत भावसे खडे हुए अर्जुनकी प्रशंसा की ॥ ९ ॥

जटिलं देवराजस्य तपोयुक्तमकल्मषम् ।
हर्षेण महताविष्टः फल्गुनस्याथ दर्शनात् ॥ १० ॥

अर्जुन तपस्वी निष्पाप और जटाधारी थे । ऐसे देवराजकी आज्ञाका पालन करनेवाले अर्जुनको देखनेसे युधिष्ठिर अत्यंत हर्षित हो गए ॥ १० ॥

तं तथादीनमनसं राजानं हर्षसंप्लुतम् ।
उवाच वचनं धीमान्देवराजः पुरन्दरः ॥ ११ ॥

बहुत प्रसन्न और अदीन मनवाले राजासे बुद्धिमान् देवराज इन्द्र यह वचन बोले ॥ ११ ॥

त्वमिमां पृथिवीं राजन्प्रशासिष्यसि पाण्डव ।
स्वस्ति प्राप्नुहि कौन्तेय काम्यकं पुनराश्रमम् ॥ १२ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! हे पाण्डव ! हे राजन् ! तुम इस सब पृथ्वीपर राज्य करोगे । तुम्हारा कल्याण हो । तुम फिर काम्यक वनको चले जाओ ॥ १२ ॥

अस्त्राणि लब्धानि च पाण्डवेन सर्वाणि मत्तः प्रयतेन राजन् ।
कृतप्रियश्चास्मि धनंजयेन जेतुं न शक्यस्त्रिभिरेष लोकैः ॥ १३ ॥

हे राजन् ! पाण्डुनन्दन अर्जुनने बहुत यत्न करके मुझसे सब अस्त्रोंको सीखा है, इन्होंने मुझे बहुत प्रसन्न किया है, अब इन तीनों लोकोंमें इनको जीतनेवाला कोई नहीं है ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा सहस्राक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टः स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ १४ ॥

सहस्र नेत्रवाले इन्द्र कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर महाऋषियोंसे स्तुति सुनते हुए प्रसन्नतासे स्वर्गको चले गये ॥ १४ ॥

धनेश्वरगृहस्थानां पाण्डवानां समागमम् ।
शक्रेण य इदं विद्वानधीयीत समाहितः ॥ १५ ॥
संवत्सरं ब्रह्मचारी नियतः संशितव्रतः ।
स जीवेत निराबाधः सुसुखी शरदां शतम् ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥ ५५७९ ॥

जो विद्वान् कुबेरके घरमें रहनेवाले पाण्डव और इन्द्रके इस समागमको एक वर्षतक ब्रह्मचारी व्रतधारी रहकर एकाग्रचित्तसे पढता है वह रोगरहित और सुखी होकर सौ वर्षतक जीता रहता है ॥ १५-१६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ बासठवां अध्याय समाप्त ॥ १६२ ॥ ५५७९ ॥

: १६३ :

वैशम्पायन उवाच

यथागतं गते शक्रे भ्रातृभिः सह सङ्गतः ।
कृष्णया चैव बीभत्सुर्धर्मपुत्रमपूजयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे जनमेजय ! जब इन्द्र जैसे आये थे, वैसे ही वापस चले गए, तब अपने भाइयों और द्रौपदीसे मिलकर अर्जुनने महाराज युधिष्ठिरको प्रणाम किया ॥ १ ॥

अभिवादयमानं तु मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ।
हर्षगद्गदया वाचा प्रहृष्टोऽर्जुनमब्रवीत् ॥ २ ॥

महाराज प्रसन्न होकर अभिवादन करते हुए अर्जुनका माथा सूंघकर हर्षसे गद्‌गद हुई वाणीसे अर्जुनसे कहने लगे ॥ २ ॥

कथमर्जुन कालोऽयं स्वर्गे व्यतिगतस्तव ।
कथं चास्त्राण्यवाप्तानि देवराजश्च तोषितः ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! तुमने इतना समय स्वर्गमें कैसे बिताया ? तुमने इन्द्रको कैसे प्रसन्न किया ? तुमने किस प्रकार शस्त्रोंको प्राप्त किया ? ॥ ३ ॥

सम्यग्वा ते गृहीतानि कच्चिदस्त्राणि भारत ।
कच्चित्सुराधिपः प्रीतो रुद्रश्चास्त्राण्यदात्तव ॥ ४ ॥

हे भारत ! भला तुमने अच्छी तरह अस्त्रोंको सीखा कि नहीं ? भला देवोंके राजा रुद्रने खुश होकर तुम्हें अस्त्र दिए ? ॥ ४ ॥

यथा दृष्टश्च ते शक्रो भगवान्वा पिनाकधृक्।
यथा चास्त्राण्यवाप्तानि यथा चाराधितश्च ते ॥ ५ ॥

हे शत्रुनाशन ! तुमने जिसप्रकार इन्द्रको देखा और जिसप्रकार भगवान् रुद्रको देखा, तुमने जैसे उन्हें खुश किया और उनसे अस्त्र प्राप्त किए ॥ ५ ॥

यथोक्तवांस्त्वां भगवाञ्शतक्रतुररिन्दम।
कृतप्रियस्त्वयास्मीति तच ते किं प्रियं कृतम्।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महाद्युते ॥ ६ ॥

भगवान् इन्द्रने हमारे आगे कहा, कि मैं अर्जुनसे बहुत प्रसन्न हूँ। तो तुमने कौनसा उनका प्रिय कार्य किया ? हे महातेजस्वी ! मैं उन सब कथाओंको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

यथा तुष्टो महादेवो देवराजश्च तेऽनघ।
यच्चापि वज्रपाणेस्ते प्रियं कृतमरिन्दम।
एतदाख्याहि मे सर्वमखिलेन धनञ्जय ॥ ७ ॥

हे निष्पाप धनञ्जय ! हे शत्रुनाशी ! तुमसे इन्द्र और शिव कैसे प्रसन्न हुए थे ? तुमने इन्द्रका कौनसा प्रिय कार्य किया था ? तुम इन सब कथाओंको हमसे कहो ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच

श‍ृणु हन्त महाराज विधिना येन दृष्टवान्।
शतक्रतुमहं देवं भगवन्तं च शङ्करम् ॥ ८ ॥

अर्जुन बोले– हे महाराज ! मैं इन सब कथाओंको तुमसे कहता हूँ। मैंने जिस विधिसे देवराज इन्द्र और भगवान् शंकरके दर्शन किये थे, उसे आप सुनिये ॥ ८ ॥

विद्यामधीत्य तां राजंस्त्वयोक्तामरिमर्दन।
भवता च समादिष्टस्तपसे प्रस्थितो वनम् ॥ ९ ॥

हे शत्रुनाशी ! आपकी बताई हुई विद्याको पढकर आपकी आज्ञानुसार तप करनेकी इच्छासे मैं वनको चला ॥ ९ ॥

भृगुतुङ्गमथो गत्वा काम्यकादास्थितस्तपः।
एकरात्रोषितः कश्चिदपश्यं ब्राह्मणं पथि ॥ १० ॥

मैं काम्यक वनसे चलकर भृगुतुङ्ग पर्वतपर पहुंचा और वहां तप करने लगा। एक दिन वहां रहनेपर दूसरे दिन मैंने जाते हुए मार्गमें एक ब्राह्मणको देखा ॥ १० ॥

स मामपृच्छत्कौन्तेय क्वासि गन्ता ब्रवीहि मे।
तस्मा अवितथं सर्वमब्रुवं कुरुनन्दन ॥ ११ ॥

हे कुन्तीनन्दन! उन्होंने मुझसे पूछा कि मुझे बताओ कि तुम कहां जाना चाहते हो; तब हे कुरुनंदन! मैंने उनसे सब सत्य सत्य कह दिया ॥ ११ ॥

स तथ्यं मम तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणो राजसत्तम।
अपूजयत मां राजन्प्रीतिमांश्चाभवन्मयि ॥ १२ ॥

हे राजश्रेष्ठ! उन ब्राह्मणने मेरी सत्यवाणीको सुनकर मेरी पूजा की और वे मुझपर अत्यन्त प्रसन्न हो गए ॥ १२ ॥

ततो मामब्रवीत्प्रीतस्तप आतिष्ठ भारत।
तपस्वी नचिरेण त्वं द्रक्ष्यसे विबुधाधिपम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर प्रसन्न होकर मुझसे कहने लगे– हे भारत! तप करो। तपस्याके बलसे तुम शीघ्र ही देवोंके पति शिवको देखोगे ॥ १३ ॥

ततोऽहं वचनात्तस्य गिरिमारुह्य शैशिरम्।
तपोऽतप्यं महाराज मासं मूलफलाशनः ॥ १४ ॥

तब मैं उनके वचनसे हिमालयपर चढ गया। वहां जाकर, हे महाराज! एक महिनेतक फल और मूल खाकर तपस्या करने लगा ॥ १४ ॥

द्वितीयश्चापि मे मासो जलं भक्षयतो गतः।
निराहारस्तृतीयेऽथ मासे पाण्डवनन्दन ॥ १५ ॥

दूसरे महीनेको भी मैंने केवल जल पीकर बिताया। हे पाण्डुनन्दन! मैं तीसरे महीनेमें निराहार होकर तप करने लगा ॥ १५ ॥

ऊर्ध्वबाहुश्चतुर्थं तु मासमस्मि स्थितस्तदा।
न च मे हीयते प्राणस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १६ ॥

मैंने चौथा महीना ऊर्ध्वबाहु होकर बिता दिया, परन्तु मेरे प्राण उस महीनेमें भी नहीं निकले, यह बडा आश्चर्य हुआ ॥ १६ ॥

चतुर्थे समभिक्रान्ते प्रथमे दिवसे गते।
वराहसंस्थितं भूतं मत्समीपमुपागमत् ॥ १७ ॥

चौथे महीनेके बीतनेपर एक दिन ही हुआ था कि एक प्राणी शूकरका रूप धारण कर मेरे पास आया ॥ १७ ॥

निघ्नन्प्रोथेन पृथिवीं विलिखंश्चरणैरपि।
संमार्जञ्जठरेणोर्वी विवर्तंश्च मुहुर्मुहुः ॥ १८ ॥
वह सुअर इधर उधर घूमते हुए कभी अपने थूथनोंसे पृथ्वीपर आघात करता था, तो कभी पैरोंसे जमीन खोदता था, तो कभी शरीरसे पृथ्वीको रगडता था ॥ १८ ॥

अनु तस्यापरं भूतं महत्कैरातसंस्थितम्।
धनुर्बाणासिमत्प्राप्तं स्त्रीगणानुगतं तदा ॥ १९ ॥
उसके पीछे ही एक किरात धनुष, बाण और खड्गको धारण किये, अनेक स्त्रियोंके सहित मेरे पास आया ॥ १९ ॥

ततोऽहं धनुरादाय तथाक्षय्यौ महेषुधी।
अताडयं शरेणाथ तद्भूतं लोमहर्षणम् ॥ २० ॥
उसी समय मैंने अक्षय तूणीर और धनुषको धारण करके भयानक शूकरको एक बाणसे मारा ॥ २० ॥

युगपत्तत्किरातश्च विकृष्य बलवद्धनुः।
अभ्याजघ्ने दृढतरं कम्पयन्निव मे मनः ॥ २१ ॥
उसी समय उस किरातने भी अपने धनुषको खींचकर मेरे हृदयको कंपाते हुए उस सुअरके एक कठोर बाण मारा ॥ २१ ॥

स तु मामब्रवीद्राजन्मम पूर्वपरिग्रहः।
मृगयाधर्ममुत्सृज्य किमर्थं ताडितस्त्वया ॥ २२ ॥
हे राजन्! तब उस किरातने मुझसे कहा कि 'सुअरको मैंने पहिले मारना चाहा था, तुमने मृगयाधर्मके विरुद्ध उसको क्यों मारा? ॥ २२ ॥

एष ते निशितैर्बाणैर्दर्पं हन्मि स्थिरो भव।
स वर्ष्मवान्महाकायस्ततो मामभ्यधावत ॥ २३ ॥
अब मैं इन तीक्ष्ण बाणोंसे तुम्हारे अभिमानको नष्ट कर दूंगा, खडे रहो,' ऐसा कहकर वह बडा शरीरवाला धनुर्धारी मेरी ओर दौडा ॥ २३ ॥

ततो गिरिमिवात्यर्थमावृणोन्मां महाशरैः।
तं चाहं शरवर्षेण महता समवाकिरम् ॥ २४ ॥
और जैसे जलधारा पर्वतको ढक लेती है ऐसे ही तीक्ष्ण बाणोंसे उसने मेरे शरीरको ढक दिया। तब मैंने भी उसको अपने बाणोंकी वर्षासे ढक दिया ॥ २४ ॥

ततः शरैर्दीप्तमुखैः पत्रितैरनुमन्त्रितैः ।
प्रत्यविध्यमहं तं तु वज्रैरिव शिलोच्चयम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर मैंने प्रकाशमान् और मन्त्रयुक्त बाणोंसे उसको ऐसे बींध दिया जैसे इन्द्रने वज्रसे पर्वतको ॥ २५ ॥

तस्य तच्छतधा रूपमभवच्च सहस्रधा ।
तानि चास्य शरीराणि शरैरहमताडयम् ॥ २६ ॥

थोडी देरमें उसके एक शरीरके सैंकडों और हजारों शरीर हो गये, तब मैंने भी उन सब शरीरोंको अपने बाणोंसे मारना आरंभ किया ॥ २६ ॥

पुनस्तानि शरीराणि एकीभूतानि भारत ।
अदृश्यन्त महाराज तान्यहं व्यधमं पुनः ॥ २७ ॥

हे महाराज ! फिर वे सब शरीर मिलकर एक ही किरात हो गया । मैं फिर उसके बाण मारने लगा ॥ २७ ॥

अणुर्बृहच्छिरा भूत्वा बृहच्चाणुशिराः पुनः ।
एकीभूतस्तदा राजन्सोऽभ्यवर्तत मां युधि ॥ २८ ॥

कभी वह बडे शरीर और छोटे सिरवाला और कभी वह छोटे शरीर बडे सिरवाला होकर मुझसे युद्ध करने लगा ॥ २८ ॥

यदाभिभवितुं बाणैर्नैव शक्नोमि तं रणे ।
ततोऽहमस्त्रमातिष्ठं वायव्यं भरतर्षभ ॥ २९ ॥

हे भरतकुलसिंह । जब मैं उसको युद्धमें अपने बाणोंसे जीतनेमें असमर्थ हुआ तब मैंने वायुके अस्त्रको चलानेकी इच्छा की ॥ २९ ॥

न चैनमशकं हन्तुं तदद्भुतमिवाभवत् ।
तस्मिन्प्रतिहते चास्त्रे विस्मयो मे महानभूत् ॥ ३० ॥

परन्तु यह अस्त्र भी उसे न मार सका, यह देख मुझे महा आश्चर्य हुआ । उसके द्वारा फिर दुबारा मुझपर अस्त्र चलाये जानेपर मुझे बडा विस्मय हुआ ॥ ३० ॥

भूयश्चैव महाराज सविशेषमहं ततः ।
अस्त्रपूगेन महता रणे भूतमवाकिरम् ॥ ३१ ॥

हे महाराज ! तब मैंने फिर विशेष करके महान् अस्त्रोंके जालसे युद्धमें उस किरातको ढक दिया ॥ ३१ ॥

स्थूणाकर्णमयोजालं शरवर्षं शरोल्बणम् ।
शैलास्त्रमश्मवर्षं च समास्थायाहमभ्ययाम् ।
जग्रास प्रहसंस्तानि सर्वाण्यस्त्राणि मेऽनघ ॥ ३२ ॥

कभी स्थूणाकर्ण और कभी जलमास्त्र, वारुणास्त्र, शरवर्ष, पाषाणास्त्र आदि घोर बाणोंके जालसे उसको छा दिया; परन्तु, हे निष्पाप राजन् ! उसने मेरे शस्त्रोंको हंसते हुए ग्रासकर लिया ॥ ३२ ॥

तेषु सर्वेषु शान्तेषु ब्रह्मास्त्रमहमादिशम् ।
ततः प्रज्वलितैर्बाणैः सर्वतः सोपचीयत ।
उपचीयमानश्च मया महास्त्रेण व्यवर्धत ॥ ३३ ॥

उन सब अस्त्रोंके शान्त हो जानेपर मैंने ब्रह्मशिर अस्त्र चलाया । मेरे उस महा अस्त्रके चलते ही उसकी वृद्धि होने लगी और मेरे बाणोंसे वह बढने लगा ॥ ३३ ॥

ततः संतापितो लोको मत्प्रसूतेन तेजसा ।
क्षणेन हि दिशः खं च सर्वतोऽभिविदीपितम् ॥ ३४ ॥

तदनन्तर उस मेरे अस्त्रके तेजसे सब आकाश और दिशायें संतप्त होने लगीं और एक ही क्षणमें मेरे शस्त्रके कारण आकाश और दिशाएं चारों ओरसे प्रकाशित हो गई ॥ ३४ ॥

तदप्यस्त्रं महातेजाः क्षणेनैव व्यशातयत् ।
ब्रह्मास्त्रे तु हते राजन्भयं मां महदाविशत् ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! महातेजस्वी किरातने वह ब्रह्मशिर अस्त्र भी उसी क्षण शान्त कर दिया । ब्रह्मास्त्रके व्यर्थ होते ही मुझे बडा डर लगा ॥ ३५ ॥

ततोऽहं धनुरादाय तथाक्षय्यौ महेषुधी ।
सहसाभ्यहनं भूतं तान्यप्यस्त्राण्यभक्षयत् ॥ ३६ ॥

पर मैंने अक्षय तूणीर और धनुष लेकर फिर उस किरातपर बाण चलाये, परन्तु वह उन बाणोंको भी खा गया ॥ ३६ ॥

हतेष्वस्त्रेषु सर्वेषु भक्षितेष्वायुधेषु च ।
मम तस्य च भूतस्य बाहुयुद्धमवर्तत ॥ ३७ ॥

जब मेरे अस्त्र नष्ट हो गये और सब शस्त्र उसके द्वारा खा लिए गए, तब मेरा और उस किरातका बाहुयुद्ध होने लगा ॥ ३७ ॥

व्यायामं मुष्टिभिः कृत्वा तलैरपि समाहतौ ।
अपातयच्च तद्भूतं निश्चेष्टो ह्यगमं महीम् ॥ ३८ ॥

कभी तमाचे और कभी मुक्कोंसे मैंने उस किरातको मारा । उसके बाद उस किरातने मुझे गिरा दिया और मैं भी मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पडा ॥ ३८ ॥

ततः प्रहस्य तद्भूतं तत्रैवान्तरधीयत ।
सह स्त्रीभिर्महाराज पश्यतो मेऽद्भुतोपमम् ॥ ३९ ॥

हे महाराज! इसके बाद वह किरात हंसकर स्त्रियोंके सहित मेरे देखते देखते वहीं अन्तर्धान हो गया। तब मुझे बहुत आश्चर्य हुआ ॥ ३९ ॥

एवं कृत्वा स भगवांस्ततोऽन्यद्रूपमात्मनः ।
दिव्यमेव महाराज वसानोऽद्भुतमम्बरम् ॥ ४० ॥

हे महाराज! इसके पश्चात् भगवान् शिवने अपना दूसरा रूप बनाया और वे अद्भुत वस्त्र धारण करके मेरे पास आये ॥ ४० ॥

हित्वा किरातरूपं च भगवांस्त्रिदशेश्वरः ।
स्वरूपं दिव्यमास्थाय तस्थौ तत्र महेश्वरः ॥ ४१ ॥

देवोंके स्वामी भगवान् शिवने किरातका रूप छोडकर अपना दिव्यरूप धारण किया और मेरे पास आकर खडे हो गये ॥ ४१ ॥

अदृश्यत ततः साक्षाद्भगवान्गोवृषध्वजः ।
उमासहायो हरिदृग्बहुरूपः पिनाकधृक् ॥ ४२ ॥

इसके बाद मैंने नंदीकी ध्वजावाले, पिनाक् धनुर्धारी, अनेक रूपोंको धारण करनेवाले, त्रिनेत्रधारी साक्षात् भगवान्को पार्वतीके सहित खडे हुए देखा ॥ ४२ ॥

स मामभ्येत्य समरे तथैवाभिमुखं स्थितम् ।
शूलपाणिरथोवाच तुष्टोऽस्मीति परन्तप ॥ ४३ ॥

शूलधारी भगवान् शिवने मुझसे युद्धमें प्रसन्न होकर कहा– कि हे शत्रुनाशी! मैं तुमसे प्रसन्न हूं ॥ ४३ ॥

ततस्तद्धनुरादाय तूणौ चाक्षय्यसायकौ ।
प्रादान्ममैव भगवान्वरयस्वेति चाब्रवीत् ॥ ४४ ॥

तब उन्होंने मेरे दोनों अक्षय तूणीर और धनुष मुझको दिया और कहा, कि जो तुम्हारी इच्छा हो वरदान मांगो ॥ ४४ ॥

तुष्टोऽस्मि तव कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यत्ते मनोगतं वीर तद्ब्रूहि वितराम्यहम् ।
अमरत्वमपाहाय ब्रूहि यत्ते मनोगतम् ॥ ४५ ॥

शिवजी बोले– हे कुन्तीनन्दन! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ; कहो मैं तुम्हारा कौनसा प्रिय काम करूँ? हे वीर! तुम्हारे मनकी जो इच्छा हो उसे बताओ, वह मैं तुम्हें दूंगा। हे वीर! अमरताको छोडकर और जो भी तुम्हारी इच्छा हो, उसे मांगो ॥ ४५ ॥

ततः प्राञ्जलिरेवाहमस्त्रेषु गतमानसः।
प्रणम्य शिरसा शर्वं ततो वचनमाददे ॥ ४६ ॥

तब अस्त्रोंकी इच्छा करनेवाले मैंने हाथ जोडकर उनको शिरसे प्रणाम करके हंसकर भगवान् शिवजीसे कहा ॥ ४६ ॥

भगवान्मे प्रसन्नश्चेदीप्सितोऽयं वरो मम।
अस्त्राणीच्छाम्यहं ज्ञातुं यानि देवेषु कानिचित्।
ददानीत्येव भगवानब्रवीत्त्र्यम्बकश्च माम् ॥ ४७ ॥

कि हे भगवन्! मैं सब देवोंके पास जो भी कुछ अस्त्र हैं उन सबको जानना चाहता हूं। तब भगवान् शिवजीने मुझसे कहा कि मैं तुमको शस्त्रास्त्र दूंगा ॥ ४७ ॥

रौद्रमस्त्रं मदीयं त्वामुपस्थास्यति पाण्डव।
प्रददौ च मम प्रीतः सोऽस्त्रं पाशुपतं प्रभुः ॥ ४८ ॥

यह मेरा रुद्रास्त्र है, हे पाण्डव! यह तुम्हारे सामने आकर उपस्थित हो जाया करेगा। तब शिवने मुझको प्रसन्न होकर पाशुपत अस्त्र दिया ॥ ४८ ॥

उवाच च महादेवो दत्त्वा मेऽस्त्रं सनातनम्।
न प्रयोज्यं भवेदेतन्मानुषेषु कथञ्चन ॥ ४९ ॥

तब भगवान् महादेवने सनातन अस्त्रको मुझे देकर कहा कि इस अस्त्रको कभी भी किसी मनुष्यके ऊपर न चलाना ॥ ४९ ॥

पीड्यमानेन बलवत्प्रयोज्यं ते धनञ्जय।
अस्त्राणां प्रतिघाते च सर्वथैव प्रयोजयेः ॥ ५० ॥

हे धनञ्जय! जब तुमको कोई बलवान् शत्रु पीडा दे, तब भी इसको चलाना, तथा अस्त्रोंका प्रतिकार करनेके समय इसको चलाना ॥ ५० ॥

तदप्रतिहतं दिव्यं सर्वास्त्रप्रतिषेधनम्।
मूर्तिमन्मे स्थितं पार्श्वे प्रसन्ने गोवृषध्वजे ॥ ५१ ॥

इस शस्त्रको कोई नष्ट नहीं कर सकता, पर यह दिव्य अस्त्र अन्य सब अस्त्रोंका नाश कर सकता है। हे महाराज! जब मुझसे शिवजी प्रसन्न हुए; तब वह अस्त्र मूर्ति धारण करके मेरे आगे आ खडा हुआ ॥ ५१ ॥

उत्सादनममित्राणां परसेनानिकर्तनम्।
दुरासदं दुष्प्रसहं सुरदानवराक्षसैः ॥ ५२ ॥

वह अस्त्र शत्रुओंका नाश करनेवाला और सेनाओंको काटनेवाला है। वह अस्त्र बडा घोर, कठोर तथा देव, दानव और राक्षसोंके लिए भी असह्य है ॥ ५२ ॥

अनुज्ञातस्त्वहं तेन तत्रैव समुपाविशम्।
प्रेक्षतश्चैव मे देवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ५३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिषष्ठ्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६३॥ ५६३८ ॥

तब मैं शिवजीकी आज्ञासे वहीं रहने लगा और मेरे देखते देखते श्रीशिवजी वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ५३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ तिरेसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६३ ॥ ५६३८ ॥

: १६४ :

अर्जुन उवाच

ततस्तामवसं प्रीतो रजनीं तत्र भारत।
प्रसादाद्देवदेवस्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– हे भारत! देवोंके भी देव महात्मा त्र्यम्बककी प्रसन्नताको प्राप्त करके मैं प्रसन्न होकर उस रात वहीं रहा ॥ १ ॥

व्युषितो रजनीं चाहं कृत्वा पूर्वाह्णिकक्रियाम्।
अपश्यं तं द्विजश्रेष्ठं दृष्टवानस्मि यं पुरा ॥ २ ॥

जब रात बीत गई तब मैंने प्रातःकालकी संध्या की; फिर उसी ब्राह्मणको देखा जिसको पहले देखा था ॥ २ ॥

तस्मै चाहं यथावृत्तं सर्वमेव न्यवेदयम्।
भगवन्तं महादेवं समेतोऽस्मीति भारत ॥ ३ ॥

तब मैंने उससे सब कथा कह सुनायी। मैंने उससे कहा, कि मुझे साक्षात् शिवके दर्शन हुए हैं ॥ ३ ॥

स मामुवाच राजेन्द्र प्रीयमाणो द्विजोत्तमः।
दृष्टस्त्वया महादेवो यथा नान्येन केनचित् ॥ ४ ॥

हे राजेन्द्र! तब उस ब्राह्मणश्रेष्ठने मुझसे प्रसन्न होकर कहा, कि तुमने शिवका ऐसा दर्शन किया, जैसे पहले और किसीने नहीं किया था ॥ ४ ॥

समेत्य लोकपालैस्तु सर्वैर्वैवस्वतादिभिः।
द्रष्टास्यनघ देवेन्द्रं स च तेऽस्त्राणि दास्यति ॥ ५ ॥

हे पापरहित! तुम इसी स्थानमें यम आदि लोकपालोंके सहित इन्द्रको देखोगे और वे तुमको अनेक शस्त्र देंगे ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा स मां राजन्नाश्लिष्य च पुनः पुनः ।
अगच्छत्स यथाकामं ब्राह्मणः सूर्यसन्निभः ॥ ६ ॥

हे राजन् ! उस ब्राह्मणने ऐसा कहकर मुझे बार बार चिपटाया, तदनन्तर वह सूर्यके समान ब्राह्मण अपनी इच्छानुसार चला गया ॥ ६ ॥

अथापराह्णे तस्याह्नः प्रावात्पुण्यः समीरणः ।
पुनर्नवमिमं लोकं कुर्वन्निव सपत्नहन् ॥ ७ ॥

हे शत्रुनाशक युधिष्ठिर ! उसी दिन दोपहरके पश्चात् पवित्र वायु बहने लगा, मुझे ऐसा जान पडा कि मानों यह लोक नवीन हो गया हो ॥ ७ ॥

दिव्यानि चैव माल्यानि सुगन्धीनि नवानि च ।
शैशिरस्य गिरेः पादे प्रादुरासन्समीपतः ॥ ८ ॥

मेरे पास हिमालय पर्वतके ऊपर दिव्य सुगन्धोंसे भरी हुई अनेक नवीन माला प्रकट होने लगी ॥ ८ ॥

वादित्राणि च दिव्यानि सुघोषाणि समन्ततः ।
स्तुतयश्चेन्द्रसंयुक्ता अश्रूयन्त मनोहराः ॥ ९ ॥

उसके पश्चात् मेरे चारों ओर दिव्य और बहुत शब्दवाले बाजे बजने लगे, उसके पश्चात् मुझे इन्द्रकी मनोहर स्तुतियां सुनाई दीं ॥ ९ ॥

गणाश्चाप्सरसां तत्र गन्धर्वाणां तथैव च ।
पुरस्ताद्देवदेवस्य जगुर्गीतानि सर्वशः ॥ १० ॥

तदनन्तर देवताओंके राजा इन्द्रके आगे अनेक गन्धर्व और अप्सरायें गीत गाने लगीं ॥ १० ॥

मरुतां च गणास्तत्र देवयानैरुपागमन् ।
महेन्द्रानुचरा ये च देवसद्मनिवासिनः ॥ ११ ॥

विमानपर चढे हुए मरुत्गण इन्द्रके अनुचर और स्वर्गमें रहनेवाले देवता मेरे पास आये ॥ ११ ॥

ततो मरुत्वान्हरिभिर्युक्तैर्वाहैः स्वलङ्कृतैः ।
शचीसहायस्तत्रायात्सह सर्वैस्तदामरैः ॥ १२ ॥

पीछे भूषणोंसे भूषित घोडोंसे युक्त रथपर बैठे हुए शची और सब देवोंके सहित इन्द्र आये ॥ १२ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु कुबेरो नरवाहनः ।
दर्शयामास मां राजँल्लक्ष्म्या परमया युतः ॥ १३ ॥

हे महाराज ! उसी समय अपने तेजसे प्रकाशमान् मनुष्यवाहन कुबेरने भी मुझे दर्शन दिये ॥ १३ ॥

दक्षिणस्यां दिशि यमं प्रत्यपश्यं व्यवस्थितम् ।
वरुणं देवराजं च यथास्थानमवस्थितम् ॥ १४ ॥

मैंने दक्षिणकी दिशामें बैठे यमको देखा; वरुण और इन्द्रको भी अपने अपने स्थानोंपर बैठे देखा ॥ १४ ॥

ते मामूचुर्महाराज सान्त्वयित्वा सुरर्षभाः ।
सव्यसाचिन्समीक्षस्व लोकपालानवस्थितान् ॥ १५ ॥

हे महाराज ! हे पुरुषसिंह ! तब उन सब देवोंने मुझे सांत्वना दे करके कहा– हे सव्यसाची ! हम सब लोकपाल तुम्हारे पास आये हैं, तुम हमारे दर्शन करो ॥ १५ ॥

सुरकार्यार्थसिद्ध्यर्थं दृष्टवानसि शंकरम् ।
अस्मत्तोऽपि गृहाण त्वमस्त्राणीति समन्ततः ॥ १६ ॥

तुमने देवोंके कामके लिये शिवका दर्शन किया है । अब हम लोगोंसे भी शस्त्रोंको ग्रहण करो ॥ १६ ॥

ततोऽहं प्रयतो भूत्वा प्रणिपत्य सुरर्षभान् ।
प्रत्यगृह्णं तदास्त्राणि महान्ति विधिवत्प्रभो ॥ १७ ॥

हे महाराज ! तब मैंने प्रसन्न होकर उन सब देवोंको प्रणाम किया और, हे प्रभो ! उनसे विधिपूर्वक महान् महान् शस्त्रास्त्र ग्रहण किए ॥ १७ ॥

गृहीतास्त्रस्ततो देवैरनुज्ञातोऽस्मि भारत ।
अथ देवा ययुः सर्वे यथागतमरिंदम ॥ १८ ॥

हे शत्रुनाशी ! जब मैं सब अस्त्रोंको ग्रहणकर चुका, तब सब देवोंने मुझे आज्ञा दी और वे अपने स्थानपर चले गये ॥ १८ ॥

मघवानपि देवेशो रथमारुह्य सुप्रभम् ।
उवाच भगवान्वाक्यं स्मयन्निव सुरारिहा ॥ १९ ॥

देवोंके राजा असुरोंके शत्रु इन्द्र भी मुस्कराते हुएसे अपने उत्तम प्रकाशवाले रथपर चढकर मुझसे बोले ॥ १९ ॥

पुरैवागमनादस्माद्वेदाहं त्वां धनञ्जय ।
अतः परं त्वहं वै त्वां दर्शये भरतर्षभ ॥ २० ॥

हे धञ्जनय ! तुम्हारे आनेके पहिले ही मैं सब बातोंको जान गया था । हे भरतकुलसिंह ! इसके पश्चात् मैं तुमको अपना दर्शन दूंगा ॥ २० ॥

त्वया हि तीर्थेषु पुरा समाप्लावः कृतोऽसकृत् ।
तपश्चेदं पुरा तप्तं स्वर्गं गन्तासि पाण्डव ॥ २१ ॥

हे पाण्डव ! तुमने पहले बहुत तीर्थोंमें अनेकवार स्नान किया है तथा तप भी बहुत किया है, इस कारण तुम स्वर्गमें जा सकते हो ॥ २१ ॥

भूयश्चैव च तप्तव्यं तपः परमदारुणम् ।
उवाच भगवान्सर्वं तपसश्चोपपादनम् ॥ २२ ॥

परन्तु तुमको फिर भी अत्यन्त दारुण तप करना उचित है। यह कहकर फिर भगवान्ने मुझे तप करनेके सारे उपाय बताये ॥ २२ ॥

मातलिर्मन्नियोगात्त्वां त्रिदिवं प्रापयिष्यति ।
विदितस्त्वं हि देवानामृषीणां च महात्मनाम् ॥ २३ ॥

मेरी आज्ञासे मातली आवेंगे और तुमको स्वर्ग ले आयेंगे, तुमको महात्मा ऋषि और देवगण जानते हैं ॥ २३ ॥

ततोऽहमब्रुवं शक्रं प्रसीद भगवन्मम ।
आचार्यं वरये त्वाहमस्त्रार्थं त्रिदशेश्वर ॥ २४ ॥

तब मैंने इन्द्रसे कहा— हे भगवन् ! हे देवोंके स्वामी ! आप मुझपर प्रसन्न होइए। मैं शस्त्रविद्याके लिये आपको अपना गुरु बनाता हूँ ॥ २४ ॥

इन्द्र उवाच

क्रूरं कर्मास्त्रवित्तात करिष्यसि परन्तप ।
यदर्थमस्त्राणीप्सुस्त्वं तं कामं पाण्डवाप्नुहि ॥ २५ ॥

इन्द्र बोले— हे शत्रुनाशन ! हे तात ! तुम सब शस्त्रोंको जाननेवाले और क्रूर कर्म करनेवाले होगे। हे पाण्डव ! जिस कामके लिये तुम अस्त्रोंकी इच्छा करते हो वह तुम्हारा सब मनोरथ पूर्ण होगा ॥ २५ ॥

अर्जुन उवाच

ततोऽहमब्रुवं नाहं दिव्यान्यस्त्राणि शत्रुहन् ।
मानुषेषु प्रयोक्ष्यामि विनास्त्रप्रतिघातनम् ॥ २६ ॥

अर्जुन बोले— तब मैंने कहा कि, हे शत्रुनाशन ! मैं अस्त्र प्रतिघातके बिना इन दिव्य अस्त्रको मनुष्यों पर कभी न चलाऊंगा ॥ २६ ॥

तानि दिव्यानि मेऽस्त्राणि प्रयच्छ विबुधाधिप ।
लोकांश्चास्त्रजितानपश्चाल्लभेयं सुरपुङ्गव ॥ २७ ॥

हे देवोंके नाथ ! आप उन सब अस्त्रोंको मुझे दीजिये। हे देवश्रेष्ठ ! इसके पश्चात् मैं उन लोकोंको जाऊं, कि जिनको अस्त्र जाननेवाले जाते हैं ॥ २७ ॥

इन्द्र उवाच

परीक्षार्थं मयैतत्ते वाक्यमुक्तं धनञ्जय ।
ममात्मजस्य वचनं सूपपन्नमिदं तव ॥ २८ ॥

इन्द्र बोले– हे धनञ्जय ! मैंने जो यह सब कहा, सो तुम्हारी परीक्षाके लिये कहा था । तुम मेरे पुत्र हो, इसलिये यह तुमने जो कहा सो सब ठीक ही है ॥ २८ ॥

शिक्ष मे भवनं गत्वा सर्वाण्यस्त्राणि भारत ।
वायोरग्नेर्वसुभ्योऽथ वरुणात्समरुद्गणात् ॥ २९ ॥

हे भारत ! तुम मेरे घर चल कर अस्त्रोंको सीखो, वहां तुमको वायु, अग्नि, वसु, वरुण और मरुत गण अस्त्र सिखावेंगे ॥ २९ ॥

साध्यं पैतामहं चैव गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
वैष्णवानि च सर्वाणि नैर्ऋतानि तथैव च ।
मद्गतानि च यानीहि सर्वास्त्राणि कुरूद्वह ॥ ३० ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! तुम साध्य, पितामह, गन्धर्व, नाग, यक्ष, राक्षस, वैष्णव, नैर्ऋतयके सब शस्त्र सीखोगे । हे कुरुनन्दन ! जितने शस्त्र मुझको आते हैं, उन सबको तुम सीख लो ॥ ३० ॥

अर्जुन उवाच

एवमुक्त्वा तु मां शक्रस्तत्रैवान्तरधीयत ।
अथापश्यं हरियुजं रथमैन्द्रमुपस्थितम् ।
दिव्यं मायामयं पुण्यं यत्तं मातलिना नृप ॥ ३१ ॥

अर्जुन बोले– इस प्रकार मुझसे कह कर इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये । तदनन्तर मैंने उत्तम घोडोंसे युक्त इन्द्रके रथको देखा । हे राजन् ! वह दिव्य और मायामय रथ मातलि से नियंत्रित हो रहा था ॥ ३१ ॥

लोकपालेषु यातेषु मामुवाचाथ मातलिः ।
द्रष्टुमिच्छति शक्रस्त्वां देवराजो महाद्युते ॥ ३२ ॥

हे महातेजस्वी महाराज ! जब सब लोकपाल चले गये तो मातलिने मुझसे कहा– कि तुमको देवराज इन्द्र देखना चाहते हैं ॥ ३२ ॥

संसिद्धस्त्वं महाबाहो कुरु कार्यमनुत्तमम् ।
पश्य पुण्यकृतां लोकान्सशरीरो दिवं व्रज ॥ ३३ ॥

महाबाहु ! अब तुम चलनेको तैय्यार होओ । उसके पश्चात् सब काम करना । तुम इसी शरीरसे स्वर्गको चलो और पुण्यकर्मोंसे मिलने वाले लोकोंको देखो ॥ ३३ ॥

इत्युक्तोऽहं मातलिना गिरिमामन्त्र्य शैशिरम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारोहं रथोत्तमम् ॥ ३४ ॥
हे भारत! सहस्र नेत्रवाले इन्द्र तुमको देखना चाहता हैं। जब मातलिने ऐसा कहा, तब मैंने हिमालय पर्वतसे आज्ञा ली और मैं उस रथकी प्रदक्षिणा करके रथपर चढ गया॥ ३४॥

चोदयामास स हयान्मनोमारुतरंहसः।
मातलिर्हयशास्त्रज्ञो यथावद्भूरिदक्षिणः ॥ ३५ ॥
और अश्वविद्यामें कुशल तथा बहुत दक्षिणा पानेवाले मातलिने भी उन मन और वायुके समान चलनेवाले घोडोंको हांका॥ ३५॥

अवैक्षत स मे वक्त्रं स्थितस्याथ स सारथिः।
तथा भ्रान्ते रथे राजन्विस्मितश्चेदमब्रवीत् ॥ ३६ ॥
अत्यद्भुतमिदं मेऽद्य विचित्रं प्रतिभाति माम्।
यदास्थितो रथं दिव्यं पदा न चलितो भवान् ॥ ३७ ॥
मातलिने उस तेजीसे जानेवाले रथमें बैठे हुए मेरे मुखको देखा। हे राजन्! आश्चर्यचकित होकर मातलि बोले— कि यह मुझको परम आश्चर्य दीख रहा है कि इस दिव्य रथमें स्थित होकर तुम निजस्थानसे एकपद भी विचलित नहीं हुए॥ ३६–३७॥

देवराजोऽपि हि मया नित्यमत्रोपलक्षितः।
विचलन्प्रथमोत्पाते हयानां भरतर्षभ ॥ ३८ ॥
हे भरतर्षभ! घोडोंके प्रथमोत्पतन कालमें देवराजको भी विचलित होते मैंने देखा है॥३८॥

त्वं पुनः स्थित एवात्र रथे भ्रान्ते कुरूद्वह।
अतिशक्रमिदं सत्त्वं तवेति प्रतिभाति मे ॥ ३९ ॥
किन्तु, हे कुरुश्रेष्ठ! तुम ऐसे भ्रमणशील रथमें यथास्थानमें ही बैठे रहे, इससे तुम्हारे ये सब कार्य इन्द्रसे भी बढकर हैं ऐसा ही मुझे मालूम होता है॥ ३९॥

इत्युक्त्वाकाशमाविश्य मातलिर्विबुधालयान्।
दर्शयामास मे राजन्विमानानि च भारत ॥ ४० ॥
ऐसा कहकर मातलिने आकाशमें रथ हांका और स्वर्गमें पहुंचा। हे महाराज! मातलिने मार्गमें मुझे अनेक विमान दिखाये॥ ४०॥

नन्दनादीनि देवानां वनानि बहुलान्युत।
दर्शयामास मे प्रीत्या मातलिः शक्रसारथिः ॥ ४१ ॥
इन्द्रके सारथी मातलिने प्रसन्न होकर देवोंके नन्दन वन आदि बहुतसे वनोंको दिखाया॥ ४१॥

ततः शक्रस्य भवनमपश्यममरावतीम् ।
दिव्यैः कामफलैर्वृक्षै रत्नैश्च समलङ्कृताम् ॥ ४२ ॥

तब मैंने अमरावती और इन्द्रके घरको देखा । वह अमरावतीपुरी दिव्य कामके देनेवाले वृक्षोंसे तथा अनेक तरहके रत्नोंसे शोभित थी ॥ ४२ ॥

न तां भासयते सूर्यो न शीतोष्णे न च क्लमः ।
रजः पङ्को न च तमस्तत्रास्ति न जरा नृप ॥ ४३ ॥

हे राजन् ! वहां न सूर्यका प्रकाश है, न गर्मी है, न सर्दी है, न थकावट है, न धूल है, न अन्धकार है ॥ ४३ ॥

न तत्र शोको दैन्यं वा वैवर्ण्यं चोपलक्ष्यते ।
दिवौकसां महाराज न च ग्लानिररिन्दम ॥ ४४ ॥

वहां न बुढापा है, न शोक है, न दीनता है और न दुर्बलता है । हे शत्रुनाशन ! वहां देवोंको ग्लानि भी नहीं होती ॥ ४४ ॥

न क्रोधलोभौ तत्रास्तामशुभं च विशां पते ।
नित्यतुष्टाश्च हृष्टाश्च प्राणिनः सुरवेश्मनि ॥ ४५ ॥

हे राजन् ! वहां न क्रोध है, न लोभ है, न अशुभ है । हे राजन् ! उस अमरावती पुरीके सब प्राणी सदा सन्तुष्ट रहते हैं ॥ ४५ ॥

नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ।
पुष्करिण्यश्च विविधाः पद्मसौगन्धिकायुताः ॥ ४६ ॥

वहांके वृक्ष सदा फलनेवाले और हरे पत्तोंसे युक्त रहते हैं, वहांके तालाब अनेक प्रकारके सुगन्धवाले कमलोंसे भरे हुए हैं ॥ ४६ ॥

शीतस्तत्र ववौ वायुः सुगन्धो जीवनः शुचिः ।
सर्वरत्नविचित्रा च भूमिः पुष्पविभूषिता ॥ ४७ ॥

वहां जीवनको पवित्र बनानेवाली ठण्डी सुगंधित हवा चलती है । वहांकी भूमि अनेक रत्नोंसे बने हुए फूलोंसे विराजमान है ॥ ४७ ॥

मृगाद्विजाश्च बहवो रुचिरा मधुरस्वराः ।
विमानयायिनश्चात्र दृश्यन्ते बहवोऽमराः ॥ ४८ ॥

वहां अनेक हिरण और पक्षी मीठे मीठे स्वरोंसे शब्द करते हैं । अनेक देवता विमानोंमें बैठे हुए आकाशमें घूमते रहते हैं ॥ ४८ ॥

ततोऽपश्यं वसून्रुद्रान्साध्यांश्च समरुद्गणान् ।
आदित्यानश्विनौ चैव तान्सर्वान्प्रत्यपूजयम् ॥ ४९ ॥

तब मैंने वसु, रुद्र, साध्य और मरुत्गणोंको देखा। मैंने अश्विनीकुमार और आदित्योंको भी देखा और सब देवोंकी पूजा की ॥ ४९ ॥

ते मां वीर्येण यशसा तेजसा च बलेन च ।
अस्त्रैश्चाप्यन्वजानन्त सङ्ग्रामविजयेन च ॥ ५० ॥

उन्होंने भी मुझे वीर्य, यश, तेज, बल, शस्त्र और विजयमें निपुण जानकर मेरी पूजा की ॥ ५० ॥

प्रविश्य तां पुरीं रम्यां देवगन्धर्वसेविताम् ।
देवराजं सहस्राक्षमुपातिष्ठं कृताञ्जलिः ॥ ५१ ॥

तब देव और गन्धर्वोंसे पूजित अमरावतीपुरीमें प्रवेश करके मैं हाथ जोडकर देवोंके राजा हजार नेत्रवाले इन्द्रके पास गया ॥ ५१ ॥

ददावर्धासनं प्रीतः शक्रो मे ददतां वरः ।
बहुमानाच्च गात्राणि पस्पर्श मम वासवः ॥ ५२ ॥

तब दानियोंमें श्रेष्ठ इन्द्रने प्रसन्न होकर मुझे अपना आधा आसन दिया। इन्द्रने बहुत आदरके सहित मेरे शरीरका स्पर्श किया ॥ ५२ ॥

तत्राहं देवगन्धर्वैः सहितो भूरिदक्षिण ।
अस्त्रार्थमवसं स्वर्गे कुर्वाणोऽस्त्राणि भारत ॥ ५३ ॥

हे बहुत दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिर ! मैं वहां अस्त्रोंके लिए देवोंके और गन्धर्वोंके सहित निवास करने लगा और शस्त्रोंको सीखने लगा ॥ ५३ ॥

विश्वावसोश्च मे पुत्रश्चित्रसेनोऽभवत्सखा ।
स च गान्धर्वमखिलं ग्राहयामास मां नृप ॥ ५४ ॥

वहां विश्वावसुका पुत्र चित्रसेन मेरा मित्र हो गया। हे राजन् ! उसीने मुझे नाचने और गानेकी सब विद्या सिखा दी ॥ ५४ ॥

ततोऽहमवसं राजन्गृहीतास्त्रः सुपूजितः ।
सुखं शक्रस्य भवने सर्वकामसमन्वितः ॥ ५५ ॥

मैं जब सब शस्त्रोंको सीख चुका, तब आदरसहित स्वर्गमें रहने लगा। मैं इन्द्रके घरमें रहता हुआ अपनी इच्छानुसार सब सुखोंको भोगने लगा ॥ ५५ ॥

शृण्वन्वै गीतशब्दं च तूर्यशब्दं च पुष्कलम् ।
पश्यंश्चाप्सरसः श्रेष्ठा नृत्यमानाः परंतप ॥ ५६ ॥

मैंने उत्तम गीत और बाजोंके शब्द सुने तथा, हे शत्रुनाशक युधिष्ठिर ! नाचती हुई उत्तम उत्तम अप्सराओंको भी देखा ॥ ५६ ॥

तत्सर्वमनवज्ञाय तथ्यं विज्ञाय भारत ।
अत्यर्थं प्रतिगृह्याहमस्त्रेष्वेव व्यवस्थितः ॥ ५७ ॥

हे भारत ! उन सब बातोंको मैंने तुच्छ समझा और केवल शस्त्र सीखनेको ही मैं उत्तम समझता रहा, इसलिए मैं अस्त्रविद्यामें ही रत रहा ॥ ५७ ॥

ततोऽतुष्यत्सहस्राक्षस्तेन कामेन मे विभुः ।
एवं मे वसतो राजन्नेष कालोऽत्यगाद्दिवि ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥ ५६९० ॥

तब मेरे इस कामसे इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए । हे राजन् ! इस प्रकारसे स्वर्गमें रहते हुए मेरा इतना लम्बा समय बीत गया ॥ ५८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ चौसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६४ ॥ ५६९० ॥

: १६५ :

अर्जुन उवाच

कृतास्त्रमभिविश्वस्तमथ मां हरिवाहनः ।
संस्पृश्य मूर्ध्नि पाणिभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले— तब इन्द्रको यह विश्वास हो गया, कि इनको सब शस्त्रोंकी विद्या आ गई है, तब उन्होंने अपने हाथसे मेरे सिरको स्पर्श करके यह कहा— ॥ १ ॥

न त्वमद्य युधा जेतुं शक्यः सुरगणैरपि ।
किं पुनर्मानुषे लोके मानुषैरकृतात्मभिः ।
अप्रमेयोऽप्रधृष्यश्च युद्धेष्वप्रतिमस्तथा ॥ २ ॥

हे वीर ! तुमको अब युद्धमें देवता भी नहीं जीत सकते तो फिर मर्त्यलोकमें अजितेन्द्रिय मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? तुम अप्रमेय और युद्धोंमें जीतनेके अयोग्य हो ॥ २ ॥

अथाब्रवीत्पुनर्देवः संप्रहृष्टतनूरुहः।
अस्त्रयुद्धे समो वीर न ते कश्चिद्भविष्यति ॥ ३ ॥

इसके बाद प्रसन्नताके कारण खडे हुए रोमोंवाले इन्द्रने फिर कहा– हे वीर! अस्त्रोंके युद्धमें तुम्हारे समान और कोई नहीं होगा ॥ ३ ॥

अप्रमत्तः सदा दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
ब्रह्मण्यश्चास्त्रविच्चासि शूरश्चासि कुरूद्वह ॥ ४ ॥

क्योंकि, हे कुरुश्रेष्ठ! तुम सदा सावधान, निपुण, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, ब्राह्मणोंकी पूजा करनेवाले और शस्त्रोंको जाननेवाले और शूर हो ॥ ४ ॥

अस्त्राणि समवाप्तानि त्वया दश च पञ्च च।
पञ्चभिर्विधिभिः पार्थ न त्वया विद्यते समः ॥ ५ ॥

तुमने दस और पांच अर्थात् पन्द्रह शस्त्रोंको प्राप्त किया है। हे कुन्तीनन्दन! पांचों विधियोंमें तुम्हारे समान कोई नहीं है ॥ ५ ॥

प्रयोगमुपसंहारमावृत्तिं च धनञ्जय।
प्रायश्चित्तं च वेत्थ त्वं प्रतिघातं च सर्वशः ॥ ६ ॥

तुम शस्त्रोंको चलाना और लौटाना दोनों बातोंको तथा आवृत्तिको भी जानते हो। तुम प्रायश्चित्तके विधानको भी जानते हो। तुम प्रतिघातकी विद्याको भी जानते हो ॥ ६ ॥

तव गुर्वर्थकालोऽयमुपपन्नः परन्तप।
प्रतिजानीष्व तं कर्तुमतो वेत्स्याम्यहं परम् ॥ ७ ॥

हे परन्तप! अब एक बडा भारी काम करनेका समय तुम्हारे सामने आकर उपस्थित हो गया है। तुम उसे करनेकी प्रतिज्ञा करो, तब मैं तुम्हें वह काम बताऊंगा ॥ ७ ॥

ततोऽहमब्रुवं राजन्देवराजमिदं वचः।
विषह्यं चेन्मया कर्तुं कृतमेव निबोध तत् ॥ ८ ॥

तब, हे राजन्! मैंने देवराज इन्द्रसे यह वचन कहा– कि जो काम मेरे करने योग्य है, उसको आप किया हुआ ही समझिये ॥ ८ ॥

ततो मामब्रवीद्राजन्प्रहस्य बलवृत्रहा।
नाविषह्यं तवाद्यास्ति त्रिषु लोकेषु किञ्चन ॥ ९ ॥

तब बल और वृत्रासुरके मारनेवाले इन्द्रने हंसकर मुझसे कहा– कि तीनों लोकोंमें कोई काम ऐसा नहीं है कि जिसको तुम न कर सको ॥ ९ ॥

---

१ किसी निर्दोष प्राणीके वध हो जानेपर उसे फिर जीवित करनेकी विद्याको प्रायश्चित्त कहते हैं।

२ शत्रुके शस्त्रके द्वारा पराभवको प्राप्त हुए अपने शस्त्रको फिरसे शक्तिशाली बनानेकी विद्याको प्रतिघात कहते हैं।

निवातकवचा नाम दानवा मम शत्रवः ।
समुद्रकुक्षिमाश्रित्य दुर्गे प्रतिवसन्त्युत ॥ १० ॥
आजकल मेरे शत्रु निवातकवचनामके दानव बहुत बढ गये हैं। वे लोग समुद्रके बीच दुर्ग बनाकर रहते हैं ॥ १० ॥

तिस्रः कोट्यः समाख्यातास्तुल्यरूपबलप्रभाः ।
तांस्तत्र जहि कौन्तेय गुर्वर्थस्ते भविष्यति ॥ ११ ॥
इनकी संख्या तीन करोड है और उनका रूप, बल तथा तेज समानही है। हे कुन्तीनन्दन ! तुम वहां जाकर उन सबको जीतो। यही तुम्हारी गुरुदक्षिणा होगी ॥ ११ ॥

ततो मातलिसंयुक्तं मयूरसमरोमभिः ।
हयैरुपेतं प्रादान्मे रथं दिव्यं महाप्रभम् ॥ १२ ॥
तब मोरके समान रंगवाले घोडोंको मातलिने रथमें जोडा। उस महातेजवाले दिव्य रथको इन्द्रने मुझे दिया ॥ १२ ॥

बबन्ध चैव मे मूर्ध्नि किरीटमिदमुत्तमम् ।
स्वरूपसदृशं चैव प्रादादङ्गविभूषणम् ॥ १३ ॥
और इस दिव्य किरीटको उन्होंने अपने हाथसे मेरे सिरपर बांधा, इन्द्रने मुझे अपने समान आभूषण दिए ॥ १३ ॥

अभेद्यं कवचं चेदं स्पर्शरूपवदुत्तमम् ।
अजरां ज्यामिमां चापि गाण्डीवे समयोजयत् ॥ १४ ॥
और उत्तम रूपवाले तथा स्पर्शवाले इस अभेद्य कवचको पहिनाया। मेरे गाण्डीव धनुपपर इस न टूटनेवाले रोदेको भी चढा दिया ॥ १४ ॥

ततः प्रायामहं तेन स्यन्दनेन विराजता ।
येनाजयद्देवपतिर्बलिं वैरोचनिं पुरा ॥ १५ ॥
तब मैं उस सुन्दर रथ पर बैठ कर वहांसे चला। इसी रथ पर बैठ कर पहले इन्द्रने विरोचनके पुत्र बलिको जीता था ॥ १५ ॥

ततो देवाः सर्व एव तेन घोषेण बोधिताः ।
मन्वाना देवराजं मां समाजग्मुर्विशां पते ।
दृष्ट्वा च मामपृच्छन्त किं करिष्यसि फल्गुन ॥ १६ ॥
उस रथके शब्दसे सब देवता सचेत हो गये और उन्होंने मुझहीको इन्द्र मान लिया और मेरे पास आये। पर उस रथमें मुझको देखकर देवोंने पूछा— कि हे अर्जुन ! तुम कौनसा काम करने जा रहे हो ? ॥ १६ ॥

तानब्रुवं यथाभूतमिदं कर्तास्मि संयुगे।
निवातकवचानां तु प्रस्थितं मां वधैषिणम्।
निबोधत महाभागाः शिवं चाशास्त मेऽनघाः ॥ १७ ॥

तब मैंने उनके सामने 'युद्धमें मैं इसप्रकारका कार्य करूंगा' इस प्रकार इत्थंभूत वर्णन किया और मैं कहने लगा, कि हे महाभाग पापरहित देवो! मैं निवातकवच दैत्योंको मारने जाता हूं, तुमलोग मुझे मेरे लिये शुभ कामनायें करो ॥ १७ ॥

तुष्टुवुर्मां प्रसन्नास्ते यथा देवं पुरन्दरम्।
रथेनानेन मघवा जितवाञ्शम्बरं युधि।
नमुचिं बलवृत्रौ च प्रह्लादनरकावपि ॥ १८ ॥

तब सब देवोंने प्रसन्न होकर मेरी वैसी ही स्तुति की जैसी कि वे इन्द्रकी करते हैं। देवता बोले— इन्द्रने इसी रथपर बैठकर युद्धमें शम्बर दैत्यको जीता था और इसी पर बैठकर नमुचि, बल, वृत्र, प्रह्लाद और नरकासुरको मारा था ॥ १८ ॥

बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
रथेनानेन दैत्यानां जितवान्मघवान्युधि ॥ १९ ॥

इन्द्रने इस रथपर बैठकर सहस्रों, लाखों, करोडों और अरबों दैत्योंको युद्धमें जीता है ॥ १९ ॥

त्वमप्येतेन कौन्तेय निवातकवचान्रणे।
विजेता युधि विक्रम्य पुरेव मघवान्वशी ॥ २० ॥

हे कुन्तीनन्दन! तुमभी इस रथपर बैठकर युद्धमें पराक्रम प्रकट करके निवातकवच दैत्योंको उसी प्रकार जीतोगे, जिस प्रकार पहले जितेन्द्रिय इन्द्रने असुरोंको जीता था ॥ २० ॥

अयं च शङ्खप्रवरो येन जेतासि दानवान्।
अनेन विजिता लोकाः शक्रेणापि महात्मना ॥ २१ ॥

यह सब शङ्खोंमें श्रेष्ठ शङ्ख है, इसीसे तुम सब दैत्योंको जीतोगे। महात्मा इन्द्रने पहले इसी शङ्खसे सब लोकोंको जीता था ॥ २१ ॥

प्रदीयमानं देवैस्तु देवदत्तं जलोद्भवम्।
प्रत्यगृह्णं जयायैनं स्तूयमानस्तदामरैः ॥ २२ ॥

देवों द्वारा दिए जाते हुए जलसे उत्पन्न देवदत्त शंखको सब देवोंकी स्तुति सुनकर विजय प्राप्त करनेके लिए मैंने ग्रहण किया ॥ २२ ॥

स शङ्खी कवची बाणी प्रगृहीतशरासनः ।
दानवालयमत्युग्रं प्रयातोऽस्मि युयुत्सया ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥ ५७१३ ॥

मैं कवच, शङ्ख, बाण और धनुषको धारण करके युद्धकी इच्छासे घोर दानवोंके स्थानको चला ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ पैंसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६५ ॥ ५७१३ ॥

१६६

अर्जुन उवाच

ततोऽहं स्तूयमानस्तु तत्र तत्र महर्षिभिः ।
अपश्यमुदधिं भीममपांपतिमथाव्ययम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– हे महाराज ! मैं जहां तहां महाऋषियोंसे स्तुति सुनता हुआ समुद्रपर पहुंचा और वहां मैंने घोररूपवाले जलके स्वामी भयानक उदधि देखा ॥ १ ॥

फेनवत्यः प्रकीर्णाश्च संहताश्च समुच्छ्रिताः ।
ऊर्मयश्चात्र दृश्यन्ते चलन्त इव पर्वताः ।
नावः सहस्रशस्तत्र रत्नपूर्णाः समन्ततः ॥ २ ॥

उसमें फेनके सहित बडी बडी तरङ्गें उठती हुई ऐसी जान पडती थीं, कि मानों पर्वत चले जा रहे हैं । समुद्रमें सहस्रों नावें रत्नोंसे भरी हुई खडी थीं ॥ २ ॥

तिमिङ्गिलाः कच्छपाश्च तथा तिमितिमिङ्गिलाः ।
मकराश्चात्र दृश्यन्ते जले मग्ना इवाद्रयः ॥ ३ ॥

उसमें बडी बडी ह्वेल आदि मछलियां, कच्छप, मगर और समुद्रमें डूबे हुए पर्वतके समान बडे बडे ग्राह घूम रहे थे ॥ ३ ॥

शङ्खानां च सहस्राणि मग्नान्यप्सु समन्ततः ।
दृश्यन्ते स्म यथा रात्रौ तारास्तन्वभ्रसंवृताः ॥ ४ ॥

जलमें डूबे हुए सहस्रों शङ्ख ऐसे दीख पडते थे, जैसे रात्रिमें पतले मेघोंसे ढके हुए तारे दीखते हैं ॥ ४ ॥

तथा सहस्रशस्तत्र रत्नसङ्घाः प्लवन्त्युत ।
वायुश्च घूर्णते भीमस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ५ ॥

समुद्रमें सहस्रों रत्नोंके समूह तैर रहे थे । उसमें बडा घोर वायु उठ रहा था, वह बडे अद्भुतके समान था ॥ ५ ॥

तमतीत्य महावेगं सर्वाम्भोनिधिमुत्तमम्।
अपश्यं दानवाकीर्णं तद्दैत्यपुरमन्तिकात् ॥ ६ ॥
उस अत्यन्त वेगवान् जलके कोशरूप उस सागरको पार करके मैंने दानवोंसे सम्पूर्ण उस दैत्यनगरीको पास में ही देखा ॥ ६ ॥

तत्रैव मातलिस्तूर्णं निपत्य पृथिवीतले।
नादयन्रथघोषेण तत्पुरं समुपाद्रवत् ॥ ७ ॥
वहां जाते ही मातलि पातालको चले; और अपने रथके घोषसे सब स्थानोंको गुंजाते हुए उस नगरीके पास जा पहुंचे ॥ ७ ॥

रथघोषं तु तं श्रुत्वा स्तनयित्नोरिवाम्बरे।
मन्वाना देवराजं मां संविग्ना दानवाभवन् ॥ ८ ॥
आकाशमें गरजनेवाले मेघके समान रथके शब्दको सुनकर राक्षसोंने जाना कि इन्द्र आ गये हैं। तब वे सब उद्विग्न हो गये ॥ ८ ॥

सर्वे संभ्रान्तमनसः शरचापधराः स्थिताः।
तथा शूलासिपरशुगदामुसलपाणयः ॥ ९ ॥
ततो द्वाराणि पिदधुर्दानवास्त्रस्तचेतसः।
संविधाय पुरे रक्षां न स्म कश्चन दृश्यते ॥ १० ॥
सब दानव भ्रान्तचित्त होकर धनुष और बाणको धारण करके खडे हो गये। उन दानवोंने अत्यन्त भयभीत होकर खड्ग, शूल, फरसा, गदा और मूसल धारण करके अपने नगरके द्वारोंको बन्द कर दिया। उन लोगोंने इस प्रकार अपनी नगरीकी रक्षा की, कि कोई भी दीखता नहीं था ॥ ९-१० ॥

ततः शङ्खमुपादाय देवदत्तं महास्वनम्।
पुरमासुरमाश्लिष्य प्राधमं तं शनैरहम् ॥ ११ ॥
तब मैंने उस असुरनगरीके पास पहुंचकर महाशब्दवाले देवदत्त शंखको धीरे धीरे बजाया ॥ ११ ॥

स तु शब्दो दिवं स्तब्ध्वा प्रतिशब्दमजीजनत्।
वित्रेसुश्च निलिल्युश्च भूतानि सुमहान्त्यपि ॥ १२ ॥
उस शब्दके आकाशमें जानेके कारण उससे बडी भारी प्रतिध्वनि उठी। उस शब्दसे बडे बडे समुद्रके जन्तु डर गए और समुद्रमें छिप गए ॥ १२ ॥

ततो निवातकवचाः सर्वं एव समन्ततः ।
दंशिता विविधैस्त्राणैर्विविधायुधपाणयः ॥ १३ ॥
तब निवातकवच अनेक विचित्र रक्षाके साधनों तथा शस्त्रोंको धारण करके सभी तरहसे तैय्यार हो गए ॥ १३ ॥

आयसैश्च महाशूलैर्गदाभिर्मुसलैरपि ।
पट्टिशैः करवालैश्च रथचक्रैश्च भारत ॥ १४ ॥
वे लोग लोहेके भाले, गदा, मूल, पट्टिश, खड्ग, और रथचक्रको धारण करके लडने आये ॥ १४ ॥

शतघ्नीभिर्भुशुण्डीभिः खड्गैश्चित्रैः स्वलङ्कृतैः ।
प्रगृहीतैर्दितेः पुत्राः प्रादुरासन्सहस्रशः ॥ १५ ॥
शतघ्नी, भुशुण्डी और खड्गको तथा विविध अस्त्रोंको धारण करनेके कारण उत्तम रीतिसे अलंकृत सहस्रों राक्षस बाहर निकले ॥ १५ ॥

ततो विचार्य बहुधा रथमार्गेषु तान्हयान् ।
प्राचोदयत्समे देशे मातलिर्भरतर्षभ ॥ १६ ॥
हे भरतश्रेष्ठ ! तब मातलिने मार्गको सब विचार करके उन घोडोंको एक समान भूमिकी तरफ प्रेरित किया ॥ १६ ॥

तेन तेषां प्रणुन्नानामाशुत्वाच्छीघ्रगामिनाम् ।
नान्वपश्यं तदा किंचित्तन्मेऽद्भुतमिवाभवत् ॥ १७ ॥
उन शीघ्र चलनेवाले घोडोंके हांकनेसे और शीघ्र चलनेसे उनकी गतिको कोई नहीं जान सका, यह देखकर मुझे बडा आश्चर्य हुआ ॥ १७ ॥

ततस्ते दानवास्तत्र योधव्रातान्यनेकशः ।
विकृतस्वररूपाणि भृशं सर्वाण्यचोदयन् ॥ १८ ॥
तब उन दानवोंने सहस्रों प्रकारके विकृत रूप और स्वरवाले अनेक तरहके बाजे बजाये और वे अपने घोर शब्दसे सब दिशाओंको गुंजाने लगे ॥ १८ ॥

तेन शब्देन महता समुद्रे पर्वतोपमाः ।
आप्लवन्त गतैः सत्त्वैर्मत्स्याः शतसहस्रशः ॥ १९ ॥
उस शब्दको सुनकर समुद्रमेंसे पर्वतके समान बडी बडी सैंकडों और सहस्रों मछलियां मरकर तैरने लगीं ॥ १९ ॥

ततो वेगेन महता दानवा मामुपाद्रवन्।
विमुञ्चन्तः शितान्बाणाञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २० ॥

तब सैकडों और हजारों दानव तीक्ष्ण बाणोंको छोडते हुए बडे ही वेग मेरी ओर दौडे ॥ २० ॥

स संप्रहारस्तुमुलस्तेषां मम च भारत।
अवर्तत महाघोरो निवातकवचान्तकः ॥ २१ ॥

हे भारत ! उस समय मेरा और उन दानवोंका घोर युद्ध हुआ, उस घोर युद्धमें अनेक निवातकवच मरने लगे ॥ २१ ॥

ततो देवर्षयश्चैव दानवर्षिगणाश्च ये।
ब्रह्मर्षयश्च सिद्धाश्च समाजग्मुर्महामृधे ॥ २२ ॥

तब देवर्षि, दानव, ऋषि, सिद्ध और ब्रह्मऋषियोंके समूह उस घोर युद्धको देखनेके लिए आये ॥ २२ ॥

ते वै मामनुरूपाभिर्मधुराभिर्जयैषिणः।
अस्तुवन्मुनयो वाग्भिर्यथेन्द्रं तारकामये ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥ ५७३६ ॥

वे लोग मेरी जीत चाहकर मीठी और अनुकूल वाणीसे मेरी उसी तरह स्तुति करने लगे, जैसे तारकासुरके युद्धमें इन्द्रकी स्तुति की थी ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ छियासठवां अध्याय समाप्त ॥ १६६ ॥ ५७३६ ॥

: १६७ :

अर्जुन उवाच

ततो निवातकवचाः सर्वे वेगेन भारत।
अभ्यद्रवन्मां संहिताः प्रगृहीतायुधा रणे ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– हे महाराज ! तब वे सब निवातकवच शस्त्रोंको धारण करके युद्धमें मेरी ओर दौडे ॥ १ ॥

आच्छिद्य रथपन्थानमुत्क्रोशन्तो महारथाः।
आवृत्य सर्वतस्ते मां शरवर्षैरवाकिरन् ॥ २ ॥

महारथी निवातकवचोंने गरज कर मेरे रथके मार्गको रोक दिया और मुझे चारों ओरसे घेरकर मेरे ऊपर अस्त्र बरसाने लगे ॥ २ ॥

ततोऽपरे महावीर्याः शूलपट्टिशपाणयः ।
शूलानि च भुशुण्डीश्च मुमुचुर्दानवा मयि ॥ ३ ॥

शूल और पट्टिशको अपने हाथोंमें धारण करनेवाले अनेक महाबलवान् दानव मेरे ऊपर शूल पट्टिश और भुशुण्डी चलाने लगे ॥ ३ ॥

तच्छूलवर्षं सुमहद्गदाशक्तिसमाकुलम् ।
अनिशं सृज्यमानं तैरपतन्मद्रथोपरि ॥ ४ ॥

वह शूल, गदा और शक्तियोंकी घोर वर्षा उनके हाथोंसे छूट कर मेरे रथपर गिरने लगी ॥४॥

अन्ये मामभ्यधावन्त निवातकवचा युधि ।
शितशस्त्रायुधा रौद्राः कालरूपाः प्रहारिणः ॥ ५ ॥

बहुत सारे निवातकवच राक्षस युद्धमें मेरी ओर दौडे । कालके समान रूपवाले वे लोग घोर शस्त्रोंकोधारण किये मेरी ओर आये ॥ ५ ॥

तानहं विविधैर्बाणैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
गाण्डीवमुक्तैरभ्यघ्नमेकैकं दशभिर्मृधे ।
ते कृता विमुखाः सर्वे मत्प्रयुक्तैः शिलाशितैः ॥ ६ ॥

मैंने भी युद्धमें एक एक राक्षसोंके शरीरमें अनेक तरहके आकारवाले, वेगवाले, सीधे जानेवाले, ऐसे दस दस बाणोंको गाण्डीव धनुषपर चढा कर मारा । मेरे द्वारा छोडे गए उन तीक्ष्ण बाणोंने उन सब राक्षसोंको युद्धसे विमुख कर दिया ॥ ६ ॥

ततो मातलिना तूर्णं हयास्ते संप्रचोदिताः ।
रथमार्गान्बहूंस्तत्र विचेरुर्वातरंहसः ।
सुसंयता मातलिना प्रामथ्नन्त दितेः सुतान् ॥ ७ ॥

तब मातलिने उन शीघ्र चलनेवाले घोडोंको हांका । वे वायुके समान शीघ्र चलनेवाले घोडे अनेक तरहके मार्गोंपर दौडने लगे । मातलिके हांकनेके अनुसार चलते हुए उन घोडोंने अनेक राक्षसोंका नाश कर डाला ॥ ७ ॥

शतं शतास्ते हरयस्तस्मिन्युक्ता महारथे
तदा मातलिना यत्ता व्यचरन्नल्पका इव ॥ ८ ॥

उस महान् रथमें एक हजार घोडे जुडे हुए थे । पर मातलिके द्वारा नियंत्रित होकर वे एक हजार घोडे इस प्रकार चलते थे कि मानों वे थोडे ही हों ॥ ८ ॥

तेषां चरणपातेन रथनेमिस्वनेन च ।
मम बाणनिपातैश्च हतास्ते शतशोऽसुराः ॥ ९ ॥

घोडोंके खुर, रथके पहिये और मेरे बाणोंके प्रयोगसे सैकडों दानव मर गए ॥ ९ ॥

गतासवस्तथा चान्ये प्रगृहीतशरासनाः ।
हतसारथयस्तत्र व्यकृष्यन्त तुरंगमैः ॥ १० ॥

उस युद्धमें कुछ तो धनुषको पकडे पकडे ही निष्प्राण हो गए और उनके सारथी भी जब मार दिये गए, तब घोडे ही उन दैत्योंके निर्जीव शरीरोंको खींचे लिए जाते थे ॥ १० ॥

ते दिशो विदिशः सर्वाः प्रतिरुध्य प्रहारिणः ।
निघ्नन्ति विविधैः शस्त्रैस्ततो मे व्यथितं मनः ॥ ११ ॥

उन शस्त्र चलानेवाले दानवोंने सभी दिशा और उपदिशाओंको घेर लिया और मुझे घेरकर शस्त्र चलाये । तब तो मेरा मन घबरा उठा ॥ ११ ॥

ततोऽहं मातलेर्वीर्यमपश्यं परमाद्भुतम् ।
अश्वांस्तथा वेगवतो यद्यत्नादधारयत् ॥ १२ ॥

उस समय मैंने मातलिके अत्यन्त आश्चर्यजनक बलको देखा । उन्होंने बहुत यत्नसे शीघ्र चलनेवाले घोडोंको स्थिर किया ॥ १२ ॥

ततोऽहं लघुभिश्चित्रैरस्त्रैस्तानसुरान्रणे ।
सायुधानच्छिनं राजञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १३ ॥

हे राजन् ! तब मैंने शस्त्रोंको धारण करनेवाले उन सैकडों और हजारों असुरोंको युद्धमें अपने वेगवान् बाणोंसे मार गिराया ॥ १३ ॥

एवं मे चरतस्तत्र सर्वयत्नेन शत्रुहन् ।
प्रीतिमानभवद्वीरो मातलिः शक्रसारथिः ॥ १४ ॥

हे शत्रुनाशक ! अपने सम्पूर्ण प्रयत्नोंसे उस रणमें विचरता हुआ देखकर इन्द्रके सारथी वीर मातलि बहुत प्रसन्न हुए ॥ १४ ॥

वध्यमानास्ततस्ते तु हयैस्तेन रथेन च ।
अगमन्प्रक्षयं केचिन्न्यवर्तन्त तथापरे ॥ १५ ॥

इस प्रकार उन अस्त्रों, उस रथ और घोडोंसे कईयोंका नाश हुआ और शेष युद्धसे भाग गये ॥ १५ ॥

स्पर्धमाना इवास्माभिर्निवातकवचा रणे ।
शरवर्षैर्महद्भिर्मां समन्तात्प्रत्यवारयन् ॥ १६ ॥

पश्चात् निवातकवच दानवोंने मानों हमसे स्पर्धा करते हुए फिर बाणोंकी बडी भारी बरसात करते हुए मुझे चारों ओरसे घेर लिया ॥ १६ ॥

ततोऽहं लघुभिश्चित्रैर्ब्रह्मास्त्रपरिमन्त्रितैः ।
व्यधमं सायकैराशु शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १७ ॥

तब मैंने सहस्र और सैकडों दानवोंको अपने हलके और विचित्र बाणोंसे मारा, मैंने उन बाणोंको ब्रह्मास्त्र मन्त्रसे मन्त्रित करके चलाया था ॥ १७ ॥

ततः संपीड्यमानास्ते क्रोधाविष्टा महासुराः ।
अपीडयन्मां सहिताः शरशूलासिवृष्टिभिः ॥ १८ ॥

तब वे महासुर मेरे बाणोंसे पीडित होकर क्रोधसे व्याकुल हो गये और वे इकट्ठे होकर शक्ति और शूलोंसे मुझे मारने लगे ॥ १८ ॥

ततोऽहमस्त्रमातिष्ठं परमं तिग्मतेजसम् ।
दयितं देवराजस्य माधवं नाम भारत ॥ १९ ॥

हे भारत ! तब मैंने इन्द्रके प्रिय महातेजस्वी माधव नामक उत्तम अस्त्रको चलाया ॥ १९ ॥

ततः खड्गांस्त्रिशूलांश्च तोमरांश्च सहस्रशः ।
अस्त्रवीर्येण शतधा तैर्मुक्तानहमच्छिनम् ॥ २० ॥

तब मैंने उस शस्त्रके बलसे उन राक्षसोंके द्वारा छोडे गए सहस्रों खड्ग, त्रिशूल और तोमरोंको सैंकडों टुकडोंमें काट दिया ॥ २० ॥

छित्त्वा प्रहरणान्येषां ततस्तानपि सर्वशः ।
प्रत्यविध्यमहं रोषाद्दशभिर्दशभिः शरैः ॥ २१ ॥

उनके सब शस्त्रोंको काटकर मैंने क्रोधसे एक एक राक्षसके शरीरमें दस दस बाण मारे ॥ २१ ॥

गाण्डीवाद्धि तदा संख्ये यथा भ्रमरपंक्तयः ।
निष्पतन्ति तथा बाणास्तन्मातलिरपूजयत् ॥ २२ ॥

उस समय युद्धमें गाण्डीव धनुषसे भौरोंकी पंक्तिके समान बाण छूट रहे थे । यह देखकर मातलि मेरी प्रशंसा करने लगे ॥ २२ ॥

तेषामपि तु बाणास्ते बहुत्वाच्छलभा इव ।
अवाकिरन्मां बलवत्तानहं व्यधमं शरैः ॥ २३ ॥

और उन दानवोंके बाण भी पतंगोंकी तरह छूटकर मुझे घेरने लगे, तब मैंने अपने बाणोंसे उन सबको काटना आरम्भ किया ॥ २३ ॥

वध्यमानास्ततस्ते तु निवातकवचाः पुनः ।
शरवर्षैर्महद्भिर्मां समन्तात्पर्यवारयन् ॥ २४ ॥

वे निवातकवच मुझसे पीडित होकर फिर इकट्ठे हुए और चारों ओरसे मेरे ऊपर बडे बडे बाण बरसाने लगे ॥ २४ ॥

शरवेगान्निहत्याहमस्त्रैः शरविघातिभिः ।
ज्वलद्भिः परमैः शीघ्रैस्तानविध्यं सहस्रशः ॥ २५ ॥

तब मैंने अपने बाणोंसे उनके सब बाणोंको काट दिया, फिर शीघ्र चलनेवाले प्रकाशमान् बाण उनके शरीरोंमें मारे ॥ २५ ॥

तेषां छिन्नानि गात्राणि विसृजन्ति स्म शोणितम् ।
प्रावृषीवातिवृष्टानि शृङ्गाणीव धराभृताम् ॥ २६ ॥

बाण लगनेसे उनके शरीर कट गये और रुधिर बहने लगा, उस समय उनकी शोभा ऐसी दिखाई देती थी, जैसी वर्षाकालमें अतिवृष्टि होनेपर पर्वतोंके शिखरोंकी ॥ २६ ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
मद्बाणैर्वध्यमानास्ते समुद्विग्नाः स्म दानवाः ॥ २७ ॥

इन्द्रके वज्रके समान कठोर स्पर्शवाले, वेगवान् और सीधे चलनेवाले मेरे बाणोंसे मारे जाते हुए राक्षस घबडा गये ॥ २७ ॥

शतधा भिन्नदेहान्त्राः क्षीणप्रहरणौजसः ।
ततो निवातकवचा मामयुध्यन्त मायया ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥ ५७६४ ॥

मेरे बाणोंसे उनके शरीरोंके और आंतोंके सौ सौ टुकडे हो गये, उनके बल और तेज क्षीण हो गये । तब वे लोग मुझसे मायायुद्ध करने लगे ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ सडसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६७ ॥ ५७६४ ॥

: १६८ :

अर्जुन उवाच

ततोऽश्मवर्षं सुमहत्प्रादुरासीत्समन्ततः ।
नगमात्रैर्महाघोरैस्तन्मां दृढमपीडयत् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– हे महाराज ! तब मेरे ऊपर चारों ओरसे पर्वतके समान घोर रूपवाली शिलायें बरसने लगीं, उनसे मुझको बहुत पीडा हुई ॥ १ ॥

तदहं वज्रसंकाशैः शरैरिन्द्रास्त्रचोदितैः ।
अचूर्णयं वेगवद्भिः शतधैकैकमाहवे ॥ २ ॥

मैंने अपने वज्रके समान कठोर कठोर महेन्द्रास्त्र युक्त वेगवाले घोरबाणोंसे उनमेंसे एक एक शिलाओंके सौ सौ टुकडे कर दिये ॥ २ ॥

चूर्ण्यमानेऽश्मवर्षे तु पावकः समजायत ।
तत्राश्मचूर्णमपतत्पावकप्रकरा इव ॥ ३ ॥
जब शिलाओंकी वर्षा कट गयी, तब अग्नि बरसने लगी, उसके साथ ही आगकी चिन्गारियोंके समान पत्थरका चूरा बरसने लगा ॥ ३ ॥

ततोऽश्मवर्षे विहते जलवर्षं महत्तरम् ।
धाराभिरक्षमात्राभिः प्रादुरासीन्ममांतिके ॥ ४ ॥
जब वह पत्थरकी वर्षा बन्द हो गई, तब मेरे पास ही बडी बडी धाराओंवाली जलकी वर्षा शुरु हुई ॥ ४ ॥

नभसः प्रच्युता धारास्तिग्मवीर्याः सहस्रशः ।
आवृण्वन्सर्वतो व्योम दिशश्चोपदिशस्तथा ॥ ५ ॥
आकाशसे गिरती हुई प्रचण्ड शक्तिवाली उन सहस्रों जलधाराओंसे दिशाओं और उप-दिशाओंसे युक्त सारा आकाश छा गया ॥ ५ ॥

धाराणां च निपातेन वायोर्विस्फूर्जितेन च ।
गर्जितेन च दैत्यानां न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥
जलधारा गिरने, घोर वायुके शब्द और मेघोंके गर्जनसे दैत्योंको कुछ भी नहीं जान पडता था ॥ ६ ॥

धारा दिवि च संबद्धा वसुधायां च सर्वशः ।
व्यामोहयन्त मां तत्र निपतन्त्योऽनिशं भुवि ॥ ७ ॥
वे धारायें आकाश और पृथ्वीमें छा गयी थीं। पृथ्वीपर निरन्तर बरसनेवाली उन धाराओंने मुझे मोहित कर दिया ॥ ७ ॥

तत्रोपदिष्टमिन्द्रेण दिव्यमस्त्रं विशोषणम् ।
दीप्तं प्राहिणवं घोरमशुष्यत्तेन तज्जलम् ॥ ८ ॥
तब मैंने इन्द्रके बताये हुए दिव्य प्रकाशमान् और घोर शोषण अस्त्रको चलाया । उसके चलते ही वह जल सूख गया ॥ ८ ॥

हतेऽश्मवर्षे तु मया जलवर्षे च शोषिते ।
मुमुचुर्दानवा मायामग्निं वायुं च मानद ॥ ९ ॥
जब मैंने पत्थर और जलको नष्ट कर दिया, तब, हे मानद युधिष्ठिर ! दानवोंने फिर मायाको प्रकट किया और वे अग्नि तथा वायु बरसाने लगे ॥ ९ ॥

ततोऽहमग्निं व्यधमं सलिलास्त्रेण सर्वशः ।
शैलेन च महास्त्रेण वायोर्वेगमधारयम् ॥ १० ॥
तब मैंने जल अस्त्रसे उस अग्निको बुझा दिया और पर्वत अस्त्रसे वायुके वेगका नाश कर दिया ॥ १० ॥

तस्यां प्रतिहतायां तु दानवा युद्धदुर्मदाः ।
प्राकुर्वन्विविधा माया यौगपद्येन भारत ॥ ११ ॥
हे महाराज ! जब मैंने इस सब मायाको नष्ट कर दिया, तब युद्धमें मतवाले सब दानवोंने मिलकर एक साथ अनेक मायाओंको प्रकट किया ॥ ११ ॥

ततो वर्षं प्रादुरभूत्सुमहल्लोमहर्षणम् ।
अस्त्राणां घोररूपाणामग्नेर्वायोस्तथाश्मनाम् ॥ १२ ॥
तब अग्नि, वायु और पर्वतोंके अनेक अस्त्र मेरे ऊपर बरसने लगे, वे सब शस्त्र महाघोर रूपवाले और भयानक थे ॥ १२ ॥

सा तु मायामयी वृष्टिः पीडयामास मां युधि ।
अथ घोरं तमस्तीव्रं प्रादुरासीत्समन्ततः ॥ १३ ॥
वह मायामयी शस्त्रकी वर्षा मुझे युद्धमें बहुत पीडा देने लगी । तदनन्तर सब ओर घोर अन्धकार फैल गया ॥ १३ ॥

तमसा संवृते लोके घोरेण परुषेण च ।
तुरगा विमुखाश्चासन्प्रास्खलच्चापि मातलिः । ॥ १४ ॥
उस घोर और कठोर अन्धकारसे सब जगत् छा गया । तब मेरे घोडे युद्धमें विमुख हो गए और मातलि भी घबडा गये ॥ १४ ॥

हस्ताद्धिरण्मयश्चास्य प्रतोदः प्रापतद्भुवि ।
असकृच्चाह मां भीतः क्वासीति भरतर्षभ ॥ १५ ॥
हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! उनके हाथसे सोनेका कोडा पृथ्वीपर गिर पडा और उन्होंने घबडाकर मुझसे कहा, कि हे अर्जुन ! तुम कहां हो ? ॥ १५ ॥

मां च भीराविशत्तीव्रा तस्मिन्विगतचेतसि ।
स च मां विगतज्ञानः संत्रस्त इदमब्रवीत् ॥ १६ ॥
उनको घबडाया हुआ देखकर मुझे बहुत भय लगा । तब ज्ञानरहित और भयभीत मातलि मुझसे यह वचन बोले– ॥ १६ ॥

सुराणामसुराणां च संग्रामः सुमहानभूत् ।
अमृतार्थे पुरा पार्थ स च दृष्टो मयानघ ॥ १७ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! हे पापरहित ! पहले समयमें अमृतके लिये देव दानवोंका जो घोरयुद्ध हुआ था, मैंने उसको देखा था ॥ १७ ॥

शम्बरस्य वधे चापि संग्रामः सुमहानभूत् ।
सारथ्यं देवराजस्य तत्रापि कृतवानहम् ॥ १८ ॥

जिस समय शम्बरासुर मारा गया था; उस समय भी महायुद्ध हुआ था; उस समय भी इन्द्रके सारथिका काम मैंने ही किया था ॥ १८ ॥

तथैव वृत्रस्य वधे संगृहीता हया मया ।
वैरोचनेर्मया युद्धं दृष्टं चापि सुदारुणम् ॥ १९ ॥

उसी तरह वृत्रासुरके युद्धमें भी मैंनेही घोडोंको हांका था । इसीप्रकार मैंने बलि और इन्द्रके घोर युद्धको भी देखा है ॥ १९ ॥

एते मया महाघोराः संग्रामाः पर्युपासिताः ।
न चापि विगतज्ञानो भूतपूर्वोऽस्मि पाण्डव ॥ २० ॥

ये सब युद्ध महाघोर थे और मैं इन सबमें था; परन्तु, हे पाण्डव ! इससे पूर्व मैं ज्ञानरहित कभी नहीं हुआ था ॥ २० ॥

पितामहेन संहारः प्रजानां विहितो ध्रुवम् ।
न हि युद्धमिदं युक्तमन्यत्र जगतः क्षयात् ॥ २१ ॥

हे पाण्डव ! जान पडता है, कि ब्रह्माने प्रजाओंका संहार करनेकी ठान ली है । क्योंकि यह युद्ध विना जगत्का नाश किये समाप्त न होगा ॥ २१ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
मोहयिष्यन्दानवानामहं मायामयं बलम् ॥ २२ ॥
अब्रुवं मातलिं भीतं पश्य मे भुजयोर्बलम् ।
अस्त्राणां च प्रभावं मे धनुषो गाण्डिवस्य च ॥ २३ ॥

मातलिके ऐसे वचनको सुनकर मैंने अपने आपको धीरज दिया और दानवोंके मायासे युक्त बलको मोहयुक्त करता हुआ मैं डरे हुए मातलिसे बोला— हे सूत ! मेरे बाहुबल, अस्त्र और गांडीव धनुषकी शक्तिको देखो ॥ २२-२३ ॥

अद्यास्त्रमाययैतेषां मायामेतां सुदारुणाम् ।
विनिहन्मि तमश्चोग्रं मा भैः सूत स्थिरो भव ॥ २४ ॥

इसी समय राक्षसोंकी इस घोर माया और उग्र तमका नाश कर दूंगा । हे सारथिन् ! तुम डरो मत, स्थिर रहो ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वाहमसृजमस्त्रमायां नराधिप।
मोहनीं सर्वशत्रूणां हिताय त्रिदिवौकसाम् ॥ २५ ॥

हे महाराज! मैंने ऐसा कहकर सब देवोंका हित करनेके लिए सब प्राणियोंको मोहनेवाली अस्त्रकी मायाको प्रकट किया ॥ २५ ॥

पीडयमानासु मायासु तासु तास्वसुरेश्वराः।
पुनर्बहुविधा मायाः प्राकुर्वन्नमितौजसः ॥ २६ ॥

उन मायाओंके मेरे मोहनास्त्रसे नष्ट हो जानेपर उन अत्यन्त तेजस्वी राक्षस राजाओंने फिर अनेक तरहकी माया प्रकट की ॥ २६ ॥

पुनः प्रकाशमभवत्तमसा ग्रस्यते पुनः।
व्रजत्यदर्शनं लोकः पुनरप्सु निमज्जति ॥ २७ ॥

कभी जगत् गुप्त होता था और कभी जलमें डूब जाता था, कभी प्रकाश होता और कभी कभी गाढ अंधकार छा जाता था ॥ २७ ॥

सुसंगृहीतैर्हरिभिः प्रकाशे सति मातलिः।
व्यचरत्स्यन्दनाग्र्येण संग्रामे लोमहर्षणे ॥ २८ ॥

सर्वत्र प्रकाश हो जानेपर मातलि, अच्छीतरहसे नियंत्रित घोडे जिसमें जुडे हुए हैं ऐसे उस, श्रेष्ठ रथसे रोयें खडा कर देनेवाले संग्राममें सर्वत्र घूमने लगे ॥ २८ ॥

ततः पर्यपतन्नुग्रा निवातकवचा मयि।
तानहं विवरं दृष्ट्वा प्राहिण्वं यमसादनम् ॥ २९ ॥

तब क्रोधित होकर वे निवात और कवच मुझपर टूट पडे। तब मैंने भी उनमें कमजोरी देखकर उन्हें यमके घर भेज दिया ॥ २९ ॥

वर्तमाने तथा युद्धे निवातकवचान्तके।
नापश्यं सहसा सर्वान्दानवान्माययावृतान् ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥ ५७९४ ॥

इस प्रकार जब निवातकवचोंका नाशक यह युद्ध हो रहा था, तब एकबार सब मायावी दानव गुप्त हो गये ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ अडसठवां अध्याय समाप्त ॥ १६८ ॥ ५७९४ ॥

: १६९ :

अर्जुन उवाच

अदृश्यमानास्ते दैत्या योधयन्ति स्म मायया।
अदृश्यानस्त्रवीर्येण तानप्यहमयोधयम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– हे महाराज! वे दैत्य मुझसे गुप्त होकर युद्ध करने लगे और अनेक प्रकारकी माया करने लगे। तब मैंने भी अदृश्य शस्त्रके बलसे उनसे युद्ध किया ॥ १ ॥

गाण्डीवमुक्ता विशिखाः सम्यगस्त्रप्रचोदिताः।
अच्छिन्दन्नुत्तमाङ्गानि यत्र यत्र स्म तेऽभवन् ॥ २ ॥

मेरे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाण राक्षसोंके सिरोंको काट काटकर पृथ्वीपर गिराने लगे ॥२॥

ततो निवातकवचा वध्यमाना मया युधि।
संहृत्य मायां सहसा प्राविशन्पुरमात्मनः ॥ ३ ॥

तदनन्तर निवातकवच मुझसे पीडित होकर मायाको समेटकर अपने नगरको भाग गये ॥३॥

व्यपयातेषु दैत्येषु प्रादुर्भूते च दर्शने।
अपश्यं दानवांस्तत्र हताञ्शतसहस्रशः ॥ ४ ॥

जब दानव भाग गए और सर्वत्र प्रकाश हुआ, तब मैंने देखा, कि वहां सैकडों और सहस्रों राक्षस मरे पडे हुए हैं ॥ ४ ॥

विनिष्पिष्टानि तत्रैषां शस्त्राण्याभरणानि च।
कूटशः स्म प्रदृश्यन्ते गात्राणि कवचानि च ॥ ५ ॥

उनके पास ही पिसे हुए सहस्रों भूषण, शस्त्र, कवच और गात्र भी कटे पडे हुए दिखाई देते थे ॥ ५ ॥

हयानां नान्तरं ह्यासीत्पदाद्विचलितुं पदम्।
उत्पत्य सहसा तस्थुरन्तरिक्षगमास्ततः ॥ ६ ॥

उनकी लाशोंसे वह रणक्षेत्र इस तरह पटा हुआ था कि घोडे एक चरणभर भी नहीं चल सकते थे। तब वे असुर आकाशमें उडकर खडे हो गये ॥ ६ ॥

ततो निवातकवचा व्योम संछाद्य केवलम्।
अदृश्या ह्यभ्यवर्तन्त विसृजन्तः शिलोच्चयान् ॥ ७ ॥

तब निवातकवच भी आकाशमें छा गये और वहींसे गुप्त होकर शिला वर्षाने लगे ॥ ७ ॥

अन्तर्भूमिगताश्चान्ये हयानां चरणान्यथ।
व्यगृह्णन्दानवा घोरा रथचक्रे च भारत ॥ ८ ॥

हे भारत! उनमेंसे कुछ घोर दानवोंने पृथ्वीमें घुसकर मेरे घोडोंके पैर और रथके पहियोंको पकड लिया ॥ ८ ॥

विनिगृह्य हरीनश्वान्रथं च मम युध्यतः ।
सर्वतो माममचिन्वन्त सरथं धरणीधरैः ॥ ९ ॥

वे युद्ध करनेवाले मेरे घोडे और पहियोंको पकड कर मुझे चारों ओरसे पहाडोंसे मारने लगे ॥ ९ ॥

पर्वतैरुपचीयद्भिः पतमानैस्तथापरैः ।
स देशो यत्र वर्ताम गुहेव समपद्यत ॥ १० ॥

इन्होंने इतने पहाड वर्षाये कि जिस स्थानमें मैं खडा था, वह गुहाके समान हो गया ॥ १० ॥

पर्वतैश्छाद्यमानोऽहं निगृहीतैश्च वाजिभिः ।
अगच्छं परमामार्तिं मातलिस्तदलक्षयत् ॥ ११ ॥

मैं उन पर्वतोंसे छिपने और घोडोंके पकडे जानेसे बहुत पीडित हुआ । इसको मातलिने जान लिया ॥ ११ ॥

लक्षयित्वा तु मां भीतमिदं वचनमब्रवीत् ।
अर्जुनार्जुन मा भैस्त्वं वज्रमस्त्रमुदीरय ॥ १२ ॥

तब मातलिने डरे हुए मुझसे यह वचन कहा– कि हे अर्जुन ! तुम डरो मत । इस समय तुम वज्रअस्त्रको छोडो ॥ १२ ॥

ततोऽहं तस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा वज्रमुदीरयम् ।
देवराजस्य दयितं वज्रमस्त्रं नराधिप ॥ १३ ॥

हे महाराज ! मैंने उसके वचन सुनकर इन्द्रके प्रिय अस्त्र घोर वज्रको छोडा ॥ १३ ॥

अचलं स्थानमासाद्य गाण्डीवमनुमन्त्र्य च ।
अमुञ्चं वज्रसंस्पर्शानायसान्निशिताञ्शरान् ॥ १४ ॥

मैं ऐसे स्थानपर खडा हुआ था, जो चलने योग्य नहीं था । वहांसे मैंने अपने धनुषको मन्त्रित करके वज्रके समान अत्यन्त तीक्ष्ण अनेक लौहमय बाणोंको छोडा ॥ १४ ॥

ततो मायाश्च ताः सर्वा निवातकवचांश्च तान् ।
ते वज्रचोदिता बाणा वज्रभूताः समाविशन् ॥ १५ ॥

तब वज्रसे प्रेरित हुए उन वज्रके समान बाणोंने दानवोंकी माया और निवातकवच दानवोंका नाश कर दिया । वे बाण उनके शरीरोंमें वज्रके समान प्रवेश कर गये ॥ १५ ॥

ते वज्रवेगाभिहता दानवाः पर्वतोपमाः ।
इतरेतरमाश्लिष्य न्यपतन्पृथिवीतले ॥ १६ ॥

पर्वतके समान डीलडौलवाले वे सब दानव उस वज्रके वेगसे मरकर आपसमें एक दूसरेसे लिपट लिपट कर पृथ्वीपर गिरने लगे ॥ १६ ॥

अन्तर्भूमौ च येऽगृह्णन्दानवा रथवाजिनः ।
अनुप्रविश्य तान्बाणाः प्राहिण्वन्यमसादनम् ॥ १७ ॥

जो दानव भूमिमें प्रवेश कर मेरे रथ और घोडोंको पकडे हुए थे, मेरे बाण उनके हृदयमें घुस गये और उन्हें यमके घर पहुंचा दिया ॥ १७ ॥

हतैर्निवातकवचैर्निरस्तैः पर्वतोपमैः ।
समाच्छाद्यत देशः स विकीर्णैरिव पर्वतैः ॥ १८ ॥

उस समय उन पर्वतके समान निवात और कवचोंके शरीरोंसे पृथ्वी ऐसी भर गई थी, मानो अनेक पर्वत पडे हुए हों ॥ १८ ॥

न हयानां क्षतिः काचिन्न रथस्य न मातलेः ।
मम चादृश्यत तदा तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १९ ॥

उस युद्धमें न मेरे घोडोंकी कुछ क्षति हुई, न रथकी, न मातलिकी और न मेरी ही कोई क्षति हुई । वह मेरे लिए आश्चर्यकारक था ॥ १९ ॥

ततो मां प्रहसन्राजन्मातलिः प्रत्यभाषत ।
नैतदर्जुन देवेषु त्वयि वीर्यं यदीक्ष्यते ॥ २० ॥

तब मातलिने हंसकर मुझसे कहा, कि हे अर्जुन ! जो बल तुममें दिखाई देता है, वह देवोंमें भी नहीं है ॥ २० ॥

हतेष्वसुरसंघेषु दारास्तेषां तु सर्वशः ।
प्राक्रोशन्नगरे तस्मिन्यथा शरदि लक्ष्मणाः ॥ २१ ॥

जब सब राक्षस मर गये, तब उनकी स्त्रियां नगरमें इस प्रकार रोने लगीं जैसे शरदऋतुमें सारस बोलते हैं ॥ २१ ॥

ततो मातलिना सार्धमहं तत्पुरमभ्ययाम् ।
त्रासयन्रथघोषेण निवातकवचस्त्रियः ॥ २२ ॥

तब मैं मातलिके साथ नगरके भीतर गया । मेरे रथके शब्दको सुनकर निवातकवचोंकी स्त्रियां भयभीत हो गईं ॥ २२ ॥

तान्दृष्ट्वा दशसाहस्रान्मयूरसदृशान्हयान् ।
रथं च रविसंकाशं प्राद्रवन्गणशः स्त्रियः ॥ २३ ॥

उन मयूरके समान रंगवाले दस हजार घोडे और सूर्यके समान रथको देखकर स्त्रियोंके सहस्रों झुण्ड इधर उधर भागने लगे ॥ २३ ॥

ताभिराभरणैः शब्दस्त्रासिताभिः समीरितः ।
शिलानामिव शैलेषु पतन्तीनामभूत्तदा ॥ २४ ॥
उन डरी हुई भागती स्त्रियोंके भूषणोंके शब्दसे ऐसा जान पडने लगा जैसा पर्वतसे गिरती हुई शिलाओंका शब्द होता है ॥ २४ ॥

वित्रस्ता दैत्यनार्यस्ताः स्वानि वेश्मान्यथाविशन् ।
बहुरत्नविचित्राणि शातकुम्भमयानि च ॥ २५ ॥
भयभीत हुई वे दैत्योंकी स्त्रियां अपने सोनेसे बने हुए रत्नजटित घरोंमें घुस गयीं ॥२५॥

तदद्भुताकारमहं दृष्ट्वा नगरमुत्तमम् ।
विशिष्टं देवनगरादपृच्छं मातलिं ततः ॥ २६ ॥
मैंने उस विचित्र और देवोंओंके नगरसे भी श्रेष्ठ नगरको देख मातलिसे पूछा ॥ २६ ॥

इदमेवंविधं कस्माद्देवता नाविशन्त्युत ।
पुरंदरपुराद्धीदं विशिष्टमिति लक्षये ॥ २७ ॥
इस उत्तम नगरमें देवलोग क्यों नहीं वास करते ? क्योंकि यह नगर तो अमरावतीसे भी अच्छा दीखता है ॥ २७ ॥

मातलिरुवाच
आसीदिदं पुरा पार्थ देवराजस्य नः पुरम् ।
ततो निवातकवचैरितः प्रच्याविताः सुराः ॥ २८ ॥
मातलि बोले– हे कुन्तीनन्दन ! पहले यह नगर हमारा और इन्द्रका नगर था, परन्तु निवातकवचोंने यहांसे देवोंको निकाल दिया था ॥ २८ ॥

तपस्तप्त्वा महत्तीव्रं प्रसाद्य च पितामहम् ।
इदं वृतं निवासाय देवेभ्यश्चाभयं युधि ॥ २९ ॥
उन्होंने पहले अपने तपसे ब्रह्माको प्रसन्न किया। फिर उस स्थानमें रहनेके लिये और देवोंसे युद्धमें अजेय होनेका वरदान मांगा ॥ २९ ॥

ततः शक्रेण भगवान्स्वयंभूरभिचोदितः ।
विधत्तां भगवानत्रेत्यात्मनो हितकाम्यया ॥ ३० ॥
तब भगवान् ब्रह्माको इन्द्रने कहा कि अपना हित होनेके लिये इनके नाशका उपाय भगवान् को ही सोचना चाहिये ॥ ३० ॥

तत उक्तो भगवता दिष्टमत्रेति वासवः ।
भवितान्तस्त्वमेवैषां देहेनान्येन वृत्रहन् ॥ ३१ ॥
यह इन्द्रका वचन सुनकरके भगवान् ब्रह्मदेव इन्द्रसे बोले– हे वृत्रनाशी ! तुम ही दूसरा शरीर धारण करके इन सबका नाश करोगे ॥ ३१ ॥

तत एषां वधार्थाय शक्रोऽस्त्राणि ददौ तव ।
न हि शक्याः सुरैर्हन्तुं य एते निहतास्त्वया ॥ ३२ ॥

इसीलिये इन्द्रने इन दानवोंका नाश करनेके लिये सब अस्त्र तुम्हें दिये । जिन दानवोंको तुमने मारा है, उनको देव भी नहीं मार सकते थे ॥ ३२ ॥

कालस्य परिणामेन ततस्त्वामिह भारत ।
एषामन्तकरः प्राप्तस्तत्त्वया च कृतं तथा ॥ ३३ ॥

हे भारत ! कालके आनेसे तुम्हीं इन सबका नाश करनेके लिये यहां आये और जैसा ब्रह्माने कहा था वैसा ही किया ॥ ३३ ॥

दानवानां विनाशार्थं महास्त्राणां महद्बलम् ।
ग्राहितस्त्वं महेन्द्रेण पुरुषेन्द्र तदुत्तमम् ॥ ३४ ॥

हे पुरुषेन्द्र अर्जुन ! इन्हीं दानवोंके विनाशके लिए इन महान् अस्त्रोंके महान् बलको महेन्द्रने तुम्हें दिया ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच

ततः प्रविश्य नगरं दानवांश्च निहत्य तान् ।
पुनर्मातलिना सार्धमगच्छं देवसद्म तत् ॥ ३५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनसतत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥ ५८२९ ॥

अर्जुन बोले– तब मैं सब दानवोंको मार और उस नगरमें प्रवेशकरके फिर मातलिके सहित स्वर्गको चला गया ॥ ३५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ उनहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १६९ ॥ ५८२९ ॥

: १७० :

अर्जुन उवाच

निवर्तमानेन मया महद्दृष्टं ततोऽपरम् ।
पुरं कामचरं दिव्यं पावकार्कसमप्रभम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– हे महाराज ! जब मैं स्वर्गको लौट रहा था, उसी समय बीचमें एक बडा आश्चर्य दिखाई दिया । मुझे सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान प्रकाशवाला इच्छानुसार घूमता हुआ एक नगर दिखाई दिया ॥ १ ॥

द्रुमै रत्नमयैश्चित्रैर्भास्वरैश्च पतत्रिभिः ।
पौलोमैः कालकेयैश्च नित्यहृष्टैरधिष्ठितम् ॥ २ ॥

उसमें अनेक रत्नोंके बने हुए विचित्र वृक्षोंपर बैठे हुए पक्षी मीठे स्वर सुना रहे थे । उसके भीतर सदा प्रसन्न रहनेवाले पुलोम और कालके वंशी दानव निवास करते थे ॥ २ ॥

गोपुराट्टालकोपेतं चतुर्द्वारं दुरासदम् ।
सर्वरत्नमयं दिव्यमद्भुतोपमदर्शनम् ।
द्रुमैः पुष्पफलोपेतैर्दिव्यरत्नमयैर्वृतम् ॥ ३ ॥

उस नगरके चार द्वार थे, परन्तु चारों ही बडे दुःखसे जाने योग्य थे । उसकी अटारी और महल बहुत सुन्दर थे । वह नगर रत्नोंसे जडा हुआ दिव्य और विचित्र दिखाई देता था । उसके चारों ओर फूले और रत्नोंसे जडे वृक्ष विराजमान थे ॥ ३ ॥

तथा पतत्रिभिर्दिव्यैरुपेतं सुमनोहरैः ।
असुरैर्नित्यमुदितैः शूलर्ष्टिमुसलायुधैः ।
चापमुद्गरहस्तैश्च स्रग्विभिः सर्वतो वृतम् ॥ ४ ॥

उन वृक्षोंपर मनोहर और दिव्य पक्षी बोल रहे थे । उस नगरके चारों ओर अनेक राक्षस प्रसन्नतासहित शूल खड्ग और मूल धनुष और मुग्दर लिये माला धारण किये घूम रहे थे ॥ ४ ॥

तदहं प्रेक्ष्य दैत्यानां पुरमद्भुतदर्शनम् ।
अपृच्छं मातलिं राजन्किमिदं दृश्यतेति वै ॥ ५ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! मैंने उस विचित्र दैत्यनगरको देखकर मातलिसे पूछा कि– यह किसका नगर है ? ॥ ५ ॥

मातलिरुवाच

पुलोमा नाम दैतेयी कालका च महासुरी ।
दिव्यं वर्षसहस्रं ते चेरतुः परमं तपः ।
तपसोऽन्ते ततस्ताभ्यां स्वयंभूरददाद्वरम् ॥ ६ ॥

मातलि बोले– पुलोमा और कालका नामकी दो असुर स्त्रियां हुई थीं, उन्होंने एक हजार दिव्य वर्षतक घोर तप किया । जब उनका तप समाप्त हुआ, तब ब्रह्मा उन्हें वर देनेको आये ॥ ६ ॥

अगृह्णीतां वरं ते तु सुतानामल्पदुःखताम् ।
अवध्यतां च राजेन्द्र सुरराक्षसपन्नगैः ॥ ७ ॥

हे राजेन्द्र ! उन्होंने यह वरदान मांगा, कि हमारे पुत्रोंको दुःख न हो, हमको देवता, राक्षस और सर्प न मार सकें ॥ ७ ॥

रमणीयं पुरं चेदं खचरं सुकृतप्रभम् ।
सर्वरत्नैः समुदितं दुर्धर्षममरैरपि ।
सयक्षगन्धर्वगणैः पन्नगासुरराक्षसैः ॥ ८ ॥

और हमारा महातेजस्वी रमणीय नगर आकाशमें घूमा करे। हमारे रत्नोंसे पूर्ण इस नगरको देवता, यक्ष, गन्धर्व, सांप, असुर और राक्षस भी न जीत सकें ॥ ८ ॥

सर्वकामगुणोपेतं वीतशोकमनामयम् ।
ब्रह्मणा भरतश्रेष्ठ कालकेयकृते कृतम् ॥ ९ ॥

तब ब्रह्माने कालकेय दानवोंके निमित्त उस नगरको सब उपभोगके पदार्थोंसे युक्त, सब गुणोंसे युक्त और दुःख तथा रोगोंसे रहित बनाया ॥ ९ ॥

तदेतत्खचरं दिव्यं चरत्यमरवर्जितम् ।
पौलोमाध्युषितं वीर कालकेयैश्च दानवैः ॥ १० ॥

हे वीर ! वहीं यह नगर आकाशमें देवोंसे रहित होकर खाली घूमता है । इसमें पुलोम वंशी और कालकेय वंशी दानव रहते हैं ॥ १० ॥

हिरण्यपुरमित्येतत्ख्यायते नगरं महत् ।
रक्षितं कालकेयैश्च पौलोमैश्च महासुरैः ॥ ११ ॥

इस नगरकी रक्षा पुलोमवंशी और कालकेय वंशी दानव करते हैं । इस महान् नगरका नाम हिरण्यपुर जगत्में प्रसिद्ध है ॥ ११ ॥

त एते मुदिता नित्यमवध्याः सर्वदैवतैः ।
निवसन्त्यत्र राजेन्द्र गतोद्वेगा निरुत्सुकाः ।
मानुषो मृत्युरेतेषां निर्दिष्टो ब्रह्मणा पुरा ॥ १२ ॥

हे राजेन्द्र ! यह दानव इस नगरमें निर्भय और मृत्युके डरसे रहित तथा देवोंसे अवध्य होकर प्रसन्नतासे रहते हैं । ब्रह्माने वर देते समय कह दिया था, कि इन दानवोंकी मनुष्योंके द्वारा मृत्यु होगी ॥ १२ ॥

अर्जुन उवाच

सुरासुरैरवध्यांस्तानहं ज्ञात्वा ततः प्रभो ।
अब्रुवं मातलिं हृष्टो याह्येतत्पुरमञ्जसा ॥ १३ ॥

अर्जुन बोले– हे प्रभो ! तब मैंने उन दानवोंको देवता और राक्षसोंके द्वारा मारे जानेके अयोग्य जानकर आनंदित होकर मातलिसे कहा, हे सूत ! शीघ्र ही इस नगरमें चलो ॥ १३ ॥

त्रिदशेशद्विषो यावत्क्षयमस्त्रैर्नयाम्यहम्।
न कथंचिद्धि मे पापा न वध्या ये सुरद्विषः ॥ १४ ॥
जितने इन्द्रके शत्रु हैं, उनको मैं शस्त्रसे मारूंगा। जो देवोंके शत्रु हैं, वे पापी राक्षस मुझसे अवध्य नहीं होंगे ॥ १४ ॥

उवाह मां ततः शीघ्रं हिरण्यपुरमन्तिकात्।
रथेन तेन दिव्येन हरियुक्तेन मातलिः ॥ १५ ॥
तब मातलि मुझे उत्तम घोडोंसे युक्त दिव्य रथके शीघ्रताके साथ हिरण्यपुरके पास ले गये ॥ १५ ॥

ते मामालक्ष्य दैतेया विचित्राभरणाम्बराः।
समुत्पेतुर्महावेगा रथानास्थाय दंशिताः ॥ १६ ॥
वह महावेगवान् दानव मुझको देखकर विचित्र आभूषण और वस्त्र पहिनकर रथोंपर चढ कर मेरे सम्मुख लडनेके लिए तैय्यार होकर आ गए ॥ १६ ॥

ततो नालीकनाराचैर्भल्लशक्त्यृष्टितोमरैः।
अभ्यघ्नन्दानवेन्द्रा मां क्रुद्धास्तीव्रपराक्रमाः ॥ १७ ॥
तब भयंकर पराक्रमी वे दानव क्रुद्ध होकर सर्पके समान बाण, भाले, बरछी, तोमर आदि शस्त्रोंसे मुझे मारने लगे ॥ १७ ॥

तदहं चास्त्रवर्षेण महता प्रत्यवारयम्।
शस्त्रवर्षं महद्राजन्विद्याबलमुपाश्रितः ॥ १८ ॥
हे महाराज ! तब मैं भी अस्त्रविद्याके बलका सहारा लेकर अपने अस्त्रोंकी वर्षासे उन दानवोंके शस्त्रोंकी वर्षाको रोकने लगा ॥ १८ ॥

व्यामोहयं च तान्सर्वान्रथमार्गैश्चरन्रणे।
तेऽन्योन्यमभिसंमूढाः पातयन्ति स्म दानवाः ॥ १९ ॥
मैंने रथकी चाल और बाणोंकी वर्षासे दानवोंको ऐसा मोहित किया, कि वे आपसमें ही लडने और एक दूसरेको गिराने लगे ॥ १९ ॥

तेषामहं विमूढानामन्योन्यमभिधावताम्।
शिरांसि विशिखैर्दीप्तैर्व्यहरं शतसंघशः ॥ २० ॥
उन मोहित हुए तथा एक दूसरोंको मारनेवाले दानवोंके सिर मेरे सैकडों तीखे बाणोंसे कट कटकर गिरने लगे ॥ २० ॥

ते वध्यमाना दैतेयाः पुरमास्थाय तत्पुनः ।
खमुत्पेतुः सनगरा मायामास्थाय दानवीम् ॥ २१ ॥

जब उन दैत्योंको मैंने मारना शुरु किया, तब वे फिर अपने नगरमें जाकर प्रविष्ट हो गए और अपनी दानवी मायाका विस्तार करके वे उस नगरके साथ आकाशमें उड गए ॥ २१ ॥

ततोऽहं शरवर्षेण महता प्रत्यवारयम् ।
मार्गमावृत्य दैत्यानां गतिं चैषामवारयम् ॥ २२ ॥

तब मैंने बाणोंकी वर्षासे उनके मार्गको रोक दिया और इस प्रकार उडनेवाले नगरकी गतिको भी रोक दिया ॥ २२ ॥

तत्पुरं खचरं दिव्यं कामगं दिव्यवर्चसम् ।
दैतेयैर्वरदानेन धार्यते स्म यथासुखम् ॥ २३ ॥

आकाशमें उडनेवाला, दिव्य, इच्छानुसार सर्वत्र जानेवाला दिव्य तेजस्वी वह नगर वरदानके प्रतापसे दानवोंकी इच्छानुसार पृथ्वीमें या आकाशमें सुखसे रहता था ॥ २३ ॥

अन्तर्भूमौ निपतितं पुनरूर्ध्वं प्रतिष्ठते ।
पुनस्तिर्यक्प्रयात्याशु पुनरप्सु निमज्जति ॥ २४ ॥

वह कभी भूमिपर स्थिर हो जाता था, तो कभी आकाशमें उड जाता था, तो कभी तिरछा उडने लगता था, तो कभी कभी जलमें डूब जाता था ॥ २४ ॥

अमरावतिसंकाशं पुरं कामगमं तु तत् ।
अहमस्त्रैर्बहुविधैः प्रत्यगृह्णं नराधिप ॥ २५ ॥

वह नगर अमरावतीके समान इच्छाचारी था । हे राजन् ! उसे मैंने अनेक तरहके अस्त्रोंकी वर्षासे रोक लिया ॥ २५ ॥

ततोऽहं शरजालेन दिव्यास्त्रमुदितेन च ।
न्यगृह्णं सह दैतेयैस्तत्पुरं भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! दैत्यसहित उस नगरको दिव्यास्त्रोंसे प्रेरित बाणोंके जालसे घेर लिया ॥ २६ ॥

विक्षतं चायसैर्बाणैर्मत्प्रयुक्तैरजिह्मगैः ।
महीमभ्यपतद्राजन्प्रभग्नं पुरमासुरम् ॥ २७ ॥

मेरे द्वारा छोडे गए सीधे जानेवाले लोहेके बाणोंसे वह नगर टूट फूट गया, और हे राजन् ! असुरोंका वह नगर टूट कर पृथ्वीपर गिर पडा ॥ २७ ॥

ते वध्यमाना मद्बाणैर्वज्रवेगैरयस्मयैः ।
पर्यभ्रमन्त वै राजन्नसुराः कालचोदिताः ॥ २८ ॥

हे राजन् ! कालसे प्रेरित वे राक्षस भी वज्रके समान वेगवान्, लोहके बने मेरे बाणोंसे मारे जाते हुए वे दैत्य भ्रान्त हो गए ॥ २८ ॥

ततो मातलिरप्याशु पुरस्तान्निपतन्निव ।
महीमवातरत्क्षिप्रं रथेनादित्यवर्चसा ॥ २९ ॥

इसके बाद सूर्यके समान तेजस्वी रथसे मातलि भी उन दैत्योंके सामने इतनी तेजीसे उतरे कि मानों वे गिर ही रहे हों ॥ २९ ॥

ततो रथसहस्राणि षष्टिस्तेषाममर्षिणाम् ।
युयुत्सूनां मया सार्धं पर्यवर्तन्त भारत ॥ ३० ॥

मैंने पृथ्वीपर आकर उन युद्ध करनेवाले दानवोंके साठ हजार रथ देखे, वे सब मुझसे लडनेके लिए खडे थे। उन्होंने मुझे चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३० ॥

तानहं निशितैर्बाणैर्व्यधमं गार्ध्रवाजितैः ।
ते युद्धे संन्यवर्तन्त समुद्रस्य यथोर्मयः ॥ ३१ ॥

मैंने ऐसे तीक्ष्ण बाणोंसे, जिनमें पक्षियोंके पङ्ख लगे थे, दानवोंको अच्छादित कर लिया। वह लोग युद्धमें ऐसे उमडे आ रहे थे जैसे समुद्रकी तरङ्गें उमडती हैं ॥ ३१ ॥

नेमे शक्या मानुषेण युद्धेनेति प्रचिन्त्य वै ।
ततोऽहमानुपूर्व्येण सर्वाण्यस्त्राण्ययोजयम् ॥ ३२ ॥

मैंने यह सोचा कि, यह लोग मानुष अस्त्रोंसे युद्धमें जीतने योग्य नहीं हैं, तब दिव्य अस्त्रोंको क्रमसे चलाना आरम्भ किया ॥ ३२ ॥

ततस्तानि सहस्राणि रथानां चित्रयोधिनाम् ।
अस्त्राणि मम दिव्यानि प्रत्यघ्नञ्शनकैरिव ॥ ३३ ॥

तब मेरे दिव्य अस्त्रोंने अनेक तरह से युद्ध करनेवाले उन हजारों रथियोंको धीरे धीरे मार डाला ॥ ३३ ॥

रथमार्गान्विचित्रांस्ते विचरन्तो महारथाः ।
प्रत्यदृश्यन्त संग्रामे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३४ ॥

तब नाना प्रकारकी रथकी गतिसे संचार करनेवाले वे महारथी राक्षस युद्धमें सैंकडों और सहस्रोंकी संख्याओंमें दिखाई देने लगे ॥ ३४ ॥

विचित्रमुकुटापीडा विचित्रकवचध्वजाः ।
विचित्राभरणाश्चैव नन्दयन्तीव मे मनः ॥ ३५ ॥

उनके विचित्र मुकुट, कवच, ध्वज और आभूषण देखकर मेरा मन प्रसन्न हुआ ॥ ३५ ॥

अहं तु शरवर्षैस्तानस्त्रप्रमुदितै रणे ।
नाशक्नुवं पीडयितुं ते तु मां पर्यपीडयन् ॥ ३६ ॥

युद्धमें अनेकों अस्त्रोंकी सहायतासे बाणोंकी वर्षा करके भी मैं उन दानवोंको पीडित करनेमें समर्थ नहीं हुआ, इसके विपरीत उन्होंने ही मुझे पीडित कर दिया ॥ ३६ ॥

तैः पीडयमानो बहुभिः कृतास्त्रैः कुशलैर्युधि ।
व्यथितोऽस्मि महायुद्धे भयं चागान्महन्मम ॥ ३७ ॥

तब युद्धमें कुशल और अस्त्रोंमें निपुण उन दानवोंसे पीडित होकर दुःखी हो गया और उस महायुद्धमें मुझे बडा भय हो गया ॥ ३७ ॥

ततोऽहं देवदेवाय रुद्राय प्रणतो रणे ।
स्वस्ति भूतेभ्य इत्युक्त्वा महास्त्रं समयोजयम् ।
यत्तद्रौद्रमिति ख्यातं सर्वामित्रविनाशनम् ॥ ३८ ॥

तब मैं चित्तसे युद्धमें ही देवोंके भी देव रुद्रकी शरण गया, जगत्का कल्याण हो, ऐसा कह कर मैंने एक महान् अस्त्रको धनुषपर चढाया । रुद्रास्त्रके नामसे प्रसिद्ध वह सभी शत्रुओंका विनाश करनेवाला था ॥ ३८ ॥

ततोऽपश्यं त्रिशिरसं पुरुषं नवलोचनम् ।
त्रिमुखं षड्भुजं दीप्तमर्कज्वलनमूर्धजम् ।
लेलिहानैर्महानागैः कृतशीर्षममित्रहन् ॥ ३९ ॥

हे शत्रुनाशी युधिष्ठिर ! तब मैंने एक ऐसे पुरुषको देखा कि जिसके तीन सिर, नौ आंखें, तीन मुख, छै भुजायें, सिरके बाल प्रदीप्त अग्नि तथा सूर्यके समान तेजस्वी तथा लपलपाती जीभोंवाले महानाग थे ॥ ३९ ॥

विभीस्ततस्तदस्त्रं तु घोरं रौद्रं सनातनम् ।
दृष्ट्वा गाण्डीवसंयोगमानीय भरतर्षभ ॥ ४० ॥
नमस्कृत्वा त्रिनेत्राय शर्वायामिततेजसे ।
मुक्तवान्दानवेन्द्राणां पराभावाय भारत ॥ ४१ ॥

मैं उस घोर और सनातन अस्त्रको देखकर भयरहित हो गया । हे भरत श्रेष्ठ ! गांडीवके साथ जोडा फिर अत्यन्त तेजस्वी, त्रिनेत्रधारी महादेवको नमस्कार करके हे भारत ! राक्षस श्रेष्ठोंका पराभव करनेकी इच्छासे दानवेन्द्रोंके ऊपर अस्त्र वह छोडा ॥ ४०-४१ ॥

मुक्तमात्रे ततस्तस्मिन्रूपाण्यासन्सहस्रशः ।
मृगाणामथ सिंहानां व्याघ्राणां च विशां पते ।
ऋक्षाणां महिषाणां च पन्नगानां तथा गवाम् ॥ ४२ ॥

हे भारत ! उस अस्त्रके छोडते ही हजारों रूप प्रगट हो गये । हे पृथ्वीनाथ ! उस समय युद्धमें हिरन, सिंह, व्याघ्र, रीछ, भैंस, सांप, गौ, ॥ ४२ ॥

गजानां सृमराणां च शरभाणां च सर्वशः।
ऋषभाणां वराहाणां मार्जाराणां तथैव च।
शालावृकाणां प्रेतानां भुरुण्डानां च सर्वशः ॥ ४३ ॥

शार्दूल, हाथी, झुण्डके झुण्ड, बन्दर, ऋषभ, सूअर, बिल्ली, ऊदबिलाव, प्रेत, भूत ॥४३॥

गृध्राणां गरुडानां च मकराणां तथैव च।
पिशाचानां सयक्षाणां तथैव च सुरद्विषाम् ॥ ४४ ॥

गिद्ध, गरुड, मकर, पिशाच, यक्ष, असुर, ॥ ४४ ॥

गुह्यकानां च संग्रामे नैर्ऋतानां तथैव च।
झषाणां गजवक्त्राणामुलूकानां तथैव च ॥ ४५ ॥

गुह्यक, तथा नैर्ऋत हाथीके समान मुंहवाली मछली, उल्लू, ॥ ४५ ॥

मीनकूर्मसमूहानां नानाशस्त्रासिपाणिनाम्।
तथैव यातुधानानां गदामुद्गरधारिणाम् ॥ ४६ ॥

मछली कछुआ अनेक शस्त्र धारण किये, धनुष,गदा, मुग्दरधारी राक्षस ॥ ४६ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्नानारूपधरैस्तथा।
सर्वमासीज्जगद्व्याप्तं तस्मिन्नस्त्रे विसर्जिते ॥ ४७ ॥

तथा और भी अनेक रूप धारण किये प्राणी उस अस्त्रको छोडते ही प्रकट हुए। उन सबसे जगत् व्याप्त हो गया ॥ ४७ ॥

त्रिशिरोभिश्चतुर्दंष्ट्रैश्चतुरास्यैश्चतुर्भुजैः।
अनेकरूपसंयुक्तैर्मांसमेदोवसास्थिभिः।
अभीक्ष्णं वध्यमानास्ते दानवा ये समागताः ॥ ४८ ॥

उसी समय तीन सिर, चार दांत, चार मुंह और चार हाथवाले, अनेक रूपवाले, मांस, मेदा और अस्थियोंसे युक्त प्राणियोंसे वधको प्राप्त होकर बहुत राक्षस नष्ट होने लगे ॥४८॥

अर्कज्वलनतेजोभिर्वज्राशनिसमप्रभैः।
अद्रिसारमयैश्चान्यैर्बाणैररिविदारणैः।
न्यहनं दानवान्सर्वान्मुहूर्तेनैव भारत ॥ ४९ ॥

उसी समय सूर्य और अग्निके तेजोंसे युक्त, वज्र और बिजलीके समान कान्तिवाले मेरे बाण चलने लगे। मैंने पर्वतके समान कठोर तथा शत्रुओंका संहार करनेवाले बाणोंसे क्षणभरमें सब दानवोंको मार डाला ॥ ४९ ॥

गाण्डीवास्त्रप्रणुन्नांस्तान्गतासून्नभसश्च्युतान् ।
दृष्ट्वाहं प्राणमं भूयस्त्रिपुरघ्नाय वेधसे ॥ ५० ॥

हे भारत! तब मैंने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंसे मरे हुए तथा आकाशसे गिरे हुए राक्षसोंको देखकर त्रिपुरासुरको मारनेवाले शिवजीको प्रणाम किया ॥ ५० ॥

तथा रौद्रास्त्रनिष्पिष्टान्दिव्याभरणभूषितान् ।
निशाम्य परमं हर्षमगमद्देवसारथिः ॥ ५१ ॥

मैं शिवजीके बाणोंसे मरे हुए दिव्य भूषणोंसे भूषित राक्षसोंको देखकर आनन्दित हुआ। इन्द्रके सारथी मातलि इन बातोंको देखकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ ५१ ॥

तदसह्यं कृतं कर्म देवैरपि दुरासदम् ।
दृष्ट्वा मां पूजयामास मातलिः शक्रसारथिः ॥ ५२ ॥

देवोंसे भी दुःसाध्य कर्म करते देख इन्द्रके सारथी मातलिने मेरी बहुत प्रशंसा की ॥५२॥

उवाच चेदं वचनं प्रीयमाणः कृताञ्जलिः ।
सुरासुरैरसह्यं हि कर्म यत्साधितं त्वया ।
न ह्येतत्संयुगे कर्तुमपि शक्तः सुरेश्वरः ॥ ५३ ॥

और बहुत प्रसन्न होकर हाथ जोडकर यह वचन कहा— हे अर्जुन ! तुमने जो कर्म किया, उसको देवता और राक्षस भी नहीं कर सकते थे। इस कर्मको युद्धमें साक्षात् देवोंके राजा इन्द्र भी नहीं कर सकते थे ॥ ५३ ॥

सुरासुरैरवध्यं हि पुरमेतत्खगं महत् ।
त्वया विमथितं वीर स्ववीर्यास्त्रतपोबलात् ॥ ५४ ॥

यह आकाशमें चलनेवाला यह महान् नगर देवों और राक्षसोंसे भी अवध्य था। हे वीर! तुमने इस कामको अपने पराक्रम और अस्त्रोंके तेजसे किया है ॥ ५४ ॥

विध्वस्तेऽथ पुरे तस्मिन्दानवेषु हतेषु च ।
विनदन्त्यः स्त्रियः सर्वा निष्पेतुर्नगराद्बहिः ॥ ५५ ॥

उन दानवोंके मारने और नगरके नष्ट होनेपर अनेक स्त्रियां रोती हुई नगरसे बाहर निकलीं ॥ ५५ ॥

प्रकीर्णकेश्यो व्यथिताः कुरर्य इव दुःखिताः ।
पेतुः पुत्रान्पितॄन्भ्रातॄञ्शोचमाना महीतले ॥ ५६ ॥

वे बाल खोले, दुःखसे भरी हुई कुररीके समान रोती हुई वे स्त्रियां नगरके बाहर निकलीं। कोई पतिके लिये कोई पुत्रके लिए, कोई भाईके लिए रोती रोती पृथ्वीपर लोटने लगीं ॥५६॥

रुदन्त्यो दीनकण्ठयस्ता विनदन्त्यो हतेश्वराः ।
उरांसि परिभिघ्नन्त्यः प्रस्रस्तस्रग्विभूषणाः ॥ ५७ ॥

जिनके स्वामी मार दिये गए हैं ऐसी वे स्त्रियां अपनी छातियोंको पीट पीटकर करुण स्वरसे रोने और विलाप करने लगीं ॥ ५७ ॥

तच्छोकयुक्तमश्रीकं दुःखदैन्यसमाहतम् ।
न बभौ दानवपुरं हतत्विट्कं हतेश्वरम् ॥ ५८ ॥

उस समय वह नगर तेज और दानवोंसे रहित होकर शोक और अलक्ष्मीसे भर गया; इसलिए वह दुःख और दीनतासे युक्त हो गया॥ ५८ ॥

गन्धर्वनगराकारं हतनागमिव ह्रदम् ।
शुष्कवृक्षमिवारण्यमदृश्यमभवत्पुरम् ॥ ५९ ॥

उस नगरका अस्तित्व गन्धर्वनगरके समान मिथ्यासा हो गया जैसे हाथीके विना तालाब और जैसे सूखे वृक्षोंवाला वन शोभित नहीं होता है, वैसेही वह नगर दिखने लगा ॥५९॥

मां तु संहृष्टमनसं क्षिप्रं मातलिरानयत् ।
देवराजस्य भवनं कृतकर्माणमाहवात् ॥ ६० ॥

तदनन्तर सब कामोंको समाप्त करनेके बाद मुझको प्रसन्नचित्त देखकर मातालिने शीघ्र ही युद्धभूमिसे इन्द्रके घर पहुंचा दिया ॥ ६० ॥

हिरण्यपुरमारुज्य निहत्य च महासुरान् ।
निवातकवचांश्चैव ततोऽहं शक्रमागमम् ॥ ६१ ॥

मैं हिरण्यपुरके सब राक्षसोंको मार निवात-कवचोंका नाशकर इन्द्रके पास गया ॥ ६१ ॥

मम कर्म च देवेन्द्रं मातलिर्विस्तरेण तत् ।
सर्वं विश्रावयामास यथाभूतं महाद्युते ॥ ६२ ॥

हे महातेजस्विन् युधिष्ठिर ! जो कुछ हुआ था, उसे और मेरे कर्मको मातालिने इन्द्रको विस्तारपूर्वक कहा ॥ ६२ ॥

हिरण्यपुरघातं च मायानां च निवारणम् ।
निवातकवचानां च वधं संख्ये महौजसाम् ॥ ६३ ॥

हे महातेजास्विन् ! मैंने जैसे हिरण्यपुरका नाश किया था, जैसे मायाको निवारण किया था और जैसे युद्धमें महातेजस्वी निवात कवचोंको मारा था वह सब कथा मातालिने इन्द्रसे कही ॥ ६३ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवान्प्रीतः सहस्राक्षः पुरंदरः ।
मरुद्भिः सहितः श्रीमान्साधु साध्वित्यथाब्रवीत् ॥ ६४ ॥

इस कथाको सुनकर सहस्र नेत्रवाले भगवान् इन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और मरुत-गणोंके सहित श्रीमान् इन्द्र "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा" कहकर मेरी बहुत प्रशंसा करने लगे ॥ ६४ ॥

ततो मां देवराजो वै समाश्वास्य पुनः पुनः ।
अब्रवीद्विबुधैः सार्धमिदं सुमधुरं वचः ॥ ६५ ॥

तदनन्तर देवराज इन्द्रने मुझे बार बार आश्वासन देकर देवोंके सामने मुझे प्रसन्न करके ये मीठे वचन कहे– ॥ ६५ ॥

अतिदेवासुरं कर्म कृतमेतत्त्वया रणे ।
गुर्वर्थश्च महान्पार्थ कृतः शत्रून्घ्नता मम ॥ ६६ ॥

हे शत्रुनाशन ! जो कर्म तुमने किया इसको देवता और असुर भी नहीं कर सकते थे; हे धनञ्जय ! मेरे महान् शत्रुओंका तुमने जो नाश किया है, इससे तुम्हारे गुरुका मनोरथ पूर्ण हुआ है ॥ ६६ ॥

एवमेव सदा भाव्यं स्थिरेणाजौ धनंजय ।
असंमूढेन चास्त्राणां कर्तव्यं प्रतिपादनम् ॥ ६७ ॥

हे धनंजय ! अब युद्धमें स्थिर होकर सदा ऐसे ही कर्म करना । तुम सावधान होकर युद्धमें सब शस्त्रोंको चलाना ॥ ६७ ॥

अविषह्यो रणे हि त्वं देवदानवराक्षसैः ।
सयक्षासुरगन्धर्वैः सपक्षिगणपन्नगैः ॥ ६८ ॥

क्योंकि तुमसे देवता, दानव, राक्षस, यक्ष, असुर, पक्षी और सर्पादि कोई भी नहीं लड सकता ॥ ६८ ॥

वसुधां चापि कौन्तेय त्वद्बाहुबलनिर्जिताम् ।
पालयिष्यति धर्मात्मा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ६९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥ ५८९८ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! तुम्हारे बाहु बलसे जीती हुई पृथ्वीका महाराज धर्मात्मा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर पालन करेंगे ॥ ६९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ सत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७० ॥ ५८९८ ॥

: १७१ :

अर्जुन उवाच

तलो मामभिविश्वस्तं संरूढशरविक्षतम्।
देवराजोऽनुगृह्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले– जब इन्द्रको यह विश्वास हो गया, कि ये शत्रुओंको जीत सकेंगे, और जब उन्होंने मेरे शरीरमें बाणोंके घाव देखे, तो एक दिन देवराज इन्द्र मुझसे बोले ॥ १ ॥

दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि त्वयि तिष्ठन्ति भारत।
न त्वाभिभवितुं शक्तो मानुषो भुवि कश्चन ॥ २ ॥

हे भारत! अब तुमने सब दिव्य अस्त्रोंको सीख लिया, अब पृथ्वीपर कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो तुमको किसी प्रकारसे भी जीत सके ॥ २ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णः शकुनिः सह राजभिः।
संग्रामस्थस्य ते पुत्र कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ३ ॥

हे पुत्र! भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण और शकुनी सब राजाओंको साथमें लेकर भी युद्ध करें तो भी तुम्हारे सोलहवें भागके समान नहीं होंगे ॥ ३ ॥

इदं च मे तनुत्राणं प्रायच्छन्मघवान्प्रभुः।
अभेद्यं कवचं दिव्यं स्रजं चैव हिरण्मयीम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर भगवान् इन्द्रने मुझे यह अभेद्य कवच, सोनेकी दिव्य माला दी ॥ ४ ॥

देवदत्तं च मे शङ्खं देवः प्रादान्महारवम्।
दिव्यं चेदं किरीटं मे स्वयमिन्द्रो युयोज ह ॥ ५ ॥

देवराज इन्द्रने बहुत शब्दवाला देवदत्त शंख दिया, फिर इन्द्रने अपने हाथसे यह किरीट मेरे सिरपर बांधा ॥ ५ ॥

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च।
प्रादाच्छक्रो ममैतानि रुचिराणि बृहन्ति च ॥ ६ ॥

इसके बाद इन्द्रने मुझे ये सुन्दर, बडे और दिव्य आभूषण दिए तथा दिव्य अस्त्र भी प्रदान किये ॥ ६ ॥

एवं संपूजितस्तत्र सुखमस्म्युषितो नृप।
इन्द्रस्य भवने पुण्ये गंधर्वशिशुभिः सह ॥ ७ ॥

हे महाराज! मैं इस प्रकार पूजित होकर इन्द्रके पवित्र घरमें गन्धर्व-पुत्रोंके साथ सुखपूर्वक रहा ॥ ७ ॥

ततो मामब्रवीच्छक्रः प्रीतिमानमरैः सह ।
समयोऽर्जुन गन्तुं ते भ्रातरो हि स्मरन्ति ते ॥ ८ ॥

एक दिन देवताओंके सहित बैठे हुए इन्द्रने प्रसन्न होकर मुझसे कहा, कि हे अर्जुन ! अब तुम्हारे जानेका समय हो गया है, अब तुम्हारे भाई तुमको स्मरण करते होंगे ॥ ८ ॥

एवमिन्द्रस्य भवने पञ्च वर्षाणि भारत ।
उषितानि मया राजन्स्मरता द्यूतजं कलिम् ॥ ९ ॥

हे भरतवंशी महाराज ! मैं इस प्रकार जूएके कलहका स्मरण करता हुआ पांच वर्षतक इन्द्रके घरमें रहा ॥ ९ ॥

ततो भवन्तमद्राक्षं भ्रातृभिः परिवारितम् ।
गन्धमादनमासाद्य पर्वतस्यास्य मूर्धनि ॥ १० ॥

फिर इस गन्धमादन पर्वतपर आकर शिखरपर भाइयोंके सहित बैठे हुए आपका दर्शन किया ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या धनंजयास्त्राणि त्वया प्राप्तानि भारत ।
दिष्ट्या चाराधितो राजा देवानामीश्वरः प्रभुः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे धनञ्जय ! तुमने प्रारब्धसे सब शस्त्रोंको प्राप्त किया । प्रारब्धसे देवोंके राजा भगवान् इन्द्रको प्रसन्न किया ॥ ११ ॥

दिष्ट्या च भगवान्स्थाणुर्देव्या सह परंतप ।
साक्षाद्दृष्टः सुयुद्धेन तोषितश्च त्वयानघ ॥ १२ ॥

हे शत्रुनाशक पापरहित अर्जुन ! तुमने प्रारब्धसे पार्वती सहित शिवको अपने युद्धसे प्रसन्न किया ॥ १२ ॥

दिष्ट्या च लोकपालैस्त्वं समेतो भरतर्षभ ।
दिष्ट्या वर्धामहे सर्वे दिष्ट्यासि पुनरागतः ॥ १३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! तुमको प्रारब्धसे लोक-पालोंके दर्शन हुए । प्रारब्धसे हमारी उन्नति हो रही है और प्रारब्धहीसे तुम लौटकर आये हो ॥ १३ ॥

अद्य कृत्स्नामिमां देवीं विजितां पुरमालिनीम् ।
मन्ये च धृतराष्ट्रस्य पुत्रानपि वशीकृतान् ॥ १४ ॥

अब मैं सब नगरोंके सहित पृथ्वीको जीती हुई और धृतराष्ट्रके पुत्रोंको अपने वशमें समझता हूं ॥ १४ ॥

तानि त्विच्छामि ते द्रष्टुं दिव्यान्यस्त्राणि भारत।
यैस्तथा वीर्यवन्तस्ते निवातकवचा हताः ॥ १५ ॥

हे भारत! अब मैं उन दिव्य अस्त्रोंको देखना चाहता हूं, जिनसे तुमने बलवान् निवातकवच दानवोंको मारा था ॥ १५ ॥

अर्जुन उवाच

श्वः प्रभाते भवान्द्रष्टा दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः।
निवातकवचा घोरा यैर्मया विनिपातिताः ॥ १६ ॥

अर्जुन बोले– हे महाराज! मैं प्रातःकाल आपको उन सब अस्त्रोंको दिखाऊंगा, जिनसे मैंने घोर निवातकवचोंको मारा था ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमागमनं तत्र कथयित्वा धनंजयः।
भ्रातृभिः सहितः सर्वै रजनीं तामुवास ह ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥ ५९१५ ॥

वैशम्पायन बोले– अर्जुन इस प्रकार अपने आनेकी सब कथा कहकर भाइयोंके सहित उस रात वहीं रहे ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ इकहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७१ ॥ ५९१५ ॥

: १७२ :

वैशम्पायन उवाच

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां धर्मराजो युधिष्ठिरः।
उत्थायावश्यकार्याणि कृतवान्भ्रातृभिः सह ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन्! जनमेजय! उस रातके बीतनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने अपने भाइयोंके सहित उठकर अपने नित्यके आवश्यक कर्म किये ॥ १ ॥

ततः संचोदयामास सोऽर्जुनं भ्रातृनन्दनम्।
दर्शयास्त्राणि कौन्तेय यैर्जिता दानवास्त्वया ॥ २ ॥

भाइयोंको आनन्द देनेवाले अर्जुनको प्रेरणा दी, हे कुन्तीनन्दन! जिन अस्त्रोंसे तुमने दानवोंको मारा है, उन सबको हमें दिखाओ ॥ २ ॥

ततो धनंजयो राजन्देवैर्दत्तानि पाण्डवः ।
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शयामास भारत ॥ ३ ॥

हे भारत राजन् ! तब पाण्डुनन्दन अर्जुन देवताओंके दिये हुए सब दिव्य अस्त्र महाराजको दिखाने लगे ॥ ३ ॥

यथान्यायं महातेजाः शौचं परममास्थितः ।
गिरिकूबरं पादपाङ्गं शुभवेणु त्रिवेणुकम् ।
पार्थिवं रथमास्थाय शोभमानो धनंजयः ॥ ४ ॥

यथायोग्य पवित्र होकर अर्जुन सुन्दर पर्वत ही जिसका कूबर है, पेड़ ही जिसके चक्र है और बांस आदि ही जिसके त्रिवेणु हैं, ऐसे पृथ्वीरूपी रथपर चढकर धनंजय सुशोभित हुए ॥ ४ ॥

ततः सुदंशितस्तेन कवचेन सुवर्चसा ।
धनुरादाय गाण्डीवं देवदत्तं च वारिजम् ॥ ५ ॥
शोशुभ्यमानः कौन्तेय आनुपूर्व्यान्महाभुजः ।
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शनायोपचक्रमे ॥ ६ ॥

तदनन्तर कुन्तीनन्दन महाबाहु अर्जुन उस तेजस्वी कवचको पहनकर तैय्यार होकर गाण्डीव धनुष और देवदत्त शंखको क्रमश धारण करके विराजमान् हुए; फिर क्रमसे दिव्य अस्त्रोंको दिखानेके लिए उद्यत हुए ॥ ५–६ ॥

अथ प्रयोक्ष्यमाणेन दिव्यान्यस्त्राणि तेन वै ।
समाक्रान्ता मही पद्भ्यां समकम्पत सद्रुमा ॥ ७ ॥

जिस समय अर्जुनने उन अस्त्रोंका प्रयोग किया और पैरोंसे दबी हुई पृथ्वी वृक्षोंके सहित कांप उठी ॥ ७ ॥

क्षुभिताः सरितश्चैव तथैव च महोदधिः ।
शैलाश्चापि व्यशीर्यन्त न ववौ च समीरणः ॥ ८ ॥

समुद्र और नदी उमडने लगीं, पर्वत फटने लगे, वायुका चलना भी बन्द हो गया ॥ ८ ॥

न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः ।
न वेदाः प्रतिभान्ति स्म द्विजातीनां कथंचन ॥ ९ ॥

सूर्यका चमकना बंद हो गया और अग्निका जलना बन्द हो गया । ब्राह्मणोंके सामने वेद प्रकट होने बंद हो गए ॥ ९ ॥

अन्तर्भूमिगता ये च प्राणिनो जनमेजय।
पीड्यमानाः समुत्थाय पाण्डवं पर्यवारयन् ॥ १० ॥

हे जनमेजय ! जो प्राणी भूमिके अन्दर थे, वे व्याकुल होकर पृथ्वीसे बाहर निकलकर अर्जुनको रोकने लगे ॥ १० ॥

वेपमानाः प्राञ्जलयस्ते सर्वे पिहिताननाः।
दह्यमानास्तदास्त्रैस्तैर्याचन्ति स्म धनंजयम् ॥ ११ ॥

उन दिव्य अस्त्रोंसे जले जाते हुए वे प्राणी अपने मुखोंको ढककर आये और हाथ जोडकर कांपते हुए वे धनंजयसे प्रार्थना करने लगे ॥ ११ ॥

ततो ब्रह्मर्षयश्चैव सिद्धाश्चैव सुरर्षयः।
जङ्गमानि च भूतानि सर्वाण्येवावतस्थिरे ॥ १२ ॥

तब ब्रह्मर्षि, सिद्ध, महर्षि, देवर्षि और सभी चर प्राणी वहां आकर उपस्थित हो गए ॥ १२ ॥

राजर्षयश्च प्रवरास्तथैव च दिवौकसः।
यक्षराक्षसगन्धर्वास्तथैव च पतत्रिणः ॥ १३ ॥

श्रेष्ठ श्रेष्ठ राजर्षि, देवगण, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व तथा पक्षीगण भी आये ॥ १३ ॥

ततः पितामहश्चैव लोकपालाश्च सर्वशः।
भगवांश्च महादेवः सगणोऽभ्याययौ तदा ॥ १४ ॥

उसके पश्चात् सब लोकपालोंके सहित ब्रह्मा और सब गणोंके सहित शिव वहां आये ॥ १४ ॥

ततो वायुर्महाराज दिव्यैर्माल्यैः सुगन्धिभिः।
अभितः पाण्डवांश्चित्रैरवचक्रे समन्ततः ॥ १५ ॥

तदनन्तर हे महाराज जनमेजय ! दिव्य सुगन्धिवाले पुष्पोंसे युक्त वायु अर्जुनके चारों ओर चलने लगा ॥ १५ ॥

जगुश्च गाथा विविधा गन्धर्वाः सुरचोदिताः।
ननृतुः संघशश्चैव राजन्नप्सरसां गणाः ॥ १६ ॥

हे राजन् ! गन्धर्व देवोंकी आज्ञासे अनेक गीत गाने लगे और अप्सराके गण समूह बनाकर नाचने लगे ॥ १६ ॥

तस्मिंस्तु तुमुले काले नारदः सुरचोदितः।
आगम्याह वचः पार्थं श्रवणीयमिदं नृप ॥ १७ ॥

हे राजन् ! उस संकटके समय देवताओंके द्वारा भेजे हुए नारदने आकर अर्जुनसे यह सुनने योग्य वचन कहे ॥ १७ ॥

अर्जुनार्जुन मा युङ्क्ष्व दिव्यान्यस्त्राणि भारत ।
नैतानि निरधिष्ठाने प्रयुज्यन्ते कदाचन ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! इन दिव्य अस्त्रोंको मत चलाओ। हे भारत ! इनको अयोग्य स्थानपर कभी नहीं चलाना चाहिये ॥ १८ ॥

अधिष्ठाने न वानार्तः प्रयुञ्जीत कदाचन ।
प्रयोगे सुमहान्दोषो ह्यस्त्राणां कुरुनन्दन ॥ १९ ॥

और योग्य स्थान पानेपर भी इन्हें विना महादुःख पडे नहीं चलाना चाहिये; हे कुरुनन्दन ! इन अस्त्रोंको चलानेमें महादोष होता है ॥ १९ ॥

एतानि रक्ष्यमाणानि धनंजय यथागमम् ।
बलवन्ति सुखार्हाणि भविष्यन्ति न संशयः ॥ २० ॥

यदि तुम इनको सुरक्षित रखोगे तो समयपर ये बहुत सुख देनेवाले और बलवान् होंगे ॥२०॥

अरक्ष्यमाणान्येतानि त्रैलोक्यस्यापि पाण्डव ।
भवन्ति स्म विनाशाय मैवं भूयः कृथाः क्वचित् ॥ २१ ॥

यदि सुरक्षासे न रक्खोगे तो यह तीनों लोकोंका नाश कर देंगे। अतः तुम फिर कभी ऐसा मत करना ॥ २१ ॥

अजातशत्रो त्वं चैव द्रक्ष्यसे तानि संयुगे ।
योज्यमानानि पार्थेन द्विषतामवमर्दने ॥ २२ ॥

हे युधिष्ठिर ! जब अर्जुन शत्रुओंके मारनेके लिये युद्धमें इन शस्त्रोंको चलावेंगे, तब तुम देख लेना ॥ २२ ॥

निवार्याथ ततः पार्थं सर्वे देवा यथागतम् ।
जग्मुरन्ये च ये तत्र समाजग्मुर्नरर्षभ ॥ २३ ॥

हे नरश्रेष्ठ जनमेजय ! अर्जुनका निवारण कर सब देवता अपने अपने घर चले गये तथा जो दूसरे मुनि वहां आए थे, वे भी चले गए ॥ २३ ॥

तेषु सर्वेषु कौरव्य प्रतियातेषु पाण्डवाः ।
तस्मिन्नेव वने हृष्टास्त ऊषुः सह कृष्णया ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥
समाप्तं यक्षयुद्धपर्व ॥ ५९३९ ॥

देवताओंके जानेके पश्चात् वीर पाण्डव प्रसन्न चित्तसे द्रौपदीके सहित उसी वनमें रहने लगे ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ बहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७२ ॥
यक्षयुद्धपर्व समाप्त ॥ ५९३९ ॥

×

: १७३ :

जनमेजय उवाच

तस्मिन्कृतास्त्रे रथिनां प्रधाने प्रत्यागते भवनाद्वृत्रहन्तुः ।
अतः परं किमकुर्वन्त पार्थाः समेत्य शूरेण धनंजयेन ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे वैशम्पायन ! जब महारथियोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुन इन्द्रके यहांसे शस्त्रोंको सीखकर लौट आये तब पाण्डवोंने उन शूरवीर अर्जुनके साथ मिलकर क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

वनेषु तेष्वेव तु ते नरेन्द्राः सहार्जुनेनेन्द्रसमेन वीराः ।
तस्मिंश्च शैलप्रवरे सुरम्ये धनेश्वराक्रीडगता विजह्रुः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनके साथ नरनाथ पाण्डव लोग उसी वनमें रहने लगे और उस कुबेरके क्रीडास्थान रम्य पर्वतपर विहार करने लगे ॥ २ ॥

वेश्मानि तान्यप्रतिमानि पश्यन्क्रीडाश्च नानाद्रुमसंनिकर्षाः ।
चचार धन्वी बहुधा नरेन्द्रः सोऽस्त्रेषु यत्तः सततं किरीटी ॥ ३ ॥

शस्त्रोंके जाननेवाले नरराज धनुषधारी अर्जुन उन अनुपम स्थान और वृक्षोंको देखते हुए विहार करने लगे ॥ ३ ॥

अवाप्य वासं नरदेवपुत्राः प्रसादजं वैश्रवणस्य राज्ञः ।
न प्राणिनां ते स्पृहयन्ति राजञ्शिवश्च कालः स बभूव तेषाम् ॥ ४ ॥

राजपुत्र पाण्डवोंको कुबेरकी कृपासे स्थान मिले; वे लोग किसी भी प्राणीके ऐश्वर्यकी इच्छा नहीं करते थे। वह समय उनके आनन्दका था ॥ ४ ॥

समेत्य पार्थेन यथैकरात्रमूषुः समास्तत्र तदा चतस्रः ।
पूर्वाश्च षट् ता दश पाण्डवानां शिवा बभूवुर्वसतां वनेषु ॥ ५ ॥

अर्जुनसे मिलकर पाण्डव चार वर्षतक वहां रहे, यह चार वर्षका समय उनके एक रात्रिके समान बीता । इस रीतिसे वनमें सुखसे रहते हुए पहले छः और अबके चार सब मिलाके दस वर्ष व्यतीत हो गए ॥ ५ ॥

ततोऽब्रवीद्वायुसुतस्तरस्वी जिष्णुश्च राजानमुपोपविश्य ।
यमौ च वीरौ सुरराजकल्पावेकान्तमास्थाय हितं प्रियं च ॥ ६ ॥

तब बलवान् वायुपुत्र भीमने, अर्जुन तथा इन्द्रके समान वीर नकुल, सहदेवके साथ बैठे हुए राजासे एकान्तमें ये प्रिय और हितके वचन कहे ॥ ६ ॥

तव प्रतिज्ञां कुरुराज सत्यां चिकीर्षमाणास्त्वदनु प्रियं च ।
ततोऽनुगच्छाम वनान्यपास्य सुयोधनं सानुचरं निहन्तुम् ॥ ७ ॥
हे कुरुराज ! हम लोग आपकी प्रतिज्ञाको सत्य करने और आपके प्रिय करनेहीकी इच्छासे वनको छोडकर दुर्योधनको मारने नहीं गये थे ॥ ७ ॥

एकादशं वर्षमिदं वसामः सुयोधनेनात्तसुखाः सुखार्हाः ।
तं वञ्चयित्वाधमबुद्धिशीलमज्ञातवासं सुखमाप्नुयामः ॥ ८ ॥
हे महाराज ! हम लोग अत्यन्त सुखके योग्य होनेपर भी वनके अनेक दुःखको सह रहे हैं; हमको वनमें रहते हुए ग्यारहवां वर्ष आरंभ हो गया; अब हम लोग उस अधम बुद्धिरहित दुर्योधनको वञ्चना करके अज्ञातवासको बिताकर सुख पावेंगे ॥ ८ ॥

तवाज्ञया पार्थिव निर्विशङ्का विहाय मानं विचरन्वनानि ।
समीपवासेन विलोभितास्ते ज्ञास्यन्ति नास्मानपकृष्टदेशान् ॥ ९ ॥
हे राजन् ! आपकी आज्ञासे हम भय रहित होकर मानापमानका ख्याल न करते हुए वनोंमें विचरेंगे । प्रथम हम दुर्योधनके राज्य पासके वनोंमें विचरेंगे, ताकि वह यह समझकर कि हम पासके वनोंमें ही हैं, वह हमें समीपके वनोंमें ही ढूंढेगा । पर तबतक हम दूरके देशमें चले जायेंगे, अतः हमें वह कौरव जान नहीं सकेंगे ॥ ९ ॥

संवत्सरं तं तु विहृत्य गूढं नराधमं तं सुखमुद्धरेम ।
निर्यात्य वैरं सफलं सपुष्पं तस्मै नरेन्द्राधमपूरुषाय ॥ १० ॥
हम एक वर्ष छिपे हुए रहकर उस मूर्ख दुर्योधनसे सुखोंसे छीन लेंगे; हे नरदेव ! हे धर्म-राज ! आप उस अधम पुरुष तथा अपने सेवकोंसे घिरे रहनेवाले दुर्योधनसे अपने वैरका बदला लेकर फिर फल और पुष्पोंके सहित इस पृथ्वीको प्राप्त कीजियेगा ॥ १० ॥

सुयोधनायानुचरैर्वृताय ततो महीमाहर धर्मराज ।
स्वर्गोपमं शैलमिमं चरद्भिः शक्यो विहन्तुं नरदेव शोकः ॥ ११ ॥
हे नरेश्वर ! यह पर्वत स्वर्गके समान है, हम लोग यहां रहकर दुःखको नाश कर सकते थे ॥ ११ ॥

कीर्तिश्च ते भारत पुण्यगन्धा नश्येत लोकेषु चराचरेषु ।
तत्प्राप्य राज्यं कुरुपुंगवानां शक्यं महत्प्राप्तुमथ क्रियाश्च ॥ १२ ॥
हे भारत ! यदि आप दुर्योधनको न जीतेंगे तो चराचर लोकोंमें आपकी पवित्र कीर्ति नष्ट हो जायेगी और जब आप कुरुराज्यको ले लीजियेगा तो फिर उन्हीं क्रियाओंको कर सकियेगा ॥ १२ ॥

इदं तु शक्यं सततं नरेन्द्र प्राप्तुं त्वया यल्लभसे कुबेरात् ।
कुरुष्व बुद्धिं द्विषतां वधाय कृतागसां भारत निग्रहे च ॥ १३ ॥
हे नरेश्वर! हे भारत! आप जो इस समय प्राप्त कर रहे हैं वह कुबेरसे हर समय प्राप्त कर सकते हैं। अब आप अपराधी शत्रुओंको मारने और पकडनेका उपाय कीजिये ॥ १३ ॥

तेजस्तवोग्रं न सहेत राजन्समेत्य साक्षादपि वज्रपाणिः ।
न हि व्यथां जातु करिष्यतस्तौ समेत्य देवैरपि धर्मराज ॥ १४ ॥
त्वदर्थसिद्ध्यर्थमभिप्रवृत्तौ सुपर्णकेतुश्च शिनेश्च नप्ता ।
यथैव कृष्णोऽप्रतिमो बलेन तथैव राजन्स शिनिप्रवीरः ॥ १५ ॥
हे धर्मराज! आपके सामने आकर आपके घोर तेजको साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी नहीं सह सकते। गरुडकी ध्वजावाले कृष्ण और शिनिके नाती सात्यकि दोनों ही आपके कामको सिद्ध करनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं। हे धर्मराज! वे दोनों देवोंसे मुकाबला करते हुए भी व्याकुल नहीं होते। हे राजन्! जिस प्रकार कृष्ण बलमें अप्रतिम हैं, उसी तरह शिनिप्रवीर सात्यकि भी बलवान् हैं ॥ १४-१५ ॥

तवार्थसिद्ध्यर्थमभिप्रवृत्तौ यथैव कृष्णः सह यादवैस्तैः ।
तथैव चावां नरदेववर्य यमौ च वीरौ कृतिनौ प्रयोगे ।
त्वदर्थयोगप्रभवप्रधानाः समं करिष्याम परान्समेत्य ॥ १६ ॥
यादवोंके सहित श्रीकृष्ण आपके प्रयोजनकी सिद्धिके लिए कृतप्रयत्न हैं, उसी तरह बलमें अनुपम अर्जुन तथा अप्रतिम बली भीम युद्ध करनेको उपस्थित हैं, हे नरदेव! ये वीरोंमें श्रेष्ठ नकुल और सहदेव सब शस्त्रोंमें निपुण हैं। हम सब लोग युद्धको जाननेवाले हैं, हम सब युद्धमें आपके वैरियोंको मारेंगे ॥ १६ ॥

ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा तेषां स धर्मस्य सुतो वरिष्ठः ।
प्रदक्षिणं वैश्रवणाधिवासं चकार धर्मार्थविदुत्तमौजाः ॥ १७ ॥
हे राजन् जनमेजय! धर्म और अर्थके जाननेवाले महातेजस्वी धर्मपुत्र महाराज महात्मा युधिष्ठिरने अपने भाइयोंकी संमति जान कुबेरके स्थानकी प्रदक्षिणा की ॥ १७ ॥

आमन्त्र्य वेश्मानि नदीः सरांसि सर्वाणि रक्षांसि च धर्मराजः ।
यथागतं मार्गमवेक्षमाणः पुनर्गिरिं चैव निरीक्षमाणः ॥ १८ ॥
घर, नदी, तालाब, सब राक्षस और स्थानोंसे धर्मराजने जानेकी आज्ञा मांगी। तदनन्तर जिस मार्गसे आये थे उसी मार्गको देखते हुए और फिर पर्वतकी ओर देखते हुए वह महात्मा धर्मराज चल दिए ॥ १८ ॥

समाप्तकर्मा सहितः सुहृद्भिर्जित्वा सपत्नान्प्रतिलभ्य राज्यम् ।
शैलेन्द्र भूयस्तपसे धृतात्मा द्रष्टा तवास्मीति मतिं चकार ॥ १९ ॥
चलते समय उन्होंने अपना निश्चय पर्वतको सुनाया कि हे पर्वतराज ! मैं सब कर्मोंको समाप्त कर अपने भाइयोंके सहित शत्रुओंको जीतकर जब राज्य प्राप्त करूंगा, तब जितेन्द्रिय तप करनेके लिये तुम्हें देखनेके लिए फिर आऊंगा ॥ १९ ॥

वृतः स सर्वैरनुजैर्द्विजैश्च तेनैव मार्गेण पतिः कुरूणाम् ।
उवाह चैनान्सगणांस्तथैव घटोत्कचः पर्वतनिर्झरेषु ॥ २० ॥
ऐसा कहकर कुरुवंशके स्वामी महाराज युधिष्ठिर अपने सब भाई और सब ब्राह्मणोंके सहित उसी मार्गसे चलने लगे जिस मार्गसे आये थे । घटोत्कच इन सबको अपने ऊपर चढाकर पर्वतों और झरनोंपर चलने लगे ॥ २० ॥

तान्प्रस्थितान्प्रीतमना महर्षिः पितेव पुत्राननुशिष्य सर्वान् ।
स लोमशः प्रीतमना जगाम दिवौकसां पुण्यतमं निवासम् ॥ २१ ॥
महात्मा महा ऋषि लोमश उन सबको चलते देखकर पिताके समान शिक्षा देकर प्रसन्नमनसे देवोंके पवित्रतम निवासस्थानको चले गए ॥ २१ ॥

तेनानुशिष्टार्ष्टिषेणेन चैव तीर्थानि रम्याणि तपोवनानि ।
महान्ति चान्यानि सरांसि पार्थाः संपश्यमानाः प्रययुर्नराग्र्याः ॥ २२ ॥
॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७३ ॥ ५९६१ ॥
महात्मा आर्ष्टिषेणकी शिक्षा सुन पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव रमणीय तपोवन, तीर्थ और बडे बडे तालावोंको देखते हुए वहांसे चले ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ तिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७३ ॥ ५९६१ ॥

: १७४ :

वैशम्पायन उवाच
नगोत्तमं प्रस्रवणैरुपेतं दिशां गजैः किंनरपक्षिभिश्च ।
सुखं निवासं जहतां हि तेषां न प्रीतिरासीद्भरतर्षभाणाम् ॥ १ ॥
वैशम्पायन बोले— हे राजन् जनमेजय ! जिस समय भरतकुलसिंह पाण्डव उस झरने, दिग्गज, किंनर और पक्षियोंसे सम्पन्न पर्वतके सुखमय निवासको छोडकर चलने लगे तो उनका चित्त प्रसन्न न हुआ ॥ १ ॥

ततस्तु तेषां पुनरेव हर्षः कैलासमालोक्य महान्बभूव ।
कुबेरकान्तं भरतर्षभाणां महीधरं वारिधरप्रकाशम् ॥ २ ॥
परन्तु मेघोंके समान कान्तिमान्, कुबेरको प्रिय कैलासपर्वतको देखकर उन भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंको फिर महान् हर्ष हुआ ॥ २ ॥

समुच्छ्रयान्पर्वतसंनिरोधान्गोष्ठान्गिरीणां गिरिसेतुमालाः ।
बहून्प्रपातांश्च समीक्ष्य वीराः स्थलानि निम्नानि च तत्र तत्र ॥ ३ ॥
ऊंचे ऊंचे पर्वतोंके शिखर, पर्वतोंकी गुफायें, पर्वतीय नदियोंपर बने हुए फुलोंकी पंक्तियोंको तथा अनेक झूले झरने और नीचे ऊंचे स्थानोंको देख बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३ ॥

तथैव चान्यानि महावनानि मृगद्विजानेकपसेवितानि ।
आलोकयन्तोऽभिययुः प्रतीतास्ते धन्विनः खड्गधरा नराग्र्याः ॥ ४ ॥
और अनेक पक्षी और हाथियोंसे भरे हुए अन्यान्य वनोंको देखकर प्रसन्न होते हुए खड्ग और धनुर्धारी मनुष्यश्रेष्ठ पाण्डव चलने लगे ॥ ४ ॥

वनानि रम्याणि सरांसि नद्यो गुहा गिरीणां गिरिगह्वराणि ।
एते निवासाः सततं बभूवुर्निशानिशं प्राप्य नरर्षभाणाम् ॥ ५ ॥
नरश्रेष्ठ पाण्डव जहां भी रातको पहुंच जाते वहीं सुन्दर वन, तालाब और नदियोंके तट, पहाडोंकी गुफायें, पहाडोंकी छोटी छोटी कन्दरायें उनके निवासके स्थान बन जाते ॥५॥

ते दुर्गवासं बहुधा निरुष्य व्यतीत्य कैलासमचिन्त्यरूपम् ।
आसेदुरत्यर्थमनोरमं वै तमाश्रमाग्र्यं वृषपर्वणस्ते ॥ ६ ॥
वे लोग दुर्गम तथा रहनेके लिये कठिन और अचिन्त्यरूप कैलास पर्वतके ऊपर रहनेके पश्चात् उसे छोडकर आश्रमोंमें श्रेष्ठ और मनोहर वृषपर्वाके आश्रममें पहुंचे ॥ ६ ॥

समेत्य राज्ञा वृषपर्वणा ते प्रत्यर्चितास्तेन च वीतमोहाः ।
शशंसिरे विस्तरशः प्रवासं शिवं यथावद्वृषपर्वणस्ते ॥ ७ ॥
वहां उन सबकी राजऋषि वृषपर्वाने पूजा की और पाण्डव भी शोकसे रहित हो गये और उन्होंने वृषपर्वासे सब कथा विस्तारपूर्वक कही और अपने पर्वतमें रहनेका वर्णन किया ॥७॥

सुखोषितास्तत्र त एकरात्रं पुण्याश्रमे देवमहर्षिजुष्टे।
अभ्याययुस्ते बदरीं विशालां सुखेन वीराः पुनरेव वासम् ॥ ८ ॥
महात्मा पाण्डव देवर्षियोंसे भरे हुए उस आश्रममें सुखपूर्वक एक रात रहे। वहांसे चलकर वे वीर फिर अपने बदरी विशालके निवास स्थानपर सुखसे जा पहुंचे ॥ ८ ॥

ऊषुस्ततस्तत्र महानुभावा नारायणस्थानगता नराग्र्याः ।
कुबेरकान्तां नलिनीं विशोकाः संपश्यमानाः सुरसिद्धजुष्टाम् ॥ ९ ॥
उस नारायणके आश्रममें पहुंचकर वे नरश्रेष्ठ महानुभाव पाण्डव बदरिकाश्रममें ठहरे । वहां उन्होंने शोकरहित होकर कुबेरकी पोखरको देखा, वहां अनेक देवता और सिद्ध निवास करते थे ॥ ९ ॥

तां चाथ दृष्ट्वा नलिनीं विशोकाः पाण्डोः सुताः सर्वनरप्रवीराः ।
ते रेमिरे नन्दनवासमेत्य द्विजर्षयो वीतभया यथैव ॥ १० ॥
महात्मा पाण्डुके पुत्र सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ पाण्डव सुखसे उसे देखकर इसप्रकार विहार करने लगे, जैसे निर्मल ब्रह्मर्षि नन्दनवनमें विहार करते हैं ॥ १० ॥

ततः क्रमेणोपययुर्नृवीरा यथागतेनैव पथा समग्राः ।
विहृत्य मासं सुखिनो बदर्यां किरातराज्ञो विषयं सुबाहोः ॥ ११ ॥
तदनन्तर वे वीर पाण्डव क्रमसे उन्हीं मार्गोंसे वापस चलने लगे कि जिनसे वे आए थे । वे सुखपूर्वक एक मासतक बदरिकाश्रममें विहार करते किरातराज सुबाहुके राज्यमें जा पहुंचे ॥ ११ ॥

चीनांस्तुखारान्दरदान्सदार्वान्देशान्कुणिन्दस्य च भूरिरत्नान् ।
अतीत्य दुर्गं हिमवत्प्रदेशं पुरं सुबाहोर्ददृशुर्नृवीराः ॥ १२ ॥
तदनन्तर चीन तुषार, दरद और कुणिन्द देशके पृथ्वीसे उत्पन्न हुए रत्नोंसे युक्त प्रदेश तथा हिमालयका दुर्गम देशसे राजा सुबाहुके नगरमें पहुंचे ॥ १२ ॥

श्रुत्वा च तान्पार्थिवपुत्रपौत्रान्प्राप्तान्सुबाहुर्विषये समग्रान् ।
प्रत्युद्ययौ प्रीतियुतः स राजा तं चाभ्यनन्दन्वृषभाः कुरूणाम् ॥ १३ ॥
जब राजा सुबाहुने सुना कि पाण्डुपुत्र हमारे राज्यमें पहुंच गये, तब वह अत्यन्त प्रसन्न होकर इनके पास आये । कुरुकुलसिंह पाण्डवोंने भी उनका आदर किया ॥ १३ ॥

समेत्य राज्ञा तु सुबाहुना ते सूतैर्विशोकप्रमुखैश्च सर्वैः ।
सहेन्द्रसेनैः परिचारकैश्च पौरोगवैर्ये च महानसस्थाः ॥ १४ ॥
पाण्डव राजा सुबाहु, विशोक आदि सब पुत्र, इन्द्रसेन आदि परिचारक तथा भोजन बनानेवालोंसे मिलकर प्रसन्न हुए ॥ १४ ॥

सुखोषितास्तत्र त एकरात्रं सूतानुपादाय रथांश्च सर्वान् ।
घटोत्कचं सानुचरं विसृज्य ततोऽभ्ययुर्यामुनमद्रिराजम् ॥ १५ ॥
हे राजन् ! वे लोग राजा सुबाहुके यहां सुखसे एक रात रहे, वहींसे अनुचर सहित घटोत्कचको विदा किया । फिर सारथी सहित रथोंको लेकर यामुन पर्वतपर पहुंचे ॥ १५ ॥

तस्मिन्गिरौ प्रस्रवणोपपन्ने हिमोत्तरीयारुणपाण्डुसानौ । ॥ १६ ॥
विशाखयूपं समुपेत्य चक्रुस्तदा निवासं पुरुषप्रवीराः

वहां जो झरने बहते थे और जो बर्फ पडा था, उनकी शोभा लाल और श्वेत रंगके कारण ऐसी दीख पडती थी मानो ये पर्वतके दुपट्टे हैं। वहांसे चलकर पुरुषवीर पाण्डव विशाख यूप पर्वतपर पहुंचे और वहां जाकर निवास किया ॥ १६ ॥

वराहनानामृगपक्षिजुष्टं महद्वनं चैत्ररथप्रकाशम् । ॥ १७ ॥
शिवेन यात्वा मृगयाप्रधानाः संवत्सरं तत्र वने विजह्रुः

उस वनमें अनेक शूकर और हरिन रहते थे। इस वनकी शोभा साक्षात् चैत्ररथके समान दीखती थी। पाण्डव सुखसे शिकार खेलते हुए एक वर्षतक उस वनमें रहे ॥ १७॥

तत्रासमासादातिबलं भुजंगं क्षुधार्दितं मृत्युमिवोग्ररूपम् । ॥ १८ ॥
वृकोदरः पर्वतकन्दरायां विषादमोहव्यथितान्तरात्मा

एकदिन एक गुफामें भीमसेनको मृत्युके समान महाउग्र रूप और महाबलवान् एक भूखा सांप मिला, उसको देखते ही भीम दुःख और मोहसे व्याकुल हो गये ॥ १८ ॥

द्वीपोऽभवद्यत्र वृकोदरस्य युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः । ॥ १९ ॥
अमोक्षयद्यस्तमनन्ततेजा ग्राहेण संवेष्टितसर्वगात्रम्

उस समय धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिरने भीमसेनको बचाया था। तदनन्तर तेजस्वी महाराजने उस सर्परूपी ग्राहसे घिरे हुए भीमकी रक्षा की ॥ १९ ॥

ते द्वादशं वर्षमथोपयन्तं वने विहर्तुं कुरवः प्रतीताः । ॥ २० ॥
तस्माद्वनाच्चैत्ररथप्रकाशाच्छ्रिया ज्वलन्तस्तपसा च युक्ताः

तपसे युक्त होनेके कारण तेजसे देदीप्यमान उन कुरुवंशियोंका प्रसन्न होकर उस चैत्ररथके समान सुन्दर उस वनमें विहार करते हुए बारहवां वर्ष शुरु हो गया ॥ २० ॥

ततश्च यात्वा मरुधन्वपार्श्वं सदा धनुर्वेदरतिप्रधानाः । ॥ २१ ॥
सरस्वतीमेत्य निवासकामाः सरस्ततो द्वैतवनं प्रतीयुः

उसके पश्चात् मरुभूमि देशके समीप गये। धनुर्वेदको जाननेवाले पाण्डव सरस्वतीके तटपर गये और वहां कुछ रोज रहनेकी इच्छा की। उसके बाद द्वैतवनमें पहुंचे ॥ २१ ॥

समीक्ष्य तान्द्वैतवने निविष्टान्निवासिनस्तत्र ततोऽभिजग्मुः । ॥ २२ ॥
तपोदमाचारसमाधियुक्तास्तृणोदपात्राहरणाश्मकुट्टाः

द्वैत वनके निवासी उनको अपने वनमें आया देखकर सब उनसे भेट करने आये। तप, दम, आचार और समाधिसे युक्त और वे बैठनेके लिये तृण और जलपानका ही केवल स्वीकार करनेवाले और खानेके लिये पत्थरोंसे अन्न कूटनेवाले तपोधन पाण्डवोंके पास आये ॥ २२ ॥

प्लक्षाक्षरौहीतकवेतसाश्च स्नुहा बदर्यः खदिराः शिरीषाः।
बिल्वेङ्गुदाः पीलुशमीकरीराः सरस्वतीतीररुहा बभूवुः ॥ २३ ॥

बड, बहेड, रोहतक, बेत, बेर, खैर सिरस, बेल, अर्जुनवृक्ष, पीलू, शमी, कुरीलादि सरस्वतीके तटपरके सब वृक्ष पाण्डवोंके वहां जानेसे अति शोभायमान हो गये ॥ २३ ॥

तां यक्षगन्धर्वमहर्षिकान्तामायागभूतामिव देवतानाम्।
सरस्वतीं प्रीतियुताश्चरन्तः सुखं विजह्रुर्नरदेवपुत्राः ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥ ५९८५ ॥

नरदेव पाण्डव बडी प्रीतिके साथ देवोंके स्थानके समान यक्ष गन्धर्व सेवित सरस्वती नदीपर सुखसे विहार करने लगे ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ चौहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७४ ॥ ५९८५ ॥

१७५

जनमेजय उवाच

कथं नागायुतप्राणो भीमसेनो महाबलः।
भयमाहारयत्तीव्रं तस्मादजगरान्मुने ॥ १ ॥

जनमेजय बोले— हे मुनि ! दश हजार हाथीके समान बलवाले महापराक्रमी भीमसेनने किस प्रकारसे आजगरके भयसे तीव्र क्लेश पाया था ॥ १ ॥

पौलस्त्यं योऽह्वयद्युद्धे धनदं बलदर्पितः।
नलिन्यां कदनं कृत्वा वराणां यक्षरक्षसाम् ॥ २ ॥

जो अभिमानमें आकर पुलस्त्यके पुत्र कुबेरको युद्धमें पुकारते थे, जिन्होंने राक्षसोंको मारकर कुबेरके पोखरसे कमल लिये थे ॥ २ ॥

तं शंससि भयाविष्टमापन्नमरिकर्षणम्।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ॥ ३ ॥

वही अजगरसे ग्रस्त हुए और शत्रुनाशी भीमसेनके बारेमें आप कहते हैं, कि वह डर गये। अतः उस कथाके सुननेकी मेरी बडी अभिलाषा है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

बह्वाश्चर्ये वने तेषां वसतामुग्रधन्विनाम् ।
प्राप्तानामाश्रमाद्राजन्राजर्षेर्वृषपर्वणः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले- हे राजन् ! महाधनुर्धारी पाण्डव राजऋषि वृषपर्वाके स्थानसे जब उस विचित्र वनमें रहने लगे ॥ ४ ॥

यदृच्छया धनुष्पाणिर्बद्धखड्गो वृकोदरः ।
ददर्श तद्वनं रम्यं देवगन्धर्वसेवितम् ॥ ५ ॥

तब एक दिन धनुष और खड्ग लेकर भीमसेन उस देव और गन्धर्वोंसे सेवित मनोहर वनमें घूमने गये ॥ ५ ॥

स ददर्श शुभान्देशान्गिरेर्हिमवतस्तदा ।
देवर्षिसिद्धचरितानप्सरोगणसेवितान् ॥ ६ ॥

उन्होंने हिमाचल पर्वतके शुभ देशोंको देखा, जहां देवर्षि, सिद्ध अप्सराओंके गण विचरते थे ॥ ६ ॥

चकोरैश्चक्रवाकैश्च पक्षिभिर्जीवजीवकैः ।
कोकिलैर्भृङ्गराजैश्च तत्र तत्र विनादितान् ॥ ७ ॥

वहां चकोर, चकवे, जीवका, कोकिल और मोर आदि अनेक पक्षियोंसे शोभित वृक्षोंको देखा ॥ ७ ॥

नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्हिमसंस्पर्शकोमलैः ।
उपेतान्बहुलच्छायैर्मनोनयननन्दनैः ॥ ८ ॥

वे वृक्ष, सदा फलने और फूलनेवाले तथा हिमके स्पर्शसे शीतल थे। उनकी छाया मन और नेत्रोंको सुख दे रही थी ॥ ८ ॥

स संपश्यन्गिरिनदीर्वैडूर्यमणिसंनिभैः ।
सलिलैर्हिमसंस्पर्शैर्हंसकारण्डवायुतैः ॥ ९ ॥

इसप्रकार वैदूर्य हीरेके समान निर्मल नदीके बर्फके समान अत्यन्त ठण्डे जलोंको देखते हुए भीम घूमने लगे । उन नदियोंके तटोंपर हंस और सारस विराजमान थे ॥ ९ ॥

वनानि देवदारूणां मेघानामिव वागुराः ।
हरिचन्दनमिश्राणि तुङ्गकालीयकान्यपि ॥ १० ॥

वहां मेघोंके समान सघन देवदारु, हरिचन्दन, राल और अगरके वनको देखने लगे ॥ १० ॥

मृगयां परिधावन्स समेषु मरुधन्वसु ।
विध्यन्मृगाञ्शरैः शुद्धैश्चचार सुमहाबलः ॥ ११ ॥
वहां महाबलवान् भीमसेन शुद्ध बाणोंसे हरिनोंको मारते हुए निर्जन स्थानोंमें घूमने लगे ॥ ११ ॥

स ददर्श महाकायं भुजंगं लोमहर्षणम् ।
गिरिदुर्गे समापन्नं कायेनावृत्य कन्दरम् ॥ १२ ॥
तदनन्तर देवोंके समान महा-बलवान् भीमसेनने एक बडे भारी शरीरवाले भयानक सर्पको देखा, वह सर्प एक पर्वतकी खोहमें गुफाको अपने शरीरसे रोके हुए बैठा था ॥ १२ ॥

पर्वताभोगवर्ष्माणं भोगैश्चन्द्रार्कमण्डलैः ।
चित्राङ्गमजिनैश्चित्रैर्हरिद्रासदृशच्छविम् ॥ १३ ॥
चन्द्र और सूर्यके मण्डलके समान गोल गोल फनोंवाले उस सांपका फन पर्वतके समान वडा भारी था ॥ १३ ॥

गुहाकारेण वक्त्रेण चतुर्दंष्ट्रेण राजता ।
दीप्ताक्षेणातिताम्रेण लिहन्तं सृक्किणी मुहुः ॥ १४ ॥
चार दाढोंसे युक्त, तेजस्वी, लाल नेत्र युक्त उसका मुख पर्वतकी गुहाके समान था और वह जिह्वाओंको चाट रहा था ॥ १४ ॥

त्रासनं सर्वभूतानां कालान्तकयमोपमम् ।
निःश्वासक्ष्वेडनादेन भर्त्सयन्तमिव स्थितम् ॥ १५ ॥
वह सब प्राणियोंको डरानेवाला काल और यमके समान भयानक सर्प जिह्वासे होठोंको चाट रहा था, उसके श्वासके साथ निकले हुए विषसे सब जन्तु डर रहे थे ॥ १५ ॥

स भीमं सहसाभ्येत्य पृदाकुः क्षुधितो भृशम् ।
जग्राहाजगरो ग्राहो भुजयोरुभयोर्बलात् ॥ १६ ॥
वह अत्यन्त भूखा घोर सर्प भीमको निकट पाके वेगसे भीमके दोनों हाथोंमें लपट गया ॥ १६ ॥

तेन संस्पृष्टमात्रस्य भीमसेनस्य वै तदा ।
संज्ञा मुमोह सहसा वरदानेन तस्य ह ॥ १७ ॥
उस सर्पके छूते ही भीमको मूर्च्छा आ गई। यह अगस्त्यके वरदानसे हुआ ॥ १७ ॥

दश नागसहस्राणि धारयन्ति हि यद्बलम् ।
तद्बलं भीमसेनस्य भुजयोरसमं परैः ॥ १८ ॥
भीमसेनका जो बल दस हजार हाथियोंके समान था, जो भीमकी भुजायें और सब पुरुषोंसे अधिक थीं ॥ १८ ॥

स तेजस्वी तथा तेन भुजगेन वशीकृतः ।
विस्फुरञ्शनकैर्भीमो न शशाक विचेष्टितुम् ॥ १९ ॥

वही तेजस्वी भुजायें सर्पके वशमें हो गई । भीम पराक्रम करनेपर भी उससे छूट न सके ॥ १९ ॥

नागायुतसमप्राणः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।
गृहीतो व्यजहात्सत्त्वं वरदानेन मोहितः ॥ २० ॥

उसके वरदानके वशमें होकर दस हजार हाथियोंके समान बलशाली, सिंहके समान कंधों-वाले तथा महान् भुजाओंवाले भीम अपनी शक्तिको भूल गये ॥ २० ॥

स हि प्रयत्नमकरोत्तीव्रमात्मविमोक्षणे ।
न चैनमशकद्वीरः कथंचित्प्रतिबाधितुम् ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥ ६००६ ॥

उन्होंने अपने छूटनेके लिये बहुत यत्न किया, परन्तु वे वीर छूट न सके ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ पचहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७५ ॥ ६००६ ॥

: १७६ :

वैशम्पायन उवाच

स भीमसेनस्तेजस्वी तथा सर्पवशं गतः
चिन्तयामास सर्पस्य वीर्यमत्यद्भुतं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् जनमेजय ! जब तेजस्वी भीमसेन सर्पके वशमें हो गये, तब उसके विचित्र और अद्भुत बलको विचारने लगे ॥ १ ॥

उवाच च महासर्पं कामया ब्रूहि पन्नग ।
कस्त्वं भो भुजगश्रेष्ठ किं मया च करिष्यसि ॥ २ ॥

और उस सांपसे बोले, कि हे पन्नग ! हे सर्पश्रेष्ठ ! तुम कौन हो ? और हमसे कौनसा काम करना चाहते हो ? ॥ २ ॥

पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः ।
नागायुतसमप्राणस्त्वया नीतः कथं वशम् ॥ ३ ॥

मैं राजा पाण्डुका पुत्र महाराज धर्मराज युधिष्ठिरका छोटे भाई भीम हूँ, मुझमें दस सहस्र हाथीका बल था; परन्तु न जाने तुमने कैसे मुझको वशमें कर लिया ॥ ३ ॥

सिंहाः केसरिणो व्याघ्रा महिषा वारणास्तथा।
समागताश्च बहुशो निहताश्च मया मृधे ॥ ४ ॥

मैंने युद्धमें अबतक सैकडों सिंह, केसरी, व्याघ्र, भैंसे और हाथियोंको मार डाला है ॥४॥

दानवाश्च पिशाचाश्च राक्षसाश्च महाबलाः।
भुजवेगमशक्ता मे सोढुं पन्नगसत्तम ॥ ५ ॥

मैंने युद्धमें अनेक महाबलवान् दानव पिशाच और सर्पोंको मारा है। हे सर्पश्रेष्ठ! मेरी भुजाओंके पराक्रमको कोई भी नहीं सह सकता ॥ ५ ॥

किं नु विद्याबलं किं वा वरदानमथो तव।
उद्योगमपि कुर्वाणो वशगोऽस्मि कृतस्त्वया ॥ ६ ॥

हे सर्पश्रेष्ठ! तुम्हें क्या कोई विद्याबल प्राप्त है? अथवा किसीने तुमको बरदान दिया है? क्योंकि मेरे अत्यन्त पराक्रम करनेके बावजूद भी तुमने मुझे अपने वशमें कर लिया है ॥ ६ ॥

असत्यो विक्रमो नृणामिति मे निश्चिता मतिः।
यथेदं मे त्वया नाग बलं प्रतिहतं महत् ॥ ७ ॥

मेरी समझमें तो यही आता है, कि मनुष्योंका पराक्रम झूठा है, क्योंकि हे सर्प! तुमने मेरे हजार हाथीके बलको भी छीन लिया ॥ ७ ॥

इत्येवंवादिनं वीरं भीममक्लिष्टकारिणम्।
भोगेन महता सर्पः समन्तात्पर्यवेष्टयत् ॥ ८ ॥

जब अक्लिष्ट कर्म करनेवाले भीमने ऐसा कहा, तो सर्पने उनको अपने शरीर द्वारा चारों ओरसे लपेट लिया ॥ ८ ॥

निगृह्य तं महाबाहुं ततः स भुजगस्तदा।
विमुच्यास्य भुजौ पीनाविदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

तब उस सांपने महाबाहु भीमके शरीरको तो अच्छी तरह जकड लिया, पर महाबाहु भीमसेनके दोनों पुष्ट भुज छोडकर सर्प कहने लगा ॥ ९ ॥

दिष्ट्या त्वं क्षुधितस्याद्य देवैर्भक्षो महाभुज।
दिष्ट्या कालस्य महतः प्रियाः प्राणा हि देहिनाम् ॥ १० ॥

हे महाभुज! आज तुमको हमारे खानेके लिये देवोंने भेज दिया है, प्रारब्धहीसे तुम मेरे पास आये हो; पुरुषोंको अपने प्राण बहुत प्यारे होते हैं ॥ १० ॥

यथा त्विदं मया प्राप्तं भुजंगत्वमरिंदम।
तदवश्यं मया ख्याप्यं तवाद्य शृणु सत्तम ॥ ११ ॥

हे भीम! जैसे मैं सर्पयोनीमें प्राप्त हुआ हूँ वह तुमसे कहता हूँ, तुम सुनो ॥ ११ ॥

इमामवस्थां संप्राप्तो ह्यहं कोपान्मनीषिणाम् ।
शापस्यान्तं परिप्रेप्सुः सर्पस्य कथयामि तत् ॥ १२ ॥

मैं ऋषियोंके कोपसे इस दशाको प्राप्त हुआ हूँ; अपने शापका अन्त विचारते हुए यहां रहता हूँ ॥ १२ ॥

नहुषो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
तवैव पूर्वः पूर्वेषामायोर्वंशकरः सुतः ॥ १३ ॥

मैं तुम्हारे ही पूर्वज आयुका पुत्र हूँ, मेरा नाम राजऋषि नहुष है; तुमने भी मेरा नाम सुना ही होगा ॥ १३ ॥

सोऽहं शापादगस्त्यस्य ब्राह्मणानवमन्य च ।
इमामवस्थामापन्नः पश्य दैवमिदं मम ॥ १४ ॥

मैं ब्राह्मणोंके निरादर और अगस्त्य मुनिके शापसे इस दशाको पहूँचा हूँ, देखो प्रारब्ध वडा वलवान् है ॥ १४ ॥

त्वां चेदवध्यमायान्तमतीव प्रियदर्शनम् ।
अहमद्योपयोक्ष्यामि विधानं पश्य यादृशम् ॥ १५ ॥

मैं अपने वंशमें उत्पन्न हुए अत्यन्त सुन्दर रूपवाले तुमको खाना चाहता हूँ । यह प्रारब्धहीका फल है ॥ १५ ॥

न हि मे मुच्यते कश्चित्कथंचिद्ग्रहणं गतः ।
गजो वा महिषो वापि षष्ठे काले नरोत्तम ॥ १६ ॥

हे नरोत्तम! दिनके छठे भागमें चाहे हाथी हो, चाहे भैंसा हो जो मेरे पास आता है, वह छूट नहीं सकता ॥ १६ ॥

नासि केवलसर्पेण तिर्यग्योनिषु वर्तता ।
गृहीतः कौरवश्रेष्ठ वरदानमिदं मम ॥ १७ ॥

हे कौरवश्रेष्ठ ! तुम केवल तिर्यक् योनिवाले सर्पहीसे नहीं पकडे गये हो, वरन मुझको एक वरदान भी है ॥ १७ ॥

पतता हि विमानाग्रान्मया शक्रासनाद् द्रुतम् ।
कुरु शापान्तमित्युक्तो भगवान्मुनिसत्तमः ॥ १८ ॥

जव मैं इन्द्रके लोकसे विमानसे नीचे गिरने लगा था, तव मैंने भगवान् मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यसे कहा था, कि हे भगवन् ! मेरे शापका अन्त बताइये ॥ १८ ॥

स मामुवाच तेजस्वी कृपयाभिपरिप्लुतः ।
मोक्षस्ते भविता राजन्कस्माच्चित्कालपर्ययात् ॥ १९ ॥
तब महा तेजस्वी अगस्त्यने कृपासे पूर्ण होकर कहा, कि हे राजन् ! तुम्हारे शापका अन्त कुछ कालके पश्चात् होगा ॥ १९ ॥

ततोऽस्मि पतितो भूमौ न च मामजहात्स्मृतिः ।
स्मार्तमस्ति पुराणं मे यथैवाधिगतं तथा ॥ २० ॥
तब मैं स्वर्गसे पृथ्वीपर गिर गया । परन्तु मेरी स्मरण-शक्ति कम नहीं हुई । मुझको अब भी स्मृति पुराण जैसे पढे थे, वैसे ही याद हैं ॥ २० ॥

यस्तु ते व्याहृतान्प्रश्नान्प्रतिब्रूयाद्विशेषवित् ।
स त्वां मोक्षयिता शापादिति मामब्रवीदृषिः ॥ २१ ॥
अगस्त्य मुनिने मुझसे कहा था, कि जब सब विद्याओंको जाननेवाले पुरुष तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देंगे, तभी तुम इस शापसे छूटोगे ॥ २१ ॥

गृहीतस्य त्वया राजन्प्राणिनोऽपि बलीयसः ।
सत्त्वभ्रंशोऽधिकस्यापि सर्वस्याशु भविष्यति ॥ २२ ॥
हे राजन् ! जिसको तुम पकडोगे वह कैसा ही बलवान् क्यों न हो, तो भी बलरहित हो जायेगा ॥ २२ ॥

इति चाप्यहमश्रौषं वचस्तेषां दयावताम् ।
मयि संजातहार्दानामथ तेऽन्तर्हिता द्विजाः ॥ २३ ॥
मैंने कृपालु दयावान् महात्मा ऋषियोंके वचन सुने, तब वे ब्राह्मण अन्तर्ध्यान हो गये ॥ २३ ॥

सोऽहं परमदुष्कर्मा वसामि निरयेऽशुचौ ।
सर्पयोनिमिमां प्राप्य कालाकाङ्क्षी महाद्युते ॥ २४ ॥
तबसे महा दुष्कर्मा मैं इस अपवित्र नरकमें पडा हुआ हूं । हे महा तेजस्वी ! मैं इस सर्प-योनिको धारण करके अपने समयकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ ॥ २४ ॥

तमुवाच महाबाहुर्भीमसेनो भुजंगमम् ।
न ते कुप्ये महासर्प न चात्मानं विगर्हये ॥ २५ ॥
ऐसा सुनकर उस सर्पश्रेष्ठसे महाबाहु भीम बोले— हे सर्प ! मैं कुछ क्रोध नहीं करता हूँ और न अपनी कुछ निन्दा ही करता हूँ ॥ २५ ॥

यस्मादभावी भावी वा मनुष्यः सुखदुःखयोः।
आगमे यदि वापाये न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ २६ ॥
क्योंकि होने और न होनेवाले सुख दुःखमें तथा पाप और पुण्यमें मनुष्यके मनको ग्लानि नहीं होनी चाहिये ॥ २६ ॥

दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमर्हति।
दैवमेव परं मन्ये पुरुषार्थो निरर्थकः ॥ २७ ॥
क्योंकि प्रारब्धसे होनेवाले कामको कोई प्रयत्नसे रोक नहीं सकता। मैं प्रारब्धको बलवान् और पुरुषार्थको व्यर्थ समझता हूं ॥ २७ ॥

पश्य दैवोपघाताद्धि भुजवीर्यव्यपाश्रयम्।
इमामवस्थां संप्राप्तमनिमित्तमिहाद्य माम् ॥ २८ ॥
देखो, प्रारब्धके बल और बाहुबलके अभिमानसे मैं इस दुर्दशामें व्यर्थ ही पड गया ॥२८॥

किं तु नाद्यानुशोचामि तथात्मानं विनाशितम्।
यथा तु विपिने न्यस्तान्भ्रातॄन्राज्यपरिच्युतान् ॥ २९ ॥
अपने इस विनाशके बारेमें मैं अपने लिये उतना शोक नहीं करता जितना राज्यसे निकाले हुए वनवासी अपने भाइयोंके लिये ॥ २९ ॥

हिमवांश्च सुदुर्गोऽयं यक्षराक्षससंकुलः।
मां च ते समुदीक्षन्तः प्रपतिष्यन्ति विह्वलाः ॥ ३० ॥
यह हिमाचल अत्यन्त दुःखसे आने योग्य तथा यक्ष और राक्षसोंसे भरा हुआ है, मुझे वे इस हालतमें देखकर व्याकुल हो जाएंगे ॥ ३० ॥

विनष्टमथ वा श्रुत्वा भविष्यन्ति निरुद्यमाः।
धर्मशीला मया ते हि बाध्यन्ते राज्यगृद्धिना ॥ ३१ ॥
जब वे मुझको मरा हुआ सुनेंगे, तो राज्यप्राप्तिका उद्यम भी छोड देंगे। क्योंकि वे सब लोग धर्मात्मा हैं और राज्यकी इच्छा करनेके कारण मैं ही उन्हें राज्यप्राप्तिके लिये बारबार प्रेरणा दिया करता हूँ ॥ ३१ ॥

अथ वा नार्जुनो धीमान्विषादमुपयास्यति।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो देवगन्धर्वराक्षसैः ॥ ३२ ॥
अथवा बुद्धिमान् अर्जुन दुःख नहीं करेंगे, क्योंकि वे सब अस्त्रोंके जाननेवाले तथा यक्ष और राक्षसोंसे भी अजेय हैं ॥ ३२ ॥

समर्थः स महाबाहुरेकाह्ना सुमहाबलः ।
देवराजमपि स्थानात्प्रच्यावयितुमोजसा ॥ ३३ ॥

महाबाहु और महापराक्रमी अर्जुन एक ही दिनमें अपने ओजसे इन्द्रको भी स्वर्गसे निकाल सकते हैं ॥ ३३ ॥

किं पुनर्धृतराष्ट्रस्य पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम् ।
विद्विष्टं सर्वलोकस्य दम्भलोभपरायणम् ॥ ३४ ॥

उनके आगे सब लोकोंका शत्रु कपट और लोभसे भरा हुआ और छलसे जुआ खेलनेवाला दुर्योधन क्या है ? ॥ ३४ ॥

मातरं चैव शोचामि कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
यास्माकं नित्यमाशास्ते महत्त्वमधिकं परैः ॥ ३५ ॥

मैं तो अपने पुत्रोंसे अत्यधिक प्यार करनेवाली अपनी बूढी माताके बारेमें बहुत शोक करता हूं, वह अपने पुत्रोंको शत्रुओंसे बडा ऐश्वर्य प्राप्त हो ऐसी इच्छा धारण करती है ॥ ३५ ॥

कथं नु तस्यानाथाया मद्विनाशाद्भुजंगम ।
अफलास्ते भविष्यन्ति मयि सर्वे मनोरथाः ॥ ३६ ॥

हे सर्प ! जब मैं मर जाऊंगा तो वह क्या करेगी, उसके सब मनोरथ मेरे मरनेसे नष्ट हो जायेंगे ॥ ३६ ॥

नकुलः सहदेवश्च यमजौ गुरुवर्तिनौ ।
मद्बाहुबलसंस्तब्धौ नित्यं पुरुषमानिनौ ॥ ३७ ॥

अपने बडे भाईकी आज्ञामें रहनेवाले नकुल और सहदेव मेरे पराक्रमसे रक्षित होकर ही अपनेको वीर मानते हैं ॥ ३७ ॥

निरुत्साहौ भविष्येते भ्रष्टवीर्यपराक्रमौ ।
मद्विनाशात्परिद्यूनाविति मे वर्तते मतिः ॥ ३८ ॥

मेरे मरनेसे उनका वीर्य, बल और उत्साह नष्ट हो जायेगा। मेरी बुद्धिमें आता है, कि मेरे मरनेसे वे दोनों किसी योग्य न रहेंगे ॥ ३८ ॥

एवंविधं बहु तदा विललाप वृकोदरः ।
भुजंगभोगसंरुद्धो नाशकच्च विचेष्टितुम् ॥ ३९ ॥

सांपके शरीरसे बंधे हुए भीमने इस प्रकार बहुत विलाप किया। परन्तु छूट न सके ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो बभूवास्वस्थचेतनः ।
अनिष्टदर्शनान्घोरानुत्पातान्परिचिन्तयन् ॥ ४० ॥

उसी समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अनिष्टकी सूचना देनेवाले घोर उत्पातोंको देखकर और उनके बारेमें सोचकर अस्वस्थ चित्त हो गए ॥ ४० ॥

दारुणं ह्यशिवं नादं शिवा दक्षिणतः स्थिता ।
दीप्तायां दिशि वित्रस्ता रौति तस्याश्रमस्य ह ॥ ४१ ॥

उनकी दाहिनी ओर खडी होकर एक सियारी उस आश्रमसे दीप्त दिशाकी ओर खडी होकर भयानक शब्दसे रोने लगी ॥ ४१ ॥

एकपक्षाक्षिचरणा वर्तिका घोरदर्शना ।
रुधिरं वमन्ती ददृशे प्रत्यादित्यमपस्वरा ॥ ४२ ॥

एक पंख, एक चरण और एक आंखवाले अनेक भयानक बटेर अपने मुखसे रुधिरको गिराते हुए सूर्यकी ओर देखकर बुरे स्वरमें रोने लगी ॥ ४२ ॥

प्रववावनिलो रूक्षश्चण्डः शर्करकर्षणः ।
अपसव्यानि सर्वाणि मृगपक्षिरुतानि च ॥ ४३ ॥

उस समय धूलसे भरा हुआ घोर वायु बहने लगा । सब हिरण और पक्षी बाईं ओरसे बोलते हुए जाने लगे ॥ ४३ ॥

पृष्ठतो वायसः कृष्णो याहि याहीति वाशति ।
मुहुर्मुहुः प्रस्फुरति दक्षिणोऽस्य भुजस्तथा ॥ ४४ ॥

पीछेसे काला कौआ 'जाओ जाओ' कहने लगा और दायां हाथ पांव फडकने लगा ॥ ४४ ॥

हृदयं चरणश्चापि वामोऽस्य परिवर्तते ।
सव्यस्याक्ष्णो विकारश्चाप्यनिष्टः समपद्यत ॥ ४५ ॥

हृदय और बायां चरण जलने लगा और दायें नेत्रमें अशुभ चिह्न प्रकट होने लगे ॥ ४५ ॥

स धर्मराजो मेधावी शङ्कमानो महद्भयम् ।
द्रौपदीं परिपप्रच्छ क्व भीम इति भारत ॥ ४६ ॥

हे जनमेजय ! बुद्धिमान् धर्मराज बहुत भयसे व्याकुल होकर द्रौपदीसे पूछने लगे, कि भीमसेन कहां हैं ? ॥ ४६ ॥

शशंस तस्मै पाञ्चाली चिरयातं वृकोदरम् ।
स प्रतस्थे महाबाहुर्धौम्येन सहितो नृपः ॥ ४७ ॥

तब द्रौपदीने कहा कि भीमसेनको गये बहुत देर हुई है । यह सुनकर महाबाहु युधिष्ठिर धौम्यमुनिके सहित चल पडे ॥ ४७ ॥

द्रौपद्या रक्षणं कार्यमित्युवाच धनञ्जयम्।
नकुलं सहदेवं च व्यादिदेश द्विजान्प्रति ॥ ४८ ॥
और अर्जुनसे बोले, कि तुम द्रौपदीकी रक्षा करना तथा नकुल और सहदेवसे कहा कि तुम ब्राह्मणोंकी रक्षा करना ॥ ४८ ॥

स तस्य पदमुन्नीय तस्मादेवाश्रमात्प्रभुः।
ददर्श पृथिवीं चिह्नैर्भीमस्य परिचिह्निताम् ॥ ४९ ॥
महात्मा धर्मराज उसी आश्रमसे उन्हींके चरणोंके सहारे भीमसेनके चरणोंके चिन्होंसे अंकित जमीन देखी ॥ ४९ ॥

धावतस्तस्य वीरस्य मृगार्थे वातरंहसः।
ऊरुवातविनिर्भग्नान्द्रुमान्व्यावर्जितान्पथि ॥ ५० ॥
महापराक्रमी भीमके वायुके समान वेगसे चलनेसे उनकी जांघसे उठे हुए वायुसे मार्गके वृक्ष टूटके गिर पडे थे ॥ ५० ॥

स गत्वा तैस्तदा चिह्नैर्ददर्श गिरिगह्वरे।
गृहीतं भुजगेन्द्रेण निश्चेष्टमनुजं तथा ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्सतत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥ ६०५७ ॥

महात्मा धर्मराज उन्हींके चरण चिह्न पर चलते हुए एक पर्वतकी खोहमें पहुंचे। वहीं सर्पसे पकडे हुए अपने भाई भीमसेनको निश्चेष्ट हुए देखा ॥ ५१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ छिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७६ ॥ ६०५७ ॥

: १७७ :

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तमासाद्य सर्पभोगाभिवेष्टितम्।
दयितं भ्रातरं वीरमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय! युधिष्ठिर सर्पके फनसे पकडे हुए अपने भाईके पास जाकर अपने प्रिय और वीर भाईसे यह वचन बोले ॥ १ ॥

कुन्तीमातः कथमिमामापदं त्वमवाप्तवान्।
कश्चायं पर्वताभोगप्रतिमः पन्नगोत्तमः ॥ २ ॥
हे कुन्तीपुत्र! तुम इस आफतमें कैसे पड गये? और यह पर्वतके समान शरीरवाला सर्पश्रेष्ठ कौन है? ॥ २ ॥

स धर्मराजमालक्ष्य भ्राता भ्रातरमग्रजम्।
कथयामास तत्सर्वं ग्रहणादि विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

भीमने बडे भाई धर्मराजको देखकर अपने पकडे जानेकी सब कथा कह सुनाई ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवो वा यदि वा दैत्य उरगो वा भवान्यदि।
सत्यं सर्प वचो ब्रूहि पृच्छति त्वां युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर बोले- हे सर्प ! तुम देव हो, या दैत्य हो, या सर्प हो या जो हो सत्य कहो, तुमसे मैं युधिष्ठिर पूछ रहा हूँ ॥ ४ ॥

किमाहृत्य विदित्वा वा प्रीतिस्ते स्याद्भुजंगम।
किमाहारं प्रयच्छामि कथं मुञ्चेद्भवानिमम् ॥ ५ ॥

तुम कौनसे भोजनसे प्रसन्न हो सकते हो ? हम तुम्हारी प्रसन्नताके लिये कौनसा भोजन ले आवें, जिससे तुम भीमसेनको छोडोगे ॥ ५ ॥

सर्प उवाच

नहुषो नाम राजाहमासं पूर्वस्तवानघ।
प्रथितः पञ्चमः सोमादायोः पुत्रो नराधिप ॥ ६ ॥

सर्प बोला- हे पापरहित ! मैं तुम्हारा पूर्वज नहुष नामक राजर्षि हूँ। नरनाथ ! मैं चन्द्रमासे पांचवीं पीढीमें आयुका पुत्र हूँ ॥ ६ ॥

क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तो विक्रमणेन च ॥ ७ ॥

मैंने अपने पराक्रम, तप, यज्ञ और वेदपाठसे तीनों लोकोंके ऐश्वर्यको प्राप्त किया था ॥ ७ ॥

तदैश्वर्यं समासाद्य दर्पो मामगमत्तदा।
सहस्रं हि द्विजातीनामुवाह शिबिकां मम ॥ ८ ॥

उस राज्यको प्राप्त करके मुझे बहुत अभिमान हो गया। मेरी पालकीको सहस्र ब्राह्मण ढोते थे ॥ ८ ॥

ऐश्वर्यमदमत्तोऽहमवमन्य ततो द्विजान्।
इमामगस्त्येन दशामानीतः पृथिवीपते ॥ ९ ॥

तब मैंने उस ऐश्वर्यसे उन्मत्त होकर ब्राह्मणोंका अपमान किया। हे पृथिवीपते ! मैं उसी अपमानके कारण भगवान् अगस्त्यके शापसे इस दशाको प्राप्त हुआ हूं ॥ ९ ॥

न तु आमजहात्प्रज्ञा याबद्येति पाण्डव।
तस्यैवानुग्रहाद्राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः ॥ १० ॥

हे पृथ्वीनाथ! हे पाण्डव! इस दशामें पडनेपर भी मेरी बुद्धि नष्ट नहीं हुई। यह भी उन्हीं महात्मा अगस्त्यकी कृपा है ॥ १० ॥

षष्ठे काले ममाहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव।
नाहमेनं विमोक्ष्यामि न चान्यमभिकामये ॥ ११ ॥

मैंने दिनके छठे भागमें भोजनके लिये तुम्हारे भाईको पकडा है, इसलिये मैं इसको नहीं छोडूंगा और न दूसरा भोजन लूंगा ॥ ११ ॥

प्रश्नानुच्चारितांस्तु त्वं व्याहरिष्यसि चेन्मम।
अथ पश्चाद्विमोक्ष्यामि भ्रातरं ते वृकोदरम् ॥ १२ ॥

यदि तुम मेरे द्वारा कहे गए प्रश्नोंका उत्तर दो तो मैं तुम्हारे भाई भीमको छोड दूं ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि सर्प यथाकामं प्रतिवक्ष्यामि ते वचः।
अपि चेच्छक्नुयां प्रीतिमाहर्तुं ते भुजंगम ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सर्प! अपनी इच्छानुसार तुम अपने प्रश्नोंको कहो, मैं शक्तिके अनुसार तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये उनका उत्तर दूंगा ॥ १३ ॥

वेद्यं यद्ब्राह्मणेनेह तद्भवान्वेत्ति केवलम्।
सर्पराज ततः श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ॥ १४ ॥

जिस विषयको ब्राह्मण जान सकते हैं, उन्हींको तुम जानते हो। हे सर्प! तुम्हारे वचनोंको सुनकर मैं उत्तर दूंगा ॥ १४ ॥

सर्प उवाच

ब्राह्मणः को भवेद्राजन्वेद्यं किं च युधिष्ठिर।
ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे ॥ १५ ॥

सर्प बोला– हे युधिष्ठिर! ब्राह्मण किसे कहते हैं? जगत्में कौन वस्तु जानने योग्य है? तुम मेरे इन दो प्रश्नोंका उत्तर दो, तो मैं तुमको बहुत बुद्धिमान् जानूं ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं दमो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे नागेन्द्र! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, शील, अक्रूरता, दम और दया हो उसे ब्राह्मण कहते हैं ॥ १६ ॥

वेद्यं सर्प परं ब्रह्म निर्दुःखमसुखं च यत्।
यत्र गत्वा न शोचन्ति भवतः किं विवक्षितम् ॥ १७ ॥

हे सर्प! जहां जाकर पुरुष शोकसे रहित हो जाते हैं, जिसमें सुख और दुःख नहीं है, वही एक ब्रह्म जानने योग्य है। कहो, अब और क्या पूछना चाहते हो? ॥ १७ ॥

सर्प उवाच

चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव ह।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

सर्प बोला– युधिष्ठिर! इस जगत्में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं, ये चारों अपौरुषेय वेदको प्रमाण मानते हैं, यदि किसी शूद्रमें सत्य, दान, क्षमा, शील, अहिंसा और दया हो, तो क्या वह भी ब्राह्मण ही हो जायेगा? ॥ १८ ॥

वेद्यं यच्चात्थ निर्दुःखमसुखं च नराधिप।
ताभ्यां हीनं पदं चान्यन्न तदस्तीति लक्षये ॥ १९ ॥

तुमने जो कहा, कि ब्रह्ममें सुख और दुःख नहीं है और वही ब्रह्म जानने योग्य है, तो तुम एक ऐसे प्राप्त होने योग्य स्थानको कहो, कि जो सुख और दुःखसे रहित हो क्योंकि हमको ऐसा कोई पद नहीं दीख पडता ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ २० ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सर्प! जो ये लक्षण शूद्रमें हों और ब्राह्मणोंमें न हों, तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है ॥ २० ॥

यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ २१ ॥

हे सर्प! जिसमें ये लक्षण हों वह शूद्र ब्राह्मण है और यदि ये लक्षण ब्राह्मणमें न हों तो वह ब्राह्मण भी शूद्र ही है ॥ २१ ॥

यत्पुनर्भवता प्रोक्तं न वेद्यं विद्यतेति ह।
ताभ्यां हीनमतीत्यात्र पदं नास्तीति चेदपि ॥ २२ ॥

हे सर्प! जो तुमने कहा, कि कोई वस्तु सुखदुःखसे रहित जानने योग्य नहीं है और कोई पद ऐसा नहीं है जिसमें सुख और दुःख नहीं हो ॥ २२ ॥

एवमेतन्मतं सर्प ताभ्यां हीनं न विद्यते।
यथा शीतोष्णयोर्मध्ये भवेन्नोष्णं न शीतता ॥ २३ ॥
एवं वै सुखदुःखाभ्यां हीनमस्ति पदं कचित्।
एषा मम मतिः सर्प यथा वा मन्यते भवान् ॥ २४ ॥

हे सर्प! ऐसा बोध होता है कि सुख दुःखसे रहित कोई वस्तु नहीं है। जैसे गर्मीमें सर्दी और सर्दीमें गर्मी नहीं है, वैसे ही कोई पद सुखदुःखसे रहित नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार शीतता और उष्णताके विना कोई अनिर्वचनीय पदार्थका रहना स्वीकार किया जाता है, उसी भांति सुखदुःखसे रहित कोई अनिर्वचनीय ज्ञेय वस्तुका रहना अवश्य स्वीकार होगा; मेरी ऐसी ही विवेचना है, तुम चाहे जैसी विवेचना करो ॥ २३-२४ ॥

सर्प उवाच

यदि ते वृत्ततो राजन्ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः।
व्यर्था जातिस्तदायुष्मन्कृतिर्यावन्न दृश्यते ॥ २५ ॥

सर्प बोला– हे राजन्! यदि तुम चारित्रहीसे ब्राह्मणत्व मानते हो, तो हे आयुष्मन्! जब-तक चरित्रका कार्य न हो तबतक जाति वृथा ही है? ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मति ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे महासर्प! हे महाबुद्धिमान्! मेरी बुद्धिमें जगत्के जितने मनुष्य हैं; सभी वर्णसङ्कर हैं। इससे उनकी जातिकी परीक्षा होनी बहुत ही कठिन है ॥ २६ ॥

सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति यदा नराः।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम् ॥ २७ ॥

मैं देखता हूँ, कि दूसरे वर्णकी स्त्रीसे दूसरे वर्णका पुरुष सन्तान उत्पन्न करता है। वचन, मैथुन जन्म और मरण सब पुरुषोंका समान ही होता है ॥ २७ ॥

इदमार्षं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः ॥ २८ ॥

यह 'ये यजामहे' आदि वेदवाक्य ही प्रमाण हैं और हमें मानने योग्य हैं, इसीसे तत्त्वदर्शी पण्डित सब चरित्रको प्रधान मानते हैं ॥ २८ ॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ २९ ॥

जब लडका उत्पन्न होता है, उसका नाल काटा जाता है उससे पहिले ही जातिकर्म किया जाता है, उस कर्ममें उस बालककी माता सावित्री और पिता आचार्य होता है ॥ २९ ॥

वृत्त्या शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते ।
अस्मिन्नेवं मतिद्वैधे मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ३० ॥

भगवान् स्वायम्भू मनुने भी अपनी स्मृतिमें ऐसा ही कहा है, कि जबतक बालक वेद न पढे, तबतक वह शूद्रवत् रहता है ॥ ३० ॥

कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते ।
संकरस्तत्र नागेन्द्र बलवान्प्रसमीक्षितः ॥ ३१ ॥

हे नागेन्द्र! सब वर्णोंकी संस्कार आदि क्रिया हो जानेपर भी यदि उनमें सच्चरित्रता न रहे, तो सङ्करत्वको बलवान् निश्चय करे ॥ ३१ ॥

यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते ।
तं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान्भुजगोत्तम ॥ ३२ ॥

हे सर्प! हे सर्पोंमें श्रेष्ठ! इसलिये जिसमें सुसंस्कृत चरित्र दिखाई दे उसीका पहिले मैंने ब्राह्मण कहकर वर्णन किया है ॥ ३२ ॥

सर्प उवाच

श्रुतं विदितवेद्यस्य तव वाक्यं युधिष्ठिर ।
भक्षयेयमहं कस्माद्भ्रातरं ते वृकोदरम् ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥ ६०९० ॥

सर्प बोला— हे युधिष्ठिर! मैंने तुम्हारे सब वचन सुने अब मैं तुम्हारे भाई भीमसेनको कैसे खा सकता हूं? ॥ ३३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ सतहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७७ ॥ ६०९० ॥

: १७८ :

युधिष्ठिर उवाच

भवानेतादृशो लोके वेदवेदाङ्गपारगः ।
ब्रूहि किं कुर्वतः कर्म भवेद्गतिरनुत्तमा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले— आप इस लोकमें वेद और वेदाङ्गोंके जाननेवाले हैं, अतः हमसे कहिये, कि कौन कर्म करनेसे मनुष्यको उत्तम गति होती है? ॥ १ ॥

सर्प उवाच

पात्रे दत्त्वा प्रियाण्युक्त्वा सत्यमुक्त्वा च भारत ।
अहिंसानिरतः स्वर्गं गच्छेदिति मतिर्मम ॥ २ ॥

सर्प बोला– हे भारत ! सत्पात्रको दान देना, प्रिय वचन कहना, सत्य बोलना और किसीको दुःख न देना इन्हीं कर्मोंसे पुरुष स्वर्गको जाते हैं ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दानाद्वा सर्प सत्याद्वा किमतो गुरु दृश्यते ।
अहिंसाप्रिययोश्चैव गुरुलाघवमुच्यताम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सर्प ! दान, सत्य, अहिंसा और प्रियवाणी इन चारोंमें कौन अधिक कौन कम है ? ॥ ३ ॥

सर्प उवाच

दाने रतत्वं सत्यं च अहिंसा प्रियमेव च ।
एषां कार्यगरीयस्त्वाद्दृश्यते गुरुलाघवम् ॥ ४ ॥

सर्प बोला– हे युधिष्ठिर ! दान, सत्य, अहिंसा और मीठीवाणी इन सबकी बडाई और छोटाई केवल कार्यके अनुसार होती है ॥ ४ ॥

कस्माच्चिद्दानयोगाद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।
सत्यवाक्याच्च राजेन्द्र किंचिद्दानं विशिष्यते ॥ ५ ॥

कहीं दानसे सत्य बढकर होता है और कहीं सत्यसे दान अधिक हो जाता है ॥ ५ ॥

एवमेव महेष्वास प्रियवाक्यान्महीपते ।
अहिंसा दृश्यते गुर्वी ततश्च प्रियमिष्यते ॥ ६ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! हे महा धनुर्धर ! इसी प्रकार कहीं अहिंसासे मीठीवाणी बढ जाती है और कहीं मीठीवाणीसे अहिंसा बढ जाती है ॥ ६ ॥

एवमेतद्भवेद्राजन्कार्यापेक्षमनन्तरम् ।
यदभिप्रेतमन्यत्ते ब्रूहि यावद्ब्रवीम्यहम् ॥ ७ ॥

हे राजन् ! मैंने यह सब कहा अब और जो तुम्हारी इच्छा हो वह कहो, मैं तुम्हें उसका उत्तर दूंगा ॥ ७ ॥

×

युधिष्ठिर उवाच

कथं स्वर्गे गतिः सर्प कर्मणां च फलं ध्रुवम् ।
अशरीरस्य दृश्येत विषयांश्च ब्रवीहि मे ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे सर्प ! शरीर नष्ट होनेके बाद स्वर्ग किस प्रकार मिलता है और शरीर नष्ट हो जानेके बाद कर्मका फल अवश्य प्राप्त होता है, उसका क्या प्रमाण है, इन सब विषयोंको तुम हमसे कहो ॥ ८ ॥

सर्प उवाच

तिस्रो वै गतयो राजन्परिदृष्टाः स्वकर्मभिः ।
मानुष्यं स्वर्गवासश्च तिर्यग्योनिश्च तत्त्रिधा ॥ ९ ॥

सर्प बोला— हे राजन् ! मैंने अपने कर्मोंसे तीन दशा देखी । मैं पहले मनुष्य था फिर देवता हुआ, फिर सर्प हो गया ॥ ९ ॥

तत्र वै मानुषाल्लोकाद्दानादिभिरतन्द्रितः ।
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते ॥ १० ॥

निश्चय ही पुरुष मनुष्य लोकमें दान और अहिंसादिक कर्म करके स्वर्गके सुखको भोगता है ॥ १० ॥

विपरीतैश्च राजेन्द्र कारणैर्मानुषो भवेत् ।
तिर्यग्योनिस्तथा तात विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥ ११ ॥

हे राजेन्द्र ! हे तात ! उसका उस कर्मके विपरीत करनेसे मनुष्य वा किसी नीच योनिमें जन्म होता है । मैं इसका विशेष रूपसे वर्णन करता हूँ ॥ ११ ॥

कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः ।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रसूयते ॥ १२ ॥

काम, क्रोध, लोभ और हिंसा करनेसे मनुष्य मनुष्यतासे नष्ट होकर तिर्यक् योनियोंमें जन्म लेता है ॥ १२ ॥

तिर्यग्योन्यां पृथग्भावो मनुष्यत्वे विधीयते ।
गवादिभ्यस्तथाश्वेभ्यो देवत्वमपि दृश्यते ॥ १३ ॥

नीच योनियोंसे पृथक् होना मनुष्यके लिये ही संभव है । गाय और घोडे आदिमें भी देव भाव दीख पडता है ॥ १३ ॥

सोऽयमेता गतीः सर्वा जन्तुश्चरति कार्यवान् ।
नित्ये महति चात्मानमवस्थापयते नृप ॥ १४ ॥

सभी जन्तु इस प्रकार तीन गतियोंको प्राप्त होता है, तथा सब महान् एवं नित्य परमात्मामें ही अवस्थित रहते हैं ॥ १४ ॥

जातो जातश्च बलवान्भुङ्क्ते चात्मा स देहवान्।
फलार्थस्तात निष्पृक्तः प्रजालक्षणभावनः ॥ १५ ॥

हे तात ! जीवात्मा वारवार जन्म लेकर सुख और दुःखको भोगता है, परंतु फलके लिये देहयुक्त होकर निस्पृह मनुष्य प्रजाका अर्थात् संसारका हेतु जानता है ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शब्दे स्पर्शे च रूपे च तथैव रसगन्धयोः।
तस्याधिष्ठानमव्यग्रं ब्रूहि सर्प यथातथम् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सर्प ! शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्धका आधार क्या है ? ॥ १६ ॥

किं न गृह्णासि विषयान्युगपत्त्वं महामते।
एतावदुच्यतां चोक्तं सर्वं पन्नगसत्तम ॥ १७ ॥

हे महामते सर्पश्रेष्ठ ! इन पांचोंको बुद्धि एक ही वार क्यों नहीं ग्रहणकर सकती है, तुम यह सब मुझसे कहो ॥ १७ ॥

सर्प उवाच

यदात्मद्रव्यमायुष्मन्देहसंश्रयणान्वितम्।
करणाधिष्ठितं भोगानुपभुङ्क्ते यथाविधि ॥ १८ ॥

सर्प बोला– हे चिरंजीव ! जो आत्मा सब इन्द्रिय तथा स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंसे युक्त है वही कर्मके अनुसार सब फलोंको भोगता है ॥ १८ ॥

ज्ञानं चैवात्र बुद्धिश्च मनश्च भरतर्षभ।
तस्य भोगाधिकरणे करणानि निबोध मे ॥ १९ ॥

उसको भोग करनेके आधार ज्ञान, बुद्धि, मन और इन्द्रिय है ॥ १९ ॥

मनसा तात पर्येति क्रमशो विषयानिमान्।
विषयायतनस्थेन भूतात्मा क्षेत्रनिःसृतः ॥ २० ॥

हे तात ! भूतात्मा विषय क्षेत्रसे चलकर विषयमें स्थिर हुए मनसे प्रेरित होकर इन सब विषयोंको क्रमसे भोगता है, इसलिये वह विषयोंहीमें रहता है ॥ २० ॥

अत्र चापि नरव्याघ्र मनो जन्तोर्विधीयते।
तस्माद्युगपदस्यात्र ग्रहणं नोपपद्यते ॥ २१ ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! इन सबका कारण मन ही है और मनमें एक ही वार दो ज्ञान नहीं आ सकते। इससे इन सब विषयोंका एकवार ज्ञान नहीं होता ॥ २१ ॥

स आत्मा पुरुषव्याघ्र भ्रुवोरन्तरमाश्रितः ।
द्रव्येषु सृजते बुद्धिं विविधेषु परावराम् ॥ २२ ॥

हे पुरुषसिंह ! वह आत्मा दोनों भ्रुकुटियोंके बीचमें रहता है और बुद्धिको उच्च और नीच कर्मोंमें प्रेरित करता है ॥ २२ ॥

बुद्धेरुत्तरकालं च वेदना दृश्यते बुधैः ।
एष वै राजशार्दूल विधिः क्षेत्रज्ञभावनः ॥ २३ ॥

हे युधिष्ठिर ! बुद्धिके बाद जो ज्ञान होता है, पण्डित उसे ही वेदना शक्ति कहते हैं । हे राजशार्दूल ! हमने यह क्षेत्रज्ञकी विधि कही ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मनसश्चापि बुद्धेश्च ब्रूहि मे लक्षणं परम् ।
एतदध्यात्मविदुषां परं कार्यं विधीयते ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सर्प ! तुम मुझसे बुद्धि और मनका लक्षण कहो । क्योंकि अध्यात्म विद्या जाननेवालोंको उसका जानना बहुत आवश्यक है ॥ २४ ॥

सर्प उवाच

बुद्धिरात्मानुगा तात उत्पातेन विधीयते ।
तदाश्रिता हि संज्ञैषा विधिस्तस्यैषणे भवेत् ॥ २५ ॥

सर्प बोला– हे तात युधिष्ठिर ! बुद्धि आत्माके पीछे चलनेवाली है यह सिद्ध है । इसलिये आत्माके आश्रयसे वह है ऐसा समझकर आत्मज्ञानके लिये उसीका आश्रय करो ॥ २५ ॥

बुद्धेर्गुणविधिर्नास्ति मनस्तु गुणवद्भवेत् ।
बुद्धिरुत्पद्यते कार्ये मनस्तूत्पन्नमेव हि ॥ २६ ॥

विषयोंमें इन्द्रियोंके संयोग हेतुसे बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है; मन पहलेहीसे उत्पन्न हुआ होता है । बुद्धि कार्यसे उत्पन्न होती है और मन उत्पन्न हुआ ही होता है इस प्रकार जिस गुणको धारण बुद्धि करती है उसको मन भी धारण करता है ॥ २६ ॥

एतद्विशेषणं तात मनोबुद्ध्योर्मयेरितम् ।
त्वमप्यत्राभिसंबुद्धः कथं वा मन्यते भवान् ॥ २७ ॥

हे तात ! मन और बुद्धिमें इतना ही भेद है । हे युधिष्ठिर ! तुम भी इस विषयोंमें ज्ञानी हो अतः इन विषयोंको तुम कैसा मानते हो,- वह कहो ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अहो बुद्धिमतां श्रेष्ठ शुभा बुद्धिरियं तव ।
विदितं वेदितव्यं ते कस्मान्मामनुपृच्छसि ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! तुम्हारी बुद्धि बहुत श्रेष्ठ है, तुम सब जानने योग्य विषयोंको जानते हो, तब मुझसे क्यों पूछते हो ? ॥ २८ ॥

सर्वज्ञं त्वां कथं मोह आविशत्स्वर्गवासिनम् ।
एवमद्भुतकर्माणमिति मे संशयो महान् ॥ २९ ॥

हे सर्प ! मुझको एक बडा भारी सन्देह हुआ है, कि अद्भुत कर्मकारी सब जाननेवाले तुम स्वर्गको प्राप्त हुए थे, फिर ऐसे स्थलमें तुमको मोह क्यों हुआ ? ॥ २९ ॥

सर्प उवाच

सुप्रज्ञमपि चेच्छूरमृद्धिर्मोहयते नरम् ।
वर्तमानः सुखे सर्वो नावैतीति मतिर्मम ॥ ३० ॥

सर्प बोला– हे युधिष्ठिर ! महाशूरवीर और बुद्धिमान्‌को भी ऐश्वर्यके बढनेसे अभिमान हो जाता है। मेरा ऐसा मत है, कि सुखमें रहनेसे सब मोहमें पडते हैं ॥ ३० ॥

सोऽहमैश्वर्यमोहेन मदाविष्टो युधिष्ठिर ।
पतितः प्रतिसंबुद्धस्त्वां तु संबोधयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

हे युधिष्ठिर ! मैं भी उसी ऐश्वर्यमें पडकर अभिमानके वशमें हो गया और उस अभिमानके कारणसे पृथ्वीपर गिराया गया। इसलिये इन सब बातोंको मैं जान चुका हूं अब तुम्हें बता रहा हूं ॥ ३१ ॥

कृतं कार्यं महाराज त्वया मम परंतप ।
क्षीणः शापः सुकृच्छ्रो मे त्वया संभाष्य साधुना ॥ ३२ ॥

हे महाराज ! हे शत्रुनाशक ! तुमने मुझपर बहुत उपकार किया। आज तुम महात्मासे बात करनेसे मेरा शाप नष्ट हो गया ॥ ३२ ॥

अहं हि दिवि दिव्येन विमानेन चरन्पुरा ।
अभिमानेन मत्तः सन्कञ्चिन्नान्यमचिन्तयम् ॥ ३३ ॥

मैं जब पहले दिव्य विमानपर बैठकर आकाशमें घूमता था तब अभिमानके वशमें होकर कुछ भी विचार नहीं करता था ॥ ३३ ॥

ब्रह्मर्षिदेवगन्धर्वयक्षराक्षसकिंनराः ।
करान्मम प्रयच्छन्ति सर्वे त्रैलोक्यवासिनः ॥ ३४ ॥
ब्रह्मर्षि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सर्पलोग तथा और भी तीन लोकमें निवास करनेवाले प्राणी मुझे कर देते थे ॥ ३४ ॥

चक्षुषा यं प्रपश्यामि प्राणिनं पृथिवीपते ।
तस्य तेजो हराम्याशु तद्धि दृष्टिबलं मम ॥ ३५ ॥
हे पृथ्वीनाथ! मैं जिसको अपने नेत्रोंसे देख लेता था, उसीका तेज मैं हरण कर लेता था। यह मेरी दृष्टिका बल था ॥ ३५ ॥

ब्रह्मर्षीणां सहस्रं हि उवाह शिबिकां मम ।
स मामपनयो राजन्भ्रंशयामास वै श्रियः ॥ ३६ ॥
हे राजेन्द्र! हजार ब्रह्मर्षि मेरी पालकीको लेकर चलते थे, इस प्रकार अनीतिमान् होनेके कारण मैं लक्ष्मीसे भ्रष्ट हुआ ॥ ३६ ॥

तत्र ह्यगस्त्यः पादेन वहन्स्पृष्टो मया मुनिः ।
अदृष्टेन ततोऽस्म्युक्तो ध्वंस सर्पेति वै रुषा ॥ ३७ ॥
एक दिन महामुनि अगस्त्य मेरी पालकीमें लगे हुए थे, तो मैंने उनको अपने पांवसे स्पर्श किया। तब उन्होंने क्रोधित होकर मुझे शाप दिया कि तू सर्प होकर स्वर्गसे गिर जा ॥ ३७ ॥

ततस्तस्माद्विमानाग्रात्प्रच्युतश्च्युतभूषणः ।
प्रपतन्बुबुधेऽऽत्मानं व्यालीभूतमधोमुखम् ॥ ३८ ॥
तब मैंने अपनेको उस विमानसे गिरते हुए और सब भूषणोंसे रहित होते देखा। उस समय गिरते हुए मैंने जाना कि मैं सर्प बन गया हूँ और मेरा मुख नीचेको हो गया है ॥ ३८ ॥

अयाचं तमहं विप्रं शापस्यान्तो भवेदिति ।
अज्ञानात्संप्रवृत्तस्य भगवन्क्षन्तुमर्हसि ॥ ३९ ॥
तब मैंने अगस्त्य मुनिसे कहा, कि मेरा शाप नष्ट हो। हे भगवन्! मैंने यह कर्म भूलसे किया है, इसलिये आप क्षमा कीजिये ॥ ३९ ॥

ततः स मामुवाचेदं प्रपतन्तं कृपान्वितः ।
युधिष्ठिरो धर्मराजः शापात्त्वां मोक्षयिष्यति ॥ ४० ॥
तब उन्होंने कृपा करके मुझसे कहा, कि हे नरनाथ! इस शापसे तुमको धर्मराज युधिष्ठिर छुडायेंगे ॥ ४० ॥

अभिमानस्य घोरस्य बलस्य च नराधिप ।
फले क्षीणे महाराज फलं पुण्यमवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥

हे राजन्! तुम जब इस अभिमानरूपी घोर पापके फलको भोग चुकोगे, तब पुण्य फल भोगोगे ॥ ४१ ॥

ततो मे विस्मयो जातस्तद्दृष्ट्वा तपसो बलम् ।
ब्रह्म च ब्राह्मणत्वं च येन त्वाहमचूचुदम् ॥ ४२ ॥

मैंने उनके तपस्याके बलको देखकर बहुत आश्चर्य किया। इसी हेतु ब्रह्म और ब्राह्मणत्व विषयक प्रश्न मैंने तुमसे किया ॥ ४२ ॥

सत्यं दमस्तपो योगमहिंसा दाननित्यता ।
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप ॥ ४३ ॥

सत्य, दम, इन्द्रिय जीतना, तप, दान, अहिंसा और धर्मको नित्य मानना यही मनुष्यकी श्रेष्ठताके चिन्ह हैं; हे नरनाथ! जाति और कुल साधक नहीं है ॥ ४३ ॥

अरिष्ट एव ते भ्राता भीमो मुक्तो महाभुजः ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाराज गमिष्यामि दिवं पुनः ॥ ४४ ॥

महा बलवान्! तुम्हारे भाई भीमसेन सुखसे रहें, तुम्हारा कल्याण हो। मैं अब स्वर्गको जाता हूँ ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वाजगरं देहं त्यक्त्वा स नहुषो नृपः ।
दिव्यं वपुः समास्थाय गतस्त्रिदिवमेव ह ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन बोले– महाराज नहुष ऐसा कहकर उस सर्पके शरीरको छोड और देव शरीर धारण कर स्वर्गको चले गये ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रात्रा भीमेन संगतः ।
धौम्येन सहितः श्रीमानाश्रमं पुनरभ्यगात् ॥ ४६ ॥

श्रीमान् धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर भी भीमसेन और धौम्य मुनिके सहित अपने आश्रमको लौट आये ॥ ४६ ॥

ततो द्विजेभ्यः सर्वेभ्यः समेतेभ्यो यथातथम् ।
कथयामास तत्सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४७ ॥

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने आये हुए सभी ब्राह्मणोंसे उस कथाको कह सुनाया ॥ ४७ ॥

तच्छ्रुत्वा ते द्विजाः सर्वे भ्रातरश्चास्य ते त्रयः।
आसन्सुव्रीडिता राजन्द्रौपदी च यशस्विनी ॥ ४८ ॥

उसको सुनकर सब ब्राह्मण और अर्जुन, नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रौपदी आदि सब बहुत लज्जित हुए ॥ ४८ ॥

ते तु सर्वे द्विजश्रेष्ठाः पाण्डवानां हितेप्सया।
मैवमित्यब्रुवन्भीमं गर्हयन्तोऽस्य साहसम् ॥ ४९ ॥

ब्राह्मण पाण्डवोंके कल्याणके निमित्त भीमसेनसे कहने लगे, कि ऐसा फिर कभी न करना। वे लोग भीमके दुःसाहसकी निन्दा करने लगे ॥ ४९ ॥

पाण्डवास्तु भयान्मुक्तं प्रेक्ष्य भीमं महाबलम्।
हर्षमाहारयांचक्रुर्विजह्रुश्च मुदा युताः ॥ ५० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥
समाप्तमाजगरपर्व ॥ ६१४० ॥

पाण्डवोंने महाबली भीमसेनको भयसे छूटा हुआ देखकर बहुत आनन्दित हुए और वहां प्रसन्न होकर विहार करने लगे ॥ ५० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ अठहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ १७८ ॥
आजगरपर्व समाप्त ॥ ६१४० ॥

: १७९ :

वैशम्पायन उवाच

निदाघान्तकरः कालः सर्वभूतसुखावहः।
तत्रैव वसतां तेषां प्रावृट् समभिपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— उसी स्थानपर निवास करते हुए पाण्डवोंके सब प्राणियोंको सुख देनेवाला, उष्णतानाशक वर्षाकाल आ गया ॥ १ ॥

छादयन्तो महाघोषाः खं दिशश्च बलाहकाः।
प्रववर्षुर्दिवारात्रमसिताः सततं तथा ॥ २ ॥

बडे गर्जनेवाले मेघोंने आकाशको छा लिया, वे काले काले मेघ रात और दिन बरसने लगे ॥ २ ॥

तपात्ययनिकेताश्च शतशोऽथ सहस्रशः।
अपेतार्कप्रभाजालाः सविद्युद्विमलप्रभाः ॥ ३ ॥

वर्षाकालमें रहनेवाले सूर्यके तेजको रोकनेवाले मेघ निर्मल बिजलीके तेजसे चमकने लगे ॥ ३ ॥

विरूढशष्पा पृथिवी मत्तदंशसरीसृपा ।
बभूव पयसा सिक्ता शान्तधूमरजोरुणा ॥ ४ ॥

पृथ्वीमें घासके खेत हरे हो गये । सर्प आदि जन्तु उन्मत्त होकर घूमने लगे, जलसे भर जानेके कारण पृथ्वी धुंए, धूल आदिसे रहित हो गई ॥ ४ ॥

न स्म प्रज्ञायते किंचिदम्भसा समवस्तृते ।
समं वा विषमं वापि नद्यो वा स्थावराणि वा ॥ ५ ॥

पृथ्वीमें इतना जल भर गया, कि जिससे नीचा ऊंचा जल और थल कुछ भी नहीं जान पडता था ॥ ५ ॥

क्षुब्धतोया महाघोषाः श्वसमाना इवाशुगाः ।
सिन्धवः शोभयांचक्रुः काननानि तपात्यये ॥ ६ ॥

उस समय उमडे जलसे भरी हुई बडी बडी नदियोंकी तरङ्गें मानों श्वास लेती हुई शीघ्र चलने लगीं और सब नदी तथा वन शोभासे भर गये ॥ ६ ॥

नदतां काननान्तेषु श्रूयन्ते विविधाः स्वनाः ।
वृष्टिभिस्ताड्यमानानां वराहमृगपक्षिणाम् ॥ ७ ॥

उस समय जलसे भीगनेके कारण वनोंमें सूअर, हरिन और पक्षिओंके अनेक शब्द सुनाई देने लगे ॥ ७ ॥

स्तोककाः शिखिनश्चैव पुंस्कोकिलगणैः सह ।
मत्ताः परिपतन्ति स्म दर्दुराश्चैव दर्पिताः ॥ ८ ॥

पपीहा, मोर और कोकिल उन्मत्त होकर नाचने और गाने लगे । मतवाले मेढक आनन्दसे शब्द करने लगे ॥ ८ ॥

तथा बहुविधाकारा प्रावृण्मेघानुनादिता ।
अभ्यतीता शिवा तेषां चरतां मरुधन्वसु ॥ ९ ॥

इस प्रकारके मेघोंके शब्दसे भरी हुई वर्षाऋतु पाण्डवोंने उसी वनमें सुखपूर्वक बिता दी ॥ ९ ॥

क्रौञ्चहंसगणाकीर्णा शरत्प्रणिहिताभवत् ।
रूढकक्षवनप्रस्था प्रसन्नजलनिम्नगा ॥ १० ॥

तदनन्तर सारस और हंसोंको आनन्द देनेवाली शरत्‌ऋतु आ गयी । उसके आते ही सब वन प्रसन्न दीखने लगा । नदियोंके पानी स्वच्छ हो गए ॥ १० ॥

विमलाकाशनक्षत्रा शरत्तेषां शिवाभवत् ।
मृगद्विजसमाकीर्णा पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ ११ ॥

आकाशके तारे निर्मल हो गये । इस प्रकार महात्मा पाण्डवोंने हिरण और पक्षियोंसे भरी हुई कल्याणदायिनी शरत्ऋतुको देखा ॥ ११ ॥

पश्यन्तः शान्तरजसः क्षपा जलदशीतलाः ।
ग्रहनक्षत्रसंघैश्च सोमेन च विराजिताः ॥ १२ ॥

उस ऋतुमें धूलसे रहित, मेघोंसे शीतल चन्द्रमा और तारोंसे विराजमान रात्रि दीखने लगी ॥ १२ ॥

कुमुदैः पुण्डरीकैश्च शीतवारिधराः शिवाः ।
नदीः पुष्करिणीश्चैव ददृशुः समलंकृताः ॥ १३ ॥

सब पोखरोंमें कमल कुमद खिल गये, मेघ भी सुखकर हो गए । सब नदी शीतल और निर्मल जलसे भरी हुई दीखने लगी ॥ १३ ॥

आकाशनीकाशतटां नीपनीवारसंकुलाम् ।
बभूव चरतां हर्षः पुण्यतीर्थां सरस्वतीम् ॥ १४ ॥

आकाशके समान निर्मल तटवाली और नीवार और बेंतके वृक्षोंसे विराजमान पवित्र जलवाली सरस्वतीके तटपर घूमते हुए वे बहुत प्रसन्न हो गए ॥ १४ ॥

ते वै मुमुदिरे वीराः प्रसन्नसलिलां शिवाम् ।
पश्यन्तो दृढधन्वानः परिपूर्णां सरस्वतीम् ॥ १५ ॥

महाधनुर्धारी वीर पाण्डव निर्मल जलसे भरी हुई सुन्दर सरस्वती नदीको देखते हुए आनन्दसे विहार करने लगे ॥ १५ ॥

तेषां पुण्यतमा रात्रिः पर्वसंधौ स्म शारदी ।
तत्रैव वसतामासीत्कार्तिकी जनमेजय ॥ १६ ॥

हे जनमेजय ! उन महात्माओंने शरत् कालकी कार्तिकी पूर्णमासी उसी स्थानपर रहकर बिताई ॥ १६ ॥

पुण्यकृद्भिर्महासत्त्वैस्तापसैः सह पाण्डवाः ।
तत्सर्वं भरतश्रेष्ठाः समूहुर्योगमुत्तमम् ॥ १७ ॥

पुण्य कर्म करनेवाले महातपस्वी ब्राह्मणोंके सहित भरत-कुलश्रेष्ठ पाण्डव उसी स्थानपर उत्तम योग करने लगे ॥ १७ ॥

तमिस्राभ्युदये तस्मिन्धौम्येन सह पाण्डवाः ।
सूतैः पौरोगवैश्चैव काम्यकं प्रययुर्वनम् ॥ १८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥ ६१५८ ॥

जब कार्तिकका कृष्णपक्ष आरम्भ हुआ, उसी दिन पाण्डव धौम्य मुनि, सारथी और नगर निवासियोंको साथमें लेकर काम्यक वनको चले गये ॥ १८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ उनासीवां अध्याय समाप्त ॥ १७९ ॥ ६१५८ ॥

: १८० :

वैशम्पायन उवाच

काम्यकं प्राप्य कौन्तेया युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
कृतातिथ्या मुनिगणैर्निषेदुः सह कृष्णया ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! युधिष्ठिर आदि सब पाण्डव द्रौपदीके सहित काम्यक वनमें पहुंचे । वहां मुनियोंसे बहुत सत्कार पाकर द्रौपदीके साथ रहने लगे ॥ १ ॥

ततस्तान्परिविश्वस्तान्वसतः पाण्डुनन्दनान् ।
ब्राह्मणा बहवस्तत्र समन्तात्पर्यवारयन् ॥ २ ॥

जब विश्वासयुक्त पाण्डव उस वनमें रहने लगे, तो अनेक ब्राह्मण उनके पास आने लगे ॥ २ ॥

अथाब्रवीद्द्विजः कश्चिदर्जुनस्य प्रियः सखा ।
एष्यतीह महाबाहुर्वशी शौरिरुदारधीः ॥ ३ ॥

एक दिन एक अर्जुनके प्रिय मित्र ब्राह्मणने कहा, कि हे अर्जुन ! महाबुद्धिमान् महाबाहु जितेन्द्रिय श्रीकृष्ण तुम्हारे पास आयेंगे ॥ ३ ॥

विदिता हि हरेर्यूयमिहायाताः कुरूद्वहाः ।
सदा हि दर्शनाकाङ्क्षी श्रेयोन्वेषी च वो हरिः ॥ ४ ॥

क्योंकि हरिने आपलोगोंके यहां आनेका समाचार सुन लिया है । कृष्ण सदा आपलोगोंके दर्शन और कल्याणको चाहते हैं ॥ ४ ॥

बहुवत्सरजीवी च मार्कण्डेयो महातपाः ।
स्वाध्यायतपसा युक्तः क्षिप्रं युष्मान्समेष्यति ॥ ५ ॥

वेदपाठ और तपको करनेवाले महातपस्वी चिरकालजीवी मार्कण्डेय भी आपके पास शीघ्र ही आयेंगे ॥ ५ ॥

तथैव तस्य ब्रुवतः प्रत्यदृश्यत केशवः ।
सैन्यसुग्रीवयुक्तेन रथेन रथिनां वरः ॥ ६ ॥

जिस समय वह ब्राह्मण ऐसा कह रहा था, उसी समय सैन्य और सुग्रीव घोड़ोंसे युक्त रथ-पर बैठे हुए, महारथी कृष्ण दिखायी दिये ॥ ६ ॥

मघवानिव पौलोम्या सहितः सत्यभामया ।
उपयाद्देवकीपुत्रो दिदृक्षुः कुरुसत्तमान् ॥ ७ ॥

जैसे शचीके सहित इन्द्र आते हैं, वैसे ही सत्यभामाके सहित देवकीनन्दन भी पाण्डवोंको देखने आये ॥ ७ ॥

अवतीर्य रथात्कृष्णो धर्मराजं यथाविधि ।
ववन्दे मुदितो धीमान्भीमं च बलिनां वरम् ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् कृष्णने रथसे उतरकर प्रसन्न हो युधिष्ठिर और बलवान् भीमसेनको प्रणाम किया ॥ ८ ॥

पूजयामास धौम्यं च यमाभ्यामभिवादितः ।
परिष्वज्य गुडाकेशं द्रौपदीं पर्यसान्त्वयत् ॥ ९ ॥

धौम्यकी पूजा की तथा नकुल और सहदेवने कृष्णको प्रणाम किया, कृष्ण अर्जुनसे गले मिले और द्रौपदीको शान्त किया ॥ ९ ॥

स दृष्ट्वा फल्गुनं वीरं चिरस्य प्रियमागतम् ।
पर्यष्वजत दाशार्हः पुनः पुनररिन्दमम् ॥ १० ॥

दशार्हदेशके स्वामी कृष्णने अपने प्रिय शत्रुनाशी अर्जुनको बहुत दिनके बाद आया हुआ देख बारबार कण्ठसे लगाया ॥ १० ॥

तथैव सत्यभामापि द्रौपदीं परिषस्वजे ।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ ११ ॥

इसी प्रकार कृष्णकी प्रिया पटरानी सत्यभामा भी पाण्डवोंकी प्यारी पटरानी द्रौपदीसे गले मिली ॥ ११ ॥

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सभार्याः सपुरोहिताः ।
आनर्चुः पुण्डरीकाक्षं परिवव्रुश्च सर्वशः ॥ १२ ॥

तब पाण्डवोंने पुरोहित और स्त्रीके सहित कृष्णकी पूजा की और उनसे कुशल प्रश्न पूछा ॥ १२ ॥

कृष्णस्तु पार्थेन समेत्य विद्वान्धनंजयेनासुरतर्जनेन ।
बभौ यथा भूतपतिर्महात्मा समेत्य साक्षाद्भगवान्गुहेन ॥ १३ ॥
श्रीमान् विद्वान् महात्मा कृष्ण असुरोंके नाशक पृथापुत्र अर्जुनसे मिलकर ऐसे शोभित हुए जैसे भगवान् शिव साक्षात् स्वामी कार्तिकसे मिलकर शोभित होते हैं ॥ १३ ॥

ततः समस्तानि किरीटमाली वनेषु वृत्तानि गदाग्रजाय ।
उक्त्वा यथावत्पुनरन्वपृच्छत्कथं सुभद्रा च तथाभिमन्युः ॥ १४ ॥
तत्पश्चात् अर्जुनने वनका सब वृत्तान्त श्रीकृष्णसे कहकर सुभद्रा और अभिमन्यु कैसे हैं यह बारबार पूछा ॥ १४ ॥

स पूजयित्वा मधुहा यथावत्पार्थांश्च कृष्णां च पुरोहितं च ।
उवाच राजानमभिप्रशंसन्युधिष्ठिरं तत्र सहोपविश्य ॥ १५ ॥
मधुनाशक श्रीकृष्णने पाण्डव, द्रौपदी और धौम्य पुरोहितकी पूजा करके महाराज युधिष्ठिरके पास बैठकर उनकी प्रशंसा करते हुए कहा ॥ १५ ॥

धर्मः परः पाण्डव राज्यलाभात्तस्यार्थमाहुस्तप एव राजन् ।
सत्यार्जवाभ्यां चरता स्वधर्मं जितस्तवायं च परश्च लोकः ॥ १६ ॥
हे राजन् ! हे पाण्डव ! राज्य मिलनेकी अपेक्षा उत्तम धर्महीका आचरण करना उचित है, उसका मूल कारण केवल तप ही कहा है। आपने सत्य और सरलतासे इह लोक और पर-लोकको जीत लिया ॥ १६ ॥

अधीतमग्रे चरता व्रतानि सम्यग्धनुर्वेदमवाप्य कृत्स्नम् ।
क्षात्रेण धर्मेण वसूनि लब्ध्वा सर्वे ह्यवाप्ताः क्रतवः पुराणाः ॥ १७ ॥
आपने सब वेदोंको पढा, सब व्रतोंको किया और समस्त धनुर्वेदको विधिपूर्वक पढा, तथा क्षत्रियोंके धर्मसे धन उपार्जन करके सब बडे बडे यज्ञ भी किया ॥ १७ ॥

न ग्राम्यधर्मेषु रतिस्तवास्ति कामान्न किंचित्कुरुषे नरेन्द्र ।
न चार्थलोभात्प्रजहासि धर्मं तस्मात्प्रभावादसि धर्मराजः ॥ १८ ॥
हे नरेन्द्र ! आपकी इच्छा कभी ग्राम्य अर्थात् साधारण धर्मोंमें नहीं होती। आप कामके वशमें होकर कोई काम नहीं करते, आप कभी लोभके वशमें होकर धर्मको छोडते नहीं हैं। इसी कारण सब मनुष्य आपको धर्मराज कहते हैं ॥ १८ ॥

दानं च सत्यं च तपश्च राजञ्श्रद्धा च शान्तिश्च धृतिः क्षमा च ।
अवाप्य राष्ट्राणि वसूनि भोगानेषा परा पार्थ सदा रतिस्ते ॥ १९ ॥
हे पार्थ ! हे राजन् ! आपकी बुद्धि, दान, सत्य, तप, श्रद्धा, शान्ति, क्षमा और धैर्यकी ओर अधिक है यद्यपि आपने राष्ट्रको प्राप्त करके धन और भोगोंको प्राप्त किया है। तथापि आपकी इच्छा सदा धर्ममें रहती है ॥ १९ ॥

यदा जनौघः कुरुजाङ्गलानां कृष्णां सभायामवशामपश्यत् ।
अपेतधर्मव्यवहारवृत्तं सहेत तत्पाण्डव कस्त्वदन्यः ॥ २० ॥
हे पाण्डव ! जिस समय कुरुवंशियोंकी सभामें सब पुरुषोंने द्रौपदीके उस दुःखको देखा, उस अधर्मके व्यवहारको आपके सिवाय और कौन क्षमा कर सकता था ॥ २० ॥

असंशयं सर्वसमृद्धकामः क्षिप्रं प्रजाः पालयितासि सम्यक् ।
इमे वयं निग्रहणे कुरूणां यदि प्रतिज्ञा भवतः समाप्ता ॥ २१ ॥
आप निस्सन्देह सब समृद्धिको प्राप्त करके शीघ्र ही प्रजाका पालन करेंगे । जिस समय आपकी प्रतिज्ञा समाप्त होगी, उसी समय हम सब कौरवोंको जीतनेका यत्न करेंगे ॥२१॥

धौम्यं च कृष्णां च युधिष्ठिरं च यमौ च भीमं च दशार्हसिंहः ।
उवाच दिष्ट्या भवतां शिवेन प्राप्तः किरीटी मुदितः कृतास्त्रः ॥ २२ ॥
दशार्ह देशके स्वामी श्रीकृष्णने धौम्य, भीम, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और द्रौपदीसे कहा कि, आप लोगोंके सौभाग्यसे ही अर्जुन अस्त्र सीखकर आये हैं ॥ २२ ॥

प्रोवाच कृष्णामपि याज्ञसेनीं दशार्हभर्ता सहितः सुहृद्भिः ।
कृष्णे धनुर्वेदरतिप्रधानाः सत्यव्रतास्ते शिशवः सुशीलाः ।
सद्भिः सदैवाचरितं समाधिं चरन्ति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ॥ २३ ॥
दशार्ह देशके स्वामी श्रीकृष्णने बंधुओंके सहित बैठी हुई द्रौपदीसे कहा, हे याज्ञसेनि ! हे कृष्णे ! तुम्हारे सुशील पुत्रोंकी इच्छा भी धनुर्वेद सीखनेमें अधिक रहती है, तुम्हारे पुत्र सदा अपने सज्जन बन्धुओंके आचरणोंको करते हैं ॥ २३ ॥

राज्येन राष्ट्रैश्च निमन्त्र्यमाणाः पित्रा च कृष्णे तव सोदरैश्च ।
न यज्ञसेनस्य न मातुलानां गृहेषु बाला रतिमाप्नुवन्ति ॥ २४ ॥
हे द्रौपदी ! वे राज्यसे आमन्त्रित होकर और तुम्हारे पिता और तुम्हारे भाइयोंसे सत्कार पाकर भी अपने मामाके यहां प्रसन्न नहीं हैं ॥ २४ ॥

आनर्तमेवाभिमुखाः शिवेन गत्वा धनुर्वेदरतिप्रधानाः ।
तवात्मजा वृष्णिपुरं प्रविश्य न दैवतेभ्यः स्पृहयन्ति कृष्णे ॥ २५ ॥
वे धनुर्वेदमें प्रीति रखनेके कारण सीधे द्वारिकाकी ओर मुख करके चले आते हैं और हे कृष्णे ! तुम्हारे पुत्र वहां आकर वे देवोंकी भी इच्छा नहीं करते ॥ २५ ॥

यथा त्वमेवार्हसि तेषु वृत्तिं प्रयोक्तुमार्या च यथैव कुन्ती ।
तेष्वप्रमादेन सदा करोति तथा च भूयश्च तथा सुभद्रा ॥ २६ ॥
हे द्रौपदी ! उनके साथ तुम जैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार करती हो, और आर्या कुन्ती जिस तरहका प्रेमपूर्ण व्यवहार करती हैं, उसी तरहका प्रेमपूर्ण व्यवहार सुभद्रा भी उनसे करती है, अथवा वह ज्यादा ही करती है ॥ २६ ॥

यथानिरुद्धस्य यथाभिमन्योर्यथा सुनीथस्य यथैव भानोः ।
तथा विनेता च गतिश्च कृष्णे तवात्मजानामपि रौक्मिणेयः ॥ २७ ॥
जैसे वे प्रसन्न हैं, वैसे ही ये लोग उनके ऊपर कृपा भी करते हैं। प्रद्युम्न जैसे अनिरुद्ध, अभिमन्यु, सुनीथ और भानुको शिक्षा देते हैं वैसे ही तुम्हारे पुत्रोंको भी शिक्षा देते हैं ॥ २७ ॥

गदासिचर्मग्रहणेषु शूरानस्त्रेषु शिक्षासु रथाश्वयाने ।
सम्यग्विनेता विनयत्यतन्द्रीस्तांश्चाभिमन्युः सततं कुमारः ॥ २८ ॥
तुम्हारे पुत्र गदा खड्ग तथा ढाल धारण करनेमें निपुण हैं, उनको आलस्यरहित होकर कुमार अभिमन्यु रथ और घोडा चलानेकी विद्या सिखावेंगे ॥ २८ ॥

स चापि सम्यक्प्रणिधाय शिक्षामस्त्राणि चैषां गुरुवत्प्रदाय ।
तवात्मजानां च तथाभिमन्योः पराक्रमैस्तुष्यति रौक्मिणेयः ॥ २९ ॥
प्रद्युम्न भी तुम्हारे पुत्र और अभिमन्युको अच्छीप्रकार शिक्षा देंगे और शस्त्रोंको सिखा कर उनके पराक्रमसे प्रसन्न होंगे ॥ २९ ॥

यदा विहारं प्रसमीक्षमाणाः प्रयान्ति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ।
एकैकमेषामनुयान्ति तत्र रथाश्च यानानि च दन्तिनश्च ॥ ३० ॥
हे याज्ञसेनी ! तुम्हारे पुत्र आनन्दसे विहार करनेके लिये जब बाहर जाते हैं तब उनमेंसे हर एकके पीछे कई रथ कई हाथी और कई घोडे भी जाते हैं ॥ ३० ॥

अथाब्रवीद्धर्मराजं तु कृष्णो दशार्हयोधाः कुकुरान्धकाश्च ।
एते निदेशं तव पालयन्ति तिष्ठन्ति यत्रेच्छसि तत्र राजन् ॥ ३१ ॥
तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरसे कृष्णने कहा कि हे धर्मराज ! दशार्ह देशके कुमार और कुकुरान्धक वंशी शूरवीर क्षत्रिय गण केवल आपकी आज्ञाका मार्ग देख रहे हैं; हे राजन् ! जहां आपकी आज्ञा हो वहीं ये लोग रहें ॥ ३१ ॥

आवर्ततां कार्मुकवेगवाता हलायुधप्रग्रहणा मधूनाम् ।
सेना तवार्थेषु नरेन्द्र यत्ता ससादिपत्त्यश्वरथा सनागा ॥ ३२ ॥
हे राजन् ! आपके शत्रुओंकी सेना बलरामके धनुषसे छूटे हुए बाणोंसे नष्ट हो । हे नरेन्द्र ! मथुराकी सब सेना हाथी, घोडे और रथके सहित जहां आपकी आज्ञा हो वहां रहें ॥ ३२ ॥

प्रस्थाप्यतां पाण्डव धार्तराष्ट्रः सुयोधनः पापकृतां वरिष्ठः ।
स सानुबन्धः ससुहृद्गणश्च सौभस्य सौभाधिपतेश्च मार्गम् ॥ ३३ ॥
हे धर्मराज ! पापियोंमें श्रेष्ठ धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन उसी मार्गको जाये जिसको सौभनगर और सौभाधिपति और शाल्व गया है ॥ ३३ ॥

कामं तथा तिष्ठ नरेन्द्र तस्मिन्यथा कृतस्ते समयः सभायाम् ।
दाशार्हयोधैस्तु ससादियोधं प्रतीक्षतां नागपुरं भवन्तम् ॥ ३४ ॥

हे नरेन्द्र! आपने जो सभामें प्रतिज्ञा की थी, जबतक वह समाप्त न हो तबतक जहां आपकी इच्छा हो रहिये, फिर तो यादवोंके बाणोंसे नष्ट हुए शत्रुओंसे रहित हस्तिनापुरको देखेंगे ही ॥ ३४ ॥

व्यपेतमन्युर्व्यपनीतपाप्मा विहृत्य यत्रेच्छसि तत्र कामम् ।
ततः समृद्धं प्रथमं विशोकः प्रपत्स्यसे नागपुरं सराष्ट्रम् ॥ ३५ ॥

हे महाराज! इस समय तो क्रोध और पापसे रहित होकर कहीं इच्छानुसार रहकर बिता लीजिये; फिर तो शोकरहित होकर राज्यके सहित प्रसिद्ध हस्तिनापुरको जाएंगे ही ॥३५॥

ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा यथावदुक्तं पुरुषोत्तमेन ।
प्रशस्य विप्रेक्ष्य च धर्मराजः कृताञ्जलिः केशवमित्युवाच ॥ ३६ ॥

महात्मा कृष्णके ऐसे कहनेपर और उस पुरुष श्रेष्ठके विचारको जानकर युधिष्ठिरने उनकी बहुत प्रशंसा की और हाथ जोडकर कहने लगे ॥ ३६ ॥

असंशयं केशव पाण्डवानां भवान्गतिस्त्वच्छरणा हि पार्थाः ।
कालोदये तच्च ततश्च भूयः कर्ता भवान्कर्म न संशयोऽस्ति ॥ ३७ ॥

हे केशव! निस्सन्देह आप ही पाण्डवोंकी गति और पाण्डव आपहीके शरणमें हैं, निस्सन्देह समय आनेपर आप इन सब कर्मोंको ऐसे ही करेंगे ॥ ३७ ॥

यथाप्रतिज्ञं विहृतश्च कालः सर्वाः समा द्वादश निर्जनेषु ।
अज्ञातचर्यां विधिवत्समाप्य भवद्गताः केशव पाण्डवेयाः ॥ ३८ ॥

हम अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार वनमें बारह वर्ष बिता चुके। हे केशव! अब हम तेरहवें वर्षको विधिपूर्वक छिपकर बितावेंगे फिर तो पाण्डव आपहीकी शरणमें हैं ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा वदति वार्ष्णेये धर्मराजे च भारत ।
अथ पश्चात्तपोवृद्धो बहुवर्षसहस्रधृक् ।
प्रत्यदृश्यत धर्मात्मा मार्कण्डेयो महातपाः ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भारत! जिस समय धर्मराज युधिष्ठिर श्रीकृष्णसे ऐसा कह रहे थे, उसी समय कई हजार वर्षोंके बूढे हुए, महात्मा, धर्मात्मा मार्कण्डेय दिखाई दिये ॥ ३९ ॥

तमागतमृषिं वृद्धं बहुवर्षसहस्रिणम् ।
आनर्चुर्ब्राह्मणाः सर्वे कृष्णश्च सह पाण्डवैः ॥ ४० ॥

उन कई हजार वर्षके बूढे तपस्वीको आये हुए देखकर सब ब्राह्मण और श्रीकृष्णके सहित पाण्डवोंने उनकी पूजा की ॥ ४० ॥

तमर्चितं सुविश्वस्तमासीनमृषिसत्तमम् ।
ब्राह्मणानां मतेनाह पाण्डवानां च केशवः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर जब मुनि पूजा पाकर सावधान होकर बैठ गये, तब ब्राह्मण और पाण्डवोंकी संमतिसे श्रीकृष्ण बोले ॥ ४१ ॥

शुश्रूषवः पाण्डवास्ते ब्राह्मणाश्च समागताः ।
द्रौपदी सत्यभामा च तथाहं परमं वचः ॥ ४२ ॥

हे मुने ! सब पाण्डव, ब्राह्मण, द्रौपदी, सत्यभामा और मैं आपके उत्तम वचनोंके सुननेकी इच्छा रखते हैं ॥ ४२ ॥

पुरावृत्ताः कथाः पुण्याः सदाचाराः सनातनाः ।
राज्ञां स्त्रीणामृषीणां च मार्कण्डेय विचक्ष्व नः ॥ ४३ ॥

हे मार्कण्डेय ! आप हमसे सदाचार, राजा और स्त्रियोंकी तथा मुनियोंकी पवित्र कथाओंको कहिये ॥ ४३ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु देवर्षिरपि नारदः ।
आजगाम विशुद्धात्मा पाण्डवानवलोककः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन बोले– जिस समय ये सब लोग एक स्थानपर बैठे थे, उसी समय पाण्डवोंको देखनेकी इच्छासे पवित्र देवर्षि नारद भी आ पहुंचे ॥ ४४ ॥

तमप्यथ महात्मानं सर्वे ते पुरुषर्षभाः ।
पाद्यार्घ्याभ्यां यथान्यायमुपतस्थुर्मनीषिणम् ॥ ४५ ॥

उन महात्माको आते देखकर पुरुषसिंह बुद्धिमान् पाण्डवोंने विधिपूर्वक पाद्य और अर्घसे पूजा की ॥ ४५ ॥

नारदस्त्वथ देवर्षिर्ज्ञात्वा तांस्तु कृतक्षणान् ।
मार्कण्डेयस्य वदतस्तां कथामन्वमोदत ॥ ४६ ॥

देवर्षि नारदने भी उसी क्षण मार्कण्डेयसे कहा, आप कुछ कथा कहिये ॥ ४६ ॥

उवाच चैनं कालज्ञः स्मयन्निव स नारदः ।
ब्रह्मर्षे कथ्यतां यत्ते पाण्डवेषु विवक्षितम् ॥ ४७ ॥

समयके जाननेवाले नारद प्रसन्न होकर बोले, कि, हे ब्रह्मर्षि ! पाण्डवोंसे आप जो कथा कहना चाहते हैं वह कथा आप कहिये ॥ ४७ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच मार्कण्डेयो महातपाः ।
क्षणं कुरुध्वं विपुलमाख्यातव्यं भविष्यति ॥ ४८ ॥

नारदके ऐसे वचन सुनकर महामुनि मार्कण्डेय बोले, आप लोग क्षणभर चुप रहिये, इसके पीछे मैं बहुत कुछ कहूंगा ॥ ४८ ॥

एवमुक्ताः क्षणं चक्रुः पाण्डवाः सह तैर्द्विजैः ।
मध्यंदिने यथादित्यं प्रेक्षन्तस्तं महामुनिम् ॥ ४९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥ ६२०७ ॥

महात्मा सनातन मार्कण्डेयके ऐसे वचन सुनकर पाण्डव सब ब्राह्मणोंके सहित चुप होकर मार्कण्डेयका मुंह ऐसे देखने लगे; जैसे दोपहरके समय सूर्यको देखते हैं ॥ ४९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ अस्सीवां अध्याय समाप्त ॥ १८० ॥ ६२०७ ॥

: १८१ :

वैशम्पायन उवाच

तं विवक्षन्तमालक्ष्य कुरुराजो महामुनिम् ।
कथासंजननार्थाय चोदयामास पाण्डवः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् ! कुरुराज युधिष्ठिरने जब देखा, कि अब महामुनि कुछ कहना चाहते हैं, तब हाथ जोडकर कथा पूछने लगे ॥ १ ॥

भवान्दैवतदैत्यानामृषीणां च महात्मनाम् ।
राजर्षीणां च सर्वेषां चरितज्ञः सनातनः ॥ २ ॥

हे मुने ! आप पुराने देवता, दैत्य, महात्मा मुनि और सब राजऋषियोंके चरित्रोंको जानते हैं ॥ २ ॥

सेव्यश्चोपासितव्यश्च मतो नः काङ्क्षितश्चिरम् ।
अयं च देवकीपुत्रः प्राप्तोऽस्मानवलोककः ॥ ३ ॥

हमारे पूजनीय सेवनीय और सदाके प्रिय देवकीनन्दन श्रीकृष्ण भी हम लोगोंसे मिलने यहां आये हैं ॥ ३ ॥

अनत्येव हि मे बुद्धिर्दृष्ट्वात्मानं सुखाच्च्युतम् ।
धार्तराष्ट्रांश्च दुर्वृत्तानृध्यतः प्रेक्ष्य सर्वशः ॥ ४ ॥

अपनेको सुखसे भ्रष्ट और धृतराष्ट्रके पुत्रोंको धनवान् तथा प्रभुतावान् देखकर मेरी बुद्धि कहती है ॥ ४ ॥

कर्मणः पुरुषः कर्ता शुभस्याप्यशुभस्य च ।
स्वफलं तदुपाश्नाति कथं कर्ता स्विदीश्वरः ॥ ५ ॥

हे मुने ! अच्छे और बुरे कर्मोंका करनेवाला पुरुष है और वही फलको भोगता है तो ईश्वर किस तरहसे कर्त्ता हुआ ? ॥ ५ ॥

अथ वा सुखदुःखेषु नृणां ब्रह्मविदां वर ।
इह वा कृतमन्वेति परदेहेऽथ वा पुनः ॥ ६ ॥

हे ब्रह्म जाननेवालोंमें श्रेष्ठ ! सुखदुःखरूपी कर्मके फलको जीव इसी जन्ममें भोगता है, वा दूसरे जन्ममें ? ॥ ६ ॥

देही च देहं सन्त्यज्य मृग्यमाणः शुभाशुभैः ।
कथं संयुज्यते प्रेत्य इह वा द्विजसत्तम ॥ ७ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! अपने शुभ और अशुभ कर्मोंको करके जब मनुष्य इस देहको छोड देता है, तब वह फिर इस लोक या परलोकमें किस तरह अपने उन कर्मोंसे संयुक्त होता है ? ॥ ७ ॥

ऐहलौकिकमेवैतदुताहो पारलौकिकम् ।
क च कर्माणि तिष्ठन्ति जन्तोः प्रेतस्य भार्गव ॥ ८ ॥

हे भृगुवंशी ! सुख और दुःखोंका फल यहां मिलता है वा परलोकमें ? और प्राणीके कर्म यहां रहते हैं वा परलोकमें ? ॥ ८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो यथावद्वदतां वर ।
विदितं वेदितव्यं ते स्थित्यर्थमनुपृच्छसि ॥ ९ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे कहनेवालोंमें श्रेष्ठ ! तुम्हारा यह प्रश्न तुम्हारे ही योग्य है । तुम तो सब ज्ञानको जानते ही हो, फिर भी दूसरोंके ज्ञानके लिए तुम पूछ रहे हो ॥ ९ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ।
यथेहामुत्र च नरः सुखदुःखमुपाश्नुते ॥ १० ॥

जिस रीतिसे जीव इस लोक और परलोकमें सुखको भोगता है, वह मैं तुमसे कहता हूं, एकाग्र-चित्त होकर सुनो ॥ १० ॥

निर्मलानि शरीराणि विशुद्धानि शरीरिणाम् ।
ससर्ज धर्मतन्त्राणि पूर्वोत्पन्नः प्रजापतिः ॥ ११ ॥

प्रथम उत्पन्न प्रजापतिने जीवोंके शरीर शुद्ध और निर्मल और धर्म करने योग्य बनाये थे ॥ ११ ॥

अमोघबलसंकल्पाः सुव्रताः सत्यवादिनः ।
ब्रह्मभूता नराः पुण्याः पुराणाः कुरुनन्दन ॥ १२ ॥

हे कुरुनन्दन ! उस समय सब मनुष्य ऐसे होते थे जिनके संकल्प कभी निष्फल नहीं जाते थे । पुराने मनुष्य सत्य बोलनेवाले सत्यव्रत तथा ब्रह्ममें लीन पुण्यात्मा होते थे ॥ १२ ॥

सर्वे देवैः समायान्ति स्वच्छन्देन नभस्तलम् ।
ततश्च पुनरायान्ति सर्वे स्वच्छन्दचारिणः ॥ १३ ॥

वे सब मनुष्य देवोंके संग स्वतंत्र आकाशमें विचरते थे, वह लोग स्वतंत्रतासे आकाशसे भूमिमें आते थे ॥ १३ ॥

स्वच्छन्दमरणाश्चासन्नराः स्वच्छन्दजीविनः ।
अल्पबाधा निरातङ्का सिद्धार्था निरुपद्रवाः ॥ १४ ॥

उन लोगोंका मरना उनके अपने अधीन था, वे स्वच्छन्दतासे जीवित रहते थे । थोडी बाधावाले, रोगरहित और उपद्रव रहित तथा सिद्ध मनोरथवाले होते थे ॥ १४ ॥

द्रष्टारो देवसंघानामृषीणां च महात्मनाम् ।
प्रत्यक्षाः सर्वधर्माणां दान्ता विगतमत्सराः ॥ १५ ॥

देवता और महात्मा मुनियोंके दर्शन करनेवाले, सब धर्मोंको प्रत्यक्ष करनेवाले, जितेन्द्रिय, मद मत्सरसे रहित ॥ १५ ॥

आसन्वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः ।
ततः कालान्तरेऽन्यस्मिन्पृथिवीतलचारिणः ॥ १६ ॥

कामक्रोधाभिभूतास्ते मायाव्याजोपजीविनः ।
लोभमोहाभिभूताश्च त्यक्ता देवैस्ततो नराः ॥ १७ ॥

सहस्र वर्षकी अवस्थावाले, सहस्र पुत्रवाले पुरुष होते थे । उसके अनन्तर मनुष्य कालान्तरमें पृथ्वीतलमात्रमें विचरनेवाले, तथा काम और क्रोधसे भरकर माया और छलसे जीते हैं, अन्तमें लोभ मोहसे पीडित होकर देवोंको छोडते हैं ॥ १६–१७ ॥

अशुभैः कर्मभिः पापास्तिर्यङ्नरकगामिनः ।
संसारेषु विचित्रेषु पच्यमानाः पुनः पुनः ॥ १८ ॥

वे अशुभ और पाप कर्म करनेसे तिर्यक् और नरक योनियोंमें जन्म लेते हैं, वे लोग संसार दुःखोंमें वारवार पचाये जाते हैं ॥ १८ ॥

मोघेष्टा मोघसंकल्पा मोघज्ञाना विचेतसः ।
सर्वातिशङ्किनश्चैव संवृत्ताः क्लेशभागिनः ।
अशुभैः कर्मभिश्चापि प्रायशः परिचिह्निताः ॥ १९ ॥

उनकी बुद्धि संकल्प ज्ञान और शक्ति मिथ्या होती है । वे लोग सबको दुःख देनेवाले और सबसे शंका रखनेवाले होते हैं, वे लोग प्रायः पाप लक्षणयुक्त होते हैं ॥ १९ ॥

दौष्कुल्या व्याधिबहुला दुरात्मानोऽप्रतापिनः ।
भवन्त्यल्पायुषः पापा रौद्रकर्मफलोदयाः ।
नाथन्तः सर्वकामानां नास्तिका भिन्नसेतवः ॥ २० ॥

वेही लोग नीच कुलमें उत्पन्न होते हैं, वे बहुतसे रोगोंसे ग्रस्त होते हैं । वेही लोग दुष्टात्मा और दुःखदाई होते हैं और वेही लोग थोडी अवस्था और दुष्टकर्म करनेवाले, उनके फल भोगनेवाले और सब विषयोंकी इच्छा करनेवाले होते हैं, वे पापी नास्तिक और अस्थिर मनवाले होते हैं ॥ २० ॥

जन्तोः प्रेतस्य कौन्तेय गतिः स्वैरिह कर्मभिः ।
प्राज्ञस्य हीनबुद्धेश्च कर्मकोशः क तिष्ठति ॥ २१ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! मरे हुए पुरुषकी गति कर्मके अनुसार कैसी होती है ? प्राज्ञ और बुद्धिरहित पुरुषके संचित कर्म किसी योनिमें प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

कस्थस्तत्समुपाश्नाति सुकृतं यदि वेतरत् ।
इति ते दर्शनं यच्च तत्राप्यनुनयं शृणु ॥ २२ ॥

और जीव किसी योनिमें रहकर अपने सुकृत या दुष्कृत कर्मके फलोंको भोगता है, ऐसा जो तुम्हारा प्रश्न है, इस प्रश्नका सिद्धान्त हमसे सुनो ॥ २२ ॥

अयमादिशरीरेण देवसृष्टेन मानवः ।
शुभानामशुभानां च कुरुते संचयं महत् ॥ २३ ॥

मनुष्यके शरीरको परमेश्वर बनाता है, मनुष्य इसी शरीरसे पाप और पुण्यका संचय करता है ॥ २३ ॥

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम् ।
संभवत्येव युगपद्योनौ नास्त्यन्तराभवः ॥ २४ ॥

जब अवस्थाका अन्त हो जाता है, तब शरीर निर्बल हो जाता है, उस समय जीव इस शरीरको छोड दूसरी योनिमें जन्म लेता है, इस प्रकार जन्म लेते लेते उसे जरा भी विश्राम नहीं मिलता; इसी प्रकार यह जीव निरन्तर जन्म लेता रहता है ॥ २४ ॥

तत्रास्य स्वकृतं कर्म छायेवानुगतं सदा ।
फलत्यथ सुखार्हो वा दुःखार्हो वापि जायते ॥ २५ ॥

इसका किया हुआ कर्म छायाके समान साथ ही लगा रहता है, चाहे वह पापकर्म हो वा पुण्यकर्म उसका फल अवश्य ही होता है ॥ २५ ॥

कृतान्तविधिसंयुक्तः स जन्तुर्लक्षणैः शुभैः ।
अशुभैर्वा निरादानो लक्ष्यते ज्ञानदृष्टिभिः ॥ २६ ॥

ज्ञानियोंकी दृष्टिसे यह निश्चय है कि प्राणी मरनेके पश्चात् यमके नियमोंसे बंध जाता है तथा शुभ और अशुभ फलके विषयमें स्वतंत्र नहीं होता ॥ २६ ॥

एषा तावदबुद्धीनां गतिरुक्ता युधिष्ठिर ।
अतः परं ज्ञानवतां निबोध गतिमुत्तमाम् ॥ २७ ॥

हे युधिष्ठिर ! हमने यह मूर्खोंकी गति तुमसे कही, अब ज्ञानियोंकी उत्तम गतिको सुनो ॥ २७ ॥

मनुष्यास्तप्ततपसः सर्वागमपरायणाः ।
स्थिरव्रताः सत्यपरा गुरुशुश्रूषणे रताः ॥ २८ ॥
सुशीलाः शुक्लजातीयाः क्षान्ता दान्ताः सुतेजसः ।
शुभयोन्यन्तरगताः प्रायशः शुभलक्षणाः ॥ २९ ॥

सब वेदको पढनेवाले मनुष्य, तथा तप करनेवाले, व्रत और गुरुओंकी पूजा करनेमें रत और सत्य बोलनेवाले सुशील और उत्तम जातिवाले क्षमा, दान और तेजसे भरे हुए मनुष्य दूसरी शुभ योनियोंमें जन्म लेनेसे भी उत्तम लक्षणयुक्त होते हैं ॥ २८-२९ ॥

जितेन्द्रियत्वाद्वशिनः शुक्लत्वान्मन्दरोगिणः ।
अल्पबाधपरित्रासाद्भवन्ति निरुपद्रवाः ॥ ३० ॥

वे मनुष्य इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते हैं इसलिये स्वतंत्र होते हैं, और शुभ योनिमें जन्म होनेके कारण रोगरहित होते हैं, इससे उनको बाधा और कष्ट कम होते हैं, इससे उनको कुछ उपद्रव नहीं होता ॥ ३० ॥

च्यवन्तं जायमानं च गर्भस्थं चैव सर्वशः ।
स्वमात्मानं परं चैव बुध्यन्तो ज्ञानचक्षुषः ।
कर्मभूमिमिमां प्राप्य पुनर्यान्ति सुरालयम् ॥ ३१ ॥

वे लोग अपनी ज्ञान-दृष्टिके द्वारा मरते उत्पन्न होते और किसी योनिमें जन्म लेते ही अपनी आत्माको जान लेते हैं । वे दूसरी आत्माको भी जान सकते हैं; वे महात्मा इस कर्मभूमिमें जन्म लेकर फिर स्वर्गको जाते हैं ॥ ३१ ॥

किंचिद्दैवाद्धठात्किंचित्किंचिदेव स्वकर्मभिः ।
प्राप्नुवन्ति नरा राजन्मा तेऽस्त्वन्या विचारणा ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! तुमको इसमें कुछ सन्देह नहीं होना चाहिये । यह बात ठीक है, कि कर्मके फल कुछ प्रारब्ध, कुछ हठसे और कुछ अपने कर्मोंसे मिलते हैं ॥ ३२ ॥

इमामप्युपमां चापि निबोध वदतां वर ।
मनुष्यलोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर ॥ ३३ ॥

हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! यहां मैं तुमसे एक उपमा कहता हूँ उसको सुनो; हे युधिष्ठिर ! मैं इस मनुष्यलोकहीमें जो कल्याण होता है उसीको श्रेष्ठ मानता हूँ ॥ ३३ ॥

इह वैकस्य नामुत्र अमुत्रैकस्य नो इह ।
इह चामुत्र चैकस्य नामुत्रैकस्य नो इह ॥ ३४ ॥

हे युधिष्ठिर ! कोई पुरुष ऐसे होते हैं, जिन्हें इस लोकमें सुख प्राप्त होता है, कोई ऐसे होते जिन्हें परलोकमें सुख प्राप्त होता है, कई ऐसे होते हैं, जिन्हें दोनों लोकमें सुख प्राप्त होता है और कई मनुष्य ऐसे भी होते हैं, जिन्हें न इस लोकमें सुख मिलता है, न परलोकमें ॥ ३४ ॥

धनानि येषां विपुलानि सन्ति नित्यं रमन्ते सुविभूषिताङ्गाः ।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको नासौ सदा देहसुखे रतानाम् ॥ ३५ ॥

हे शत्रुनाशक ! देखो जिनके पास अपार धन हैं, वे अनेक आभूषणोंको पहनकर इस लोकमें आनन्द करते हैं, परन्तु इस लोकमें देहसुखमें ही आसक्त होनेके कारण उनको परलोकमें सुख नहीं मिलता ॥ ३५ ॥

ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहान् ।
जितेन्द्रिया भूतहिते निविष्टास्तेषामसौ नायमरिघ्न लोकः ॥ ३६ ॥

और जो लोग तप, योग तथा वेदपाठ करके अपने शरीरको निर्बल कर देते हैं, जो जितेन्द्रिय हैं और प्राणियोंके हितकारी कार्योंमें रत रहते हैं, उनको इस लोकमें कुछ सुख नहीं होता परन्तु परलोकमें सुख मिलता है ॥ ३६ ॥

ये धर्ममेव प्रथमं चरन्ति धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले ।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजन्ते तेषामयं चैव परश्च लोकः ॥ ३७ ॥

जो लोग इस लोकमें पहिले धर्म करते हैं, फिर उसी धर्मसे धनका उपार्जन करते हैं, पीछे उसी धनसे पुत्र और स्त्रीके सहित यज्ञादि उत्तम उत्तम कर्म करते हैं, उनको इस लोकमें और परलोकमें दोनों जगह सुख मिलता है ॥ ३७ ॥

ये नैव विद्यां न तपो न दानं न चापि मूढाः प्रजने यतन्ते ।
न चाधिगच्छन्ति सुखान्यभाग्यास्तेषामयं चैव परश्च नास्ति ॥ ३८ ॥

जो मूर्खलोग न विद्या पढें, न तप करें, न दान करें और न संतान बढानेका उपाय करें, दुर्भाग्यशाली उन्हें इस लोक और परलोकमें कहीं कुछ सुख नहीं मिलता ॥ ३८ ॥

सर्वे भवन्तस्त्वतिवीर्यसत्त्वा दिव्यौजसः संहननोपपन्नाः ।
लोकादमुष्मादवनिं प्रपन्नाः स्वधीतविद्याः सुरकार्यहेतोः ॥ ३९ ॥

आप सब महाबलवान् दिव्य वीर्ययुक्त और सब शत्रुओंके मारनेवाले हैं । आपलोगने देवोंके कार्योंके निमित्त परलोकसे आकर इस लोकमें अवतार लिया है और इस लोकमें आकर अनेक विद्याओंको पढा है ॥ ३९ ॥

कृत्वैव कर्माणि महान्ति शूरास्तपोदमाचारविहारशीलाः ।
देवानृषीन्प्रेतगणांश्च सर्वान्संतर्पयित्वा विधिना परेण ॥ ४० ॥

हे शूरवीरो ! आप लोग इस लोकमें तप, आचारयुक्त और विहारशील होकरके विधिपूर्वक देव ऋषि और पितरोंका तर्पण करते हैं और महान् महान् कर्म करते हैं ॥ ४० ॥

स्वर्गं परं पुण्यकृतां निवासं क्रमेण संप्राप्स्यथ कर्मभिः स्वैः ।
मा भूद्विशङ्का तव कौरवेन्द्र दृष्ट्वात्मनः क्लेशमिमं सुखार्ह ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥ ६२४८ ॥

इसलिये अपने कर्मोंके अनुसार आप सब पुण्यात्माओंके निवासस्थान स्वर्गको जायेंगे । हे सुखके योग्य कौरवेन्द्र ! आप अपने सब क्लेशको देखकर कुछ शङ्का मत कीजिये ॥ ४१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ इक्क्यासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८१ ॥ ६२४८ ॥

: १८२ :

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयं महात्मानमूचुः पाण्डुसुतास्तदा ।
माहात्म्यं द्विजमुख्यानां श्रोतुमिच्छाम कथ्यताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! महात्मा मार्कण्डेयके ऐसे वचन सुनकर पाण्डव बोले, कि हमलोग श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके महात्म्यको सुनना चाहते हैं, आप कहिये ॥ १ ॥

एवमुक्तः स भगवान्मार्कण्डेयो महातपाः ।
उवाच सुमहातेजाः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ २ ॥

पाण्डवोंके ऐसे वचन सुनकर महातपस्वी सब शास्त्रोंके जाननेवाले अत्यन्त तेजस्वी भगवान् मार्कण्डेय मुनि कहने लगे ॥ २ ॥

हैहयानां कुलकरो राजा परपुरंजयः ।
कुमारो रूपसंपन्नो मृगयामचरद्बली ॥ ३ ॥

हे महाराज ! हैहयवंश चलानेवाले शत्रुनाशक रूपवान् बलवान् परपुरञ्जय नामक राजकुमार शिकार खेलने गये ॥ ३ ॥

चरमाणस्तु सोऽरण्ये तृणवीरुत्समावृते ।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गं ददर्श मुनिमन्तिके ।
स तेन निहतोऽरण्ये मन्यमानेन वै मृगम् ॥ ४ ॥

उस वृक्ष और तिनकेसे भरे जङ्गलमें घूमते हुए राजकुमारने एक कुटीमें बैठे हुए काले हिरणका चमडा ओढे हुए एक मुनिको देखा ॥ ४ ॥

व्यथितः कर्म तत्कृत्वा शोकोपहतचेतनः ।
जगाम हैहयानां वै सकाशं प्रथितात्मनाम् ॥ ५ ॥

राजाने उसे हिरण जानकर मार डाला। पीछेसे उसके शोकसे राजा बहुत व्याकुल हो गये और अपने कर्मसे बहुत पछताने लगे ॥ ५ ॥

राज्ञां राजीवनेत्रोऽसौ कुमारः पृथिवीपते ।
तेषां च तद्यथावृत्तं कथयामास वै तदा ॥ ६ ॥

हे राजन् ! कमलनेत्र राजकुमार वहांसे चलकर विख्यात हैहयवंशी राजाओंके पास जाकर पहुंचे और उनसे सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ६ ॥

×

तं चापि हिंसितं तात मुनिं मूलफलाशिनम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा च ते तत्र बभूवुर्दीनमानसाः ॥ ७ ॥

हे तात ! उन्होंने भी मूल फल खानेवाले मुनिका मरना सुन और कुमारको देख बहुत दुःख किया ॥ ७ ॥

कस्यायमिति ते सर्वे मार्गमाणास्ततस्ततः ।
जग्मुश्चारिष्टनेमेस्ते तार्क्ष्यस्याश्रममञ्जसा ॥ ८ ॥

वे सब यह कहने लगे कि यह मुनिपुत्र किसका पुत्र है। ऐसा कहकर वे उसके वंशवालोंको चारों ओर ढूंढने लगे। ढूंढते ढूंढते शीघ्र ही कश्यपगोत्र अरिष्टनेमी मुनिके आश्रममें पहुंचे ॥ ८ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं तं मुनिं संशितव्रतम् ।
तस्थुः सर्वे स तु मुनिस्तेषां पूजामथाहरत् ॥ ९ ॥

उन सबने महात्मा व्रतधारी अरिष्टनेमी मुनिको प्रणाम किया और उनके पास बैठे; और मुनिने भी उनकी पूजा करना चाहा ॥ ९ ॥

ते तमूचुर्महात्मानं न वयं सत्क्रियां मुने ।
त्वत्तोऽर्हाः कर्मदोषेण ब्राह्मणो हिंसितो हि नः ॥ १० ॥

परन्तु उन सबने महात्मासे कहा— कि हे महात्मन् ! हम लोग आपसे पूजा लेने योग्य नहीं हैं, क्योंकि हम लोगोंने एक ब्राह्मणको मार डाला है। यह कर्म हमने अपने कर्मके दोषसे किया है ॥ १० ॥

तानब्रवीत्स विप्रर्षिः कथं वो ब्राह्मणो हतः ।
क चासौ ब्रूत सहिताः पश्यध्वं मे तपोबलम् ॥ ११ ॥

उन सबके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा-- कि आप लोगोंने कौनसे ब्राह्मणको कहां मार डाला है ? आप मुझसे यह सब वृत्तांत कहें, फिर मेरे तपका बल देखें ॥ ११ ॥

ते तु तत्सर्वमखिलमाख्यायास्मै यथातथम् ।
नापश्यंस्तमृषिं तत्र गतासुं ते समागताः ।
अन्वेषमाणाः सव्रीडाः स्वप्नवद्गतमानसाः ॥ १२ ॥

उन सबने सब कथा मुनिसे कह सुनायी। परन्तु उस मरे हुए शरीरको वहां न देखा, तब वे उस मुनिको ढूंढने लगे, परन्तु न पानेसे बहुत लज्जित हुए। तदनन्तर वे लोग स्वप्नवत् गत चेतनकी भांति अरिष्टनेमी मुनिके पास आये ॥ १२ ॥

तानब्रवीत्तत्र मुनिस्तार्क्ष्यः परपुरंजयः ।
स्यादयं ब्राह्मणः सोऽथ यो युष्माभिर्विनाशितः ।
पुत्रो ह्ययं मम नृपास्तपोबलसमन्वितः ॥ १३ ॥

तब शत्रुओंकी पुरियोंको जीतनेवाले कश्यपवंशी अरिष्टनेमी मुनि बोले– कि हे राजाओ ! जिस मुनिको तुमने मारा है, वह तप और विद्यासे भरा हुआ हमारा ही पुत्र था, क्या वह यही है ? ॥ १३ ॥

ते तु दृष्ट्वैव तमृषिं विस्मयं परमं गताः ।
महदाश्चर्यमिति वै विब्रुवाणा महीपते ॥ १४ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! उस मरे हुए मनुष्यको उन सब क्षत्रियोंने देखकर परम आश्चर्य माना और कहने लगे यह क्या आश्चर्यकी बात है ॥ १४ ॥

मृतो ह्ययमतो दृष्टः कथं जीवितमाप्तवान् ।
किमेतत्तपसो वीर्यं येनायं जीवितः पुनः ।
श्रोतुमिच्छाम विप्रर्षे यदि श्रोतव्यमित्युत ॥ १५ ॥

यह मरा हुआ ब्राह्मण कैसे जी गया ? क्या यह तपका बल है, कि जिससे यह फिर जी गया ? हे ब्राह्मण ! यदि यह कथा हमारे सुननेके योग्य हो तो कहिये, हम सुनना चाहते हैं ॥ १५ ॥

स तानुवाच नास्माकं मृत्युः प्रभवते नृपाः ।
कारणं वः प्रवक्ष्यामि हेतुयोगं समासतः ॥ १६ ॥

मुनि बोले– हे राजाओ ! हम लोगोंके ऊपर मृत्युका सामर्थ्य कभी नहीं चल सकता । मैं इसका कारण हेतु और उपयोग संक्षेपमें आपसे कहता हूँ ॥ १६ ॥

सत्यमेवाभिजानीमो नानृते कुर्महे मनः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ १७ ॥

हम लोग सदा सत्यहीको अपने चित्तमें रखते हैं । झूठ कभी नहीं बोलते । हम लोग सदा अपने ही धर्मको करते हैं । इसलिये हमें मृत्युका भय नहीं है ॥ १७ ॥

यद्ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां कथयामहे ।
नैषां दुश्चरितं ब्रूमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मणोंके लिये सुखदायक कर्म हैं, हम लोग उसीको कहते हैं । पापकी बात कभी नहीं करते, इसीसे हमें मृत्युका भय नहीं है ॥ १८ ॥

अतिथीनन्नपानेन भृत्यानत्यशनेन च ।
तेजस्विदेशवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ॥ १९ ॥

हमलोग अन्न और जलसे अतिथियोंकी पूजा करते हैं; तथा नौकर चाकरोंको अन्नसे प्रसन्न करते हैं तथा पवित्र और तेजस्वी स्थानोंमें योगसिद्ध महापुरुषोंके संसर्गमें निवास करते हैं, इसीसे हमें मृत्युका भय नहीं है ॥ १९ ॥

एतद्वै लेशमात्रं वः समाख्यातं विमत्सराः ।
गच्छध्वं सहिताः सर्वे न पापाद्भयमस्ति वः ॥ २० ॥

हे महात्मा क्षत्रियो ! मैंने यह सब विधान आप लोगोंसे संक्षेपसे कहा, अब आप मत्सरहीन होकर चले जाइए, आपको हिंसाके पापसे ज़रा भी डर न हो ॥ २० ॥

एवमस्त्विति ते सर्वे प्रतिपूज्य महामुनिम् ।
स्वदेशमगमन्हृष्टा राजानो भरतर्षभ ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥ ६२६९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! उन सब राजाओंने उन मुनिके वचन सुनकर 'जो आज्ञा' कहकर उनकी पूजा की । तदनन्तर वे सब प्रसन्न होकर अपने देशको चले गये ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ बयासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८२ ॥ ६२६९ ॥

: १८३ :

मार्कण्डेय उवाच

भूय एव तु माहात्म्यं ब्राह्मणानां निबोध मे ।
वैन्यो नामेह राजर्षिरश्वमेधाय दीक्षितः ।
तमत्रिर्गन्तुमारेभे वित्तार्थमिति नः श्रुतम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! अब आप हमसे ब्राह्मणोंका दूसरा माहात्म्य सुनो । महाराज वैन्य नामक राजर्षिने जब अश्वमेधके लिये दीक्षा ली थी, तब उनके पास धन लेनेकी इच्छासे जानेके लिये अत्रि मुनिने सोचा, ऐसा हमने सुना है ॥ १ ॥

भूयोऽथ नानुरुध्यत्स धर्मव्यक्तिनिदर्शनात् ।
संचिन्त्य स महातेजा वनमेवान्वरोचयत् ।
धर्मपत्नीं समाहूय पुत्रांश्चेदमुवाच ह ॥ २ ॥

मार्गमें चलते उनकी यह इच्छा हुई, कि बहुत धन लेना अच्छा नहीं है, क्योंकि धर्मका नाश धनसे ही होता है । अतः महातेजस्वी अत्रिने ऐसा विचारकर वनको जानेकी इच्छा की । फिर अपनी स्त्री और पुत्रोंको बुलाकर कहा ॥ २ ॥

प्राप्स्यामः फलमत्यन्तं बहुलं निरुपद्रवम् ।
अरण्यगमनं क्षिप्रं रोचतां वो गुणाधिकम् ॥ ३ ॥

कि तुम लोग वनको चलो, वहां चलनेसे सब उपद्रवरहित और बहुत सुख अर्थात् 'मोक्ष' मिलेगा ॥ ३ ॥

तं भार्या प्रत्युवाचेदं धर्ममेवानुरुध्यती ।
वैन्यं गत्वा महात्मानमर्थयस्व धनं बहु ।
स ते दास्यति राजर्षिर्यजमानोऽर्थिने धनम् ॥ ४ ॥

यह सुनकर धर्मका ही आचरण करनेवाली उनकी स्त्री बोली— कि तुम महात्मा वैन्यके पास जाकर बहुतसा धन मांगो, वह राजर्षि यज्ञ कर रहे हैं, वे तुमको बहुत धन देंगे ॥ ४ ॥

तत आदाय विप्रर्षे प्रतिगृह्य धनं बहु ।
भृत्यान्सुतान्संविभज्य ततो व्रज यथेप्सितम् ।
एष वै परमो धर्मो धर्मविद्भिरुदाहृतः ॥ ५ ॥

धन लाकर नौकर और पुत्रोंमें बांटकर फिर जहां इच्छा हो वहां चले जाना। धर्म जाननेवाले मनु प्रभृति पुरुषोंने इसीको परमधर्म कहा है ॥ ५ ॥

अत्रिरुवाच

कथितो मे महाभागे गौतमेन महात्मना ।
वैन्यो धर्मार्थसंयुक्तः सत्यव्रतसमन्वितः ॥ ६ ॥

अत्रि बोले— हे महाभागे ! मुझसे महात्मा गौतमने कहा है, कि राजऋषि वैन्य धर्म और सत्यव्रतमें स्थिर हैं ॥ ६ ॥

किं त्वस्ति तत्र द्वेष्टारो निवसन्ति हि मे द्विजाः ।
यथा मे गौतमः प्राह ततो न व्यवसाम्यहम् ॥ ७ ॥

परंतु वहांके ब्राह्मण मुझसे द्वेष करते हैं। मैंने जबसे गौतम मुनिके वचन सुने हैं, तभीसे वहां जानेकी इच्छा मैंने त्याग दी है ॥ ७ ॥

तत्र स्म वाचं कल्याणीं धर्मकामार्थसंहिताम् ।
मयोक्तामन्यथा ब्रूयुस्ततस्ते वै निरर्थकाम् ॥ ८ ॥

मैं जब वहां जाऊंगा, तो वे सब कल्याण काम अर्थ और धर्मसे भरी हुई मेरी वाणीके उत्तरमें निरर्थक वाणी कहेंगे ॥ ८ ॥

गमिष्यामि महाप्राज्ञे रोचते मे वचस्तव ।
गाश्च मे दास्यते वैन्यः प्रभूतं चार्थसंचयम् ॥ ९ ॥

हे महाप्राज्ञे ! यदि तुमको यही प्रिय है, तो मैं जाऊंगा । राजा वैन्य मुझको बहुत दान और गौ देंगे ॥ ९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा जगामाशु वैन्ययज्ञं महातपाः ।
गत्वा च यज्ञायतनमत्रिस्तुष्टाव तं नृपम् ॥ १० ॥

मार्कण्डेय बोले– महातपस्वी अत्रि अपनी स्त्रीसे ऐसा कहकर राजा वैन्यके यज्ञको चले, वहां यज्ञप्रदेशमें जाकर राजा वैन्यकी स्तुति करने लगे ॥ १० ॥

राजन्वैन्य त्वमीशश्च भुवि त्वं प्रथमो नृपः ।
स्तुवन्ति त्वां मुनिगणास्त्वदन्यो नास्ति धर्मवित् ॥ ११ ॥

हे राजन् वैन्य ! तुम जगत्के स्वामी हो । तुम भूमिमें प्रथम राजा हो । मुनि तुम्हारी स्तुति करते हैं । तुम्हारे सिवाय और कोई मनुष्य धर्मको नहीं जानता ॥ ११ ॥

तमब्रवीदृषिस्तत्र वचः क्रुद्धो महातपाः ।
मैवमत्रे पुनर्ब्रूया न ते प्रज्ञा समाहिता ।
अत्र नः प्रथमं स्थाता महेन्द्रो वै प्रजापतिः ॥ १२ ॥

उनके वचन सुनकर महातपस्वी गौतम क्रोधसे बोले– हे अत्रि ! तुम ऐसे वचन कभी मत कहना, तुम्हारी बुद्धि उत्तम नहीं है । हमारे आदिराजा इन्द्र हैं, वेही प्रजापति हैं ॥ १२ ॥

अथात्रिरपि राजेन्द्र गौतमं प्रत्यभाषत ।
अयमेव विधाता च यथैवेन्द्रः प्रजापतिः ।
त्वमेव मुह्यसे मोहान्न प्रज्ञानं तवास्ति ह ॥ १३ ॥

हे युधिष्ठिर ! गौतम ऋषिके वचन सुनकर अत्रि कहने लगे कि हमने जो कहा वह सत्य ही कहा है । जैसे इन्द्र राजा हैं, वैसे ये भी हैं, तुम ही भ्रममें पडकर भूलते हो । तुम्हारे ही बुद्धि नहीं है ॥ १३ ॥

गौतम उवाच

जानामि नाहं मुह्यामि त्वं विवक्षुर्विमुह्यसे ।
स्तोष्यसेऽभ्युदयप्रेप्सुस्तस्य दर्शनसंश्रयात् ॥ १४ ॥

गौतम बोले– हे अत्रि ! मैं सब जानता हूँ, मैं नहीं भूल रहा हूँ, कुछ कहनेकी इच्छा करनेवाले तुम्हीं भूल कर रहे हो । क्योंकि सांसारिक उन्नतिकी इच्छा करनेवाले तुम राजाका आश्रय लेकर राजाकी स्तुति करते हो ॥ १४ ॥

न वेत्थ परमं धर्मं न चावैषि प्रयोजनम् ।
बालस्त्वमसि मूढश्च वृद्धः केनापि हेतुना ॥ १५ ॥

तुम परम धर्मको नहीं जानते हो, और प्रयोजनको नहीं समझते हो । तुम मूर्ख और बालक हो, तुमको कोई किस कारणसे वडा कह सकता है ? ॥ १५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

विवदन्तौ तथा तौ तु मुनीनां दर्शने स्थितौ ।
ये तस्य यज्ञे संवृत्तास्तेऽपृच्छन्त कथं त्विमौ ॥ १६ ॥

मार्कण्डेय बोले– जिस समय सब मुनियोंके आगे ये दोनों इस प्रकार विवाद कर रहे थे, उसी समय यज्ञमें बैठे हुए सब मुनिलोग कहने लगे, कि ये लोग किसलिये विवाद कर रहे हैं ? ॥ १६ ॥

प्रवेशः केन दत्तोऽयमनयोर्वैन्यसंसदि ।
उच्चैः समभिभाषन्तौ केन कार्येण धिष्ठितौ ॥ १७ ॥

इन दोनोंको किसने वेनकी सभामें आने दिया ? ये यज्ञके किस अधिकारमें नियुक्त हैं ? ये लोग जोरजोरसे क्यों बोल रहे हैं ? ॥ १७ ॥

ततः परमधर्मात्मा काश्यपः सर्वधर्मवित् ।
विवादिनावनुप्राप्तौ तावुभौ प्रत्यवेदयत् ॥ १८ ॥

तब सब धर्मके जाननेवाले परमधर्मात्मा काश्यप कहने लगे– कि तुम दोनों जिस प्रयोजनके लिये विवाद कर रहे हो, उसे हमसे कहो ॥ १८ ॥

अथाब्रवीत्सदस्यांस्तु गौतमो मुनिसत्तमान् ।
आवयोर्व्याहृतं प्रश्नं शृणुत द्विजपुंगवाः ।
वैन्यो विधातेत्याहात्रिरत्र नः संशयो महान् ॥ १९ ॥

तब सभामें बैठे हुए सब श्रेष्ठ मुनियोंसे गौतम बोले– हे ब्राह्मणो ! हम दोनों तुमसे प्रश्न करते हैं, तुम सुनो । अत्रि कहते हैं, कि राजा वैन्य ब्रह्मा हैं, मुझको इसमें बहुत सन्देह है ॥ १९ ॥

श्रुत्वैव तु महात्मानो मुनयोऽभ्यद्रवन्द्रुतम् ।
सनत्कुमारं धर्मज्ञं संशयच्छेदनाय वै ॥ २० ॥

उनके वचन सुनकर महात्मा मुनि शीघ्र ही वहांसे चले और संशयनिवृत्तिके लिये धर्मके जाननेवाले सनत्कुमार मुनिके पास पहुंचे और अपनी सब कथा कह सुनाई ॥ २० ॥

स च तेषां वचः श्रुत्वा यथातत्त्वं महातपाः।
प्रत्युवाचाथ तानेवं धर्मार्थसहितं वचः ॥ २१ ॥

महात्मा सनत्कुमारने उनके वचन सुनकर धर्म और अर्थके सहित इसप्रकार उत्तर दिया ॥ २१ ॥

सनत्कुमार उवाच

ब्रह्म क्षत्रेण सहितं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह।
राजा वै प्रथमो धर्मः प्रजानां पतिरेव च।
स एव शक्रः शुक्रश्च स धाता स बृहस्पतिः ॥ २२ ॥

सनत्कुमार बोले– ब्राह्मशक्ति क्षत्रियशक्तिके साथ और क्षत्रियशक्ति ब्राह्मशक्तिके साथ संयुक्त हो, तो राजाही प्रथम धर्म और प्रजापति है। वही राजा इन्द्र, शुक्र, वही धाता और वही बृहस्पति है ॥ २२ ॥

प्रजापतिर्विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥ २३ ॥

जो क्षत्रिय राजा जगत्का पालक है, उसको प्रजापति और जो सबपर अधिकार चलाता है उसको सम्राट् कहते हैं। जो राजा इन सब शब्दोंसे स्तुत होता है, उसकी कौन पूजा नहीं कर सकता? ॥ २३ ॥

पुरायोनिर्युधाजिच्च अभिया मुदितो भवः।
स्वर्णेता सहजिद्बभ्रुरिति राजाभिधीयते ॥ २४ ॥

पहले समयमें राजा धर्मके उत्पत्ति-स्थान, युद्ध जीतनेवाले, प्रसन्न, शीघ्र स्वर्ग देनेवाले, शीघ्र विजय करनेवाले और विष्णुके नामसे प्रसिद्ध थे ॥ २४ ॥

सत्य मन्युर्युधाजीवः सत्यधर्मप्रवर्तकः।
अधर्मादृषयो भीता बलं क्षत्रे समादधन् ॥ २५ ॥

सत्यके उत्पत्ति स्थान, युद्धपर जीनेवाले, सत्य और धर्मके प्रवर्तक राजाको अधर्मसे डरे हुए मुनियोंने धर्मका रक्षक बनाया है ॥ २५ ॥

आदित्यो दिवि देवेषु तमो नुदति तेजसा।
तथैव नृपतिर्भूमावधर्मं नुदते भृशम् ॥ २६ ॥

जैसे सूर्य अपने तेजसे अन्धकारका नाश करता है, वैसे ही राजा भी अपने तेजसे अधर्मका नाश करता है ॥ २६ ॥

अतो राज्ञः प्रधानत्वं शास्त्रप्रामाण्यदर्शनात् ।
उत्तरः सिध्यते पक्षो येन राजेति भाषितम् ॥ २७ ॥

इसलिए देखनेसे भी ऐसा ही जान पडता है, कि राजा सबसे प्रधान है और 'राजा' शब्दके कहनेसे भी राजा ही प्रधान जान पडता है ॥ २७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततः स राजा संहृष्टः सिद्धे पक्षे महामनाः ।
तमत्रिमब्रवीत्प्रीतः पूर्वं येनाभिसंस्तुतः ॥ २८ ॥

मार्कण्डेय बोले—हे युधिष्ठिर ! उत्तर सिद्धपक्ष सुनकर राजा वैन्य बहुत प्रसन्न हुए, तदनन्तर जिसके द्वारा पहले स्तुत हुए थे उस अत्रिसे उन्होंने कहा ॥ २८ ॥

यस्मात्सर्वमनुष्येषु ज्यायांसं मामिहाब्रवीः ।
सर्वदेवैश्च विप्रर्षे संमितं श्रेष्ठमेव च ।
तस्मात्तेऽहं प्रदास्यामि विविधं वसु भूरि च ॥ २९ ॥

कि हे विप्रश्रेष्ठ ! मुनिने मुझे सर्वदेवसम्मत और मनुष्योंमें श्रेष्ठ कहा, इसलिये मैं तुमको उत्तम धन दूंगा ॥ २९ ॥

दासीसहस्रं श्यामानां सुवस्त्राणामलंकृतम् ।
दश कोटयो हिरण्यस्य रुक्मभारांस्तथा दश ।
एतद्ददानि ते विप्र सर्वज्ञस्त्वं हि मे मतः ॥ ३० ॥

मैं तुमको उत्तम वस्त्र और आभूषण धारण किये एक सहस्र श्यामा दासियां दूंगा, दस करोड सोनेकी मुद्रा और दसभार सोना देता हूँ। हे मुने ! मैं सत्य कहता हूँ कि तुम सर्वज्ञ हो ॥ ३० ॥

तदत्रिर्न्यायतः सर्वं प्रतिगृह्य महामनाः ।
प्रत्याजगाम तेजस्वी गृहानेव महातपाः ॥ ३१ ॥

महातपस्वी महामनस्वी अत्रिने भी उस सब धनको न्यायपूर्वक ग्रहण किया । फिर महातपस्वी तेजस्वी अत्रि अपने घरको चले गये ॥ ३१ ॥

प्रदाय च धनं प्रीतः पुत्रेभ्यः प्रयतात्मवान् ।
तपः समभिसंधाय वनमेवान्वपद्यत ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥ ६३०१ ॥

वहां जाकर महात्मा अत्रिने अपने घरपर जाकर वह सब धन पुत्रोंमें बांट दिया, फिर तप करनेकी इच्छासे वनको चले गये ॥ ३२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ तिरासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८३ ॥ ६३०१ ॥

×

१८४

मार्कण्डेय उवाच

अत्रैव च सरस्वत्या गीतं परपुरंजय ।
पृष्टया मुनिना वीर शृणु तार्क्ष्येण धीमता ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे शत्रुनाशक युधिष्ठिर ! इसी ब्राह्मण महात्म्यके विषयमें बुद्धिमान् तार्क्ष्यने सरस्वतीसे प्रश्न किया था । उस प्रश्नका सरस्वतीने जो उत्तर दिया, उसे मैं आपसे कहता हूँ ॥ १ ॥

तार्क्ष्य उवाच

किं नु श्रेयः पुरुषस्येह भद्रे कथं कुर्वन्न च्यवते स्वधर्मात् ।
आचक्ष्व मे चारुसर्वाङ्गि सर्वं त्वयानुशिष्टो न च्यवेयं स्वधर्मात् ॥ २ ॥

तार्क्ष्य बोले– हे सर्वाङ्गसुन्दरी ! ऐसा कौनसा कल्याणदायक कर्म है कि जिसके करनेसे मनुष्य अपने धर्मसे भ्रष्ट न हो । तुम मेरे इस प्रश्नका उत्तर दो, जिससे मैं अपने धर्मसे भ्रष्ट न होऊं ॥ २ ॥

कथं चाग्निं जुहुयां पूजये वा कस्मिन्काले केन धर्मो न नश्येत् ।
एतत्सर्वं सुभगे प्रब्रवीहि यथा लोकान्विरजाः संचरेयम् ॥ ३ ॥

हे सुभगे ! कौनसे समयमें और किस प्रकारसे अग्निहोत्र करना चाहिये ? कौनसा कर्म करनेसे मेरा धर्म नष्ट न होगा ? तुम मुझसे उस कर्मको कहो कि जिसके करनेसे मैं रजोगुणरहित होकर सुखसे लोकोंमें घूम सकूं ॥ ३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवं पृष्टा प्रीतियुक्तेन तेन शुश्रूषुमीक्ष्योत्तमबुद्धियुक्तम् ।
तार्क्ष्यं विप्रं धर्मयुक्तं हितं च सरस्वती वाक्यमिदं बभाषे ॥ ४ ॥

मार्कण्डेय बोले– जब तार्क्ष्य मुनिने प्रेम सहित सरस्वतीसे प्रश्न किया, तो तार्क्ष्यको भी उत्तम बुद्धिसे युक्त और सुननेकी इच्छावाला जानकर धार्मिक तार्क्ष्य मुनिसे सरस्वती यह वचन कहने लगीं ॥ ४ ॥

सरस्वत्युवाच

यो ब्रह्म जानाति यथाप्रदेशं स्वाध्यायनित्यः शुचिरप्रमत्तः ।
स वै पुरो देवपुरस्य गन्ता सहामरैः प्राप्नुयात्प्रीतियोगम् ॥ ५ ॥

सरस्वती बोलीं– जो मनुष्य पवित्र और सावधान होकर वेद पढता है तथा ब्रह्मको जानता है, वही दिव्य स्वर्गको जाता है और देवोंके सहित आनन्द प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

तत्र द्रुम रम्या विपुला विशोकाः सुपुष्पिताः पुष्करिण्यः सुपुण्याः।
अकर्दमा मीनवत्यः सुतीर्था हिरण्मयैरावृताः पुण्डरीकैः ॥ ६ ॥
उस स्वर्गलोकमें रमणीय सुन्दर बडे बडे पवित्र जलसे भरे हुए तालाब हैं, जिनको देखते ही सब शोक नष्ट हो जाते हैं, जिनमें जरा भी कीचड नहीं है, जहां सोनेके बने हुए अनेक कमल विराजमान हैं, जिन तालावोंमें उत्तम मत्स्य विहार करते हैं ॥ ६ ॥

तासां तीरेष्वासते पुण्यकर्मा महीयमानाः पृथगप्सरोभिः।
सुपुण्यगन्धाभिरलंकृताभिर्हिरण्यवर्णाभिरतीव हृष्टः ॥ ७ ॥
उन्हीं तालावोंके तटपर धर्मात्मा उत्तम सुगन्ध और अनेक आभूषण धारण किये, सोनेके समान रङ्गवाली अनेक अप्सराओंके सङ्ग विहार करते हैं ॥ ७ ॥

परं लोकं गोप्रदास्त्वाप्नुवन्ति दत्त्वानड्वाहं सूर्यलोकं व्रजन्ति।
वासो दत्त्वा चन्द्रमसः स लोकं दत्त्वा हिरण्यममृतत्वमेति ॥ ८ ॥
जो पुरुष गोदान करते हैं, वे उत्तम लोकको जाते हैं। जो बैलका दान करते हैं वे सूर्यलोकको जाते हैं। वस्त्रदान करनेसे चन्द्रलोक और सोना देनेसे देवलोक प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

धेनुं दत्त्वा सुव्रतां साधुदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीं च।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्यास्तावद्वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम् ॥ ९ ॥
जो पुरुष सुन्दर रङ्गवाले बछडे और दूधके सहित उत्तम गौको दानमें देता है, उस गौके जितने रोम रहते हैं, उतने वर्ष देवलोकमें रहता है ॥ ९ ॥

अनड्वाहं सुव्रतं यो ददाति हलस्य वोढारमनन्तवीर्यम्।
धुरंधरं बलवन्तं युवानं प्राप्नोति लोकान्दश धेनुदस्य ॥ १० ॥
जो पुरुष हलमें चलने योग्य बहुत बलवान् धुरीमें जुडने योग्य नवीन बैलका दान उत्तम व्रतधारीको देता है, उसे दस गौ दानका फल मिलता है ॥ १० ॥

यः सप्त वर्षाणि जुहोति तार्क्ष्य हव्यं त्वग्नौ सुव्रतः साधुशीलः।
सप्तावरान्सप्त पूर्वान्पुनाति पितामहानात्मनः कर्मभिः स्वैः ॥ ११ ॥
हे तार्क्ष्य! जो व्रतको धारण करनेवाला शीलवान् पुरुष नियमपूर्वक सात वर्षतक अग्निहोत्र करता है, वह अपने कर्मोंसे सात अगले और सात पिछले पुरुषोंका उद्धार करता है ॥ ११ ॥

तार्क्ष्य उवाच

किमग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणमाचक्ष्व मे पृच्छतश्चारुरूपे।
त्वयानुशिष्टोऽहमिहाद्य विद्यां यदग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणम् ॥ १२ ॥
तार्क्ष्य बोले— हे सुन्दर रूपवाली सरस्वती! अग्निहोत्रका सनातन नियम क्या है? कहो, मैं इस विद्याको तुमसे पढकर प्राचीन अग्निहोत्र व्रतको धारण करूंगा ॥ १२ ॥

सरस्वत्युवाच

न चाशुचिर्नाप्यनिर्णिक्तपाणिर्नाब्रह्मविज्जुहुयान्नाविपश्चित् ।
बुभुक्षवः शुचिकामा हि देवा नाश्रद्दधानाद्धि हविर्जुषन्ति ॥ १३ ॥

सरस्वती बोली– अपवित्र, अवेदज्ञानी और मूर्खको अग्निहोत्र नहीं करना चाहिये, क्योंकि देव पवित्रताको चाहते हैं, वे अपवित्र और अश्रद्धावालेसे दी हुई आहुतिको ग्रहण नहीं करते ॥ १३ ॥

नाश्रोत्रियं देवहव्ये नियुञ्ज्यान्मोघं परा सिञ्चति तादृशो हि ।
अपूर्णमश्रोत्रियमाह तार्क्ष्य न वै तादृग्जुहुयादग्निहोत्रम् ॥ १४ ॥

अग्निहोत्र करनेवालेको उचित है, कि अश्रोत्रियसे अग्निहोत्र कर्म न करावे, क्योंकि वह कर्म व्यर्थ होता है । हे कश्यपमुनि ! जिस ब्राह्मणका कुल और शील कुछ नहीं जाना जाता है, उसे भी अश्रोत्रिय कहते हैं इसलिये उससे भी यज्ञ न करावे ॥ १४ ॥

कृशानुं ये जुह्वति श्रद्दधानाः सत्यव्रता हुतशिष्टाशिनश्च ।
गवां लोकं प्राप्य ते पुण्यगन्धं पश्यन्ति देवं परमं चापि सत्यम् ॥ १५ ॥

जो लोग श्रद्धा और सत्यव्रतके सहित अग्निहोत्र कर्म करते हैं, तथा उसीसे बचे हुए अन्नको खाते हैं, उनको उत्तम सुगन्धयुक्त गोलोक और देवलोक प्राप्त होता है और परम सत्य देवको भी देखते हैं ॥ १५ ॥

तार्क्ष्य उवाच

क्षेत्रज्ञभूतां परलोकभावे कर्मोदये बुद्धिमतिप्रविष्टाम् ।
प्रज्ञां च देवीं सुभगे विमृश्य पृच्छामि त्वां का ह्यसि चारुरूपे ॥ १६ ॥

तार्क्ष्य बोले– हे दिव्यरूपिणी ! मैं अपनी बुद्धिको स्थिर करके तुमसे पूछता हूँ कि तुम कौन हो ? तुम मुझे बुद्धिमें प्रविष्ट ब्रह्मरूपिणी और देवी जान पडती हो ॥ १६ ॥

सरस्वत्युवाच

अग्निहोत्रादहमभ्यागतास्मि विप्रर्षभाणां संशयच्छेदनाय ।
त्वत्संयोगादहमेतदब्रुवं भावे स्थिता तथ्यमर्थं यथावत् ॥ १७ ॥

सरस्वती बोली–हे कश्यप ! मैं ब्राह्मणोंके अग्निहोत्र आदि सत्यकर्मसे प्रकट परापर विद्यारूपी सरस्वती हूं। मैं तुम्हारे सन्देहका नाश करनेके लिए आई हूं। मैं यहां जो तुमसे कहती हूं वह सब सत्य है ॥ १७ ॥

ताक्ष्य उवाच

न हि त्वया सदृशी काचिदस्ति विभ्राजसे ह्यतिमात्रं यथा श्रीः ।
रूपं च ते दिव्यमत्यन्तकान्तं प्रज्ञां च देवीं सुभगे बिभर्षि ॥ १८ ॥

तार्क्ष्य बोले— मैंने तुम्हारे समान कोई तेजस्वी स्त्री नहीं देखी। तुम साक्षात् लक्ष्मीके समान हो। हे सुभगे ! तुम्हारा रूप और शोभा दिव्य है और तुम्हारी बुद्धि दैवी है ॥ १८ ॥

सरस्वत्युवाच

श्रेष्ठानि यानि द्विपदां वरिष्ठ यज्ञेषु विद्वन्नुपपादयन्ति ।
तैरेवाहं संप्रवृद्धा भवामि आप्यायिता रूपवती च विप्र ॥ १९ ॥
यच्चापि द्रव्यमुपयुज्यते ह वानस्पत्यमायसं पार्थिवं वा ।
दिव्येन रूपेण च प्रज्ञया च तेनैव सिद्धिरिति विद्धि विद्वन् ॥ २० ॥

सरस्वती बोली— हे मनुष्यश्रेष्ठ विद्वान् विप्र ! यज्ञमें इन सब वनस्पतिमय, लौहमय और पार्थिव वस्तुओंका उपयोग होता है और ऋत्विक् गण जो कुछ श्रेष्ठ वस्तु उत्पादित करते हैं, मैं उसीसे संवर्द्धित आप्यायित तथा रूपवती होती हूं। तुमने जो मुझे प्रज्ञावती तथा मेरा दिव्यरूप दर्शन किया, उससे बोध होता है, कि तुम्हें अवश्य सिद्धि प्राप्त हुई है ॥ १९–२० ॥

ताक्ष्य उवाच

इदं श्रेयः परमं मन्यमाना व्यायच्छन्ते मुनयः संप्रतीताः ।
आचक्ष्व मे तं परमं विशोकं मोक्षं परं यं प्रविशन्ति धीराः ॥ २१ ॥

तार्क्ष्य बोले— धीर मुनि सम्यक् विश्वासी होकर जिसे परम श्रेष्ठ विवेचना कर इन्द्रियनिग्रहादि करके जिसमें प्रवेश करते हैं, आप उस शोकातीत परमश्रेष्ठ पदार्थ मोक्ष स्वरूपका मेरे सामने वर्णन कीजिए ॥ २१ ॥

सरस्वत्युवाच

तं वै परं वेदविदः प्रपन्नाः परं परेभ्यः प्रथितं पुराणम् ।
स्वाध्यायदानव्रतपुण्ययोगैस्तपोधना वीतशोका विमुक्ताः ॥ २२ ॥

सरस्वती बोली— स्वाध्यायशील वेद जाननेवाले तपोधन स्वाध्याय और व्रत पुण्ययोगसे जिसे प्राप्त होकर शोकरहित और विमुक्त होते हैं, वहींपरसे भी परतर प्रसिद्ध पुरातन परब्रह्म हैं ॥ २२ ॥

तस्याथ मध्ये वेतसः पुण्यगन्धः सहस्रशाखो विमलो विभाति ।
तस्य मूलात्सरितः प्रस्रवन्ति मधूदकप्रस्रवणा रमण्यः ॥ २३ ॥

उस परब्रह्ममें भोगस्थानरूप अनन्त शाखायुक्त शब्दादि विषयरूप पुण्यगन्धमय अपरिच्छिन्न वेतसवृक्ष प्रकाशित है। उसके अविद्यारूप मूलसे भोगवासनारूपी निरन्तर प्रवाहवती नदियां उत्पन्न होती हैं । वे स्वयंरमणीय पुण्यगन्धा नदियां मधुकी भांति मधुर और जलकी तरह तृप्तिदायक और भोगज सुखोंको प्रस्रवित करती हैं ॥ २३ ॥

शाखां शाखां महानद्यः संयान्ति सिकतासमाः ।
धानापूपा मांसशाकाः सदा पायसकर्दमाः ॥ २४ ॥

भूने जौंकी तरह अंकुर-उत्पादनमें शक्तिहीन, पिष्टककी भांति अनेक छिद्रयुक्त, मांसवत् हिंसालभ्य, पायसकी तरह मुखरोचक तथा पाकमें गुरुतर और कीचडकी भांति चित्तको मलिन करनेवाली जो बालूकी तरह परस्पर असंश्लिष्टपुत्र वित्तादि वासनारूपी महानदियां हैं, वे विविध विषय भोगस्थान स्वरूप उक्त वेतसवृक्षकी प्रत्येक शाखामें प्रवाहित हुआ करती हैं ॥ २४ ॥

यस्मिन्नग्निमुखा देवाः सेन्द्राः सह मरुद्गणैः ।
ईजिरे क्रतुभिः श्रेष्ठैस्तत्पदं परमं मुने ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुरसीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥ ६३२६ ॥

इन्द्र अग्नि और मरुत्गण जिसकी प्राप्तिके लिये यज्ञसे यजन करते हैं, वह परब्रह्म ही मेरा प्राप्य स्थान है ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ चौरासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८४ ॥ ६३२६ ॥

ः १८५ ः

वैशम्पायन उवाच

ततः स पाण्डवो भूयो मार्कण्डेयमुवाच ह ।
कथयस्वेह चरितं मनोर्वैवस्वतस्य मे ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! तब महाराज युधिष्ठिरने फिर मार्कण्डेय ऋषिसे कहा, कि आप मुझे वैवस्वतमनुका चरित्र सुनाइए ॥ १ ॥

मार्कण्डेय उवाच

विवस्वतः सुतो राजन्परमर्षिः प्रतापवान् ।
बभूव नरशार्दूल प्रजापतिसमद्युतिः ॥ २ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! हे नरशार्दूल ! सूर्यके पुत्र महाऋषि महाप्रतापवान् और प्रजापतिके समान तेजस्वी मनु हुए ॥ २ ॥

ओजसा तेजसा लक्ष्म्या तपसा च विशेषतः ।
अतिचक्राम पितरं मनुः स्वं च पितामहम् ॥ ३ ॥

वे तेज, बल, लक्ष्मी और तपसे सूर्य और अपने पिता ब्रह्मासे भी अधिक हो गये ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां स नराधिपः ।
एकपादस्थितस्तीव्रं चचार सुमहत्तपः ॥ ४ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! उन्होंने बदरिकाश्रममें जाकर ऊर्ध्वबाहु करके एक चरणसे खडे होकर घोर तप किया ॥ ४ ॥

अवाक्शिरास्तथा चापि नेत्रैरनिमिषैर्दृढम् ।
सोऽतप्यत तपो घोरं वर्षाणामयुतं तदा ॥ ५ ॥

उन्होंने दस हजार वर्षतक अपनी जिह्वा, सिर और नेत्रोंको स्थिर करके घोर तप किया ॥५॥

तं कदाचित्तपस्यन्तमार्द्रचीरजटाधरम् ।
वीरिणीतीरमागम्य मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

एक दिन वीरिणी नदीके तीरपर भीगे वस्त्र और चीर और जटाधारी मनुके पास जाकर एक मत्स्य यह वचन बोला ॥ ६ ॥

भगवन्क्षुद्रमत्स्योऽस्मि बलवद्भ्यो भयं मम ।
मत्स्येभ्यो हि ततो मां त्वं त्रातुमर्हसि सुव्रत ॥ ७ ॥

हे भगवन् ! मैं बहुत छोटा मत्स्य हूं, इस कारण मुझे बडे मत्स्योंसे बहुत डर लगता है । हे सुव्रत ! तुम उन सब मत्स्योंसे हमारी रक्षा करो ॥ ७ ॥

दुर्बलं बलवन्तो हि मत्स्यं मत्स्या विशेषतः ।
भक्षयन्ति यथा वृत्तिर्विहिता नः सनातनी ॥ ८ ॥

मुझे उन मत्स्योंके कारण जीना बहुत कठिन है और हमारी यह सदाकी वृत्ति है, कि एक बलवान् मत्स्य दूसरे दुर्बल मत्स्यको खा जाता है ॥ ८ ॥

तस्माद्भयौघान्महतो मज्जन्तं मां विशेषतः।
त्रातुमर्हसि कर्तास्मि कृते प्रतिकृतं तव ॥ ९ ॥

इसलिये तुम मुझे इस भयरूपी अगाध जलमें डूबनेवाले मेरा उद्धार करो, मैं भी इस उपकार-का बदला तुमको दूंगा ॥ ९ ॥

स मत्स्यवचनं श्रुत्वा कृपयाभिपरिप्लुतः।
मनुर्वैवस्वतोऽगृह्णात्तं मत्स्यं पाणिना स्वयम् ॥ १० ॥

विवस्वान्‌के पुत्र मनु उसके वचन सुनकर कृपासे पूर्ण हो गये और उसको अपने हाथसे पकड लिया ॥ १० ॥

उदकान्तमुपानीय मत्स्यं वैवस्वतो मनुः।
अलिञ्जरे प्राक्षिपत्स चन्द्रांशुसदृशप्रभम् ॥ ११ ॥

तब मनुने चन्द्रमाके किरणके समान निर्मल उस मत्स्यको पानीसे भरे हुए पात्रमें छोड दिया ॥ ११ ॥

स तत्र ववृधे राजन्मत्स्यः परमसत्कृतः।
पुत्रवच्चाकरोत्तस्मिन्मनुर्भावं विशेषतः ॥ १२ ॥

हे राजन्! वह मत्स्य मनुके स्नेहसे सत्कृत होकर उसी पात्रमें बढने लगा। मनु भी उसको अपने पुत्रके समान पालने लगे ॥ १२ ॥

अथ कालेन महता स मत्स्यः सुमहानभूत्।
अलिञ्जरे जले चैव नासौ समभवत्किल ॥ १३ ॥

कुछ कालके बाद वह मत्स्य बहुत बडा हो गया और उस बर्तनमें उसका शरीर न समाया ॥ १३ ॥

अथ मत्स्यो मनुं दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत।
भगवन्साधु मेऽन्यत्स्थानं संप्रतिपादय ॥ १४ ॥

तब वह मत्स्य मनुको देखकर बोला– कि हे भगवन्! आप मेरे लिये कोई दूसरा स्थान बताइये ॥ १४ ॥

उद्धृत्यालिञ्जरात्तस्मात्ततः स भगवान्मुनिः।
तं मत्स्यमनयद्वापीं महतीं स मनुस्तदा ॥ १५ ॥
तत्र तं प्राक्षिपच्चापि मनुः परपुरंजय।
अथावर्धत मत्स्यः स पुनर्वर्षगणान्बहून् ॥ १६ ॥

तब भगवान् मनुने उस मत्स्यको उस बरतनसे उठाकर एक बडी भारी बावडीके पास ले गए और उस बावडीमें मनुने उस मत्स्यको डाल दिया, हे शत्रुनाशक युधिष्ठिर! बहुत वर्ष बीतनेके बाद वह मत्स्य वहां भी बहुत बढ गया ॥ १५-१६ ॥

द्वियोजनायता वापी विस्तृता चापि योजनम् ।
तस्यां नासौ समभवन्मत्स्यो राजीवलोचन ।
विचेष्टितुं वा कौन्तेय मत्स्यो वाप्यां विशां पते ॥ १७ ॥

हे कमलनेत्र कुन्तीपुत्र राजन् ! वह बावडी आठ कोस लम्बी चार कोस चौडी थी; परन्तु वह मत्स्य इतना बढ गया कि उसमें भी वह चल फिर न सका ॥ १७ ॥

मनुं मत्स्यस्ततो दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत ।
नय मां भगवन्साधो समुद्रमहिषीं प्रभो ।
गङ्गां तत्र निवत्स्यामि यथा वा तात मन्यसे ॥ १८ ॥

हे प्रजानाथ ! उसने एक दिन मनुको देखकर फिर कहा, कि हे प्रभो ! हे तात ! हे भगवन् ! अब तुम मुझको समुद्रकी प्यारी स्त्री गङ्गामें डाल दो मैं वहां रहूंगी अथवा और आपकी जैसी इच्छा हो, वह कीजिये ॥ १८ ॥

एवमुक्तो मनुर्मत्स्यमनयद्भगवान्वशी ।
नदीं गङ्गां तत्र चैनं स्वयं प्राक्षिपदच्युतः ॥ १९ ॥

भगवान् इन्द्रियजित् मुनि मत्स्यके वचन सुनकर मत्स्यको गङ्गाके पास ले गये और उन्होंने स्वयं उसे गंगामें डाल दिया ॥ १९ ॥

स तत्र ववृधे मत्स्यः किंचित्कालमरिंदम ।
ततः पुनर्मनुं दृष्ट्वा मत्स्यो वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

हे शत्रुनाशक ! कुछ समयके बाद वह गङ्गामें भी बढता गया। तब उसने एक दिन फिर मनुसे कहा ॥ २० ॥

गङ्गायां हि न शक्नोमि बृहत्त्वाच्चेष्टितुं प्रभो ।
समुद्रं नय मामाशु प्रसीद भगवन्निति ॥ २१ ॥

कि हे नाथ ! हे भगवन् ! मैं बडा होनेके कारण गङ्गामें चल फिर नहीं सकता, इसलिये आप प्रसन्न होकर मुझे समुद्रमें छोड दीजिये ॥ २१ ॥

उद्धृत्य गङ्गासलिलात्ततो मत्स्यं मनुः स्वयम् ।
समुद्रमनयत्पार्थ तत्र चैनमवासृजत् ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! तब मनुने स्वयं उसे गंगाके पानीसे उठाकर उसको समुद्रमें ले जाकर छोड दिया ॥ २२ ॥

सुमहानपि मत्स्यः सन्स मनोर्मनसस्तदा ।
आसीद्यथेष्टहार्यश्च स्पर्शगन्धसुखश्च वै ॥ २३ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! जिस समय मनु उस मत्स्यको लेकर समुद्रको चले। तब वह महान् होनेपर भी सुखसे लेने योग्य हुआ। उसके सुगन्ध भरे वायुसे मनु बहुत प्रसन्न हुए ॥ २३ ॥

यदा समुद्रे प्रक्षिप्तः स मत्स्यो मनुना तदा ।
तत एनमिदं वाक्यं स्मयमान इवाब्रवीत् ॥ २४ ॥
जब मनुने उसे समुद्रमें डाला, तब मछली मनुसे हंसकर यह वाक्य बोली ॥ २४ ॥

भगवन्कृता हि मे रक्षा त्वया सर्वा विशेषतः ।
प्राप्तकालं तु यत्कार्यं त्वया तच्छ्रूयतां मम ॥ २५ ॥
कि हे भगवन् ! आपने मेरी समयके अनुसार रक्षा की है, इसलिये आपको जो काम करने हैं, उसे मैं कहती हूँ सुनिये ॥ २५ ॥

अचिराद्भगवन्भौममिदं स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वमेव महाभाग प्रलयं वै गमिष्यति ॥ २६ ॥
हे भगवन् ! थोडे ही दिनमें इस सब चर और अचर जगत्की प्रलय होगी ॥ २६ ॥

संप्रक्षालनकालोऽयं लोकानां समुपस्थितः ।
तस्मात्त्वां बोधयाम्यद्य यत्ते हितमनुत्तमम् ॥ २७ ॥
यह समय सब लोगोंके नष्ट होनेका आया है, इसलिये मैं आपको हितकी बात सुनाती हूँ ॥ २७ ॥

त्रसानां स्थावराणां च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ।
तस्य सर्वस्य संप्राप्तः कालः परमदारुणः ॥ २८ ॥
जो चलता है और जो नहीं चलता उन सब स्थावर जङ्गम प्राणियोंके लिये बडा भयङ्कर समय आ गया है ॥ २८ ॥

नौश्च कारयितव्या ते दृढा युक्तवटाकरा ।
तत्र सप्तर्षिभिः सार्धमारुहेथा महामुने ॥ २९ ॥
इसलिये आप एक नाव बनाइये और उसमें दृढ रस्सी बांधिये । आप, हे महामुने ! जब प्रलयका समय आवेगा, तब आप सप्तऋषियोंके सहित उसी नावमें चढियेगा ॥ २९ ॥

बीजानि चैव सर्वाणि यथोक्तानि मया पुरा ।
तस्यामारोहयेर्नौवि सुसंगुप्तानि भागशः ॥ ३० ॥
जैसे कि मैंने पहले कहा है उसी तरह आप उस नावमें सब जगत्के वस्तुओंके बीजोंको रक्षापूर्वक क्रमसे रख लीजियेगा ॥ ३० ॥

नौस्थश्च मां प्रतीक्षेथास्तदा मुनिजनप्रिय ।
आगमिष्याम्यहं शृङ्गी विज्ञेयस्तेन तापस ॥ ३१ ॥
हे मुनिजनप्रिय ! हे तापस ! आप उस नावमें बैठकर मेरा मार्ग देखना । तब मैं आऊंगा, आप मेरे सिरपर सींग देखकर मुझे पहचान लेना ॥ ३१ ॥

एवमेतत्त्वया कार्यमापृष्टोऽसि व्रजाम्यहम्।
नातिशङ्क्यमिदं चापि वचनं ते ममाभिभो ॥ ३२ ॥

हे मुने! मैंने आपसे सब कह दिया। अब मैं जाता हूँ, हे विभो! आप मेरे वचनमें शङ्का मत कीजियेगा ॥ ३२ ॥

एवं करिष्य इति तं स मत्स्यं प्रत्यभाषत।
जग्मतुश्च यथाकाममनुज्ञाप्य परस्परम् ॥ ३३ ॥

मत्स्यके वचन सुनकर मनुने कहा, कि मैं ऐसा ही करूंगा। तदनन्तर वे दोनों परस्पर आज्ञा लेकर इच्छानुसार चले गये ॥ ३३ ॥

ततो मनुर्महाराज यथोक्तं मत्स्यकेन ह।
बीजान्यादाय सर्वाणि सागरं पुप्लुवे तदा।
नावा तु शुभया वीर महोर्मिणमरिंदम ॥ ३४ ॥

हे शत्रुनाशी महाराज! उसके पश्चात् मनुने उसके कहनेके अनुसार सब जगत्की वस्तुमात्रके बीज इकट्ठे किये। फिर एक सुन्दर नावमें बैठकर घोर तरङ्गवाले समुद्रमें तरने लगे ॥ ३४ ॥

चिन्तयामास च मनुस्तं मत्स्यं पृथिवीपते।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा मत्स्यः परपुरंजय।
शृङ्गी तत्राजगामाशु तदा भरतसत्तम ॥ ३५ ॥

तदनन्तर मनुने उस मत्स्यका ध्यान किया। तब, शत्रुनाशी भरतश्रेष्ठ! मनुके ध्यान करते ही वह मत्स्य एक सींग धारण करके मनुके पास जा पहुंचा ॥ ३५ ॥

तं दृष्ट्वा मनुजेन्द्रेन्द्र मनुर्मत्स्यं जलार्णवे।
शृङ्गिणं तं यथोक्तेन रूपेणाद्रिमिवोच्छ्रितम् ॥ ३६ ॥

हे प्रजानाथ! हे शत्रुनाशन! हे पुरुषव्याघ्र! उस महासमुद्रमें उस सींगवाले मत्स्यको मनुने पर्वतके समान शरीर धारण किये हुए देखा ॥ ३६ ॥

वटाकरमयं पाशमथ मत्स्यस्य मूर्धनि।
मनुर्मनुजशार्दूल तस्मिन्शृङ्गे न्यवेशयत् ॥ ३७ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! तब मनुने उस बंटी हुई रस्सीको उस मछलीके सिरपर उगे हुए सींगमें बांध दिया ॥ ३७ ॥

संयतस्तेन पाशेन मत्स्यः परपुरंजय।
वेगेन महता नावं प्राकर्षल्लवणाम्भसि ॥ ३८ ॥

हे शत्रुनगरीके विजेता युधिष्ठिर! जब मनुने उसके सींगमें वह रस्सी बांधी, तब वह वेगसे उस नावको समुद्रमें खींचने लगा ॥ ३८ ॥

स ततार तया नावा समुद्रं मनुजेश्वर ।
नृत्यमानमिवोर्मीभिर्गर्जमानमिवाम्भसा ॥ ३९ ॥

हे नरनाथ ! मत्स्यके खींचनेसे वह समुद्रमें तैरने लगी । उस समय वह नाव समुद्रकी तरङ्गसे नाचने लगी और उसके शब्दसे शब्द करने लगी ॥ ३९ ॥

क्षोभ्यमाणा महावातैः सा नौस्तस्मिन्महोदधौ ।
घूर्णते चपलेव स्त्री मत्ता पुरपुरंजय ॥ ४० ॥

वायुके वेगसे समुद्रमें वह नाव घूमने लगी । हे शत्रुनाशक ! उस समय नावकी ऐसी दशा हुई, जैसे कोई चपला स्त्री नाचती है ॥ ४० ॥

नैव भूमिर्न च दिशः प्रदिशो वा चकाशिरे ।
सर्वमाम्भसमेवासीत्खं द्यौश्च नरपुंगव ॥ ४१ ॥

उस समय भूमि दिशा और प्रदिशायें कुछ नहीं दीखती थीं । हे नरश्रेष्ठ ! उस समय आकाश और सब दिशायें जलमय ही दीखती थीं ॥ ४१ ॥

एवंभूते तदा लोके संकुले भरतर्षभ ।
अदृश्यन्त सप्तर्षयो मनुर्मत्स्यः सहैव ह ॥ ४२ ॥

हे भरतकुलसिंह ! जब जगत् जलसे डूब गया था, उस समय केवल सप्तऋषि मनु और वह मत्स्य दिखाई देते थे ॥ ४२ ॥

एवं बहून्वर्षगणांस्तां नावं सोऽथ मत्स्यकः ।
चकर्षातन्द्रितो राजंस्तस्मिन्सलिलसंचये ॥ ४३ ॥

इस प्रकार वे सब बहुत वर्षोंतक समुद्रमें घूमते रहे और वह मत्स्य भी उन सबको आलस्य रहित होकर समुद्रमें खींचता रहा ॥ ४३ ॥

ततो हिमवतः शृङ्गं यत्परं पुरुषर्षभ ।
तत्राकर्षत्ततो नावं स मत्स्यः कुरुनन्दन ॥ ४४ ॥

हे कुरुनन्दन ! इस प्रकार नावको खींचते खींचते वह हिमाचलके सबसे ऊंचे शिखरपर जा पहुंचा ॥ ४४ ॥

ततोऽब्रवीत्तदा मत्स्यस्तानृषीन्प्रहसञ्शनैः ।
अस्मिन्हिमवतः शृङ्गे नावं बध्नीत माचिरम् ॥ ४५ ॥

वहां पहुंचकर उसने कुछ हंसकर ऋषियोंसे कहा— आप बहुत शीघ्र इस नावको हिमाचलके शिखरमें बांध दीजिये, विलम्ब करना उचित नहीं है ॥ ४५ ॥

सा बद्धा तत्र तैस्तूर्णमृषिभिर्भरतर्षभ ।
नौर्मत्स्यस्य वचः श्रुत्वा शृङ्गे हिमवतस्तदा ॥ ४६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ! यह सुनकर उन मुनियोंने बहुत शीघ्र उस नावको हिमाचलके शिखरसे बांध दिया ॥ ४६ ॥

तच्च नौबन्धनं नाम शृङ्गं हिमवतः परम्।
ख्यातमद्यापि कौन्तेय तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ ४७ ॥

जिस हिमाचलके शिखरमें उस मत्स्यके कहनेसे नाव बांधी गई थी हिमालयकी उस चोटी-का नाम अबतक नौबंधन ही है। हे भरतश्रेष्ठ! उसे तुम अच्छी तरह जान लो ॥ ४७ ॥

अथाब्रवीदनिमिषस्तानृषीन्सहितांस्तदा ।
अहं प्रजापतिर्ब्रह्मा मत्परं नाधिगम्यते ।
मत्स्यरूपेण यूयं च मयास्मान्मोक्षिता भयात् ॥ ४८ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! तदनन्तर उस मत्स्यने वहां इकट्ठे हुए ऋषियोंसे कहा— कि मुनि मुझे ही प्रजापति कहते हैं। मेरा ही नाम ब्रह्मा है, मेरा पार कोई नहीं पा सकता। मैंने मत्स्यरूप धारण करके आप लोगोंको इस भयसे छुडाया है ॥ ४८ ॥

मनुना च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानवाः ।
स्रष्टव्याः सर्वलोकाश्च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ॥ ४९ ॥

अब मनु सब जगत्के देवता, असुर, मनुष्य तथा और भी चराचर सृष्टिको बनावेंगे ॥ ४९ ॥

तपसा चातितीव्रेण प्रतिभास्य भविष्यति ।
मत्प्रसादात्प्रजासर्गे न च मोहं गमिष्यति ॥ ५० ॥

उग्र तप करनेसे इनमें सृष्टि करनेकी बुद्धि उत्पन्न होगी और हमारी कृपासे ये सृष्टि करनेमें भूल नहीं करेंगे ॥ ५० ॥

इत्युक्त्वा वचनं मत्स्यः क्षणेनादर्शनं गतः ।
स्रष्टुकामः प्रजाश्चापि मनुर्वैवस्वतः स्वयम् ।
प्रमूढोऽभूत्प्रजासर्गे तपस्तेपे महत्ततः ॥ ५१ ॥

ऐसा कहकर मत्स्य अन्तर्धान हो गया। तब वैवस्वत मनुने सृष्टि बनानेकी इच्छा की, परन्तु प्रजाओंकी सृष्टिके कार्यमें वे भ्रान्त हो गए। तब उन्होंने घोर तप किया ॥ ५१ ॥

तपसा महता युक्तः सोऽथ स्रष्टुं प्रचक्रमे ।
सर्वाः प्रजा मनुः साक्षाद्यथावद्भरतर्षभ ॥ ५२ ॥

उसके बाद उन्होंने बडे तपसे सृष्टि बनाना आरम्भ किया। हे भरतकुलसिंह! वैवस्वत मनुने सृष्टिको यथायोग्य बनाया ॥ ५२ ॥

इत्येतन्मात्स्यकं नाम पुराणं परिकीर्तितम्।
आख्यानमिदमाख्यातं सर्वपापहरं मया ॥ ५३ ॥

हे युधिष्ठिर ! यह उपाख्यान मत्स्यपुराण नामसे वर्णित हुआ है। मैंने पापोंको हरनेवाली यह पवित्र कथा तुमसे कही ॥ ५३ ॥

य इदं शृणुयान्नित्यं मनोश्चरितमादितः।
स सुखी सर्वसिद्धार्थः स्वर्गलोकमियान्नरः ॥ ५४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥ ६३८० ॥

जो इस मनुके चरित्रको आदिसे अन्ततक पढता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और वह सुख तथा धनसे पूर्ण होकर परलोकमें सुख पाता है ॥ ५४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ पिचासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८५ ॥ ६३८० ॥

: १८६ :

वैशम्पायन उवाच

ततः स पुनरेवाथ मार्कण्डेयं यशस्विनम्।
पप्रच्छ विनयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! इस कथाको सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने विनयपूर्वक यशस्वी मार्कण्डेयसे फिर प्रश्न किया ॥ १ ॥

नैके युगसहस्रान्तास्त्वया दृष्टा महामुने।
न चापीह समः कश्चिदायुषा तव विद्यते।
वर्जयित्वा महात्मानं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ॥ २ ॥

हे महामुने ! आपने अनेक सहस्र युग देखे हैं। आपके समान महात्मा परमेष्ठी ब्रह्माको छोडकर और कोई दीर्घजीवी नहीं है ॥ २ ॥

अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन्देवदानववर्जिते।
त्वमेव प्रलये विप्र ब्रह्माणमुपतिष्ठसि ॥ ३ ॥

हे ब्राह्मण ! इस देवता दानवादिरहित, आकाशरहित जगत्में प्रलय कालमें तुम ही ब्रह्माके पास जाते हो ॥ ३ ॥

प्रलये चापि निर्वृत्ते प्रबुद्धे च पितामहे।
त्वमेव सृज्यमानानि भूतानीह प्रपश्यसि ॥ ४ ॥

जब प्रलय बीत जाती है और ब्रह्मा जागते हैं, तब तुम्हीं उनकी बनायी सृष्टिको देखते हो ॥ ४ ॥

चतुर्विधानि विप्रर्षे यथावत्परमेष्ठिना।
वायुभूता दिशः कृत्वा विक्षिप्यापस्ततस्ततः ॥ ५ ॥

हे विप्र! ब्रह्माने चार प्रकारकी सृष्टि बनायी है। ब्रह्माने वायु और जलको सब दिशामें फैला दिया है ॥ ५ ॥

त्वया लोकगुरुः साक्षात्सर्वलोकपितामहः।
आराधितो द्विजश्रेष्ठ तत्परेण समाधिना ॥ ६ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ! आपने समाधि लगाकर सब लोकके पितामह साक्षात् ब्रह्माकी उपासना की है ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वान्तको मृत्युर्जरा वा देहनाशिनी।
न त्वा विशति विप्रर्षे प्रसादात्परमेष्ठिनः ॥ ७ ॥

इसीसे आपको बुढापा और शरीरको नाश करनेवाली मृत्यु दुःख नहीं देती है। हे विप्रश्रेष्ठ! आपको यह सब ब्रह्माके प्रसादसे प्राप्त हुआ है ॥ ७ ॥

यदा नैव रविर्नाग्निर्न वायुर्न च चन्द्रमाः।
नैवान्तरिक्षं नैवोर्वी शेषं भवति किंचन ॥ ८ ॥

जिस समय सूर्य शेष नहीं रहता, अग्नि शेष नहीं रहती, वायु शेष नहीं रहता, न चन्द्रमा रहता है, न अन्तरिक्ष रहता है, और न पृथ्वी ही शेष रहती है ॥ ८ ॥

तस्मिन्नेकार्णवे लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे।
नष्टे देवासुरगणे समुत्सन्नमहोरगे ॥ ९ ॥

जब समस्त जगत्में जल छा जाता है, जिस समय देवता और असुरोंके सहित सब चर और अचर नष्ट हो जाता है, जब अनेक महासर्प नष्ट होते हैं ॥ ९ ॥

शयानममितात्मानं पद्मे पद्मनिकेतनम्।
त्वमेकः सर्वभूतेशं ब्रह्माणमुपतिष्ठसि ॥ १० ॥

जिस समय कमलगर्भमें रहनेवाले ब्रह्मा निद्राके वशमें होकर अपने शरीरको भूल जाते हैं, तब अकेले आप ही उनके पास खडे रहते हैं ॥ १० ॥

एतत्प्रत्यक्षतः सर्वं पूर्ववृत्तं द्विजोत्तम।
तस्मादिच्छामहे श्रोतुं सर्वहेत्वात्मिकां कथाम् ॥ ११ ॥

हे द्विजोत्तम! आपने यह सब दशा अपने आंखोंसे देखी है; इसलिये हम कारणोंके सहित सब कथा आपसे सुनना चाहते हैं ॥ ११ ॥

अनुभूतं हि बहुशस्त्वयैकेन द्विजोत्तम।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित्सर्वलोकेषु नित्यदा ॥ १२ ॥

हे द्विजोत्तम! जगत्में कोई ऐसी बात नहीं, जिसको आप न जानते हों; इसलिये हम आपसे कथा सुनना चाहते हैं ॥ १२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयंभुवे।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाव्ययाय च ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय बोले– मैं आपसे यह सब कथा कहनेके पहले आप ही उत्पन्न होनेवाले पुराण अव्यय और सगुण ब्रह्मको प्रणाम करता हूं ॥ १३ ॥

य एष पृथुदीर्घाक्षः पीतवासा जनार्दनः।
एष कर्ता विकर्ता च सर्वभावनभूतकृत् ॥ १४ ॥

बडी बडी आंखोंवाले जो ये पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण हैं; ये ही जगत्के कर्ता, नाश करनेवाले और सब जगत्की आत्मा हैं ॥ १४ ॥

अचिन्त्यं महदाश्चर्यं पवित्रमपि चोत्तमम्।
अनादिनिधनं भूतं विश्वमक्षयमव्ययम् ॥ १५ ॥

ये ही सबसे बडे आश्चर्य और विचित्र नामोंसे प्रसिद्ध हैं। परम पवित्र ये ही अनादि, अनन्त, सब प्राणियोंके कारण और जगत्के कर्ता हैं ॥ १५ ॥

एष कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे।
यो ह्येनं पुरुषं वेत्ति देवा अपि न तं विदुः ॥ १६ ॥

और ये ही पराक्रमके मूल हैं, जो इस आत्माको जानते हैं उन्हें देवगण भी नहीं जान सकते ॥ १६ ॥

सर्वमाश्चर्यमेवैतन्निर्वृत्तं राजसत्तम।
आदितो मनुजव्याघ्र कृत्स्नस्य जगतः क्षये ॥ १७ ॥
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संध्या सन्ध्यांशश्च ततः परम् ॥ १८ ॥

हे राजसत्तम! ये ही सब आश्चर्योंके स्थान हैं। पुरुषव्याघ्र! जब सृष्टिका आदि होता है, उस समय दैववर्ष परिमाणसे चार सहस्र वर्षतक सतयुग रहता है, उसकी सन्धि चारसौ वर्षकी है और उतनेसे अधिक सन्ध्यांश है ॥ १७-१८ ॥

त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगमिहोच्यते।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च ततः परम् ॥ १९ ॥

तीन सहस्र वर्षका त्रेतायुग होता है और उसकी सन्ध्या और सन्ध्यांश भी तीन तीनसौ वर्षकी होती है ॥ १९ ॥

तथा वर्षसहस्रे द्वे द्वापरं परिमाणतः ।
तस्यापि द्विशती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च ततः परम् ॥ २० ॥

द्वापर युग दो हजार वर्षका तथा उसकी सन्ध्या और सन्ध्यांश भी दो दोसौ बर्षकी होती है ॥ २० ॥

सहस्रमेकं वर्षाणां ततः कलियुगं स्मृतम् ।
तस्य वर्षशतं संध्याः सन्ध्यांशश्च ततः परम् ।
संध्यासन्ध्यांशयोस्तुल्यं प्रमाणमुपधारय ॥ २१ ॥

कलियुगका परिमाण एक सहस्र वर्ष है; उसके सन्ध्या और सन्ध्यांश भी सौ सौ बर्षके होते हैं। सन्ध्या और सन्ध्यांशका परिमाण समान ही है ऐसा तुम समझो ॥ २१ ॥

क्षीणे कलियुगे चैव प्रवर्तति कृतं युगम् ।
एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या परिकीर्तिता ॥ २२ ॥

कलियुगके वीतनेसे सतयुग आता है। यह द्वादश सहस्र बर्षोंकी युक्त संख्या मैंने आपसे कही ॥ २२ ॥

एतत्सहस्रपर्यन्तमहो ब्राह्ममुदाहृतम् ।
विश्वं हि ब्रह्मभवने सर्वशः परिवर्तते ।
लोकानां मनुजव्याघ्र प्रलयं तं विदुर्बुधाः ॥ २३ ॥

इसी बारह हजार वर्षोंके एक हजार आवर्तनोंको ब्रह्माका दिन भी कहते हैं; इसी समय ब्रह्मा सब जगत्को बनाते हैं। हे पुरुषसिंह ! इसके बाद जो समय होता है उसमें ब्रह्मा सब जगत्को अपने स्थानमें विसर्जन करते हैं, इसी समयको प्रलय कहते हैं ॥ २३ ॥

अल्पावशिष्टे तु तदा युगान्ते भरतर्षभ ।
सहस्रान्ते नराः सर्वे प्रायशोऽनृतवादिनः ॥ २४ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! जब इस प्रलयके होनेमें थोडे दिन रह जाते हैं अर्थात् एक हजार बर्ष रह जाते हैं, तब सब पुरुष झूठ बोलने लगते हैं ॥ २४ ॥

यज्ञप्रतिनिधिः पार्थ दानप्रतिनिधिस्तथा ।
व्रतप्रतिनिधिश्चैव तस्मिन्काले प्रवर्तते ॥ २५ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! उस समय यज्ञ, दान, व्रतादि कर्मोंके स्थानोंपर उनके प्रतिनिधिभूत छोटे कर्म चलने लगते हैं ॥ २५ ॥

ब्राह्मणाः शूद्रकर्माणस्तथा शूद्रा धनार्जकाः ।
क्षत्रधर्मेण वाप्यत्र वर्तयन्ति गते युगे ॥ २६ ॥

उस समय ब्राह्मण शूद्रोंके कर्म करने लगते हैं और शूद्रलोग धन उपार्जन करने लगते हैं; अथवा शूद्रलोग क्षत्रियोंका कर्म करके जीविकाका सम्पादन करते हैं ॥ २६ ॥

निवृत्तयज्ञस्वाध्यायाः पिण्डोदकविवर्जिताः ।
ब्राह्मणाः सर्वभक्षाश्च भविष्यन्ति कलौ युगे ॥ २७ ॥

हे तात! कलियुगमें ब्राह्मण यज्ञ, वेदपाठ, पिण्ड और जलदान आदि कार्योंसे रहित हो जायेंगे, वे लोग सर्वभक्षी हो जायेंगे ॥ २७ ॥

अजपा ब्राह्मणास्तात शूद्रा जपपरायणाः ।
विपरीते तदा लोके पूर्वरूपं क्षयस्य तत् । ॥ २८ ॥

हे तात! ब्राह्मण जपसे रहित हो जायेंगे और शूद्र मन्त्रको जपने लगेंगे। जब ऐसा घोर समय आयेगा, तब जानना कि अब प्रलय होनेवाली है ॥ २८ ॥

बह्वो म्लेच्छराजानः पृथिव्यां मनुजाधिप ।
मिथ्यानुशासिनः पापा मृषावादपरायणाः ॥ २९ ॥

हे राजन्! उस समय जगत्के सब राजा म्लेच्छ हो जायेंगे। वे लोग झूठ बोल बोलकर अन्याय और पापसे राज्य करेंगे ॥ २९ ॥

आन्ध्राः शकाः पुलिन्दाश्च यवनाश्च नराधिपाः ।
काम्बोजा और्णिकाः शूद्रास्तथाभीरा नरोत्तम ॥ ३० ॥

हे पृथ्वीनाथ! आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, और्णिक, शूद्र और आभीर लोग राजा होंगे ॥ ३० ॥

न तदा ब्राह्मणः कश्चित्स्वधर्ममुपजीवति ।
क्षत्रिया अपि वैश्याश्च विकर्मस्था नराधिप ॥ ३१ ॥

हे नरोत्तम! उस समय कोई ब्राह्मण अपने धर्मका पालन नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अपने अपने कर्मोंको छोड देंगे ॥ ३१ ॥

अल्पायुषः स्वल्पबला अल्पतेजःपराक्रमाः ।
अल्पदेहाल्पसाराश्च तथा सत्याल्पभाषिणः ॥ ३२ ॥

कलियुगके पुरुष थोडे बल, थोडे पराक्रम, थोडे वीर्य, थोडी अवस्था, थोडा उत्साह, थोडा शरीर और थोडे साहसवाले होंगे ॥ ३२ ॥

बहुशून्या जनपदा मृगव्यालावृता दिशः ।
युगान्ते समनुप्राप्ते वृथा च ब्रह्मचारिणः ।
भोवादिनस्तथा शूद्रा ब्राह्मणाश्चार्यवादिनः　　　　　॥ ३३ ॥

अनेक नगर मनुष्योंसे शून्य हो जायेंगे । सब ओर हिंसक पशु और सर्प ही दिखाई देंगे । कलियुगमें सब लोग झूठे ब्रह्मचारी होंगे । तब शूद्र ब्राह्मणोंसे ' रे ' कहकर बोलेंगे और ब्राह्मण शूद्रोंको ' आर्य ' कहकर सम्बोधित करेंगे ॥ ३३ ॥

युगान्ते मनुजव्याघ्र भवन्ति बहुजन्तवः ।
न तथा घ्राणयुक्ताश्च सर्वगन्धा विशां पते ।
रसाश्च मनुजव्याघ्र न तथा स्वादुयोगिनः　　　　　॥ ३४ ॥

हे पुरुषसिंह ! युगके अन्तमें ऐसे बहुत विपरीत जन्तु उत्पन्न होंगे । हे पृथ्वीनाथ ! उस समय नासिका सब सुगन्धियोंको नहीं सूंघ सकेगी । पुरुषव्याघ्र ! रसोंमें इतना स्वाद नहीं रहेगा ॥ ३४ ॥

बहुप्रजा ह्रस्वदेहाः शीलाचारविवर्जिताः ।
मुखेभगाः स्त्रियो राजन्भविष्यन्ति युगक्षये　　　　　॥ ३५ ॥

मनुष्योंकी बहुत सन्तानें होंगी, परन्तु सबके छोटे शरीर होंगे और कोई भी शील और आचारका आचरण नहीं करेगा । हे राजन् ! उस समयमें स्त्री मुखसे मैथुन करेंगी ॥३५॥

अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।
केशशूलाः स्त्रियो राजन्भविष्यन्ति युगक्षये　　　　　॥ ३६ ॥

हे राजन् ! युगक्षयमें सब पुरुष अन्न बेचनेवाले, ब्राह्मण वेद बेचनेवाले और स्त्रियां योनि बेचनेवाली हो जायेंगी ॥ ३६ ॥ +

अल्पक्षीरास्तथा गावो भविष्यन्ति जनाधिप ।
अल्पपुष्पफलाश्चापि पादपा बहुवायसाः　　　　　॥ ३७ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! गायें बहुत कम दूध देने लगेंगी; वृक्षोंपर फल बहुत कम आवेंगे, तथा (अच्छे पक्षियोंकी अपेक्षा) कौवे बहुत बढ जायेंगे ॥ ३७ ॥

ब्रह्मवध्यावलिप्तानां तथा मिथ्याभिशंसिनाम् ।
नृपाणां पृथिवीपाल प्रतिगृह्णन्ति वै द्विजाः　　　　　॥ ३८ ॥

हे राजन् ! ब्राह्मण लोभवश होकर ब्रह्महत्याके पापी तथा मिथ्यावादी राजाओंसे भी दान लेने लगेंगे ॥ ३८ ॥

+ अट्टमन्नं शिवो वेदा ब्राह्मणाश्च चतुष्पथाः ।
केशो भगं समाख्यातं शूलं तद्विक्रयं विदुः ॥　　(नीलकण्ठ)

लोभमोहपरीताश्च मिथ्याधर्मध्वजावृताः।
भिक्षार्थं पृथिवीपाल चञ्चूर्यन्ते द्विजैर्दिशः ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण लोभ और मोहसे भरे हुए धार्मिक चिह्नधारी होकर भिक्षाके लिये दसों दिशामें घूमने लगेंगे ॥ ३९ ॥

करभारभयात्पुंसो गृहस्थाः परिमोषकाः।
मुनिच्छद्माकृतिच्छन्ना वाणिज्यमुपजीवते ॥ ४० ॥

गृहस्थ राजकरसे पीडित होकर वञ्चनापूर्वक अर्थसंग्रह करने लगेंगे। द्विजगण कपटसे मुनियोंका वेष बनाकर व्यापारसे उपजीविका करेंगे ॥ ४० ॥

मिथ्या च नखरोमाणि धारयन्ति नरास्तदा।
अर्थलोभान्नरव्याघ्र वृथा च ब्रह्मचारिणः ॥ ४१ ॥

कलियुगमें मनुष्य वृथा ही बाल और नाखूनोंको बढावेंगे; धनके लोभसे अनेक लोग ब्रह्मचारी होंगे ॥ ४१ ॥

आश्रमेषु वृथाचाराः पानपा गुरुतल्पगाः।
ऐहलौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्धनम् ॥ ४२ ॥

कोई आश्रम ठीक नहीं रहेगा। सब लोग मदिरा पीने लगेंगे, सब लोग गुरुके शैयापर विहार करने लगेंगे; उस समयके पुरुष केवल मांस और रुधिरके बढानेको ही अपना कर्म समझेंगे ॥ ४२ ॥

बहुपाषण्डसंकीर्णाः परान्नगुणवादिनः।
आश्रमा मनुजव्याघ्र न भवन्ति युगक्षये ॥ ४३ ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! उस समयके पुरुष अनेक पाखण्डोंसे पूर्ण और पराये अन्नकी प्रशंसा करनेवाले होंगे। कलियुगमें आश्रमोंकी व्यवस्था ऐसी होगी ॥ ४३ ॥

यथर्तुवर्षी भगवान्न तथा पाकशासनः।
न तदा सर्वबीजानि सम्यग्रोहन्ति भारत।
अधर्मफलमत्यर्थं तदा भवति चानघ ॥ ४४ ॥

हे भरत ! उस युगके आनेसे ठीक समयपर इन्द्र वर्षा नहीं करेंगे और बीज भी अच्छी प्रकारसे उत्पन्न नहीं होंगे, उस समय सब ओर पापहीका फल दिखाई देने लगेगा ॥ ४४ ॥

तथा च पृथिवीपाल यो भवेद्धर्मसंयुतः।
अल्पायुः स हि मन्तव्यो न हि धर्मोऽस्ति कश्चन ॥ ४५ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! उस समय जो धर्म करेगा, अल्पायु होकर थोडे ही दिन जीयेगा। इसलिये सब जान जायेंगे कि धर्म कुछ वस्तु नहीं है ॥ ४५ ॥

भूयिष्ठं कूटमानैश्च पण्यं विक्रीणते जनाः ।
वणिजश्च नरव्याघ्र बहुमाया भवन्त्युत ॥ ४६ ॥

उस समय सब छल करके असत्य तोलसे विक्रय करेंगे । हे नरव्याघ्र ! बानिये अनेक प्रकारके छल करेंगे ॥ ४६ ॥

धर्मिष्ठाः परिहीयन्ते पापीयान्वर्धते जनः ।
धर्मस्य बलहानिः स्यादधर्मश्च बली तथा ॥ ४७ ॥

धर्मज्ञोंकी हानि और पापियोंकी वृद्धि होगी। धर्म बलहीन और अधर्म बलवान् हो जायेगा ॥४७॥

अल्पायुषो दरिद्राश्च धर्मिष्ठा मानवास्तदा ।
दीर्घायुषः समृद्धाश्च विधर्माणो युगक्षये ॥ ४८ ॥

युगक्षयके समय धर्म करनेवाले पुरुष थोडे ही दिन जीनेवाले और दरिद्री होंगे; अधर्मी दीर्घायु और धनवान् होंगे ॥ ४८ ॥

अधर्मिष्ठैरुपायैश्च प्रजा व्यवहरन्त्युत ।
सञ्चयेनापि चाल्पेन भवन्त्याढ्या मदान्विताः ॥ ४९ ॥

प्रजायें अधर्मयुक्त उपायोंसे अपना व्यवहार करेंगी। थोडा धन इकट्ठा होनेसे ही उन लोगोंको बहुत अभिमान होगा ॥ ४९ ॥

धनं विश्वासतो न्यस्तं मिथो भूयिष्ठशो नराः ।
हर्तुं व्यवसिता राजन्मायाचारसमन्विताः ॥ ५० ॥

उस समयके पुरुष विश्वासपूर्वक रखे हुए धनको भी चुरा लेंगे। हे राजन् ! माया या छलके आचरणसे युक्त होकर वे लोगोंके धनका अपहरण करेंगे ॥ ५० ॥

पुरुषादानि सत्त्वानि पक्षिणोऽथ मृगास्तथा ।
नगराणां विहारेषु चैत्येष्वपि च शेरते ॥ ५१ ॥

पुरुषोंको खानेवाले जन्तु, पक्षी और पशु नगरोंके बागोंमें और स्मशानोंमें विहार करने लगेंगे ॥ ५१ ॥

सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च स्त्रियो गर्भधरा नृप ।
दशद्वादशवर्षाणां पुंसां पुत्रः प्रजायते ॥ ५२ ॥

हे राजन् ! सात सात और आठ आठ वर्षकी लडकियां गर्भवती होने लगेंगी । दस और बारह वर्षके लडकोंके पुत्र उत्पन्न होंगे ॥ ५२ ॥

भवन्ति षोडशे वर्षे नराः पलितिनस्तथा ।
आयुःक्षयो मनुष्याणां क्षिप्रमेव प्रपद्यते ॥ ५३ ॥

सोलहवें वर्षके आनेसे ही पुरुष बूढे हो जायेंगे। मनुष्योंकी अवस्था बहुत कम होगी ॥५३॥

क्षीणे युगे महाराज तरुणा वृद्धशीलिनः ।
तरुणानां च यच्छीलं तद्‌वृद्धेषु प्रजायते ॥ ५४ ॥

हे महाराज! उस समयके बूढे तरुण और तरुणोंका जो शील है, वह वृद्धोंमें दिखाई देने लगेगा ॥ ५४ ॥

विपरीतास्तदा नार्यो वञ्चयित्वा रहः पतीन्।
व्युच्चरन्त्यपि दुःशीला दासैः पशुभिरेव च ॥ ५५ ॥

उस समयकी बुरे आचरणवाली स्त्रियां अपने पतियोंको धोखा देकर एकान्तमें दास और पशुओंके साथ विहार करेंगी ॥ ५५ ॥

तस्मिन्युगसहस्रान्ते संप्राप्ते चायुषः क्षये ।
अनावृष्टिर्महाराज जायते बहुवार्षिकी ॥ ५६ ॥

हे महाराज! जब इसप्रकार आयुका क्षय करनेवाला हजार युगोंका अन्तिम समय आयेगा, तब अनेक वर्षोंतक जल नहीं बरसेगा ॥ ५६ ॥

ततस्तान्यल्पसाराणि सत्त्वानि क्षुधितानि च ।
प्रलयं यान्ति भूयिष्ठं पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ ५७ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! उस समय थोडे पराक्रमवाले जीव पृथ्वीपर भूखसे व्याकुल होकर मर जायेंगे ॥ ५७ ॥

ततो दिनकरैर्दीप्तैः सप्तभिर्मनुजाधिप ।
पीयते सलिलं सर्वं समुद्रेषु सरित्सु च ॥ ५८ ॥

हे राजन् ! उस समय बहुत प्रकाशमान् सात सूर्य उदय होंगे, वे सब समुद्र और नदियोंके जलको सुखा देंगे ॥ ५८ ॥

यच्च काष्ठं तृणं चापि शुष्कं चार्द्रं च भारत ।
सर्वं तद्भस्मसाद्‌भूतं दृश्यते भरतर्षभ ॥ ५९ ॥

हे भरतकुलसिंह! इस समय जो सूखे और हरे तिनके और काठ दिखाई देते हैं, वे सब भस्म हो जायेंगे ॥ ५९ ॥

ततः संवर्तको वह्निर्वायुना सह भारत ।
लोकमाविशते पूर्वमादित्यैरुपशोषितम् ॥ ६० ॥

हे भारत ! उस समय सब जगत्‌को जलानेवाली आग वायुसे प्रेरित होकर सूर्यसे सुखाये हुए जगत्‌में बरसेगी ॥ ६० ॥

ततः स पृथिवीं भित्त्वा समाविश्य रसातलम् ।
देवदानवयक्षाणां भयं जनयते महत् ॥ ६१ ॥

वह इस पृथ्वीको भस्म करके पातालको जायेगी, वहां दानव और यक्षोंमें भयको उत्पन्न करेगी ॥ ६१ ॥

निर्दहन्नागलोकं च यच्च किंचित्क्षिताविह ।
अधस्तात्पृथिवीपाल सर्वं नाशयते क्षणात् ॥ ६२ ॥

वह अग्नि इसप्रकार नागलोक और पृथ्वीको जलाकर इन सबके नीचे चली जायेगी और वहां भी क्षणभरमें सब वस्तुओंको भस्म कर देगी ॥ ६२ ॥

ततो योजनविंशानां सहस्राणि शतानि च ।
निर्दहत्यशिवो वायुः स च संवर्तकोऽनलः ॥ ६३ ॥

तब सैंकडों हजारों योजनतक एक अशुभ वायु चलेगा। वह वायु और अग्नि सबको भस्म कर देगी ॥ ६३ ॥

सदेवासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।
ततो दहति दीप्तः स सर्वमेव जगद्विभुः ॥ ६४ ॥

वही अग्नि देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष और राक्षसोंके सहित सब जगत्को जलायेगी ॥ ६४ ॥

ततो गजकुलप्रख्यास्तडिन्मालाविभूषिताः ।
उत्तिष्ठन्ति महामेघा नभस्यद्भुतदर्शनाः ॥ ६५ ॥

उसके पश्चात् बिजलीके सहित हाथियोंके समान शरीरवाले अद्भुत मेघ आकाशमें उठेंगे ॥ ६५ ॥

केचिन्नीलोत्पलश्यामाः केचित्कुमुदसंनिभाः ।
केचित्किञ्जल्कसंकाशाः केचित्पीताः पयोधराः ॥ ६६ ॥

उन मेघोंमेंसे कोई नील कमलके समान रूपवाले, कोई लाल कमलके समान, कोई काले कमलके समान और कोई पीले होंगे ॥ ६६ ॥

केचिद्धारिद्रसंकाशाः काकाण्डकनिभास्तथा ।
केचित्कमलपत्राभाः केचिद्धिङ्गुलकप्रभाः ॥ ६७ ॥

कोई हल्दीके समान सुन्दर, कोई कौवेके अण्डेके समान रूपवान्, कोई कमलके पत्तेसे सुन्दर और कोई सिंगरिफके समान रंगवाले होंगे ॥ ६७ ॥

केचित्पुरवराकाराः केचिद्गजकुलोपमाः।
केचिदञ्जनसंकाशाः केचिन्मकरसंस्थिताः।
विद्युन्मालापिनद्धाङ्गाः समुत्तिष्ठन्ति वै घनाः ॥ ६८ ॥
घोररूपा महाराज घोरस्वननिनादिताः।
ततो जलधराः सर्वे व्याप्नुवन्ति नभस्तलम् ॥ ६९ ॥

कोई मेघ बडे नगरके समान, कोई हाथियोंके झुण्डके समान शरीरवाले, कोई अञ्जनके समान काले और कोई मगरके समान होंगे, हे महाराज! उस समय कोई बिजलीकी मालासे शोभायमान शरीरवाले घोर शब्द करते हुए मेघ निकलेंगे। तब वह मेघ सम्पूर्ण आकाश मण्डलमें छा जायेंगे ॥ ६८-६९ ॥

तैरियं पृथिवी सर्वा सपर्वतवनाकरा।
आपूर्यते महाराज सलिलौघपरिप्लुता ॥ ७० ॥

उनसे यह पृथ्वी, हे महाराज! सम्पूर्ण पर्वत और वनोंके सहित व्याप्त होकर जलसे भर जायेगी ॥ ७० ॥

ततस्ते जलदा घोरा राविणः पुरुषर्षभ।
सर्वतः प्लावयन्त्याशु चोदिताः परमेष्ठिना ॥ ७१ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! तब वह घोर शब्द करनेवाले मेघ परमेश्वरकी आज्ञासे चारों ओरसे पृथ्वीको डूबा देंगे ॥ ७१ ॥

वर्षमाणा महत्तोयं पूरयन्तो वसुंधराम्।
सुघोरमशिवं रौद्रं नाशयन्ति च पावकम् ॥ ७२ ॥

बहुत जल बरसाते हुए सम्पूर्ण पृथ्वीको भर देंगे। वह घोर भयानक जल अग्निका भी नाश कर देगा ॥ ७२ ॥

ततो द्वादश वर्षाणि पयोदास्त उपप्लवे।
धाराभिः पूरयन्तो वै चोद्यमाना महात्मना ॥ ७३ ॥
ततः समुद्रः स्वां वेलामतिक्रामति भारत।
पर्वताश्च विशीर्यन्ते मही चापि विशीर्यते ॥ ७४ ॥

परमेश्वरके भेजे हुए वह मेघ बारह वर्षतक जल वर्षाकर प्रलय करेंगे। हे भारत! तब समुद्र भी अपनी मर्यादा छोड देगा। सब पर्वत विदीर्ण होंगे और पृथ्वी भी फट जायेगी ॥७३-७४॥

सर्वतः सहसा भ्रान्तास्ते पयोदा नभस्तलम्।
संवेष्टयित्वा नश्यन्ति वायुवेगपराहताः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार वे मेघ इधर उधर उमडते हुए अचानक आकाशको छा लेंगे और फिर वायुके वेगसे तहस नहस होकर नष्ट हो जायेंगे ॥ ७५ ॥

ततस्तं मारुतं घोरं स्वयंभूर्मनुजाधिप ।
आदिपद्मालयो देवः पीत्वा स्वपिति भारत ॥ ७६ ॥

हे नरनाथ भारत ! तब उस भयानक पवनको पद्मसे उत्पन्न आदिपुरुष ब्रह्मा पीकर कमलपर सो रहते हैं ॥ ७६ ॥

तस्मिन्नेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टे देवासुरगणे यक्षराक्षसवर्जिते ॥ ७७ ॥

उस महाप्रलयके घोर समयमें चर, अचर, देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी और वृक्षादि नष्ट हो जाते हैं ॥ ७७ ॥

निर्मनुष्ये महीपाल निःश्वापदमहीरुहे ।
अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन्भ्रमाम्येकोऽहमाहतः ॥ ७८ ॥

तब मैं अकेला केवल मनुष्यरहित, पशुवृक्षोंसे रहित तथा अन्तरिक्षरहित इस लोकमें घूमा करता हूं ॥ ७८ ॥

एकार्णवे जले घोरे विचरन्पार्थिवोत्तम ।
अपश्यन्सर्वभूतानि वैक्लव्यमगमं परम् ॥ ७९ ॥

हे राजसत्तम ! उस समुद्रसे व्याप्त एकार्णवस्थितिके घोर जलमें प्राणियोंको बिना देखे मैं बहुत विकल हुआ ॥ ७९ ॥

ततः सुदीर्घं गत्वा तु प्लवमानो नराधिप ।
श्रान्तः क्वचिन्न शरणं लभाम्यहमतन्द्रितः ॥ ८० ॥

तब, हे राजन् ! बहुत दूरतक निरलस होकर तैरता हुआ चला गया; परन्तु थके हुए मुझे दूरतक जानेपर भी कहींपर आश्रय नहीं मिला ॥ ८० ॥

ततः कदाचित्पश्यामि तस्मिन्सलिलसंप्लवे ।
न्यग्रोधं सुमहान्तं वै विशालं पृथिवीपते ॥ ८१ ॥

हे राजन् ! तब मैं थककर बैठ गया; तब मैंने एक दिन उस जलमें बडा भारी विशाल बड देखा ॥ ८१ ॥

शाखायां तस्य वृक्षस्य विस्तीर्णायां नराधिप ।
पर्यङ्के पृथिवीपाल दिव्यास्तरणसंस्तृते ॥ ८२ ॥
उपविष्टं महाराज पूर्णेन्दुसदृशाननम् ।
फुल्लपद्मविशालाक्षं बालं पश्यामि भारत ॥ ८३ ॥

हे पृथ्वीनाथ राजन् ! उस वृक्षकी एक बहुत लम्बी शाखामें दिव्य बिछौनेसे युक्त एक पलंगपर, हे भारत महाराज ! दिव्य आभूषण पहिने हुए पूर्णचन्द्रके समान मुखवाले और खिले हुए कमलके समान नेत्रवाले एक बालकको मैंने देखा ॥ ८२-८३ ॥

×

ततो मे पृथिवीपाल विस्मयः सुमहानभूत् ।
कथं त्वयं शिशुः शेते लोके नाशमुपागते ॥ ८४ ॥

हे पृथ्वीपाल! उस बालकको देखकर मुझे बडा ही आश्चर्य हुआ, कि संसारके नाश हो जानेपर भी यह बालक कैसे बच गया? ॥ ८४ ॥

तपसा चिन्तयंश्चापि तं शिशुं नोपलक्षये ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च जानन्नपि नराधिप ॥ ८५ ॥

हे प्रजानाथ! मैं यद्यपि योगदृष्टिसे भूत भविष्यत् वर्त्तमानको देखता था, तो भी उस बालकको न जान सका ॥ ८५ ॥

अतसीपुष्पवर्णाभः श्रीवत्सकृतलक्षणः ।
साक्षाल्लक्ष्म्या इवावासः स तदा प्रतिभाति मे ॥ ८६ ॥

तब अलसीके फूलके समान श्रीवत्समणि पहने हुए साक्षात् लक्ष्मीपतिके समान वह मुझे मालूम हुआ ॥ ८६ ॥

ततो मामब्रवीद्बालः स पद्मनिभलोचनः ।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान्वाक्यं श्रुतिसुखावहम् ॥ ८७ ॥

तब वह कमलनेत्र श्रीवत्सको धारण करनेवाला, तेजस्वी बालक कानको अच्छी लगनेवाली यह बात मुझसे कहने लगा ॥ ८७ ॥

जानामि त्वा परिश्रान्तं तात विश्रामकाङ्क्षिणम् ।
मार्कण्डेय इहास्स्व त्वं यावदिच्छसि भार्गव ॥ ८८ ॥

हे भार्गव! मैं तुमको जानता हूं, कि तुम थके हुए मार्कण्डेय मुनि विश्राम चाहते हो। हे मार्कण्डेय! जबतक विश्राम करना चाहो, तब तक मेरे पास आकर विश्राम करो ॥८८॥

अभ्यन्तरं शरीरं मे प्रविश्य मुनिसत्तम ।
आस्स्व भो विहितो वासः प्रसादस्ते कृतो मया ॥ ८९ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ! मेरे शरीरके अन्दर घुसकर बैठ जाओ। यहां तुम्हारे लिए जगह बनी हुई है। मैंने तुमपर यह कृपा की है ॥ ८९ ॥

ततो बालेन तेनैवमुक्तस्यासीत्तदा मम ।
निर्वेदो जीविते दीर्घे मनुष्यत्वे च भारत ॥ ९० ॥

हे राजन्! तब उस बालकके ऐसे वचन सुनके मुझे अपने अधिक जीने और अपने मनुष्यपनपर मेरे मनमें दुःख हो आया ॥ ९० ॥

ततो बालेन तेनास्यं सहसा विवृतं कृतम् ।
तस्याहमवशो वक्त्रं दैवयोगात्प्रवेशितः　　　　　　॥ ९१ ॥

तब उस बालकने अपने मुखको बहुत फैलाया, मैं बेवस होकर दैवके योगसे उसके मुंहमें घुस गया ॥ ९१ ॥

ततः प्रविष्टस्तत्कुक्षिं सहसा मनुजाधिप ।
सराष्ट्रनगराकीर्णां कृत्स्नां पश्यामि मेदिनीम्　　　　　　॥ ९२ ॥

हे राजन् ! तब मैंने उसके पेटमें जाकर देखा, कि नगर और वनोंके सहित सम्पूर्ण पृथ्वी स्थित है ॥ ९२ ॥

गङ्गां शतद्रुं सीतां च यमुनामथ कौशिकीम् ।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं चन्द्रभागां सरस्वतीम्　　　　　　॥ ९३ ॥

गङ्गा, यमुना, सतलज, सीता, कौशिकी, चम्बल, वेत्रवती, चन्द्रभागा, सरस्वती ॥ ९३ ॥

सिन्धुं चैव विपाशां च नदीं गोदावरीमपि ।
वस्वोकसारां नलिनीं नर्मदां चैव भारत　　　　　　॥ ९४ ॥

सिन्धु, व्यास और गोदावरी नदी, वस्वोकसारा, नलिनी और नर्मदाको भी, हे भारत ॥ ९४ ॥

नदीं ताम्रां च वेण्णां च पुण्यतोयां शुभावहाम् ।
सुवेणां कृष्णवेणां च इरामां च महानदीम् ।
शोणं च पुरुषव्याघ्र विशल्यां कंपुनामपि　　　　　　॥ ९५ ॥

ताम्रा, वेण्णा, पवित्र जलवाली सुवेणा, कृष्णवेणा, महानदी, इरामा, हे पुरुषव्याघ्र ! शोणभद्र विशल्या, कम्पुना ॥ ९५ ॥

एताश्चान्याश्च नद्योऽहं पृथिव्यां या नरोत्तम ।
परिक्रामन्प्रपश्यामि तस्य कुक्षौ महात्मनः　　　　　　॥ ९६ ॥

तथा, हे महाराज ! जिन अन्य नदियोंको मैंने इन्हें पृथ्वीमें देखा था, उन सब नदियोंको उस महात्मा बालकके पेटमें घूमते हुए मैंने देखा ॥ ९६ ॥

ततः समुद्रं पश्यामि यादोगणनिषेवितम् ।
रत्नाकरममित्रघ्न निधानं पयसो महत्　　　　　　॥ ९७ ॥

हे शत्रुनाशक ! अनेक जल जन्तुओंसे भरे रत्नोंकी खान जलसे पूर्ण समुद्रको भी मैंने वहां देखा ॥ ९७ ॥

ततः पश्यामि गगनं चन्द्रसूर्यविराजितम् ।
जाज्वल्यमानं तेजोभिः पावकार्कसमप्रभैः ।
पश्यामि च महीं राजन्काननैरुपशोभिताम् ॥ ९८ ॥

उस बालकके पेटमें सूर्य, चन्द्रमासे युक्त और अग्नि तथा सूर्यके समान प्रकाशमान तेजोंसे देदीप्यमान आकाशको भी देखा, हे राजन्! अनेक वनोंसे शोभायमान पृथ्वीको भी देखा ॥९८॥

यजन्ते हि तदा राजन्ब्राह्मणा बहुभिः सवैः ।
क्षत्रियाश्च प्रवर्तन्ते सर्ववर्णानुरञ्जने ॥ ९९ ॥

उसमें ब्राह्मण अनेक तरहके यज्ञ कर रहे थे, अनेक क्षत्रिय सब वर्णोंवाली प्रजाओंको प्रसन्न करनेमें तत्पर थे ॥ ९९ ॥

वैश्याः कृषिं यथान्यायं कारयन्ति नराधिप ।
शुश्रूषायां च निरता द्विजानां वृषलास्तथा ॥ १०० ॥

हे राजन्! वैश्य न्यायपूर्वक खेतीमें लगे हुए थे; शूद्र भी द्विजातियोंकी सेवामें लगे हुए थे ॥ १०० ॥

ततः परिपतन्राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ।
हिमवन्तं च पश्यामि हेमकूटं च पर्वतम् ॥ १०१ ॥

हे राजन्! उस महात्माके पेटमें कुछ दूर आगे चलकर हिमाचल और हेमकूट पर्वतको देखा ॥ १०१ ॥

निषधं चापि पश्यामि श्वेतं च रजताचितम् ।
पश्यामि च महीपाल पर्वतं गन्धमादनम् ॥ १०२ ॥

निषध और चांदीसे भरे हुए श्वेतागिरीको देखा। हे राजन्! गन्धमादन पर्वतको भी देखा ॥ १०२ ॥

मन्दरं मनुजव्याघ्र नीलं चापि महागिरिम् ।
पश्यामि च महाराज मेरुं कनकपर्वतम् ॥ १०३ ॥

हे मनुजव्याघ्र! मन्दराचलको, नीलगिरी और हे राजन्! महापर्वत मेरुको भी देखा ॥१०३॥

महेन्द्रं चैव पश्यामि विन्ध्यं च गिरिमुत्तमम् ।
मलयं चापि पश्यामि पारियात्रं च पर्वतम् ॥ १०४ ॥

महेन्द्र पर्वतको, उत्तम विन्ध्याचलको, मलयागिरिको, पारियात्र पर्वतको देखा ॥ १०४ ॥

एते चान्ये च बहवो यावन्तः पृथिवीधराः ।
तस्योदरे मया दृष्टाः सर्वरत्नविभूषिताः ॥ १०५ ॥

इनको तथा अन्य भी जितने पर्वत हैं उन सबको उस बालकके पेटमें देखा। यह सब पर्वत अनेक रत्नोंसे भरे हुए थे ॥ १०५ ॥

सिंहान्व्याघ्रान्वराहांश्च नागांश्च मनुजाधिप ।
पृथिव्यां यानि चान्यानि सत्त्वानि जगतीपते ।
तानि सर्वाण्यहं तत्र पश्यन्पर्यचरं तदा ॥ १०६ ॥

हे राजन् ! सिंह, व्याघ्र शूकर हाथी आदि अनेक प्रकारके जीव जन्तु जो पृथ्वीपर रहते हैं, उन सबको, हे महाराज ! घूमते हुए मैंने उसके पेटमें देखा ॥ १०६ ॥

कुक्षौ तस्य नरव्याघ्र प्रविष्टः संचरन्दिशः ।
शक्रादींश्चापि पश्यामि कृत्स्नान्देवगणांस्तथा ॥ १०७ ॥

मैं उसके पेटमें इधर उधर विचरने लगा। हे नरसिंह ! उसकी कोखमें घूमते हुए मैंने इन्द्रादि सम्पूर्ण देवताओंको देखा ॥ १०७ ॥

गन्धर्वाप्सरसो यक्षानृषींश्चैव महीपते ।
दैत्यदानवसंघांश्च कालेयांश्च नराधिप ।
सिंहिकातनयांश्चापि ये चान्ये सुरशत्रवः ॥ १०८ ॥

हे राजन् ! गन्धर्व, अप्सरा, ऋषि, यक्ष, दैत्यों, और दानवोंके समूहोंको और कालेय असुरोंको भी मैंने वहां देखा। हे नरनाथ ! वहांपर सिंहिकाके पुत्र तथा जो दूसरे देव-शत्रु थे, उन केतु आदिको भी देखा ॥ १०८ ॥

यच्च किंचिन्मया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ।
तदपश्यमहं सर्वं तस्य कुक्षौ महात्मनः ।
फलाहारः प्रविचरन्कृत्स्नं जगदिदं तदा ॥ १०९ ॥

तथा सब चर अचरको जो इस लोकमें देखा था, उन सबोंको महात्मा बालकके पेटमें देखा। इस जगत्को देखते हुए मैं फलाहार करके जीने लगा ॥ १०९ ॥

अन्तः शरीरे तस्याहं वर्षाणामधिकं शतम् ।
न च पश्यामि तस्याहमन्तं देहस्य कुत्रचित् ॥ ११० ॥

हे राजन् ! उस बालकके पेटमें मैं इसी तरह कई सौ वर्षतक घूमता रहा। परन्तु उसके शरीरका अन्त मैंने कहीं नहीं देखा ॥ ११० ॥

सततं धावमानश्च चिन्तयानो विशां पते ।
आसादयामि नैवान्तं तस्य राजन्महात्मनः ॥ १११ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! मैं उसके शरीरमें घूमता और सोचता था, कि इस पुरुषके शरीरका अन्त कहां है, परन्तु मुझे उसका अन्त न मिला ॥ १११ ॥

ततस्तमेव शरणं गतोऽस्मि विधिवत्तदा ।
वरेण्यं वरदं देवं मनसा कर्मणैव च ॥ ११२ ॥
तब मैं उसी वर देनेवाले देवकी विधिपूर्वक मन और कर्मद्वारा शरणमें गया ॥ ११२ ॥

ततोऽहं सहसा राजन्वायुवेगेन निःसृतः ।
महात्मनो मुखात्तस्य विवृतात्पुरुषोत्तम ॥ ११३ ॥
हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ राजन् ! तब मैं अचानक उस महात्माके सांसके साथ उसके मुंहसे बाहर आ गया ॥ ११३ ॥

ततस्तस्यैव शाखायां न्यग्रोधस्य विशां पते ।
आस्ते मनुजशार्दूल कृत्स्नमादाय वै जगत् ॥ ११४ ॥
हे मनुष्यश्रेष्ठ पृथ्वीनाथ ! उस वटकी शाखापर सम्पूर्ण जगत्को लेकर वह बालक विराजमान था ॥ ११४ ॥

तेनैव बालवेषेण श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।
आसीनं तं नरव्याघ्र पश्याम्यमिततेजसम् ॥ ११५ ॥
हे नरव्याघ्र ! मैंने बाहर आकर श्रीवत्समणिसे आभूषित उस तेजवाले बालकको देखा ॥ ११५ ॥

ततो मामब्रवीद्वीर स बालः प्रहसन्निव ।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान्पीतवासा महाद्युतिः ॥ ११६ ॥
तब उससे महातेजस्वी पीतवस्त्रधारी श्रीवत्सको धारण करनेवाले बालकने मुझसे कहा ॥ ११६ ॥

अपीदानीं शरीरेऽस्मिन्मामके मुनिसत्तम ।
उषितस्त्वं सुविश्रान्तो मार्कण्डेय ब्रवीहि मे ॥ ११७ ॥
हे मार्कण्डेय ! तुम मेरे शरीरमें घूमनेसे बहुत थक गये हो तुम मेरे अन्दर सुखसे तो रहे न ? ॥ ११७ ॥

मुहूर्तादथ मे दृष्टिः प्रादुर्भूता पुनर्नवा ।
यथा निर्मुक्तमात्मानमपश्यं लब्धचेतसम् ॥ ११८ ॥
हे राजन् ! तब मेरी एक मुहूर्तके पश्चात् नयी दृष्टि उत्पन्न हुई । तब मैंने अपनेको मोहसे छुटा हुआ और सचेत देखा ॥ ११८ ॥

तस्य ताम्रतलौ तात चरणौ सुप्रतिष्ठितौ ।
सुजातौ मृदुरक्ताभिरङ्गुलीभिरलंकृतौ ॥ ११९ ॥
हे तात ! उसके दोनों चरण स्थिर थे । उसके तलुवे तांबेके रंगके थे । उसकी उंगलियां लाल लाल और कोमल थीं ॥ ११९ ॥

प्रयतेन मया मूर्ध्ना गृहीत्वा ह्यभिवन्दितौ ।
दृष्ट्वापरिमितं तस्य प्रभावममितौजसः ॥ १२० ॥

और उस अतुल प्रतापी बालकके प्रभावको देखकर कोशिश करनेवाले मैंने सिरसे प्रणाम किया ॥ १२० ॥

विनयेनाञ्जलिं कृत्वा प्रयत्नेनोपगम्य च ।
दृष्टो मया स भूतात्मा देवः कमललोचनः ॥ १२१ ॥

विनयपूर्वक हाथ जोडकर उनके सामने खडा हुआ और प्रणाम करके मैंने उस कमललोचन को देखा ॥ १२१ ॥

तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा नमस्कृत्येदमब्रुवम् ।
ज्ञातुमिच्छामि देव त्वां मायां चेमां तवोत्तमाम् ॥ १२२ ॥

फिर हाथ जोडकर उसे नमस्कार करके प्रश्न किया, कि हे देव ! मैं आपको और आपकी उत्तम मायाको जानना चाहता हूं ॥ १२२ ॥

आस्येनानुप्रविष्टोऽहं शरीरं भगवंस्तव ।
दृष्टवानखिलाँल्लोकान्समस्ताञ्जठरे तव ॥ १२३ ॥

मैं आपके मुखमें होकर शरीरके भीतर चला गया था; वहां मैंने आपके पेटमें सम्पूर्ण जगत्को देखा था ॥ १२३ ॥

तव देव शरीरस्था देवदानवराक्षसाः ।
यक्षगन्धर्वनागाश्च जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ १२४ ॥

हे देव ! आपके शरीरमें देवता, दानव, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, नाग आदि सब चराचर जगत् विराजमान् हैं ॥ १२४ ॥

त्वत्प्रसादाच्च मे देव स्मृतिर्न परिहीयते ।
द्रुतमन्तः शरीरे ते सततं परिधावतः ॥ १२५ ॥

हे देव ! आपकी कृपासे मेरी स्मृति नष्ट नहीं होती है। मैं आपके शरीरसे निकलकर शीघ्रतासे बाहर आया हूं ॥ १२५ ॥

इच्छामि पुण्डरीकाक्ष ज्ञातुं त्वाहमनिन्दित ।
इह भूत्वा शिशुः साक्षात्किं भवानवतिष्ठते ।
पीत्वा जगदिदं विश्वमेतदाख्यातुमर्हसि ॥ १२६ ॥

हे अनिन्दित देव ! आपको जानना चाहता हूं कि आप कौन हैं ? हे कमलनयन ! आप बालक होकर और सब जगत्को पीकर इस जगह क्यों सोते हैं ? आप यह सब वृत्तान्त मुझसे कहिये ॥ १२६ ॥

किमर्थं च जगत्सर्वं शरीरस्थं तवानघ ।
कियन्तं च त्वया कालमिह स्थेयमरिन्दम ॥ १२७ ॥

हे निष्पाप शत्रुनाशक! किस कारणसे सम्पूर्ण जगत् आपके शरीरमें है; और कितने कालतक आप इस स्थानपर रहेंगे ॥ १२७ ॥

एतदिच्छामि देवेश श्रोतुं ब्राह्मणकाम्यया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष विस्तरेण यथातथम् ।
महद्ध्येतदचिन्त्यं च यदहं दृष्टवान्प्रभो ॥ १२८ ॥

मैं इन ब्राह्मणोंको जाननेके लिए पूछना चाहता हूं, अतः, हे कमलपत्रके समान आंखोंवाले! आप विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये। जो मैंने आपके शरीरमें देखा यह बहुत विचित्र है ॥१२८॥

इत्युक्तः स मया श्रीमान्देवदेवो महाद्युतिः ।
सान्त्वयन्मामिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥ १२९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥ ६५०९ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर! मेरे ऐसे वचन सुनकर वह प्रकाशमान् देवोंके देव ऐसे वचन मुझे समझाते हुए बोले ॥ १२९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ छियासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८६ ॥ ६५०९ ॥

: १८७ :

देव उवाच

कामं देवापि मां विप्र न विजानन्ति तत्त्वतः ।
त्वत्प्रीत्या तु प्रवक्ष्यामि यथेदं विसृजाम्यहम् ॥ १

देव बोले– हे ब्राह्मण! मुझे यथार्थ रूपसे देवता लोग भी नहीं जानते, किन्तु तुम्हारी प्रीतिसे मैं इस जगदुत्पत्तिके वृत्तान्तको सुनाता हूं ॥ १ ॥

पितृभक्तोऽसि विप्रर्षे मां चैव शरणं गतः ।
अतो दृष्टोऽस्मि ते साक्षाद्ब्रह्मचर्यं च ते महत् ॥ २ ॥

हे विप्रर्षे! तुम पितृभक्त हो और मेरी शरण आये हो; विशेषतः तुमनें ब्रह्मचर्य भी बहुत किया है इसीकारण तुम मुझे देख सके हो ॥ २ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ताः संज्ञानामकृतं मया ।
तेन नारायणोऽस्म्युक्तो मम तद्ध्ययनं सदा ॥ ३ ॥

हे विप्रर्षे! पुराने कर्म करनेवालोंने जलकी नार संज्ञा लिखी है। वह नार जिसका स्थान हो उसे नारायण कहते हैं ॥ ३ ॥

अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः ।
विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम ॥ ४ ॥

हे ब्राह्मण! मैं ही नारायण सनातन, अक्षय तथा सम्पूर्ण जगत्का उत्पन्न करनेवाला और नाश करनेवाला हूं ॥ ४ ॥

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाहं सुराधिपः ।
अहं विश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा ॥ ५ ॥

मैं ही विष्णु, मैं ब्रह्मा, मैं देवोंका स्वामी इन्द्र, मैं कुबेर और मैं ही प्रेतोंका स्वामी राजा यम हूं ॥ ५ ॥

अहं शिवश्च सोमश्च कश्यपश्च प्रजापतिः ।
अहं धाता विधाता च यज्ञश्चाहं द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ! मैं शिव, चन्द्रमा, कश्यप, और प्रजापति तथा धाता विधाता और यज्ञ हूं ॥ ६ ॥

अग्निरास्यं क्षितिः पादौ चन्द्रादित्यौ च लोचने ।
सदिशं च नभः कायो वायुर्मनसि मे स्थितः ॥ ७ ॥

मेरा मुख अग्नि, पैर पृथ्वी, सूर्य और चन्द्रमा नेत्र, दिशा सहित आकाश शरीर, वायु मन है ॥ ७ ॥

मया क्रतुशतैरिष्टं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ।
यजन्ते वेदविदुषो मां देवयजने स्थितम् ॥ ८ ॥

हे ब्राह्मणोत्तम! मैंने भारी दक्षिणावाले सैंकडों यज्ञ किये हैं। वेदके जाननेवाले जन मुझ यज्ञस्थितकी पूजा करते हैं ॥ ८ ॥

पृथिव्यां क्षत्रियेन्द्राश्च पार्थिवाः स्वर्गकाङ्क्षिणः ।
यजन्ते मां तथा वैश्याः स्वर्गलोकजिगीषवः ॥ ९ ॥

पृथ्वीमें क्षत्रिय राजा स्वर्गकी इच्छासे मेरे लिये यज्ञ करते हैं, ऐसे ही वैश्य भी स्वर्ग जीतनेकी इच्छासे मुझे पूजते हैं ॥ ९ ॥

चतुःसमुद्रपर्यन्तां मेरुमन्दरभूषणाम् ।
शेषो भूत्वाहमेवैतां धारयामि वसुंधराम् ॥ १० ॥
मैं चारों समुद्रोंतक मेरु और मंदराचल पर्वतसे भूपित भूमिको शेषरूपसे धारण करता हूं ॥१०॥

वाराहं रूपमास्थाय मयेयं जगती पुरा ।
मज्जमाना जले विप्र वीर्येणासीत्समुद्धृता ॥ ११ ॥
हे ब्राह्मण ! मैं ही पहले वाराह रूप धारण करके जलमें डूबती हुई पृथ्वीको अपने प्रभावसे निकाल लाया था ॥ ११ ॥

अग्निश्च वडवावक्त्रो भूत्वाहं द्विजसत्तम ।
पिबाम्यपः समाविद्धास्ताश्चैव विसृजाम्यहम् ॥ १२ ॥
हे द्विजसत्तम ! मैं ही वडवानल होकर सम्पूर्ण जलको पी जाता हूं और फिर उगल देता हूं ॥ १२ ॥

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रमूरू मे संश्रिता विशः ।
पादौ शूद्रा भजन्ते मे विक्रमेण क्रमेण च ॥ १३ ॥
अपने प्रभावके कारण क्रमसे ब्राह्मण मेरा मुख, क्षत्रिय भुजा, वैश्य जंघा और शूद्र चरण हैं ॥ १३ ॥

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः ।
मत्तः प्रादुर्भवन्त्येन्ते मामेव प्रविशन्ति च ॥ १४ ॥
ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद भिन्न भिन्न क्रमसे मुझसे ही उत्पन्न होते हैं और फिर मुझमें ही लीन हो जाते हैं ॥ १४ ॥

यतयः शान्तिपरमा यतात्मानो मुमुक्षवः ।
कामक्रोधद्वेषमुक्ता निःसङ्गा वीतकल्मषाः ॥ १५ ॥
सत्त्वस्था निरहंकारा नित्यमध्यात्मकोविदाः ।
मामेव सततं विप्राश्चिन्तयन्त उपासते ॥ १६ ॥
परमस्थानवाले अपनी आत्माको आहुति करनेवाले और काम, क्रोध, राग, द्वेपसे रहित, अहङ्कारशून्य, अध्यात्म विद्याको जाननेवाले मुमुक्षु यति ब्राह्मण मेरी ही उपासना करते हैं ॥ १५-१६ ॥

अहं संवर्तको ज्योतिरहं संवर्तको यमः ।
अहं संवर्तकः सूर्यो अहं संवर्तकोऽनिलः ॥ १७ ॥
मैं ही प्रलयकी अग्नि प्रलयका यम और प्रलयका सूर्य और प्रलयकालका वायु हूं ॥ १७ ॥

तारारूपाणि दृश्यन्ते यान्येतानि नभस्तले ।
मम रूपाण्यथैतानि विद्धि त्वं द्विजसत्तम ॥ १८ ॥

हे ब्राह्मणोत्तम ! आकाशमें यह जितने प्रकाशमान तारा दीखते हैं, उन सबको मेरा ही स्वरूप समझो ॥ १८ ॥

रत्नाकराः समुद्राश्च सर्व एव चतुर्दिशम् ।
वसनं शयनं चैव निलयं चैव विद्धि मे ॥ १९ ॥

रत्नके भण्डार समुद्र और चारों दिशाको मेरा ओढना और बिछावन समझो, ये सब मुझमें ही लीन हो जाते हैं ॥ १९ ॥

कामं क्रोधं च हर्षं च भयं मोहं तथैव च ।
ममैव विद्धि रूपाणि सर्वाण्येतानि सत्तम ॥ २० ॥

हे द्विजसत्तम ! काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, भय, यह सब मेरे ही रूप हैं ॥ २० ॥

प्राप्नुवन्ति नरा विप्र यत्कृत्वा कर्म शोभनम् ।
सत्यं दानं तपश्चोग्रमहिंसा चैव जन्तुषु ॥ २१ ॥
मद्विधानेन विहिता मम देहविहारिणः ।
मयाभिभूतविज्ञाना विचेष्टन्ते न कामतः ॥ २२ ॥

जिन उत्तम कर्मोंको करनेसे मनुष्योंको स्वर्ग मिलता है, वह सब तप, दान, सत्य और अहिंसा मेरी बनाई और मेरे ही शरीरमें रहनेवाली हैं। मेरी इच्छासे जगत्के सब प्राणी चेष्टा करते हैं, अपने मनसे नहीं ॥ २१-२२ ॥

सम्यग्वेदमधीयाना यजन्तो विविधैर्मखैः ।
शान्तात्मानो जितक्रोधाः प्राप्नुवन्ति द्विजातयः ॥ २३ ॥

भलीभांति वेदको पढनेवाले शान्त आत्मा, क्रोधको जीतनेवाले द्विजाति लोग जो अनेक प्रकारके यज्ञ करते हैं, उन्हींको मैं प्राप्त होता हूं ॥ २३ ॥

प्राप्तुं न शक्यो यो विद्वन्नरैर्दुष्कृतकर्मभिः ।
लोभाभिभूतैः कृपणैरनार्यैरकृतात्मभिः ॥ २४ ॥

हे विद्वन् ! बुरे कर्म करनेवाले, लोभी, कृपण, अपने आत्माके शत्रु मुझे नहीं पा सकते हैं ॥ २४ ॥

तं मां महाफलं विद्धि पदं सुकृतकर्मणः ।
दुष्प्रापं विप्रमूढानां मार्गं योगैर्निषेवितम् ॥ २५ ॥

योगमार्गसे प्राप्त होनेवाले महाफलको जितेन्द्रिय लोग ही प्राप्त होते हैं, मूढ नहीं होते ॥ २५ ॥

यदा यदा च धर्मस्य ग्लानिर्भवति सत्तम।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ २६ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! जब जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब तब मैं अवतार लेता हूं ॥ २६ ॥

दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः।
राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन्यदोत्पत्स्यन्ति दारुणाः ॥ २७ ॥
तदाहं संप्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम्।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥ २८ ॥

जब हिंसा करनेवाले देवोंके द्वारा अवध्य भयानक राक्षस इस लोकमें उत्पन्न होते हैं, तब मैं पुण्यात्मा सुकर्मियोंके घरमें मनुष्य शरीर धारण करके उत्पन्न होता हूं और सबको शांत करता हूं ॥ २७–२८ ॥

सृष्ट्वा देवमनुष्यांश्च गन्धर्वोरगराक्षसान्।
स्थावराणि च भूतानि संहराम्यात्ममायया ॥ २९ ॥

मनुष्य, सुर, असुर, गन्धर्व, सर्प और राक्षसों तथा स्थावर एवं अन्य प्राणियोंको बनाकर अपनी मायासे उन सबका नाश कर देता हूं ॥ २९ ॥

कर्मकाले पुनर्देहमनुचिन्त्य सृजाम्यहम्।
प्रविश्य मानुषं देहं मर्यादाबन्धकारणात् ॥ ३० ॥

फिर सृष्टिकालमें अचिन्त्य शरीर धारण करता हूं। इसमें केवल मनुष्योंके शरीर मर्यादाका बांधना ही कारण है ॥ ३० ॥

श्वेतः कृतयुगे वर्णः पीतस्त्रेतायुगे मम।
रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्णः कलियुगे तथा ॥ ३१ ॥

सतयुगमें मेरा स्वरूप श्वेत, त्रेतामें पीला, द्वापरमें लाल और कलियुगमें काला रहता है ॥ ३१ ॥

त्रयो भागा ह्यधर्मस्य तस्मिन्काले भवन्त्युत।
अन्तकाले च संप्राप्ते कालो भूत्वातिदारुणः
त्रैलोक्यं नाशयाम्येकः कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ॥ ३२ ॥

उस कलिकालमें अधर्मके तीन भाग रहते हैं। जब अन्तकाल प्राप्त होता है, तब मैं अकेला घोर कालका रूप धारणकर तीनों लोकोंके सम्पूर्ण चराचरका नाश कर देता हूं ॥ ३२ ॥

अहं त्रिवर्त्मा सर्वात्मा सर्वलोकसुखावहः।
अभिभूः सर्वगोऽनन्तो हृषीकेश उरुक्रमः ॥ ३३ ॥

तीन मार्गवाला, संसारमें व्यापक, सब लोकोंको सुख देनेवाला मैं प्रकट होता हूं। मैं ही सर्वव्यापी, अंत रहित, इन्द्रियोंका अधिपति और महापराक्रमी हूं ॥ ३३ ॥

कालचक्रं नयाम्येको ब्रह्मन्ब्रह्मरूपि वै ।
शमनं सर्वभूतानां सर्वलोककृतोद्यमम् ॥ ३४ ॥

हे ब्राह्मण! मैं ही इस कालचक्रको चला रहा हूं। मैं सब भूतोंको शान्त करनेवालेको उद्योगमें लगानेवाला हूं ॥ ३४ ॥

एवं प्रणिहितः सम्यङ्मयात्मा मुनिसत्तम ।
सर्वभूतेषु विप्रेन्द्र न च मां वेत्ति कश्चन ॥ ३५ ॥

हे मुनियोंमें उत्तम ! सब भूतोंमें मेरी आत्मा सम्यक् व्याप्त है, किन्तु मुझको कोई भी यथार्थ रूपसे नहीं जानता है ॥ ३५ ॥

यच्च किंचित्त्वया प्राप्तं मयि क्लेशात्मकं द्विज ।
सुखोदयाय तत्सर्वं श्रेयसे च तवानघ ॥ ३६ ॥

हे निष्पाप द्विज ! तुमने जो मेरे शरीरमें दुःख पाया, वह सब तुम्हारे लिए सुख और कल्याण देनेवाला होगा ॥ ३६ ॥

यच्च किंचित्त्वया लोके दृष्टं स्थावर जङ्गमम् ।
विहितः सर्वथैवासौ ममात्मा मुनिसत्तम ॥ ३७ ॥

हे मुनियोंमें श्रेष्ठ ! जो तुम संसारमें स्थावर, जङ्गम देखते हो, यह सब मेरी ही आत्मा है ॥ ३७ ॥

अर्धं मम शरीरस्य सर्वलोकपितामहः ।
अहं नारायणो नाम शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ३८ ॥

मेरे शरीरका आधा भाग सब लोकोंके पितामह ब्रह्मा हैं और शङ्ख, चक्र तथा पद्मधारी नारायण मैं ही हूं ॥ ३८ ॥

यावद्युगानां विप्रर्षे सहस्रपरिवर्तनम् ।
तावत्स्वपिमि विश्वात्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ३९ ॥

हे विप्रर्षे ! जबतक चारों युग हजार बार बीतते हैं, तबतक सब लोकोंका पितामह मैं सोता हूं ॥ ३९ ॥

एवं सर्वमहं कालमिहासे मुनिसत्तम ।
अशिशुः शिशुरूपेण यावद्ब्रह्मा न बुध्यते ॥ ४० ॥

हे मुनिसत्तम ! उसी प्रलयकालसे मैं यहां सो रहा हूं। यद्यपि मैं बालक नहीं हूं, तो भी बालकरूप मैं तबतक रहूंगा जबतक ब्रह्मा न जागे ॥ ४० ॥

मया च विप्र दत्तोऽयं वरस्ते ब्रह्मरूपिणा।
असकृत्परितुष्टेन विप्रर्षिगणपूजित ॥ ४१ ॥
हे ब्राह्मणोत्तम! हे विप्रर्षियोंसे पूजित! मैं ब्रह्मरूपी हूं, मैंने तुम्हें वरदान दिया है। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हुआ हूं ॥ ४१ ॥

सर्वमेकार्णवं दृष्ट्वा नष्टं स्थावरजङ्गमम्।
विक्लवोऽसि मया ज्ञातस्ततस्ते दर्शितं जगत् ॥ ४२ ॥
तुम जो स्थावर जङ्गमको जलमें डुबा हुआ देखकर घबराये थे, इसलिये मैंने शरीरके भीतर तुम्हें जगत् दिखलाया ॥ ४२ ॥

अभ्यन्तरं शरीरस्य प्रविष्टोऽसि यदा मम।
दृष्ट्वा लोकं समस्तं च विस्मितो नावबुध्यसे ॥ ४३ ॥
जब तुम मेरे शरीरके भीतर गये थे, तब सम्पूर्ण जगत्को देखकर घबडा गये थे और भ्रान्तसे हो गये थे ॥ ४३ ॥

ततोऽसि वक्त्राद्विप्रर्षे द्रुतं निःसारितो मया।
आख्यातस्ते मया चात्मा दुर्ज्ञेयोऽपि सुरासुरैः ॥ ४४ ॥
इसलिये, हे विप्र! मैंने शीघ्रतासे तुमको अपने मुखसे बाहर निकाल दिया। मैंने अपने उस स्वरूपका तुमसे वर्णन किया जिसे देवता असुर भी नहीं जान सकते हैं ॥ ४४ ॥

यावत्स भगवान्ब्रह्मा न बुध्यति महातपाः।
तावत्त्वमिह विप्रर्षे विश्रब्धश्चर वै सुखम् ॥ ४५ ॥
हे विप्रर्षे! जबतक महातपस्वी ब्रह्मा न जागें, तबतक सुखपूर्वक तुम यहीं विश्राम करो ॥४५॥

ततो विबुद्धे तस्मिंस्तु सर्वलोकपितामहे।
एकीभूतो हि स्रक्ष्यामि शरीराद्द्विजसत्तम ॥ ४६ ॥
जब सब लोकोंके पितामह ब्रह्मा जागेंगे तब फिर मैं अपने शरीरसे सृष्टिका आरम्भ करूंगा ॥ ४६ ॥

आकाशं पृथिवीं ज्योतिर्वायुं सलिलमेव च।
लोके यच्च भवेच्छेषमिह स्थावरजङ्गमम् ॥ ४७ ॥
आकाश, पृथ्वी, ज्योति, वायु और जल, स्थावर, जंगम जो कुछ लोकमें चाहिये सबको मैं बनाऊंगा ॥ ४७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वान्तर्हितस्तात स देवः परमाद्भुतः।
प्रजाश्चेमाः प्रपश्यामि विचित्रा बहुधाकृताः ॥ ४८ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे तात युधिष्ठिर! वह अद्भुत देव ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गये। मैंने वहांपर और भी अनेक प्रकारकी सृष्टि देखी ॥ ४८ ॥

एतद्दृष्टं मया राजंस्तस्मिन्प्राप्ते युगक्षये।
आश्चर्यं भरतश्रेष्ठ सर्वधर्मभृतां वर ॥ ४९ ॥

हे राजन्! हे सब धर्म कर्म करनेवालोंमें श्रेष्ठ! हे पुरुषोंमें सिंह! उस प्रलयमें मैंने बहुत आश्चर्य देखा ॥ ४९ ॥

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मनिभेक्षणः।
स एष पुरुषव्याघ्र संबन्धी ते जनार्दनः ॥ ५० ॥

जिस कमलनेत्र देवताको उस समय देखा था, हे पुरुषव्याघ्र! ये वही जनार्दन तुम्हारे सम्बन्धी हैं ॥ ५० ॥

अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम्।
दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं तथा ॥ ५१ ॥

इन्हींके वरदानसे मेरी स्मृति नष्ट नहीं होती। हे कुन्तीनन्दन! इन्हींकी कृपासे मरना मेरे आधीन है और मेरी आयु दीर्घ हुई है ॥ ५१ ॥

स एष कृष्णो वार्ष्णेयः पुराणपुरुषो विभुः।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः ॥ ५२ ॥

यह वही वृष्णिवंशी पुराणपुरुष व्यापक अचिन्त्यात्मा महाभुज क्रीडा करनेवाले कृष्ण हैं ॥५२॥

एष धाता विधाता च संहर्ता चैव सात्वतः।
श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापतिपतिः प्रभुः ॥ ५३ ॥

यही धाता, विधाता, जगत्का संहार करनेवाले श्रीवत्ससे चिन्हित गोविन्द, प्रजापति और प्रभु हैं ॥ ५३ ॥

दृष्ट्वेमं वृष्णिशार्दूलं स्मृतिर्मामियमागता।
आदिदेवमजं विष्णुं पुरुषं पीतवाससम् ॥ ५४ ॥

इनको देखकर मुझे स्मरण आ गया, कि यही आदिदेव व्यापक जयशाली पीत वस्त्रधारी विष्णु हैं ॥ ५४ ॥

सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः ॥ ८९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥ ६५६४ ॥

यही सब प्राणियोंके माता पिता और लक्ष्मीपति हैं। हे कुरुश्रेष्ठ ! तुम इन्हीं शरणागत वत्सलकी शरणमें जाओ ॥ ८९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ सत्तासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८७ ॥ ६५६४ ॥

: १८८ :

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्तु ते पार्था यमौ च पुरुषर्षभौ।
द्रौपद्या कृष्णया सार्धं नमश्चक्रुर्जनार्दनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! कुन्तीपुत्र पाण्डव और पुरुषश्रेष्ठ नकुल सहदेव द्रौपदी सहित मार्कण्डेयके ऐसे वचन सुनकर कृष्णको नमस्कार करने लगे ॥ १ ॥

स चैतान्पुरुषव्याघ्र साम्ना परमवल्गुना।
सान्त्वयामास मानार्हान्मन्यमानो यथाविधि ॥ २ ॥

हे पुरुषसिंह जनमेजय ! कृष्णने भी सम्मानके योग्योंका सम्मान करते हुए बहुत मीठी वाणीसे पाण्डवोंको सांत्वना दी ॥ २ ॥

युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो मार्कण्डेयं महामुनिम्।
पुनः पप्रच्छ साम्राज्ये भविष्यां जगतो गतिम् ॥ ३ ॥

हे राजन् ! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने महामुनि मार्कण्डेयसे जगत्की होनेवाली गति और अपने कर्त्तव्यके बारेमें फिर पूछा ॥ ३ ॥

आश्चर्यभूतं भवतः श्रुतं नो वदतां वर।
मुने भार्गव यद्वृत्तं युगादौ प्रभवाप्ययौ ॥ ४ ॥

हे भार्गव ! हे महामुने ! हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ ! आपका वृत्तान्त बहुत आश्चर्यकारक है ॥४॥

अस्मिन्कलियुगेऽप्यस्ति पुनः कौतूहलं मम।
समाकुलेषु धर्मेषु किं नु शेषं भविष्यति ॥ ५ ॥

इस कलियुगके बारेमें मुझे कुतूहल हो रहा है कि इस युगमें जब सब धर्म नष्ट हो जाएगा, तो क्या शेष रह जाएगा ? ॥ ५ ॥

किंवीर्या मानवास्तत्र किमाहारविहारिणः।
किमायुषः किंवसना भविष्यन्ति युगक्षये ॥ ६ ॥

युगक्षयके समय मनुष्य कैसे पराक्रमी कैसे आहार, विहारवाले, कितनी अवस्थावाले और कैसे वस्त्रवाले होंगे? ॥ ६ ॥

कां च काष्ठां समासाद्य पुनः संपत्स्यते कृतम्।
विस्तरेण मुने ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे ॥ ७ ॥

कौनसी अवधिको पाकर फिर सतयुग आवेगा? हे मुनि! विस्तारपूर्वक आप मुझसे कहिये। आप बहुत विचित्रकारक बातें कहते हैं ॥ ७ ॥

इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठः पुनरेवाभ्यभाषत।
रमयन्वृष्णिशार्दूलं पाण्डवांश्च महामुनिः ॥ ८ ॥

इस प्रकारसे मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय युधिष्ठिरके वचन सुनकरके वृष्णिवंशी कृष्ण और पाण्डवोंको आनन्दित करते हुए कहने लगे ॥ ८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

भविष्यं सर्वलोकस्य वृत्तान्तं भरतर्षभ।
कलुषं कालमासाद्य कथ्यमानं निबोध मे ॥ ९ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन्! संसारका भविष्यत् वृत्तान्त जैसा मैं जानता हूं, उसके अनुसार कलियुगका वृत्तान्त कहता हूं सुनो ॥ ९ ॥

कृते चतुष्पात्सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जितः।
वृषः प्रतिष्ठितो धर्मो मनुष्येष्वभवत्पुरा ॥ १० ॥

सतयुगके मनुष्योंमें कपट और उपाधिसे रहित धर्मरूपी वृष चारों पैरोंसे विद्यमान था ॥ १० ॥

अधर्मपादविद्धस्तु त्रिभिरंशैः प्रतिष्ठितः।
त्रेतायां द्वापरेऽर्धेन व्यामिश्रो धर्म उच्यते ॥ ११ ॥

हे भरतर्षभ! त्रेतायुगमें धर्मके तीन भाग थे और एक भाग अधर्मसे नष्ट हो गया था; द्वापरमें आधे धर्मको अधर्मने नष्ट कर दिया ॥ ११ ॥

त्रिभिरंशैरधर्मस्तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति।
चतुर्थांशेन धर्मस्तु मनुष्यानुपतिष्ठति ॥ १२ ॥

हे भरतसत्तम! कलियुगकी सन्धिमें धर्मके तीन अंश नष्ट हो गये और कलियुगमें चौथा अंश धर्मका मनुष्योंमें रहता है ॥ १२ ॥

×

आयुर्वीर्यमथो बुद्धिर्बलं तेजश्च पाण्डव।
मनुष्याणामनुयुगं ह्रसतीति निबोध मे ॥ १३ ॥

हे पाण्डव! सुनो। मनुष्योंकी आयु, पराक्रम, बुद्धि, बल और तेज प्रत्येक युगमें क्रमशः क्षीण होता जाता है ॥ १३ ॥

राजानो ब्राह्मणा वैश्याः शूद्राश्चैव युधिष्ठिर।
व्याजैर्धर्मं चरिष्यन्ति धर्मवैतंसिका नराः ॥ १४ ॥

हे युधिष्ठिर! कलियुगके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कपटसे धर्म करते हैं। सभी धर्मको बेचनेवाले होते हैं ॥ १४ ॥

सत्यं संक्षेप्स्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः।
सत्यहान्या ततस्तेषामायुरल्पं भविष्यति ॥ १५ ॥

स्वयंको पण्डित माननेवाले मनुष्य सत्यको क्षीण कर देते हैं और सत्यकी हानिसे मनुष्योंकी अवस्था भी क्षीण हो जाती है ॥ १५ ॥

आयुषः प्रक्षयाद्विद्यां न शक्ष्यन्त्युपशिक्षितुम्।
विद्याहीनानविज्ञानाल्लोभोऽप्यभिभविष्यति ॥ १६ ॥

आयुके क्षीण होनेसे विद्याकी प्राप्ति नहीं कर सकते हैं। कलियुगके विद्याहीन मनुष्य अज्ञानसे लोभी होते हैं ॥ १६ ॥

लोभक्रोधपरा मूढाः कामसक्ताश्च मानवाः।
वैरबद्धा भविष्यन्ति परस्परवधेप्सवः ॥ १७ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः संकीर्यन्तः परस्परम्।
शूद्रतुल्या भविष्यन्ति तपःसत्यविवर्जिताः ॥ १८ ॥

लोभ और क्रोधसे युक्त काममें आसक्त वैरसे सम्पन्न एक दूसरेको मारनेकी इच्छा करनेवाले तथा परस्पर संकर करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंके समान तप और सत्यसे रहित हो जायेंगे ॥ १७-१८ ॥

अन्त्या मध्या भविष्यन्ति मध्याश्चान्तावसायिनः।
ईदृशो भविता लोको युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ १९ ॥

नीच उत्तम और उत्तम नीच हो जायेंगे। हे राजन्! युगके अन्तमें सब लोग ऐसे हो जायेंगे ॥ १९ ॥

वस्त्राणां प्रवरा शाणी धान्यानां कोरदूषकाः।
भार्यामित्राश्च पुरुषा भविष्यन्ति युगक्षये ॥ २० ॥

वस्त्र सनके बनने लगेंगे और धान्योंमें कोदों ही श्रेष्ठ माना जाएगा, पुरुष केवल स्त्रीहीको प्यार करेंगे ॥ २० ॥

मत्स्यामिषेण जीवन्तो दुहन्तश्चाप्यजैडकम् ।
गोषु नष्टासु पुरुषा भविष्यन्ति युगक्षये ॥ २१ ॥

मछलीका व्यवहार करके जीयेंगे, बकरी तथा भेडोंको दुहेंगे; युगके क्षयमें गौवें नष्ट हो जायेंगी ॥ २१ ॥

अन्योन्यं परिमुष्णन्तो हिंसयन्तश्च मानवाः ।
अजपा नास्तिकाः स्तेना भविष्यन्ति युगक्षये ॥ २२ ॥

युगक्षयमें आपसमें एक दूसरेकी चोरी करेंगे । एक दूसरेकी हिंसा करेंगे, जप नहीं करेंगे, नास्तिक हो जायंगे, चोर हो जायेंगे ॥ २२ ॥

सरित्तीरेषु कुद्दालैर्वापयिष्यन्ति चौषधीः ।
ताश्चाप्यल्पफलास्तेषां भविष्यन्ति युगक्षये ॥ २३ ॥

युगक्षयमें नदियोंके किनारेपर कुदालोंसे धान्य आदि औषधियोंको बोवेंगे और वे भी थोडी फलवाली होंगी ॥ २३ ॥

श्राद्धे दैवे च पुरुषा ये च नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भोक्ष्यन्तीह परस्परम् ॥ २४ ॥

जो हव्य कव्यमें प्रतिग्रह रहित व्रतधारी ब्राह्मण हैं, वे भी लोभके वश होकर ऐसे ही कर्मसे उपजीविका अर्जित करेंगे ॥ २४ ॥

पिता पुत्रस्य भोक्ता च पितुः पुत्रस्तथैव च ।
अतिक्रान्तानि भोज्यानि भविष्यन्ति युगक्षये ॥ २५ ॥

युगक्षयमें पिता पुत्रके अन्नको भोजन करनेवाले और पुत्र पिताके अन्नके भोजन करनेवाले होंगे । भोजनका व्यवहार बहुत उलट पुलट हो जायेगा ॥ २५ ॥

न व्रतानि चरिष्यन्ति ब्राह्मणा वेदनिन्दकाः ।
न यक्ष्यन्ति न होष्यन्ति हेतुवादविलोभिताः ॥ २६ ॥

ब्राह्मण व्रत नहीं करेंगे, वेदकी निन्दा करेंगे । कुतर्कोंसे मोहित होकर यज्ञ होम कुछ नहीं करेंगे, तथा निन्द्य विषयोंमें ही रुचि करेंगे ॥ २६ ॥

निम्ने कृषिं करिष्यन्ति योक्ष्यन्ति धुरि धेनुकाः ।
एकहायनवत्सांश्च वाहयिष्यन्ति मानवाः ॥ २७ ॥

किसान नीची भूमिमें खेती करेंगे, हलमें गौको जोडेंगे; एक वर्षके बछडेको हलमें जोतेंगे ॥ २७ ॥

पुत्रः पितृवधं कृत्वा पिता पुत्रवधं तथा।
निरुद्वेगो बृहद्वादी न निन्दामुपलप्स्यते ॥ २८ ॥

हे राजन् ! पिता पुत्रको और पुत्र पिताको मारकर मनमें खिन्न नहीं होंगे, अपितु बडी बातें करने लगेंगे और लोगोंमें निन्दित नहीं होंगे ॥ २८ ॥

म्लेच्छभूतं जगत्सर्वं निष्क्रियं यज्ञवर्जितम्।
भविष्यति निरानन्दमनुत्सवमथो तथा ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण पृथ्वी म्लेच्छोंसे भर जायेगी। सब क्रिया और यज्ञसे रहित हो जायेंगे। सब लोग आनन्दसे और उत्सवसे रहित हो जायेंगे ॥ २९ ॥

प्रायशः कृपणानां हि तथा बन्धुमतामपि।
विधवानां च वित्तानि हरिष्यन्तीह मानवाः ॥ ३० ॥

प्रायः मनुष्य कृपण होंगे, भाई और विधवाओंसे भी धन हरेंगे ॥ ३० ॥

अल्पवीर्यबलाः स्तब्धा लोभमोहपरायणाः।
तत्कथादानसंतुष्टा दुष्टानामपि मानवाः।
परिग्रहं करिष्यन्ति पापाचारपरिग्रहाः ॥ ३१ ॥

थोडे वीर्य और बलवाले, कर्कश, लोभ मोहसे भरे, दुष्टोंकी प्रशंसा करके भी प्रसन्न होनेवाले मनुष्य होंगे; वे पापके उपायोंसे भी धनका सम्पादन करनेवाले होंगे ॥ ३१ ॥

संघातयन्तः कौन्तेय राजानः पापबुद्धयः।
परस्परवधोद्युक्ता मूर्खाः पण्डितमानिनः।
भविष्यन्ति युगस्यान्ते क्षत्रिया लोककण्टकाः ॥ ३२ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! युगके क्षयमें क्षत्रिय राजा पाप बुद्धिवाले, झगडा करनेवाले, एक दूसरेको मारनेके लिए सदा तैय्यार, मूर्खपर स्वयंको अत्यधिक विद्वान् माननेवाले तथा प्रजाओंके लिए कांटोंके समान दुःखदायी होंगे ॥ ३२ ॥

अरक्षितारो लुब्धाश्च मानाहंकारदर्पिताः।
केवलं दण्डरुचयो भविष्यन्ति युगक्षये ॥ ३३ ॥

प्रजाकी रक्षासे हीन लोभी, अभिमानी, अहंकारी, पाखण्डी, केवल दण्ड देनेवाले क्षत्रिय होते हैं ॥ ३३ ॥

आक्रम्याक्रम्य साधूनां दारांश्चैव धनानि च।
भोक्ष्यन्ते निरनुक्रोशा रुदतामपि भारत ॥ ३४ ॥

हे भारत ! सज्जन लोगोंको दबाकर दुष्ट उनके धन और स्त्रीको हर लिया करेंगे ॥ ३४ ॥

न कन्यां याचते कश्चिन्नापि कन्या प्रदीयते।
स्वयंग्राहा भविष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ३५ ॥

न कोई कन्यादान मांगेगा और न कोई कन्यादान देगा। युगके अन्तमें आप ही सब परस्पर विवाह करेंगे ॥ ३५ ॥

राजानश्चाप्यसंतुष्टाः परार्थान्मूढचेतसः।
सर्वोपायैर्हरिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ३६ ॥

राजा भी असन्तोषी सब उपायोंसे पराये धनको छीननेवाले, स्वार्थी, मूढ बुद्धिवाले और युगके अन्तमें होंगे ॥ ३६ ॥

म्लेच्छीभूतं जगत्सर्वं भविष्यति च भारत।
हस्तो हस्तं परिमुषेद्युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ३७ ॥

हे राजन्! युगके अन्तमें सब जगत् म्लेच्छ हो जायेगा। एक हाथ दूसरे हाथकी वस्तुको चुरावेगा ॥ ३७ ॥

सत्यं संक्षिप्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः।
स्थविरा बालमतयो बालाः स्थविरबुद्धयः ॥ ३८ ॥

सब लोग सत्यको छिपावेंगे, सब लोग अपनेको पण्डित मानेंगे, बालकोंकी बुद्धि बूढोंकीसी और बूढेकी बालककीसी हो जायेगी ॥ ३८ ॥

भीरवः शूरमानिनः शूरा भीरुविषादिनः।
न विश्वसन्ति चान्योन्यं युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ३९ ॥

जब युगका अन्त आवेगा, तब डरपोक अपनेको वीर कहेंगे और वीर डरपोक होकर बैठेंगे। एक दूसरेका विश्वास नहीं करेगा ॥ ३९ ॥

एकाहार्यं जगत्सर्वं लोभमोहव्यवस्थितम्।
अधर्मो वर्धति महान्न च धर्मः प्रवर्तते ॥ ४० ॥

सबका आहार एक ही होगा। सम्पूर्ण जगत् लोभ और मोहसे युक्त होगा। अधर्मकी वृद्धि और धर्मका नाश हो जायेगा ॥ ४० ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या न शिष्यन्ति जनाधिप।
एकवर्णस्तदा लोको भविष्यति युगक्षये ॥ ४१ ॥

हे राजन्! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कोई भी नहीं रहेगा, सब शूद्र हो जायेंगे। युगके अन्त समयमें केवल एक ही वर्ण रह जायेगा ॥ ४१ ॥

न क्षंस्यति पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा।
भार्या च पतिशुश्रूषां न करिष्यति काचन ॥ ४२ ॥

पुत्र पिताका और पिता पुत्रका नाश करेंगे। कोई भी स्त्री पतिकी सेवा नहीं करेगी ॥ ४२ ॥

ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च।
तान्देशान्संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ४३ ॥

युगक्षयके आ जानेपर जिस देशमें गेहूं आदि अन्न उत्पन्न होगा, लोग उस देशको चले जायेंगे ॥ ४३ ॥

स्वैराहाराश्च पुरुषा योषितश्च विशां पते।
अन्योन्यं न सहिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ४४ ॥

हे राजन्! युगके अन्तमें स्त्री और पुरुष सब इच्छाचारी हो जायेंगे, कोई भी एक दूसरेकी बातको नहीं सुनेगा ॥ ४४ ॥

म्लेच्छभूतं जगत्सर्वं भविष्यति युधिष्ठिर।
न श्राद्धैर्हि पितॄंश्चापि तर्पयिष्यन्ति मानवाः ॥ ४५ ॥

हे युधिष्ठिर! सब जगत् म्लेच्छ हो जायेगा। कोई मनुष्य श्रद्धासे पितरोंको तृप्त नहीं करेगा ॥ ४५ ॥

न कश्चित्कस्यचिच्छ्रोता न कश्चित्कस्यचिद्गुरुः।
तमोग्रस्तस्तदा लोके भविष्यति नराधिप ॥ ४६ ॥

हे नरनाथ! कोई न किसीका गुरु होगा न किसीका चेला होगा। उस समय सारा जगत् अन्धकारमय हो जायेगा ॥ ४६ ॥

परमायुश्च भविता तदा वर्षाणि षोडश।
ततः प्राणान्विमोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ४७ ॥

युगके अन्तमें मनुष्यकी अधिकसे अधिक आयु सोलह वर्षकी हो जायेगी। तब युगके अन्तमें सब प्राणी नष्ट हो जायेंगे ॥ ४७ ॥

पञ्चमे वाथ षष्ठे वा वर्षे कन्या प्रसूयते।
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च प्रजास्यन्ति नरास्तदा ॥ ४८ ॥

पांचवें या छठें वर्षमें कन्या पुत्र उत्पन्न करने लगेगी। सातवें वा आठवें वर्षके मनुष्य पुत्र उपजायेंगे ॥ ४८ ॥

पत्यौ स्त्री तु तदा राजन्पुरुषो वा स्त्रियं प्रति।
युगान्ते राजशार्दूल न तोषमुपयास्यति ॥ ४९ ॥

हे राजश्रेष्ठ राजन्! युगके अन्तमें पति स्त्रीसे और स्त्री पतिसे सन्तोष प्राप्त नहीं कर सकेंगे ॥ ४९ ॥

अल्पद्रव्या वृथालिङ्गा हिंसा च प्रभविष्यति ।
न कश्चित्कस्यचिद्दाता भविष्यति युगक्षये ॥ ५० ॥

हे राजन् ! युगके अन्तमें थोडे धनवाले मनुष्य होंगे, वृथा इन्द्रियवाले, हिंसा करनेवाले होंगे और कोई किसीका दानी नहीं होगा ॥ ५० ॥

अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।
केशशूलाः स्त्रियश्चापि भविष्यन्ति युगक्षये ॥ ५१ ॥

युगक्षय आनेपर देश अन्नोंके दूकानोंसे भर जायेंगे । चौराहे वेदविक्रयी ब्राह्मणोंसे भर जायेंगे और स्त्रियां भगविक्रयवाली हो जायेंगी ॥ ५१ ॥

म्लेच्छाः क्रूराः सर्वभक्षा दारुणाः सर्वकर्मसु ।
भाविनः पश्चिमे काले मनुष्या नात्र संशयः ॥ ५२ ॥

अन्त समयमें सब लोग म्लेच्छ और क्रूर हो जायेंगे, सर्वभक्षी हो जायेंगे, सब कठोर कर्म करनेवाले हो जायेंगे । हे राजन् ! इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ५२ ॥

क्रयविक्रयकाले च सर्वः सर्वस्य वञ्चनम् ।
युगान्ते भरतश्रेष्ठ वृत्तिलोभात्करिष्यति ॥ ५३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! युगके अन्तमें द्रव्यके लोभसे देने और लेनेके समय सब सबको ठगेंगे ॥ ५३ ॥

ज्ञानानि चाप्यविज्ञाय करिष्यन्ति क्रियास्तथा ।
आत्मच्छन्देन वर्तन्ते युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! युगका अन्त आनेपर ज्ञानको विना जाने लोग अपनी इच्छानुसार क्रिया करेंगे अपनी रुचिके अनुसार वरतेंगे ॥ ५४ ॥

स्वभावात्क्रूरकर्माणश्चान्योन्यमभिशङ्किनः ।
भवितारो जनाः सर्वे संप्राप्ते युगसंक्षये ॥ ५५ ॥

युगक्षयके प्राप्त होनेपर सभी जन स्वभावसे ही क्रूर कर्म करनेवाले तथा एक दूसरेपर शङ्का करनेवाले होंगे ॥ ५५ ॥

आरामांश्चैव वृक्षांश्च नाशयिष्यन्ति निर्व्यथाः ।
भविता संक्षयो लोके जीवितस्य च देहिनाम् ॥ ५६ ॥

हे राजन् ! कलियुगके मनुष्य बाग और वृक्षोंको विना किसी दुःखके ही नष्ट करेंगे; हे राजन् ! सबको अपने जीनेकी शङ्का रहेगी ॥ ५६ ॥

तथा लोभाभिभूताश्च चरिष्यन्ति महीमिमाम्।
ब्राह्मणाश्च भविष्यन्ति ब्रह्मस्वानि च भुञ्जते ॥ ५७ ॥

मनुष्य लोभसे अभिभूत होकर इस पृथ्वीपर विचरेंगे। ब्राह्मण भी ऐसे होंगे कि जो अपने ब्राह्मणत्वके कारण भोगोंको भोगेंगे ॥ ५७ ॥

हाहाकृता द्विजाश्चैव भयार्ता वृषलार्दिताः।
त्रातारमलभन्तो वै भ्रमिष्यन्ति महीमिमाम् ॥ ५८ ॥

ब्राह्मण शूद्रोंके डरसे हाहाकार मचावेंगे; कोई जगत्में उनकी रक्षा करनेवाला न होगा। वे इधर उधर मारे मारे फिरेंगे ॥ ५८ ॥

जीवितान्तकरा रौद्राः क्रूराः प्राणिविहिंसकाः।
यदा भविष्यन्ति नरास्तदा संक्षेप्स्यते युगम् ॥ ५९ ॥

हे राजन्! जब जीवोंके नाश करनेवाले भयानक प्राणियोंके हिंसक मनुष्य उत्पन्न होंगे तब युगका अन्त होगा ॥ ५९ ॥

आश्रयिष्यन्ति च नदीः पर्वतान्विषमाणि च।
प्रधावमाना वित्रस्ता द्विजाः कुरुकुलोद्वह ॥ ६० ॥

हे कुरुकुलनाथ! भयसे घूमनेवाले द्विज नदी और दुर्गम पहाडोंमें भयके मारे छिपेंगे ॥६०॥

दस्युप्रपीडिता राजन्काका इव द्विजोत्तमाः।
कुराजभिश्च सततं करभारप्रपीडिताः ॥ ६१ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ! दुष्टोंसे पीडित होकर द्विज कौवेके समान सदा शंकित तथा हीनवृत्तिको आश्रय करके रहेंगे। तथा दुष्ट राजाओंके करभारसे पीडित हो जायेंगे ॥ ६१ ॥

धैर्यं त्यक्त्वा महीपाल दारुणे युगसंक्षये।
विकर्माणि करिष्यन्ति शूद्राणां परिचारकाः ॥ ६२ ॥

हे महीपाल! युगके अन्तमें ब्राह्मण शूद्रोंके नौकर बनकर और धैर्यको त्यागकर अनेक कुकर्म करेंगे ॥ ६२ ॥

शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यन्ति ब्राह्मणाः पर्युपासकाः।
श्रोतारश्च भविष्यन्ति प्रामाण्येन व्यवस्थिताः ॥ ६३ ॥

शूद्र धर्मका उपदेश करेंगे और ब्राह्मण उनके श्रोता तथा उपासक होंगे तथा शूद्रोंके वचनोंको प्रमाण मानकर उसका आचरण करेंगे ॥ ६३ ॥

विपरीतश्च लोकोऽयं भविष्यत्यधरोत्तरः ।
एडूकान्पूजयिष्यन्ति वर्जयिष्यन्ति देवताः ।
शूद्राः परिचरिष्यन्ति न द्विजान्युगसंक्षये ॥ ६४ ॥

यह सब लोक विपरीत हो जायेंगे, हड्डियोंकी बनी हुई कुटियोंकी तो लोग पूजा करेंगे और देवोंको त्याग देंगे तथा युगक्षयमें शूद्र ब्राह्मणोंकी सेवा नहीं करेंगे ॥ ६४ ॥

आश्रमेषु महर्षीणां ब्राह्मणावसथेषु च ।
देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च ॥ ६५ ॥
एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता ।
भविष्यति युगे क्षीणे तद्युगान्तस्य लक्षणम् ॥ ६६ ॥

ऋषियोंके आश्रमोंमें, ब्राह्मण और देवोंके स्थानमें, अटारियोंमें, नागोंके स्थानोंमें हड्डियां भर जायेंगी, भूमि देवगृहसे भूषित नहीं रहेगी । हे राजन् ! युगके अन्तमें यह लक्षण होंगे ॥ ६५-६६ ॥

यदा रौद्रा धर्महीना मांसादाः पानपास्तथा ।
भविष्यन्ति नरा नित्यं तदा संक्षेप्स्यते युगम् ॥ ६७ ॥

हे राजन् ! जब मनुष्य रौद्र, धर्महीन, मांस खानेवाले और शराब पीनेवाले हो जाएंगे, तब युग समाप्त हो जाएगा ॥ ६७ ॥

पुष्पे पुष्पं यदा राजन्फले फलमुपाश्रितम् ।
प्रजास्यति महाराज तदा संक्षेप्स्यते युगम् ॥ ६८ ॥

फूलमें फूल और फलमें फल होने लगेंगे; तब, हे महाराज ! युग समाप्त हो जाएगा ॥६८॥

अकालवर्षी पर्जन्यो भविष्यति गते युगे ।
अक्रमेण मनुष्याणां भविष्यन्ति तदा क्रिया ।
विरोधमथ यास्यन्ति वृषला ब्राह्मणैः सह ॥ ६९ ॥

युगक्षयमें अकालमें मेघ बरसेंगे । मनुष्योंकी क्रियामें क्रम न रहेगा, शूद्र ब्राह्मणोंसे वैर करेंगे ॥६९॥

मही म्लेच्छसमाकीर्णा भविष्यति ततोऽचिरात् ।
करभारभयाद्विप्रा भजिष्यन्ति दिशो दश ॥ ७० ॥

पृथ्वी म्लेच्छोंसे भर जायेगी, ब्राह्मण लोग करके भारसे पीडित होकर इधर उधर दसों दिशाओंमें भाग जायेंगे ॥ ७० ॥

निर्विशेषा जनपदा नरावृष्टिभिरर्दिताः ।
आश्रमानभिपत्स्यन्ति फलमूलोपजीविनः ॥ ७१ ॥

मनुष्य अवेतन और मजदूरीसे व्याकुल रहेंगे । आश्रमोंमें जाकर सब लोग फल मूल खाकर जीयेंगे ॥ ७१ ॥

एवं पर्याकुले लोके मर्यादा न भविष्यति।
न स्थास्यन्त्युपदेशे च शिष्या विप्रियकारिणः ॥ ७२ ॥

हे राजन्! जब मनुष्य इस रीतिसे होंगे, तब सब मर्यादारहित हो जायेंगे, तब युगका अन्त समझना। शिष्य गुरुका उपदेश नहीं सुनेंगे, गुरुका अप्रिय कार्य करेंगे ॥ ७२ ॥

आचार्योपनिधिश्चैव वत्स्यते तदनन्तरम्।
अर्थयुक्त्या प्रवत्स्यन्ति मित्रसंबन्धिबान्धवाः।
अभावः सर्वभूतानां युगान्ते च भविष्यति ॥ ७३ ॥

दरिद्र आचार्योंकी लोग निन्दा करेंगे। मित्र, सबंधी और बान्धव द्रव्यवानोंसे ही प्रेम करेंगे, युगके अन्तमें सब प्राणियोंका अभाव हो जायेगा ॥ ७३ ॥

दिशः प्रज्वलिताः सर्वा नक्षत्राणि चलानि च।
ज्योतींषि प्रतिकूलानि वाताः पर्याकुलास्तथा।
उल्कापाताश्च बहवो महाभयनिदर्शकाः ॥ ७४ ॥

दिशायें जलने लगेंगी, तारे प्रकाशरहित हो जायेंगे, प्रकाशित ज्योति आदि उलटी हो जायेंगी, वायु भयानक और उलटा चलने लगेगा, अनेक उल्कापात भयको बढानेवाले हुआ करेंगे ॥७४॥

षड्भिरन्यैश्च सहितो भास्करः प्रतपिष्यति।
तुमुलाश्चापि निर्ह्रादा दिग्दाहाश्चापि सर्वशः।
कबन्धान्तर्हितो भानुरुदयास्तमये तदा ॥ ७५ ॥

छः और सूर्योंके सहित यह सूर्य प्रकाशित होगा, भयानक शब्द होंगे, दिशायें जलने लगेंगी, उस कालमें उदय और अस्तके समय राहुमें सूर्य छिपेगा ॥ ७५ ॥

अकालवर्षी च तदा भविष्यति सहस्रदृक्।
सस्यानि च न रोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ७६ ॥

युगान्तकालके उपस्थित होनेपर भगवान् इन्द्र अकाल वर्षा करेंगे, खेतसे अन्न उत्पन्न नहीं होगा ॥ ७६ ॥

अभीक्ष्णं क्रूरवादिन्यः परुषा रुदितप्रियाः।
भर्तॄणां वचने चैव न स्थास्यन्ति तदा स्त्रियः ॥ ७७ ॥

स्त्रियां अपने पतियोंको कटु बातें कहेंगी, गाली देंगी, पतियोंके वचनोंको न मानेंगी, रोना ही उनको प्रिय होगा ॥ ७७ ॥

पुत्राश्च मातापितरौ हनिष्यन्ति युगक्षये।
सूदयिष्यन्ति च पतीन्स्त्रियः पुत्रानपाश्रिताः ॥ ७८ ॥

युगान्तकालमें पुत्र माता पिताओंको मारेंगे, स्त्रियां पतियोंको मार डालेंगी ॥ ७८ ॥

अपर्वणि महाराज सूर्यं राहुरुपैष्यति ।
युगान्ते हुतभुक्चापि सर्वतः प्रज्वलिष्यति ॥ ७९ ॥

हे महाराज ! विना योगके ही राहु सूर्यको ग्रहण करेगा । युगके अन्तमें अग्नि भी सर्वत्र जलने लगेगी ॥ ७९ ॥

पानीयं भोजनं चैव याचमानास्तदाध्वगाः ।
न लप्स्यन्ते निवासं च निरस्ताः पथि शेरते ॥ ८० ॥

मार्गमें चलनेवालोंको मार्गमें याचना करनेपर भी अन्न और पानी नहीं मिलेगा, न ठहरनेको स्थान मिलेगा, वह रात्रिको मार्गमें ही विश्राम करेंगे ॥ ८० ॥

निर्घातवायसा नागाः शकुनाः समृगद्विजाः ।
रूक्षा वाचो विमोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ८१ ॥

युगान्तके उपस्थित होनेपर कौवे, नाग, पक्षी, मृग भयानक और रूखे शब्द करेंगे ॥८१॥

मित्रसंबन्धिनश्चापि संत्यक्ष्यन्ति नरास्तदा ।
जनं परिजनं चापि युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ८२ ॥

युगान्तकालके आनेपर मनुष्य मित्र, सम्बन्धी, जन और परिजनोंको त्याग देंगे ॥ ८२ ॥

अथ देशान्दिशश्चापि पत्तनानि पुराणि च ।
क्रमशः संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥ ८३ ॥

युगान्तकालके आनेपर लोग देशों, दिशाओं, शहरों, नगरोंका क्रमसे आश्रय लेने लगेंगे ॥८३॥

हा तात हा सुतेत्येवं तदा वाचः सुदारुणाः ।
विक्रोशमानश्चान्योन्यं जनो गां पर्यटिष्यति ॥ ८४ ॥

हा पुत्र ! हा पिता ! ऐसे एक दूसरेके लिये रोते हुए मनुष्य पृथ्वीपर घूमेंगे ॥ ८४ ॥

ततस्तुमुलसंघाते वर्तमाने युगक्षये ।
द्विजातिपूर्वको लोकः क्रमेण प्रभविष्यति ॥ ८५ ॥

युगनाशकी ऐसी भयानक अवस्थामें क्रमसे ब्राह्मणादि लोगोंका उत्कर्ष होने लगेगा ॥ ८५ ॥

ततः कालान्तरेऽन्यस्मिन्पुनर्लोकविवृद्धये ।
भविष्यति पुनर्दैवमनुकूलं यदृच्छया ॥ ८६ ॥

कुछ कालके पश्चात् इस लोककी वृद्धिके लिए दैव अपनी इच्छासे फिर अनुकूल हो जायेंगे ॥८६॥

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती ।
एकराशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम् ॥ ८७ ॥

जब सूर्य, चन्द्रमा और बृहस्पति पुष्य नक्षत्रमें आवेंगे, तब फिर सतयुग होगा ॥ ८७ ॥

कालवर्षी च पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानि च।
प्रदक्षिणा ग्रहाश्चापि भविष्यन्त्यनुलोमगाः।
क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं भविष्यति निरामयम् ॥ ८८ ॥

उस आरम्भ समयमें मेघ समयपर बरसेंगे, नक्षत्र प्रकाशित होंगे, सब ग्रह आकाशमें अपनी शुद्ध गतिसे चलेंगे; रोग जाता रहेगा, सुकाल होगा ॥ ८८ ॥

कल्किर्विष्णुयशा नाम द्विजः कालप्रचोदितः।
उत्पत्स्यते महावीर्यो महाबुद्धिपराक्रमः ॥ ८९ ॥

हे राजन्! उस समयमें कल्कि विष्णुयशा नामक ब्राह्मण उत्पन्न होगा, वह महाबली, पराक्रमी, महाबुद्धिमान् होगा ॥ ८९ ॥

संभूतः सम्भलग्रामे ब्राह्मणावसथे शुभे।
मनसा तस्य सर्वाणि वाहनान्यायुधानि च।
उपस्थास्यन्ति योधाश्च शस्त्राणि कवचानि च ॥ ९० ॥

सम्भल गांवके एक ब्राह्मणके पवित्र घरमें उत्पन्न होगा, उसे शस्त्र और वाहन आपसे आप प्राप्त होगा, उसके पास बडे बडे योधा अस्त्र शस्त्र लिये आप ही आ जायेंगे ॥ ९० ॥

स धर्मविजयी राजा चक्रवर्ती भविष्यति।
स चेमं संकुलं लोकं प्रसादमुपनेष्यति ॥ ९१ ॥

वह धर्मसे जगत्को जीतकर एक चक्रवर्ती राजा होगा। वह इस व्याकुल हुए जगत्को प्रसन्न करेगा ॥ ९१ ॥

उत्थितो ब्राह्मणो दीप्तः क्षयान्तकृदुदारधीः।
स संक्षेपो हि सर्वस्य युगस्य परिवर्तकः ॥ ९२ ॥

वह तेजस्वी उदारबुद्धि ब्राह्मण जगत्की रक्षा करेगा, वह सब युगका परिवर्तन करेगा ॥ ९२ ॥

स सर्वत्र गतान्क्षुद्रान्ब्राह्मणैः परिवारितः।
उत्सादयिष्यति तदा सर्वान्म्लेच्छगणान्द्विजः ॥ ९३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥ ६६५७ ॥

ब्राह्मणोंसे वेष्टित वह कलियुगका अन्त करेगा और सब दुष्ट म्लेच्छोंका नाश करेगा ॥ ९३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ अट्ठासीवां अध्याय समाप्त ॥ १८८ ॥ ६६५७ ॥

: १८९ :

मार्कण्डेय उवाच

ततश्चोरक्षयं कृत्वा द्विजेभ्यः पृथिवीमिमाम्।
वाजिमेधे महायज्ञे विधिवत्कल्पयिष्यति ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले— हे राजन्! इस तरहसे दस्युओंका नाश करके अश्वमेध यज्ञ करके वह सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान कर देगा ॥ १ ॥

स्थापयित्वा स मर्यादाः स्वयंभुविहिताः शुभाः।
वनं पुण्ययशःकर्मा जरावान्संश्रयिष्यति ॥ २ ॥

हित और पवित्र मर्यादाको स्थापित करके पवित्र यशवाला वह बूढा होकर स्वयं वनको चला जायेगा ॥ २ ॥

तच्छीलमनुवर्त्स्यन्ते मनुष्या लोकवासिनः।
विप्रैश्चोरक्षये चैव कृते क्षेमं भविष्यति ॥ ३ ॥

संसारके मनुष्य उसीके उपदेशके अनुसार सुकर्म करेंगे। ब्राह्मणोंसे चोरोंका नाश होनेसे जगत्में फिर कल्याण होगा ॥ ३ ॥

कृष्णाजिनानि शक्तीश्च त्रिशूलान्यायुधानि च।
स्थापयन्विप्रशार्दूलो देशेषु विजितेषु च ॥ ४ ॥
संस्तूयमानो विप्रेन्द्रैर्मानयानो द्विजोत्तमान्।
कल्किश्चरिष्यति महीं सदा दस्युवधे रतः ॥ ५ ॥

काला मृगचर्म ब्रह्मचारी ओढेंगे, त्रिशूल आदि शस्त्र क्षत्रिय लोग धारण करेंगे। वह ब्राह्मण-श्रेष्ठ कल्कि अपने जीते हुए देशमें धर्मका स्थापन करके ब्राह्मणोंसे प्रशंसा पाकर ब्राह्मणोंका सम्मान करके पृथ्वीपरसे शत्रुओंका नाश करके विचरेगा ॥ ४-५ ॥

हा तात हा सुतेत्येवं तास्ता वाचः सुदारुणाः।
विक्रोशमानान्सुभृशं दस्यून्नेष्यति संक्षयम् ॥ ६ ॥

डाकू लोग हाय पिता, हाय पुत्र ऐसा भयानक शब्द करके कल्किके हाथसे मारे जायेंगे ॥ ६ ॥

ततोऽधर्मविनाशो वै धर्मवृद्धिश्च भारत।
भविष्यति कृते प्राप्ते क्रियावांश्च जनस्तथा ॥ ७ ॥

तब, हे भारत! अधर्मका नाश और धर्मकी वृद्धि होगी। उस सतयुगमें सब मनुष्य क्रिया-वान् होंगे ॥ ७ ॥

आरामाश्चैव चैत्याश्च तटाकान्यवटास्तथा ।
यज्ञक्रियाश्च विविधा भविष्यन्ति कृते युगे ॥ ८ ॥

बाग, तालाब, पोखर, देवोंके स्थान, यज्ञ और क्रिया आनन्दपूर्वक सतयुगमें सब लोग करेंगे ॥८॥

ब्राह्मणाः साधवश्चैव मुनयश्च तपस्विनः ।
आश्रमाः सहपाषण्डाः स्थिताः सत्ये जनाः प्रजाः ॥ ९ ॥

ब्राह्मण, साधु मुनि, तपस्वी, और पूर्वयुगमें जो लोग पाखण्डी होते थे, वे सब प्रजायें इस युगमें सत्य बोलनेवाली होंगी ॥ ९ ॥

जास्यन्ति सर्वबीजानि उप्यमानानि चैव ह ।
सर्वेष्वृतुषु राजेन्द्र सर्वं सस्यं भविष्यति ॥ १० ॥

हे राजेन्द्र ! पृथ्वीमें बोये हुए बीज अच्छे फल देंगे। सब ऋतुओंमें खेती उत्तम होगी ॥१०॥

नरा दानेषु निरता व्रतेषु नियमेषु च ।
जपयज्ञपरा विप्रा धर्मकामा मुदा युताः ।
पालयिष्यन्ति राजानो धर्मेणेमां वसुंधराम् ॥ ११ ॥

सब मनुष्य दान, तपस्या, व्रतमें लगे रहेंगे। ब्राह्मण जप, यज्ञ और धर्म कामोंमें चित्त लगाये रहेंगे। राजागण उस पृथ्वीको धर्म पूर्वक पालेंगे ॥ ११ ॥

व्यवहाररता वैश्या भविष्यन्ति कृते युगे ।
षट्कर्मनिरता विप्राः क्षत्रिया रक्षणे रताः ॥ १२ ॥

कृतयुगमें वैश्य व्यापार करेंगे। हे राजन् ! ब्राह्मण छः कर्मोंके करनेवाले, क्षत्रिय प्रजारक्षणके कार्योंमें रत रहनेवाले होंगे ॥ १२ ॥

शुश्रूषायां रताः शूद्रास्तथा वर्णत्रयस्य च ।
एष धर्मः कृतयुगे त्रेतायां द्वापरे तथा ।
पश्चिमे युगकाले च यः स ते संप्रकीर्तितः ॥ १३ ॥

शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवा करनेवाले होंगे यह धर्म सतयुग, त्रेता, द्वापरमें रहते हैं। कलियुगका धर्म पहिले ही कह चुका हूं ॥ १३ ॥

सर्वलोकस्य विदिता युगसंख्या च पाण्डव ।
एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं मया ।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥ १४ ॥

हे पाण्डव ! सब युगोंकी संख्या तुमको मालूम हो गयी। वह मैंने तुमसे भूत और भविष्यत् सब कहा। यह वायुपुराणमें और पुरातन ऋषियोंके द्वारा वर्णित है ॥ १४ ॥

एवं संसारमार्गा मे बहुशश्चिरजीविना ।
दृष्टाश्चैवानुभूताश्च तांस्ते कथितवानहम् ॥ १५ ॥

इस तरहसे मैंने संसारकी गति दीर्घ आयु होनेके कारण आप ही देखी और भोगी है, उसीके अनुसार तुमसे वर्णन की ॥ १५ ॥

इदं चैवापरं भूयः सह भ्रातृभिरच्युत ।
धर्मसंशयमोक्षार्थं निबोध वचनं मम ॥ १६ ॥

हे अक्षय धार्मिक वर! धर्मसन्देह मिटानेके लिए भाइयोंके सहित मेरे वचनको सुनो ॥ १६ ॥

धर्मे त्वयात्मा संयोज्यो नित्यं धर्मभृतां वर ।
धर्मात्मा हि सुखं राजा प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ १७ ॥

हे धर्म करनेवालोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुमको अपना चित्त नित्य धर्महीमें लगाना चाहिये; क्योंकि धर्मात्मा इस लोक और परलोकमें सुखी रहते हैं ॥ १७ ॥

निबोध च शुभां वाणीं यां प्रवक्ष्यामि तेऽनघ ।
न ब्राह्मणे परिभवः कर्तव्यस्ते कदाचन ।
ब्राह्मणो रुषितो हन्यादपि लोकान्प्रतिज्ञया ॥ १८ ॥

हे पापरहित! मैं तुमसे कल्याणकारी वचन कहता हूं, उनको समझो । ब्राह्मणका कभी अपमान तुम मत करना । ब्राह्मण क्रोध करने पर प्रतिज्ञा पूर्वक संसारका नाश कर सकता है ॥१८॥

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयवचः श्रुत्वा कुरूणां प्रवरो नृपः ।
उवाच वचनं धीमान्परमं परमद्युतिः ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोले– पुरुषश्रेष्ठ बुद्धिमान् तेजस्वी महाराज युधिष्ठिर मार्कण्डेयका वचन सुनकर बोले ॥ १९ ॥

कस्मिन्धर्मे मया स्थेयं प्रजाः संरक्षता मुने ।
कथं च वर्तमानो वै न च्यवेयं स्वधर्मतः ॥ २० ॥

हे मुने ! मैं प्रजाकी रक्षा करनेके लिये कौनसे धर्मको करूं ? वह कौनसा कर्म है, जिसमें मेरा धर्म नष्ट न हो ? ॥ २० ॥

मार्कण्डेय उवाच

दयावान्सर्वभूतेषु हितो रक्तोऽनसूयकः ।
अपत्यानामिव स्वेषां प्रजानां रक्षणे रतः ।
चर धर्मं त्यजाधर्मं पितॄन्देवांश्च पूजय　　॥ २१ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! तुम कृपवान्, सब प्राणियोंके हिताभिलाषी, मत्सररहित, अपने पुत्रोंकी तरह अपनी प्रजाकी रक्षामें तत्पर रहकर धर्म करो; अधर्मोंको त्यागो; देवता और पितरोंकी पूजा करो ॥ २१ ॥

प्रमादाद्यत्कृतं तेऽभूत्सम्यग्दानेन तज्जय ।
अलं ते मानमाश्रित्य सततं परवान्भव　　॥ २२ ॥

जो कुछ तुमने प्रमादसे पाप किया हो उन्हें दानसे जीतो; अभिमान करना वृथा है; सदा लोगोंके इच्छानुसार रहो ॥ २२ ॥

विजित्य पृथिवीं सर्वां मोदमानः सुखी भव ।
एष भूतो भविष्यश्च धर्मस्ते समुदीरितः　　॥ २३ ॥

संपूर्ण पृथ्वीको जीतकर आनन्दसे भोगो; यह मैंने तुमसे भूत और भविष्यत् धर्म कहा ॥२३॥

न तेऽस्त्यविदितं किंचिदतीतानागतं भुवि ।
तस्मादिमं परिक्लेशं त्वं तात हृदि मा कृथाः　　॥ २४ ॥

हे प्रिय ! पृथ्वीमें तुमसे कोई भूत और भविष्यत छिपा नहीं रहा, इसलिये अपने हृदयमें क्लेशको धारण मत करो ॥ २४ ॥

एष कालो महाबाहो अपि सर्वदिवौकसाम् ।
मुह्यन्ति हि प्रजास्तात कालेनाभिप्रचोदिताः　　॥ २५ ॥

हे महाभुज ! यह सब देवोंका समय है; इसमें सब प्रजा कालकी श्रेणीसे मोहित होती है ॥२५॥

मा च तेऽत्र विचारो भूद्यन्मयोक्तं तवानघ ।
अतिशङ्क्य वचो ह्येतद्धर्मलोपो भवेत्तव　　॥ २६ ॥

हे अनघ ! तुम मेरे कहे धर्ममें शंका मत करना । मेरे वचन शंकारहित हैं; मेरे वचनोंमें शंका करनेसे तुम्हारा धर्म लोप होगा ॥ २६ ॥

जातोऽसि प्रथिते वंशे कुरूणां भरतर्षभ ।
कर्मणा मनसा वाचा सर्वमेतत्समाचर　　॥ २७ ॥

हे भरतर्षभ ! तुम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हो; इसलिये मनसे, कर्मसे, वचनसे मेरे कहे कर्मको करो ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यत्त्वयोक्तं द्विजश्रेष्ठ वाक्यं श्रुतिमनोहरम् ।
तथा करिष्ये यत्नेन भवतः शासनं विभो ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे द्विजश्रेष्ठ ! जो आपने कानोंको सुख देनेवाले उत्तम वचन कहे, मैं आपकी इस आज्ञाको ऐसी ही करूंगा ॥ २८ ॥

न मे लोभोऽस्ति विप्रेन्द्र न भयं न च मत्सरः ।
करिष्यामि हि तत्सर्वमुक्तं यत्ते मयि प्रभो ॥ २९ ॥

हे विप्रेन्द्र ! मुझे लोभ, भय और मत्सर नहीं है । हे प्रभो ! आपने मेरे लिए जो कुछ भी कहा है, वह सब मैं अवश्य ही करूंगा ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु वचनं तस्य पाण्डवस्य महात्मनः ।
प्रहृष्टाः पाण्डवा राजन्सहिताः शार्ङ्गधन्वना ॥ ३० ॥

वैशम्पायन बोले— महात्मा पाण्डव युधिष्ठिरके ऐसे वचन सुनकर कृष्ण और पाण्डव बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

तथा कथां शुभां श्रुत्वा मार्कण्डेयस्य धीमतः ।
विस्मिताः समपद्यन्त पुराणस्य निवेदनात् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥ ६६८८ ॥

बुद्धिमान् मार्कण्डेयकी उत्तम और पुरानी कथा सुनकर सब विस्मित हुए ॥ ३१ ॥

महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ नवासिवां अध्याय समाप्त ॥ १८९ ॥ ६६८८ ॥

: १९० :

वैशम्पायन उवाच

भूय एव ब्राह्मणमहाभाग्यं वक्तुमर्हसीत्यब्रवीत्पाण्डवेयो मार्कण्डेयम् ॥१॥ अथाचष्ट मार्कण्डेयः ॥२॥ अयोध्यायामिक्ष्वाकुकुलोत्पन्नः पार्थिवः परीक्षिन्नाम मृगयामगमत् ॥३॥ तमेकाश्वेन मृगमनुसरन्तं मृगो दूरमपाहरत् ॥ ४॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् ! मार्कण्डेय मुनिसे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर फिर ऐसा बोले— कि आप और कुछ ब्राह्मण महात्म्य वर्णन कीजिये ॥ १ ॥ तब मार्कण्डेय बोले ॥ २ ॥ इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न हुए अयोध्याके राजा परीक्षित एक समय शिकार खेलने गये ॥ ३ ॥ वह अकेले घोडे पर चढे हुए एक हरिणके पीछे दूरतक चले गये ॥ ४ ॥

×

अथाध्वनि जातश्रमः क्षुत्तृष्णाभिभूतश्च कस्मिंश्चिदुद्देशे नीलं वनषंडमपश्यत्। तच्च विवेश ॥५॥ ततस्तस्य वनषंडस्य मध्येऽतीव रमणीयं सरो दृष्ट्वा साश्व एव व्यगाहत ॥ ६ ॥ अथाश्वस्तः स बिसमृणालमश्वस्याग्रे च निक्षिप्य पुष्करिणीतीरे समाविशत् ॥७॥ ततः शयानो मधुरं गीतशब्दमशृणोत् ॥८॥

चलते चलते मार्गमें राजाको बहुत प्यास लगी और थकावट भी आ गयी; राजाने बहुत सघन बनका टुकडा देखा। राजा उस वनके टुकडेके बीचमें गये ॥ ५ ॥ वहांपर उन्होंने एक बडा मनोहर तालाब देखा और घोडेके सहित उसमें घुस गए ॥ ६ ॥ तब राजा स्वस्थ होकर कमलोंकी डंटी (नाल) घोडेके आगे डालकर पोखरके किनारे बैठ गये ॥ ७ ॥ तब राजाने सोनेके समय मीठे स्वरके गीत सुने ॥ ८ ॥

स श्रुत्वाचिन्तयत्। नेह मनुष्यगतिं पश्यामि। कस्य खल्वयं गीतशब्द इति ॥९॥ अथापश्यकन्यां परमरूपदर्शनीयां पुष्पाण्यवचिन्वतीं गायन्तीं च ॥ १० ॥ अथ सा राज्ञः समीपे पर्यक्रामत् ॥११॥ तामब्रवीद्राजा। कस्यासि सुभगे त्वमिति ॥१२॥

गीतोंको सुनकर राजा सोचने लगे। कि यहां मनुष्य नहीं, पर गीत किसका है? ॥९॥ इसके पश्चात् राजाने एक परम मनोहर रूपवाली कन्याको फूल बीनते हुए और गाते हुए देखा ॥१०॥ वह कन्या राजाके समीप आई ॥११॥ राजाने उस कन्यासे पूछा। हे सुभगे! तुम कौन और किसकी कन्या हो? ॥ १२ ॥

सा प्रत्युवाच। कन्यास्मीति ॥१३॥ तां राजोवाच अर्थी त्वयाहमिति ॥ १४ ॥ अथोवाच कन्या। समयेनाहं शक्या त्वया लब्धुम्। नान्यथेति ॥ १५ ॥ तां राजा समयमपृच्छत् ॥ १६ ॥ ततः कन्येदमुवाच। उदकं मे न दर्शयितव्यमिति ॥ १७ ॥

वह बोली– मैं कन्या हूं ॥१३॥ राजा बोले– मैं तुमको लेना चाहता हूं ॥१४॥ तब कन्याने कहा। तुम इस समय एक प्रतिज्ञा करके मुझे ले सकते हो, मैं यह सत्य कहती हूं ॥ १५ ॥ राजाने कहा, कौनसे समयतक प्रतिज्ञापूर्वक ले सकता हूं? ॥ १६ ॥ तब कन्याने यह कहा, जबतक मुझे जल न दीखे ॥ १७ ॥

स राजा तां बाढमित्युक्त्वा समागम्य तया सहास्ते ॥ १८ ॥ तत्रैवासीने राजनि सेनान्वगच्छत् । पदेनानुपदं दृष्ट्वा राजानं परिवार्यातिष्ठत् ॥ १९ ॥ पर्याश्वस्तश्च राजा तयैव सह शिबिकया प्रायादविघाटितया । स्वनगरमनुप्राप्य रहसि तया सह रमन्नास्ते । नान्यत्किंचनापश्यत् ॥ २० ॥

राजाने कहा ठीक है । एकान्तमें उससे क्रीडा की ॥ १८ ॥ राजाके वहीं बैठे बैठे सेना आ गई और उस सेनाने राजाको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १९ ॥ पश्चात् विश्रामको प्राप्त हुए राजा उसी स्त्रीके साथ पालकीमें मृदु शय्यापर बैठकर चले और अपने नगरको प्राप्त होकर एकान्तमें उसीके साथ रहने लगे । राजा उसकी क्रीडामें ऐसे मग्न हुए, कि किसीको उनके दर्शन भी न होते थे ॥ २० ॥

अथ प्रधानामात्यस्तस्याभ्याशचराः च स्त्रियोऽपृच्छत् । किमत्र प्रयोजनं वर्तत इति ॥२१॥ अथाब्रुवंस्ताः स्त्रियः । अपूर्वमिव पश्याम उदकं नात्र नीयत इति ॥ २२ ॥ अथामात्योऽनुदकं वनं कारयित्वोदारवृक्षं बहुमूलपुष्पफलं रहस्युपगम्य राजानमब्रवीत् । वनमिदमुदारमनुदकम् । साध्वत्र रम्यतामिति ॥२३॥ स तस्य वचनात्तयैव सह देव्या तद्वनं प्राविशत् । स कदाचित्तस्मिन्वने रम्ये तयैव सह व्यवहरत् । अथ क्षुत्तृष्णार्दितः श्रान्तोऽतिमात्रमतिमुक्तागारमपश्यत् ॥ २४ ॥ तत्प्रविश्य राजा सह प्रियया सुधातलसुकृतां विमलसलिलपूर्णां वापीमपश्यत् ॥ २५ ॥

एक दिन प्रधानमन्त्रीने उनके समीपचारिणी स्त्रियोंसे पूछा कि क्या करना चाहिये ? ॥२१॥ स्त्रियोंने कहा कि हम अद्भुत लीला देखते हैं, कि राजाके क्रीडास्थानमें जल नहीं जाता ॥ २२ ॥ तब प्रधान मन्त्रीने एक बाग ऐसा बनवाया जिसमें पुष्प और फूलोंसे भरे वृक्ष थे किन्तु जल नहीं था। तब एकान्तमें जाकर राजमन्त्रीने कहा, महाराज! एक विचित्र वन जलरहित बना हुआ है, आप उसमें चलकर विहार कीजिये ॥ २३ ॥ राजा मन्त्रीके वचनसे उस वनमें उस अपनी पटरानीके साथ गये । एक दिन राजाको विहार करते करते प्यास लगी और बहुत थक गये, तब राजाने उस माधवी लताकुञ्जको देखा ॥ २४ ॥ तब राजा उस स्त्रीके सहित घरमें गये और स्वच्छ जलसे भरी उस बावडीको देखा ॥ २५ ॥

दृष्ट्वैव च तां तस्या एव तीरे सहैव तया देव्या व्यतिष्ठत्
॥ २६ ॥ अथ तां देवीं स राजाब्रवीत्। साध्ववतर वापीस-
लिलमिति ॥ २७ ॥ सा तद्वचः श्रुत्वावतीर्य वापीं न्यमज्जत्।
न पुनरुदमज्जत् ॥ २८ ॥

और उसके किनारेपर रानीके सहित बैठ गये ॥२६॥ तब रानीसे कहने लगे देखो, यह क्या सुन्दर जल है, इसमें तुम स्नान करो ॥ २७ ॥ रानी राजाके वचन सुनके उस जलमें प्रविष्ट हुई और फिर न निकली ॥ २८ ॥

तां मृगयमाणो राजा नापश्यत् ॥ २९ ॥ वापीमपि निःस्राव्य
मण्डूकं श्वभ्रमुखे दृष्ट्वा क्रुद्ध आज्ञापयामास। सर्वमण्डूकवधः
क्रियतामिति। यो मयार्थी स मृतकैर्मण्डूकैरुपायनैर्मामुपतिष्ठे
दिति ॥ ३० ॥ अथ मण्डूकवधे घोरे क्रियमाणे दिक्षु सर्वासु
मण्डूकान्भयमाविशत्। ते भीता मण्डूकराज्ञे यथावृत्तं
न्यवेदयन् ॥३१॥ ततो मण्डूकराट् तापसवेषधारी राजानमभ्य
गच्छत् ॥ ३२ ॥

राजाने उस बावडीका सब जल निकलवाकर उसे बहुत ढूंढा पर वह कहीं न मिली ॥२९॥ किन्तु उस बावडीके एक गढेमें मेढकको देखा। उस मेढकको देखकर क्रोधित हुए राजाने आज्ञा दी कि सब मेढकोंको मार डालो। जो कोई मेढकको मार लावेगा उसको राज्यसे धन मिलेगा ॥३०॥ जब मेढकोंका भयानक वध आरंभ हुआ, तो मेढक भयके मारे दशों दिशाको भागने लगे और मेढकराजसे जाकरके अपने दुःखको कहा ॥३१॥ मेढकराज तपस्वीका रूप धारण करके राजाके पास गए ॥ ३२ ॥

उपेत्य चैनमुवाच। मा राजन्क्रोधवशं गमः। प्रसादं कुरु।
नार्हसि मण्डूकानामनपराधिनां वधं कर्तुमिति ॥ ३३ ॥

और इससे कहा, हे राजन्! क्रोधके वशमें न हो, कृपा करो, निरपराधी मेढकोंको मत मारो ॥ ३३ ॥

श्लोकौ चात्र भवतः।
मा मण्डूकाञ्जिघांस त्वं कोपं संधारयाच्युत।
प्रक्षीयते धनोद्रेको जनानामविजानताम् ॥ ३४ ॥

यहांपर पुराणके दो श्लोक हैं। हे राजन्! तुम क्रोधको छोडो, मेढकोंको न मारो, अविवेकी पुरुषका धन नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

प्रतिजानीहि नैतांस्त्वं प्राप्य क्रोधं विमोक्ष्यसे ।
अलं कृत्वा तवाधर्मं मण्डूकैः किं हतैर्हि ते ॥ ३५ ॥

मेढकोंके मारनेसे तुम्हारी स्त्रीका शोक दूर नहीं होगा । इस अधर्म करनेसे तुम्हारा कोई हित नहीं होगा ॥ ३५ ॥

तमेवं वादिनमिष्टजनशोकपरीतात्मा राजा प्रोवाच। न हि क्षम्यते तन्मया । हनिष्याम्येतान् । एतैर्दुरात्मभिः प्रिया मे भक्षिता । सर्वथैव मे वध्या मण्डूकाः । नार्हसि विद्वन्मामुरोद्‌धुमिति ॥ ३६ ॥ स तद्वाक्यमुपलभ्य व्यथितेन्द्रियमनाः प्रोवाच । प्रसीद राजन् । अहमायुर्नाम मण्डूकराजः । मम सा दुहिता सुशोभना नाम । तस्या दौःशील्यमेतत् । बहवो हि राजानस्तया विप्रलब्धपूर्वा इति ॥३७॥ तमब्रवीद्राजा । तयास्म्यर्थी । सा मे दीयतामिति ॥ ३८ ॥ अथैनां राज्ञे पितादात् । अब्रवीच्चैनाम् । एनं राजानं शुश्रूषस्वेति ॥ ३९ ॥

ऐसे शोकसे भरे हुए वचन राजाने सुनकर कहा, हे विद्वन् ! इन दुष्टोंने मेरी स्त्रीको खा लिया है, इसलिये मैं इनपर क्षमा नहीं कर सकता हूं । मेढक मेरे मारनेके योग्य हैं, आप न रोकिये ॥ ३६ ॥ राजाके वचन सुन मेढकराज बहुत व्याकुल हुआ और कहने लगा । महाराज ! कृपा कीजिये, मैं आयु नामक मेढकोंका राजा हूं, वह मेरी शोभना नामक कन्या थी, यह उसीकी दुष्टता है; इसी तरह उसने आपसे पूर्व भी अनेक राजाओंको ठगा है ॥३७॥ राजाने मेढकराजसे कहा, कि उसको चाहता हूं, उस कन्याको तुम मुझे दे दो ॥ ३८ ॥ मेढकराजने कन्यादान राजाको दे दिया और कन्यासे कहा, कि तुम इस राजाकी सेवा करो ॥ ३९ ॥

स उवाच दुहितरम्। यस्मात्त्वया राजानो विप्रलब्धास्तस्मादब्रह्मण्यानि तवापत्यानि भविष्यन्त्यनृतकत्वात्तवेति ॥४०॥ स च राजा तामुपलभ्य तस्यां सुरतगुणनिबद्धहृदयो लोकत्रयैश्वर्यमिवोपलभ्य हर्षबाष्पकलया वाचा प्रणिपत्याभिपूज्य मण्डूकराजानमब्रवीत्। अनुगृहीतोऽस्मीति ॥४१॥

ऐसा कहकर अपनी कन्यासे मेढकराजने, कहा, कि जिस कारणसे तूने बहुत राजाओंको ठगा है, इसलिये तेरे प्रमादसे तेरी सन्तान ब्राह्मणभक्त न हो ॥ ४० ॥ राजा परीक्षित उस स्त्रीको पाकर ऐसा आनन्दित हुआ, मानो तीनों लोकका राज्य उसे मिल गया हो, आनन्दके आंसू आंखोंमें भरकर मेढकराजसे बोला, कि आपने मुझे कृतार्थ किया ॥ ४१ ॥

स च मण्डूकराजो जामातरमनुज्ञाप्य यथागतमगच्छत् ॥ ४२ ॥ अथ कस्यचित्कालस्य तस्यां कुमारास्त्रयस्तस्य राज्ञः संबभूवुः शलो दलो बलश्चेति। ततस्तेषां ज्येष्ठं शलं समये पिता राज्येऽभिषिच्य तपसि धृतात्मा वनं जगाम ॥ ४३ ॥

मेढकराज भी अपनी कन्याको उपदेश देकर चला गया ॥ ४२॥ कुछ कालके पीछे उस राजाको उसी कन्यासे तीन पुत्र उत्पन्न हुए एकका नाम शल, दूसरेका दल, तीसरेका बल। उनमेंसे बडे शलको राजा राज्य देकर तपस्या करनेकी इच्छासे वनको चले गये ॥ ४३ ॥

अथ कदाचिच्छलो मृगयामचरत्। मृगं चासाद्य रथेनान्वधावत् ॥ ४४ ॥ सूतं चोवाच । शीघ्रं मां वहस्वेति ॥ ४५ ॥ स तथोक्तः सूतो राजानमब्रवीत् । मा क्रियतामनुबन्धः । नैष शक्यस्त्वया मृगो ग्रहीतुं यद्यपि ते रथे युक्तौ वाम्यौ स्यातामिति ॥ ४६ ॥ ततोऽब्रवीद्राजा सूतम्। आचक्ष्व मे वाम्यौ । हन्मि वा त्वामिति ॥ ४७ ॥

एक समय राजा शल रथमें वैठकर शिकार खेलनेको गया, दौडते हुए मृगको देखकर राजा उसके पीछे भागा ॥४४॥ उसने सारथीसे कहा कि शीघ्र मेरे रथको इसके पीछे ले चलो। राजाके वचन सुनकर सारथी बोला हे राजन्! यदि तुम्हारे रथमें वामी घोडे जुते होते तो भी आप इस मृगको नहीं पकड सकते थे; आग्रह मत करो ॥ ४६ ॥ तब राजाने सूतसे कहा; कि वतलाओ, वामी घोडे कहा हैं? नहीं तो मैं तुम्हें मार डालूंगा ॥ ४७ ॥

स एवमुक्तो राजभयभीतो वामदेवशापभीतश्च सन्नाचख्यौ राज्ञे । वामदेवस्याश्वौ वाम्यौ मनोजवाविति ॥४८॥ अथैवमेवं ब्रुवाणमब्रवीद्राजा । वामदेवाश्रमं याहीति ॥ ४९ ॥ स गत्वा वामदेवाश्रमं तमृषिमब्रवीत् । भगवन्मृगो मे विद्धः पलायते । तं संभावयेयम्। अर्हसि मे वाम्यौ दातुमिति ॥५०॥ तमब्रवीदृषिः । ददानि ते वाम्यौ । कृतकार्येण भवता ममैव निर्यात्यौ क्षिप्रमिति ॥ ५१ ॥

राजाके ऐसे वचन सुनके सूत डरा और वामदेव ऋषिके शापसे डरकर बोला। हे महाराज? वामदेव ऋषिके घोडे, मनके समान चलनेवाले हैं ॥ ४८ ॥ ऐसा सुनकर राजाने सूतसे कहा, वामदेव मुनिके आश्रमपर चलो ॥ ४९ ॥ वामदेव ऋषिके आश्रमपर जाकर राजा ऋषिसे बोले, हे भगवन्! मेरे बाणसे विंधा हुआ मृग भागा जाता है, आप मुझे वामी घोडे दीजिये ॥५०॥ ऋषिने कहा, अच्छा मैं तुम्हें देता हूं, परन्तु अपना काम करके शीघ्र मुझे लौटा देना ॥ ५१ ॥

स च तावश्वौ प्रतिगृह्यानुज्ञाप्य चर्षिं प्रायाद्वाम्यसंयुक्तेन रथेन मृगं प्रति। गच्छंश्चाब्रवीत्सूतम्। अश्वरत्नाविमावयोग्यौ ब्राह्मणानाम्। नैतौ प्रतिदेयौ वामदेवायेति ॥५२॥ एवमुक्त्वा मृगमवाप्य स्वनगरमेत्याश्वावन्तःपुरेऽस्थापयत्॥५३॥ अथर्षिश्चिन्तयामास । तरुणो राजपुत्रः कल्याणं पत्रमासाद्य रमते। न मे प्रतिनिर्यातयति। अहो कष्टमिति॥५४॥ मनसा निश्चित्य मासि पूर्णे शिष्यमब्रवीत्। गच्छात्रेय । राजानं ब्रूहि । यदि पर्याप्तं निर्यातयोपाध्यायवाम्याविति ॥ ५५ ॥

राजा ऋषिसे घोडे लेके ऋषिके आज्ञानुसार उनको रथमें जोडकर मृगको मारने चले। चलते चलते राजाने सूतसे कहा कि यह घोडे रत्नके समान हैं इसलिये ब्राह्मणके पास रहने योग्य नहीं हैं, वामदेवको यह घोडे नहीं देना चाहिये ॥५२॥ ऐसा कहकर मृगको पकडकर अपने नगरको चला आया और घोडोंको वहीं रख लिया ॥५३॥ तब ऋषिने विचार किया, कि राजपुत्र युवा है। अपने कल्याणको नहीं सोचता, मेरे घोडोंको लेकर रमण करता है अभीतक उसने मेरे घोडोंको नहीं लौटाया, यही कष्ट है ॥ ५४ ॥ इस प्रकार मनमें सोचकर एक महीना पूरा होनेके पश्चात् अपने शिष्यसे वामदेवने कहा। हे आत्रेय ! राजासे जाकर कहना, कि तुम्हारा कार्य सिद्ध हो गया, अब घोडे दे दो ॥ ५५ ॥

स गत्वैवं तं राजानमब्रवीत् ॥ ५६ ॥ तं राजा प्रत्युवाच। राज्ञामेतद्वाहनम्। अनर्हा ब्राह्मणा रत्नानामेवंविधानाम्। किं च ब्राह्मणानामश्वैः कार्यम्। साधु प्रतिगम्यतामिति॥५७॥ स गत्वैवमुपाध्यायायाचष्ट ॥५८॥ तच्छ्रुत्वा वचनमप्रियं वामदेवः क्रोधपरीतात्मा स्वयमेव राजानमभिगम्याश्वार्थमभ्यचोदयत्। न चादाद्राजा ॥ ५९ ॥

आत्रेयने राजासे जाकर ऐसा ही कहा ॥५६॥ राजाने आत्रेयको उत्तर दिया, कि यह रत्नके समान घोडे राजाओंके योग्य हैं। ऐसे घोडे ब्राह्मणोंके योग्य नहीं हैं। ब्राह्मणोंको घोडोंसे क्या काम, आप जाइये ॥ ५७ ॥ आत्रेयने आकर वामदेवसे राजाके वचन कह दिये ॥ ५८ ॥ राजाकी अप्रिय बातोंको सुनकर वामदेवको बडा क्रोध हुआ और स्वयं ही राजाके पास जाकर घोडे मांगे, पर राजाने न दिये ॥ ५९ ॥

वामदेव उवाच

प्रयच्छ वाम्यौ मम पार्थिव त्वं कृतं हि ते कार्यमन्यैरशक्यम् ।
मा त्वा वधीद्वरुणो घोरपाशैर्ब्रह्मक्षत्रस्यान्तरे वर्तमानः ॥ ६० ॥

वामदेव बोले– हे राजन् ! तुमने इन घोडोंसे अपना अशक्य काम पूरा कर लिया; अब मुझे दे दो। ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें भेद उत्पन्न करनेवाले तुमको वरुण अपने फांसीसे गलेमें न बांधे वैसा करो ॥ ६० ॥

राजोवाच

अनड्वाहौ सुव्रतौ साधु दान्तावेतद्विप्राणां वाहनं वामदेव ।
ताभ्यां याहि त्वं यत्र कामो महर्षे छन्दांसि वै त्वादृशं संवहन्ति ॥६१॥

राजा बोले– हे महर्षे वामदेव ! ये बहुत सीधे और स्वरूपवान् दो बैल ब्राह्मणोंकी सवारीके योग्य हैं, इन्हें तुम लेकर जहां इच्छा हो जाओ, छन्द ही आपके सरीखे ब्राह्मणको ढोते हैं ॥ ६१ ॥

वामदेव उवाच

छन्दांसि वै मादृशं संवहन्ति लोकेऽमुष्मिन्पार्थिव यानि सन्ति ।
अस्मिंस्तु लोके मम यानमेतदस्मद्विधानामपरेषां च राजन् ॥ ६२ ॥

वामदेव बोले– हे राजन् ! परलोकमें यदि छन्द ही हमको ढोते हैं, तो भी इस लोकमें यह मेरी और इतरोंकी सवारी हैं; इसलिये मुझे दे दो ॥ ६२ ॥

राजोवाच

चत्वारो वा गर्दभास्त्वां वहन्तु श्रेष्ठाश्वतर्यो हरयो वा तुरंगाः ।
तैस्त्वं याहि क्षत्रियस्यैष वाहो मम वाम्यौ न तवैतौ हि विद्धि ॥ ६३ ॥

राजा बोले– हे वामदेव ! मैं तुम्हें चार गधे देता हूं; उनपर चढकर जहां चाहो वहां जाओ, अथवा यह खच्चरी वा वायुके समान चालवाली अश्वीको ले लो। परन्तु यह दोनों वामी घोडे क्षत्रियोंके योग्य हैं, इसलिये मेरे समझो ॥ ६३ ॥

वामदेव उवाच

घोरं व्रतं ब्राह्मणस्यैतदाहुरेतद्राजन्यदिहाजीवमानः ।
अयस्मया घोररूपा महान्तो वहन्तु त्वां शितशूलाश्चतुर्धा ॥ ६४ ॥

वामदेव बोले– हे राजन् ! ब्राह्मणोंके द्रव्यपर जीनेवाले क्षत्रियोंका यह कर्म घोर पापकारी है। इसलिये चार भयानक राक्षसोंको मैं आज्ञा देता हूं, कि वे तुम्हें त्रिशूल धारण करके मार डालेंगे ॥ ६४ ॥

राजोवाच

ये त्वा विदुर्ब्राह्मणं वामदेव वाचा हन्तुं मनसा कर्मणा वा ।
ते त्वां सशिष्यमिह पातयन्तु मद्वाक्यनुन्नाः शितशूलासिहस्ताः ॥ ६५ ॥

राजा बोले– हे वामदेव ! जो मन वाणी और कर्मसे मेरे वधके लिये उद्युक्त तुम ब्राह्मणको जानते हैं, वह अब मेरी आज्ञासे तीक्ष्ण खड्ग धारण करनेवाले वीर शिष्य सहित तुम्हें मार डालेंगे ॥ ६५ ॥

वामदेव उवाच

नानुयोगा ब्राह्मणानां भवन्ति वाचा राजन्मनसा कर्मणा वा ।
यस्त्वेवं ब्रह्म तपसान्वेति विद्वांस्तेन श्रेष्ठो भवति हि जीवमानः ॥ ६६ ॥

वामदेव बोले– हे राजन् ! ब्राह्मणोंको मन और वचनसे भी दण्ड नहीं दिया जाता । जो श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मणजातिकी सेवा करता है सेवारूप तपसे वही इस लोकमें जीता रहता है ॥ ६६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्ते वामदेवेन राजन्समुत्तस्थू राक्षसा घोररूपाः ।
तैः शूलहस्तैर्वध्यमानः स राजा प्रोवाचेदं वाक्यमुच्चैस्तदानीम् ॥ ६७ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! वामदेवके ऐसे बोलते ही घोररूपी राक्षस हाथमें त्रिशूल लिये आकर राजाको मारने लगे । तब उन शूलधारी राक्षसोंके द्वारा मारे जाते हुए राजाने ऊंचे स्वरसे यह कहा ॥ ६७ ॥

इक्ष्वाकवो यदि ब्रह्मन्दलो वा विधेया मे यदि वान्ये विशोऽपि ।
नोत्स्रक्ष्येऽहं वामदेवस्य वाम्यौ नैवंविधा धर्मशीला भवन्ति ॥ ६८ ॥

कि हे ब्रह्मन् ! यदि इक्ष्वाकु वंशके लोग, दल, मैं और मेरे प्रजाजन मेरी आज्ञामें रहेंगे तो सत्य कहता हूं कि मैं वामदेवके घोडे नहीं दूंगा । पराक्रमवाले पुरुष अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोडते ॥ ६८ ॥

एवं ब्रुवन्नेव स यातुधानैर्हतो जगामाशु महीं क्षितीशः ।
ततो विदित्वा नृपतिं निपातितमिक्ष्वाकवो वै दलमभ्यषिञ्चन् ॥ ६९ ॥

ऐसे कहते ही कहते राक्षसोंने राजाको मार डाला । इक्ष्वाकुवंशियोंने राजा शलको मरा हुआ देख उसके छोटे भाई दलका राज्याभिषेक किया ॥ ६९ ॥

राज्ये तदा तत्र गत्वा स विप्रः प्रोवाचेदं वचनं वामदेवः ।
दलं राजानं ब्राह्मणानां हि देयमेवं राजन्सर्वधर्मेषु दृष्टम् ॥ ७० ॥

तब विप्र वामदेवने राज्यमें आकर यह वचन कहा, कि ब्राह्मणोंका धन दे दो, क्योंकि यह सब धर्मोंमें लिखा है, कि ब्राह्मणोंका धन कभी नहीं रखना चाहिये ॥ ७० ॥

×

बिभेषि चेत्त्वमधर्मान्नरेन्द्र प्रयच्छ मे शीघ्रमेवाद्य वाम्यौ।
एतच्छ्रुत्वा वामदेवस्य वाक्यं स पार्थिवः सूतमुवाच रोषात् ॥ ७१ ॥
हे राजेन्द्र! यदि तुम अधर्मसे डरते हो तो मेरे घोडे जल्दी दे दो। वामदेवके वचन सुनके राजा दलने क्रोध करके सूतसे कहा ॥ ७१ ॥

एकं हि मे सायकं चित्ररूपं दिग्धं विषेणाहर संगृहीतम्।
येन विद्धो वामदेवः शयीत संदश्यमानः श्वभिरार्तरूपः ॥ ७२ ॥
कि मेरा विषसे भरा हुआ बाण ले आ जिससे विंधकर वामदेव गतप्राण होकर पृथ्वीमें गिर जायगा और इसको सिआर खायेंगे ॥ ७२ ॥

वामदेव उवाच

जानामि पुत्रं दशवर्षं तवाहं जातं महिष्यां श्येनजितं नरेन्द्र।
तं जहि त्वं मद्वचनात्प्रणुन्नस्तूर्णं प्रियं सायकैर्घोररूपैः ॥ ७३ ॥
बामदेव बोले— हे राजन्! मैं जानता हूं कि तुम्हारे दस वर्षका पुत्र है, वह तेरी पटरानीसे उत्पन्न हुआ है, श्येनजित जिसका नाम है, मेरे घोर वचनसे प्रेरित होकर इस घोर बाणसे अपने प्यारे पुत्रको मार ॥ ७३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तो वामदेवेन राजन्नन्तःपुरे राजपुत्रं जघान।
स सायकस्तिग्मतेजा विसृष्टः श्रुत्वा दलस्तच्च वाक्यं बभाषे ॥ ७४ ॥
मार्कण्डेय बोले— वामदेवके ऐसे वचन सुनकर राजाने उस बाणको छोडा और उस बाणने रनिवासमें जाकर उसके राजपुत्रको मार डाला। तब वह दल बहुत क्रोध करके बोला ॥७४॥

इक्ष्वाकवो हन्त चरामि वः प्रियं निहन्मीमं विप्रमद्य प्रमथ्य।
आनीयतामपरस्तिग्मतेजाः पश्यध्वं मे वीर्यमद्य क्षितीशाः ॥ ७५ ॥
हे इक्ष्वाकुवंशीय राजगण! मैं तुम्हारे कल्याणके लिये अभी इस ब्राह्मणको मार डालता हूं, मेरा महातेजस्वी दूसरा बाण लाओ और मेरे पराक्रमको देखो ॥ ७५ ॥

वामदेव उवाच

यं त्वमेनं सायकं घोररूपं विषेण दिग्धं मम संदधासि।
न त्वमेनं शरवर्यं विमोक्तुं संधातुं वा शक्ष्यसि मानवेन्द्र ॥ ७६ ॥
वामदेव बोले— जो इस विषसे बुझे बाणको मेरे ऊपर चलाना चाहता है, इसलिये तू इस बाणको मेरे ऊपर नहीं चला सकेगा तथा धनुषमें जोड भी नहीं सकेगा ॥ ७६ ॥

राजोवाच

इक्ष्वाकवः पश्यत मां गृहीतं न वै शक्नोम्येष शरं विमोक्तुम्।
न चास्य कर्तुं नाशमभ्युत्सहामि आयुष्मान्वै जीवतु वामदेवः ॥ ७७ ॥

राजा बोले— हे इक्ष्वाकुवंशियो! तुम निगृहीत हुए मुझे देखो कि मैं बाण नहीं चला सकता हूं, इस कारण अब मैं इसका नाश भी नहीं कर सकता। अब यह ब्राह्मण वामदेव दीर्घआयु हो और जीता रहे ॥ ७७ ॥

वामदेव उवाच

संस्पृशैनां महिषीं सायकेन ततस्तस्मादेनसो मोक्ष्यसे त्वम् ॥ ७८ ॥

वामदेव बोले— हे राजेन्द्र! तू इस बाणसे अपनी स्त्रीको स्पर्श कर, तब तू इस पापसे मुक्त होगा ॥ ७८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तथा कृतवान्पार्थिवस्तु ततो मुनिं राजपुत्री बभाषे।
यथा युक्तं वामदेवाहमेनं दिने दिने संविशन्ती व्यशंसम्।
ब्राह्मणेभ्यो मृगयन्ती सूनृतानि तथा ब्रह्मन्पुण्यलोकं लभेयम् ॥ ७९ ॥

मार्कण्डेय बोले— राजाने वैसा ही किया, तब राजाकी पटरानी मुनिसे बोली, कि हे वामदेव! मैं प्रतिदिन इस निर्लज्ज पतिको अच्छा उपदेश करती रहती थी। ब्राह्मणोंकी सेवाके लिए कहती रहती थी, इस कारणसे मुझे उत्तम लोक प्राप्त हो ॥ ७९ ॥

वामदेव उवाच

त्वया त्रातं राजकुलं शुभेक्षणे वरं वृणीष्वाप्रतिमं ददानि ते।
प्रशाधीमं स्वजनं राजपुत्रि इक्ष्वाकुराज्यं सुमहच्चाप्यनिन्द्ये ॥ ८० ॥

वामदेव बोले— हे सुलोचने! तूने दोनों राजकुलको पवित्र किया, जो तेरी इच्छा हो सो वर मांग, मैं तुझे दूंगा। हे राजपुत्री! तू अपने कुलके मनुष्योंकी और इक्ष्वाकुकुलके राज्यकी रक्षा कर ॥ ८० ॥

राजपुत्र्युवाच

वरं वृणे भगवन्नेकमेव विमुच्यतां किल्बिषादद्य भर्ता।
शिवेन चाध्याहि सपुत्रबान्धवं वरो वृतो ह्येष मया द्विजाग्र्य ॥ ८१ ॥

रानी बोली— हे भगवन्! मैं यही वर मांगती हूँ कि मेरा पति पापसे छूट जाये। राजा अपने पुत्र और भाइयोंके सहित कल्याणसे युक्त हो। हे ब्राह्मणोत्तम! मैं यही वर मांगती हूँ ॥ ८१ ॥

मार्कण्डेय उवाच

श्रुत्वा वचः स मुनी राजपुत्र्यास्तथास्त्विति प्राह कुरुप्रवीर।
ततः स राजा मुदितो बभूव वाम्यौ चास्मै संप्रददौ प्रणम्य ॥ ८२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥ ६७७० ॥

मार्कण्डेय बोले– रानीके ऐसे वचन सुनके वामदेवने कहा ऐसे ही हो। राजा दल भी वामदेव-का वचन सुनकर प्रसन्न हुआ और उसने वामी घोडे देकर वामदेवको प्रणाम किया ॥८२॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ नव्वेवां अध्याय समाप्त ॥ १९० ॥ ६७७० ॥

१९१

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयमृषयः पाण्डवाश्च पर्यपृच्छन्। अस्ति कश्चिद्भवत-श्चिरजाततर इति ॥१॥ स तानुवाच अस्ति। खलु राजर्षिरिन्द्र-द्युम्नो नाम क्षीणपुण्यस्त्रिदिवात्प्रच्युतः। कीर्तिस्ते व्युच्छिन्नेति। स मामुपातिष्ठत्। अथ प्रत्यभिजानाति मां भवानिति ॥ २ ॥ तमहमब्रुवम्। न वयं रासायनिकाः शरीरोपतापेनात्मनः समारभामहेऽर्थानामनुष्ठानम् ॥ ३ ॥ अस्ति खलु हिमवति प्राकारकर्णो नामोलूकः। स भवन्तं यदि जानीयात्। प्रकृष्टे चाध्वनि हिमवान्। तत्रासौ प्रतिवसतीति ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय! समस्त ऋषियों और पाण्डवोंने मार्कण्डेय मुनिसे पूछा, कि आपसे अधिक जीनेवाला कोई है? ॥ १ ॥ उन्होंने कहा, कि राजा इन्द्रद्युम्न मुझसे भी अधिक जीनेवाले हैं। वे पुण्य नष्ट होनेसे जब स्वर्गसे गिराये गये; मेरे पास आये थे और कहा था, मेरी कीर्ति नष्ट हुई, क्या तुम हमको जानते हो? ॥२॥ तब मैंने उनसे कहा, कि हम रसायनशास्त्रको जाननेवाले नहीं हैं। हम तो बराबर तपसे अपने शरीरको सुखा देते हैं, इसलिए हम नहीं जानते हैं, कि यह कौन हैं ॥ ३ ॥ मुझसे भी पुराना एक प्राकारकर्ण नामक उल्लू हिमाचलमें रहता है, तुम उसके पास जाओ; वह बहुत दूर हिमाचलपर रहता है ॥ ४ ॥

स मामश्वो भूत्वा तत्रावहद्यत्र बभूवोलूकः ॥ ५ ॥ अथैनं स राजर्षिः पर्यपृच्छत् । प्रत्यभिजानाति मां भवानिति ॥६॥ स मुहूर्तं ध्यात्वाब्रवीदेनम् । नाभिजाने भवन्तामिति ॥ ७ ॥ स एवमुक्तो राजर्षिरिन्द्रद्युम्नः पुनस्तमुलूकमब्रवीत् । अस्ति कश्चिद्भवतश्चिरजाततर इति ॥ ८ ॥

तब वह इन्द्रद्युम्न घोडा हो गया और मैं उसपर चढकर उसके पास गया ॥ ५ ॥ तब राजा इन्द्रद्युम्नने उस उल्लूसे पूछा, कि तुम मुझे जानते हो ? ॥ ६ ॥ तब उसने थोडी देर विचार-कर कहा, कि मैं तुमको नहीं जानता ॥ ७ ॥ फिर राजर्षि इन्द्रद्युम्नने उस उल्लूसे कहा, कि कहो तुम्हारे पास कोई तुमसे भी ज्यादा बूढा है ? ॥ ८ ॥

स एवमुक्तोऽब्रवीदेनम् । अस्ति खल्विन्द्रद्युम्नसरो नाम । तस्मिन्नाडीजङ्घो नाम बकः प्रतिवसति । सोऽस्मत्तश्चिरजा-ततरः । तं पृच्छेति ॥९॥ तत इन्द्रद्युम्नो मां चोलूकं चादाय तत्सरोऽगच्छद्यत्रासौ नाडीजङ्घो नाम बको बभूव ॥ १० ॥ सोऽस्माभिः पृष्टः । भवानिन्द्रद्युम्नं राजानं प्रत्यभिजानातीति ॥ ११ ॥ स एवमुक्तोऽब्रवीन्मुहूर्तं ध्यात्वा । नाभिजानाम्य-हमिन्द्रद्युम्नं राजानमिति ॥ १२ ॥

तब उसने कहा, कि मुझसे भी बूढा नाडीजंघ नामक बगुला है, वह इन्द्रद्युम्न नामक तलावमें रहता है, वह मुझसे भी बहुत बूढा है, तुम उसके जाओ और उससे पूछो ॥ ९ ॥ तब इन्द्रद्युम्न, मुझे और उस उल्लूको लेकर उस सरोवरमें गया, जहां नाडीजङ्घ नामक बगुला रहता था ॥१०॥ तब हम लोगोंने उससे पूछा कि तुम राजा इन्द्रद्युम्नको जानते हो ? ॥११॥ उसने थोडी देर विचारकर कहा कि मैं राजा इन्द्रद्युम्नको नहीं जानता ॥ १२ ॥

ततः सोऽस्माभिः पृष्टः । अस्ति कश्चिदन्यो भवतश्चिरजाततर इति ॥१३॥ स नोऽब्रवीत् । अस्ति खल्विहैव सरस्यकूपारो नाम कच्छपः प्रतिवसति । स मत्तश्चिरजाततर इति । स यदि कथंचिदभिजानीयादिमं राजानं तमकूपारं पृच्छाम इति ॥ १४ ॥

तब हमने उससे पूछा कि तुमसे भी अधिक कोई बूढा है ? ॥ १३ ॥ उसने कहा कि इसी तालावमें एक अकूपार नामक कछुआ रहता है वह मुझसे भी अधिक बूढा है । हम लोग उसके पास जाकर पूछें कदाचित् वह इस राजाको जानता हो ॥ १४ ॥

ततः स बकस्तमकूपारं कच्छपं विज्ञापयामास। अस्त्य
स्माकमभिप्रेतं भवन्तं कंचिदर्थमभिप्रष्टुम्। साध्वाग-
म्यतां तावदिति ॥ १५ ॥ एतच्छ्रुत्वा स कच्छपस्तस्मात्स-
रस उत्थायाभ्यगच्छद्यत्र तिष्ठामो वयं तस्य सरसस्तीरे ॥१६॥

तब उस बगुलेने हम लोगोंसे और उस कछुएसे परिचय करा दिया। हम लोगोंने जाकर कहा, कि हम लोग तुमसे कुछ पूछनेको आये हैं; तुम बाहर आओ ॥ १५ ॥ ऐसा सुनकर कछुआ तलावसे बाहर निकला। जहां हम लोग खडे थे, तलावके उसी किनारे आया ॥ १६ ॥

आगतं चैनं वयमपृच्छामभवानिन्द्रद्युम्नं राजानमभिजाना-
तीति ॥१७॥ स मुहूर्तं ध्यात्वा बाष्पपूर्णनयन उद्विग्नहृदयो
वेपमानो विसंज्ञकल्पः प्राञ्जलिरब्रवीत्। किमहमेनं न प्रत्या-
भिजानामि। अहं ह्यनेन सहस्रकृत्वः पूर्वमग्निचितिषूपहित-
पूर्वः। सरश्चेदमस्य दक्षिणादत्ताभिर्गोभिरतिक्रममाणाभिः
कृतम्। अत्र चाहं प्रतिवसामीति ॥ १८ ॥ अथैतत्कच्छपेनो-
दाहृतं श्रुत्वा समनन्तरं देवलोकाद्देवरथः प्रादुरासीत् ॥१९॥
वाचश्चाश्रूयन्तेन्द्रद्युम्नं प्रति। प्रस्तुतस्ते स्वर्गः। यथोचितं
स्थानमभिपद्यस्व। कीर्तिमानसि। अव्यग्रो याहीति ॥ २० ॥

हम लोगोंने उसे आते देखकर पूछा, कि तुम राजा इन्द्रद्युम्नको जानते हो ? ॥ १७ ॥ उसने एक मुहूर्त्त ध्यान करके आंखोंमें आंसू भरकर उद्विग्नचित्त होकर हाथ जोडकर कांपते हुए कहा, कि क्या मैं इन्हें नहीं जानता हूं ? इन्होंने हजार यज्ञ किए थे जो इन्होंने दक्षिणामें गौवें दी थीं उस चक्रमणसे ही यह तालाव बना है, जिसमें मैं रहता हूं ॥ १८ ॥ जब यह कछुवेने कहा, इसको सुनकर देवलोकसे रथ आया ॥ १९ ॥ और शब्द हुआ, हे इन्द्रद्युम्न ! तुम्हारे लिए स्वर्ग तैय्यार है, जहां चाहो वहां जाओ, तुम कीर्तिवाले हो ॥ २० ॥

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः।
यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते ॥ २१ ॥

पुण्य कर्मका शब्द जबतक स्वर्ग और पृथ्वीपर रहता है; तबतक वह पुरुष स्वर्गमें रहता है ॥ २१ ॥

अकीर्तिः कीर्त्यते यस्य लोके भूतस्य कस्यचित्।
पतत्येवाधमाँल्लोकान्यावच्छब्दः स कीर्त्यते ॥ २२ ॥

जिस किसी प्राणीका अपयश जगत्में जबतक रहता है, तबतक वह पुरुष भी नीचलोकमें रहता है ॥ २२ ॥

तस्मात्कल्याणवृत्तः स्यादत्यन्ताय नरो भुवि ।
विहाय वृत्तं पापिष्ठं धर्ममेवाभिसंश्रयेत् ॥ २३ ॥

इस कारणसे मनुष्योंको सदा उत्तम कर्म करना चाहिये और बुरे कर्मोंसे चित्तको हटाकर उत्तम कर्मोंमें लगाना चाहिये ॥ २३ ॥

इत्येतच्छ्रुत्वा स राजाब्रवीत्। तिष्ठ तावद्यावदिदानीमिमौ वृद्धौ यथा स्थानं प्रतिपादयामीति ॥ २४ ॥ स मां प्राकारकर्णं चोलूकं यथोचिते स्थाने प्रतिपाद्य तेनैव यानेन संसिद्धो यथोचितं स्थानं प्रतिपन्नः ॥२५॥ एतन्मयानुभूतं चिरजीविना दृष्टमिति पाण्डवानुवाच मार्कण्डेयः ॥ २६ ॥

इसको सुनकर राजा बोले– तबतक तुम यहीं रहो, जबतक हम इन दोनों बूढोंको इनके स्थानपर न पहुंचा आवें ॥२४॥ वह राजा मुझे और प्राकारकर्ण उल्लूको स्थानोंपर पहुंचाकर उस रथपर चढकर अपने योग्य स्थानपर चले गये ॥२५॥ हे पांडवो! ऐसे मैंने चिरजीवी देखे हैं ऐसे पाण्डवोंसे मार्कण्डेयने कहा ॥ २६ ॥

पाण्डवाश्चोचुः प्रीताः । साधु । शोभनं कृतं भवता राजानमिन्द्रद्युम्नं स्वर्गलोकाच्च्युतं स्वे स्थाने स्वर्गे पुनः प्रतिपादयतेति ॥२७॥ अथैनान्ब्रवीदसौ । ननु देवकीपुत्रेणापि कृष्णेन नरके मज्जमानो राजर्षिर्नृगस्तस्मात्कृच्छ्रात्समुद्धृत्य पुनः स्वर्गं प्रतिपादित इति ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥ ६७९८ ॥

पाण्डव बोले– आपने बहुत अच्छा किया, जो स्वर्गसे गिरे राजा इन्द्रद्युम्नको फिर स्वर्गमें पहुंचाया ॥२७॥ मार्कण्डेय ऋषि फिर पाण्डवोंसे कहने लगे– कि इसी रीतिसे देवकीनन्दन कृष्णने नरकमें पडे हुए राजा नृगको कष्टसे छुडाकर स्वर्गमें पहुंचाया था ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ इक्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९१ ॥ ६७९८ ॥

: १९२ :

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरो धर्मराजः पप्रच्छ भरतर्षभ ।
मार्कण्डेयं तपोवृद्धं दीर्घायुषमकल्मषम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे भरतोंमे श्रेष्ठ जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिर तपसे वृद्ध दीर्घायुवाले तथा पापसे रहित मार्कण्डेयसे पूछने लगे ॥ १ ॥

विदितास्तव धर्मज्ञ देवदानवराक्षसाः ।
राजवंशाश्च विविधा ऋषिवंशाश्च शाश्वताः ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिदस्मिँल्लोके द्विजोत्तम ॥ २ ॥

हे धर्मज्ञ ! आप देवता, दानव, राक्षस, राजवंश और विविध ऋषिवंशको जानते हैं। हे द्विजोत्तम ! इस संसारमें आपसे कुछ छिपा नहीं है ॥ २ ॥

कथां वेत्सि मुने दिव्यां मनुष्योरगरक्षसाम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन कथितं द्विज ॥ ३ ॥

हे मुने ! आप सर्प, मनुष्य, राक्षसोंकी दिव्य कथाओंको जानते हैं। हे द्विज ! वह सब मैं तत्त्वसे सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

कुवलाश्व इति ख्यात इक्ष्वाकुरपराजितः ।
कथं नाम विपर्यासाद्धुन्धुमारत्वमागतः ॥ ४ ॥

हे द्विजसत्तम ! प्रसिद्ध इक्ष्वाकुवंशी राजा कुवलाश्व किसप्रकार नामके विपरीत होनेसे धुन्धुमार नामको प्राप्त हुए थे ॥ ४ ॥

एतदिच्छामि तत्त्वेन ज्ञातुं भार्गवसत्तम ।
विपर्यस्तं यथा नाम कुवलाश्वस्य धीमतः ॥ ५ ॥

हे भृगुवंशियोंमें उत्तम ! कुवलाश्वका यह उलटा नाम कैसे हुआ ? आप मुझसे कहिये। यह मैं ठीक ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु राजन्युधिष्ठिर ।
धर्मिष्ठमिदमाख्यानं धुन्धुमारस्य तच्छृणु ॥ ६ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! मैं तुमसे धर्मयुक्त राजा धुंधुमारकी कथा कहता हूं, तुम सुनो ॥ ६ ॥

यथा स राजा इक्ष्वाकुः कुवलाश्वो महीपतिः ।
धुंधुमारत्वमगमत्तच्छृणुष्व महीपते ॥ ७ ॥

जैसे इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न हुए राजा कुवलाश्व धुन्धुमार नामको प्राप्त हुए थे, वह कथा तुम सुनो ॥ ७ ॥

महर्षिर्विश्रुतस्तात उत्तङ्क इति भारत ।
मरुधन्वसु रम्येषु आश्रमस्तस्य कौरव ॥ ८ ॥

हे कौरव ! हे भारत ! महर्षि उत्तङ्क एक प्रसिद्ध ऋषि थे। उनका आश्रम किसी रमणीय मरुभूमि देशमें था ॥ ८ ॥

उत्तङ्कस्तु महाराज तपोऽतप्यत्सुदुश्चरम् ।
आरिराधयिषुर्विष्णुं बहून्वर्षगणान्विभो ॥ ९ ॥

हे विभो राजन् ! उत्तङ्कने विष्णुको प्रसन्न करनेकी इच्छासे अनेक वर्षतक घोर तप किया ॥९॥

तस्य प्रीतः स भगवान्साक्षाद्दर्शनमेयिवान् ।
दृष्ट्वैव चर्षिः प्रह्वस्तं तुष्टाव विविधैः स्तवैः ॥ १० ॥

उत्तङ्कसे प्रसन्न होकर विष्णुने साक्षात् दर्शन दिये । विष्णु भगवान्को देखकर उत्तङ्कने अनेक प्रकारकी स्तुति की ॥ १० ॥

त्वया देव प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानवाः ।
स्थावराणि च भूतानि जङ्गमानि तथैव च ।
ब्रह्म वेदाश्च वेद्यं च त्वया सृष्टं महाद्युते ॥ ११ ॥

हे देव ! तुमने ही देवता दैत्य मनुष्यों सहित सम्पूर्ण प्रजाको तथा अचर और चर जगत्को बनाया है । हे महातेजस्विन् ! तुमने ब्रह्मा और वेद तथा वेद्यको रचा है ॥ ११ ॥

शिरस्ते गगनं देव नेत्रे शशिदिवाकरौ ।
निःश्वासः पवनश्चापि तेजोऽग्निश्च तवाच्युत ।
बाहवस्ते दिशः सर्वाः कुक्षिश्चापि महार्णवः ॥ १२ ॥

आकाश तुम्हारा सिर, सूर्य और चन्द्रमा तुम्हारे नेत्र, वायु श्वास और अग्नि तेज हैं । हे अच्युत ! सम्पूर्ण दिशा तुम्हारे हाथ और समुद्र कोख हैं ॥ १२ ॥

ऊरू ते पर्वता देव खं नाभिर्मधुसूदन ।
पादौ ते पृथिवी देवी रोमाण्योषधयस्तथा ॥ १३ ॥

हे मधुसूदन ! पर्वत तुम्हारी जांघें और अन्तरिक्ष नाभि है । देवी पृथ्वी तुम्हारे चरण और औषधि तुम्हारे रोम हैं ॥ १३ ॥

इन्द्रसोमाग्निवरुणा देवासुरमहोरगाः ।
प्रह्वास्त्वामुपतिष्ठन्ति स्तुवन्तो विविधैः स्तवैः ॥ १४ ॥

हे देव ! इन्द्र, चन्द्रमा, अग्नि, वरुण, देवता, असुर और नाग नम्र होकर तुम्हारी स्तुति करते हैं और सदा तुम्हारे पास खडे रहते हैं ॥ १४ ॥

त्वया व्याप्तानि सर्वाणि भूतानि भुवनेश्वर ।
योगिनः सुमहावीर्याः स्तुवन्ति त्वां महर्षयः ॥ १५ ॥

हे जगत्पते ! तुम सब प्राणियोंमें व्यापक हो । महापराक्रमी योगी तथा महर्षिलोग तुम्हारी स्तुति करते हैं ॥ १५ ॥

त्वयि तुष्टे जगत्स्वस्थं त्वयि क्रुद्धे महद्भयम् ।
भयानामपनेतासि त्वमेकः पुरुषोत्तम ॥ १६ ॥

हे पुरुषोत्तम ! तुम्हारे प्रसन्न रहनेसे जगत्में प्रसन्नता रहती है, और तुम्हारे क्रोध करनेसे जगत्में भय फैल जाता है, तुम्हीं एक जगत्के भयनाश करनेवाले हो ॥ १६ ॥

देवानां मानुषाणां च सर्वभूतसुखावहः ।
त्रिभिर्विक्रमणैर्देव त्रयो लोकास्त्वयाहृताः ।
असुराणां समृद्धानां विनाशश्च त्वया कृतः ॥ १७ ॥

तुम्हीं देवता और मनुष्योंके सुख देनेवाले हो, तुम्हींने तीन पैरसे तीनों लोकको नापा था। बढे हुए दैत्योंका तुम्हींने नाश किया था ॥ १७ ॥

तव विक्रमणैर्देवा निर्वाणमगमन्परम् ।
पराभवं च दैत्येन्द्रास्त्वयि क्रुद्धे महाद्युते ॥ १८ ॥

तुम्हारे ही प्रतापसे देवोंको परमपद मिला है; हे महाशोभायमान देव ! तुम्हारे ही क्रोधसे दैत्योंकी पराजय हुई ॥ १८ ॥

त्वं हि कर्ता विकर्ता च भूतानामिह सर्वशः ।
आराधयित्वा त्वां देवाः सुखमेधन्ति सर्वशः ॥ १९ ॥

तुम्हीं सब प्राणियोंके कर्त्ता और हर्ता हो; तुम्हारी आराधनासे देवोंके सुखकी वृद्धि होती है ॥ १९ ॥

एवं स्तुतो हृषीकेश उत्तङ्केन महात्मना ।
उत्तङ्कमब्रवीद्विष्णुः प्रीतस्तेऽहं वरं वृणु ॥ २० ॥

हे राजन् ! इस प्रकारसे महात्मा उत्तङ्ककी स्तुतिको सुनकर विष्णु भगवान् उत्तंकसे बोले, हे उत्तंक ! मैं तुमसे प्रसन्न हूं, तुम वर मांगो ॥ २० ॥

उत्तङ्क उवाच

पर्याप्तो मे वरो ह्येष यदहं दृष्टवान्हरिम्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यं स्रष्टारं जगतः प्रभुम् ॥ २१ ॥

उत्तंक बोले– हे भगवन् ! मुझे तुम्हारे दर्शन हुए; इसीमें सब वर प्राप्त हो गया। तुम्हीं सनातन पुरुष और जगतके रचने हारे हो ॥ २१ ॥

विष्णुरुवाच

प्रीतस्तेऽहमलौल्येन भक्त्या च द्विजसत्तम।
अवश्यं हि त्वया ब्रह्मन्मत्तो प्राप्यो वरो द्विज ॥ २२ ॥

विष्णु बोले– हे द्विजसत्तम ! मैं तुम्हारे धीर स्वभावसे प्रसन्न हुआ। तुम मुझसे अवश्य वर मांगो ॥ २२ ॥

एवं संछन्द्यमानस्तु वरेण हरिणा तदा।
उत्तङ्कः प्राञ्जलिर्वव्रे वरं भरतसत्तम ॥ २३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ राजन् ! विष्णुके ऐसे वचन सुनके उत्तङ्कने हाथ जोडकर वर मांगा ॥ २३ ॥

यदि मे भगवान्प्रीतः पुण्डरीकनिभेक्षणः।
धर्मे सत्ये दमे चैव बुद्धिर्भवतु मे सदा।
अभ्यासश्च भवेद्भक्त्या त्वयि नित्यं महेश्वर ॥ २४ ॥

हे भगवन् ! हे कमलनयन ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो यही वर दीजिये, कि मेरी बुद्धि सदा धर्म, सत्य और इन्द्रियोंके जीतनेमें लगी रहे और आपकी भक्तिमें सदा अभ्यास रहे ॥ २४ ॥

विष्णुरुवाच

सर्वमेतद्धि भविता मत्प्रसादात्तव द्विज।
प्रतिभास्यति योगश्च येन युक्तो दिवौकसाम्।
त्रयाणामपि लोकानां महत्कार्यं करिष्यसि ॥ २५ ॥

विष्णु बोले– हे ब्राह्मण ! मेरी कृपासे ऐसा ही होगा, वह योगसे भी तुम्हें प्राप्त होगा, जिसे देवता जानते हैं, इस योगके प्रतापसे तुम संसारका महान् कार्य करोगे ॥ २५ ॥

उत्सादनार्थं लोकानां धुन्धुर्नाम महासुरः।
तपस्यति तपो घोरं शृणु यस्तं हनिष्यति ॥ २६ ॥

हे ब्राह्मण ! धुन्धुमार नामक असुर संसारका नाश करनेके लिये महान् तप करेगा; जो उसे मारेगा, उसका नाम सुनो ॥ २६ ॥

बृहदश्व इति ख्यातो भविष्यति महीपतिः ।
तस्य पुत्रः शुचिर्दान्तः कुवलाश्व इति श्रुतः ॥ २७ ॥

महापराक्रमी बृहदश्व राजा होगा; उसका पुत्र शुद्ध और दाता कुवलाश्व होगा ॥ २७ ॥

स योगबलमास्थाय मामकं पार्थिवोत्तमः ।
शासनात्तव विप्रर्षे धुन्धुमारो भविष्यति ॥ २८ ॥

वह राजश्रेष्ठ मेरे योगका आराधन करेगा; फिर तुम्हारे शासनमें वह धुन्धुमार होगा ॥२८॥

मार्कण्डेय उवाच

उत्तङ्कमेवमुक्त्वा तु विष्णुरन्तरधीयत ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥ ६८२७ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! उत्तङ्कसे इतना कहकर विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके अरण्यकपर्वमें एकसो बानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९२ ॥ ६८२७ ॥

: १९३ :

मार्कण्डेय उवाच

इक्ष्वाकौ संस्थिते राजञ्शशादः पृथिवीमिमाम् ।
प्राप्तः परमधर्मात्मा सोऽयोध्यायां नृपोऽभवत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! इक्ष्वाकुके स्वर्गवासके पीछे परम धार्मिक शशाद नामक राजा अयोध्यामें राजा बने और उन्होंने इस पृथ्वीको प्राप्त किया ॥ १ ॥

शशादस्य तु दायादः ककुत्स्थो नाम वीर्यवान् ।
अनेनाश्चापि काकुत्स्थः पृथुश्चानेनसः सुतः ॥ २ ॥

शशादके वीर्यवान् पुत्र ककुत्स्थ; ककुत्स्थके अनेना, अनेनाके पुत्र पृथु हुए ॥ २ ॥

विष्वगश्वः पृथोः पुत्रस्तस्मादार्द्रस्तु जज्ञिवान् ।
आर्द्रस्य युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्तस्य चात्मजः ॥ ३ ॥

पृथुके पुत्र विष्वगश्व, उस विष्वगश्वके पुत्र आर्द्र हुए, आर्द्रके युवनाश्व,युवनाश्वके श्रावस्त हुए ॥३॥

जज्ञे श्रावस्तको राजा श्रावस्ती येन निर्मिता ।
श्रावस्तस्य तु दायादो बृहदश्वो महाबलः ।
बृहदश्वसुतश्चापि कुवलाश्व इति स्मृतः ॥ ४ ॥

और श्रावस्तके पुत्र श्रावस्तक हुए। हे युधिष्ठिर! श्रावस्तकहीने श्रावस्ती नगरी बसायी। राजा श्रावस्तकके पुत्र महाबल बृहदश्व और बृहदश्वके कुवलाश्व पुत्र हुए ॥ ४ ॥

कुवलाश्वस्य पुत्राणां सहस्राण्येकविंशतिः ।
सर्वे विद्यासु निष्णाता बलवन्तो दुरासदाः ॥ ५ ॥

राजा कुवलाश्वके इक्कीस हजार पुत्र उत्पन्न हुए। वे सब विद्या पढे हुए और बलवान् तथा जीते जानेमें अयोग्य थे ॥ ५ ॥

कुवलाश्वस्तु पितृतो गुणैरभ्यधिकोऽभवत् ।
समये तं ततो राज्ये बृहदश्वोऽभ्यषेचयत् ।
कुवलाश्वं महाराज शूरमुत्तमधार्मिकम् ॥ ६ ॥

कुवलाश्व अपने पितासे भी अधिक गुणवान् था। समय प्राप्त होनेपर राजा बृहदश्वने अपने पुत्र कुवलाश्वको शूर और धार्मिक समझकर राज्य दे दिया ॥ ६ ॥

पुत्रसंक्रामितश्रीस्तु बृहदश्वो महीपतिः ।
जगाम तपसे धीमांस्तपोवनममित्रहा ॥ ७ ॥

शत्रुनाशी राजा बृहदश्व अपने पुत्रको राज्य देकर तप करनेकी इच्छासे वनको चले गये ॥७॥

अथ शुश्राव राजर्षि तमुत्तङ्को युधिष्ठिर ।
वनं संप्रस्थितं राजन्बृहदश्वं द्विजोत्तमः ॥ ८ ॥

हे नरनाथ युधिष्ठिर ! वनकी ओर चलनेवाले राजर्षि बृहदश्वके बारेमें ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ उत्तङ्कने सुना ॥ ८ ॥

तमुत्तङ्को महातेजाः सर्वास्त्रविदुषां वरम् ।
न्यवारयदमेयात्मा समासाद्य नरोत्तमम् ॥ ९ ॥

सब अस्त्रोंके जाननेवाले राजा बृहदश्वको वनमें जाता हुआ सुनकर ब्राह्मणोंमें उत्तम उत्तङ्कने उन्हें रोका ॥ ९ ॥

उत्तङ्क उवाच

भवता रक्षणं कार्यं तत्तावत्कर्तुमर्हसि ।
निरुद्विग्ना वयं राजंस्त्वत्प्रसादाद्वसेमहि ॥ १० ॥

उत्तङ्कने कहा– हे नरोत्तम ! आप प्रजाकी रक्षा कीजिये; यह आपका कर्त्तव्य है, आपकी रक्षासे हम लोग निर्भय रहते हैं ॥ १० ॥

त्वया हि पृथिवी राजन्रक्ष्यमाणा महात्मना ।
भविष्यति निरुद्विग्ना नारण्यं गन्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

हे राजन् ! आप महात्मासे रक्षित होकर पृथ्वी निर्भय रहती है, इसलिये आप वनको जानेके योग्य नहीं है ॥ ११ ॥

पालने हि महान्धर्मः प्रजानामिह दृश्यते।
न तथा दृश्यतेऽरण्ये मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी ॥ १२ ॥

प्रजाकी रक्षा करनेमें जैसा महान् धर्म है, वैसा वनके जानेमें नहीं है, आप अपनी बुद्धिको विपरीत मत कीजिए ॥ १२ ॥

ईदृशो न हि राजेन्द्र धर्मः क्वचन दृश्यते।
प्रजानां पालने यो वै पुरा राजर्षिभिः कृतः।
रक्षितव्याः प्रजा राज्ञा तास्त्वं रक्षितुमर्हसि ॥ १३ ॥

हे राजन् ! प्रजापालनरूप धर्मके सदृश अन्य धर्म नहीं है, इसलिये पहले राजालोग इसको ही करते आये हैं, आप उसीको कीजिए। राजाको प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १३ ॥

निरुद्विग्नस्तपश्चर्तुं न हि शक्नोमि पार्थिव।
ममाश्रमसमीपे वै समेषु मरुधन्वसु ॥ १४ ॥
समुद्रो वालुकापूर्ण उज्जानक इति स्मृतः।
बहुयोजनविस्तीर्णो बहुयोजनमायतः ॥ १५ ॥

आप यदि रक्षणको न करेंगे तो मैं उद्विग्न होकर तप नहीं कर सकूंगा। हे राजन् ! मेरे आश्रमके समीप मारवाड देशमें वालुकासे पूर्ण उज्जानक नामक समुद्र है, जो बहुत योजन लम्बा और चौडा है ॥ १४-१५ ॥

तत्र रौद्रो दानवेन्द्रो महावीर्यपराक्रमः।
मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्नाम सुदारुणः ॥ १६ ॥
अन्तर्भूमिगतो राजन्वसत्यमितविक्रमः।
तं निहत्य महाराज वनं त्वं गन्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

वहींपर महा भयानक महा पराक्रमी मधु और कैटभका पुत्र धुन्ध नामक दैत्य भूमिके भीतर रहता है। हे राजन् ! उसको मारकर आप जंगलको जाना ॥ १६-१७ ॥

शेते लोकविनाशाय तप आस्थाय दारुणम्।
त्रिदशानां विनाशाय लोकानां चापि पार्थिव ॥ १८ ॥

वह राक्षस संसारका नाश करने और देवताओंको जीतनेके लिए भयानक तप कर रहा है ॥ १८ ॥

अवध्यो देवतानां स दैत्यानामथ रक्षसाम्।
नागानामथ यक्षाणां गन्धर्वाणां च सर्वशः।
अवाप्य स वरं राजन्सर्वलोकपितामहात् ॥ १९ ॥

हे राजन् ! उस दैत्यको देवता, दैत्य, राक्षस, सर्प, यक्ष और गन्धर्व नहीं मार सकते हैं, ब्रह्माने उसे यही वर दिया है ॥ १९ ॥

तं विनाशय भद्रं ते मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं शाश्वतीमव्ययां ध्रुवाम् ॥ २० ॥

हे राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम उसे मारो, इससे विपरीत तुम्हारी बुद्धि न हो। उसको मारनेसे तुम्हारी अक्षय कीर्ति होगी ॥ २० ॥

क्रूरस्य स्वपतस्तस्य वालुकान्तर्हितस्य वै ।
संवत्सरस्य पर्यन्ते निःश्वासः संप्रवर्तते ।
यदा तदा भूश्चलति सशैलवनकानना ॥ २१ ॥

वह दुष्ट वालूके भीतर सोता है; एक वर्षके पश्चात् जब यह सांस लेता है, तब पृथ्वी वन और पर्वतोंके सहित हिल जाती है ॥ २१ ॥

तस्य निःश्वासवातेन रज उद्धूयते महत् ।
आदित्यपथमावृत्य सप्ताहं भूमिकम्पनम् ।
सविस्फुलिङ्गं सज्वालं सधूमं ह्यतिदारुणम् ॥ २२ ॥

और उसके सांससे बहुत धूल उडती है; उसके श्वासका वायु सूर्यमण्डलतकको हिला देता है और सात दिनतक उस वायुसे धुआं और चिनगारी और ज्वालाओंके साथ अग्नि निकलती रहती है तथा पृथ्वी हिलती रहती है ॥ २२ ॥

तेन राजन्न शक्नोमि तस्मिन्स्थातुं स्व आश्रमे ।
तं विनाशय राजेन्द्र लोकानां हितकाम्यया ।
लोकाः स्वस्था भवन्त्वद्य तस्मिन्विनिहतेऽसुरे ॥ २३ ॥

इस कारणसे मैं भी अपने आश्रमपर नहीं रह पाता हूं। हे राजेन्द्र ! संसारकी हित-कामनासे आप उसका नाश कीजिये, उस असुरके मरनेसे संसार सुखी रहेगा ॥ २३ ॥

त्वं हि तस्य विनाशाय पर्याप्त इति मे मतिः ।
तेजसा तव तेजश्च विष्णुराप्याययिष्यति ॥ २४ ॥

मेरे विचारमें आप उसके नाश करनेमें समर्थ हैं। हे राजन् ! जब आप उसको मारेंगे, तब विष्णुका अंश आपमें आयेगा ॥ २४ ॥

विष्णुना च वरो दत्तो मम पूर्वं ततो वधे ।
यस्तं महासुरं रौद्रं वधिष्यति महीपतिः ।
तेजस्तं वैष्णवमिति प्रवेक्ष्यति दुरासदम् ॥ २५ ॥

मुझे विष्णुने पहिले वरदान दिया है, कि जो उस घोर राक्षसको मारेगा, उसके शरीरमें विष्णुका अंश आकर सहायक होगा ॥ २५ ॥

तत्तेजस्त्वं समाधाय राजेन्द्र भुवि दुःसहम् ।
तं निषूदय संदुष्टं दैत्यं रौद्रपराक्रमम् ॥ २६ ॥

हे राजेन्द्र ! तुम विष्णुका तेज धारण करके उस महापराक्रमी घोर राक्षसका नाश करो ॥२६॥

न हि धुन्धुर्महातेजास्तेजसाल्पेन शक्यते ।
निर्दग्धुं पृथिवीपाल स हि वर्षशतैरपि ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥ ६८५४ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! वह महापराक्रमी और तेजस्वी राक्षस थोडे बलवालेसे सौ वर्षमें भी नहीं मारा जायेगा ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ तिरानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९३ ॥ ६८५४ ॥

: १९४ :

मार्कण्डेय उवाच

स एवमुक्तो राजर्षिरुत्तङ्केनापराजितः ।
उत्तङ्कं कौरवश्रेष्ठ कृताञ्जलिरथाब्रवीत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे कौरवश्रेष्ठ ! राजर्षि बृहदश्व उत्तङ्कके ऐसे वचन सुनकर हाथ जोडकर बोले ॥१॥

न तेऽभिगमनं ब्रह्मन्मोघमेतद्भविष्यति ।
पुत्रो ममायं भगवन्कुवलाश्व इति स्मृतः ॥ २ ॥

हे ब्राह्मण ! यहां आपका आना बेकार नहीं होगा । मेरा यह पुत्र कुवलाश्वके नामसे प्रसिद्ध है ॥ २ ॥

धृतिमान्क्षिप्रकारी च वीर्येणाप्रतिमो भुवि ।
प्रियं वै सर्वमेतत्ते करिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥

बुद्धिमान् , शीघ्र लडनेवाला पराक्रमी आपके प्रिय कामको करेगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥३॥

पुत्रैः परिवृतः सर्वैः शूरैः परिघबाहुभिः ।
विसर्जयस्व मां ब्रह्मन्न्यस्तशस्त्रोऽस्मि सांप्रतम् ॥ ४ ॥

इसके सब पुत्र ऐसे पराक्रमी हैं, कि जिनके हाथ परिघके समान हैं । हे महाराज ! मैंने शस्त्र त्याग दिये हैं, इस कारणसे आप मुझे जाने दीजिये ॥ ४ ॥

तथास्त्विति च तेनोक्तो मुनिनामिततेजसा ।
स तमादिश्य तनयमुत्तङ्काय महात्मने ।
क्रियतामिति राजर्षिर्जगाम वनमुत्तमम् ॥ ५ ॥

अत्यन्त तेजस्वी उत्तङ्कने कहा– कि ऐसा ही होगा । राजा अपने पुत्रको मुनिके कार्य करनेकी आज्ञा देकर उत्तंकके पाससे चले गये ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क एष भगवन्दैत्यो महावीर्यस्तपोधन ।
कस्य पुत्रोऽथ नप्ता वा एतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे तपोधन ! वह महापराक्रमी दैत्य कौन, किसका पुत्र और किसका पोता था ? यह मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

एवं महाबलो दैत्यो न श्रुतो मे तपोधन ।
एतदिच्छामि भगवन्याथातथ्येन वेदितुम् ।
सर्वमेव महाप्राज्ञ विस्तरेण तपोधन ॥ ७ ॥

हे तपोधन ! ऐसा पराक्रमी दैत्य तो मैंने कभी नहीं सुना । हे महाबुद्धिमान् तपोधन ! मैं उसकी कथा विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूं ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन्निदं सर्वं यथावृत्तं नराधिप ।
एकार्णवे तदा घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
प्रनष्टेषु च भूतेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥ ८ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे भरतश्रेष्ठ नरनाथ युधिष्ठिर ! मैं ठीक ठीक विस्तारपूर्वक उसकी कथा कहता हूं, तुम सुनो । जब सम्पूर्ण स्थावर और जंगम जगत् जलमें डूब गया, और सब चर अचर नष्ट हो गये ॥ ८ ॥

प्रभवः सर्वभूतानां शाश्वतः पुरुषोऽव्ययः ।
सुष्वाप भगवान्विष्णुरप्शय्यामेक एव ह ।
नागस्य भोगे महति शेषस्यामिततेजसः ॥ ९ ॥

तब जगत्के कर्त्ता अविनाशी विष्णु जिनको सिद्ध और मुनि संसारका महेश्वर कहते हैं, अपने योग-बलसे जलपर नागराज शेषके फनपर सो रहे थे ॥ ९ ॥

×

लोककर्ता महाभाग भगवानच्युतो हरिः ।
नागभोगेन महता परिरभ्य महीमिमाम् ॥ १० ॥

लोकोंके रचनेवाले, महाभाग भगवान् अच्युत विशाल नागके फनसे इस पृथ्वीको लपेटकर सोये हुए थे ॥ १० ॥

स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्यसमप्रभम् ।
नाभ्यां विनिःसृतं तत्र यत्रोत्पन्नः पितामहः ।
साक्षाल्लोकगुरुर्ब्रह्मा पद्मे सूर्येन्दुसप्रभे ॥ ११ ॥
चतुर्वेदश्चतुर्मूर्तिस्तथैव च चतुर्मुखः ।
स्वप्रभावाद्दुराधर्षो महाबलपराक्रमः ॥ १२ ॥

सोते हुए विष्णुकी नाभीसे सूर्यके समान प्रकाशवाला कमल उत्पन्न हुआ और उस कमलसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए। सम्पूर्ण लोकोंके गुरु ब्रह्मा सूर्यके समान प्रकाशवाले चार मुखयुक्त चारों वेद लिये अपने प्रभावसे प्रगट हुए। ब्रह्मा किसीसे भी हारने योग्य नहीं थे ॥ ११-१२ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य दानवौ वीर्यवत्तरौ ।
मधुश्च कैटभश्चैव दृष्टवन्तौ हरिं प्रभुम् ॥ १३ ॥
शयानं शयने दिव्ये नागभोगे महाद्युतिम् ।
बहुयोजनविस्तीर्णे बहुयोजनमायते ॥ १४ ॥

कुछ कालके पश्चात् महापराक्रमी दो दैत्य वहां आये। उनका नाम मधु और कैटभ था, उन दैत्योंने महा शोभायमान विष्णुको दिव्य सांपके फनपर सोते हुए देखा। सर्पका फन वहुत योजनोंतक लम्बा और चौडा था ॥ १३-१४ ॥

किरीटकौस्तुभधरं पीतकौशेयवाससम् ।
दीप्यमानं श्रिया राजंस्तेजसा वपुषा तथा ।
सहस्रसूर्यप्रतिममद्भुतोपमदर्शनम् ॥ १५ ॥

उसपर किरीट और कौस्तुभ मणि तथा पीताम्वर धारण किये विष्णु सोते थे। विष्णुका शरीर शोभा और तेजसे विचित्र और हजारों सूर्योंके समान शोभायमान था ॥ १५ ॥

विस्मयः सुमहानासीन्मधुकैटभयोस्तदा ।
दृष्ट्वा पितामहं चैव पद्मे पद्मनिभेक्षणम् ॥ १६ ॥

कमलनयन ब्रह्माको कमलपर बैठे हुए देखकर मधु और कैटभको महा आश्चर्य हुआ ॥ १६ ॥

वित्रासयेतामथ तौ ब्रह्माणममितौजसम्।
विवास्यमानो बहुशो ब्रह्मा ताभ्यां महायशाः।
अकम्पयत्पद्मनालं ततोऽबुध्यत केशवः ॥ १७ ॥

तब मधुकैटभने महा तेजस्वी ब्रह्माको डराया, महायशस्वी ब्रह्माने उनके डरसे कमलकी डंडीको खूब हिलाया, उससे विष्णु जागे ॥ १७ ॥

अथापश्यत गोविन्दो दानवौ वीर्यवत्तरौ।
दृष्ट्वा तावब्रवीद्देवः स्वागतं वां महाबलौ।
ददानि वां वरं श्रेष्ठं प्रीतिर्हि मम जायते ॥ १८ ॥

विष्णुने जागकर महाबली दोनों दैत्योंको देखा, उनको देखकर विष्णुने कहा– हे महाबली दैत्यो ! तुम्हारा कल्याण हो, मैं तुमसे प्रसन्न होकर तुमको वर देता हूँ ॥ १८ ॥

तौ प्रहस्य हृषीकेशं महावीर्यौ महासुरौ।
प्रत्यब्रूतां महाराज सहितौ मधुसूदनम् ॥ १९ ॥

महाअभिमानी बलवान् दैत्योंने मधुनाशक और हृषीकेशसे हंसकर कहा ॥ १९ ॥

आवां वरय देव त्वं वरदौ स्वः सुरोत्तम।
दातारौ स्वो वरं तुभ्यं तद्ब्रूह्यविचारयन् ॥ २० ॥

हे देवश्रेष्ठ ! हम दाता हैं, जो तुम्हारी इच्छा हो, हमसे वर मांगो, हम तुम्हें विना विचारे देंगे ॥ २० ॥

भगवानुवाच

प्रतिगृह्णे वरं वीरावीप्सितश्च वरो मम।
युवां हि वीर्यसंपन्नौ न वामस्ति समः पुमान् ॥ २१ ॥

भगवान् बोले– हे पराक्रमी वीरो ! मैं तुमसे वर मांगता हूं। तुम दोनोंके समान कोई मनुष्य बलवान् नहीं है ॥ २१ ॥

वध्यत्वमुपगच्छेतां मम सत्यपराक्रमौ।
एतदिच्छाम्यहं कामं प्राप्तुं लोकहिताय वै ॥ २२ ॥

तुम सत्यपराक्रमी हो, इसलिये तुम मुझे यही वरदान दो, कि मैं तुम्हें मार डालूं, संसारके कल्याणके लिये मैं यही वर मांगता हूं ॥ २२ ॥

मधुकैटभावूचतु

अनृतं नोक्तपूर्वं नौ स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा।
सत्ये धर्मे च निरतौ विद्ध्यावां पुरुषोत्तम ॥ २३ ॥

मधुकैटभ बोले– हे पुरुषोत्तम ! हम दोनों धर्मको करनेवाले हैं, हमने कभी हंसीमें भी झूठ नहीं बोला ॥ २३ ॥

बले रूपे च वीर्ये च शमे च न समोऽस्ति नौ।
धर्मे तपसि दाने च शीलसत्त्वदमेषु च ॥ २४ ॥

हमारे समान जगत्में बल, रूप, शूरता, धर्म, तपस्या, दान, शील और इन्द्रियोंको रोकनेमें कोई समर्थ नहीं है ॥ २४ ॥

उपप्लवो महानस्मानुपावर्तत केशव।
उक्तं प्रतिकुरुष्व त्वं कालो हि दुरतिक्रमः ॥ २५ ॥

हे केशव ! हमको बडा दुःख प्राप्त हुआ, पर कालकी गतिको कोई नहीं रोक सकता है, अतः अब तुम अपने कहे हुए वचनको पूरा करो ॥ २५ ॥

आवामिच्छावहे देव कृतमेकं त्वया विभो।
अनावृतेऽस्मिन्नाकाशे वधं सुरवरोत्तम ॥ २६ ॥

हे देव ! हम दोनों तुम्हारे द्वारा एक काम किया जाना चाहते हैं कि जलरहित स्थानमें मरना चाहते हैं ॥ २६ ॥

पुत्रत्वमभिगच्छाव तव चैव सुलोचन।
वर एष वृतो देव तद्विद्धि सुरसत्तम ॥ २७ ॥

और यह भी चाहते हैं, कि मरनेके पीछे हम दोनों तुम्हारे पुत्र हों। हे देवताओंमें उत्तम ! ऐसा कार्य कीजिये जिससे हमारी इच्छा पूर्ण हो ॥ २७ ॥

भगवानुवाच

बाढमेवं करिष्यामि सर्वमेतद्भविष्यति ॥ २८ ॥

विष्णुने कहा– कि मैं सब ऐसा ही करूंगा। वह सब होगा ॥ २८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

विचिन्त्य त्वथ गोविन्दो नापश्यद्यदनावृतम्।
अवकाशं पृथिव्यां वा दिवि वा मधुसूदनः ॥ २९ ॥

मार्कण्डेय बोले– तब विष्णुने सब स्थानको जलसे भरा देखकर सोचा, कि इनको कहां मारें ॥ २९ ॥

स्वकावनावृतावूरू दृष्ट्वा देववरस्तदा।
मधुकैटभयो राजञ्शिरसी मधुसूदनः।
चक्रेण शितधारेण न्यकृन्तत महायशाः ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥ ६८८४ ॥

पीछे बिचारा कि मेरी जंघा जलमें डूबी नहीं है, तब उसीपर मधु. और कैटभके शिरको रखके तेज धारवाले चक्रसे काट डाला ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ चौरानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९४ ॥ ॥ ६८८४ ॥

१९५

मार्कण्डेय उवाच

धुन्धुर्नाम महातेजास्तयोः पुत्रो महाद्युतिः ।
स तपोऽतप्यत महन्महावीर्यपराक्रमः ॥ १ ॥
अतिष्ठदेकपादेन कृशो धमनिसंततः ।
तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतो वरं वव्रे स च प्रभो ॥ २ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे महाराज ! उन मधुकैटभ दैत्योंका महा पराक्रमी पुत्र धुन्धु हुआ । तब उसने तप किया । जब एक पैरसे खडा होकर बडा भयानक तप करते करते उसके शरीरकी नसें दीखने लगीं, तब ब्रह्माने उसे वर दिया ॥ १-२ ॥

देवदानवयक्षाणां सर्पगन्धर्वरक्षसाम् ।
अवध्योऽहं भवेयं वै वर एष वृतो मया ॥ ३ ॥

धुन्धुने ब्रह्मासे यह वर मांगा, कि मैं दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सर्पोंसे न मारा जाऊं ॥ ३ ॥

एवं भवतु गच्छेति तमुवाच पितामहः ।
स एवमुक्तस्तत्पादौ मूर्ध्ना स्पृश्य जगाम ह ॥ ४ ॥

ब्रह्माने कहा, कि ऐसा ही होगा । धुन्धु ब्रह्माके चरणोंको नमस्कार करके वहांसे चला गया ॥ ४ ॥

स तु धुन्धुर्वरं लब्ध्वा महावीर्यपराक्रमः ।
अनुस्मरन्पितृवधं ततो विष्णुमुपाद्रवत् ॥ ५ ॥

और वह महापराक्रमी धुन्धुवर पाकर अपने पिताका वैर याद करके प्रथम विष्णुको मारनेके लिए पहुंचा ॥ ५ ॥

स तु देवान्सगन्धर्वाञ्जित्वा धुन्धुरमर्षणः ।
बबाध सर्वानसकृद्देवान्विष्णुं च वै भृशम् ॥ ६ ॥
समुद्रो वालुकापूर्ण उज्जानक इति स्मृतः ।
आगम्य च स दुष्टात्मा तं देशं भरतर्षभ ।
बाधते स्म परं शक्त्या तमुत्तङ्काश्रमं प्रभो ॥ ७ ॥

वहां जाकर महाक्रोधी धुन्धुने अनेक देवता और गन्धर्वोंको मारा; विष्णुको महा व्याकुल करके वालूसे भरे हुए उज्जानक नामसे प्रसिद्ध समुद्रमें चला गया; हे भरतर्षभ ! उस दुष्ट पापात्माने आकर मारवाड देशको महा कष्ट दिया; हे नरनाथ ! वह उत्तंकके आश्रममें आकर बहुत उपद्रव करने लगा ॥ ६-७ ॥

अन्तर्भूमिगतस्तत्र वालुकान्तर्हितस्तदा।
मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्भीमपराक्रमः ॥ ८ ॥
शेते लोकविनाशाय तपोबलसमाश्रितः।
उत्तङ्कस्याश्रमाभ्याशे निःश्वसन्पावकार्चिषः ॥ ९ ॥

वह भूमिके नीचे वालूमें छिपा रहता था; यह मधुकैटभका पुत्र महा पराक्रमी धुंधु जगत्का नाश करनेके लिये ही सोता था। उसे अपने तपका बडा बल था। उत्तङ्क ऋषिके आश्रमके पास जब सांस लेता था, तब उसकी सांससे अग्नि निकलती थी ॥ ८-९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सभृत्यबलवाहनः।
कुवलाश्वो नरपतिरन्वितो बलशालिनाम् ॥ १० ॥
सहस्रैरेकविंशत्या पुत्राणामरिमर्दनः।
प्रायादुत्तङ्कसहितो धुन्धोस्तस्य निवेशनम् ॥ ११ ॥

इसी बीच अपने नौकर सेना और वाहनके साथ राजा शत्रुनाशी कुवलाश्व अपने बलशाली इक्कीस हजार पुत्रोंको लेकर उत्तङ्कके साथ धुन्धुके स्थानकी तरफ चले ॥ १०-११ ॥

तमाविशत्ततो विष्णुर्भगवांस्तेजसा प्रभुः।
उत्तङ्कस्य नियोगेन लोकानां हितकाम्यया ॥ १२ ॥

जब राजा चले तब उत्तङ्कके तपके प्रतापसे जगत्की रक्षा करनेके लिए विष्णुका तेज राजामें प्रविष्ट हो गया ॥ १२ ॥

तस्मिन्प्रयाते दुर्धर्षे दिवि शब्दो महानभूत्।
एष श्रीमान्नृपसुतो धुन्धुमारो भविष्यति ॥ १३ ॥

जब राजा कुवलाश्व लडनेको चले, तब आकाशमें देवोंने शब्द किया, कि राजाका पुत्र यह श्रीमान् धुंधुको मारेगा ॥ १३ ॥

दिव्यैश्च पुष्पैस्तं देवाः समन्तात्पर्यवाकिरन्।
देवदुन्दुभयश्चैव नेदुः स्वयमुदीरिताः ॥ १४ ॥

देवोंने आकाशसे दिव्य फूलोंकी चारों ओरसे वर्षा की तथा स्वयं ही बजाई गई देवोंकी दुन्दुभियां बजने लगीं ॥ १४ ॥

शीतश्च वायुः प्रववौ प्रयाणे तस्य धीमतः।
विपांसुलां महीं कुर्वन्ववर्ष च सुरेश्वरः ॥ १५ ॥

जब बुद्धिमान् राजा कुवलाश्वने प्रस्थान किया, तब शीतल वायु चलने लगी। इन्द्र इस कारणसे मेघ बरसाने लगे, कि जिससे धूल न उडे ॥ १५ ॥

अन्तरिक्षे विमानानि देवतानां युधिष्ठिर ।
तत्रैव समदृश्यन्त धुन्धुर्यत्र महासुरः ॥ १६ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! जहां महासुर धुंधु रहता था वहींपर देवोंके सैंकडों विमान आकाशमें दीखने लगे ॥ १६ ॥

कुवलाश्वस्य धुन्धोश्च युद्धकौतूहलान्विताः ।
देवगन्धर्वसहिताः समवैक्षन्महर्षयः ॥ १७ ॥

कुवलाश्व और धुंधुके भयानक युद्धको देखनेकी इच्छासे देवता और गन्धर्व ऋषियोंके सहित वहां इकट्ठे हो गये ॥ १७ ॥

नारायणेन कौरव्य तेजसाप्यायितस्तदा ।
स गतो नृपतिः क्षिप्रं पुत्रैस्तैः सर्वतोदिशम् ॥ १८ ॥

हे कुरुवंशी ! विष्णुके तेजके प्रतापसे राजा कुवलाश्व अपने पुत्रोंके सहित चारों ओर धुन्धुको ढूंढने लगे ॥ १८ ॥

अर्णवं खानयामास कुवलाश्वो महीपतिः ।
कुवलाश्वस्य पुत्रैस्तु तस्मिन्वै वालुकार्णवे ॥ १९ ॥

राजा कुवलाश्व और उनके पुत्रोंने उस वालुकामें खोद खोदकर समुद्र बना दिया ॥ १९ ॥

सप्तभिर्दिवसैः खात्वा दृष्टो धुन्धुर्महाबलः ।
आसीद्घोरं वपुस्तस्य वालुकान्तर्हितं महत् ।
दीप्यमानं यथा सूर्यस्तेजसा भरतर्षभ ॥ २० ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! सात दिनके बाद खोदते खोदते महाबली धुंधुका भयानक शरीर उस वालुकामें मिला । उसका शरीर सूर्यके समान प्रकाशमान था ॥ २० ॥

ततो धुन्धुर्महाराज दिशमाश्रित्य पश्चिमाम् ।
सुप्तोऽभूद्राजशार्दूल कालानलसमद्युतिः ॥ २१ ॥

हे राजशार्दूल महाराज ! उस समय धुंधु प्रलयकालकी अग्निके समान पश्चिम दिशामें सोया हुआ था ॥ २१ ॥

कुवलाश्वस्य पुत्रैस्तु सर्वतः परिवारितः ।
अभिद्रुतः शरैस्तीक्ष्णैर्गदाभिर्मुसलैरपि ।
पट्टिशैः परिघैः प्रासैः खड्गैश्च विमलैः शितैः ॥ २२ ॥

राजा कुवलाश्वके पुत्रोंने चारों ओरसे उसे वालूमें घेर लिया और वे तीक्ष्ण बाण, गदा, मूसल, पट्टिश, परिघ और खड्गसे मारने लगे ॥ २२ ॥

स वध्यमानः संक्रुद्धः समुत्तस्थौ महाबलः ।
क्रुद्धश्चाभक्षयत्तेषां शस्त्राणि विविधानि च ॥ २३ ॥

उनकी मारसे क्रोध करके महाबली धुंधु दैत्य उठा और क्रोधित होकर उनके उन सब विविध अस्त्रोंको खा गया ॥ २३ ॥

आस्याद्वमन्पावकं स संवर्तकसमं तदा ।
तान्सर्वान्नृपतेः पुत्रानदहत्स्वेन तेजसा ॥ २४ ॥

उसके मुखसे प्रलयकालकी अग्निके समान अग्नि निकली और वह असुर अपने तेजसे राजाके पुत्रोंको जलाने लगा ॥ २४ ॥

मुखजेनाग्निना क्रुद्धो लोकानुद्वर्तयन्निव ।
क्षणेन राजशार्दूल पुरेव कपिलः प्रभुः ।
सगरस्यात्मजान्क्रुद्धस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २५ ॥

उसके मुखसे उत्पन्न हुई अग्निसे जगत् ऐसे जलने लगा, जैसे कपिलके क्रोधकी अग्निसे सगरके पुत्र जले थे । हे राजन् ! वह कर्म सब लोगोंको अद्भुत मालूम हुआ ॥ २५ ॥

तेषु क्रोधाग्निदग्धेषु तदा भरतसत्तम ।
तं प्रबुद्धं महात्मानं कुम्भकर्णमिवापरम् ।
आससाद महातेजाः कुवलाश्वो महीपतिः ॥ २६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! राजाके पुत्र जब अग्निसे जल गये, तब महातेजस्वी राजा कुवलाश्व दूसरे कुम्भकर्णके समान बलशाली उस जाग्रत हुए महात्मा धुन्धुकी तरफ दौडे ॥ २६ ॥

तस्य वारि महाराज सुस्राव बहु देहतः ।
तदापीयत तत्तेजो राजा वारिमयं नृप ।
योगी योगेन वह्निं च शमयामास वारिणा ॥ २७ ॥

हे महाराज ! जब उस राजाकी देहसे बहुत-सा जल निकला, तब राजाने जलमय निज तेजसे दैत्यकी अग्निको शान्त किया । योगी कुवलाश्वने अपने योग-बलसे दैत्यकी अग्निको शान्त किया ॥ २७ ॥

ब्रह्मास्त्रेण तदा राजा दैत्यं क्रूरपराक्रमम् ।
ददाह भरतश्रेष्ठ सर्वलोकाभयाय वै ॥ २८ ॥

हे राजेन्द्र युधिष्ठिर ! उस महापराक्रमी दैत्यको भस्म करनेके लिए ब्रह्मास्त्र छोडा । हे भरतकुलश्रेष्ठ ! ब्रह्मास्त्रने लोकोंके हितके लिये उस दैत्यको भस्म कर दिया ॥ २८ ॥

सोऽस्त्रेण दग्ध्वा राजर्षिः कुवलाश्वो महासुरम्।
सुरशत्रुममित्रघ्नस्त्रिलोकेश इवापरः।
धुन्धुमार इति ख्यातो नाम्ना समभवत्ततः ॥ २९ ॥

राजर्षि शत्रुनाशी कुवलाश्व ब्रह्मास्त्रसे उस महासुरको भस्म करके दूसरे इन्द्रके समान शोभायमान हुए। हे राजन् ! धुन्धुके मारनेसे राजा कुवलाश्व धुन्धुमारके नामसे प्रसिद्ध हुए ॥२९॥

प्रीतैश्च त्रिदशैः सर्वैर्महर्षिसहितैस्तदा।
वरं वृणीष्वेत्युक्तः स प्राञ्जलिः प्रणतस्तदा।
अतीव मुदितो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ३० ॥

देवता और महर्षियोंने प्रसन्न होकर राजा कुवलाश्वसे कहा– कि हम लोग तुमसे प्रसन्न हैं, जो इच्छा हो सो मांगो। राजा कुवलाश्वने हाथ जोड और प्रसन्न होकर कहा ॥ ३० ॥

दद्यां वित्तं द्विजाग्र्येभ्यः शत्रूणां चापि दुर्जयः।
सख्यं च विष्णुना मे स्याद्भूतेष्वद्रोह एव च।
धर्मे रतिश्च सततं स्वर्गे वासस्तथाक्षयः ॥ ३१ ॥

महाराज ! मैं यही वर मांगता हूं, कि मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दान देऊं, शत्रुओंसे न जीता जाऊं, विष्णुसे मेरी मित्रता रहे, प्राणियोंसे द्वेष न करूं और धर्ममें प्रीति रहे तथा स्वर्गमें मुझे अक्षय वास मिले ॥ ३१ ॥

तथास्त्विति ततो देवैः प्रीतैरुक्तः स पार्थिवः।
ऋषिभिश्च सगन्धर्वैरुत्तङ्केन च धीमता ॥ ३२ ॥

सब देवताओंने ऋषि, गन्धर्व और बुद्धिमान् महात्मा उत्तंकने प्रसन्न होकर कहा, कि ऐसा ही होगा ॥ ३२ ॥

सभाज्य चैनं विविधैराशीर्वादैस्ततो नृपम्।
देवा महर्षयश्चैव स्वानि स्थानानि भेजिरे ॥ ३३ ॥

आदरके सहित राजाको अनेक आशीर्वाद देकर देवता और ऋषि भी अपने आश्रमपर चले गये ॥ ३३ ॥

×

तस्य पुत्रास्त्रयः शिष्टा युधिष्ठिर तदाभवन्।
दृढाश्वः कपिलाश्वश्च चन्द्राश्वश्चैव भारत।
तेभ्यः परंपरा राजन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ॥ ३४॥
एवं स निहतस्तेन कुवलाश्वेन सत्तम।
धुन्धुर्दैत्यो महावीर्यो मधुकैटभयोः सुतः ॥ ३५॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! राजा कुवलाश्वके उस युद्धमें तीन पुत्र बच गये, एक दृढाश्व, दूसरा कपिलाश्व और तीसरा चन्द्राश्व। हे राजन् ! उन्हीं तीनोंसे महात्मा इक्ष्वाकुओंकी यह परम्परा चली है। वह मधुकैटभका पुत्र महाबली धुन्धु कुवलाश्वके द्वारा मारा गया॥ ३४-३५॥

कुवलाश्वस्तु नृपतिर्धुन्धुमार इति स्मृतः।
नाम्ना च गुणसंयुक्तस्तदा प्रभृति सोऽभवत् ॥ ३६॥

इसप्रकारसे गुणवान् राजा कुवलाश्व धुन्धुको मारनेके कारण धुन्धुमार नामसे प्रसिद्ध हुए॥ ३६॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
धौन्धुमारमुपाख्यानं प्रथितं यस्य कर्मणा ॥ ३७॥

यह धुन्धुमारोपाख्यान जो उसके कर्मसे बडा विख्यात हुआ, तुम्हारे प्रश्नके अनुसार सब कहा है॥ ३७॥

इदं तु पुण्यमाख्यानं विष्णोः समनुकीर्तनम्।
शृणुयाद्यः स धर्मात्मा पुत्रवांश्च भवेन्नरः ॥ ३८॥
आयुष्मान्धृतिमांश्चैव श्रुत्वा भवति पर्वसु।
न च व्याधिभयं किंचित्प्राप्नोति विगतज्वरः ॥ ३९॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९५॥ ६९२३॥

यह धुंधुमारका चरित्र पुण्यको बढानेवाला और कीर्त्तिका विस्तार करनेवाला है, पर्वविशेषमें जो पढे वा सुने वह धर्मात्मा और पुत्रवान् होता है। दीर्घायु, और धनवान् होता है, उसको रोगोंका भय नहीं होता है, और सुखी रहता है॥ ३८-३९॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ पिचानवेवां अध्याय समाप्त॥ १९५॥ ६९२३॥

१९६

वैशम्पायन उवाच

तनो युधिष्ठिरो राजा मार्कण्डेयं महाद्युतिम्।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठो धर्मप्रश्नं सुदुर्वचम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! तब भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने महा तेजस्वी मार्कण्डेय मुनिसे धर्मका कठिन प्रश्न किया ॥ १ ॥

श्रोतुमिच्छामि भगवन्स्त्रीणां माहात्म्यमुत्तमम्।
कथ्यमानं त्वया विप्र सूक्ष्मं धर्मं च तत्त्वतः ॥ २ ॥

कि, हे भगवन् ! मैं स्त्रियोंका उत्तम धर्म सुनना चाहता हूं, क्योंकि यह धर्म बहुत सूक्ष्म है, आप कृपा करके मुझसे कहिये ॥ २ ॥

प्रत्यक्षेण हि विप्रर्षे देवा दृश्यन्ति सत्तम।
सूर्याचन्द्रमसौ वायुः पृथिवी वह्निरेव च ॥ ३ ॥

हे विप्रर्षे ! सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पृथ्वी और अग्नि, ये प्रत्यक्ष देवता हैं ॥ ३ ॥

पिता माता च भगवन्गाव एव च सत्तम।
यच्चान्यदेव विहितं तच्चापि भृगुनन्दन ॥ ४ ॥

हे श्रेष्ठ ऋषे ! ऐसे ही पिता, माता, भगवान् और गाय भी प्रत्यक्ष देवता हैं। तथा शास्त्र प्रतिपादित अतिथि आदि भी प्रत्यक्ष देव हैं ॥ ४ ॥

मन्येऽहं गुरुवत्सर्वमेकपत्न्यस्तथा स्त्रियः।
पतिव्रतानां शुश्रूषा दुष्करा प्रतिभाति मे ॥ ५ ॥

जैसे ये सब गुरुके समान मान्य हैं, वैसे ही पतिव्रता स्त्री भी मानने योग्य हैं। पतिव्रताओंका धर्म बहुत कठिन जान पडता है ॥ ५ ॥

पतिव्रतानां माहात्म्यं वक्तुमर्हसि नः प्रभो।
निरुध्य चेन्द्रियग्रामं मनः संरुध्य चानघ।
पतिं दैवतवच्चापि चिन्तयन्त्यः स्थिता हि याः ॥ ६ ॥

इसलिये आप पतिव्रताओंका महाम्य हम लोगोंसे वर्णन कीजिये। हे निष्पाप ! जो सब इन्द्रियों और मनको रोककर केवल पतिको ही देवता मानकर उन्हींकी चिन्तामें मग्न रहती हैं ॥ ६ ॥

भगवन्दुष्करं ह्येतत्प्रतिभाति मम प्रभो ।
मातापितृषु शुश्रूषा स्त्रीणां भर्तृषु च द्विज ॥ ७ ॥
स्त्रीणां धर्मात्सुघोराद्धि नान्यं पश्यामि दुष्करम् ।
साध्वाचाराः स्त्रियो ब्रह्मन्यत्कुर्वन्ति सदादृताः ।
दुष्करं बत कुर्वन्ति पितरो मातरश्च वै ॥ ८ ॥

पतिको ही देवता मानना और उसका ध्यान करना मुझको बहुत कठिन जान पडता है। पुत्रसे माता, पिताकी सेवा और स्त्रीसे पतिकी सेवा करना कठिन है तथापि स्त्री धर्मसे कठिन और धर्म नहीं दीख पडता है। अच्छे आचारवाली स्त्रियां जो आदरके सहित व्रत करती हैं, तथा पुरुष आदरपूर्वक मातापितासे जो आचार करते हैं वह बहुत ही कठिन प्रतीत होता है ॥ ७–८ ॥

एकपत्न्यश्च या नार्यो याश्च सत्यं वदन्त्युत ।
कुक्षिणा दश मासांश्च गर्भं संधारयन्ति याः ।
नार्यः कालेन संभूय किमद्भुततरं ततः ॥ ९ ॥

जो स्त्रियां केवल पतिको देवता मानती हैं, सत्य बोलती हैं, जो दस महीनेतक गर्भ धारण करती हैं, इससे ज्यादा अद्भुत और क्या हो सकता है? ॥ ९ ॥

संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि ।
प्रजायन्ते सुतान्नार्यो दुःखेन महता विभो ।
पुष्णन्ति चापि महता स्नेहेन द्विजसत्तम ॥ १० ॥

जो पुत्र-उत्पत्तिके समय प्राणसंकट और महा वेदनाको पाकर भी बडे कष्टसे पुत्र उत्पन्न करती हैं, फिर बडे स्नेहके साथ पुत्रको पालती हैं ॥ १० ॥

ये च क्रूरेषु सर्वेषु वर्तमाना जुगुप्सिताः ।
स्वकर्म कुर्वन्ति सदा दुष्करं तच्च मे मतम् ॥ ११ ॥

और जो स्त्रियां क्रूरकर्ममें डूबकर तथा निंद्य होकर स्वकर्म ही करती हैं, यह सब मुझे बहुत कठिन जान पडते हैं ॥ ११ ॥

क्षत्रधर्मसमाचारं तथ्यं चाख्याहि मे द्विज ।
धर्मः सुदुर्लभो विप्र नृशंसेन दुरात्मना ॥ १२ ॥

हे ब्राह्मणोत्तम ! क्षत्रियोंके धर्मका सार भी मुझसे कहिये; निंद्य पुरुषको महात्माओंके धर्मका आचरण करना भी कठिन है ॥ १२ ॥

एतदिच्छामि भगवन्प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
श्रोतुं भृगुकुलश्रेष्ठ शुश्रूषे तव सुव्रत ॥ १३ ॥

हे प्रश्नोंको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ ! इस प्रश्नको आप यथावत् कहिये, हे उत्तम व्रतधारी तथा भृगुकुलमें श्रेष्ठ भगवन् ! मुझे सुननेकी बडी इच्छा है ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

हन्त ते सर्वमाख्यास्ये प्रश्नमेतं सुदुर्वचम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ गदतस्तन्निबोध मे ॥ १४ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! हे भरतश्रेष्ठ ! मैं इस कठिन प्रश्नके उत्तरको कहता हूं । आप कहनेवाले मेरे वचनोंको सुनें ॥ १४ ॥

मातरं सदृशीं तात पितॄनन्ये च मन्यते ।
दुष्करं कुरुते माता विवर्धयति या प्रजाः ॥ १५ ॥

कोई माताको अधिक, कोई पिताको अधिक मानते हैं । पर माता बहुत कठिन काम करती है, जो पुत्रोंका पालन करती है ॥ १५ ॥

तपसा देवतेज्याभिर्वन्दनेन तितिक्षया ।
अभिचारैरुपायैश्च ईहन्ते पितरः सुतान् ॥ १६ ॥

तपस्या, देवताओंकी पूजा और शिक्षा आदि उपायोंसे पिता पुत्रकी उन्नति करता है ॥१६॥

एवं कृच्छ्रेण महता पुत्रं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
चिन्तयन्ति सदा वीर कीदृशोऽयं भविष्यति ॥ १७ ॥

इस रीतिसे बडे कष्टके साथ दुर्लभ पुत्रको पाकर पिता और माता यही विचार करते हैं, कि यह पुत्र कैसा होगा ॥ १७ ॥

आशंसते च पुत्रेषु पिता माता च भारत ।
यशः कीर्तिमथैश्वर्यं प्रजा धर्मं तथैव च ॥ १८ ॥

हे राजन् ! पिता और माता पुत्रसे यश, कीर्ति, ऐश्वर्य, सन्तान और धनकी आशा रखते हैं ॥ १८ ॥

तयोराशां तु सफलां यः करोति स धर्मवित् ।
पिता माता च राजेन्द्र तुष्यतो यस्य नित्यदा ।
इह प्रेत्य च तस्याथ कीर्तिर्धर्मश्च शाश्वतः ॥ १९ ॥
नैव यज्ञः स्त्रियः कश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ।
या तु भर्तरि शुश्रूषा तया स्वर्गमुपाश्नुते ॥ २० ॥

हे राजेन्द्र ! जो उनकी आशाको पूरी करता है, वह धर्मको जाननेवाला है । जिससे माता और पिता सन्तुष्ट होते हैं, उसकी इस लोक और परलोकमें कीर्त्ति सदा बनी रहती है । हे राजन् ! स्त्रियोंके लिए श्राद्ध, व्रत और यज्ञ आदि कोई क्रिया नहीं लिखी है; स्त्री जो पतिकी सेवा करती है, उसीसे उसको स्वर्ग मिलता है ॥ १९-२० ॥

एतत्प्रकरणं राजन्नाधिकृत्य युधिष्ठिर।
पतिव्रतानां नियतं धर्मं चावहितः शृणु ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥ ६९४४ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर! इसी प्रकरणमें पतिव्रता स्त्रीका धर्म कहता हूं, तुम सावधान होकर सुनो ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ छियानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९६ ॥ ६९४४ ॥

: १९७ :

मार्कण्डेय उवाच

कश्चिद्द्विजातिप्रवरो वेदाध्यायी तपोधनः।
तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– किसी देशमें एक जातिश्रेष्ठ, वेद पढनेवाले तपोधन, तपस्वी, धर्मात्मा कौशिक नामक ब्राह्मण रहते थे ॥ १ ॥

साङ्गोपनिषदान्वेदानधीते द्विजसत्तमः।
स वृक्षमूले कस्मिंश्चिद्वेदानुच्चारयन्स्थितः ॥ २ ॥

वे ब्राह्मणश्रेष्ठ अङ्ग उपनिषदोंके सहित वेद पढते थे। एक दिन वे किसी वृक्षके नीचे बैठे वेद पढ रहे थे ॥ २ ॥

उपरिष्टाच्च वृक्षस्य बलाका संन्यलीयत।
तया पुरीषमुत्सृष्टं ब्राह्मणस्य तदोपरि ॥ ३ ॥

और उस वृक्षपर एक बगुली छिपी हुई बैठी थी। उसने ब्राह्मणके ऊपर बीट कर दी ॥ ३ ॥

तामवेक्ष्य ततः क्रुद्धः समपध्यायत द्विजः।
भृशं क्रोधाभिभूतेन बलाका सा निरीक्षिता ॥ ४ ॥

उसको देखकर ब्राह्मण बहुत ही क्रोधित हो गया और अतिशय क्रोधसे उसने बगुलीको देखा ॥ ४ ॥

अपध्याता च विप्रेण न्यपतद्वसुधातले।
बलाकां पतितां दृष्ट्वा गतसत्त्वामचेतनाम्।
कारुण्यादभिसंतप्तः पर्यशोचत तां द्विजः ॥ ५ ॥

अकार्यं कृतवानस्मि रागद्वेषबलात्कृतः।
इत्युक्त्वा बहुशो विद्वान्ग्रामं भैक्षाय संश्रितः ॥ ६ ॥

ब्राह्मणके देखनेसे बगुली मरकर पृथ्वीपर गिर गई। अचेतन और गतप्राण होकर बगुलीको पृथ्वीपर गिरा देखकर ब्राह्मणको बहुत दया आई और वे संतप्त होकर बहुत शोक करने लगे। कि मैंने क्रोधके वशमें होकर यह बडा बुरा काम किया। ऐसे कहकर वह विद्वान् ब्राह्मण गांवमें भीख मांगने चले गये ॥ ५-६ ॥

ग्रामे शुचीनि प्रचरन्कुलानि भरतर्षभ ।
प्रविष्टस्तत्कुलं यत्र पूर्वं चरितवांस्तु सः ॥ ७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! गांवमें जाकर उत्तम कुलोंमें भिक्षा मांगने लगे। मांगते मांगते एक उत्तम कुलके घर जाकर भिक्षा मांगी और कहा ॥ ७ ॥

देहीति याचमानो वै तिष्ठेत्युक्तः स्त्रिया ततः ।
शौचं तु यावत्कुरुते भाजनस्य कुटुम्बिनी ॥ ८ ॥

कि कुछ दो ! तब स्त्रीने कहा खडे रहो, देती हूं। वह स्त्री बरतन मांज रही थी ॥ ८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन्क्षुधासंपीडितो भृशम् ।
भर्ता प्रविष्टः सहसा तस्या भरतसत्तम ॥ ९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ राजन् ! इतनेहीमें उसका पति भूखसे अत्यन्त व्याकुल होकर उसके घरमें आया ॥९॥

सा तु दृष्ट्वा पतिं साध्वी ब्राह्मणं व्यपहाय तम् ।
पाद्यमाचमनीयं च ददौ भर्त्रे तथासनम् ॥ १० ॥

और स्त्री पतिको देखकर ब्राह्मणको भीख देना भूल गई; और अपने पतिको पाद्य, आचमन और आसन देने लगी ॥ १० ॥

प्रह्वा पर्यचरच्चापि भर्तारमसितेक्षणा ।
आहारेणाथ भक्ष्यैश्च वाक्यैः सुमधुरैस्तथा ॥ ११ ॥

उस काली आंखोंवाली सुंदरी स्त्रीने अपने पतिको खानेके लिए भक्षण करने योग्य मधुर अन्न आदरसे दिया और मीठे शब्दोंसे उसकी सेवा करने लगी ॥ ११ ॥

उच्छिष्टं भुञ्जते भर्तुः सा तु नित्यं युधिष्ठिर ।
दैवतं च पतिं मेने भर्तुश्चित्तानुसारिणी ॥ १२ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! वह स्त्री सदा अपने पतिका जूठन खाती थी। पतिको देव मानती थी और पतिहीके चित्तके अनुसार चलती थी ॥ १२ ॥

न कर्मणा न मनसा नात्यश्नान्नापि चापिबत् ।
तं सर्वभावोपगता पतिशुश्रूषणे रता ॥ १३ ॥

वह न कर्मसे, न मनसे और न वाणीसे ही कभी कुछ खाती थी या पीती थी। वह सब प्रकारसे पतिहीकी सेवा करती थी ॥ १३ ॥

साध्वाचारा शुचिर्दक्षा कुटुम्बस्य हितैषिणी ।
भर्तुश्चापि हितं यत्तत्सततं सानुवर्तते ॥ १४ ॥

वह उत्तम कर्म करनेवाली घरके कामोंमें चतुर और कुटुम्बका हित करनेवाली थी और पतिका सदा हित चाहती थी ॥ १४ ॥

देवतातिथिभृत्यानां श्वश्रूश्वशुरयोस्तथा ।
शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेन्द्रिया ॥ १५ ॥

देवता और अतिथिकी सेवा और सास ससुरका अच्छी तरहसे आदर करती थी । सदा ही इन्द्रियजित रहती थी ॥ १५ ॥

सा ब्राह्मणं तदा दृष्ट्वा संस्थितं भैक्षकाङ्क्षिणम् ।
कुर्वती पतिशुश्रूषां सस्माराथ शुभेक्षणा ॥ १६ ॥

जब उसका पति भोजन कर चुका, तब पवित्र आंखोंवाली उसने देखा कि ब्राह्मण बाहर खडा है । हे भरतसत्तम ! इसे पतिकी सेवा करते करते ब्राह्मणकी याद आई ॥ १६ ॥

व्रीडिता साभवत्साध्वी तदा भरतसत्तम ।
भिक्षामादाय विप्राय निर्जगाम यशस्विनी ॥ १७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! तब वह पतिव्रता बहुत लज्जित हुई और वह यशस्विनी भिक्षा लेकर ब्राह्मणके पास गई ॥ १७ ॥

ब्राह्मण उवाच

किमिदं भवति त्वं मां तिष्ठेत्युक्त्वा वराङ्गने ।
उपरोधं कृतवती न विसर्जितवत्यसि ॥ १८ ॥

ब्राह्मण बोले– हे उत्तम स्त्री ! तुम मुझे ' खडा रहो ' ऐसा कहकर चली गई और फिर मुझको विदा न किया ॥ १८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ब्राह्मणं क्रोधसंतप्तं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
दृष्ट्वा साध्वी मनुष्येन्द्र सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! ब्राह्मणको तेज और क्रोधसे जलते हुए देखकर वह पतिव्रता शान्तिपूर्वक यह वचन बोली ॥ १९ ॥

क्षन्तुमर्हसि मे विप्र भर्ता मे दैवतं महत् ।
स चापि क्षुधितः श्रान्तः प्राप्तः शुश्रूषितो मया ॥ २० ॥

हे विप्र ! आप क्षमा कीजिये, मैं पतिको देवता मानती हूं; वह भूखा होकर और थककर यहां आए थे, अतः उनकी सेवा करने लगी ॥ २० ॥

ब्राह्मण उवाच

ब्राह्मणा न गरीयांसो गरीयांस्ते पतिः कृतः ।
गृहस्थधर्मे वर्तन्ती ब्राह्मणानवमन्यसे ॥ २१ ॥

ब्राह्मण बोले– हे पतिव्रते ! तुमने ब्राह्मणको छोटा और पतिको बडा समझा । गृहस्थधर्ममें रहती हुई तुम ब्राह्मणका अनादर करती हो ॥ २१ ॥

इन्द्रोऽप्येषां प्रणमते किं पुनर्मानुषा भुवि ।
अवलिप्ते न जानीषे वृद्धानां न श्रुतं त्वया ।
ब्राह्मणा ह्यग्निसदृशा दहेयुः पृथिवीमपि ॥ २२ ॥

इन्द्र भी ब्राह्मणोंको नमस्कार करते हैं फिर मनुष्य किस गिनतीमें हैं । हे अभिमानिनि ! तुमने वृद्धोंके बचन नहीं सुने । ब्राह्मण अग्निके समान होते हैं, वे पृथ्वीको भी जला सकते हैं ॥ २२ ॥

स्त्र्युवाच

नावजानाम्यहं विप्रान्देवैस्तुल्यान्मनस्विनः ।
अपराधमिमं विप्र क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ ॥ २३ ॥

स्त्री बोली– मैं ब्राह्मणका अपमान नहीं करती अपितु मैं ब्राह्मणोंको देवोंके समान मानती हूं । हे पापरहित ब्राह्मण ! मेरे इस अपराधको आप क्षमा कीजिये ॥ २३ ॥

जानामि तेजो विप्राणां महाभाग्यं च धीमताम् ।
अपेयः सागरः क्रोधात्कृतो हि लवणोदकः ॥ २४ ॥

मैं ब्राह्मणोंके तेजको जानती हूं; बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके महाभाग्यको भी जानती हूँ, जिन्होंने क्रोधसे समुद्रको खारा और पीनेके अयोग्य बना दिया ॥ २४ ॥

तथैव दीप्ततपसां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
येषां क्रोधाग्निरद्यापि दण्डके नोपशाम्यति ॥ २५ ॥

मैं ऐसे आत्मज्ञानी, महातपस्वी, मुनियोंको भी जानती हूं जिनके क्रोधकी अग्नि दण्डकवनमें अबतक नहीं बुझी है ॥ २५ ॥

ब्राह्मणानां परिभवाद्वातापिश्च दुरात्मवान् ।
अगस्त्यमृषिमासाद्य जीर्णः क्रूरो महासुरः ॥ २६ ॥

ब्राह्मणोंके अनादरसे दुष्टात्मा महा असुर वातापि अगस्त्य ऋषिके पेटमें पच गया ॥ २६ ॥

प्रभावा बहवश्चापि श्रूयन्ते ब्रह्मवादिनाम् ।
क्रोधः सुविपुलो ब्रह्मन्प्रसादश्च महात्मनाम् ॥ २७ ॥

हे ब्राह्मण ! ब्राह्मणोंके अनेक प्रभाव सुननेमें आते हैं । ब्राह्मणका क्रोध भी भारी और कृपा भी भारी होती है ॥ २७ ॥

अस्मिंस्त्वतिक्रमे ब्रह्मन्क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ ।
पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज ॥ २८ ॥

हे पापरहित ! मेरी इस भूलके लिए आप क्षमा कीजिये; हे ब्राह्मण ! पतिकी सेवा करना जो धर्म है, वह मुझे बहुत ही प्यारा है ॥ २८ ॥

देवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दैवतं परम् ।
अविशेषेण तस्याहं कुर्यां धर्मं द्विजोत्तम ॥ २९ ॥

मेरे पति देवताओंमें भी परम देवता हैं, द्विजोत्तम ! उसी असामान्य धर्मका पालन मैं करती हूं ॥ २९ ॥

शुश्रूषायाः फलं पश्य पत्युर्ब्राह्मण यादृशम् ।
बलाका हि त्वया दग्धा रोषात्तद्विदितं मम ॥ ३० ॥

हे ब्राह्मण ! पतिसेवाका जो फल है उसको तुम देख लो । तुमने बगुलीको जो अपने क्रोधसे जला दिया था, उसको मैंने जान लिया ॥ ३० ॥

क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ।
यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३१ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! क्रोध ही शरीरमें रहनेवाला शत्रु है; जो क्रोध और मोहको त्याग देता है उसीको देवता ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३१ ॥

यो वदेदिह सत्यानि गुरुं संतोषयेत च ।
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३२ ॥

जो संसारमें सत्य बोले, गुरुको संन्तुष्ट करे और मार खाकर नहीं मारे, उसीको देवता ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३२ ॥

जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।
कामक्रोधौ वशे यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३३ ॥

जो इन्द्रियोंको जीतनेवाला, वेदपाठी, पवित्र और काम और क्रोधको जीतनेवाला है, उसीको देवता ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३३ ॥

यस्य चात्मसमो लोको धर्मज्ञस्य मनस्विनः ।
सर्वधर्मेषु च रतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३४ ॥

जिस धर्मात्मा बुद्धिमान्को अपने समान जगत् दीखता हो, उस सब धर्मोंमें रत रहनेवालेको देवता ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३४ ॥

योऽध्यापयेदधीयीत यजेद्वा याजयीत वा ।
दद्याद्वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३५ ॥

जो वेद पढे और पढावे, यज्ञ करे वा करावे, यथाशक्ति दान दे उसको देवता ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३५ ॥

ब्रह्मचारी च वेदान्यो अधीयीत द्विजोत्तमः ।
स्वाध्याये चाप्रमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३६ ॥

जो ब्रह्मचारी वेदोंको जाननेवाला, वेदपाठी, ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ अपने पढने पढानेमें सावधान रहे उसे देवता ब्राह्मण कहते हैं ॥ ३६ ॥

यद्ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां परिकीर्तयेत् ।
सत्यं तथा व्याहरतां नानृते रमते मनः ॥ ३७ ॥

जो ब्राह्मणके लिए हितकारी है वह ही ब्राह्मणोंको कहना चाहिये । जो सत्य बोलता हो, जिसका मन झूठमें न जाता हो, वही ब्राह्मण है ॥ ३७ ॥

धनं तु ब्राह्मणस्याहुः स्वाध्यायं दममार्जवम् ।
इन्द्रियाणां निग्रहं च शाश्वतं द्विजसत्तम ।
सत्यार्जवे धर्ममाहुः परं धर्मविदो जनाः ॥ ३८ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! ब्राह्मणोंका धर्म वेद पढना, मनको विषयसे रोकना, शुद्ध रहना इन्द्रियोंको जीतना ही कहते हैं । हे ब्राह्मणोत्तम ! धर्मको जाननेवाले महात्मा सत्य और शुद्धताको ही धर्म कहते हैं ॥ ३८ ॥

दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स तु सत्ये प्रतिष्ठितः ।
श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम् ॥ ३९ ॥

धर्म जानना बहुत ही कठिन है । वह धर्म सत्यहीमें रहता है । वृद्धलोगोंकी आज्ञा है, कि धर्ममें वेद ही प्रमाण हैं ॥ ३९ ॥

बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्म एव द्विजोत्तम ।
भवानपि च धर्मज्ञः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।
न तु तत्त्वेन भगवन्धर्मान्वेत्सीति मे मतिः ॥ ४० ॥

हे ब्राह्मण ! धर्म बहुत प्रकारका दीखता है । पर वह बहुत सूक्ष्म है । तुम भी वेदपाठी पवित्र और धर्मको जाननेवाले हो, परन्तु मेरे विचारसे तुम धर्मको यथावत् नहीं जानते ॥ ४० ॥

मातापितृभ्यां शुश्रूषुः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
मिथिलायां वसन्व्याधः स ते धर्मान्प्रवक्ष्यति ।
तत्र गच्छस्व भद्रं ते यथाकामं द्विजोत्तम ॥ ४१ ॥

जनकपुरीमें मातापिताकी सेवा करनेवाला, सत्यवादी, इन्द्रियजित् एक व्याध रहता है, वह तुमको धर्मका उपदेश करेगा । हे द्विजोत्तम ! हे ब्राह्मण ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम वहां यथेच्छ जाओ ॥ ४१ ॥

अत्युक्तमपि मे सर्वं क्षन्तुमर्हस्यनिन्दित ।
स्त्रियो ह्यवध्याः सर्वेषां ये धर्मविदुषो जनाः ॥ ४२ ॥

जो मैंने बहुत कहा; उसको भी आप क्षमा करने योग्य है। हे अनिन्दित ब्राह्मण ! धर्मको जाननेवाले सभी विद्वान् जनोंके लिए स्त्रियां अवध्य होती हैं ॥ ४२ ॥

ब्राह्मण उवाच

प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते गतः क्रोधश्च शोभने ।
उपालम्भस्त्वया ह्युक्तो मम निःश्रेयसं परम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधयिष्यामि शोभने ॥ ४३ ॥

ब्राह्मण बोले– हे कल्याणि ! मेरा क्रोध चला गया, मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूं, तुमने मेरे अभिमानको दूर किया, मेरा कल्याण हुआ। तुम्हारा कल्याण हो, मैं जनकपुरी जाऊंगा और अपना कार्य सिद्ध करूंगा ॥ ४३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तया विसृष्टो निर्गम्य स्वमेव भवनं ययौ ।
विनिन्दन्स द्विजोऽऽत्मानं कौशिको नरसत्तम ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥ ६९८८ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे नरश्रेष्ठ राजन् ! उस पतिव्रतासे विदा होकर कौशिक ब्राह्मण अपनी आत्माकी निन्दा करते हुए अपने घरको चले गये ॥ ४४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ सत्तानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९७ ॥ ६९८८ ॥

: १९८ :

मार्कण्डेय उवाच

चिन्तयित्वा तदाश्चर्यं स्त्रिया प्रोक्तमशेषतः ।
विनिन्दन्स द्विजोऽऽत्मानमागस्कृत इवाबभौ ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! स्त्रीके कहे हुए सम्पूर्ण वचनोंको स्मरण करके कौशिक अपने आत्माकी निन्दा करते हुए पापियोंके समान बैठ गये ॥ १ ॥

चिन्तयानः स धर्मस्य सूक्ष्मां गतिमथाब्रवीत् ।
श्रद्दधानेन भाव्यं वै गच्छामि मिथिलामहम् ॥ २ ॥

धर्मकी सूक्ष्म गतिके बारेमें सोचकर कौशिक ब्राह्मण बोले– कि स्त्रीके कहे वचनोंपर श्रद्धा करके मैं जनकपुरीको जाता हूं ॥ २ ॥

कृतात्मा धर्मवित्तस्यां व्याधो निवसते किल ।
तं गच्छाम्यहमद्यैव धर्मं प्रष्टुं तपोधनम् ॥ ३ ॥

आत्मज्ञान और धर्मको जाननेवाला व्याध जिस जनकपुरीमें रहता है, मैं उन्हीं तपोधन व्याधके पास जाके धर्मके लक्षण पूछूंगा ॥ ३ ॥

इति संचिन्त्य मनसा श्रद्दधानः स्त्रिया वचः ।
बलाकाप्रत्ययेनासौ धर्म्यैश्च वचनैः शुभैः ।
संप्रतस्थे स मिथिलां कौतूहलसमन्वितः ॥ ४ ॥

ऐसे विचारकर बगुलीका प्रत्यय और धर्मयुक्त वचनोंके उपदेश, इनसे स्त्रीके वचनोंपर श्रद्धा करके जनकपुरीको बडे आनन्दके साथ गये ॥ ४ ॥

अतिक्रामन्नरण्यानि ग्रामांश्च नगराणि च ।
ततो जगाम मिथिलां जनकेन सुरक्षिताम् ॥ ५ ॥

वह बहुतसे गांव, वन और नगरोंको लांघते हुए महाराज जनकसे रक्षित मिथिलापुरीको चले ॥ ५ ॥

धर्मसेतुसमाकीर्णां यज्ञोत्सववतीं शुभाम् ।
गोपुराट्टालकवतीं गृहप्राकारशोभिताम् ॥ ६ ॥

उन्होंने धर्म, यज्ञ और उत्सवोंसे भरी हुई मिथिलापुरीको देखा । उसमें महल, दुमहले, और अनेक अटारियां थीं ॥ ६ ॥

प्रविश्य स पुरीं रम्यां विमानैर्बहुभिर्वृताम् ।
पण्यैश्च बहुभिर्युक्तां सुविभक्तमहापथाम् ॥ ७ ॥

उस रमणीय नगरीमें कौशिक मुनिने प्रवेश किया । जहां अनेक विमान घूमते फिरते थे, जहां अनेक सुन्दर सुन्दर बाजार और उत्तम उत्तम मार्ग थे ॥ ७ ॥

अश्वै रथैस्तथा नागैर्यानैश्च बहुभिर्वृताम् ।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णां नित्योत्सवसमाकुलाम् ॥ ८ ॥

जहां अनेक हाथी, घोडे, रथ और योद्धा घूम रहे थे; जहां पुष्ट और प्रसन्न लोग विहारकर रहे थे; जहां सदा ही उत्सव हुआ करते थे ॥ ८ ॥

सोऽपश्यद्बहुवृत्तान्तां ब्राह्मणः समतिक्रमन् ।
धर्मव्याधमपृच्छच्च स चास्य कथितो द्विजैः ॥ ९ ॥

नानाविध वार्ताओंसे युक्त उस मिथिलापुरीको जाकर कौशिक मुनिने देखा । वहां जाकर उन्होंने धर्म-व्याधका घर पूछा और ब्राह्मणोंने बता दिया ॥ ९ ॥

अपश्यत्तत्र गत्वा तं सूनामध्ये व्यवस्थितम् ।
मार्गमाहिषमांसानि विक्रीणन्तं तपस्विनम् ।
आकुलत्वात्तु क्रेतृणामेकान्ते संस्थितो द्विजः ॥ १० ॥

वहां वधस्थानमें जाकर उन्होंने कसाईखानेमें बैठे हुए व्याधको देखा । उन्होंने देखा वह तपस्वी हरिन भैंसोंके मांसको बेच रहा है, उस समय वहांपर मांस लेनेवालोंकी बडी भीड थी, इसलिये ब्राह्मण अलग जाकर एकान्तमें बैठ गये ॥ १० ॥

स तु ज्ञात्वा द्विजं प्राप्तं सहसा संभ्रमोत्थितः ।
आजगाम यतो विप्रः स्थित एकान्त आसने ॥ ११ ॥

उस व्याधने जाना कि एक ब्राह्मण आये हैं, तब बहुत घबराकर उठा और जहां एकान्तमें ब्राह्मण बैठा था, वहां आया ॥ ११ ॥

व्याध उवाच

अभिवादये त्वा भगवन्स्वागतं ते द्विजोत्तम ।
अहं व्याधस्तु भद्रं ते किं करोमि प्रशाधि माम् ॥ १२ ॥

व्याध बोला– हे द्विजोत्तम ! हे भगवन् ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ; और आपका स्वागत करता हूँ; आपका कल्याण हो । मैं व्याध हूं, आज्ञा दीजिए आपका कौनसा काम करूँ ? ॥१२॥

एकपत्न्या यदुक्तोऽसि गच्छ त्वं मिथिलामिति ।
जानाम्येतदहं सर्वं यदर्थं त्वमिहागतः ॥ १३ ॥

आपसे जो एक पतिव्रता स्त्रीने कहा था, कि तुम मिथिलापुरीको जाओ । जिस कामसे आप आये हैं, वह मैं सब जानता हूं ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

श्रुत्वा तु तस्य तद्वाक्यं स विप्रो भृशहर्षितः ।
द्वितीयमिदमाश्चर्यमित्यचिन्तयत द्विजः ॥ १४ ॥

मार्कण्डेय बोले– ऐसा सुनकर वह ब्राह्मण बडा ही हर्षित हुआ । ब्राह्मणने अपने मनमें विचार किया कि मैंने यह दूसरा आश्चर्य देखा ॥ १४ ॥

अदेशस्थं हि ते स्थानमिति व्याधोऽब्रवीद्द्विजम् ।
गृहं गच्छाव भगवन्यदि रोचयसेऽनघ ॥ १५ ॥

व्याधने ब्राह्मणसे कहा– कि तुम्हारा स्थान अदेशमें है । हे पापरहित ! यदि आपकी इच्छा हो, तो घरको चलें ॥ १५ ॥

बाढमित्येव संहृष्टो विप्रो वचनमब्रवीत् ।
अग्रतस्तु द्विजं कृत्वा स जगाम गृहान्प्रति ॥ १६ ॥

ब्राह्मणने प्रसन्न होकर यह वाक्य कहा– कि बहुत अच्छा चलो । तब वह व्याध ब्राह्मणको आगे करके घरको चला ॥ १६ ॥

प्रविश्य च गृहं रम्यमासनेनाभिपूजितः ।
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिगृह्य द्विजोत्तमः ॥ १७ ॥

उसने अपने घरमें जाकर उस ब्राह्मणको आसन दिया, तब पाद्य, अर्घ्य और आचमनसे पूजा की । ब्राह्मणने उसकी पूजाको ग्रहण किया ॥ १७ ॥

ततः सुखोपविष्टस्तं व्याधं वचनमब्रवीत् ।
कर्मैतद्वै न सदृशं भवतः प्रतिभाति मे ।
अनुतप्ये भृशं तात तव घोरेण कर्मणा ॥ १८ ॥

तब सुखसे बैठकर उस व्याधसे पूछा– कि जो कर्म तुम करते हो वह मेरे विचारमें तुम्हारे योग्य नहीं है । हे तात ! तुम्हारे इस घोर कर्मको देखकर मुझे बहुत संताप होता है ॥१८॥

व्याध उवाच

कुलोचितमिदं कर्म पितृपैतामहं मम ।
वर्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्युं मा कृथा द्विज ॥ १९ ॥

व्याध बोला– हे विप्र ! यह मेरे पिता पितामहका कर्म है और मेरे कुलके योग्य है । मैं अपने कर्मको करता हूँ, इसलिये आपको क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ १९ ॥

धात्रा तु विहितं पूर्वं कर्म स्वं पालयाम्यहम् ।
प्रयत्नाच्च गुरू वृद्धौ शुश्रूषेऽहं द्विजोत्तम ॥ २० ॥

ब्रह्माने पहले सब जातियोंके अलग अलग कर्म बना दिये हैं, उसीका मैं पालन करता हूँ । हे द्विजोत्तम ! यत्न करके मैं वृद्ध पिता माताकी सेवा करता हूँ ॥ २० ॥

सत्यं वदे नाभ्यसूये यथाशक्ति ददामि च ।
देवतातिथिभृत्यानामवशिष्टेन वर्तये ॥ २१ ॥

मैं हमेशा सत्य बोलता हूँ, किसीसे ईर्ष्या नहीं करता, और यथाशक्ति दान करता हूँ और देवता, अतिथि और भृत्योंसे बचे हुए अन्नसे व्यवहार करता हूँ ॥ २१ ॥

न कुत्सयाम्यहं किंचिन्न गर्हे बलवत्तरम् ।
कृतमन्वेति कर्तारं पुरा कर्म द्विजोत्तम ॥ २२ ॥

बुरेकी वा बलवान्की भी निन्दा नहीं करता । हे ब्राह्मणोत्तम ! पूर्व कर्मका फल कर्ताको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम्।
दण्डनीतिस्त्रयी विद्या तेन लोका भवन्त्युत ॥ २३ ॥

खेती, गौकी रक्षा और व्यापार यह जगत्का जीवन है; राजनीति, दण्ड, और वेदविद्यासे ही जगत्की स्थिति है ॥ २३ ॥

कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं च ब्राह्मणे सदा ॥ २४ ॥

शूद्रका कर्म सेवा, वैश्यका कर्म खेती करना, क्षत्रियका युद्ध करना और ब्राह्मणका कर्म ब्रह्मचर्य, तपस्या, वेदपाठ और सत्य बोलना है ॥ २४ ॥

राजा प्रशास्ति धर्मेण स्वकर्मनिरताः प्रजाः।
विकर्माणश्च ये केचित्तान्युनक्ति स्वकर्मसु ॥ २५ ॥

राजा धर्मसे प्रजाकी रक्षा करता है, इसीसे प्रजायें अपने कर्मोंको करती हैं। जो अपने कर्मोंको नहीं करते उन्हें दण्ड देकर राजा उनके कर्ममें लगाता है ॥ २५ ॥

भेतव्यं हि सदा राज्ञां प्रजानामधिपा हि ते।
मारयन्ति विकर्मस्थं लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥ २६ ॥

राजासे प्रजाको सदा डरना चाहिये, क्योंकि वही प्रजाका पालक है। राजा कुकर्मी मनुष्यको ऐसे मारते हैं। जैसे मृगको व्याध वाणोंसे मारते हैं ॥ २६ ॥

जनकस्येह विप्रर्षे विकर्मस्थो न विद्यते।
स्वकर्मनिरता वर्णाश्चत्वारोऽपि द्विजोत्तम ॥ २७ ॥

हे ब्राह्मण! इस राजा जनककी नगरीमें कोई भी कुकर्मी नहीं है; चारों वर्ण अपने अपने कर्मको करते हैं ॥ २७ ॥

स एष जनको राजा दुर्वृत्तमपि चेत्सुतम्।
दण्डयं दण्डे निक्षिपति तथा न ग्लाति धार्मिकम् ॥ २८ ॥

यह राजा जनक ऐसा धर्मात्मा है, कि यदि इनका पुत्र भी दुर्वृत्त वा दण्डनीय हो, तो ये उसे भी दण्ड देते हैं और किसी धर्मात्मासे ग्लानि नहीं करते ॥ २८ ॥

सुयुक्तचारो नृपतिः सर्वं धर्मेण पश्यति।
श्रीश्च राज्यं च दण्डश्च क्षत्रियाणां द्विजोत्तम ॥ २९ ॥

यह सदाचारी राजा सबको धर्मसे देखता है। हे द्विजश्रेष्ठ! लक्ष्मी, राज्य और दण्ड क्षत्रियोंका ही है ॥ २९ ॥

राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छन्ति भूयसीम्।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत ॥ ३० ॥

राजा अपने धर्महीसे लक्ष्मीको बढानेकी इच्छा रखते हैं, राजा ही चारों वर्णोंका रक्षक होता है ॥ ३० ॥

परेण हि हतान्ब्रह्मन्वराहमहिषानहम् ।
न स्वयं हन्मि विप्रर्षे विक्रीणामि सदा त्वहम् ॥ ३१ ॥

हे ब्राह्मण ! मैं स्वयं पशुओंको नहीं मारता, अपितु दूसरेके मारे हुए सुअर, भैंसे आदि पशुओंको बेचता हूं ॥ ३१ ॥

न भक्षयामि मांसानि ऋतुगामी तथा ह्यहम् ।
सदोपवासी च तथा नक्तभोजी तथा द्विज ॥ ३२ ॥

मैं मांसभक्षण नहीं करता; हे ब्राह्मण ! मैं ऋतुकालहीमें अपनी स्त्रीके पास जाता हूं और सदा व्रत करता हूं; केवल रात्रिमें एक समय भोजन करता हूं ॥ ३२ ॥

अशीलश्चापि पुरुषो भूत्वा भवति शीलवान् ।
प्राणिहिंसारतश्चापि भवते धार्मिकः पुनः ॥ ३३ ॥

हे ब्राह्मण ! जो मनुष्य शीलरहित है, वह भी कभी शीलवान् बन जाता है । प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला भी फिर धर्मात्मा हो जाता है ॥ ३३ ॥

व्यभिचारान्नरेन्द्राणां धर्मः संकीर्यते महान् ।
अधर्मो वर्धते चापि संकीर्यन्ते तथा प्रजाः ॥ ३४ ॥

राजाके अधर्मसे धर्ममें संकरता होती है और राजाके अधर्मसे प्रजामें भी संकरता हो जाती है ॥ ३४ ॥

उरुण्डा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च ।
क्लीबाश्चान्धाश्च जायन्ते बधिरा लम्बचूचुकाः ।
पार्थिवानामधर्मत्वात्प्रजानामभवः सदा ॥ ३५ ॥

राजाके अधर्मसे मनुष्य भयानक बौने, कुबडे, बडे सिरवाले, नपुंसक, बहरे और लम्बी चूचियोंवाले होते हैं ॥ ३५ ॥

स एष राजा जनकः सर्वं धर्मेण पश्यति ।
अनुगृह्णन्प्रजाः सर्वाः स्वधर्मनिरताः सदा ॥ ३६ ॥

इसी कारणसे यह राजा जनक प्रजाको धर्मसे पालते हैं; सब प्रजाके ऊपर कृपा रखते हैं, इसीसे सब प्रजा अपने धर्ममें लगी रहती है ॥ ३६ ॥

ये चैव मां प्रशंसन्ति ये च निन्दन्ति मानवाः।
सर्वान्सुपरिणीतेन कर्मणा तोषयाम्यहम् ॥ ३७ ॥

हे ब्राह्मण ! जो लोग मेरी निन्दा करते हैं, और जो स्तुति करते हैं, उन दोनोंको मैं अच्छे कर्मोंसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा करता हूं ॥ ३७ ॥

ये जीवन्ति स्वधर्मेण संभुञ्जन्ते च पार्थिवाः।
न किंचिदुपजीवन्ति दक्षा उत्थानशीलिनः ॥ ३८ ॥

जो अपने धर्मके अनुसार जीते और व्यवहार करते हैं और जितात्मा होकर अपने भोगके लिये किसीका कुछ भी हरण नहीं करते, वे ही राजा कहलाते हैं ॥ ३८ ॥

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षा धर्मनित्यता।
यथार्हं प्रतिपूजा च सर्वभूतेषु वै दया।
त्यागान्नान्यत्र मर्त्यानां गुणास्तिष्ठन्ति पूरुषे ॥ ३९ ॥

अपने सामर्थ्यके अनुसार अन्न दान करते हैं वही धर्मात्मा हैं। मान्य लोगोंकी पूजा करना, सब प्राणियोंपर दया रखना और त्याग इसके समान मनुष्योंका और कोई उत्तम गुण नहीं है ॥ ३९ ॥

मृषावादं परिहरेत्कुर्यात्प्रियमयाचितः।
न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत् ॥ ४० ॥

हे ब्राह्मण ! झूठको त्यागे, बिना कहे ही पर हित करे और वह मनुष्य न कामसे, न क्रोधसे और न द्वेषसे ही धर्मका त्याग करे ॥ ४० ॥

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत्।
न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्मं परित्यजेत् ॥ ४१ ॥

प्रिय कामके सिद्ध होनेसे प्रसन्न न हो, अप्रियसे दुःखी न हो, धनके संकटमें घवडाये नहीं और धर्मका त्याग न करे ॥ ४१ ॥

कर्म चेत्किंचिदन्यत्स्यादितरन्न समाचरेत्।
यत्कल्याणमभिध्यायेत्तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥ ४२ ॥

जिस कर्मके करनेसे विपरीत फल होता है ऐसा कर्म कभी नहीं करे। जिससे अपना और दूसरेका कल्याण होता है उसका ही चिंतन करे तथा उसमें ही चित्तको लगाये ॥ ४२ ॥

न पापं प्रति पापः स्यात्साधुरेव सदा भवेत्।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति ॥ ४३ ॥

जो अपने साथ बुराई करे, उसके साथ बुराई न करके भलाई करे, भलाई करनेवालोंके साथ जो बुराई करता है वह स्वयं मारा जाता है ॥ ४३ ॥

कर्म चैतदसाधूनां वृजिनानामसाधुवत् ।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानाः शुचीनवहसन्ति ये ।
अश्रद्दधाना धर्मस्य ते नश्यन्ति न संशयः ॥ ४४ ॥

जो असाधु दुष्ट लोग हैं उनका यह कर्म निंद्य है। जो पवित्र साधुओंके कर्मोंको कहते हैं, कि यह धर्म नहीं है, वे धर्ममें श्रद्धा न रखनेवाले असाधु नष्ट हो जाते हैं ॥ ४४ ॥

महादृतिरिवाध्मातः पापो भवति नित्यदा ।
मूढानामवलिप्तानामसारं भाषितं भवेत् ।
दर्शयत्यन्तरात्मानं दिवा रूपमिवांशुमान् ॥ ४५ ॥

जिस प्रकार धोंकनी असार होकर भी वायुसे पूर्ण होकर पुष्ट होती है, ऐसे ही पापी भी अकारण पुष्ट होते हैं; मूर्ख अभिमानी असार वस्तुकी चिन्ता करता रहता है, अपने आपको सूर्यके समान बडा प्रकाशमान् दिखलाता है ॥ ४५ ॥

न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया ।
अपि चेह मृजा हीनः कृतविद्यः प्रकाशते ॥ ४६ ॥

जगत्में मूर्ख अपनी प्रशंसा करनेसे भी कीर्ति नहीं पाता, पर विद्वान् मलिन रहनेसे भी कीर्तिमान् होते हैं ॥ ४६ ॥

अब्रुवन्कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन् ।
न कश्चिद्गुणसंपन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते ॥ ४७ ॥

मूर्ख यही समझते हैं कि कोई भले ही गुणसे सम्पन्न हो, पर वह भी किसीकी निन्दा किए विना और आत्मप्रशंसा किए विना इस संसारमें पूज्य नहीं होता ॥ ४७ ॥

विकर्मणा तप्यमानः पापाद्विपरिमुच्यते ।
नैतत्कुर्यां पुनरिति द्वितीयात्परिमुच्यते ॥ ४८ ॥

अपने कुकर्मके लिए पश्चात्ताप करनेसे मनुष्य पापसे छूट जाता है। फिर नहीं करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करनेसे दूसरे पापसे छूट जाता है ॥ ४८ ॥

कर्मणा येन तेनेह पापाद्द्विजवरोत्तम ।
एवं श्रुतिरियं ब्रह्मन्धर्मेषु परिदृश्यते ॥ ४९ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! जप तप तीर्थादिसे दूसरे होनेवाले पापसे मनुष्य शुद्ध हो जाता है। हे ब्राह्मण ! पापसे छूटनेके यही उपाय वेदोंमें देखे गये हैं ॥ ४९ ॥

पापान्यबुद्ध्वेह पुरा कृतानि प्राग्धर्मशीलो विनिहन्ति पश्चात् ।
धर्मो ब्रह्मन्नुदते पूरुषाणां यत्कुर्वते पापमिह प्रमादात् ॥ ५० ॥

इस लोकमें पहले भूलसे किये हुए पापको धर्मात्मा लोग नष्ट कर देते हैं, इस लोकमें पुरुषोंके भूलसे किये हुए पापको धर्म नष्ट करता है ॥ ५० ॥

पापं कृत्वा हि मन्येत नाहमस्मीति पूरुषः ।
चिकीर्षेदेव कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः ॥ ५१ ॥

पाप करके अपनेको एकान्तमें कोई नहीं जानता है ऐसा पुरुष न समझे । हे ब्राह्मण ! जो श्रद्धालु और निन्दारहित लोग हैं, वे कल्याणकारी कर्म ही करनेकी इच्छा करते हैं ॥ ५१ ॥

वसनस्येव छिद्राणि साधूनां विवृणोति यः ।
पापं चेत्पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महाभ्रैरिव चन्द्रमाः ॥ ५२ ॥

जो वस्त्रके समान साधुओंके छिद्रको छिपाता है, वह पाप करके भी कल्याणको चाहता है, और वह सब पापोंसे ऐसे छूट जाता है, जैसे बादलोंसे चन्द्रमा ॥ ५२ ॥

यथादित्यः समुद्यन्वै तमः सर्वं व्यपोहति ।
एवं कल्याणमातिष्ठन्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५३ ॥

जैसे सूर्य निकलकर अन्धकारको नाश करते हैं, ऐसे ही कल्याणकारी कर्मोंको करता हुआ धर्म उदय होकर पापोंको नष्ट करता है ॥ ५३ ॥

पापानां विद्ध्यधिष्ठानं लोभमेव द्विजोत्तम ।
लुब्धाः पापं व्यवस्यन्ति नरा नातिबहुश्रुताः ।
अधर्मा धर्मरूपेण तृणैः कूपा इवावृताः ॥ ५४ ॥

हे ब्राह्मणोत्तम ! पापका मूल लोभ ही है लोभी और मूर्ख ही पाप करते हैं, अधर्मकी आडमें धर्म ऐसे ही छिप जाता है, जैसे घाससे कुंआ छिप जाता है ॥ ५४ ॥

तेषां दमः पवित्राणि प्रलापा धर्मसंश्रिताः ।
सर्वं हि विद्यते तेषु शिष्टाचारः सुदुर्लभः ॥ ५५ ॥

लोभी और जो मूर्खोंमें दम होता है, पवित्रता होती है, उनके वचन धर्मपर आश्रित होते हैं। उनमें सब कुछ होता है, पर शिष्टाचार दुर्लभ होता है ॥ ५५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

स तु विप्रो महाप्राज्ञो धर्मव्याधमपृच्छत ।
शिष्टाचारं कथमहं विद्यामिति नरोत्तम ।
एतन्महामते व्याध प्रब्रवीहि यथातथम् ॥ ५६ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! उस महाबुद्धिमान् ब्राह्मणने धर्म व्याधसे पूछा कि हे महामते ! शिष्टाचारको मैं कैसे जानूं ? हे धर्म करनेवालोंमें श्रेष्ठ ! आपसे यह सुननेकी इच्छा रखता हूं, आप मुझसे कहिये ॥ ५६ ॥

व्याध उवाच

यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम ।
पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु नित्यदा　　॥ ५७ ॥

व्याध बोला—हे ब्राह्मण! उत्तम शिष्टाचारमें यह पांच ही कर्म प्रधान हैं, यज्ञ, दान, तप, वेद पढना और सत्य ॥ ५७ ॥

कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम् ।
धर्म इत्येव संतुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसंमताः　　॥ ५८ ॥

जो काम और क्रोधको वशमें करके दंभ लोभ और कुटिलता त्यागके धर्महीमें सन्तुष्ट रहते हैं, उन्हें शिष्ट लोग शिष्टपुरुष कहते हैं ॥ ५८ ॥

न तेषां विद्यतेऽवृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम् ।
आचारपालनं चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम्　　॥ ५९ ॥

शिष्ट लोग स्वेच्छाचारी नहीं होते; यज्ञ, वेदपाठ और आचार पालनमें ही लगे रहते हैं, वे ही शिष्ट कहाते हैं। उन यज्ञ और स्वाध्यायशील लोगोंके स्वतन्त्र आचरित कुछ भी नहीं है, केवल प्राचीन लोगोंके सदाचार ही उन्हें ग्राह्य हैं; और आचार पालन भी शिष्टोंका दूसरा लक्षण है ॥ ५९ ॥

गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च ।
एतच्चतुष्टयं ब्रह्मञ्शिष्टाचारेषु नित्यदा　　॥ ६० ॥

हे ब्रह्मन्! गुरुकी सेवा करना, सत्य बोलना, क्रोध न करना, दान देना यह शिष्टाचारके चार कर्म हैं ॥ ६० ॥

शिष्टाचारे मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः ।
यामयं लभते तुष्टिं सा न शक्या ह्यतोऽन्यथा　　॥ ६१ ॥

मनको शिष्टाचारमें लगाकर जिस वृत्तिको मनुष्य धारण करता है, उसको दूसरा नहीं पा सकता है ॥ ६१ ॥

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः ।
दमस्योपनिषत्त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा　　॥ ६२ ॥

वेदोंका सार सत्य, सत्यका सार मनको सब विषयोंसे रोकना, मनके रोकनेका सार त्याग है; और इन सबका सार शिष्टाचार है ॥ ६२ ॥

ये तु धर्ममसूयन्ते बुद्धिमोहान्विता नराः ।
अपथा गच्छतां तेषामनुयातापि पीडयते ॥ ६३ ॥

जो लोग बुद्धिके भ्रमसे धर्मकी निन्दा करते हैं, वे कुमार्गमें चलनेवाले अपने साथियोंके समेत दुःख पाते हैं ॥ ६३ ॥

ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतित्यागपरायणाः ।
धर्म्यं पन्थानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ६४ ॥

जो शिष्ट होते हैं, वे निष्ठापूर्वक वेद पढने और त्यागमें तत्पर होते हैं, धर्मके मार्गमें चलते हैं, सत्य और धर्मके आचरणमें परायण होते हैं ॥ ६४ ॥

नियच्छन्ति परां बुद्धिं शिष्टाचारान्विता नराः ।
उपाध्यायमते युक्ताः स्थित्या धर्मार्थदर्शिनः ॥ ६५ ॥

शिष्टाचारमें स्थित होकर वे मनुष्य बुद्धिको अन्य विषयोंसे निवृत्तकर आत्मामें ही लगा देते हैं, तथा आचार्यके वचनोंमें स्थित रहते हैं वे धर्म और अर्थके द्रष्टा होते हैं ॥ ६५ ॥

नास्तिकान्भिन्नमर्यादान्क्रूरान्पापमतौ स्थितान् ।
त्यज ताञ्ज्ञानमाश्रित्य धार्मिकानुपसेव्य च ॥ ६६ ॥

जो नास्तिक, मर्यादाको नष्ट करनेवाले, दुष्ट, पापियोंके सङ्गमें रहते हैं, ज्ञानका आश्रय लेकर उन्हें छोड दो और धर्मात्माओंकी सेवा करो ॥ ६६ ॥

कामलोभग्रहाकीर्णां पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ ६७ ॥

जिसमें काम और क्रोधरूपी मगर भरे हुए हैं तथा जिसमें पंच इन्द्रियरूपी जल हैं ऐसी नदीको धारणाकी नाव बनाकर जन्मके दुःखोंसे तर जाना चाहिये ॥ ६७ ॥

क्रमेण संचितो धर्मो बुद्धियोगमयो महान् ।
शिष्टाचारे भवेत्साधू रागः शुक्लेव वाससि ॥ ६८ ॥

क्रमसे बुद्धि द्वारा धर्मको संचित करके शिष्टाचारमें तत्पर होनेसे महात्मा ऐसे हो जाते हैं, जैसे श्वेतवस्त्रमें रंग ॥ ६८ ॥

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम् ।
अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ।
सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठां तु प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः ॥ ६९ ॥

अहिंसा और सत्य बोलना ही जगत्का कल्याणकारी धर्म है। अहिंसा ही परम धर्म है और वह सत्यमें रहता है। सत्यमें स्थित होनेसे मनुष्यकी सब वृत्तियां ठीक हो जाती हैं ॥६९॥

सत्यमेव गरीयस्तु शिष्टाचारनिषेवितम्।
आचारश्च सतां धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः ॥ ७० ॥

शिष्टाचारसे समन्वित सत्य ही सबसे प्रधान है। आचार ही सज्जनोंका धर्म है और आचार ही सज्जनोंका लक्षण है ॥ ७० ॥

यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः स्वां स्वां प्रकृतिमश्नुते।
पापात्मा क्रोधकामादीन्दोषानाप्नोत्यनात्मवान् ॥ ७१ ॥

जैसा प्राणी होता है, उसका वैसा ही स्वभाव होता है। पापी इन्द्रियोंके आधीन होकर क्रोध और कामादि दोषोंको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

आरम्भो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः।
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम् ॥ ७२ ॥

जो आरंभमे ही न्यायसे युक्त होता है, उसे धर्म कहते हैं और जो अनाचारसे युक्त होता है, उसे अधर्म कहते हैं, यही शिष्टोंकी आज्ञा है ॥ ७२ ॥

अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहंकारमत्सराः।
ऋजवः शमसंपन्नाः शिष्टाचारा भवन्ति ते ॥ ७३ ॥

जो क्रोध नहीं करते, किसीकी निन्दा नहीं करते, अभिमानरहित और मत्सररहित होते हैं, वे शुद्धस्वभाववाले शमशील सज्जन शिष्टाचारसे युक्त होते हैं ॥ ७३ ॥

त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो मनस्विनः।
गुरुशुश्रूषवो दान्ताः शिष्टाचारा भवन्त्युत ॥ ७४ ॥

वेदविद्यामें निपुण, शुद्ध, सद्वृत्त, बुद्धिमान्, गुरुकी सेवा करनेवाले, इन्द्रियनिग्रही, महात्मा शिष्टाचारी कहलाते हैं ॥ ७४ ॥

तेषामदीनसत्त्वानां दुष्कराचारकर्मणाम्।
स्वैः कर्मभिः सत्कृतानां घोरत्वं संप्रणश्यति ॥ ७५ ॥

उन अत्यन्त बलशाली, अत्यन्त कठिन आचारका आचरण करनेवाले तथा पुण्य कर्म करनेवालोंके अपने कर्मोंसे भयका नाश हो जाता है ॥ ७५ ॥

तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम्।
धर्मं धर्मेण पश्यन्तः स्वर्गं यान्ति मनीषिणः ॥ ७६ ॥

उस आश्चर्यकारी पुराने, शाश्वत धर्मसे सदाचारको करनेवाले बुद्धिमान् महात्मा स्वर्गको जाते हैं ॥ ७६ ॥

आस्तिका मानहीनाश्च द्विजातिजनपूजकाः
श्रुतवृत्तोपसंपन्नाः ते सन्तः स्वर्गगामिनः ॥ ७७ ॥

जो लोग आस्तिक, अभिमानरहित, ब्राह्मणोंको पूजनेवाले, वेदशास्त्रको जाननेवाले और शीलवान् होते हैं, वे ही महात्मा स्वर्गगामी होते हैं ॥ ७७ ॥

वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः।
शिष्टाचीर्णश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम् ॥ ७८ ॥

धर्म तीन प्रकारका है, एक वेदमें लिखा, दूसरा धर्मशास्त्रमें लिखा, और तीसरा शिष्टोंके द्वारा शिष्टाचार ॥ ७८ ॥

पारणं चापि विद्यानां तीर्थानामवगाहनम्।
क्षमा सत्यार्जवं शौचं शिष्टाचारनिदर्शनम् ॥ ७९ ॥

विद्याओंमें पारंगत होना और तीर्थोंमें स्नान करना, क्षमा, सत्य, सरलता, शुद्धता ये आचार सज्जनोंमें रहते हैं ॥ ७९ ॥

सर्वभूतदयावन्तो अहिंसानिरताः सदा।
परुषं न प्रभाषन्ते सदा सन्तो द्विजप्रियाः ॥ ८० ॥

सज्जन सब प्राणियोंपर दया करनेवाले, सदा हिंसासे रहित, कभी भी कठोर शब्दोंको न बोलनेवाले और ब्राह्मणोंके प्रिय होते हैं ॥ ८० ॥

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसंचये।
विपाकमभिजानन्ति ते शिष्टाः शिष्टसंमताः ॥ ८१ ॥

जो शुभ और अशुभ कर्मोंके फलके संचयके समय और कर्मके विपाकको जानते हैं, वे ही शिष्टसंमत शिष्ट होते हैं ॥ ८१ ॥

न्यायोपेता गुणोपेताः सर्वलोकहितैषिणः।
सन्तः स्वर्गजितः शुक्लाः संनिविष्टाश्च सत्पथे ॥ ८२ ॥

न्याय और गुणसे सम्पन्न, लोकके कल्याण करनेवाले सज्जन उत्तम मार्गमें तत्पर रहकर स्वर्गको जीतते हैं ॥ ८२ ॥

दातारः संविभक्तारो दीनानुग्रहकारिणः।
सर्वभूतदयावन्तस्ते शिष्टाः शिष्टसंमताः ॥ ८३ ॥

दानी, अच्छे बुरेको जाननेवाले, दीनोंपर दया करनेवाले, सब भूतोंपर दयावान् तपस्वी शिष्ट ही सज्जनोंके प्रिय होते हैं ॥ ८३ ॥

सर्वपूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः ।
दाननित्याः सुखाँल्लोकानाप्नुवन्तीह च श्रियम् ॥ ८४ ॥

सबके द्वारा पूज्य, वेदरूपी धनसे युक्त, तपस्वी तथा हमेशा दान देनेवाले शुभ लोकोंको प्राप्त होते हैं तथा इस लोकमें धनवान् होते हैं ॥ ८४ ॥

पीडया च कलत्रस्य भृत्यानां च समाहिताः ।
अतिशक्त्या प्रयच्छन्ति सन्तः सद्भिः समागताः ॥ ८५ ॥

भृत्य और कुटुंबके भारसे पीडित होकर भी सज्जनोंका चित्त सदा शान्त रहता है। जो कोई सज्जन उनके यहां जाता है, उनको अपनी शक्तिसे भी अधिक दान देते हैं ॥ ८५ ॥

लोकयात्रां च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च ।
एवं सन्तो वर्तमाना एधन्ते शाश्वतीः समाः ॥ ८६ ॥

वे केवल लोकयात्रा, धर्म और आत्महितको देखते हुए संसारमें बहुत वर्षतक वृद्धिको प्राप्त होते हैं ॥ ८६ ॥

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथार्जवम् ।
अद्रोहो नातिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥ ८७ ॥
धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः ।
अकामद्वेषसंयुक्तास्ते सन्तो लोकसत्कृताः ॥ ८८ ॥

अहिंसा, सत्यवचन, कृतज्ञता, सरलता, किसीसे वैर न करना, अभिमानरहित होना, लज्जा, सहिष्णुता, दम, शम बुद्धि, धारणा, और प्राणियोंके ऊपर दया करना, कामद्वेषको त्यागना, यह जिनमें गुण हो, वे ही लोकसंमत साधु कहाते हैं ॥ ८७-८८ ॥

त्रीण्येव तु पदान्याहुः सतां वृत्तमनुत्तमम् ।
न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत् ॥ ८९ ॥

किसीसे द्रोह न करना, दान देना और सदा सत्य बोलना ये तीन पद सज्जनोंके चरित्रके बताये गए हैं ॥ ८९ ॥

सर्वत्र च दयावन्तः सन्तः करुणवेदिनः ।
गच्छन्तीह सुसंतुष्टा धर्म्यं पन्थानमुत्तमम् ।
शिष्टाचारा महात्मानो येषां धर्मः सुनिश्चितः ॥ ९० ॥

सदा दया करनेवाले, दीनोंपर करुणा करनेवाले तथा संतुष्ट वृत्तिसे रहनेवाले शिष्ट लोग ही धर्मसे प्राप्त होनेवाले उत्तम स्थानको प्राप्त करते हैं। जो कभी धर्मको नहीं छोडते वे ही सदाचारी महात्मा कहलाते हैं ॥ ९० ॥

अनसूया क्षमा शान्तिः संतोषः प्रियवादिता ।
कामक्रोधपरित्यागः शिष्टाचारनिषेवणम् ॥ ९१ ॥
कर्मणा श्रुतसंपन्नं सतां मार्गमनुत्तमम् ।
शिष्टाचारं निषेवन्ते नित्यं धर्मेष्वतन्द्रिताः ॥ ९२ ॥

मत्सर न करना, क्षमा, शांति और संतोष वृत्तिसे रहना, प्रिय भाषण करना, काम और क्रोधका त्याग करना, शिष्ट जनोंके आचारका अवलंबन करना तथा ज्ञानपूर्वक कर्म करना ही सज्जनोंका उत्तम मार्ग है। वे इस शिष्टाचारका अवलंबन करते हैं धर्मके अनुसार चलते हैं ॥ ९१-९२ ॥

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुह्यतो महतो जनान् ।
प्रेक्षन्तो लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम ।
अतिपुण्यानि पापानि तानि द्विजवरोत्तम ॥ ९३ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! ऐसे सज्जन अपनी प्रज्ञारूपी महलपर चढकर मोहित होनेवाले मनुष्योंको तथा, हे द्विजोत्तम ! अत्यन्त पुण्यसे युक्त तथा अत्यन्त पापसे युक्त विभिन्न लोकव्यवहारोंको देखते हैं ॥ ९३ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।
शिष्टाचारगुणान्ब्रह्मन्पुरस्कृत्य द्विजर्षभ ॥ ९४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ॥ ७०८२ ॥

हे द्विजवर ब्रह्मन् ! इस प्रकार अपनी मति और अपने ज्ञानके अनुसार शिष्टाचारके गुणोंके बारेमें कहा है ॥ ९४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ अट्ठानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९८ ॥ ७०८२ ॥

: १९९ :

मार्कण्डेय उवाच

स तु विप्रमथोवाच धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
यदहं ह्याचरे कर्म घोरमेतदसंशयम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! वह धर्मव्याध फिर बोला– हे ब्राह्मण ! जो मैं मांस-विक्रयका यह कर्म करता हूं, वह निःसन्देह भयंकर है ॥ १ ॥

विधिस्तु बलवान्ब्रह्मन्दुस्तरं हि पुराकृतम् ।
पुराकृतस्य पापस्य कर्मदोषो भवत्ययम् ।
दोषस्यैतस्य वै ब्रह्मन्विघाते यत्नवानहम् ॥ २ ॥

तो भी प्रारब्ध बलवान् है । जो पहले किये कर्म हैं, उनका फल अवश्य होता है; यह मेरे किये पापोंका फल है; इस दोषको छोडनेके लिए मैं यत्न करता हूं, तो भी यह नहीं छूटता, प्रारब्ध बलवान् है ॥ २ ॥

विधिना विहिते पूर्वं निमित्तं घातको भवेत् ।
निमित्तभूता हि वयं कर्मणोऽस्य द्विजोत्तम ॥ ३ ॥

प्राणियोंका पहले दैवहीसे नाश होता है, मारनेवाला निमित्त ही है । हे ब्राह्मणोत्तम ! इस कर्मके निमित्तमात्र ही हम हैं ॥ ३ ॥

येषां हतानां मांसानि विक्रीणामो वयं द्विज ।
तेषामपि भवेद्धर्म उपभोगेन भक्षणात् ।
देवतातिथिभृत्यानां पितॄणां प्रतिपूजनात् ॥ ४ ॥

हे द्विज ! जिन मरे हुए पशुओंका मांस हम बेचते हैं, उनका उपयोग भी मनुष्योंका भोजन, देवता, अतिथि, पितर और सेवकोंके पूजनके लिये होनेके कारण उन्हें भी पुण्य ही होता है ॥ ४ ॥

ओषध्यो वीरुधश्चापि पशवो मृगपक्षिणः ।
अन्नाद्यभूता लोकस्य इत्यपि श्रूयते श्रुतिः ॥ ५ ॥

औषधी, वृक्ष, पशु, मृग और पक्षी ये प्राणियोंके अन्न हैं ऐसा श्रुतिमें कहा है ॥ ५ ॥

आत्ममांसप्रदानेन शिबिरौशीनरो नृपः ।
स्वर्गं सुदुर्लभं प्राप्तः क्षमावान्द्विजसत्तम ॥ ६ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! अपने शरीरका मांस देनेके कारणसे उशीनरके पुत्र क्षमावान राजा शिबिको दुर्लभ स्वर्ग प्राप्त हुआ था ॥ ६ ॥

राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज ।
द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं तदा ॥ ७ ॥

हे ब्राह्मण ! पहिले समयमें राजा रन्तिदेवकी रसोईमें दो हजार पशु प्रतिदिन मारे जाते थे ॥७॥

समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः ।
अतुला कीर्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम ।
चातुर्मास्येषु पशवो वध्यन्त इति नित्यशः ॥ ८ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार प्रतिदिन समांस अन्न देनेवाले राजा रन्तिदेवका यश बहुत फैला । चातुर्मास्यमें भी प्रतिदिन पशु मारे जाते हैं ॥ ८ ॥

अग्नयो मांसकामाश्च इत्यपि श्रूयते श्रुतिः।
यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन्वध्यन्ते सततं द्विजैः।
संस्कृताः किल मन्त्रैश्च तेऽपि स्वर्गमवाप्नुवन् ॥ ९ ॥

अग्नियां भी मांस खानेकी इच्छा रखती हैं, ऐसा सुना जाता है। हे ब्रह्मन्! ब्राह्मण भी यज्ञमें सर्वदा पशुको मारते हैं। मन्त्रोंसे जिन पशुओंके मांसका संस्कार किया जाता है उनको स्वर्ग प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

यदि नैवाग्नयो ब्रह्मन्मांसकामाभवन्पुरा।
भक्ष्यं नैव भवेन्मांसं कस्यचिद्द्विजसत्तम ॥ १० ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! यदि अग्नियां पहले मांसकी इच्छा न करतीं तो मांस किसीके भी खाने योग्य न रहता ॥ १० ॥

अत्रापि विधिरुक्तश्च मुनिभिर्मांसभक्षणे।
देवतानां पितॄणां च भुङ्क्ते दत्त्वा तु यः सदा।
यथाविधि यथाश्रद्धं न स दुष्यति भक्षणात् ॥ ११ ॥

मांस भक्षणके विषयमें मुनियोंने नियम बना दिया है, जो देवता और पितरोंको देकर विधिके अनुसार श्राद्धमें मांस खाता है, उसे कुछ दोष नहीं होता ॥ ११ ॥

अमांसाशी भवत्येवमित्यपि श्रूयते श्रुतिः।
भार्यां गच्छन्ब्रह्मचारी ऋतौ भवति ब्राह्मणः ॥ १२ ॥

इस विषयमें एक यह भी श्रुति सुनी जाती है कि, विधिसे मांस भक्षण करनेवाला मांसभक्षी नहीं होता, तथा जो ऋतुकालमें स्त्रीप्रसंग करता है, वह ब्रह्मचारी कहलाता है ॥ १२ ॥

सत्यानृते विनिश्चित्य अत्रापि विधिरुच्यते।
सौदासेन पुरा राज्ञा मानुषा भक्षिता द्विज।
शापाभिभूतेन भृशमत्र किं प्रतिभाति ते ॥ १३ ॥

वैसे ही यज्ञके विषयमें योग्य और अयोग्यका विचार करके ही मांसकी विधि कही है। पूर्वकालमें शापके कारणसे राजा सौदासने मनुष्योंको खा डाला था। अब इस विषयमें तुम्हारे क्या विचार है? ॥ १३ ॥

स्वधर्म इति कृत्वा तु न त्यजामि द्विजोत्तम।
पुराकृतमिति ज्ञात्वा जीवाम्येतेन कर्मणा ॥ १४ ॥

हे ब्राह्मण! मैं इसे अपना धर्म समझकर ही नहीं त्यागता। मेरे पुरखे भी यही कर्म करते थे, इससे मैं भी इसी व्यापारसे जीता हूं ॥ १४ ॥

स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते।
स्वकर्मनिरतो यस्तु स धर्म इति निश्चयः ॥ १५ ॥

हे ब्राह्मण ! अपने कर्मको त्यागना ही जगत्में अधर्म है, और जो अपने धर्मको करता है, वही धर्मात्मा है ॥ १५ ॥

पूर्वं हि विहितं कर्म देहिनं न विमुञ्चति।
धात्रा विधिरयं दृष्टो बहुधा कर्मनिर्णये ॥ १६ ॥

कर्मके निर्णयमें यह अनेक ग्रन्थोंमें देखा गया है, कि ब्रह्माने जिसका जो कर्म बना दिया है, वह उसे नहीं छोडता ॥ १६ ॥

द्रष्टव्यं तु भवेत्प्राज्ञ क्रूरे कर्मणि वर्तता।
कथं कर्म शुभं कुर्यां कथं मुच्ये पराभवात्।
कर्मणस्तस्य घोरस्य बहुधा निर्णयो भवेत् ॥ १७ ॥

हे प्राज्ञ ! मनुष्यको चाहिये कि भयंकर कर्म करनेके समय यह विचार करता रहे, कि मैं इस कर्मसे कैसे छूटूं और सुकर्म कैसे करूं ? तब उस घोर कर्मका निर्णय अवश्य हो जायेगा ॥१७॥

दाने च सत्यवाक्ये च गुरुशुश्रूषणे तथा।
द्विजातिपूजने चाहं धर्मे च निरतः सदा।
अतिवादातिमानाभ्यां निवृत्तोऽस्मि द्विजोत्तम ॥ १८ ॥

मैं दान, सत्य बोलने और गुरुकी सदा सेवामें लगा रहता हूं । हे ब्राह्मण ! ब्राह्मणोंकी पूजा आदि धर्म सदा किया करता हूं । अभिमान और विवादसे हमेशा दूर रहता हूँ ॥ १८ ॥

कृषिं साध्विति मन्यन्ते तत्र हिंसा परा स्मृता।
कर्षन्तो लाङ्गलैः पुंसो घ्नन्ति भूमिशयान्बहून्।
जीवानन्यांश्च बहुशस्तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ १९ ॥

हे ब्राह्मण ! लोग खेतीको उत्तम समझते हैं पर यह भी हिंसासे भरा हुआ है । जब पृथ्वीमें हल चलाते हैं, उससे भूमिमें रहनेवाले बहुत सारे जीव मरते हैं और भी बहुतसे जीव जो अन्नमें होते हैं वे मर जाते हैं । इसमें तुम्हें क्या प्रतीत होता है ? ॥ १९ ॥

धान्यबीजानि यान्याहुर्व्रीह्यादीनि द्विजोत्तम।
सर्वाण्येतानि जीवानि तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २० ॥

हे द्विजोत्तम ! धान्य, बीज तथा दूसरे जो चावल आदि धान्य हैं, उन सबमें जीव होते हैं, अतः, हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! उनके बारेमें तुम्हें क्या लगता है ? ॥ २० ॥

अध्याक्रम्य पशूंश्चापि घ्नन्ति वै भक्षयन्ति च ।
वृक्षानथौषधीश्चैव छिन्दन्ति पुरुषा द्विज ॥ २१ ॥

बलात्कारसे पुरुष पशुओंको मारकर खाते हैं। हे द्विज! और कितने ही लोग वृक्षों और औषधियोंको काटते हैं ॥ २१ ॥

जीवा हि बहवो ब्रह्मन्वृक्षेषु च फलेषु च ।
उदके बहवश्चापि तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २२ ॥

हे ब्रह्मन्! वृक्षमें और फलमें अनेक जीव होते हैं, जलमें भी अनेक जीव होते हैं। उसके बारेमें तुम्हें क्या लगता है? ॥ २२ ॥

सर्वं व्याप्तमिदं ब्रह्मन्प्राणिभिः प्राणिजीवनैः ।
मत्स्या ग्रसन्ते मत्स्यांश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २३ ॥

मैं जानता हूं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्राणियोंको मारकर जीनेवाले प्राणियोंसे भरा हुआ है। मछली दूसरी एक मछलीको खाती है। इस बारेमें तुम्हारा क्या मत है? ॥ २३ ॥

सत्त्वैः सत्त्वानि जीवन्ति बहुधा द्विजसत्तम ।
प्राणिनोऽन्योन्यभक्षाश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २४ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ! प्रायः एक जीव अन्य जीवोंके आधारपर जीते हैं। एक प्राणी दूसरे प्राणीका भोजन है। इसके बारेमें तुम्हारा क्या मत है? ॥ २४ ॥

चङ्क्रम्यमाणा जीवांश्च धरणीसंश्रितान्बहून् ।
पद्भ्यां घ्नन्ति नरा विप्र तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २५ ॥

मनुष्य चलनेके समय पैरोंसे भूमिपर रेंगनेवाले अनेक जीवोंको मारते हैं। इस विषयमें तुम क्या समझते हो? ॥ २५ ॥

उपविष्टाः शयानाश्च घ्नन्ति जीवाननेकशः ।
ज्ञानविज्ञानवन्तश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २६ ॥

बैठते चलते सोते अनेक जीवोंकी हिंसा मनुष्य करते हैं। ज्ञानी और विज्ञानी लोग भी बिना हिंसाके नहीं जी सकते हैं इस विषयमें तुम क्या समझते हो? ॥ २६ ॥

जीवैर्ग्रस्तमिदं सर्वमाकाशं पृथिवी तथा ।
अविज्ञानाच्च हिंसन्ति तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ २७ ॥

यह सारा आकाश और पृथ्वी जीवोंसे भरी हुई है। उन जीवोंको लोग अज्ञानसे मार डालते हैं। इस विषयमें तुम्हें क्या प्रतीत होता है? ॥ २७ ॥

अहिंसेति यदुक्तं हि पुरुषैर्विस्मितैः पुरा ।
के न हिंसन्ति जीवान्वै लोकेऽस्मिन्द्विजसत्तम ।
बहु संचिन्त्य इह वै नास्ति कश्चिदहिंसकः ॥ २८ ॥

विस्मित हुए पुरुषोंने प्राचीनकालमें अहिंसाके रूपमें जो कहा है (उसे समझना चाहिये) हे द्विजश्रेष्ठ ! इस संसारमें कौन जीवको नहीं मारता ? बहुत सोचने विचारनेके बाद मैं यही समझता हूँ कि इस संसारमें कोई भी अहिंसक नहीं है ॥ २८ ॥

अहिंसायां तु निरता यतयो द्विजसत्तम ।
कुर्वन्त्येव हि हिंसां ते यत्नादल्पतरा भवेत् ॥ २९ ॥

हे ब्राह्मण ! जो महातमा यति अहिंसामें तत्पर रहते हैं, वे भी हिंसा करते हैं; परन्तु वे हिंसाको कम करनेकी चेष्टा करते रहते हैं ॥ २९ ॥

आलक्ष्याश्चैव पुरुषाः कुले जाता महागुणाः ।
महाघोराणि कर्माणि कृत्वा लज्जन्ति वै न च ॥ ३० ॥

बडे कुलमें उत्पन्न हुए महागुणवान् पुरुष भी इस हिंसारूपी महाघोर कर्मको करके लज्जित नहीं होते ॥ ३० ॥

सुहृदः सुहृदोऽन्यांश्च दुर्हृदश्चापि दुर्हृदः ।
सम्यक्प्रवृत्तान्पुरुषान्न सम्यगनुपश्यतः ॥ ३१ ॥

एक मित्र दूसरे मित्रको, एक दुष्ट दूसरे दुष्टको उत्तम कर्ममें लगे रहनेपर भी उत्तम दृष्टिसे नहीं देखता ॥ ३१ ॥

समृद्धैश्च न नन्दन्ति बान्धवा बान्धवैरपि ।
गुरूंश्चैव विनिन्दन्ति मूढाः पण्डितमानिनः ॥ ३२ ॥

एक बन्धुकी उन्नतिको दूसरा बन्धु नहीं देख सकता; कितने ही पण्डितमानी मूर्ख अपने गुरुकी भी निन्दा करते हैं ॥ ३२ ॥

बहु लोके विपर्यस्तं दृश्यते द्विजसत्तम ।
धर्मयुक्तमधर्मं च तत्र किं प्रतिभाति ते ॥ ३३ ॥

हे ब्राह्मण ! इस प्रकारसे जगत्‌में धर्म और अधर्मयुक्त बहुत उलट पलट दीखते हैं, इस विषयमें तुम्हारा क्या मत है ? ॥ ३३ ॥

वक्तुं बहुविधं शक्यं धर्माधर्मेषु कर्मसु।
स्वकर्मनिरतो यो हि स यशः प्राप्नुयान्महत् ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनद्विशततमोऽध्यायः ॥ १९९ ॥ ७११६ ॥

धर्म और अधर्मके कर्मोंमें बहुत कुछ बोला जा सकता है। पर जो अपने कर्ममें रत रहता है वही महान् यश प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें एकसौ निन्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥ १९९ ॥ ७११६ ॥

: २०० :

मार्कण्डेय उवाच

धर्मव्याधस्तु निपुणं पुनरेव युधिष्ठिर।
विप्रर्षभमुवाचेदं सर्वधर्मभृतां वरः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे युधिष्ठिर ! उस चतुर ब्राह्मणसे धर्मको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ धर्मव्याध ऐसा बोला ॥ १ ॥

श्रुतिप्रमाणो धर्मो हि वृद्धानामिति भाषितम्।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका ॥ २ ॥

हे ब्राह्मण ! वृद्धोंका कहना है, कि धर्मके बारेमें प्रमाण वेद ही हैं। सूक्ष्म धर्मकी बहुतसी शाखायें हैं ॥ २ ॥

प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत्।
अनृतं च भवेत्सत्यं सत्यं चैवानृतं भवेत् ॥ ३ ॥

प्राणके नाशके समय और विवाहमें झूठ बोला जा सकता है। कहीं झूठ भी सच हो जाता है और कहीं सच भी झूठ हो जाता है ॥ ३ ॥

यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा।
विपर्ययकृतोऽधर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम् ॥ ४ ॥

पर यह निश्चित है, कि जो प्राणियोंका हितकारी हो वही सत्य है, पर जिससे प्राणियोंका हित न हो, वह सत्य होते हुए भी अधर्म है। धर्मकी सूक्ष्मताको तुम देखो ॥ ४ ॥

यत्करोत्यशुभं कर्म शुभं वा द्विजसत्तम।
अवश्यं तत्समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः ॥ ५ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! जो बुरा काम करता है, और जो अच्छा काम करता है, उन दोनोंका फल मनुष्यको अवश्य प्राप्त होता है, इसमें कोई संशय नहीं ॥ ५ ॥

विषमां च दशां प्राप्य देवान्गर्हति वै भृशम् ।
आत्मनः कर्मदोषाणि न विजानात्यपण्डितः ॥ ६ ॥

जब मनुष्यको बुरी अवस्था प्राप्त होती है, तब वह देवताओंकी निन्दा करता है । परन्तु वह मूर्ख अपने किये कर्मदोषको नहीं जानता ॥ ६ ॥

मूढो नैकृतिकश्चापि चपलश्च द्विजोत्तम ।
सुखदुःखविपर्यासो यदा समुपपद्यते ।
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नैव पौरुषम् ॥ ७ ॥

हे द्विजोत्तम ! इसीसे मूर्ख चञ्चल और कृतघ्न मनुष्य सदा ही सुख दुःखके द्वन्द्वमें पडे रहते हैं । उस समय उत्तम बुद्धि, गुरुकी शिक्षा और पुरुषार्थ भी उनकी रक्षा नहीं करते ॥ ७ ॥

यो यमिच्छेद्यथा कामं तं तं काम समश्नुयात् ।
यदि स्यादपराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम् ॥ ८ ॥

इसलिये यदि पुरुषका क्रियाफल पराधीन न होता, तो जो व्यक्ति जिस कामनाकी इच्छा करता, उसको वही प्राप्त हो जाता ॥ ८ ॥

संयताश्चापि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ।
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः ॥ ९ ॥

यदि पुरुषार्थ वा क्रियाका फल पराधीन न हो तो बुद्धिमान्, चतुर और शिक्षायुक्त मनुष्य निष्फल और कर्महीन न दिखलाई पडें ॥ ९ ॥

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ।
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखेनेह जीवति ॥ १० ॥

जगत्में जो मनुष्य सदा हिंसा किया करता है, तथा संसारके ठगनेमें तत्पर रहता है, वह संसारमें सुखसे जीवित रहता हुआ देखा जाता है ॥ १० ॥

अचेष्टमानमासीनं श्रीः कंचिदुपतिष्ठति ।
कश्चित्कर्माणि कुर्वन्हि न प्राप्यमधिगच्छति ॥ ११ ॥

कितने ही लोग पुरुषार्थको छोडकर बैठे रहते हैं, परन्तु उनको लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है; कितने ही लोग अनेक कर्म करनेपर भी लक्ष्मी नहीं पाते ॥ ११ ॥

देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ।
दशमासधृता गर्भे जायन्ते कुलपांसनाः ॥ १२ ॥

पुत्रकी कामनावाले कितने ही लोग देवताओंकी पूजा करते हैं, तप करते हैं, परन्तु उनके दस महीना गर्भमें रहकर कुलकलंक पुत्र उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥

अपरे धनधान्यैश्च भोगैश्च पितृसंचितैः।
विपुलैरभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः ॥ १३ ॥

दूसरी तरफ उसी ही मंगल कर्मसे बहुतसे पुत्र पिताके सञ्चय किये हुए धन धान्यादिसे भोगविलास करते हैं ॥ १३ ॥

कर्मजा हि मनुष्याणां रोगा नास्त्यत्र संशयः।
आधिभिश्चैव बाध्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव ॥ १४ ॥

हे ब्राह्मण ! इसमें कोई संशय नहीं है कि मनुष्योंके रोग और व्याधि भी कर्मसे ही उत्पन्न होती हैं। तथा उन मनुष्योंका नाश भी आधियोंसे उसी तरह होता है जैसे व्याधसे मृगका ॥ १४ ॥

ते चापि कुशलैर्वैद्यैर्निपुणैः संभृतौषधैः।
व्याधयो विनिवार्यन्ते मृगा व्याधैरिव द्विज ॥ १५ ॥

चतुर वैद्य लोग लायी हुई औषधियोंसे व्याधियोंका ऐसा नाश करते हैं, जैसे वधिक मृगोंका नाश करते हैं ॥ १५ ॥

येषामस्ति च भोक्तव्यं ग्रहणीदोषपीडिताः।
न शक्नुवन्ति ते भोक्तुं पश्य धर्मभृतां वर ॥ १६ ॥

हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ राजन् ! बहुतसे लोग ऐसे ही हैं, कि जिनके पास खानेके लिये बहुत है, परन्तु वे ग्रहणी रोगसे ग्रस्त होनेके कारण खा नहीं सकते ॥ १६ ॥

अपरे बाहुबलिनः क्लिश्यन्ते बहवो जनाः।
दुःखेन चाधिगच्छन्ति भोजनं द्विजसत्तम ॥ १७ ॥

हे ब्राह्मण ! बहुतसे बलवान् भोजनका भी दुःख भोगते हैं और हे द्विजश्रेष्ठ ! वे बलवान् होकर भी बडी मुश्किलसे भोजन जुटा पाते हैं ॥ १७ ॥

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम्।
स्रोतसासकृदाक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा ॥ १८ ॥

इस प्रकारसे संसार शोक और मोहसे भरकर चिल्लाता है। प्रारब्धकी नदीमें बलवान् फलोंके द्वारा सब प्राणी खींचे जाते हैं ॥ १८ ॥

न म्रियेयुर्न जीर्येयुः सर्वे स्युः सार्वकामिकाः।
नाप्रियं प्रतिपश्येयुर्वशित्वं यदि वै भवेत् ॥ १९ ॥

हे ब्राह्मण ! यदि फलप्राप्तिमें मनुष्य स्वाधीन रहते तो न कोई मरता, न कोई जराजीर्ण होता, न कोई अप्रिय विषयकी कामना करता, बल्कि सब अपनी सब प्रकारकी कामनाओंको प्राप्त करते ॥ १९ ॥

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते।
यतते च यथाशक्ति न च तद्वर्तते तथा ॥ २० ॥

सब मनुष्योंकी यही इच्छा रहती है, कि हम जगत्से ऊंचे रहें और ऐसे ही यथाशक्ति उद्योग भी करते हैं, परन्तु फल सबको प्राप्त नहीं होता ॥ २० ॥

बहवः संप्रदृश्यन्ते तुल्यनक्षत्रमङ्गलाः।
महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु ॥ २१ ॥

किन्हींके जन्मकालके मङ्गल नक्षत्र समान ऊंचे दीखते हैं, पर उनके कर्मोंके फल बहुत विषम दीख पडते हैं ॥ २१ ॥

न कश्चिदीशते ब्रह्मन्स्वयंग्राहस्य सत्तम।
कर्मणां प्राक्कृतानां वै इह सिद्धिः प्रदृश्यते ॥ २२ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अपने हाथोंमें आई हुई वस्तुका भी कोई स्वयं स्वामी नहीं होता, इस जगत्में पहले कर्मोंकी ही सिद्धि दीखती है ॥ २२ ॥

यथा श्रुतिरियं ब्रह्मञ्जीवः किल सनातनः।
शरीरमध्रुवं लोके सर्वेषां प्राणिनामिह ॥ २३ ॥

हे ब्राह्मण! वेदोंमें लिखा है कि जीव सनातन है, पर सब प्राणियोंके शरीर नाशवान् हैं ॥ २३ ॥

वध्यमाने शरीरे तु देहनाशो भवत्युत।
जीवः संक्रमतेऽन्यत्र कर्मबन्धनिबन्धनः ॥ २४ ॥

मारे जानेपर देहनाश तो हो जाता है, पर कर्मानुसार जीव दूसरे शरीरमें चला जाता है ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच

कथं धर्मभृतां श्रेष्ठ जीवो भवति शाश्वतः।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन वदतां वर ॥ २५ ॥

ब्राह्मण बोले– हे कर्म करनेवालोंमें श्रेष्ठ! जीव सनातन किस रीतिसे है? हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ! उसे मैं तत्त्वतः सुनना चाहता हूं, आप कहिये ॥ २५ ॥

व्याध उवाच

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे मिथ्यैतदाहुर्म्रियतेति मूढाः।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥ २६ ॥

व्याध बोला– देहके नाश होनेसे जीवका नाश कभी नहीं होता। मूर्ख लोग मिथ्या ही कहते हैं, कि अमुक मनुष्य मर गया। जीव तो दूसरे शरीरमें चला जाता है। पांचों भूतोंका विलीन हो जाना ही मरना कहलाता है ॥ २६ ॥

अन्यो हि नाश्नाति कृतं हि कर्म स एव कर्ता सुखदुःखभागी।
यत्तेन किंचिद्धि कृतं हि कर्म तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाशः ॥ २७ ॥
दूसरेके किये कर्मके फलको संसारमें दूसरा मनुष्य नहीं भोग सकता। कर्मका कर्ता ही सुख-दुःखका भागी होता है। जो जिस कर्मको करता है, उसे वह अवश्य भोगता है, और कर्मका नाश कभी नहीं होता है ॥ २७ ॥

अपुण्यशीलाश्च भवन्ति पुण्या नरोत्तमाः पापकृतो भवन्ति।
नरोऽनुयातास्त्विह कर्मभिः स्वैस्ततः समुत्पद्यति भावितस्तैः ॥ २८ ॥
कभी कभी पापी भी पुण्य कर्म करनेवाले होते हैं और पुण्यशाली भी पाप कर्म करते हैं, मनुष्य अपने कर्मोंके अनुसार जन्म लेता है, और कर्मके अनुसार ही वह फल भोगता है ॥ २८ ॥

ब्राह्मण उवाच

कथं संभवते योनौ कथं वा पुण्यपापयोः।
जातीः पुण्या ह्यपुण्याश्च कथं गच्छति सत्तम ॥ २९ ॥
ब्राह्मण बोले– हे नरश्रेष्ठ! पाप और पुण्यके अनुसार इस मनुष्यको किस प्रकार नीच और उत्तम योनि प्राप्त होती है? हे द्विजश्रेष्ठ! आत्माके साथ पुण्य और पाप किस तरह जाते हैं ॥ २९ ॥

व्याध उवाच

गर्भाधानसमायुक्तं कर्मेदं संप्रदृश्यते।
समासेन तु ते क्षिप्रं प्रवक्ष्यामि द्विजोत्तम ॥ ३० ॥
व्याध बोले– हे द्विजोत्तम! महात्मा लोग गर्भाधानसे कर्मका आरंभ कहते हैं। मैं उस सब कर्मको संक्षेपसे कहता हूँ, सुनो ॥ ३० ॥

यथा संभृतसंभारः पुनरेव प्रजायते।
शुभकृच्छुभयोनीषु पापकृत्पापयोनिषु ॥ ३१ ॥
जैसे कर्मका बीज बारबार उत्पन्न होता है, उसके अनुसार ही जीव भी पाप और पुण्यके वशमें होकर शुभ अथवा अशुभ योनियोंमें जन्म लेता है ॥ ३१ ॥

शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत्।
मोहनीयैर्वियोनीषु त्वधोगामी च किल्बिषैः ॥ ३२ ॥
उत्तम कर्मसे देव, मिश्रित कर्मसे मनुष्य, भ्रमवाले तामस कर्म करनेसे नीच और पापकर्म करनेसे पशु आदि नीच योनियोंमें जन्म लेना होता है ॥ ३२ ॥

जातिमृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यमानश्च दोषैरात्मकृतैर्नरः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार यह जीव अपने कृतकर्मोंके दोषके कारण जन्म, मरण और बुढापा आदि महा दुःखोंमें सदा पडा करता है ॥ ३३ ॥

तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च ।
जीवाः संपरिवर्तन्ते कर्मबन्धनिबन्धनाः ॥ ३४ ॥

पापोंके वशमें होकर जीव सहस्रों नीच योनि और नरकोंको भोगकर घूमते रहते हैं ॥ ३४ ॥

जन्तुस्तु कर्मभिस्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः ।
तद्दुःखप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमश्नुते ॥ ३५ ॥

इस प्रकार यह जीव अपने कर्मोंको भोगकर मरता है, तब उन पापोंका नाश करनेके लिये पापयोनि प्राप्त होती है ॥ ३५ ॥

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यन्नवं बहु ।
पच्यते तु पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः ॥ ३६ ॥

जब उस योनिमें जाकर यह नवीन कर्म किया करता है, तब फिर उन कर्मोंके भोगोंको भोगता है। जीवकी निरन्तर ऐसी ही दशा रहती है; जैसी अपथ्य खानेसे रोगियोंकी ॥ ३६ ॥

अजस्रमेव दुःखार्तोऽदुःखितः सुखसंज्ञितः ।
ततोऽनिवृत्तबन्धत्वात्कर्मणामुदयादपि ।
परिक्रामति संसारे चक्रवद्बहुवेदनः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार यह जीव दुःखोंसे भरा रहता है, पर जब यह दुःखसे रहित होता है, तब यह अपनेको सुखी मानता है। जब इसके कर्मफलरूप बंधन निवृत्त न होनेके कारण कर्मफल भोगनेका काल प्राप्त होता है, तब यह जीव दुःखोंसे पूर्ण होकर कुम्हारके चाकके समान इस संसारमें घूमता है ॥ ३७ ॥

स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ।
प्राप्नोति सुकृताँल्लोकान्यत्र गत्वा न शोचति ॥ ३८ ॥

यदि यह जीव उसी अवस्थामें कर्मोंसे निवृत्त और शुद्ध हो जाये, तो उत्तम लोकोंको प्राप्त करता है जहां जानेपर उसे दुःख नहीं होता ॥ ३८ ॥

पापं कुर्वन्पापवृत्तः पापस्यान्तं न गच्छति ।
तस्मात्पुण्यं यतेत्कर्तुं वर्जयेत च पातकम् ॥ ३९ ॥

पापी मनुष्य पापको भोगते भोगते पापका अन्त नहीं पाता, इसलिए पुण्य करनेका प्रयत्न करना चाहिये और पापको छोड देना चाहिये ॥ ३९ ॥

अनसूयुः कृतज्ञश्च कल्याणान्येव सेवते ।
सुखानि धर्ममर्थं च स्वर्गं च लभते नरः ॥ ४० ॥

मत्सर न करनेवाले और कृतज्ञ मनुष्य कल्याणयुक्त कर्मोंको ही करते हैं और सुख, धर्म, धन और स्वर्ग पाते हैं ॥ ४० ॥

संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः ।
प्राज्ञस्यानन्तरा वृत्तिरिह लोके परत्र च ॥ ४१ ॥

जिसका संस्कार किया गया है, जो जितेन्द्रिय है, जिसने अपने मनको वशमें किया है, उसको इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ।
असंक्लेशेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेत वै द्विज ॥ ४२ ॥

इसलिये सज्जनोंके मार्गपर ही चलना चाहिये तथा सदा शिष्टोंके समान आचरण करना चाहिये । हे ब्राह्मण ! मनुष्य ऐसी आजीविका करे, कि जिसमें संसारको दुःख न पहुंचे ॥४२॥

सन्ति ह्यागतविज्ञानाः शिष्टाः शास्त्रविचक्षणाः ।
स्वधर्मेण क्रिया लोके कर्मणः सोऽप्यसङ्करः ॥ ४३ ॥

अपने ही धर्मसे मनुष्यको वर्त्तना चाहिये; इससे जगत्में संकर नहीं होता । शास्त्रमें शिष्टोंके बहुतसे उपदेश लिखे हुए हैं ॥ ४३ ॥

प्राज्ञो धर्मेण रमते धर्मं चैवोपजीवति ।
तस्य धर्मादवाप्तेषु धनेषु द्विजसत्तम ।
तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान्पश्यति यत्र वै ॥ ४४ ॥

बुद्धिमान् धर्महीका श्रवण करता है, धर्महीसे जीता है, तथा, हे द्विजश्रेष्ठ ! धर्मके द्वारा प्राप्त धनोंमें ही वह रमता भी है । वह जहां गुणोंको देखता है उसीके मूलको सींचता है ॥४४॥

धर्मात्मा भवति ह्येवं चित्तं चास्य प्रसीदति ।
स मित्रजनसंतुष्ट इह प्रेत्य च नन्दति ॥ ४५ ॥

धर्मात्माका चित्त सदा प्रसन्न रहता है, धर्मात्मा इष्ट मित्रके सहित इस लोक परलोक दोनोंमें सुख भोगता है ॥ ४५ ॥

शब्दं स्पर्शं तथा रूपं गन्धानिष्टांश्च सत्तम ।
प्रभुत्वं लभते चापि धर्मस्यैतत्फलं विदुः ॥ ४६ ॥

हे सत्तम ! शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध और अभीष्ट पदार्थोंके धर्मात्मा ही स्वामी होते हैं, यही धर्मका फल है ऐसा विद्वान् समझते हैं ॥ ४६ ॥

धर्मस्य च फलं लब्ध्वा न तृप्यति महाद्विज ।
अतृप्यमाणो निर्वेदमादत्ते ज्ञानचक्षुषा ॥ ४७ ॥

हे ब्राह्मण ! धर्मके फलको पाकर जब मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता, तब अतृप्त हुआ वह अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंसे वैराग्यको स्वीकार करता है ॥ ४७ ॥

प्रज्ञाचक्षुर्नर इह दोषं नैवानुरुध्यते ।
विरज्यति यथाकामं न च धर्मं विमुञ्चति ॥ ४८ ॥

ज्ञानदृष्टि होनेसे वह संसारके दोषोंमें नहीं फंसता, अपनी इच्छानुसार विहार करता है, किन्तु धर्मका त्याग नहीं करता ॥ ४८ ॥

सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम् ।
ततो मोक्षे प्रयतते नानुपायादुपायतः ॥ ४९ ॥

संसारको नाशवान् समझकर सबको त्यागनेका यत्न करता है। तब अनेक उपायोंसे मोक्षप्राप्तिका उद्योग करता है ॥ ४९ ॥

एवं निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च ।
धार्मिकश्चापि भवति मोक्षं च लभते परम् ॥ ५० ॥

इसप्रकार मनुष्य वैराग्य धारण करता है और पापकर्मोंको त्यागता है, ऐसा ही मनुष्य धार्मिक कहाता है, वही मोक्षको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः ।
तेन सर्वानवाप्नोति कामान्यान्मनसेच्छति ॥ ५१ ॥

तप ही प्राणियोंके लिए परम कल्याणकारी है, उसके फल शम और दम हैं। तपसे मनुष्य जिन जिन अभिलाषाओंकी मनसे इच्छा करता है, उन सबको प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन सत्येन च दमेन च ।
ब्रह्मणः पदमाप्नोति यत्परं द्विजसत्तम ॥ ५२ ॥

इन्द्रियोंको जीतने, सत्य और दमसे ब्रह्मपदको प्राप्त होता है। हे द्विजश्रेष्ठ ! वह ब्रह्मपद सर्वोत्तम स्थान है ॥ ५२ ॥

ब्राह्मण उवाच

इन्द्रियाणि तु यान्याहुः कानि तानि यतव्रत ।
निग्रहश्च कथं कार्यो निग्रहस्य च किं फलम् ॥ ५३ ॥

ब्राह्मण बोले— हे व्रतधारी ! जिन्हें इन्द्रिय कहते हैं, वे कौन कौनसीं हैं ? इन्द्रियोंको कैसे जीता जाता है ? इन्द्रियोंके जीते जानेका क्या फल है ? ॥ ५३ ॥

कथं च फलमाप्नोति तेषां धर्मभृतां वर।
एतदिच्छामि तत्त्वेन धर्मं ज्ञातुं सुधार्मिक ॥ ५४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥ ७१७० ॥

हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ ! उनका फल कैसे प्राप्त होता है? हे धार्मिक! इस सब धर्मको मैं ठीक ठीक जानना चाहता हूं ॥ ५४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसैवां अध्याय समाप्त ॥ २०० ॥ ७१७० ॥

२०१

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेण धर्मव्याधो युधिष्ठिर।
प्रत्युवाच यथा विप्रं तच्छृणुष्व नराधिप ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! ब्राह्मणके ऐसे वचन सुनकर धर्मव्याधने जो कुछ उनसे कहा, उसे मैं कहता हूं, सुनो ॥ १ ॥

व्याध उवाच

विज्ञानार्थं मनुष्याणां मनः पूर्वं प्रवर्तते।
तत्प्राप्य कामं भजते क्रोधं च द्विजसत्तम ॥ २ ॥

व्याध बोला– हे द्विजश्रेष्ठ ! पहले मनुष्यका मन विज्ञानको जाननेमें प्रवृत्त होता है, तब विज्ञानलाभ होनेपर काम और क्रोधको प्राप्त करता है ॥ २ ॥

ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत्।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च निषेवते ॥ ३ ॥

तदनन्तर उस काम और क्रोधसे प्रेरित होकर महान् कर्मका आरंभ करता है, फिर अपने प्रिय रूप और गन्धादि विषयोंका अभ्यास करता है ॥ ३ ॥

ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम्।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ॥ ४ ॥

तब मनुष्यमें राग उत्पन्न होता है, रागसे द्वेष उत्पन्न होता है, द्वेषसे लोभ पैदा होता है और लोभसे मोह होता है ॥ ४ ॥

तस्य लोभाभिभूतस्य रागद्वेषहतस्य च ।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद्धर्मं करोति च ॥ ५ ॥

तब लोभसे और रागद्वेषसे युक्त मनुष्यकी बुद्धि धर्ममें नहीं जाती है उस अवस्थामें वह केवल दिखावेके लिए ही धर्मका आचरण करता है ॥ ५ ॥

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते ।
व्याजेन सिध्यमानेषु धनेषु द्विजसत्तम ।
तत्रैव रमते बुद्धिस्ततः पापं चिकीर्षति ॥ ६ ॥

वह दिखावेके लिए ही धर्म करता है । ढोंगसे धन कमाना पसन्द करता है । हे ब्रह्मन् ! इसप्रकार जब वह कपटसे धम प्राप्त कर लेता है तब उसकी बुद्धि, उसी धनमें रमने लगती है और तब वह पापकर्म भी करता है ॥ ६ ॥

सुहृद्भिर्वार्यमाणश्च पण्डितैश्च द्विजोत्तम ।
उत्तरं श्रुतिसंबद्धं ब्रवीति श्रुतियोजितम् ॥ ७ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! उसे जो बन्धु बान्धव तथा पण्डित महात्मा कुकर्मसे रोकते हैं तो उनको श्रौत धर्मसे रहित होनेपर भी श्रुतिवाक्यसे युक्तिके साथ उत्तर देता है ॥ ७ ॥

अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्धते रागदोषतः ।
पापं चिन्तयते चापि ब्रवीति च करोति च ॥ ८ ॥

ऐसे पुरुषको तीन प्रकारका अधर्म प्राप्त होता है; मनसे पापकी चिन्ता करना, वचनसे पाप करना, कर्मसे पापको करना ॥ ८ ॥

तस्याधर्मप्रवृत्तस्य गुणा नश्यन्ति साधवः ।
एकशीलाश्च मित्रत्वं भजन्ते पापकर्मिणः ॥ ९ ॥

अधर्ममें प्रवृत्त उस मनुष्यके सब उत्तम गुण नष्ट हो जाते हैं और अपने समान स्वभाववाले पापियोंसे इसकी मित्रता होती है ॥ ९ ॥

स तेनासुखमाप्नोति परत्र च विहन्यते ।
पापात्मा भवति ह्येवं धर्मलाभं तु मे शृणु ॥ १० ॥

इससे इहलोक और परलोकमें दुःख भोगता है । हे ब्राह्मण ! पापियोंकी यह गति होती है । अब धर्मात्माओंका वृत्तान्त सुनो ॥ १० ॥

×

यस्त्वेतान्प्रज्ञया दोषान्पूर्वमेवानुपश्यति ।
कुशलः सुखदुःखेषु साधूंश्चाप्युपसेवते ।
तस्य साधुसमारम्भाद्बुद्धिर्धर्मेषु जायते ॥ ११ ॥

धर्मात्मा पहले ही बुद्धिसे दोषोंको देखता है। सुख और दुःखके तत्त्वोंको जाननेमें कुशल होता है। वह सत्पुरुषोंकी सेवा करता है। सत्पुरुषोंकी सेवा करनेके कारण उसकी बुद्धि धर्ममें प्रेरित होती है ॥ ११ ॥

ब्राह्मण उवाच

ब्रवीषि सूनृतं धर्मं यस्य वक्ता न विद्यते ।
दिव्यप्रभावः सुमहानृषिरेव मतोऽसि मे ॥ १२ ॥

ब्राह्मण बोले– हे व्याध ! तुम सत्य धर्म कहते हो; तुम्हारे समान धर्मको कहनेवाला कोई भी नहीं है। तुम्हारा प्रभाव दिव्य है, मेरे विचारमें तुम ऋषि ही हो ॥ १२ ॥

व्याध उवाच

ब्राह्मणा वै महाभागाः पितरोऽग्रभुजः सदा ।
तेषां सर्वात्मना कार्यं प्रियं लोके मनीषिणा ॥ १३ ॥

व्याध बोला– ब्राह्मण ही महाभाग्यवान् और सब वर्णोंके पितृस्वरूप तथा प्रथम भोजन करनेवाले हैं। अतः बुद्धिमानोंको चाहिये, कि वे उन्हींका प्रिय कार्य करें ॥ १३ ॥

यत्तेषां च प्रियं तत्ते वक्ष्यामि द्विजसत्तम ।
नमस्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मीं विद्यां निबोध मे ॥ १४ ॥

हे ब्राह्मणोत्तम ! जो उनको प्रसन्न करनेवाली बातें हैं, मैं तुमसे कहता हूं। ब्राह्मणोंको नमस्कार करके अब मैं तुमसे ब्राह्मी विद्या कहता हूं, सुनो ॥ १४ ॥

इदं विश्वं जगत्सर्वमजय्यं चापि सर्वशः ।
महाभूतात्मकं ब्रह्मन्नातः परतरं भवेत् ॥ १५ ॥

यह सब जगत् जीतनेके अयोग्य है; यह महाभूतात्मक जगत् है। इससे परे कोई पदार्थ नहीं है ॥ १५ ॥

महाभूतानि खं वायुरग्निरापस्तथा च भूः ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ १६ ॥

पञ्च महाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध उन महाभूतोंके गुण हैं ॥ १६ ॥

तेषामपि गुणाः सर्वे गुणवृत्तिः परस्परम् ।
पूर्वपूर्वगुणाः सर्वे क्रमशो गुणिषु त्रिषु ॥ १७ ॥

उन गुणोंके भी अनेक गुण हैं और उन गुणोंमें परस्पर संक्रमण देखा जाता है। पहले पहलेके गुण बादके तीन गुणियोंमें देखे जा सकते हैं। अग्निमें शब्द स्पर्श और रूप, जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध होते हैं ॥ १७ ॥

षष्ठस्तु चेतना नाम मन इत्यभिधीयते ।
सप्तमी तु भवेद्बुद्धिरहङ्कारस्ततः परम् ॥ १८ ॥

छठा चैतन्य एक और है, जिसे मन कहा जाता है। सातवीं बुद्धि होती है और आठवां अहंकार है ॥ १८ ॥

इन्द्रियाणि च पञ्चैव रजः सत्त्वं तमस्तथा ।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ॥ १९ ॥

पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा रजोगुण, तमोगुण, और सतोगुण, इसप्रकार ये सत्रह पदार्थ अव्यक्त कहाते हैं ॥ १९ ॥

सर्वैरिहेन्द्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतः ।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गुणः ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकाधिकाद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥ ७१९० ॥

इन्द्रिय और उनके अर्थोंको मिलाकर व्यक्त और अव्यक्त रूपसे चौबीस तत्त्व होते हैं, जो व्यक्ताव्यक्तमय गण कहलाते हैं। यह सब मैंने तुमसे कहा। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ एकवां अध्याय समाप्त ॥ २०१ ॥ ७१९० ॥

: २०२ :

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तः स विप्रस्तु धर्मव्याधेन भारत ।
कथामकथयद्भूयो मनसः प्रीतिवर्धनीम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! धर्मव्याधके ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मणने फिर मनकी प्रीतिको बढानेवाला प्रश्न किया ॥ १ ॥

ब्राह्मण उवाच

महाभूतानि यान्याहुः पञ्च धर्मविदां वर।
एकैकस्य गुणान्सम्यक्पञ्चानामपि मे वद ॥ २ ॥

ब्राह्मण बोले– हे व्याध ! हे धर्मको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ ! जो पञ्चभूत कहाते हैं, उनमेंसे एक एकका गुण अलग अलग है अतः पांचों गुण मुझे बताइए ! ॥ २ ॥

व्याध उवाच

भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाशमेव च।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां वक्ष्यामि ते गुणान् ॥ ३ ॥

व्याध बोले– हे ब्राह्मण ! भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश इनमेंसे पूर्व पूर्वके अधिक गुणवाले और पिछले कम गुणवाले हैं, मैं इन तत्त्वोंके गुणोंको बताता हूं, तुम सुनो ॥ ३ ॥

भूमिः पञ्चगुणा ब्रह्मन्नुदकं च चतुर्गुणम्।
गुणास्त्रयस्तेजसि च त्रयश्चाकाशवातयोः ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन् ! पृथ्वीमें पांच गुण, जलमें चार गुण, तेजमें तीन गुण, वायुमें दो गुण और आकाशमें एक गुण हैं ॥ ४ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
एते गुणाः पञ्च भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तराः ॥ ५ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच गुण पृथ्वीमें हैं, इसीसे पृथ्वी अधिक गुणवाली कहाती है ॥ ५ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि द्विजोत्तम।
अपामेते गुणा ब्रह्मन्कीर्तितास्तव सुव्रत ॥ ६ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये जलके गुण हैं; हे सुव्रत ब्रह्मन् ! ये गुण मैंने तुम्हारे सामने कहे हैं ॥ ६ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः।
शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु शब्द आकाश एव च ॥ ७ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप ये तीन गुण तेजके हैं; शब्द और स्पर्श वायुके गुण हैं। और केवल शब्द आकाशका गुण है ॥ ७ ॥

एते पञ्चदश ब्रह्मन्गुणा भूतेषु पञ्चसु।
वर्तन्ते सर्वभूतेषु येषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।
अन्योन्यं नातिवर्तन्ते संपच्च भवति द्विज ॥ ८ ॥

हे ब्रह्मन् ! यह पन्द्रह गुण पांच भूतोंके हैं और इन्हींसे जगत् स्थिर है। यह एक दूसरेको नहीं छोडते हैं, क्योंकि ये एक दूसरेके विना नहीं रह सकते ॥ ८ ॥

यदा तु विषमीभावमाचरन्ति चराचराः ।
तदा देही देहमन्यं व्यतिरोहति कालतः ॥ ९ ॥

जब चर और अचर रूप पांच भूत विषमावस्थाको प्राप्त होते हैं, तब कालधर्मके अनुसार जीवात्मा एक देहको छोडकर दूसरी देहमें जाता है ॥ ९ ॥

आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः ।
तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः ।
यैरावृतमिदं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ १० ॥

हे ब्राह्मण ! ये गुण समयपर ही मिलते हैं; और समयपर ही अलग भी हो जाते हैं। सब धातुयें पञ्चभूतोंसे ही बनती हैं। इन्हींसे सम्पूर्ण चर और अचर जगत् व्याप्त है ॥ १० ॥

इन्द्रियैः सृज्यते यद्यत्तत्तद्व्यक्तमिति स्मृतम् ।
अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ ११ ॥

इन्द्रियोंसे जितने पदार्थ संबद्ध हैं , वे सब व्यक्तसंज्ञक हैं; जो इन्द्रियोंसे अज्ञेय तथा रूपादि प्रकाश द्वारा अनुमेय हैं वही अव्यक्त हैं ॥ ११ ॥

यथास्वं ग्राहकान्येषां शब्दादीनामिमानि तु ।
इन्द्रियाणि यदा देही धारयन्निह तप्यते ॥ १२ ॥

जब पुरुष अपने शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेवाले इन्द्रियोंका संयमन करके आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करता है तब वह मानों तपस्या ही करता है ॥ १२ ॥

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यति ।
परावरज्ञः सक्तः सन्सर्वभूतानि पश्यति ॥ १३ ॥

उस अवस्थामें वह आत्माको सब जगत्में और जगत्को आत्मामें देखता है, वही पर और अपरको जाननेवाला होकर सब प्राणियोंको देखता है ॥ १३ ॥

पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते ॥ १४ ॥

जो सब अवस्थामें सब प्राणियोंको आत्मरूप देखनेवाला है, उस ब्रह्मके समान महात्माको अशुभ कर्म नहीं प्राप्त होते ॥ १४ ॥

ज्ञानमूलात्मकं क्लेशमतिवृत्तस्य मोहजम् ।
लोको बुद्धिप्रकाशेन ज्ञेयमार्गेण दृश्यते ॥ १५ ॥

अविद्यासे भरे हुए मोहसे उत्पन्न क्लेशोंको जो लांघ गया है, वह महात्मा संसारमें प्रकाशमान ज्ञेय मार्गसे मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

अनादिनिधनं जन्तुमात्मयोनिं सदाव्ययम्।
अनौपम्यममूर्तं च भगवानाह बुद्धिमान्।
तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां विप्रानुपृच्छसि ॥ १६ ॥

जो तिनकेसे ब्रह्मतकमें अविकारी परमेश्वरको व्यापक देखता है, वह शरीररहित अनुपम बुद्धिमान् परमेश्वरको जाननेवाला और योगी कहाता है। हे ब्राह्मण! जो तुमने पूछा, वह सब तपसे सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥ १७ ॥

स्वर्ग और नरक ये दोनों इन्द्रियनिर्मित ही होते हैं। इन्द्रियोंको जीतना ही स्वर्ग है और इन्द्रियोंको न जीतना ही नरक है ॥ १७ ॥

एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम्।
एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च ॥ १८ ॥

संपूर्ण योगकी विधि इन्द्रियोंको जीतनेमें ही है; येही तप और संपूर्ण नरकके मूल है ॥१८॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिमवाप्नुते ॥ १९ ॥

इन्द्रियोंको न जीतनेसे ही जीवको निस्सन्देह दोष प्राप्त होते हैं। जब जीव उन्हीं इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेता है, तब उसको निःसन्देह सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १९ ॥

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ २० ॥

पांच इन्द्रियें और छठे मनको जो रोकता है, वह सदा ऐश्वर्यको पाता है। जितेन्द्रिय मनुष्य पापोंसे कभी भी संयुक्त नहीं होता, फिर अनर्थोंसे कैसे संयुक्त होगा? ॥ २० ॥

रथः शरीरं पुरुषस्य दृष्टमात्मा नियन्तेन्द्रियाण्याहुरश्वान्।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ २१ ॥

प्राणका शरीर ही रथ है, मन सारथी और इन्द्रियोंको घोडा कहा है। वे घोडे जब अप्रमत्त, कुशल, चतुर और उत्तम होते हैं, तब यह आत्मा उससे सुखपूर्वक प्रवास करती है जिसप्रकार एक बुद्धिमान् रथी रथसे प्रवास करता है ॥ २१ ॥

षण्णामात्मनि युक्तानामिन्द्रियाणां प्रमाथिनाम्।
यो धीरो धारयेद्रश्मीन्स स्यात्परमसारथिः ॥ २२ ॥

जो धीर पुरुष अपने शरीरमें स्थित मथनेवाली छहों इन्द्रियोंके लगामको थामे रहता है वह उत्तम सारथि होता है ॥ २२ ॥

इन्द्रियाणां प्रसृष्टानां हयानामिव वर्त्मसु ।
धृतिं कुर्वीत सारथ्ये धृत्या तानि जयेद् ध्रुवम् ॥ २३ ॥

जो इन्द्रियें इधर उधर घोडेके समान मार्गमें भागती हैं, उनको जो रोकता है वही उत्तम सारथी मनसे इन्द्रियोंको जीतता है ॥ २३ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरते बुद्धिं नावं वायुरिवाम्भसि ॥ २४ ॥

जो अनेक मार्गमें चलनेवाली इन्द्रियोंके पीछे मनको दौडाता है, उसकी बुद्धि ऐसे नष्ट हो जाती है, जैसे वायु नावको जलमें डुबाता है ॥ २४ ॥

येषु विप्रतिपद्यन्ते षट्सु मोहात्फलागमे ।
तेष्वध्यवसिताध्यायी विन्दते ध्यानजं फलम् ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥ ७२१५ ॥

जिन छै इन्द्रियोंके विषयमें साधारणजन फलप्राप्तिके समय मोहमें पड जाते हैं, उन्हींमें वीत-राग पुरुष ध्यानसे उत्पन्न होनेवाले फलको प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ दोवां अध्याय समाप्त ॥ २०२ ॥ ७२१५ ॥

: २०३ :

मार्कण्डेय उवाच

एवं तु सूक्ष्मे कथिते धर्मव्याधेन भारत ।
ब्राह्मणः स पुनः सूक्ष्मं पप्रच्छ सुसमाहितः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! इस प्रकारसे धर्मव्याधके सूक्ष्म धर्म कहनेपर उस एकाग्रचित्तवाले ब्राह्मणने फिर सूक्ष्म प्रश्न किया ॥ १ ॥

ब्राह्मण उवाच

सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च यथातथम् ।
गुणांस्तत्त्वेन मे ब्रूहि यथावदिह पृच्छतः ॥ २ ॥

ब्राह्मण बोला– हे धर्मव्याध ! सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणके गुणोंको आप यथावत् पूछनेवाले मुझसे कहिये ॥ २ ॥

व्याध उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
एषां गुणान्पृथक्त्वेन निबोध गदतो मम ॥ ३ ॥

व्याध बोला– तुम जो मुझसे पूछते हो, उसे मैं तुम्हें बतलाऊंगा। मैं इनके गुणोंको अलग अलग रूपसे कहूंगा। तुम कहनेवाले मेरी बात सुनो ॥ ३ ॥

मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषां प्रवर्तकम्।
प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्त्वं ज्याय इहोच्यते ॥ ४ ॥

तमोगुण मोहको बढानेवाला, रजोगुण जगत्के कार्योंमें लगानेवाला और सतोगुण प्रकाश करनेवाला है। अतः सतोगुण उन सबमें उत्तम गिना जाता है ॥ ४ ॥

अविद्याबहुलो मूढः स्वप्नशीलो विचेतनः।
दुर्दृशीकस्तमोध्वस्तः सक्रोधस्तामसोऽलसः ॥ ५ ॥

तमोगुणसे अविद्या, मूर्खता, निद्रा, इन्द्रियोंकी कुमार्गमें प्रवृत्ति, क्रोध और आलस्य बढता है ॥ ५ ॥

प्रवृत्तवाक्यो मन्त्री च योऽनुराग्यभ्यसूयकः।
विवित्समानो विप्रर्षे स्तब्धो मानी स राजसः ॥ ६ ॥

जो वचनचतुर, विचारशील, मनुष्योंसे प्रेम करनेवाला, ईर्ष्या करनेवाला, बहुत कामोंको करनेकी इच्छा रखनेवाला, कठोर और अभिमानी होता है, हे विप्रर्षे ! वह मनुष्य रजोगुणी है ॥६॥

प्रकाशबहुलो धीरो निर्विवित्सोऽनसूयकः।
अक्रोधनो नरो धीमान्दान्तश्चैव स सात्त्विकः ॥ ७ ॥

जो ज्ञानयुक्त, धीर, निरलस हो, जो पराई निन्दा नहीं करता हो, क्रोधरहित हो, बुद्धिमान् और इन्द्रियसंयमी हो, वह मनुष्य सतोगुणी होता है ॥ ७ ॥

सात्त्विकस्त्वथ संबुद्धो लोकवृत्तेन क्लिश्यते।
यदा बुध्यति बोद्धव्यं लोकवृत्तं जुगुप्सते ॥ ८ ॥

सतोगुणी मनुष्य संसारी मनुष्योंके कर्मसे दुःखी होता है। जब उसे ज्ञान होता है तब वह संसारके व्यवहारसे घृणा करने लगता है ॥ ८ ॥

वैराग्यस्य हि रूपं तु पूर्वमेव प्रवर्तते।
मृदुर्भवत्यहङ्कारः प्रसीदत्यार्जवं च यत् ॥ ९ ॥

वैराग्यमें उसका चित्त पहलेसे ही लगा रहता है। उसमें अहङ्कार बहुत कम हो जाता है और सरलता बढने लगती है ॥ ९ ॥

ततोऽस्य सर्वद्वंद्वानि प्रशाम्यन्ति परस्परम् ।
न चास्य संयमो नाम क्वचिद्भवति कश्चन ॥ १० ॥

सतोगुणी मनुष्योंके सब मानापमानादि द्वन्द्व शान्त हो जाते हैं। सतोगुणी मनुष्योंको कभी अपनेपर शम करनेकी जरूरत नहीं होती, वह स्वभावसे ही शान्त होते हैं ॥ १० ॥

शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्‌गुणानुपतिष्ठतः ।
वैश्यत्वं भवति ब्रह्मन्क्षत्रियत्वं तथैव च ॥ ११ ॥

हे ब्रह्मन् ! शूद्र मनुष्य उत्तम गुणोंके प्रतापसे वैश्य होता है, और वैश्यत्वसे क्षात्रियत्वको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते ।
गुणास्ते कीर्तिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ १२ ॥

फिर सरलताका व्यवहार करनेसे वह ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है। हे ब्राह्मण ! मैंने इन सब गुणोंके गुण कहे। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो? ॥ १२ ॥

ब्राह्मण उवाच

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं भवेत् ।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः ॥ १३ ॥

ब्राह्मण बोला– विज्ञानाभिधेय तेजोमय प्राण पार्थिवधातुको अर्थात् इस पार्थिव देहको प्राप्त होकर किस तरह व्यवहार करता है? और प्राणादि वायु नाडीमार्गका आश्रय करके किस प्रकार शरीरको विचेष्टित करता है? ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

प्रश्नमेतं समुद्दिष्टं ब्राह्मणेन युधिष्ठिर ।
व्याधः स कथयामास ब्राह्मणाय महात्मने ॥ १४ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! ब्राह्मणने धर्मव्याधसे जो प्रश्न किया, उसके उत्तरमें धर्मव्याधने महात्मा ब्राह्मणसे कहा ॥ १४ ॥

व्याध उवाच

मूर्धानमाश्रितो वह्निः शरीरं परिपालयन् ।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

व्याध बोला– हे ब्रह्मन् ! शरीरकी रक्षा करता हुआ प्राणरूप अग्नि मस्तिष्कमें रहता है और मुख्य प्राण मस्तिष्क तथा अग्निमें रहता हुआ चेष्टा करता है। जो भूत, वर्तमान और भविष्यत् है, सब प्राणमें प्रतिष्ठित हैं ॥ १५ ॥

×

श्रेष्ठं तदेव भूतानां ब्रह्मज्योतिरुपास्महे ।
स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः ।
मनो बुद्धिरहङ्कारो भूतानां विषयश्च सः ॥ १६ ॥

सब प्राणियोंमें प्राण ही श्रेष्ठ है, और हम उसी प्राणयोनि ब्रह्मकी उपासना करते हैं; प्राण ही सब जन्तुओंकी आत्मा और सनातन पुरुष है। वही महत्तत्त्व, बुद्धि, अहङ्कार और प्राण ही शब्द आदिका विषय है ॥ १६ ॥

एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिपाल्यते ।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः ॥ १७ ॥

इसप्रकार सब जीव प्राणहीसे पाले जाते हैं। पीछेसे वही मुख्य प्राण समान आदिका रूप धारण करके अपनी अपनी गति करता है ॥ १७ ॥

बस्तिमूले गुदे चैव पावकः समुपाश्रितः ।
वहन्मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्तते ॥ १८ ॥

मूत्राशय, लिङ्ग, गुदा और जठराग्निमें प्राण ही रहता है, इसीसे मूत्र और विष्ठा निकलते हैं, इसीसे प्राणका नाम अपान है ॥ १८ ॥

प्रयत्ने कर्मणि बले य एकस्त्रिषु वर्तते ।
उदान इति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ १९ ॥

जो यत्न करनेमें, कर्म करनेमें और बलमें सहायक होता है, उसे अध्यात्मविद्याको जाननेवाले उदान कहते हैं ॥ १९ ॥

सन्धौ सन्धौ संनिविष्टः सर्वेष्वपि तथानिलः ।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ॥ २० ॥

जो वायु मनुष्योंके शरीरोंकी सब संधियोंमें घूमता है, उसे व्यान कहते हैं ॥ २० ॥

धातुष्वग्निस्तु विततः स तु वायुसमीरितः ।
रसान्धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन्परिधावति ॥ २१ ॥

जो अग्नि शरीरकी मांस मज्जा आदि धातुओंमें व्याप्त है, वह वायुसे प्रेरित होती है। वह प्राणाग्नि वायुसे प्रेरित होकर रसों और धातुओंको पुष्ट करती हुई सर्वत्र घूमती है॥ २१ ॥

प्राणानां संनिपातात्तु संनिपातः प्रजायते ।
ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ॥ २२ ॥

प्राणहीके योगसे सबका शरीर बढता है। गरमी ही अग्नि है, उसीसे सब प्राणियोंका अन्न पचता है ॥ २२ ॥

अपानोदानयोर्मध्ये प्राणव्यानौ समाहितौ।
समन्वितस्त्वधिष्ठानं सम्यक्पचति पावकः ॥ २३ ॥

अपान और उदानके बीचमें प्राण और व्यान रहते हैं; यही शरीरको समर्थ करते हैं, और अग्नि अन्नको पचाती है ॥ २३ ॥

तस्यापि पायुपर्यन्तस्तथा स्याद् गुदसंज्ञितः।
स्रोतांसि तस्माज्जायन्ते सर्वप्राणेषु देहिनाम् ॥ २४ ॥

जठराग्निका प्रवेश अपानतक है। उस स्थानको पायु तथा गुद कहते हैं। इसीसे सब प्राणोंके संचार मार्ग होते हैं ॥ २४ ॥

अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ॥ २५ ॥

प्राण अग्निके वेगसे प्रेरित होकर गुदातक आता है, वहां आहत होकर ऊपर आकरके जठराग्निको आहत करता है ॥ २५ ॥

पक्वाशयस्त्वधो नाभ्या ऊर्ध्वमामाशयः स्थितः।
नाभिमध्ये शरीरस्य प्राणाः सर्वे प्रतिष्ठिताः ॥ २६ ॥

नाभिके नीचे पक्वाशय और ऊपर आमाशय है। नाभिके बीचमें शरीरके सब प्राण रहते हैं ॥ २६ ॥

प्रवृत्ता हृदयात्सर्वास्तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा।
वहन्त्यन्नरसान्नाड्यो दश प्राणप्रचोदिताः ॥ २७ ॥

हृदयसे तिरछे, ऊपर और नीचे अर्थात् सब ओर नाडियां निकलती हैं। ये नाडियां दस प्राणोंसे प्रेरित होकर अन्नरसको ले जाती हैं ॥ २७ ॥

योगिनामेष मार्गस्तु येन गच्छन्ति तत्परम्।
जितक्लमासना धीरा मूर्धन्यात्मानमादधुः।
एवं सर्वेषु विततौ प्राणापानौ हि देहिषु ॥ २८ ॥

हे ब्राह्मण ! योगियोंका ब्रह्मके पास जानेका सहस्रार मार्ग यहीं है। इसीसे ही योगी लोग जाते हैं; इस मार्गमें चलनेसे योगियोंको क्लेश नहीं होता, वे धीरतासे सिरमें आत्माका ध्यान करते हैं। सब प्राणियोंके शरीरमें प्राण और अपान व्याप्त हैं ॥ २८ ॥

एकादशविकारात्मा कलासंभारसंभृतः ।
मूर्तिमन्तं हि तं विद्धि नित्यं कर्मजितात्मकम् ॥ २९ ॥

आत्मा एकादशविकारयुक्त लिंग शरीरसे तादात्म्यको प्राप्त होता है तथा सोलह कलाओंके × समुदायसे युक्त होता है (वस्तुतः वह अमूर्त है, परंतु कलारूप उपाधिसे) मूर्तिमान् दीखता है । वह नित्य है, कर्मोंके निरोधसे उसका स्वरूप ज्ञात होता है ॥ २९ ॥

तस्मिन्यः संस्थितो ह्यग्निर्नित्यं स्थाल्यामिवाहितः ।
आत्मानं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ॥ ३० ॥

उस कलासमुदायमें जो अग्निके समान प्रकाशमान् आत्मा रहती है; स्थालीमें रखे हुई अग्निके समान उसीको तुम जीव समझो । वह योगियोंसे जीतने योग्य है ॥ ३० ॥

देवो यः संस्थितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे ।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं त्यागजितात्मकम् ॥ ३१ ॥

कमलमें जलबिन्दुके समान इस जीवात्मामें जो देवता अलिप्तरूपसे निवास करते हैं, उसीको तुम क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा समझो। वह योगसे जीतने योग्य है ॥ ३१ ॥

जीवात्मकानि जानीहि रजः सत्त्वं तमस्तथा ।
जीवमात्मगुणं विद्धि तथात्मानं परात्मकम् ॥ ३२ ॥

रजो गुण, तमो गुण, और सतो गुणको जीवकी उपाधि समझो और आत्माको जीवका नियामक समझो; वह आत्मा परमात्मा ही है ॥ ३२ ॥

सचेतनं जीवगुणं वदन्ति स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम् ।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति प्राकल्पयद्यो भुवनानि सप्त ॥ ३३ ॥

चेतनताको जीवका गुण बताते हैं । वह जीव स्वतः चेष्टा करता है उसकी चेष्टासे सब जगत् चेष्टा करता है । क्षेत्रज्ञको जाननेवाले परमात्माको जीवात्मासे श्रेष्ठ कहते हैं । उसीने प्रथम भूरादि सातलोकोंको बनाया है ॥ ३३ ॥

एवं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया ज्ञानवेदिभिः ॥ ३४ ॥

पर वह परमात्मा सब प्राणियोंके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता । वह तो ज्ञानियोंके द्वारा तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिकी सहायतासे ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है ॥ ३४ ॥

× सोलह कलायें प्राण श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, कर्म, मंत्र, लोक, और नाम

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥ ३५ ॥

चित्तकी प्रसन्नतासे शुभाशुभ कर्मोंका नाश होता है । प्रसन्न चित्तवाला आत्मामें स्थित होके अन्तरहित सुखको अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्येत्कुशलदीपितः ॥ ३६ ॥

प्रसन्न चित्तवालेका लक्षण यह है, कि वह सुखसे सोता है, जैसे वायुरहित स्थानमें दीपकका प्रकाश होता है; ऐसे ही प्रसन्न चित्तवाला दुःखोंसे रहित होकर प्रकाशित होता और सुख भोगता है ॥ ३६ ॥

पूर्वरात्रे परे चैव युञ्जानः सततं मनः ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ ३७ ॥

रात्रिके पहले वा पिछले भागमें अपने मनको परमात्मामें लगाकर आत्मामें आत्माका दर्शन करता है, प्रसन्न चित्तवाला थोडा भोजन करता है, और सदा शुद्ध रहता है ॥ ३७ ॥

प्रदीप्तेनेव दीपेन मनोदीपेन पश्यति ।
दृष्ट्वात्मानं निरात्मानं तदा स तु विमुच्यते ॥ ३८ ॥

जलते हुए दियेसे जिसप्रकार अन्धेरेमें पदार्थोंको देखा जाता है, उसीतरह वह मनरूपी दीपकसे आत्माको देखता है । उस निर्गुण आत्माको देखनेसे वह मुक्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
एतत्पवित्रं यज्ञानां तपो वै संक्रमो मतः ॥ ३९ ॥

सब उपायोंसे लोभ और क्रोधको जीतना ही संसारसे पार पहुंचानेवाला पवित्र मनुष्योंका तप है ॥ ३९ ॥

नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेत मत्सरात् ।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ॥ ४० ॥

मनुष्य हमेशा क्रोधसे तपकी रक्षा करे और मत्सरसे श्रीकी रक्षा करे, आदर और अनादरसे विद्याकी रक्षा करे और प्रमादसे आत्माकी रक्षा करे ॥ ४० ॥

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम् ।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं परं सत्यव्रतं व्रतम् ॥ ४१ ॥

दया ही परम धर्म है, क्षमा परम बल है, आत्मज्ञान परम ज्ञान है और सत्य ही परम व्रत है ॥ ४१ ॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यं ज्ञानं हितं भवेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तं तद्वै सत्यं परं मतम् ॥ ४२ ॥

सत्य बोलना ही श्रेयस्कर है, सत्यका ज्ञान हित करनेवाला होता है। जो सब प्राणियोंके परम हितका साधक हो, वही उत्तम सत्य है ॥ ४२ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः निराशीर्बन्धनाः सदा।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान् ॥ ४३ ॥

जिसके सब कर्म फलरूप बंधनरहित होते हैं तथा होम यज्ञादि सुकर्म फलत्यागकी भावनासे किए जाते हैं, वही बुद्धिमान् त्यागी कहाता है ॥ ४३ ॥

यतो न गुरुरप्येनं च्यावयेदुपपादयन्।
तं विद्याद्ब्रह्मणो योगं वियोगं योगसंज्ञितम् ॥ ४४ ॥

जिसके स्वरूपका ज्ञान शब्दसे गुरु न कह सके किन्तु लक्षणावृत्तिसे सिखलावे, उस ब्रह्मयोगहीको अर्थात् चित्तवियोग, चित्तवृत्ति निरोधको योग समझना चाहिये ॥ ४४ ॥

न हिंस्यात्सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४५ ॥

किसी प्राणीकी हिंसा न करे, सबसे मित्रताका व्यवहार करे। इस मनुष्य जीवनको पाकर मनुष्य किसीसे भी शत्रुता न करे ॥ ४५ ॥

आकिंचन्यं सुसंतोषो निराशित्वमचापलम्।
एतदेव परं ज्ञानं सदात्मज्ञानमुत्तमम् ॥ ४६ ॥

कुछ संग्रह न करना, सन्तोष रखना, किसीकी आशा न रखना, चपलता न करना यही परम ज्ञान और उत्तम आत्मज्ञान है ॥ ४६ ॥

परिग्रहं परित्यज्य भव बुद्ध्या यतव्रतः।
अशोकं स्थानमातिष्ठेन्निश्चलं प्रेत्य चेह च ॥ ४७ ॥

मनुष्य परिग्रह अर्थात् धनकी संचयवृत्तिको छोडकर बुद्धिसे उत्तम व्रत करे। वह मनुष्य इस लोक तथा परलोकमें निश्चल तथा शोकरहित स्थानको प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ ४८ ॥

मुनि सदा तप, चतुरता, जितेन्द्रियता तथा अजेय आत्माको जीतनेकी इच्छा तथा विषयोंमें आसक्तिरहित हो ॥ ४८ ॥

गुणागुणमनासङ्गमेककार्यमनन्तरम्।
एतद्ब्राह्मण ते वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ॥ ४९ ॥

जो गुणोंसे युक्त होनेपर भी गुणरहित है, आसक्तिरहित है, आत्मज्ञानके द्वारा जो साध्य है, जो विघ्नरहित है वही ब्रह्मका स्थान है, वही सुखका एकमात्र स्थान है ॥ ४९ ॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं चाप्युभयं नरः।
ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यन्तमसङ्गेन च गच्छति ॥ ५० ॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको त्यागता है, वह संशयरहित होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है। अनासक्तिसे भी मनुष्य ब्रह्मके पदको प्राप्त कर सकता है ॥ ५० ॥

यथाश्रुतमिदं सर्वं समासेन द्विजोत्तम।
एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ५१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥ ॥ ७२६६ ॥

हे ब्राह्मणोत्तम ! जैसा मैंने धर्म सुना था वैसा तुमसे संक्षेपसे कह सुनाया। अब और क्या तुम्हारी सुननेकी इच्छा है ॥ ५१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ तीनवां अध्याय समाप्त ॥ २०३ ॥ ७२६६ ॥

: २०४ :

मार्कण्डेय उवाच

एवं संकथिते कृत्स्ने मोक्षधर्मे युधिष्ठिर।
दृढं प्रीतमना विप्रो धर्मव्याधमुवाच ह ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले— हे राजन् युधिष्ठिर ! ऐसे सम्पूर्ण मोक्षधर्मोंको सुन चुकनेके अनन्तर प्रसन्न मनवाला ब्राह्मण फिर धर्मव्याधसे बोला ॥ १ ॥

न्याययुक्तमिदं सर्वं भवता परिकीर्तितम्।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिद्धर्मेष्विह हि दृश्यते ॥ २ ॥

जो तुमने कहा वह सब न्यायसे युक्त है। धर्मके विषयमें तुमसे कोई बात छिपी नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ २ ॥

व्याध उवाच

प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं पश्य द्विजसत्तम।
येन सिद्धिरियं प्राप्ता मया ब्राह्मणपुङ्गव ॥ ३ ॥

व्याध बोला– हे ब्राह्मणोत्तम! हे द्विजश्रेष्ठ! मुझे जिससे यह सिद्धि प्राप्त हुई, मेरे उस प्रत्यक्ष धर्मको देखो ॥ ३ ॥

उत्तिष्ठ भगवन्क्षिप्रं प्रविश्याभ्यन्तरं गृहम्।
द्रष्टुमर्हसि धर्मज्ञ मातरं पितरं च मे ॥ ४ ॥

हे धर्मज्ञ भगवन्! तुम जल्दी खडे हो जाओ और घरमें चलकर मेरे माता पिताको देखो ॥४॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तः स प्रविश्याथ ददर्श परमार्चितम्।
सौधं हृद्यं चतुःशालमतीव च मनोहरम् ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन्! व्याधके इसप्रकार कहनेपर ब्राह्मणने घरके भीतर जाकर बहुत मनोहर अटारी और स्थानोंको देखा ॥ ५ ॥

देवतागृहसंकाशं दैवतैश्च सुपूजितम्।
शयनासनसंबाधं गन्धैश्च परमैर्युतम् ॥ ६ ॥

वह घर देवताओंके घरके समान था और देवताओंसे पूजा जाता था। वह स्थान पलङ्ग आसन तथा गन्धोंसे भरा हुआ था ॥ ६ ॥

तत्र शुक्लाम्बरधरौ पितरावस्य पूजितौ।
कृताहारौ सुतुष्टौ तावुपविष्टौ वरासने।
धर्मव्याधस्तु तौ दृष्ट्वा पादेषु शिरसापतत् ॥ ७ ॥

उस घरमें श्वेत वस्त्र पहने हुए, भोजन किये, परम सन्तुष्ट व्याधके मातापिता उत्तम आसन पर बैठे हुए थे। धर्मव्याध उन्हें देखकर उनके पैरोंपर जा गिरा ॥ ७ ॥

वृद्धावूचतुः

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ धर्मज्ञ धर्मस्त्वामभिरक्षतु।
प्रीतौ स्वस्तव शौचेन दीर्घमायुरवाप्नुहि।
सत्पुत्रेण त्वया पुत्र नित्यकालं सुपूजितौ ॥ ८ ॥

वृद्ध बोले– हे धर्मके जाननेवाले! उठो, उठो, धर्म तुम्हारी रक्षा करे, तुम्हारी आयु दीर्घ हो, तुम्हारे शुद्ध आचारसे हम बहुत प्रसन्न हैं, हम तुम्हारे सरीखे सुपुत्रसे नित्य योग्य समयपर उत्तम रीतिसे पूजित होते हैं ॥ ८ ॥

न तेऽन्यदैवतं किंचिद्दैवतेष्वपि वर्तते ।
प्रयतत्वाद्द्विजातीनां दमेनासि समन्वितः ॥ ९ ॥

हे पुत्र ! देवताओंमें भी हमारे सिवा तुम्हारे लिये और कोई देवता नहीं है । ब्राह्मणकी पूजा करनेसे तुम्हें शम और दम सब प्राप्त हुए हैं ॥ ९ ॥

पितुः पितामहा ये च तथैव प्रपितामहाः ।
प्रीतास्ते सततं पुत्र दमेनावां च पूजया ॥ १० ॥

हे पुत्र ! हमारी सेवा करनेसे तथा इन्द्रियसंमयसे तुम्हारे ऊपर पितामह, प्रपितामह सभी प्रसन्न हैं ॥ १० ॥

मनसा कर्मणा वाचा शुश्रूषा नैव हीयते ।
न चान्या वितथा बुद्धिर्दृश्यते सांप्रतं तव ॥ ११ ॥

मन, कर्म और वचनसे भी तुम हमारी सेवामें कुछ कमी नहीं करते । इस समय भी तुम्हारी बुद्धि विपरीत नहीं दिखाई देती ॥ ११ ॥

जामदग्न्येन रामेण यथा वृद्धौ सुपूजितौ ।
तथा त्वया कृतं सर्वं तद्विशिष्टं च पुत्रक ॥ १२ ॥

हे पुत्र ! जैसे जमदग्निके पुत्र परशुरामने वृद्ध मातापिताकी सेवा की थी, ऐसे ही अथवा उससे अधिक ही तुमने हमारी सेवा की है ॥ १२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तं ब्राह्मणं ताभ्यां धर्मव्याधो न्यवेदयत् ।
तौ स्वागतेन तं विप्रमर्चयामासतुस्तदा ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय बोले– तब व्याधने उस ब्राह्मणके आनेका वृत्तान्त अपने माता पितासे कहा, तब उन्होंने स्वागतके द्वारा ब्राह्मणकी पूजा की ॥ १३ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां द्विजः पप्रच्छ तावुभौ ।
सपुत्राभ्यां सभृत्याभ्यां कच्चिद्वां कुशलं गृहे ।
अनामयं च वां कच्चित्सदैवेह शरीरयोः ॥ १४ ॥

ब्राह्मणने उस पूजाको लेकर सत्कारपूर्वक दोनों वृद्धोंसे कहा– कि अपने पुत्र और सेवकोंके सहित आपके घरमें कुशल तो है न ? आप दोनोंका शरीर नीरोग तो है? ॥ १४ ॥

वृद्धावूचतुः

कुशलं नो गृहे विप्र भृत्यवर्गे च सर्वशः ।
कच्चित्त्वमप्यविघ्नेन संप्राप्तो भगवन्निह ॥ १५ ॥

दोनों वृद्ध बोले– हे ब्राह्मण ! हमारे सेवकोंमें और घरमें कुशल है । हे भगवन् ! आप तो यहां निर्विघ्न आये न ? ॥ १५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तौ विप्रः प्रत्युवाच मुदान्वितः।
धर्मव्याधस्तु तं विप्रमर्थवद्वाक्यमब्रवीत् ॥ १६ ॥

मार्कण्डेय बोले— हे राजन्! तब उस ब्राह्मणने प्रसन्न होकर कहा— कि मैं कुशलसे आया। तब धर्मव्याध ब्राह्मणकी ओर देखकर यह अर्थपूर्ण वचन बोला ॥ १६ ॥

पिता माता च भगवन्नेतौ मे दैवतं परम्।
यद्दैवतेभ्यः कर्तव्यं तदेताभ्यां करोम्यहम् ॥ १७ ॥

हे ब्राह्मण! यह दोनों मेरे माता पिता हैं; यह मेरे लिए देवताओंसे भी परम देव हैं। देवताओंके लिये जो करना योग्य है वह सभी कुछ इनके लिये मैं करता हूं ॥ १७ ॥

त्रयस्त्रिंशद्यथा देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः।
संपूज्याः सर्वलोकस्य तथा वृद्धाविमौ मम ॥ १८ ॥

जैसे सब संसारके लिए इन्द्रादिक तैतीस देवता माननीय हैं, वैसे ही मेरे लिए ये दोनों वृद्ध माननीय हैं ॥ १८ ॥

उपहारानाहरन्तो देवतानां यथा द्विजाः
कुर्वते तद्वदेताभ्यां करोम्यहमतन्द्रितः ॥ १९ ॥

जिसप्रकारसे ब्राह्मण देवताओंको उपहार लाकर देते हैं ऐसे ही मैं सावधान होकर इनको भेंट देता हूं ॥ १९ ॥

एतौ मे परमं ब्रह्मन्पिता माता च दैवतम्।
एतौ पुष्पैः फलै रत्नैस्तोषयामि सदा द्विज ॥ २० ॥

हे ब्राह्मण! ये दोनों माता पिता मेरे लिये परम देवता हैं। हे ब्रह्मन्! इन्हींको मैं फूल, फल और रत्नोंसे सदा प्रसन्न किया करता हूं ॥ २० ॥

एतावेवाग्नयो मह्यं यान्वदन्ति मनीषिणः।
यज्ञा वेदाश्च चत्वारः सर्वमेतौ मम द्विज ॥ २१ ॥

ज्ञानी जिन अग्नियोंको पूज्य बताते हैं, वे अग्नियां मेरे लिए ये ही हैं। हे ब्राह्मण! मेरे लिए यज्ञ और चारों वेद यही माता पिता हैं ॥ २१ ॥

एतदर्थं मम प्राणा भार्या पुत्राः सुहृज्जनाः।
सपुत्रदारः शुश्रूषां नित्यमेव करोम्यहम् ॥ २२ ॥

इन्हींके लिए मेरे प्राण, स्त्री, मित्र और पुत्र हैं। मैं पुत्र और स्त्रीके सहित इनकी सदा सेवा किया करता हूं ॥ २२ ॥

स्वयं च स्नापयाम्येतौ तथा पादौ प्रधावये ।
आहारं संप्रयच्छामि स्वयं च द्विजसत्तम ॥ २३ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं स्वयं इनको स्नान कराता हूं, चरण धोता हूं, और भोजन कराता हूं ॥२३॥

अनुकूलाः कथा वच्मि विप्रियं परिवर्जयन् ।
अधर्मेणापि संयुक्तं प्रियमाभ्यां करोम्यहम् ॥ २४ ॥

मैं सदा इनसे प्यारी वाणी बोलता हूं, कभी कठोर वचन नहीं बोलता; जो इन्हें प्रिय हो, वह भले ही अधर्मसे संयुक्त हो, फिर भी करता हूँ ॥ २४ ॥

धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा करोमि द्विजसत्तम ।
अतन्द्रितः सदा विप्र शुश्रूषां वै करोम्यहम् ॥ २५ ॥

ऐसे ही इनकी सेवाको परम धर्म जानकर मैं सेवा करता हूं। हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं उनकी सेवामें आलस्य नहीं करता ॥ २५ ॥

पञ्चैव गुरवो ब्रह्मन्पुरुषस्य बुभूषतः ।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च द्विजसत्तम ॥ २६ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! अभ्युदयेच्छु पुरुषके लिए पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु ये पांच ही गुरु हैं ॥ २६ ॥

एतेषु यस्तु वर्तेत सम्यगेव द्विजोत्तम ।
भवेयुरग्नयस्तस्य परिचीर्णास्तु नित्यशः ।
गार्हस्थ्ये वर्तमानस्य धर्म एष सनातनः ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुराधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥ ७२९३ ॥

हे द्विजोत्तम ! इनके साथ जो आदरपूर्वक व्यवहार करता है उससे सब अग्नि पूजित होते हैं। गृहस्थका यही धर्म है, कि वह अपने माता पिताकी सेवा करे ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ चारवां अध्याय समाप्त ॥ २०४ ॥ ७२९३ ॥

: २०५ :

मार्कण्डेय उवाच

गुरू निवेद्य विप्राय तौ मातापितरावुभौ ।
पुनरेव स धर्मात्मा व्याधो ब्राह्मणमब्रवीत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– इस प्रकारसे ब्राह्मणको अपने पूज्य माता पिताका दर्शन कराकर धर्मव्याध फिर ब्राह्मणसे बोला ॥ १ ॥

प्रवृत्तचक्षुर्जातोऽस्मि संपश्य तपसो बलम् ।
यदर्थमुक्तोऽसि तया गच्छस्व मिथिलामिति ॥ २ ॥
पतिशुश्रूषपरया दान्तया सत्यशीलया ।
मिथिलायां वसन्व्याधः स ते धर्मान्प्रवक्ष्यति ॥ ३ ॥

कि जिससे मेरी ऐसी दिव्य दृष्टि है, यह माता पिताके सेवाका ही फल है। जिसके लिए पतिसेवा करनेवाली, सत्यशीला पतिव्रताने तुमसे कहा था, कि जनकपुरीको जाओ, धर्मव्याध तुमको धर्मका उपदेश करेगा ॥ २-३ ॥

ब्राह्मण उवाच

पतिव्रतायाः सत्यायाः शीलाढयाया यतव्रत ।
संस्मृत्य वाक्यं धर्मज्ञ गुणवानसि मे मतः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण बोले– हे व्रतधारी तथा धर्मज्ञ व्याध ! उस सत्यशीला पतिव्रताके वचनको स्मरण करके मैं समझता हूं, कि तुम अवश्य गुणवान् हो ॥ ४ ॥

व्याध उवाच

यत्तदा त्वं द्विजश्रेष्ठ तयोक्तो मां प्रति प्रभो ।
दृष्टमेतत्तया सम्यगेकपत्न्या न संशयः ॥ ५ ॥

व्याध बोला– हे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ! जब उस पतिव्रताने तुमसे मेरे विषयमें कहा था, तब उसने मुझे अवश्य ज्ञानदृष्टिसे देख लिया होगा ॥ ५ ॥

त्वदनुग्रहबुद्ध्या तु विप्रैतद्दर्शितं मया ।
वाक्यं च शृणु मे तात यत्ते वक्ष्ये हितं द्विज ॥ ६ ॥

हे ब्राह्मण ! तुम्हारे ऊपर दयादृष्टि करके मैंने यह सब दिखलाया। हे तात ! अब जो मैं तुम्हारे हितके वचन कहता हूं, सो सुनो ॥ ६ ॥

त्वया विनिकृता माता पिता च द्विजसत्तम ।
अनिसृष्टोऽसि निष्क्रान्तो गृहात्ताभ्यामनिन्दित ।
वेदोच्चारणकार्यार्थमयुक्तं तत्त्वया कृतम् ॥ ७ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! तुमने अपने माता पिताका अनादर किया। हे अनिन्दित ! विना उनकी आज्ञा लिए वेद पढनेके लिए घरसे निकल गये; यह तुमने बहुत अयोग्य कर्म किया ॥ ७ ॥

तव शोकेन वृद्धौ तावन्धौ जातौ तपस्विनौ ।
तौ प्रसादयितुं गच्छ मा त्वा धर्मोऽत्यगान्महान् ॥ ८ ॥

तुम्हारे शोकसे वे और तपस्वी वृद्ध माता पिता अंधे हो गये, तुम अब उनको प्रसन्न करनेके लिये घर जाओ। कहीं महान् धर्मका उल्लंघन न हो ॥ ८ ॥

तपस्वी त्वं महात्मा च धर्मे च निरतः सदा ।
सर्वमेतदपार्थं ते क्षिप्रं तौ संप्रसादय ॥ ९ ॥

तुम तपस्वी, महात्मा और सदा धर्म करनेवाले हो, पर तुम्हारा यह सभी कुछ व्यर्थ हो गया। अतः अब तुम उन्हें शीघ्र ही प्रसन्न करो ॥ ९ ॥

श्रद्दधस्व मम ब्रह्मन्नान्यथा कर्तुमर्हसि ।
गम्यतामद्य विप्रर्षे श्रेयस्ते कथयाम्यहम् ॥ १० ॥

हे ब्रह्मन् ! मेरे इन वचनोंपर तुम श्रद्धा करो और इसके विपरीत तुम मत करो, हे ब्राह्मण! मैं तुम्हारे भलेकी बात कहता हूं, तुम अभी चले जाओ ॥ १० ॥

ब्राह्मण उवाच

यदेतदुक्तं भवता सर्वं सत्यमसंशयम् ।
प्रीतोऽस्मि तव धर्मज्ञ साध्वाचारगुणान्वित ॥ ११ ॥

ब्राह्मण बोला– हे उत्तम आचारवान् धर्मव्याध ! तुमने जो कुछ कहा, वह निस्सन्देह सत्य है, मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ ॥ ११ ॥

व्याध उवाच

दैवतप्रतिमो हि त्वं यस्त्वं धर्ममनुव्रतः ।
पुराणं शाश्वतं दिव्यं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ १२ ॥

व्याध बोला–हे ब्राह्मण! तुम देवतुल्य हो, क्योंकि तुम पुराने, सनातन, दिव्य तथा पापियों द्वारा दुष्प्राप्य धर्म तथा आचार और अन्य सद्गुणोंसे युक्त हो ॥ १२ ॥

अतन्द्रितः कुरु क्षिप्रं मातापित्रोर्हि पूजनम् ।
अतः परमहं धर्मं नान्यं पश्यामि कंचन ॥ १३ ॥

तुम आलस्य त्यागकर अपने माता पिताकी सेवा करो । मैं इससे बडा कोई और धर्म नहीं देखता ॥ १३ ॥

ब्राह्मण उवाच

इहाहमागतो दिष्ट्या दिष्ट्या मे सङ्गतं त्वया ।
ईदृशा दुर्लभा लोके नरा धर्मप्रदर्शकाः ॥ १४ ॥

ब्राह्मण बोले– मैं सौभाग्यसे ही यहां आया और सौभाग्यसे ही तुमसे भेंट हो गई; तुम्हारे समान धर्मको कहनेवाले मनुष्य संसारमें दुर्लभ हैं ॥ १४ ॥

एको नरसहस्रेषु धर्मविद्विद्यते न वा ।
प्रीतोऽस्मि तव सत्येन भद्रं ते पुरुषोत्तम ॥ १५ ॥

सहस्रों मनुष्योंमें भी धर्मको जाननेवाला एक भी होता है, वा नहीं । हे पुरुपश्रेष्ठ ! तुम्हारे सत्यसे मैं प्रसन्न हुआ, हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! तुम्हारा कल्याण हो ॥ १५ ॥

पतमानो हि नरके भवतास्मि समुद्धृतः ।
भवितव्यमथैवं च यद्दृष्टोऽसि मयानघ ॥ १६ ॥

हे अनघ ! मैं नरकमें गिरा जाता था, तुमने उससे मेरा उद्धार किया । चूंकि अब तुम्हारा दर्शन हो गया है, अतः भविष्यमें सब कुछ वैसा ही होगा ॥ १६ ॥

राजा ययातिर्दौहित्रैः पतितस्तारितो यथा ।
सद्भिः पुरुषशार्दूल तथाहं भवता त्विह ॥ १७ ॥

जैसे स्वर्गसे गिरते हुए राजा ययातिका उनके पुत्रीके पुत्रोंने उद्धार किया था, हे पुरुषशार्दूल ! वैसे ही तुमने मेरा उद्धार किया ॥ १७ ॥

मातापितृभ्यां शुश्रूषां करिष्ये वचनात्तव ।
नाकृतात्मा वेदयति धर्माधर्मविनिश्चयम् ॥ १८ ॥

आपके कथनानुसार माता पिताकी सेवा मैं अवश्य करूंगा । अविवेकी मनुष्य धर्म और अधर्मके निश्चयको नहीं जानता है ॥ १८ ॥

दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः शूद्रयोनौ हि वर्तता ।
न त्वां शूद्रमहं मन्ये भवितव्यं हि कारणम् ।
येन कर्मविपाकेन प्राप्तेयं शूद्रता त्वया ॥ १९ ॥

शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके द्वारा धर्मको जानना बहुत कठिन है । मैं तुमको एक विशेष कारणसे शूद्र नहीं मानता ॥ १९ ॥

एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वेन हि महामते ।
कामया ब्रूहि मे तथ्यं सर्वं त्वं प्रयतात्मवान् ॥ २० ॥

हे महाबुद्धिमान् ! जिस कर्मके फलसे तुम शूद्र हुए हो, उसको मैं जाननेकी इच्छा रखता हूं । अतः आत्मज्ञानसे युक्त तुम इच्छापूर्वक कहो ॥ २० ॥

व्याध उवाच

अनतिक्रमणीया हि ब्राह्मणा वै द्विजोत्तम ।
शृणु सर्वमिदं वृत्तं पूर्वदेहे ममानघ ॥ २१ ॥

व्याध बोला– हे ब्राह्मणोत्तम ! ब्राह्मणोंका मैं अनादर नहीं कर सकता । हे अनघ ! पूर्वजन्मके देहमें मेरा जो चरित्र था, वह सुनो ॥ २१ ॥

अहं हि ब्राह्मणः पूर्वमासं द्विजवरात्मज ।
वेदाध्यायी सुकुशलो वेदाङ्गानां च पारगः ।
आत्मदोषकृतैर्ब्रह्मन्नवस्थां प्राप्तवानिमाम्　　॥ २२ ॥
कश्चिद्राजा मम सखा धनुर्वेदपरायणः ।
संसर्गाद्धनुषि श्रेष्ठस्ततोऽहमभवं द्विज　　॥ २३ ॥

हे द्विजश्रेष्ठके पुत्र ! मैं पहले जन्ममें वेद और वेदाङ्गोंको जाननेवाला एक ब्राह्मण था, पर मैं अपने ही किए दोषसे इस अवस्थाको प्राप्त हुआ हूं । एक धनुर्वेदका जाननेवाला राजा मेरा मित्र था। हे द्विज ! उसके सङ्ग रहनेसे मैं भी धनुर्वेदमें श्रेष्ठ हो गया ॥ २२–२३ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु मृगयां निर्गतो नृपः ।
सहितो योधमुख्यैश्च मन्त्रिभिश्च सुसंवृतः ।
ततोऽभ्यहन्मृगांस्तत्र सुबहूनाश्रमं प्रति　　॥ २४ ॥

एक दिन राजा मुख्य मुख्य योद्धाओं और मंत्रियोंसे घिरकर शिकारपर गया और वहां एक आश्रमके पास जाकर राजाने बहुतसे मृगोंको मारा ॥ २४ ॥

अथ क्षिप्तः शरो घोरो मयापि द्विजसत्तम ।
ताडितश्च मुनिस्तेन शरेणानतपर्वणा　　॥ २५ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! वहां जाकर मैंने भी एक बाण चलाया, तो तीक्ष्ण नोकवाला वह बाण एक मुनिके जा लगा ॥ २५ ॥

भूमौ निपतितो ब्रह्मन्नुवाच प्रतिनादयन् ।
नापराध्याम्यहं किंचित्केन पापमिदं कृतम्　　॥ २६ ॥

हे ब्रह्मन् ! बाणके लगते ही ऋषि पृथ्वीमें गिर पडे और चिल्लाते हुए कहने लगे कि मैंने किसीका अपराध नहीं किया और वह कौनसा पापी है, जिसने मुझे बाण मारा है? ॥२६॥

मन्वानस्तं मृगं चाहं संप्राप्तः सहसा मुनिम् ।
अपश्यं तमृषिं विद्धं शरेणानतपर्वणा ।
तमुग्रतपसं विप्रं निष्टनन्तं महीतले　　॥ २७ ॥

हे ब्राह्मण ! मैं उसे मृग समझकर उसके पास गया, और वहां जाकर अपने तेज नोकवाले बाणसे विद्ध हुए उस उग्रतपस्वी विद्वान् ऋषिको भूमिपर छटपटाते देखा ॥ २७ ॥

अकार्यकरणाच्चापि भृशं मे व्यथितं मनः ।
अजानता कृतमिदं मयेत्यथ तमब्रुवम् ।
क्षन्तुमर्हसि मे ब्रह्मन्निति चोक्तो मया मुनिः ॥ २८ ॥

उस अनुचित कार्यको करनेके कारण मेरा भी मन दुःखी हो गया। तब मैंने उनसे कहा कि मैंने यह अज्ञानसे अपराध किया, अतः, हे ब्रह्मन्! आप मुझे क्षमा करें। इसप्रकार मैंने उन मुनिसे कहा ॥ २८ ॥

ततः प्रत्यब्रवीद्वाक्यमृषिर्मां क्रोधमूर्छितः ।
व्याधस्त्वं भविता क्रूर शूद्रयोनाविति द्विज ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥ ७३२२ ॥

तब उस तपस्वीने क्रोधसे मूर्च्छित होकर मुझसे यह वाक्य कहा— कि हे क्रूर ब्राह्मण ! तू शूद्रयोनिमें उत्पन्न होकर व्याध होगा ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ पांचवां अध्याय समाप्त ॥ २०५ ॥ ७३२२ ॥

: २०६ :

व्याध उवाच

एवं शप्तोऽहमृषिणा तदा द्विजवरोत्तम ।
अभिप्रसादयमृषिं गिरा वाक्यविशारदम् ॥ १ ॥

व्याध बोला— हे ब्राह्मणोत्तम ! इसप्रकारसे जब मुझे ऋषिने शाप दिया, तब मैंने बातोंमें कुशल ऋषिको दीन वाणीसे प्रसन्न किया ॥ १ ॥

अजानता मयाकार्यमिदमद्य कृतं मुने ।
क्षन्तुमर्हसि तत्सर्वं प्रसीद भगवन्निति ॥ २ ॥

मैंने हाथ जोडकर कहा— हे मुने! मैंने यह कर्म अज्ञानसे किया था, आप क्षमा कीजिये। तथा, हे भगवन् ! आप प्रसन्न होइये ॥ २ ॥

ऋषिरुवाच

नान्यथा भविता शाप एवमेतदसंशयम् ।
आनृशंस्यादहं किंचित्कर्तानुग्रहमद्य ते ॥ ३ ॥

ऋषि बोले— कि मेरा दिया शाप झूठा नहीं होगा। तो भी तुम्हारी प्रार्थनासे मैं कुछ कृपा करता हूं ॥ ३ ॥

शूद्रयोनौ वर्तमानो धर्मज्ञो भविता ह्यसि ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषां करिष्यसि न संशयः ॥ ४ ॥

शूद्र जन्ममें भी तुम्हें धर्मका ज्ञान बना रहेगा । माता और पिताकी तुम परम सेवा करोगे ॥४॥

तया शुश्रूषया सिद्धिं महतीं समवाप्स्यसि ।
जातिस्मरश्च भविता स्वर्गं चैव गमिष्यसि ।
शापक्षयान्ते निर्वृत्ते भवितासि पुनर्द्विजः ॥ ५ ॥

उनकी सेवा करनेसे तुम्हें परमसिद्धि और महत्त्व प्राप्त होगा। पहले जन्मका ज्ञान रहेगा और तुम्हें स्वर्ग प्राप्त होगा । मेरे शापके समाप्त होनेपर तुम फिर ब्राह्मण हो जाओगे ॥ ५ ॥

व्याध उवाच

एवं शप्तः पुरा तेन ऋषिणास्म्युग्रतेजसा ।
प्रसादश्च कृतस्तेन ममैवं द्विपदां वर ॥ ६ ॥

व्याध बोला– इसप्रकारसे महातेजस्वी ऋषिने मुझे शाप दिया था । हे ब्राह्मण ! फिर मेरे ऊपर उन्होंने कृपा भी की ॥ ६ ॥

शरं चोद्धृतवानस्मि तस्य वै द्विजसत्तम ।
आश्रमं च मया नीतो न च प्राणैर्व्ययुज्यत ॥ ७ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मैंने उनके शरीरसे बाण निकाला और उन्हें आश्रममें पहुंचाया । पर उनके प्राण नष्ट नहीं हुए ॥ ७ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा मम पुराभवत् ।
अभितश्चापि गन्तव्यं मया स्वर्गं द्विजोत्तम ॥ ८ ॥

यह मैंने अपने पूर्वकर्मोंका वृत्तान्त तुमसे कहा । हे द्विजोत्तम ! इस जन्मके बाद मैं स्वर्गको जाऊंगा ॥ ८ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमेतानि पुरुषा दुःखानि च सुखानि च ।
प्राप्नुवन्ति महाबुद्धे नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि ।
दुष्करं हि कृतं तात जानता जातिमात्मनः ॥ ९ ॥

ब्राह्मण बोला– हे महाबुद्धिमान् व्याध ! इसीप्रकारसे मनुष्योंको सुख और दुःख प्राप्त होता है, इसलिये दुःख मत करो । हे तात ! पूर्वजन्मके स्मरण रखनेवाले तुमने यह दुष्कर कर्म किया है ॥ ९ ॥

×

कर्मदोषश्च वै विद्वन्नात्मजातिकृतेन वै ।
कंचित्कालं मृष्यतां वै ततोऽसि भविता द्विजः ।
सांप्रतं च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः ॥ १० ॥

इन सब कर्मोंके दोषोंको इस योनिमें भोगकर फिर द्विजयोनिमें तुम्हारा जन्म होगा। मेरे विचारमें तो तुम इस समय भी ब्राह्मण ही हो इसमें कोई संशय नहीं है ॥ १० ॥

ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु ।
दाम्भिको दुष्कृतप्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत् ॥ ११ ॥

जो ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न होकर भी पतन करनेवाले नीच कर्म तथा दंभ करे, वह प्रायः कुकर्म, करनेके कारण अवश्यमेव शूद्रके तुल्य है ॥ ११ ॥

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः ।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद्द्विजः ॥ १२ ॥

और जो शूद्र होकर भी हमेशा इन्द्रियनिग्रह तथा सत्य तथा धर्मका आचरण करता हो उसे मैं ब्राह्मण ही मानता हूँ, क्योंकि शीलसे ही ब्राह्मण होता है ॥ १२ ॥

कर्मदोषेण विषमां गतिमाप्नोति दारुणाम् ।
क्षीणदोषमहं मन्ये चाभितस्त्वां नरोत्तम ॥ १३ ॥

मनुष्य कर्मके दोषसे ही अच्छी और बुरी गतिको प्राप्त होता है। हे नरोत्तम ! मैं तुमको हरतरहसे दोष-रहित मानता हूं ॥ १३ ॥

कर्तुमर्हसि नोत्कण्ठां त्वद्विधा ह्यविषादिनः ।
लोकवृत्तान्तवृत्तज्ञा नित्यं धर्मपरायणाः ॥ १४ ॥

तुम घबडाओ मत, तुम्हारे समान बुद्धिमान् संसारकी गतिको जाननेवाले धर्म करनेवाले हैं, वे कदापि शोक नहीं करते ॥ १४ ॥

व्याध उवाच

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतां व्रजेत् ॥ १५ ॥

व्याध बोले– हे ब्राह्मण ! बुद्धिसे मनके दुःख और औषधोंसे शरीरके दुःख दूर करने चाहिये। यह जो ज्ञानकी शक्ति है वह मूर्खोंके समान नहीं हो सकती ॥ १५ ॥

अनिष्टसंप्रयोगाच्च विप्रयोगात्प्रियस्य च ।
मानुषा मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते अल्पबुद्धयः ॥ १६ ॥

अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति और इष्ट वस्तुका विरह आनेपर अल्पबुद्धिवाले मनुष्य ही मानसिक दुःखसे संयुक्त होते हैं ॥ १६ ॥

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च ।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥ १७ ॥

सुखादि सत्त्वादि गुणोंका कार्य होनेके कारण इनका संयोग और वियोग सब प्राणियोंके लिए अपरिहार्य है, इसीलिये शोक करना व्यर्थ है ॥ १७ ॥

अनिष्टेनान्वितं पश्यंस्तथा क्षिप्रं विरज्यते ।
ततश्च प्रतिकुर्वन्ति यदि पश्यन्त्युपक्रमम् ।
शोचतो न भवेत्किंचित्केवलं परितप्यते ॥ १८ ॥

जिस कर्ममें हानि दीखती है, पुरुष उससे शीघ्र ही विरक्त हो जाता है । यदि उसका कुछ उपाय दीख पडता है, तो उसका उपाय करने लगता है, शोकसे कुछ नहीं होता है, शोकसे तो केवल पुरुषको दुःख ही होता है ॥ १८ ॥

परित्यजन्ति ये दुःखं सुखं वाप्युभयं नराः ।
त एव सुखमेधन्ते ज्ञानतृप्ता मनीषिणः ॥ १९ ॥

जो ज्ञानी दुःख और सुख दोनोंको छोड देते हैं, वेही ज्ञानी ज्ञानसे तृप्त होकर सुखको भोगते हैं ॥ १९ ॥

असंतोषपरा मूढाः संतोषं यान्ति पण्डिताः ।
असंतोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २० ॥

जो सन्तोष नहीं करते, वे मूर्ख हैं, और पण्डित वे हैं जो नित्य संतोषी हैं । असन्तोषका अन्त नहीं है, इसलिये सन्तोष ही परम सुख है । जो लोग ज्ञान मार्गसे चलकर अपने स्थानको देखते हैं, उनको शोक नहीं होता ॥ २० ॥

न विषादे मनः कार्यं विषादो विषमुत्तमम् ।
मारयत्यकृतप्रज्ञं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥ २१ ॥

पुरुषको कभी खेदमें अपना मन नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि खेद बडा भारी विष है । खेद मूर्ख पुरुषोंको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे क्रोधी सर्प बालकको काट खाता है ॥२१॥

यं विषादोऽभिभवति विक्रमे समुपस्थिते ।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न विद्यते ॥ २२ ॥

पराक्रम करनेका समय आनेपर जिसको खेद होता है, वह तेजसे हीन हो जाता है; तब वह पुरुषार्थ नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

अवश्यं क्रियमाणस्य कर्मणो दृश्यते फलम् ।
न हि निर्वेदमागम्य किंचित्प्राप्नोति शोभनम् ॥ २३ ॥

जो कर्म किया है, उसका फल अवश्य मिलता है, केवल शोक करनेसे किसी अच्छाईको पुरुष कभी प्राप्त नहीं करता ॥ २३ ॥

अथाप्युपायं पश्येत दुःखस्य परिमोक्षणे ।
अशोचन्नारभेतैव युक्तश्चाव्यसनी भवेत् ॥ २४ ॥

यदि किसी दुःखसे छूटनेका कोई उपाय दिखाई भी दे तो पुरुष विना सोचे ही उसको करने लगे । इस प्रकार वह उस दुःखसे छूटकर दुःखसे रहित हो जाए ॥ २४ ॥

भूतेष्वभावं संचिन्त्य ये तु बुद्धेः परं गताः ।
न शोचन्ति कृतप्रज्ञाः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २५ ॥

जो पण्डित बुद्धिके पार हो गये हैं, वे संसारकी अनित्यताका विचार करके कुछ शोक नहीं करते, क्योंकि वे लोग परमगतिको देखते हैं ॥ २५ ॥

न शोचामि च वै विद्वन्कालाकाङ्क्षी स्थितोऽस्म्यहम् ।
एतैर्निदर्शनैर्ब्रह्मन्नावसीदामि सत्तम ॥ २६ ॥

हे पण्डित! मैं भी शोक नहीं करता, क्योंकि मैं समयकी प्रतीक्षा करते हुए यहां स्थित हूँ। हे ब्रह्मन्! मैं इन्हीं सब कारणोंको देखकर शोक नहीं करता ॥ २६ ॥

ब्राह्मण उवाच

कृतप्रज्ञोऽसि मेधावी बुद्धिश्च विपुला तव ।
नाहं भवन्तं शोचामि ज्ञानतृप्तोऽसि धर्मवित् ॥ २७ ॥

ब्राह्मण बोले– हे व्याध! मैं भी तुम्हारे लिए शोक नहीं करता; क्योंकि तुम बुद्धिमान् और पण्डित हो, तुम्हारी बुद्धि बहुत उत्तम है तुम ज्ञानसे तृप्त और धर्मको जाननेवाले हो ॥२७॥

आपृच्छे त्वां स्वस्ति तेऽस्तु धर्मस्त्वा परिरक्षतु ।
अप्रमादस्तु कर्तव्यो धर्मे धर्मभृतां वर ॥ २८ ॥

हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम सावधान होकर धर्म करो, धर्म तुम्हारी रक्षा करे, मैं अब जानेकी आज्ञा मांगता हूँ; मुझको आज्ञा दो ॥ २८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तं व्याधः कृताञ्जलिरुवाच ह ।
प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थितो द्विजसत्तमः ॥ २९ ॥

मार्कण्डेय बोले– व्याधने हाथ जोडकर ब्राह्मणसे कहा, कि बहुत इच्छा । तदनन्तर ब्राह्मण व्याधकी प्रदक्षिणा करके चल दिया ॥ २९ ॥

स तु गत्वा द्विजः सर्वां शुश्रूषां कृतवांस्तदा ।
मातापितृभ्यां वृद्धाभ्यां यथान्यायं सुसंशितः ॥ ३० ॥

वहांसे जाकर उस ब्राह्मणने माता और पिताकी सेवा की और मातापिताने भी उसकी उचित प्रशंसा की ॥ ३० ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं निखिलेन युधिष्ठिर ।
पृष्टवानसि यं तात धर्मं धर्मभृतां वर ॥ ३१ ॥

हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! हे तात ! तुमने जो मुझसे पूछा था, वह सब धर्म मैंने तुमसे कहा ॥ ३१ ॥

पतिव्रताया माहात्म्यं ब्राह्मणस्य च सत्तम ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषा व्याधेधर्मश्च कीर्तितः ॥ ३२ ॥

हे श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैंने पतिव्रताका महात्म्य, ब्राह्मणका कर्म और पिता, माताकी सेवा और व्याधके धर्मकी बातें भी सुनाईं ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन्धर्माख्यानमनुत्तमम् ।
सर्वधर्मभृतां श्रेष्ठ कथितं द्विजसत्तम ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे सब धर्मोंको धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ ! हे मुनिवर ! आपने परम अद्भुत धर्मकी कथा कही । हे ब्रह्मन् ! यह वृत्तान्त बहुत ही अच्छा था ॥ ३३ ॥

सुखश्रव्यतया विद्वन्मुहूर्तमिव मे गतम् ।
न हि तृप्तोऽस्मि भगवञ्शृण्वानो धर्ममुत्तमम् ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥ ७३५६ ॥

हे विद्वन् ! सुननेमें सुखदायक होनेके कारण इसे सुनते सुनते इतना दीर्घ समय मुहूर्तके समान बीत गया । हे भगवन्! मैं इस उत्तम धर्मको सुनकर तृप्त नहीं हुआ ॥ ३४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ छवां अध्याय समाप्त ॥ २०६ ॥ ७३५६ ॥

: २०७ :

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वेमां धर्मसंयुक्तां धर्मराजः कथां शुभाम् ।
पुनः पप्रच्छ तमृषिं मार्कण्डेयं तपस्विनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! इस धर्मकी पवित्र कथाको सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने फिर तपस्वी मार्कण्डेय मुनिसे पूछा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथमग्निर्वनं यातः कथं चाप्यङ्गिराः पुरा ।
नष्टेऽग्नौ हव्यमवहदग्निर्भूत्वा महानृषिः ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे महर्षि ! पहले समयमें अग्नि देवता किस प्रकार वनमें गये थे ? और महाऋषि अङ्गिराने किस प्रकारसे अग्निके नष्ट होनेपर अग्नि होकर यज्ञोंकी आहुतिको देवोंतक पहुंचाया था ? ॥ २ ॥

अग्निर्यदा त्वेक एव बहुत्वं चास्य कर्मसु ।
दृश्यते भगवन्सर्वमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! अग्नि तो एक ही है, फिर वह अनेक कर्मोंमें अनेक कैसे दिखाई देते हैं ? हे भगवन् ! यह सब मैं जानना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

कुमारश्च यथोत्पन्नो यथा चाग्नेः सुतोऽभवत् ।
यथा रुद्राच संभूतो गङ्गायां कृत्तिकासु च ॥ ४ ॥

कुमार कार्तिकेय किस प्रकार उत्पन्न हुए ? वे अग्निके पुत्र कैसे हुए ? वे रुद्रसे किस तरह हुए ? उनको गङ्गा और कृत्तिकाने किस प्रकार उत्पन्न किया ? ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं त्वत्तः श्रोतुं भार्गवनन्दन ।
कौतूहलसमाविष्टो यथातथ्यं महामुने ॥ ५ ॥

हे भृगुपुत्र ! हे महामुने ! कौतूहलसे युक्त हुआ मैं इन सब कथाओंको आपसे सुनना चाहता हूँ, आप यथार्थरूपसे कहिये ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा क्रुद्धो हुतवहस्तपस्तप्तुं वनं गतः ॥ ६ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे महाराज ! पण्डित इसी स्थानपर इस पुरानी कथाका उदाहरण देते हैं । जिस प्रकार अग्नि क्रोधित होकर तप करनेके लिये वनको चले गये थे ॥ ६ ॥

यथा च भगवानग्निः स्वयमेवाङ्गिराभवत् ।
संतापयन्स्वप्रभया नाशयंस्तिमिराणि च ॥ ७ ॥

जिस प्रकार भगवान् अङ्गिरा स्वयं ही अग्नि हो गये थे और जिस प्रकार उन्होंने अग्नि होकर अपने तेजसे सब जगत्के अन्धकारका नाश किया था ॥ ७ ॥

आश्रमस्थो महाभागो हव्यवाहं विशेषयन् ।
तथा स भूत्वा तु तदा जगत्सर्वं प्रकाशयन् ॥ ८ ॥

हे महाबाहो ! महाभाग अङ्गिरा मुनि अपने आश्रमपर बैठकर अग्निसे भी अधिक तेजस्वी होनेका प्रयत्न करने लगे । कुछ समयके बाद अङ्गिरा भी अग्निके समान हो गये । उनके तेजसे सब जगत्में प्रकाश हो गया ॥ ८ ॥

तपश्चरंश्च हुतभुक्संतप्तस्तस्य तेजसा ।
भृशं ग्लानश्च तेजस्वी न स किंचित्प्रजज्ञिवान् ॥ ९ ॥

तप करते हुए अग्नि अङ्गिराकी तपस्याके तेजसे संतप्त होकर अग्नि बहुत मलिन हो गये पर वे इसका कारण न जान सके ॥ ९ ॥

अथ संचिन्तयामास भगवान्हव्यवाहनः ।
अन्योऽग्निरिह लोकानां ब्रह्मणा संप्रवर्तितः ।
अग्नित्वं विप्रनष्टं हि तप्यमानस्य मे तपः ॥ १० ॥

तब भगवान् अग्निने विचार किया कि ब्रह्माने सब लोकोंके निमित्त नवीन अग्नि बनाई है, और तपस्या करते करते मेरा तेज नष्ट हो गया ॥ १० ॥

कथमग्निः पुनरहं भवेयमिति चिन्त्य सः ।
अपश्यदग्निवल्लोकांस्तापयन्तं महामुनिम् ॥ ११ ॥

अब मैं फिर अग्नि किस तरह बनूं? ऐसा सोच रहे थे कि अग्निने दूसरी अग्निके समान जगत्को तपानेवाले महामुनि अङ्गिराको देखा ॥ ११ ॥

सोपासर्पच्छनैर्भीतस्तमुवाच तदाङ्गिराः ।
शीघ्रमेव भवस्वाग्निस्त्वं पुनर्लोकभावनः ।
विज्ञातश्चासि लोकेषु त्रिषु संस्थानचारिषु ॥ १२ ॥

तदनन्तर भगवान् अग्नि डरते डरते और धीरे धीरे अङ्गिरा मुनिके पास गये; तब अङ्गिराने अग्निसे कहा, कि तुम पुनः शीघ्र ही अग्नि हो जाओ, और जगत्को प्रकाशित करनेवाले होओ । क्योंकि तुम तीनों लोकोंमें विचरनेवाले प्राणियोंमें विख्यात हो ॥ १२ ॥

त्वमग्ने प्रथमः सृष्टो ब्रह्मणा तिमिरापहः ।
स्वस्थानं प्रतिपद्यस्व शीघ्रमेव तमोनुद ॥ १३ ॥

अन्धकारका नाश करनेवाले ब्रह्माने सबसे पहले तुम्हींको अन्धकारका नाशक बनाया था । अतः तुम्हीं पुनः अग्नि हो जाओ ॥ १३ ॥

अग्निरुवाच

नष्टकीर्तिरहं लोके भवाञ्जातो हुताशनः।
भवन्तमेव ज्ञास्यन्ति पावकं न तु मां जनाः ॥ १४ ॥

अग्नि बोले– हे महामुने! जगत्‌में मेरी कीर्त्ति नष्ट हो गई है और आप अग्नि हो गये हैं, इससे जगत्‌के सब मनुष्य आपहीको अग्निके रूपमें जानेंगे, मुझको नहीं ॥ १४ ॥

निक्षिपाम्यहमग्नित्वं त्वमग्निः प्रथमो भव।
भविष्यामि द्वितीयोऽहं प्राजापत्यक एव च ॥ १५ ॥

मैं अपना अग्नित्व त्याग देता हूँ, तुम प्रथम अग्नि अर्थात् सूत्रात्मा बनो। मैं दूसरी अग्नि अर्थात् प्राजापत्य बनूंगा ॥ १५ ॥

अङ्गिरा उवाच

कुरु पुण्यं प्रजास्वर्ग्यं भवाग्निस्तिमिरापहः।
मां च देव कुरुष्वाग्ने प्रथमं पुत्रमञ्जसा ॥ १६ ॥

अङ्गिरा बोले– हे अग्ने! तुम पुण्य करो, अन्धकारका नाश करनेवाले अग्नि होकर प्रजाओंको स्वर्गकी प्राप्ति कराओ। हे देव! तुम मुझको अपना प्रथम पुत्र बना लो ॥ १६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तच्छ्रुत्वाङ्गिरसो वाक्यं जातवेदास्तथाकरोत्।
राजन्बृहस्पतिर्नाम तस्याप्यङ्गिरसः सुतः ॥ १७ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर! अङ्गिराके ऐसे वचन सुनकर अग्निने वैसा ही किया। तदनन्तर अङ्गिराके भी बृहस्पति नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १७ ॥

ज्ञात्वा प्रथमजं तं तु वह्नेराङ्गिरसं सुतम्।
उपेत्य देवाः पप्रच्छुः कारणं तत्र भारत ॥ १८ ॥

हे भारत! इस अंगिराके पहिले पुत्रको उत्पन्न हुआ जानकर सब देवताओंने वहां आकर उसका कारण पूछा ॥ १८ ॥

स तु पृष्टस्तदा देवैस्ततः कारणमब्रवीत्।
प्रत्यगृह्णंस्तु देवाश्च तद्वचोऽङ्गिरसस्तदा ॥ १९ ॥

देवोंके इस प्रकार पूछनेपर उन्होंने देवताओंसे सब कारण कह सुनाया। देवताओंने अंगिराका वह सब वचन ग्रहण किया ॥ १९ ॥

अत्र नानाविधानग्नीन्प्रवक्ष्यामि महाप्रभान् ।
कर्मभिर्बहुभिः ख्यातान्नानात्वं ब्राह्मणेष्विह ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥ ७३७६ ॥

अब ब्राह्मणोंमें कहे हुए अनेक तेजोंसे युक्त नानाविध अग्निका मैं वर्णन करूंगा, जिनसे कि विविध कर्म सिद्ध होते और अनेक फल मिलते हैं ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ सातवां अध्याय समाप्त ॥ २०७ ॥ ७३७६ ॥

: २०८ :

मार्कण्डेय उवाच

ब्रह्मणो यस्तृतीयस्तु पुत्रः कुरुकुलोद्वह ।
तस्यापवसुता भार्या प्रजास्तस्यापि मे शृणु ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे कुरुकुलनन्दन ! ब्रह्माके जो तीसरे पुत्र अङ्गिरा हैं, उनकी अपवसुता नामकी भार्या थी, उसकी सन्तानकी कथा मुझसे सुनिये ॥ १ ॥

बृहज्ज्योतिर्बृहत्कीर्तिर्बृहद्ब्रह्मा बृहन्मनाः ।
बृहन्मन्त्रो बृहद्भासस्तथा राजन्बृहस्पतिः ॥ २ ॥

हे राजन् ! उनके पुत्रोंके नाम ये हैं– बृहज्ज्योति, बृहत्कीर्ति, बृहद्ब्रह्मा, बृहन्मना, बृहन्मन्त्र, बृहद्भास और बृहस्पति ॥ २ ॥

प्रजासु तासु सर्वासु रूपेणाप्रतिमाभवत् ।
देवी भानुमती नाम प्रथमाङ्गिरसः सुता ॥ ३ ॥

इन सब सन्तानोंमें एक भानुमती नामक कन्या बडी सुन्दरी हुई । वह अङ्गिराकी प्रथम पुत्री थी ॥ ३ ॥

भूतानामेव सर्वेषां यस्यां रागस्तदाभवत् ।
रागाद्रागेति यामाहुर्द्वितीयाङ्गिरसः सुता ॥ ४ ॥

और अङ्गिराकी दूसरी पुत्रीका नाम रागा था । सब जगत्के जन्तुओंको उसमें बहुत अनुराग था, इससे उसका नाम रागा पडा ॥ ४ ॥

यां कपर्दिसुतामाहुर्दृश्यादृश्येति देहिनः ।
तनुत्वात्सा सिनीवाली तृतीयाङ्गिरसः सुता ॥ ५ ॥

जगत्के पुरुष जिसको शिवकी पुत्री कहते हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण दृश्य और अदृश्य है, अत्यन्त कृश होनेके कारण उसका नाम सिनीवाली है, वह अङ्गिराकी तीसरी पुत्री है ॥५॥

पश्यत्यर्चिष्मती भाभिर्हविर्भिश्च हविष्मती ।
षष्ठीमङ्गिरसः कन्यां पुण्यामाहुर्हविष्मतीम् ॥ ६ ॥

जो अपनी किरणोंसे सबको देखती है, उस चौथीका नाम अर्चिष्मती है । जिसमें यज्ञकी आहुति पाकर देवता प्रसन्न होकर सन्तुष्ट होते हैं, उनकी उस पांचवीं कन्याका नाम हविष्मती है; अङ्गिराकी छठी कन्याका नाम महिष्मती है ॥ ६ ॥

महामखेष्वाङ्गिरसी दीप्तिमत्सु महामती ।
महामतीति विख्याता सप्तमी कथ्यते सुता ॥ ७ ॥

दीप्तिवाले महायज्ञोंमें जो महाबुद्धिशालिनी है, वह महामतीके नामसे अङ्गिराकी सातवीं पुत्री है ॥ ७ ॥

यां तु दृष्ट्वा भगवतीं जनः कुहुकुहायते ।
एकानंशेति यामाहुः कुहूमङ्गिरसः सुताम् ॥ ८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥ ७३८४ ॥

जिसको देखकर जगत्के मनुष्य विस्मित हो जाते हैं, जिसमें चन्द्रमाका कुछ भी अंश नहीं रहता, अङ्गिराके उस आठवीं पुत्रीका नाम कुहू है ॥ ८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ आठवां अध्याय समाप्त ॥ २०८ । ७३८४ ॥

: २०९ :

मार्कण्डेय उवाच

बृहस्पतेश्चान्द्रमसी भार्याभूद्या यशस्विनी ।
अग्नीन्साजनयत्पुण्यान्षडेकां चापि पुत्रिकाम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे महाराज युधिष्ठिर ! बृहस्पतिकी जो चान्द्रमसी यशस्विनी स्त्री थी, उसने छः पवित्र अग्नियां उत्पन्न कीं और एक पुत्री भी उत्पन्न की ॥ १ ॥

आहुतिष्वेव यस्याग्नेर्हविषाज्यं विधीयते ।
सोऽग्निर्बृहस्पतेः पुत्रः शंयुर्नाम महाप्रभः ॥ २ ॥

यज्ञोंकी आहुतिमें जिस अग्निका नाम पहले लिया जाता है, वह महातेजस्वी अग्नि बृहस्पतिका पुत्र है; उसका नाम शंयु है ॥ २ ॥

चातुर्मास्येषु यस्येष्ट्यामश्वमेधेऽग्रजः पशुः ।
दीप्तो ज्वालैरनेकाभैरग्निरेकोऽथ वीर्यवान् ॥ ३ ॥

चातुर्मास्य और अश्वमेध यज्ञोंमें जिसके निमित्त पशु दिया जाता है, जो अनेक जलती हुई ज्वालाओंसे प्रकाशमान् होता है, वही एक अग्नि बलवान् है ॥ ३ ॥

शंयोरप्रतिमा भार्या सत्या सत्या च धर्मजा ।
अग्निस्तस्य सुतो दीप्तस्तिस्रः कन्याश्च सुव्रताः ॥ ४ ॥

शंयूकी एक असाधारण स्त्री थी, जो सत्यशीला थी और धर्मसे उत्पन्न हुई थी, उसका नाम सत्या था, और दीप्त अग्नि उसका पुत्र था। इनके अलावा और तीन उत्तम व्रत धारण करनेवाली कन्यायें हुईं ॥ ४ ॥

प्रथमेनाज्यभागेन पूज्यते योऽग्निरध्वरे ।
अग्निस्तस्य भरद्वाजः प्रथमः पुत्र उच्यते ॥ ५ ॥

जो अग्नि यज्ञोंमें पहिले आज्यभागसे पूजा जाता है, उसके पहिले पुत्रका नाम भरद्वाज है ॥५॥

पौर्णमास्येषु सर्वेषु हविषाज्यं स्रुवोद्यतम् ।
भरतो नामतः सोऽग्निर्द्वितीयः शंयुतः सुतः ॥ ६ ॥

जो सब पूर्णमासके यज्ञोंमें स्रुवासे आहुति पाता है, उस अग्निका नाम भरत है; वह अग्नि शंयूका दूसरा बेटा है ॥ ६ ॥

तिस्रः कन्या भवन्त्यन्या यासां स भरतः पतिः ।
भरतस्तु सुतस्तस्य भरत्येका च पुत्रिका ॥ ७ ॥

उसकी और भी तीन कन्यायें हैं, उन तीनोंका भरत पालनकर्ता है। भरतका भरत नामक एक पुत्र और भरती नामक एक कन्या है ॥ ७ ॥

भरतो भरतस्याग्नेः पावकस्तु प्रजापतेः ।
महानत्यर्थमहितस्तथा भरतसत्तम ॥ ८ ॥

हे भरतसत्तम ! पोषण करनेवाला, प्रजाधिपति भरतनामक अग्निका पावक संज्ञक पुत्र है; वह सबसे महनीय या पूज्य होनेके कारण सबसे महान् है ॥ ८ ॥

भरद्वाजस्य भार्या तु वीरा वीरश्च पिण्डदः ।
प्राहुराज्येन तस्येज्यां सोमस्येव द्विजाः शनैः ॥ ९ ॥

भरद्वाजकी स्त्रीका नाम वीरा है, वह वीर नामक अग्निकी माता है। ब्राह्मण उसकी पूजा चन्द्रमाके समान आज्य तूष्णीं मंत्र पढकर करते हैं ॥ ९ ॥

हविषा यो द्वितीयेन सोमेन सह युज्यते ।
रथप्रभू रथध्वानः कुम्भरेताः स उच्यते ॥ १० ॥

जो घीसे दूसरे चन्द्रमाके साथ पूजा जाता है, वह वीरसंज्ञक अग्नि है। उसके अन्य नाम रथ-प्रभु, रथध्वान और कुम्भरेता हैं ॥ १० ॥

सरय्वां जनयत्सिद्धिं भानुं भाभिः समावृणोत्।
आग्नेयमानयन्नित्यमाह्वानेष्वेष कथ्यते ॥ ११ ॥

उस वीरसंज्ञक भरद्वाजपुत्रकी स्त्रीका नाम सरयु है, उसके पुत्रका नाम सिद्धि है। उसने अपने तेजसे सूर्यको छिपा लिया। वह आग्नेय कर्मोंको प्राप्त करता है, महात्मा उसका आह्वान करते हैं ॥ ११ ॥

यस्तु न च्यवते नित्यं यशसा वर्चसा श्रिया।
अग्निर्निश्च्यवनो नाम पृथिवीं स्तौति केवलम् ॥ १२ ॥

जो कभी तेज, यश और लक्ष्मीसे भ्रष्ट नहीं होता, जो सदा केवल पृथ्वीहीकी स्तुति करता है, उस अग्निका नाम निश्च्यवन है ॥ १२ ॥

विपाप्मा कलुषैर्मुक्तो विशुद्धश्चार्चिषा ज्वलन्।
विपापोऽग्निः सुतस्तस्य सत्यः समयकर्मसु ॥ १३ ॥

जो सब पापोंसे रहित, दोषोंसे मुक्त, पवित्र और समयके अनुसार धर्म करनेवाला है, जो अपनी पवित्र ज्वालाओंमें जलता रहता है, वह विपाप नामक अग्नि उसका पुत्र है ॥ १३ ॥

आक्रोशतां हि भूतानां यः करोति हि निष्कृतिम्।
अग्निः स निष्कृतिर्नाम शोभयत्यभिसेवितः ॥ १४ ॥

जो रोते हुए प्राणियोंको दुःखोंसे छुडाता है उस अग्निका नाम निष्कृति है, वह सेवित होनेपर सदा ही शोभायमान रहता है ॥ १४ ॥

अनुकूजन्ति येनेह वेदनार्ताः स्वयं जनाः।
तस्य पुत्रः स्वनो नाम पावकः स रुजस्करः ॥ १५ ॥

जिससे पीडासे व्याकुल जन आप ही शब्द करते रहते हैं, उस अग्निका नाम स्वन है और वह पूर्वोक्त अग्निका पुत्र है, उससे सब रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १५ ॥

यस्तु विश्वस्य जगतो बुद्धिमाक्रम्य तिष्ठति।
तं प्राहुरध्यात्मविदो विश्वजिन्नाम पावकम् ॥ १६ ॥

जो अग्नि सब जगत्के पुरुषोंकी बुद्धिको अपने वशमें रखता है, अध्यात्मविद्याको जाननेवाले विद्वान् उसका नाम विश्वजित् अग्नि बतलाते हैं ॥ १६ ॥

अन्तराग्निः श्रितो यो हि भुक्तं पचति देहिनाम्।
स यज्ञे विश्वभुङ् नाम सर्वलोकेषु भारत ॥ १७ ॥

हे भारत! जो अग्नि सब प्राणियोंके अन्तरमें रहता है, जिससे सब भोजन पचता है, वह सब प्राणियोंमें और यज्ञमें विश्वभुक्के नामसे प्रसिद्ध है ॥ १७ ॥

ब्रह्मचारी यतात्मा च सततं विपुलव्रतः।
ब्राह्मणाः पूज्यन्त्येनं पाकयज्ञेषु पावकम् ॥ १८ ॥

इस अग्निको ब्रह्मचारी, नियतेन्द्रिय व्रतधारी ब्राह्मण सदा ही पाकयज्ञमें पूजते हैं ॥ १८ ॥

प्रथितो गोपतिर्नाम नदी यस्याभवत्प्रिया।
तस्मिन्सर्वाणि कर्माणि क्रियन्ते कर्मकर्तृभिः ॥ १९ ॥

इसकी प्यारी स्त्री पवित्र गोपती नामक नदी है, उसीमें सब कर्म करनेवाले लोग कर्म करते हैं ॥ १९ ॥

वडवामुखः पिबत्यम्भो योऽसौ परमदारुणः।
ऊर्ध्वभागूर्ध्वभाङ् नाम कविः प्राणाश्रितस्तु सः ॥ २० ॥

जो परम दारुण अग्नि है, जो समुद्रको पीता है उसका नाम वडवाग्नि है। जो प्राण नामक अग्नि ऊपरको जाता है, कवियोंने उसका नाम ऊर्ध्वभाक् रखा है ॥ २० ॥

उदग्द्वारं हविर्यस्य गृहे नित्यं प्रदीयते।
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत्परमः स्मृतः ॥ २१ ॥

जिसके निमित्त उत्तरदिशामें रोज हवि दी जाती है, जिससे हवन सफल होता है, उसका नाम स्विष्टकृत् है ॥ २१ ॥

यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति पावकः।
क्रोधस्य तु रसो जज्ञे मन्यती चाथ पुत्रिका।
स्वाहेति दारुणा क्रूरा सर्वभूतेषु तिष्ठति ॥ २२ ॥

जो अग्नि शान्त पुरुषोंमें क्रोधरूप होकर रहता है, जो क्रोधी पुरुषोंमें पसीना रूप होकर रहता है, उस पूर्वोक्त अग्निकी मन्यती नामकी कन्या है। एक अग्नि वडा दारुण है उसका नाम स्वाहा है। वह सब प्राणियोंमें रहता है ॥ २२ ॥

त्रिदिवे यस्य सदृशो नास्ति रूपेण कश्चन।
अतुल्यत्वात्कृतो देवैर्नाम्ना कामस्तु पावकः ॥ २३ ॥

स्वर्गमें जिसके समान रूपवान् कोई नहीं है, जिसकी तुलना नहीं हो सकती है, उस अग्निका नाम देवोंने काम रखा है ॥ २३ ॥

संहर्षाद्धारयन्क्रोधं धन्वी स्रग्वी रथे स्थितः।
समरे नाशयेच्छत्रूनमोघो नाम पावकः ॥ २४ ॥

जो अग्नि रथपर चढकर, माला पहनकर और धनुष धारण करके तथा क्रोधको धारणकर युद्धमें सब शत्रुओंका नाश करता है उसका नाम अमोघ है ॥ २४ ॥

उक्थो नाम महाभाग त्रिभिरुक्थैरभिष्टुतः ।
महावाचं त्वजनयत्सकामाश्वं हि यं विदुः ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥ ७४०९ ॥

जिसकी स्तुति तीन उच्च पदोंसे की जाती है, उस महाभाग अग्निका नाम उक्थ है। उसीसे महावाक् उत्पन्न हुए हैं और उसीको कामाश्व भी कहते हैं ॥ २५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ नौवां अध्याय समाप्त ॥ २०९ ॥ ७४०९ ॥

२१०

मार्कण्डेय उवाच

काश्यपो ह्यथ वासिष्ठः प्राणश्च प्राणपुत्रकः ।
अग्निराङ्गिरसश्चैव च्यवनस्त्रिषुवर्चकः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले— हे राजन् युधिष्ठिर ! कश्यपके पुत्र काश्यप, वसिष्ठके पुत्र वासिष्ठ, प्राणके पुत्र प्राण, अङ्गिराके पुत्र च्यवन तथा त्रिवर्चा ये पांच अग्नियां हैं ॥ १ ॥

अचरन्त तपस्तीव्रं पुत्रार्थे बहुवार्षिकम् ।
पुत्रं लभेम धर्मिष्ठं यशसा ब्रह्मणा समम् ॥ २ ॥

इन पांचोंने पुत्रके लिये कई सौ वर्षोंतक घोर तप किया; उन्होंने कहा, कि हमारे ऐसा धार्मिक पुत्र हो, जो यशमें ब्रह्माके समान हो ॥ २ ॥

महाव्याहृतिभिर्ध्यातः पञ्चभिस्तैस्तदा त्वथ ।
जज्ञे तेजोमयोऽर्चिष्मान्पञ्चवर्णः प्रभावनः ॥ ३ ॥

जब उन पांचोंने महाव्याहृतियोंसे ब्रह्माका ध्यान किया, तब पांच वर्णवाला महातेजस्वी एक तेज उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥

समिद्धोऽग्निः शिरस्तस्य बाहू सूर्यनिभौ तथा ।
त्वङ्नेत्रे च सुवर्णाभे कृष्णे जङ्घे च भारत ॥ ४ ॥

हे भारत ! उसका सिर प्रदीप्त हुई अग्निके समान, हाथ सूर्यके समान, त्वचा और नेत्र स्वर्णके समान और उसकी जांघ काली थी ॥ ४ ॥

पञ्चवर्णः स तपसा कृतस्तैः पञ्चभिर्जनैः ।
पाञ्चजन्यः श्रुतो वेदे पञ्चवंशकरस्तु सः ॥ ५ ॥

उन पांचोंने अपने तपके बलसे उस बालकको पांच रंगका बनाया। इसलिये वेदोंमें वह बालक पाञ्चजन्यके नामसे विख्यात हुआ। उससे पांच वंश चले ॥ ५ ॥

दश वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महातपाः ।
जनयत्पावकं घोरं पितॄणां स प्रजाः सृजन् ॥ ६ ॥

उस महातपस्वीने दस हजार वर्षतक घोर तप किया और अपने पितरोंके लिए प्रजा उत्पन्न करनेवाले उस अपने तपसे घोर अग्निको उत्पन्न किया ॥ ६ ॥

बृहद्रथंतरं मूर्ध्नो वक्त्राच्च तरसाहरौ ।
शिवं नाभ्यां बलादिन्द्रं वाय्वग्नी प्राणतोऽसृजत् ॥ ७ ॥

उन्होंने अपने सिरसे बृहत् रथन्तरको और मुखसे तरसा और हरको प्रकट किया । नाभिसे शिव, बलसे इन्द्र, प्राणसे वायु और अग्निको उत्पन्न किया ॥ ७ ॥

बाहुभ्यामनुदात्तौ च विश्वे भूतानि चैव ह ।
एतान्सृष्ट्वा ततः पञ्च पितॄणामसृजत्सुतान् ॥ ८ ॥

हाथोंसे उदात्त और अनुदात्त स्वर और मन आदि इन्द्रियों और पंच महाभूतोंको उत्पन्न किया। इन सबको उत्पन्न करनेके पश्चात् पितरोंके पांच पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ ८ ॥

बृहदूर्जस्य प्रणिधिः काश्यपस्य बृहत्तरः ।
भानुरङ्गिरसो वीरः पुत्रो वर्चस्य सौभरः ॥ ९ ॥

उन पांचमेंसे बृहदूर्जका प्रणिधी, काश्यपका बृहत्तर, अङ्गिराका धैर्यवान् भानु और वर्चका सौभर पुत्र हुआ ॥ ९ ॥

प्राणस्य चानुदात्तश्च व्याख्याताः पञ्च वंशजाः ।
देवान्यज्ञमुषश्चान्यान्सृजन्पञ्चदशोत्तरान् ॥ १० ॥

प्राणके अनुदात्त ये सब पांच वंशज पुत्र हुए और उन्होंने यज्ञोंके नाश करनेवाले पन्द्रह उत्तर देव (विनायक) उत्पन्न किये ॥ १० ॥

अभीममतिभीमं च भीमं भीमबलाबलम् ।
एतान्यज्ञमुषः पञ्च देवानभ्यसृजत्तपः ॥ ११ ॥

तपःसंज्ञक पांचजन्यने पांच पुत्र उत्पन्न किये । उन पांचोंके ये नाम हैं, अभीम, अतिभीम, भीम, भीमबल, अबल, ये पांचों ही यज्ञोंके नाश करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

सुमित्रं मित्रवन्तं च मित्रज्ञं मित्रवर्धनम् ।
मित्रधर्माणमित्येतान्देवानभ्यसृजत्तपः ॥ १२ ॥

सुमित्र, मित्रवान्, मित्रज्ञ, मित्रवर्धन और मित्रधर्मा, इन पांच देवताओंको भी तपने ही उत्पन्न किया ॥ १२ ॥

प्रशान्तेऽग्निर्महाभाग परिश्रान्तो गवांपतिः ।
असुराञ्जनयन्घोरान्मर्त्यांश्चैव पृथग्विधान् ॥ ७ ॥

हे महाभाग युधिष्ठिर ! जब अस्तके समयमें सूर्य भी थक गये और अग्निस्वरूप हो गये, तब भयानक असुर और अनेक भांतिके मनुष्य उत्पन्न हुए ॥ ७ ॥

तपसश्च मनुं पुत्रं भानुं चाप्यङ्गिरासृजत् ।
बृहद्भानुं तु तं प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ ८ ॥

वह भी तपसे ही उत्पन्न हुए; तपके पुत्र मनु और भानुको अङ्गिराने उत्पन्न किया। वेदज्ञानी ब्राह्मण उसको बृहद्भानु कहते हैं ॥ ८ ॥

भानोर्भार्या सुप्रजा तु बृहद्भासा तु सोमजा ।
असृजेतां तु षट् पुत्राञ्शृणु तासां प्रजाविधिम् ॥ ९ ॥

भानुकी दो स्त्रियां थी सुप्रजा और सोमसे उत्पन्न बृहद्भासा। इन दो स्त्रियोंसे छःपुत्र उत्पन्न हुए। उनका उत्पत्ति प्रकार सुनो ॥ ९ ॥

दुर्बलानां तु भूतानां तनुं यः संप्रयच्छति ।
तमग्निं बलदं प्राहुः प्रथमं भानुतः सुतम् ॥ १० ॥

दुर्बल मनुष्योंको जो शक्ति देता है, उस भानुके पहिले पुत्र अग्निको बल देनेवाला कहते हैं ॥ १० ॥

यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति दारुणः ।
अग्निः स मन्युमान्नाम द्वितीयो भानुतः सुतः ॥ ११ ॥

तथा जो शांतिको प्राप्त हुए मनुष्योंके हृदयमें भयंकर क्रोध रूपसे उत्पन्न होता है, उसका नाम मन्युमान् है और वह भानुका दूसरा पुत्र है ॥ ११ ॥

दर्शे च पौर्णमासे च यस्येह हविरुच्यते ।
विष्णुर्नामेह योऽग्निस्तु धृतिमान्नाम सोऽङ्गिराः ॥ १२ ॥

पूर्णमासी और अमावसके दिन जिसमें यज्ञ किया जाता है, उस अग्निका विष्णु, धृतिमान् और अङ्गिरा नाम है ॥ १२ ॥

इन्द्रेण सहितं यस्य हविराग्रयणं स्मृतम् ।
अग्निराग्रयणो नाम भानोरेवान्वयस्तु सः । ॥ १३ ॥

इन्द्रके सहित जिसको आग्रयण नामक आहुति दी जाती है उस अग्निको आग्रयण कहते हैं; वह भी भानुकाही पुत्र है ॥ १३ ॥

दश वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महातपाः ।
जनयत्पावकं घोरं पितॄणां स प्रजाः सृजन् ॥ ६ ॥

उस महातपस्वीने दस हजार वर्षतक घोर तप किया और अपने पितरोंके लिए प्रजा उत्पन्न करनेवाले उस अपने तपसे घोर अग्निको उत्पन्न किया ॥ ६ ॥

बृहद्रथंतरं मूर्ध्नो वक्त्राच्च तरसाहरौ ।
शिवं नाभ्यां बलादिन्द्रं वाय्वग्नी प्राणतोऽसृजत् ॥ ७ ॥

उन्होंने अपने सिरसे बृहत् रथन्तरको और मुखसे तरसा और हरको प्रकट किया । नाभिसे शिव, बलसे इन्द्र, प्राणसे वायु और अग्निको उत्पन्न किया ॥ ७ ॥

बाहुभ्यामनुदात्तौ च विश्वे भूतानि चैव ह ।
एतान्सृष्ट्वा ततः पञ्च पितॄणामसृजत्सुतान् ॥ ८ ॥

हाथोंसे उदात्त और अनुदात्त स्वर और मन आदि इन्द्रियों और पंच महाभूतोंको उत्पन्न किया। इन सबको उत्पन्न करनेके पश्चात् पितरोंके पांच पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ ८ ॥

बृहदूर्जस्य प्रणिधिः काश्यपस्य बृहत्तरः ।
भानुरङ्गिरसो वीरः पुत्रो वर्चस्य सौभरः ॥ ९ ॥

उन पांचमेंसे बृहदूर्जका प्रणिधी, काश्यपका बृहत्तर, अङ्गिराका धैर्यवान् भानु और वर्चका सौभर पुत्र हुआ ॥ ९ ॥

प्राणस्य चानुदात्तश्च व्याख्याताः पञ्च वंशजाः ।
देवान्यज्ञमुषश्चान्यान्सृजन्पञ्चदशोत्तरान् ॥ १० ॥

प्राणके अनुदात्त ये सब पांच वंशज पुत्र हुए और उन्होंने यज्ञोंके नाश करनेवाले पन्द्रह उत्तर देव (विनायक) उत्पन्न किये ॥ १० ॥

अभीममतिभीमं च भीमं भीमबलाबलम् ।
एतान्यज्ञमुषः पञ्च देवानभ्यसृजत्तपः ॥ ११ ॥

तपःसंज्ञक पांचजन्यने पांच पुत्र उत्पन्न किये । उन पांचोंके ये नाम हैं, अभीम, अतिभीम, भीम, भीमबल, अबल, ये पांचों ही यज्ञोंके नाश करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

सुमित्रं मित्रवन्तं च मित्रज्ञं मित्रवर्धनम् ।
मित्रधर्माणमित्येतान्देवानभ्यसृजत्तपः ॥ १२ ॥

सुमित्र, मित्रवान्, मित्रज्ञ, मित्रवर्धन और मित्रधर्मा, इन पांच देवताओंको भी तपने ही उत्पन्न किया ॥ १२ ॥

प्रशान्तेऽग्निर्महाभाग परिश्रान्तो गवांपतिः ।
असुराञ्जनयन्घोरान्मर्त्यांश्चैव पृथग्विधान् ॥ ७ ॥

हे महाभाग युधिष्ठिर ! जब अस्तके समयमें सूर्य भी थक गये और अग्निस्वरूप हो गये, तब भयानक असुर और अनेक भांतिके मनुष्य उत्पन्न हुए ॥ ७ ॥

तपसश्च मनुं पुत्रं भानुं चाप्यङ्गिरासृजत् ।
बृहद्भानुं तु तं प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ ८ ॥

वह भी तपसे ही उत्पन्न हुए; तपके पुत्र मनु और भानुको अङ्गिराने उत्पन्न किया। वेदज्ञानी ब्राह्मण उसको बृहद्भानु कहते हैं ॥ ८ ॥

भानोर्भार्या सुप्रजा तु बृहद्भासा तु सोमजा ।
असृजेतां तु षट् पुत्राञ्छृणु तासां प्रजाविधिम् ॥ ९ ॥

भानुकी दो स्त्रियां थी सुप्रजा और सोमसे उत्पन्न बृहद्भासा। इन दो स्त्रियोंसे छः पुत्र उत्पन्न हुए। उनका उत्पत्ति प्रकार सुनो ॥ ९ ॥

दुर्बलानां तु भूतानां तनुं यः संप्रयच्छति ।
तमग्निं बलदं प्राहुः प्रथमं भानुतः सुतम् ॥ १० ॥

दुर्बल मनुष्योंको जो शक्ति देता है, उस भानुके पहिले पुत्र अग्निको बल देनेवाला कहते हैं ॥ १० ॥

यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति दारुणः ।
अग्निः स मन्युमान्नाम द्वितीयो भानुतः सुतः ॥ ११ ॥

तथा जो शांतिको प्राप्त हुए मनुष्योंके हृदयमें भयंकर क्रोध रूपसे उत्पन्न होता है, उसका नाम मन्युमान् है और वह भानुका दूसरा पुत्र है ॥ ११ ॥

दर्शे च पौर्णमासे च यस्येह हविरुच्यते ।
विष्णुर्नामेह योऽग्निस्तु धृतिमान्नाम सोऽङ्गिराः ॥ १२ ॥

पूर्णमासी और अमावसके दिन जिसमें यज्ञ किया जाता है, उस अग्निका विष्णु, धृतिमान् और अङ्गिरा नाम है ॥ १२ ॥

इन्द्रेण सहितं यस्य हविराग्रयणं स्मृतम् ।
अग्निराग्रयणो नाम भानोरेवान्वयस्तु सः । ॥ १३ ॥

इन्द्रके सहित जिसको आग्रयण नामक आहुति दी जाती है उस अग्निको आग्रयण कहते हैं; वह भी भानुकाही पुत्र है ॥ १३ ॥

चातुर्मास्येषु नित्यानां हविषां यो निरग्रहः।
चतुर्भिः सहितः पुत्रैर्भानोरेवान्वयस्तु सः ॥ १४ ॥

चातुर्मास्य यागमें हविके उत्पत्ति स्थान तथा जो ग्रहरहित है वह अग्नि अपने चार पुत्रोंके साथ भानुकेही पुत्र हैं ॥ १४ ॥

निशां त्वजनयत्कन्यामग्नीषोमावुभौ तथा।
मनोरेवाभवद्भार्या सुषुवे पञ्च पावकान् ॥ १५ ॥

अग्नि और चन्द्रमासे रात्रि नामक कन्या उत्पन्न हुई; वह कन्या मनुसे व्याही गई और उससे पांच पुत्ररूप अग्नि उत्पन्न हुए ॥ १५ ॥

पूज्यते हविषाग्र्येण चातुर्मास्येषु पावकः।
पर्जन्यसहितः श्रीमानग्निर्वैश्वानरस्तु सः ॥ १६ ॥

जो चातुर्मास्य यागमें पूजा जाता है, वह अग्नि पर्जन्यके साथ रहता है, उसका नाम वैश्वानर है वह मनुका प्रथम पुत्र है ॥ १६ ॥

अस्य लोकस्य सर्वस्य यः पतिः परिपठ्यते।
सोऽग्निर्विश्वपतिर्नाम द्वितीयो वै मनोः सुतः।
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत्परमः स्मृतः ॥ १७ ॥

मनुका दूसरा पुत्र विश्वपति नामक अग्नि है, वही इस जगत्का स्वामी है; जिससे आज्य होम उत्तम होता है उसका नाम स्विष्टकृत् है। वह भी मनुका ही पुत्र है ॥ १७ ॥

कन्या सा रोहिणी नाम हिरण्यकशिपोः सुता।
कर्मणासौ बभौ भार्या स वह्निः स प्रजापतिः ॥ १८ ॥

मनुकी एक पुत्री कन्या रोहिणीके नामसे प्रसिद्ध हुई। वह अपने किसी अशुभ कर्मके कारण हिरण्यकशिपुकी पत्नी बनी। वस्तुतः तो मनु ही वह्नि और मनु ही प्रजापति हैं ॥ १८ ॥

प्राणमाश्रित्य यो देहं प्रवर्तयति देहिनाम्।
तस्य संनिहितो नाम शब्दरूपस्य साधनः ॥ १९ ॥

जो प्राणियोंके शरीरोंको प्राणोंके आश्रयसे कर्ममें प्रवृत्त करता है, उसका नाम सन्निहित है, जो शब्द तथा रूपका ज्ञान देता है ॥ १९ ॥

शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो बिभर्ति हुताशनम्।
अकल्मषः कल्मषाणां कर्ता क्रोधाश्रितस्तु सः ॥ २० ॥

जिसकी उपासनासे दो गतियां प्राप्त होती हैं; एक कृष्ण एक शुक्ल, वह अग्नि निष्कल्मष है और काम्यकर्मोंको बनाता है, यह क्रोधके आश्रयमें रहता है ॥ २० ॥

महतां चैव भूतानां सर्वेषामिह यः पतिः ।
भगवान्स महातेजा नित्यं चरति पावकः ॥ ३ ॥
जो सब जगत्के बडे बडे जीवोंके स्वामी हैं, वही भगवान् अग्नि सब जगतमें घूमते हैं ॥ ३ ॥

अग्निर्गृहपतिर्नाम नित्यं यज्ञेषु पूज्यते ।
हुतं वहति यो हव्यमस्य लोकस्य पावकः ॥ ४ ॥
जो गृहपति नामक अग्नि है वही सब यज्ञोंमें पूजा जाता है। वही अग्नि इस सब जगत्की आहुतिको खाता है ॥ ४ ॥

अपां गर्भो महाभागः सहपुत्रो महाद्भुतः ।
भूपतिर्भुवभर्ता च महतः पतिरुच्यते ॥ ५ ॥
वही महाभाग अग्नि सहका पुत्र और महा अद्भुत है। वही अग्नि जलसे उत्पन्न हुआ है; वह ही भूपति भुवनपति और महत्पति है ॥ ५ ॥

दहन्मृतानि भूतानि तस्याग्निर्भरतोऽभवत् ।
अग्निष्टोमे च नियतः क्रतुश्रेष्ठो भरस्य तु ॥ ६ ॥
उस अद्भुत अग्निका पुत्र भरत हुआ; वह भरत सब मरे हुए शरीरोंको जलाता है और अग्निष्टोमादिक यज्ञमें स्थापित किया जाता है; जो अग्नि सबका प्रभु है, उसका नाम नियत है ॥ ६ ॥

आयान्तं नियतं दृष्ट्वा प्रविवेशार्णवं भयात् ।
देवास्तं नाधिगच्छन्ति मार्गमाणा यथादिशम् ॥ ७ ॥
एक दिन सहने अपने पौत्र नियतको आते देखा, तो उससे छू जानेके भयसे समुद्रमें घुस गये। तब देवता उन्हें सब ओरसे ढूंढते ढूंढते समुद्रमें भी गये ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा त्वग्निरथर्वाणं ततो वचनमब्रवीत् ।
देवानां वह हव्यं त्वमहं वीर सुदुर्बलः ।
अथर्वन्गच्छ मध्यक्षं प्रियमेतत्कुरुष्व मे ॥ ८ ॥
जब अग्निने अथर्वा (अंगिरा) को देखा तो ऐसे वचन बोले— हे वीर ! मैं बहुत दुर्बल हूं, अतः अब तुम्हीं देवोंको हवियां पहुंचाया करो। हे अथर्वन् ! तुम्हीं अग्नित्वको स्वीकार करो, यह मेरा प्रिय कार्य है इसको तुम करो ॥ ८ ॥

प्रेष्य चाग्निरथर्वाणमन्यं देशं ततोऽगमत् ।
मत्स्यास्तस्य समाचख्युः क्रुद्धस्तानग्निरब्रवीत् ॥ ९ ॥
अग्नि अथर्वाको भेजकर दूसरे देशको चले गये। उनके जानेका समाचार मछलियोंने कह दिया; तब अग्निने क्रोधसे मछलियोंको शाप दिया ॥ ९ ॥

चातुर्मास्येषु नित्यानां हविषां यो निरग्रहः ।
चतुर्भिः सहितः पुत्रैर्भानोरेवान्वयस्तु सः ॥ १४ ॥

चातुर्मास्य यागमें हविके उत्पत्ति स्थान तथा जो ग्रहरहित है वह अग्नि अपने चार पुत्रोंके साथ भानुकेही पुत्र हैं ॥ १४ ॥

निशां त्वजनयत्कन्यामग्नीषोमावुभौ तथा ।
मनोरेवाभवद्भार्या सुषुवे पञ्च पावकान् ॥ १५ ॥

अग्नि और चन्द्रमासे रात्रि नामक कन्या उत्पन्न हुई; वह कन्या मनुसे व्याही गई और उससे पांच पुत्ररूप अग्नि उत्पन्न हुए ॥ १५ ॥

पूज्यते हविषाग्र्येण चातुर्मास्येषु पावकः ।
पर्जन्यसहितः श्रीमानग्निर्वैश्वानरस्तु सः ॥ १६ ॥

जो चातुर्मास्य यागमें पूजा जाता है, वह अग्नि पर्जन्यके साथ रहता है, उसका नाम वैश्वानर है वह मनुका प्रथम पुत्र है ॥ १६ ॥

अस्य लोकस्य सर्वस्य यः पतिः परिपठयते ।
सोऽग्निर्विश्वपतिर्नाम द्वितीयो वै मनोः सुतः ।
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत्परमः स्मृतः ॥ १७ ॥

मनुका दूसरा पुत्र विश्वपति नामक अग्नि है, वही इस जगत्का स्वामी है; जिससे आज्य होम उत्तम होता है उसका नाम स्विष्टकृत् है। वह भी मनुका ही पुत्र है ॥ १७ ॥

कन्या सा रोहिणी नाम हिरण्यकशिपोः सुता ।
कर्मणासौ बभौ भार्या स वह्निः स प्रजापतिः ॥ १८ ॥

मनुकी एक पुत्री कन्या रोहिणीके नामसे प्रसिद्ध हुई। वह अपने किसी अशुभ कर्मके कारण हिरण्यकशिपुकी पत्नी बनी। वस्तुतः तो मनु ही वह्नि और मनु ही प्रजापति हैं ॥ १८ ॥

प्राणमाश्रित्य यो देहं प्रवर्तयति देहिनाम् ।
तस्य संनिहितो नाम शब्दरूपस्य साधनः ॥ १९ ॥

जो प्राणियोंके शरीरोंको प्राणोंके आश्रयसे कर्ममें प्रवृत्त करता है, उसका नाम सन्निहित है, जो शब्द तथा रूपका ज्ञान देता है ॥ १९ ॥

शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो बिभर्ति हुताशनम् ।
अकल्मषः कल्मषाणां कर्ता क्रोधाश्रितस्तु सः ॥ २० ॥

जिसकी उपासनासे दो गतियां प्राप्त होती हैं; एक कृष्ण एक शुक्ल, वह अग्नि निष्कल्मष है और काम्यकर्मोंको बनाता है, यह क्रोधके आश्रयमें रहता है ॥ २० ॥

महतां चैव भूतानां सर्वेषामिह यः पतिः ।
भगवान्स महातेजा नित्यं चरति पावकः ॥ ३ ॥
जो सब जगत्के बडे बडे जीवोंके स्वामी हैं, वही भगवान् अग्नि सब जगत्में घूमते हैं ॥ ३ ॥

अग्निर्गृहपतिर्नाम नित्यं यज्ञेषु पूज्यते ।
हुतं वहति यो हव्यमस्य लोकस्य पावकः ॥ ४ ॥
जो गृहपति नामक अग्नि है वही सब यज्ञोंमें पूजा जाता है । वही अग्नि इस सब जगत्की आहुतिको खाता है ॥ ४ ॥

अपां गर्भो महाभागः सहपुत्रो महाद्भुतः ।
भूपतिर्भुवभर्ता च महतः पतिरुच्यते ॥ ५ ॥
वही महाभाग अग्नि सहका पुत्र और महा अद्भुत है । वही अग्नि जलसे उत्पन्न हुआ है; वह ही भूपति भुवनपति और महत्पति है ॥ ५ ॥

दहन्मृतानि भूतानि तस्याग्निर्भरतोऽभवत् ।
अग्निष्टोमे च नियतः क्रतुश्रेष्ठो भरस्य तु ॥ ६ ॥
उस अद्भुत अग्निका पुत्र भरत हुआ; वह भरत सब मरे हुए शरीरोंको जलाता है और अग्निष्टोमादिक यज्ञमें स्थापित किया जाता है; जो अग्नि सबका प्रभु है, उसका नाम नियत है ॥ ६ ॥

आयान्तं नियतं दृष्ट्वा प्रविवेशार्णवं भयात् ।
देवास्तं नाधिगच्छन्ति मार्गमाणा यथादिशम् ॥ ७ ॥
एक दिन सहने अपने पौत्र नियतको आते देखा, तो उससे छू जानेके भयसे समुद्रमें घुस गये । तब देवता उन्हें सब ओरसे ढूंढते ढूंढते समुद्रमें भी गये ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा त्वग्निरथर्वाणं ततो वचनमब्रवीत् ।
देवानां वह हव्यं त्वमहं वीर सुदुर्बलः ।
अथर्वन्गच्छ मध्वक्षं प्रियमेतत्कुरुष्व मे ॥ ८ ॥
जब अग्निने अर्थवा (अंगिरा) को देखा तो ऐसे वचन बोले– हे वीर ! मैं बहुत दुर्बल हूं, अतः अब तुम्हीं देवोंको हवियां पहुंचाया करो । हे अथर्वन् ! तुम्हीं अग्नित्वको स्वीकार करो, यह मेरा प्रिय कार्य है इसको तुम करो ॥ ८ ॥

प्रेष्य चाग्निरथर्वाणमन्यं देशं ततोऽगमत् ।
मत्स्यास्तस्य समाचख्युः क्रुद्धस्तानग्निरब्रवीत् ॥ ९ ॥
अग्नि अथर्वाको भेजकर दूसरे देशको चले गये । उनके जानेका समाचार मछलियोंने कह दिया; तब अग्निने क्रोधसे मछलियोंको शाप दिया ॥ ९ ॥

भक्ष्या वै विविधैर्भावैर्भविष्यथ शरीरिणाम् ।
अथर्वाणं तथा चापि हव्यवाहोऽब्रवीद्वचः ॥ १० ॥

तुम अनेक तरहसे मनुष्योंके भक्ष्य बनोगे। तदनन्तर अग्निने अथर्वासे सब वृत्तान्त कह दिया ॥ १० ॥

अनुनीयमानोऽपि भृशं देववाक्याद्धि तेन सः ।
नैच्छद्वोढुं हविः सर्वं शरीरं च समत्यजत् ॥ ११ ॥

तब देवताओंने अग्निका हित चाहकर बहुत समझाया, परन्तु अग्निने यज्ञकी आहुतियोंको ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं की और अपने शरीरको छोड दिया ॥ ११ ॥

स तच्छरीरं संत्यज्य प्रविवेश धरां तदा ।
भूमिं स्पृष्ट्वासृजद्धातून्पृथक्पृथगतीव हि ॥ १२ ॥

अग्नि अपने शरीरको छोडकर पृथ्वीमें घुस गये। वहां जाकर उन्होंने सब धातुओंको अलग अलग उत्पन्न किया ॥ १२ ॥

आस्यात्सुगन्धि तेजश्च अस्थिभ्यो देवदारु च ।
श्लेष्मणः स्फटिकं तस्य पित्तान्मरकतं तथा ॥ १३ ॥

अग्निके पीपसे गन्ध और तेज, हड्डियोंसे देवदारु, कफसे स्फटिक और पित्तसे मरकत मणि उत्पन्न हुई ॥ १३ ॥

यकृत्कृष्णायसं तस्य त्रिभिरेव बभुः प्रजाः ।
नखास्तस्याभ्रपटलं शिराजालानि विद्रुमम् ।
शरीराद्विविधाश्चान्ये धातवोऽस्याभवन्नृप ॥ १४ ॥

यकृत् (जिगर) से काला लोहा उत्पन्न हुआ। इन काठ, पाषाण और लोहसे प्रजा अनेक सुख पाने लगी। उन अग्निके नाखूनसे अभ्रक और नसोंसे मूगें उत्पन्न हुए। हे राजन्! अग्निके और अंगोंसे अनेक धातुयें उत्पन्न हुईं ॥ १४ ॥

एवं त्यक्त्वा शरीरं तु परमे तपसि स्थितः ।
भृग्वङ्गिरादिभिर्भूयस्तपसोत्थापितस्तदा ॥ १५ ॥

इसप्रकार अग्निने शरीर छोडा और वे बडी भारी तपस्या करने लगे। फिर भृगु और अङ्गिरा आदि ऋषियोंने महान् तपसे अग्निका फिर उद्धार किया ॥ १५ ॥

भृशं जज्वाल तेजस्वी तपसाप्यायितः शिखी ।
दृष्ट्वा ऋषीन्भयाच्चापि प्रविवेश महार्णवम् ॥ १६ ॥

तब तपसे तृप्त होकर महातेजस्वी अग्नि प्रज्वलित होकर उठे, पर जब उन्होंने ऋषियोंको देखा तब भयसे फिर समुद्रमें घुस गए ॥ १६ ॥

तस्मिन्नष्टे जगद्भीतमथर्वाणमथाश्रितम् ।
अर्चयामासुरेवैनमथर्वाणं सुरर्षयः ॥ १७ ॥

अग्निके नष्ट होते ही जगत् भयसे व्याकुल हो गया और सब अथर्वाकी शरणमें आए और सब देवों और ऋषियोंने भी अथर्वाकी पूजा की ॥ १७ ॥

अथर्वा त्वसृजल्लोकानात्मनालोक्य पावकम् ।
मिषतां सर्वभूतानामुन्ममाथ महार्णवम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर अथर्वाने सब जगत्के देखते देखते समुद्रको मथा और अग्निका दर्शन करके लोकोंको उत्पन्न किया ॥ १८ ॥

एवमग्निर्भगवता नष्टः पूर्वमथर्वणा ।
आहूतः सर्वभूतानां हव्यं वहति सर्वदा ॥ १९ ॥

इसप्रकारसे भगवान् अथर्वाने नष्ट अग्निको पुनः जगत्में प्रकाशित किया। उसी दिनसे अग्नि पुनः जगत्के सब यज्ञोंमें प्रकट होकर दी हुई आहुतियोंको स्वीकार करने लगा ॥ १९ ॥

एवं त्वजनयद्धिष्ण्यान्वेदोक्तान्विबुधान्बहून् ।
विचरन्विविधान्देशान्भ्रममाणस्तु तत्र वै ॥ २० ॥

इसप्रकार वेदोंमें कहे हुए अनेक प्रकारके अग्नि उसने उत्पन्न किये जो सब देशोंमें घूमते हैं, और वह अग्नि भी विविध देशोंमें घूमता है ॥ २० ॥

सिन्धुवर्जं पञ्च नद्यो देविकाथ सरस्वती ।
गङ्गा च शतकुम्भा च शरयूर्गण्डसाह्वया ॥ २१ ॥

सिन्धुको छोडकर पञ्चनद, देविका, सरस्वती, गङ्गा, शतकुंभा, शरयू, गण्डका ॥ २१ ॥

चर्मण्वती मही चैव मेध्या मेधातिथिस्तथा ।
ताम्रावती वेत्रवती नद्यस्तिस्रोऽथ कौशिकी ॥ २२ ॥

चर्मण्वती, मही, मेध्या, मेधातिथि, ताम्रावती, वेत्रवती, कौशिकी ये तीन नदियां ॥ २२ ॥

तमसा नर्मदा चैव नदी गोदावरी तथा ।
वेण्णा प्रवेणी भीमा च मेद्रथा चैव भारत ॥ २३ ॥

हे भारत ! तमसा, नर्मदा, गोदावरी, वेण्णा, प्रवेणी, भीमा, मेद्रथा ॥ २३ ॥

भारती सुप्रयोगा च कावेरी मुर्मुरा तथा ।
कृष्णा च कृष्णवेण्णा च कपिला शोण एव च ।
एता नद्यस्तु धिष्ण्यानां मातरो याः प्रकीर्तिताः ॥ २४ ॥

भारती, सुप्रयोगा, कावेरी, मुर्मुरा, वेणा, कृष्णवेण्णा, कपिला और शोण, ये सब नदियां उन अग्नियोंकी मातायें कही गईं हैं ॥ २४ ॥

अद्भुतस्य प्रिया भार्या तस्याः पुत्रो विडूरथः ।
यावन्तः पावकाः प्रोक्ताः सोमास्तावन्त एव च ॥ २५ ॥

इस अद्भुत अग्निकी प्रिया नामक स्त्री है; उनके पुत्रका नाम विडूरथ है। हमने जितने प्रकारके अग्नि कहे हैं उतने ही सोम भी हैं ॥ २५ ॥

अत्रेश्चाप्यन्वये जाता ब्रह्मणो मानसाः प्रजाः ।
अत्रिः पुत्रान्स्रष्टुकामस्तानेवात्मन्यधारयत् ।
तस्य तद्ब्रह्मणः कायान्निर्हरन्ति हुताशनाः ॥ २६ ॥

अत्रिके वंशमें ब्रह्मासे अग्निरूप मानस पुत्र उत्पन्न हुए। जब अत्रिने पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा की, तब उन्होंने अग्नियोंको अपने मनमें धारण किया। तब उस महात्मा ब्रह्माके शरीरसे अग्नि उत्पन्न होने लगे ॥ २६ ॥

एवमेते महात्मानः कीर्तितास्तेऽग्नयो मया ।
अप्रमेया यथोत्पन्नाः श्रीमन्तस्तिमिरापहाः ॥ २७ ॥

हे महाराज ! मैंने इसप्रकारसे आपसे इन सब महात्मा अग्नियोंका वर्णन किया। ये सब अनन्त, श्रीमान् और अन्धकारके नाश करनेवाले हैं ॥ २७ ॥

अद्भुतस्य तु माहात्म्यं यथा वेदेषु कीर्तितम् ।
तादृशं विद्धि सर्वेषामेको ह्येष हुताशनः ॥ २८ ॥

अद्भुत अग्निका महात्म्य वेदोंमें लिखा है। ऐसा ही सब अग्नियोंका महात्म्य है। इन सबमें एक ही प्रथम अग्नि है ॥ २८ ॥

एक एवैष भगवान्विज्ञेयः प्रथमोऽङ्गिराः ।
बहुधा निःसृतः कायाज्ज्योतिष्टोमः क्रतुर्यथा ॥ २९ ॥

उसीका नाम भगवान् अङ्गिरा भी है; उन्हींके शरीरसे अग्निष्टोम यज्ञके समान अनेक उत्पन्न हुए हैं ॥ २९ ॥

इत्येष वंशः सुमहानग्नीनां कीर्तितो मया ।
पावितो विविधैर्मन्त्रैर्हव्यं वहति देहिनाम् ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥ ७४८९ ॥

मैंने यह अग्निका विस्तृत वंश तुमसे कहा। वही अग्नि अनेक मन्त्रोंसे पूजित होकर यज्ञमें मनुष्योंके द्वारा दी गई आहुतियोंका भोग करती है ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ बारहवां अध्याय समाप्त ॥ २१२ ॥ ७४८९ ॥

×

: २१३ :

मार्कण्डेय उवाच

अग्नीनां विविधो वंशः कीर्तितस्ते मयानघ।
शृणु जन्म तु कौरव्य कार्तिकेयस्य धीमतः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे पापरहित युधिष्ठिर ! मैंने तुमसे अग्निके अनेक वंशोंका वर्णन किया। अब मैं बुद्धिमान् स्वामी कार्तिकेयके जन्मका वर्णन करता हूँ, तुम सुनो ॥ १ ॥

अद्भुतस्याद्भुतं पुत्रं प्रवक्ष्याम्यमितौजसम्।
जातं सप्तर्षिभार्याभिर्ब्रह्मण्यं कीर्तिवर्धनम् ॥ २ ॥

हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! जो अग्निके विचित्र पुत्र महातेजस्वी स्वामी कार्तिक उत्पन्न हुए, उनकी कथा मैं कहता हूँ। परम तेजस्वी, कीर्तिको वढानेवाले और ब्राह्मणभक्त कार्तिकेय सात ऋषियोंकी स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए थे ॥ २ ॥

देवासुराः पुरा यत्ता विनिघ्नन्तः परस्परम्।
तत्राजयन्सदा देवान्दानवा घोररूपिणः ॥ ३ ॥

प्राचीन समयमें जब देवता और राक्षसोंका युद्ध हुआ था, तब घोररूप दानवोंने देवताओंको जीत लिया था ॥ ३ ॥

वध्यमानं बलं दृष्ट्वा बहुशस्तैः पुरंदरः।
स्वसैन्यनायकार्थाय चिन्तामाप भृशं तदा ॥ ४ ॥

जब इन्द्रने अपनी सेनाको दानवोंसे मारे जाते हुए देखा, तब सेनापतिके निमित्त बहुत चिन्ता करने लगे ॥ ४ ॥

देवसेनां दानवैर्यो भग्नां दृष्ट्वा महाबलः।
पालयेद्वीर्यमाश्रित्य स ज्ञेयः पुरुषो मया ॥ ५ ॥

इन्द्र सोचने लगे, कि मुझको कोई ऐसा सेनापति मिलना चाहिये, जो महापराक्रमी हो और जो देवताओंकी सेनाको भागते देखकर अपने बलसे उसकी रक्षा कर सके ॥ ५ ॥

स शैलं मानसं गत्वा ध्यायन्नर्थमिमं भृशम्।
शुश्रावार्तस्वरं घोरमथ मुक्तं स्त्रिया तदा ॥ ६ ॥

इस बातके विषयमें अत्यधिक विचार करते हुए इन्द्र मानस नामक पर्वतपर गए; उसी समय इन्द्रने एक रोती हुई स्त्रीका दीन शब्द सुना ॥ ६ ॥

अभिधावतु मा कश्चित्पुरुषस्त्रातु चैव ह।
पतिं च मे प्रदिशतु स्वयं वा पतिरस्तु मे ॥ ७ ॥

वह कहती थी– कि कोई पुरुष मेरी ओर आवे, मेरी रक्षा करे। मेरे निमित्त कोई पति बतावे या वह स्वयं ही मेरा पति बने ॥ ७ ॥

पुरंदरस्तु तामाह मा भैर्नास्ति भयं तव ।
एवमुक्त्वा ततोऽपश्यत्केशिनं स्थितमग्रतः ॥ ८ ॥

इन्द्रने उससे कहा– कि तू कुछ मत डर; तुझे कोई भय नहीं है। ऐसा कहनेपर उसने अपने आगे खडे हुए केशीको देखा ॥ ८ ॥

किरीटिनं गदापाणिं धातुमन्तमिवाचलम् ।
हस्ते गृहीत्वा तां कन्यामथैनं वासवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥
अनार्यकर्मन्कस्मात्त्वमिमां कन्यां जिहीर्षसि ।
वज्रिणं मां विजानीहि विरमास्याः प्रबाधनात् ॥ १० ॥

किरीट धारण किये हुए गदा हाथमें लिए हुए धातुमान् पर्वतके समान दीखनेवाले, एक कन्याके हाथको पकडकर आगे खडे हुए केशीसे इन्द्रने कहा– हे नीच कर्म करने वाले! तू इस कन्याको क्यों हरना चाहता है, तू मुझे वज्रधारी इन्द्र जान और इसे दुःख देना छोड दे ॥ ९-१० ॥

केश्युवाच

विसृजस्व त्वमेवैनां शक्रैषा प्रार्थिता मया ।
क्षमं ते जीवतो गन्तुं स्वपुरं पाकशासन ॥ ११ ॥

केशी बोला– हे पाकशासन ! हे इन्द्र ! तुम्हीं इस कन्याको छोड दो, क्योंकि मैं इससे विवाह करना चाहता हूं। यदि तुम अपने जीवनकी रक्षा करना चाहते हो, तो इसको छोडकर अपने नगरको भाग जाओ ॥ ११ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा गदां केशी चिक्षेपेन्द्रवधाय वै ।
तामापतन्तीं चिच्छेद मध्ये वज्रेण वासवः ॥ १२ ॥
अथास्य शैलशिखरं केशी क्रुद्धो व्यवासृजत् ।
तदापतन्तं संप्रेक्ष्य शैलशृङ्गं शतक्रतुः ।
बिभेद राजन्वज्रेण भुवि तन्निपपात ह ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय बोले– ऐसा कहकर केशीने इन्द्रको मारनेके लिए उसपर गदा चलाई। तब इन्द्रने उस गदाको आते देखकर बीचमें ही उसे वज्रसे काट दिया। तब केशीने क्रोधसे इन्द्रको मारनेके लिए उसपर एक पर्वतका शिखर चलाया। उस पहाडकी चोटीको अपनी तरफ आते देखकर इन्द्रने उसे भी अपने वज्रसे काट दिया। हे राजन् ! यह पर्वतका शिखर कटकर पृथ्वीपर गिर पडा ॥ १२-१३ ॥

पतता तु तदा केशी तेन शृङ्गेण ताडितः।
हित्वा कन्यां महाभागां प्राद्रवद्भृशपीडितः ॥ १४ ॥

गिरता हुआ वही शिखर केशीके सिरमें जाकर लगा। तब केशी बहुत पीडित होकर उस भाग्यवती कन्याको छोड वहांसे भाग गया ॥ १४ ॥

अपयातेऽसुरे तस्मिंस्तां कन्यां वासवोऽब्रवीत्।
कासि कस्यासि किं चेह कुरुषे त्वं शुभानने ॥ १५ ॥

जब केशी वहांसे भाग गया, तब इन्द्रने उस कन्यासे कहा, कि हे सुन्दर रूपवाली! तू कौन है और किसकी पुत्री है और यहां क्या कर रही है? ॥ १५ ॥

कन्योवाच

अहं प्रजापतेः कन्या देवसेनेति विश्रुता।
भगिनी दैत्यसेना मे सा पूर्वं केशिना हृता ॥ १६ ॥

कन्या बोली– मैं प्रजापतिकी पुत्री देवसेनाके नामसे प्रसिद्ध हूं; मेरी एक बहिनका नाम दैत्यसेना है, उसको पहिले ही केशी हर ले गया था ॥ १६ ॥

सहैवावां भगिन्यौ तु सखीभिः सह मानसम्।
आगच्छावेह रत्यर्थमनुज्ञाप्य प्रजापतिम् ॥ १७ ॥

हम दोनों बहिनें प्रजापतिकी आज्ञासे सदा सखियोंके सहित इस मानसमें खेलनेको आती थीं ॥ १७ ॥

नित्यं चावां प्रार्थयते हर्तुं केशी महासुरः।
इच्छत्येनं दैत्यसेना न त्वहं पाकशासन ॥ १८ ॥

यह महाबलवान् केशी सदासे हम दोनोंको हर ले जानेकी इच्छा करता था। मेरी बहिन दैत्यसेना भी इसकी इच्छा रखती थी, परन्तु, हे इन्द्र! मैं नहीं ॥ १८ ॥

सा हृता तेन भगवन्मुक्ताहं त्वद्बलेन तु।
त्वया देवेन्द्र निर्दिष्टं पतिमिच्छामि दुर्जयम् ॥ १९ ॥

अतः यह दैत्यसेनाको ले गया और मुझको तुमने अपने बलसे बचा लिया। हे भगवन् देवराज! अब मैं तुम्हारी आज्ञानुसार किसी महाबलवान्को अपना पति बनाना चाहती हूं ॥ १९ ॥

इन्द्र उवाच

मम मातृष्वसेया त्वं माता दाक्षायणी मम।
आख्यातं त्वहमिच्छामि स्वयमात्मबलं त्वया ॥ २० ॥

इन्द्र बोले– तुम मेरी मौसेरी बहिन हो, क्योंकि मेरी माता भी दक्षप्रजापतिकी पुत्री है; मैं तुम्हारा बल तुमसे सुनना चाहते हैं ॥ २० ॥

कन्योवाच

अबलाहं महाबाहो पतिस्तु बलवान्मम ।
वरदानात्पितुर्भावी सुरासुरनमस्कृतः ॥ २१ ॥

कन्या बोली– हे महाबाहो ! मैं अबला हूं, और मेरे पिताके वरदानसे मेरा पति महा बलवान् होगा। उसको सब देवता और राक्षस नमस्कार करेंगे ॥ २१ ॥

इन्द्र उवाच

कीदृशं वै बलं देवि पत्युस्तव भविष्यति ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तव वाक्यमनिन्दिते ॥ २२ ॥

इन्द्र बोले– हे देवि ! तुम्हारे पतिका बल कैसा होगा ? वह मुझसे कहो, मैं सुनना चाहता हूं ॥ २२ ॥

कन्योवाच

देवदानवयक्षाणां किंनरोरगरक्षसाम् ।
जेता स दृष्टो दुष्टानां महावीर्यो महाबलः ॥ २३ ॥

कन्या बोली– हे इन्द्र ! जो देवता, दानव, यक्ष, किन्नर, सर्प, राक्षस और दुष्ट दैत्योंको जीतनेवाला और महाबलवान् महावीर्यवान् होगा ॥ २३ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतानि त्वया सह विजेष्यति ।
स हि मे भविता भर्ता ब्रह्मण्यः कीर्तिवर्धनः ॥ २४ ॥

और जो तुम्हारे सहित सब प्राणियोंको जीतेगा, वही ब्राह्मणोंका भक्त और कीर्तिका बढाने-वाला मेरा पति होगा ॥ २४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इन्द्रस्तस्या वचः श्रुत्वा दुःखितोऽचिन्तयद्भृशम् ।
अस्या देव्याः पतिर्नास्ति यादृशं संप्रभाषते ॥ २५ ॥

मार्कण्डेय बोले– उस कन्याके ऐसे वचन सुनकर इन्द्र बहुत दुःखी होकर विचार करने लगे, कि यह कन्या जैसे पतिका विचार कर रही है, वैसा कोई नहीं है ॥ २५ ॥

अथापश्यत्स उदये भास्करं भास्करद्युतिः ।
सोमं चैव महाभागं विशमानं दिवाकरम् ॥ २६ ॥

उसी समय सूर्यके समान तेजस्वी इन्द्रने उदय होते हुए सूर्यको और सूर्यमें प्रवेश करते हुए महाभाग चन्द्रमाको देखा ॥ २६ ॥

अमावास्यां संप्रवृत्तं मुहूर्तं रौद्रमेव च।
देवासुरं च संग्रामं सोऽपश्यदुदये गिरौ ॥ २७ ॥

उस समय अमावास्या और मुहूर्त्त रौद्र था, उसी समय इन्द्रने उदयाचलपर देवता और दानवोंको युद्ध करते हुए देखा ॥ २७ ॥

लोहितैश्च घनैर्युक्तां पूर्वां संध्यां शतक्रतुः।
अपश्यल्लोहितोदं च भगवान्वरुणालयम् ॥ २८ ॥

इन्द्रने बडे बडे लाल मेघोंसे भरी हुई प्रातःकालकी संध्याको देखा। तदनन्तर भगवान् इन्द्रने समुद्रको भी लाल जलसे भरा हुआ देखा ॥ २८ ॥

भृगुभिश्चाङ्गिरोभिश्च हुतं मन्त्रैः पृथग्विधैः।
हव्यं गृहीत्वा वह्निं च प्रविशन्तं दिवाकरम् ॥ २९ ॥

इन्द्रने देखा कि भृगु और अंगिराओंसे अनेक प्रकारके मन्त्रों सहित दी हुई आहुतिको ग्रहण करके अग्नि सूर्यमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २९ ॥

पर्व चैव चतुर्विंशं तदा सूर्यमुपस्थितम्।
तथा धर्मगतं रौद्रं सोमं सूर्यगतं च तम् ॥ ३० ॥

उसी समय चौवीस पर्व भी सूर्यको ग्रहण करने लगे; उसी समय रौद्र, धर्म, सूर्य और चन्द्रमा एक हो गये ॥ ३० ॥

समालोक्यैकतामेव शशिनो भास्करस्य च।
समवायं तु तं रौद्रं दृष्ट्वा शक्रो व्यचिन्तयत् ॥ ३१ ॥

चन्द्रमा और सूर्यको एक होते और उनको संयुक्त होते देखकर इन्द्र बहुत विचार करने लगे ॥ ३१ ॥

एष रौद्रश्च संघातो महान्युक्तश्च तेजसा।
सोमस्य वह्निसूर्याभ्यामद्भुतोऽयं समागमः।
जनयेद्यं सुतं सोमः सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् ॥ ३२ ॥

यह सूर्य, चन्द्रमा और अग्निका मिलना बहुत अद्भुत और भयानक है; यह चन्द्रमा जिस पुत्रको उत्पन्न करेगा वही इस देवीका पति होने योग्य है ॥ ३२ ॥

अग्निश्चैतैर्गुणैर्युक्तः सर्वैरग्निश्च देवता।
एष चेज्जनयेद्गर्भं सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् ॥ ३३ ॥

यह अग्नि भी सब गुणोंसे युक्त है अग्नि भी देवता है, तस्मात् यदि अग्निदेव कोई गर्भ धारण करे, तो वही इस कन्याका पति हो सकता है ॥ ३३ ॥

एवं संचिन्त्य भगवान्ब्रह्मलोकं तदा गतः ।
गृहीत्वा देवसेनां तामवन्दत्स पितामहम् ।
उवाच चास्या देव्यास्त्वं साधु शूरं पतिं दिश ॥ ३४ ॥

इन्द्र ऐसा विचारकर ब्रह्मलोकको गए और उस कन्याको आगे करके ब्रह्मासे सारा वृत्तान्त कहा । साथमें यह भी कहा कि कोई बडा शूरवीर पुरुष बताइये जो इस कन्याका पति होने योग्य हो ॥ ३४ ॥

ब्रह्मोवाच

यथैतच्चिन्तितं कार्यं त्वया दानवसूदन ।
तथा स भविता गर्भो बलवानुरुविक्रमः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मा बोले– हे दानवनाशक ! तुमने जो बात सोची है, वह सत्य ही होगी, एक महा बलवान् बालक उत्पन्न होनेवाला है ॥ ३५ ॥

स भविष्यति सेनानीस्त्वया सह शतक्रतो ।
अस्या देव्याः पतिश्चैव स भविष्यति वीर्यवान् ॥ ३६ ॥

वही तुम्हारे साथ सेनापति होगा । हे शतक्रतो ! वही बलवान् बालक इस कन्याका पति होगा ॥ ३६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एतच्छ्रुत्वा नमस्तस्मै कृत्वासौ सह कन्यया ।
तत्राभ्यगच्छद्देवेन्द्रो यत्र देवर्षयोऽभवन् ।
वसिष्ठप्रमुखा मुख्या विप्रेन्द्राः सुमहाव्रताः ॥ ३७ ॥

मार्कण्डेय बोले– ऐसा सुनकर इन्द्रने और उस कन्याने ब्रह्माको प्रणाम किया । तदनन्तर जहां वसिष्ठ आदि व्रतशील ब्राह्मण देवर्षि थे, वहां इन्द्र गए ॥ ३७ ॥

भागार्थं तपसोपात्तं तेषां सोमं तथाध्वरे ।
पिपासवो ययुर्देवाः शतक्रतुपुरोगमाः ॥ ३८ ॥

उस यज्ञमें तपसे प्राप्त होनेवाले उनके सोमके भागको प्राप्त करनेके लिए इन्द्र आदि देव गए ॥ ३८ ॥

इष्टिं कृत्वा यथान्यायं सुसमिद्धे हुताशने ।
जुहुवुस्ते महात्मानो हव्यं सर्वदिवौकसाम् ॥ ३९ ॥

विधिके अनुसार यज्ञ करनेपर जब अग्नि प्रज्वलित हुई, तब वे महात्मा देवताओंके लिये आहुति देने लगे ॥ ३९ ॥

समाहूतो हुतवहः सोऽद्भुतः सूर्यमण्डलात्।
विनिःसृत्याययौ वह्निर्वाग्यतो विधिवत्प्रभुः।
आगम्याहवनीयं वै तैर्द्विजैर्मन्त्रतो हुतम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर अद्भुत अग्निको सूर्यमण्डलसे बुलाया। भगवान् अग्नि ब्राह्मणोंकी वाणीके वशमें होकर उस यज्ञ स्थानमें प्रकट हुए। तब सब ब्राह्मणोंने मन्त्रोंको पढकर आहुति दी ॥ ४० ॥

स तत्र विविधं हव्यं प्रतिगृह्य हुताशनः।
ऋषिभ्यो भरतश्रेष्ठ प्रायच्छत दिवौकसाम्। ॥ ४१ ॥

हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! भगवान् अग्निने भी उस आहुतिको ग्रहण करके सब ऋषियों और देवताओंको भाग दिया ॥ ४१ ॥

निष्क्रामंश्चाप्यपश्यत्स पत्नीस्तेषां महात्मनाम्।
स्वेष्वाश्रमेषूपविष्टाः स्नायन्तीश्च यथासुखम् ॥ ४२ ॥

यज्ञ समाप्त होनेके बाद अपने लोकको जाते हुए अग्निने उन महात्मा ऋषियोंकी स्त्रियोंको अपने आश्रमोंमें सुखसे सोती हुई देखा ॥ ४२ ॥

रुक्मवेदिनिभास्तास्तु चन्द्रलेखा इवामलाः।
हुताशनार्चिप्रतिमाः सर्वास्तारा इवाद्भुताः ॥ ४३ ॥
स तद्गतेन मनसा बभूव क्षुभितेन्द्रियः।
पत्नीर्दृष्ट्वा द्विजेन्द्राणां वह्निः कामवशं ययौ ॥ ४४ ॥

सोनेके समान रंगवाली, चन्द्रमाकी कलाके समान निर्मल, अग्निकी ज्वालाओंके समान तेज-युक्त और तारोंके समान सुन्दर ऋषियोंकी उन स्त्रियोंको देखकर अग्नि कामके वशमें हो गए और उन ऋषिपत्नियोंमें आसक्त हो जानेके कारण उनकी इन्द्रियां वशमें न रहीं ॥४३-४४॥

स भूयश्चिन्तयामास न न्याय्यं क्षुभितोऽस्मि यत्।
साध्वीः पत्नीर्द्विजेन्द्राणामकामाः कामयाम्यहम् ॥ ४५ ॥

फिर अग्निने विचार किया कि इसप्रकार मैं जो कामवश हो गया हूँ, वह न्याययुक्त नहीं है, ये ब्राह्मणोंकी स्त्रियां पतिव्रता और कामरहित हैं; ये कामनाके अयोग्य हैं, फिर भी मैं इनकी कामना कर रहा हूँ ॥ ४५ ॥

नैताः शक्या मया द्रष्टुं स्प्रष्टुं वाप्यनिमित्ततः।
गार्हपत्यं समाविश्य तस्मात्पश्याम्यभीक्ष्णशः ॥ ४६ ॥

विना किसी कारणके मैं इनको देख और छू भी नहीं सकता, इसलिये गार्हपत्य अग्निमें प्रवेश करके इनको वारवार देखूंगा ॥ ४६ ॥

संस्पृशन्निव सर्वास्ताः शिखाभिः काञ्चनप्रभाः ।
पश्यमानश्च मुमुदे गार्हपत्यं समाश्रितः　　　　॥ ४७ ॥

ऐसा विचारकर अग्निने उनके गार्हपत्य अग्निमें प्रवेश किया और वहींसे अपनी ज्वालाओंसे उन स्वर्णके समान रंगवाली स्त्रियोंको छूने लगे और उनके रूपको देखकर प्रसन्न होने लगे ॥४७॥

निरुष्य तत्र सुचिरमेवं वह्निर्वशं गतः ।
मनस्तासु विनिक्षिप्य कामयानो वराङ्गनाः　　　　॥ ४८ ॥

इसप्रकार उन सुन्दरी स्त्रियोंके वशमें होकर वहां बहुत दिन रहनेसे अग्नि उन स्त्रियोंमें अपना मन संयुक्त कर बैठे और उन स्त्रियोंके वशमें हो गये ॥ ४८ ॥

कामसंतप्तहृदयो देहत्यागे सुनिश्चितः ।
अलाभे ब्राह्मणस्त्रीणामग्निर्वनमुपागतः　　　　॥ ४९ ॥

जब अग्निका हृदय कामसे जलने लगा, तब उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब हम शरीर छोड देंगे। परन्तु जब ब्राह्मणोंकी स्त्रियां उनको न मिलीं, तब वे वनको चले गए ॥ ४९ ॥

स्वाहा तं दक्षदुहिता प्रथमं कामयत्तदा ।
सा तस्य छिद्रमन्वैच्छच्चिरात्प्रभृति भामिनी ।
अप्रमत्तस्य देवस्य न चापश्यदनिन्दिता　　　　॥ ५० ॥

स्वाहा नामक दक्षकी पुत्रीने पहले अग्निको अपना पति बनाना चाहा था। और वह स्त्री बहुत दिनसे अग्निकी कमजोरीको ढूंढ रही थी, परंतु अग्निदेव सदा सावधान रहते थे, इससे निन्दारहित स्वाहाको उनमें कोई कमजोरी नहीं दीखी ॥ ५० ॥

सा तं ज्ञात्वा यथावत्तु वह्निं वनमुपागतम् ।
तत्त्वतः कामसंतप्तं चिन्तयामास भामिनी　　　　॥ ५१ ॥

जब उसने इन सब बातोंको जान लिया कि अब अग्निदेव कामके वशमें होकर वनको चले गए हैं, तब उसने विचार किया कि अब अग्नि कामके वशमें हो गए हैं ॥ ५१ ॥

अहं सप्तर्षिपत्नीनां कृत्वा रूपाणि पावकम् ।
कामयिष्यामि कामार्तं तासां रूपेण मोहितम् ।
एवं कृते प्रीतिरस्य कामावाप्तिश्च मे भवेत्　　　　॥ ५२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥ ॥ ७५४१ ॥

अतः मैं सातों ऋषियोंकी स्त्रियोंका रूप बनाकर उनके पास जाऊं; मुझे जब वे कामके वशमें देखेंगे, तब अवश्य ही रूप और कामसे मोहित हो जायेंगे, ऐसा करनेसे अग्निकी प्रीति और मेरा कार्य सिद्ध हो जाएगा ॥ ५२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ २१३ ॥ ७५४१ ॥

: २१४ :

मार्कण्डेय उवाच

शिवा भार्या त्वङ्गिरसः शीलरूपगुणान्विता।
तस्याः सा प्रथमं रूपं कृत्वा देवी जनाधिप ॥ १ ॥
जगाम पावकाभ्याशं तं चोवाच वराङ्गना।
मामग्ने कामसंतप्तां त्वं कामयितुमर्हसि ॥ २ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे नरनाथ युधिष्ठिर! अंगिरा ऋषिकी स्त्रीका नाम शिवा था। वह रूप, शील और गुणोंसे सम्पन्न थी। स्वाहा पहले उसीका रूप बनाकर वनमें अग्निके पास गई और वह सुन्दरी जाकर कहने लगी, कि हे अग्ने! मैं कामसे बहुत व्याकुल हूं, तुम मेरी इच्छाको पूर्ण करो ॥ १-२ ॥

करिष्यसि न चेदेवं मृतां मामुपधारय।
अहमङ्गिरसो भार्या शिवा नाम हुताशन।
सखीभिः सहिता प्राप्ता मन्त्रयित्वा विनिश्चयम् ॥ ३ ॥

यदि ऐसा नहीं करोगे, तो निश्चयसे समझ लो कि मैं मर जाऊंगी। हे हुताशन! मैं अंगिरा ऋषिकी स्त्री हूं, मेरा नाम शिवा है। सब ऋषियोंकी स्त्रियोंने संमति करके मुझे तुम्हारे पास भेजा है ॥ ३ ॥

अग्निरुवाच

कथं मां त्वं विजानीषे कामार्तमितराः कथम्।
यास्त्वया कीर्तिताः सर्वाः सप्तर्षीणां प्रियाः स्त्रियः ॥ ४ ॥

अग्नि बोले– तुमने जिन ऋषियोंकी पत्नियोंका उल्लेख किया है उन सब सप्त ऋषियोंकी प्यारी स्त्रियोंने तथा तुमने भी कैसे जाना कि मैं कामके वशमें हूं ॥ ४ ॥

शिवोवाच

अस्माकं त्वं प्रियो नित्यं बिभीमस्तु वयं तव।
त्वच्चित्तमिङ्गितैर्ज्ञात्वा प्रेषितास्मि तवान्तिकम् ॥ ५ ॥

शिवा बोली–तुम सदासे हमारे प्रिय हो, पर हम सब तुमसे बहुत डरती हैं। तुम्हारे संकेतोंसे हम लोगोंने तुम्हारे चित्तको पहिचान लिया, तब सब ऋषिपत्नियोंने मुझे तुम्हारे पास भेजा है ॥ ५ ॥

मैथुनायेह संप्राप्ता कामं प्राप्तं द्रुतं चर।
मातरो मां प्रतीक्षन्ते गमिष्यामि हुताशन ॥ ६ ॥

मुझे इस समय कामदेव बहुत पीडा दे रहा है; मैं तुम्हारे साथ मैथुन करनेके लिए ही यहां आई हूं, अतः तुम शीघ्र ही मेरे साथ विहार करो, क्योंकि मेरी मातायें मेरा मार्ग देख रही होंगी, मुझे शीघ्र जाना है ॥ ६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततोऽग्निरुपयेमे तां शिवां प्रीतिमुदायुतः ।
प्रीत्या देवी च संयुक्ता शुक्रं जग्राह पाणिना ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय बोले– तदनन्तर अग्निने प्रसन्न होकर स्वाहाके साथ समागम किया। स्वाहादेवीने भी प्रसन्न होकर अग्निका सङ्ग किया। अग्निके स्खलित होनेपर उनके वीर्यको शिवाने अपने हाथमें ले लिया ॥ ७ ॥

अचिन्तयन्ममेदं ये रूपं द्रक्ष्यन्ति कानने ।
ते ब्राह्मणीनामनृतं दोषं वक्ष्यन्ति पावके ॥ ८ ॥

और विचार करने लगी कि वनमें जो कोई मेरे इस रूपको देखेंगे, वह ब्राह्मणीको व्यभिचारिणी और अग्निको दोषी समझेंगे ॥ ८ ॥

तस्मादेतद्रक्ष्यमाणा गरुडी संभवाम्यहम् ।
वनान्निर्गमनं चैव सुखं मम भविष्यति ॥ ९ ॥

इसलिये इस रूपकी रक्षा करती हुई मैं गरुडीका रूप धारण करूंगी, ऐसा करनेसे सुखपूर्वक वनसे चली जाऊंगी ॥ ९ ॥

सुपर्णी सा तदा भूत्वा निर्जगाम महावनात् ।
अपश्यत्पर्वतं श्वेतं शरस्तम्बैः सुसंवृतम् ॥ १० ॥

ऐसे विचार कर स्वाहादेवी गरुडीका रूप बनाकर उस महा वनसे चली। तदनन्तर मार्गमें उसने सरकण्डोंसे भरे हुए एक सफेद पर्वतको देखा ॥ १० ॥

दृष्टीविषैः सप्तशीर्षैर्गुप्तं भोगिभिरद्भुतैः ।
रक्षोभिश्च पिशाचैश्च रौद्रैर्भूतगणैस्तथा ।
राक्षसीभिश्च संपूर्णमनेकैश्च मृगद्विजैः ॥ ११ ॥

जो विषसे भरे हुए सात सिरवाले अद्भुत सर्प, राक्षस, पिशाच, घोर भूत, राक्षसी, वनजन्तु और अनेक प्रकारके पक्षियोंसे भरा हुआ था ॥ ११ ॥

सा तत्र सहसा गत्वा शैलपृष्ठं सुदुर्गमम् ।
प्राक्षिपत्काञ्चने कुण्डे शुक्रं सा त्वरिता सती ॥ १२ ॥

उस कठिनतासे जाने योग्य पर्वतके ऊपर जाकर स्वाहादेवीने उस वीर्यको एक सोनेके कुण्डमें छोड दिया ॥ १२ ॥

शिष्टानामपि सा देवी सप्तर्षीणां महात्मनाम् ।
पत्नीसरूपतां कृत्वा कामयामास पावकम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार स्वाहादेवीने बची हुई ऋषियोंकी स्त्रियोंका रूप बनाकर अग्निसे मैथुन किया ॥१३॥

दिव्यरूपमरुन्धत्याः कर्तुं न शकितं तया ।
तस्यास्तपःप्रभावेण भर्तृशुश्रूषणेन च ॥ १४ ॥

परन्तु वसिष्ठकी स्त्री अरुन्धतीका दिव्यरूप न बना सकी, क्योंकि अरुन्धती वडी तपस्विनी और पतिव्रता थी ॥ १४ ॥

षट्कृत्वस्तत्तु निक्षिप्तमग्ने रेतः कुरूत्तम ।
तस्मिन्कुण्डे प्रतिपदि कामिन्या स्वाहया तदा ॥ १५ ॥

हे कुरुसत्तम ! इस प्रकार अग्निकी कामना करनेवाली स्वाहादेवीने छः वार प्रतिपदाके दिन अग्निके वीर्यको उसी सोनेके कुण्डमें डाला ॥ १५ ॥

तत्स्कन्नं तेजसा तत्र संभृतं जनयत्सुतम् ।
ऋषिभिः पूजितं स्कन्नमनयत्स्कन्दतां ततः ॥ १६ ॥

उस कुण्डसे कुछ दिनके पश्चात् अग्निके उस स्कन्न अर्थात् स्खलित हुए वीर्यसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ । उसी समय सब ऋषियोंने इसकी पूजा की और स्कन्न वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण उसका नाम स्कन्द रक्खा ॥ १६ ॥

षट्शिरा द्विगुणश्रोत्रो द्वादशाक्षिभुजक्रमः ।
एकग्रीवस्त्वेककायः कुमारः समपद्यत ॥ १७ ॥

उस बालकके छः मुख, उससे दुगुने अर्थात् बारह हाथ, बारह कान, बारह नेत्र थे; परन्तु गला और शरीर एक ही था ॥ १७ ॥

द्वितीयायामभिव्यक्तस्तृतीयायां शिशुर्बभौ ।
अङ्गप्रत्यङ्गसंभूतश्चतुर्थ्यामभवद्गुहः ॥ १८ ॥

वह बालक द्वितीयाको पिण्डरूप रहा, तृतीयाको बालक रूप हो गया और चौथको उसके सब अङ्ग अलग अलग हो गये ॥ १८ ॥

लोहिताभ्रेण महता संवृतः सह विद्युना ।
लोहिताभ्रे सुमहति भाति सूर्य इवोदितः ॥ १९ ॥

उस समय बिजलीके सहित लाल मेघ आकाशमें दीखने लगे । उन लाल मेघोंमें वह बालक ऐसा दीखने लगा जैसे प्रातःकालका लाल सूर्य उदय होता है ॥ १९ ॥

गृहीतं तु धनुस्तेन विपुलं लोमहर्षणम् ।
न्यस्तं यत्त्रिपुरघ्नेन सुरारिविनिकृन्तनम् ॥ २० ॥

उसने उत्पन्न होते ही उस धनुषको ग्रहण किया जिसके देखनेसे प्रायः सब लोगोंके रोवें खडे हो जाते थे । यह वही धनुष था जिसको त्रिपुरासुरके नाश करनेके समय शिवने चढाया था ॥ २० ॥

तद्गृहीत्वा धनुःश्रेष्ठं ननाद बलवांस्तदा ।
संमोहयन्निवेमान्स त्रीँल्लोकान्सचराचरान् ॥ २१ ॥

उस धनुषको चढाकर बलवान् कार्तिकेय बहुत गरजने लगे, उस शब्दसे समस्त चर और अचरके सहित तीनों लोक मूर्च्छित होने लगे ॥ २१ ॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा महामेघौघनिस्वनम् ।
उत्पेततुर्महानागौ चित्रश्चैरावतश्च ह ॥ २२ ॥

उस महामेघके समान शब्दको सुनकर चित्र और ऐरावत ये दोनों महागज दौडे ॥ २२ ॥

तावापतन्तौ संप्रेक्ष्य स बालार्कसमद्युतिः ।
द्वाभ्यां गृहीत्वा पाणिभ्यां शक्तिं चान्येन पाणिना ।
अपरेणाग्निदायादस्ताम्रचूडं भुजेन सः ॥ २३ ॥

सूर्यके समान तेजस्वी बालकने उनको आते देख एक एक हाथसे उन्हें पकड लिया । एक हाथसे शक्ति और उस अग्निके पुत्रने दूसरे हाथसे मुर्गेको पकड लिया ॥ २३ ॥

महाकायमुपश्लिष्टं कुक्कुटं बलिनां वरम् ।
गृहीत्वा व्यनदद्भीमं चिक्रीड च महाबलः ॥ २४ ॥

बडे शरीरवाले महाबली मुर्गेको पकडकर वह महाबाहु स्कन्द खेलने लगे और घोर शब्द करने लगे ॥ २४ ॥

द्वाभ्यां भुजाभ्यां बलवान्गृहीत्वा शङ्खमुत्तमम् ।
प्राध्मापयत भूतानां त्रासनं बलिनामपि ॥ २५ ॥

दो हाथोंमें उत्तम शङ्ख लेकर उन बलवान् स्कंदने जोरसे बजाया । उस शब्दको सुनकर सब बलवान् जन्तु डर गए ॥ २५ ॥

द्वाभ्यां भुजाभ्यामाकाशं बहुशो निजघान सः।
क्रीडन्भाति महासेनस्त्रींल्लोकान्वदनैः पिबन्।
पर्वताग्रेऽप्रमेयात्मा रश्मिमानुदये यथा ॥ २६ ॥

कार्तिकेय अपने दो हाथोंसे बारबार आकाशको मारते थे। उस समय खेलते हुए स्वामी कार्तिककी ऐसी शोभा बढी, कि मानो तीनों लोकको वह खा जायेंगे। महाबलवान् स्वामी कार्तिक उस पर्वतपरसे शोभायमान हुए जैसे उदयाचलपर सूर्य ॥ २६ ॥

स तस्य पर्वतस्याग्रे निषण्णोऽद्भुतविक्रमः।
व्यलोकयदमेयात्मा मुखैर्नानाविधैर्दिशः।
स पश्यन्विविधान्भावांश्चकार निनदं पुनः ॥ २७ ॥

विचित्र पराक्रमी स्वामी कार्त्तिक उस पर्वतपर बैठकर सब दिशाओंको देखने लगे और अनेक प्रकारकी वस्तुओंको देखकर पुनः गर्जने लगे ॥ २७ ॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा न्यपतन्बहुधा जनाः।
भीताश्चोद्विग्नमनसस्तमेव शरणं ययुः ॥ २८ ॥

उस शब्दको सुनकर समस्त प्राणी डरकर भागने लगे। फिर घबराकर सब उन्हींकी शरण गए ॥ २८ ॥

ये तु तं संश्रिता देवं नानावर्णास्तदा जनाः।
तानप्याहुः पारिषदान्ब्राह्मणाः सुमहाबलान् ॥ २९ ॥

जो नाना वर्णवाले जन उन स्कन्द देवकी शरणमें गए, उन्हीं बलवानोंको ब्राह्मणोंने उनका पार्षद कहा है ॥ २९ ॥

स तूत्थाय महाबाहुरुपसान्त्व्य च ताञ्जनान्।
धनुर्विकृष्य व्यसृजद्बाणाञ्श्वेते महागिरौ ॥ ३० ॥

महाबाहु स्वामी कार्त्तिक उन सब जीवोंको शान्त करके वहांसे उठे और उन्होंने धनुष चढाकर उस श्वेत पर्वतकी ओर अनेक बाण चलाये ॥ ३० ॥

बिभेद स शरैः शैलं क्रौञ्चं हिमवतः सुतम्।
तेन हंसाश्च गृध्राश्च मेरुं गच्छन्ति पर्वतम् ॥ ३१ ॥

उन्होंने अपने बाणोंसे हिमाचलके पुत्र क्रौंच पर्वतको विदीर्ण कर दिया। उस कारण वहांसे हंस और गिद्ध उडकर मेरु पर्वतपर चले गये ॥ ३१ ॥

स विशीर्णोऽपतच्छैलो भृशमार्तस्वरान्रुवन्।
तस्मिन्निपतिते त्वन्ये नेदुः शैला भृशं भयात् ॥ ३२ ॥

उनके बाणोंसे वह पर्वत दीन शब्द करता हुआ पृथ्वीपर गिर पडा। उसके गिरनेसे और पर्वतोंपर भी घोर शब्द होने लगा ॥ ३२ ॥

स तं नादं भृशार्तानां श्रुत्वापि बलिनां वरः ।
न प्राव्यथदमेयात्मा शक्तिमुद्यम्य चानदत् ॥ ३३ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ अपरिमित आत्मशक्तिवाले स्वामी कार्त्तिक उस घोर शब्दको सुनकर भी कुछ न डरे और शक्तिको लेकर गर्जने लगे ॥ ३३ ॥

सा तदा विपुला शक्तिः क्षिप्ता तेन महात्मना ।
बिभेद शिखरं घोरं श्वेतस्य तरसा गिरेः ॥ ३४ ॥

जब उन्होंने उस निर्मल शक्तिको उस श्वेत पर्वतकी ओर चलाया, तो उसके लगनेसे उसका शिखर कटकर गिर पडा ॥ ३४ ॥

स तेनाभिहतो दीनो गिरिः श्वेतोऽचलैः सह ।
उत्पपात महीं त्यक्त्वा भीतस्तस्मान्महात्मनः ॥ ३५ ॥

महात्मा स्वामी कार्त्तिकके बाण और शक्तिके लगनेसे वह पर्वत डरकर पृथ्वी छोड आकाशमें उड गया ॥ ३५ ॥

ततः प्रव्यथिता भूमिर्व्यशीर्यत समन्ततः ।
आर्ता स्कन्दं समासाद्य पुनर्बलवती बभौ ॥ ३६ ॥

तदनन्तर पृथ्वी भी कटकर चारों ओर गिरने लगी । उसके पश्चात् पृथ्वी भी बहुत दुःख पाने लगी; फिर दीन होकर स्वामी कार्त्तिकके पास आई और शरण पाकर पुनः बलवाली हो गई ॥ ३६ ॥

पर्वताश्च नमस्कृत्य तमेव पृथिवीं गताः ।
अथायमभजल्लोकः स्कन्दं शुक्लस्य पञ्चमीम् ॥ ३७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥ ७५७८ ॥

तदनन्तर सब पर्वतोंने उनको प्रणाम किया और पृथ्वीपर बैठ गए । तदनन्तर शुक्ल पक्षकी पञ्चमीको सब लोगोंने स्वामी कार्त्तिकको देखा ॥ ३७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ २१४ ॥ ७५७८ ॥

: २१५ :

मार्कण्डेय उवाच

ऋषयस्तु महाघोरान्दृष्ट्वोत्पातान्पृथग्विधान्।
अकुर्वञ्शान्तिमुद्विग्ना लोकानां लोकभावनाः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– लोकहितकारी महा ऋषि लोगोंने जब घोर उत्पातोंको देखा तो घबडाकर लोकोंकी शान्तिके निमित्त शान्ति शान्ति कहने लगे ॥ १ ॥

निवसन्ति वने ये तु तस्मिंश्चैत्ररथे जनाः।
तेऽब्रुवन्नेष नोऽनर्थः पावकेनाहृतो महान्।
संगम्य षड्भिः पत्नीभिः सप्तर्षीणामिति स्म ह ॥ २ ॥

जो ऋषि उस चैत्ररथ वनमें रहते थे, वे सब कहने लगे, कि अग्निने यह हमारे वास्ते परम अनर्थ किया है। वे लोग कहने लगे कि अग्निने छः ऋषियोंकी स्त्रियोंसे इस बालकको उत्पन्न किया है ॥ २ ॥

अपरे गरुडीमाहुस्त्वयानर्थोऽयमाहृतः।
यैर्दृष्टा सा तदा देवी तस्या रूपेण गच्छती।
न तु तत्स्वाहया कर्म कृतं जानाति वै जनः ॥ ३ ॥

जिन लोगोंने देवी स्वाहाको गरुडीके रूपमें जाते देखा, तो वे गरुडीसे कहने लगे कि तूने ही यह अनर्थ उपस्थित किया है। पर यह कोई नहीं जानता था कि यह कर्म स्वाहाने ही किया है ॥ ३ ॥

सुपर्णी तु वचः श्रुत्वा ममायं तनयस्त्विति।
उपगम्य शनैः स्कन्दमाहाहं जननी तव ॥ ४ ॥

जब उस गरुडीने ये सब वचन सुने कि यह तो मेरा ही पुत्र है, तब वह स्वामी कार्त्तिकके पास जाकर कहने लगी कि मैं ही तेरी माता हूं ॥ ४ ॥

अथ सप्तर्षयः श्रुत्वा जातं पुत्रं महौजसम्।
तत्यजुः षट् तदा पत्नीर्विना देवीमरुन्धतीम् ॥ ५ ॥

जब सप्तऋषियोंने सुना कि इसप्रकार हमारी स्त्रियोंके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ, तब छैओंने अपनी अपनी स्त्रियोंको छोड दिया, परन्तु भगवान् वसिष्ठने अरुन्धती देवीको नहीं छोडा ॥ ५ ॥

षड्भिरेव तदा जातमाहुस्तद्वनवासिनः ।
सप्तर्षीनाह च स्वाहा मम पुत्रोऽयमित्युत ।
अहं जाने नैतदेवमिति राजन्पुनः पुनः ॥ ६ ॥

जब सब वनवासी कहने लगे कि छै ऋषियोंकी स्त्रियोंसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ है, तब स्वाहा-देवीने जाकर सप्त ऋषियोंसे कहा कि यह पुत्र मेरा है। परन्तु इस बातपर किसी ऋषिको विश्वास न हुआ हे राजन् ! उनमें हरएक बार बार यही कहने लगा कि ' मैं इस बातको नहीं जानता ' ॥ ६ ॥

विश्वामित्रस्तु कृत्वेष्टिं सप्तर्षीणां महामुनिः ।
पावकं कामसंतप्तमदृष्टः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
तत्तेन निखिलं सर्वमवबुद्धं यथातथम् ॥ ७ ॥

इन सब वृत्तान्तको विश्वामित्र मुनि भलीभांति जानते थे, क्योंकि उन्होंने उस सप्त ऋषि-योंकी यज्ञमें अग्निको कामवश हुआ देखा था और अग्निके पीछे गुप्तरूपसे वनको भी गए थे और वहीं स्वाहादेवीका सब चरित्र भी देखा था । तब उन्होंने सब वृत्तान्त सप्त ऋषियोंसे कह सुनाया ॥ ७ ॥

विश्वामित्रस्तु प्रथमं कुमारं शरणं गतः ।
स्तवं दिव्यं संप्रचक्रे महासेनस्य चापि सः ॥ ८ ॥

तदनन्तर विश्वामित्र ही पहले स्वामी कार्त्तिककी शरण गए और कार्तिकेयके बारेमें एक दिव्य स्तोत्र भी बनाया ॥ ८ ॥

मङ्गलानि च सर्वाणि कौमाराणि त्रयोदश ।
जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाश्चक्रे महामुनिः ॥ ९ ॥

विश्वामित्र महामुनिने स्वामी कार्त्तिकके तेरह जातकर्मादि संस्कार और मङ्गल कर्म भी किये ॥ ९ ॥

षड्वक्त्रस्य तु माहात्म्यं कुक्कुटस्य च साधनम् ।
शक्त्या देव्याः साधनं च तथा पारिषदामपि ॥ १० ॥

विश्वामित्र मुनिने स्वामी कार्त्तिकका महा कुक्कुट और शक्तिदेवीका साधन भी वहीं किया; और पार्षदोंका पूजन भी किया ॥ १० ॥

विश्वामित्रश्चकारैतत्कर्म लोकहिताय वै ।
तस्मादृषिः कुमारस्य विश्वामित्रोऽभवत्प्रियः ॥ ११ ॥

विश्वामित्र मुनिने यह सब कर्म लोकके हितके निमित्त किये, इसलिये विश्वामित्र मुनि स्वामी कार्त्तिकके बडे प्रिय हुए ॥ ११ ॥

×

अन्वजानाच्च स्वाहाया रूपान्यत्वं महामुनिः ।
अब्रवीच्च मुनीन्सर्वान्नापराध्यन्ति वै स्त्रियः ।
श्रुत्वा तु तत्त्वतस्तस्मात्ते पत्नीः सर्वतोऽत्यजन् ॥ १२ ॥

तदनन्तर विश्वामित्र मुनिने स्वाहाका सब रूप जानकर सप्त ऋषियोंसे कहा कि तुम्हारी स्त्रियोंका कोई दोष नहीं है। उन्होंने विश्वामित्रके वचन सुनकर भी तथा अपनी स्त्रियोंको दोषरहित होनेपर भी लोकापवादके भयसे त्याग दिया ॥ १२ ॥

स्कन्दं श्रुत्वा ततो देवा वासवं सहिताब्रुवन् ।
अविषह्यबलं स्कन्दं जहि शक्राशु माचिरम् ॥ १३ ॥

जब देवताओंने सुना कि स्वामी कार्तिक उत्पन्न हुए, तब सब इन्द्रके पास जाकर कहने लगे– कि हे शक्र ! कार्तिकेय बहुत बलवान् हैं, इसलिये इनको शीघ्र ही जीत लीजिये। विलंब न कीजिये ॥ १३ ॥

यदि वा न निहंस्येनमद्येन्द्रोऽयं भविष्यति ।
त्रैलोक्यं संनिगृह्यास्मांस्त्वां च शक्र महाबलः ॥ १४ ॥

यदि आप इन्हें न मारेंगे तो यही इन्द्र हो जायेगा। हे महाबल ! यह हमारे सहित तीनों लोकोंको जीत लेगा ॥ १४ ॥

स तानुवाच व्यथितो बालोऽयं सुमहाबलः ।
स्रष्टारमपि लोकानां युधि विक्रम्य नाशयेत् ॥ १५ ॥

तब इन्द्र दुःखी होकर बोले– कि हे देवताओ ! यह बालक बहुत बलवान् है; यह युद्धमें लोकोंके कर्ता ब्रह्माको भी मारनेमें समर्थ है ॥ १५ ॥

सर्वास्त्वद्याभिगच्छन्तु स्कन्दं लोकस्य मातरः ।
कामवीर्या घ्नन्तु चैनं तथेत्युक्त्वा च ता ययुः ॥ १६ ॥

इसलिये अब जितनी लोकमातायें हैं, सब स्वामी कार्तिकके पास जायें और उसके बलका नाश करें। सब लोकमाता उनके वचनको ग्रहण करके कार्तिकेयके पास गईं ॥ १६ ॥

तमप्रतिबलं दृष्ट्वा विषण्णवदनास्तु ताः ।
अशक्योऽयं विचिन्त्यैवं तमेव शरणं ययुः ॥ १७ ॥

परन्तु उनका अनन्त बल देखकर सब दुःखित हो गईं और उनको जीतनेमें असमर्थ समझकर उन्हींके शरण गईं ॥ १७ ॥

ऊचुश्चापि त्वमस्माकं पुत्रोऽस्माभिर्धृतं जगत् ।
अभिनन्दस्व नः सर्वाः प्रस्नुताः स्नेहविक्लवाः ॥ १८ ॥

और उनसे कहने लगीं, कि हे महाबल ! तुम हमारे पुत्र हो। हमीं जगत्को धारण करती हैं, हम सब तुम्हारे प्रेमसे विकल हैं; तुम हमारा अभिनन्दन करो ॥ १८ ॥

ताः संपूज्य महासेनः कामांश्चासां प्रदाय सः ।
अपश्यदग्निमायान्तं पितरं बलिनां बली ॥ १९ ॥
तब उस महासेनानी स्कंदने उन माताओंकी पूजा करके उनकी सब इच्छा पूर्ण की। उसी समय बलवानोंमें भी श्रेष्ठ स्कन्दने अपने पिता अग्निको आते हुए देखा ॥ १९ ॥

स तु संपूजितस्तेन सह मातृगणेन ह ।
परिवार्य महासेनं रक्षमाणः स्थितः स्थिरम् ॥ २० ॥
तब अग्निने स्वामी कार्तिककी बडी प्रशंसा की और लोकमाताओंके सहित उनके चारों ओर रक्षा करनेके लिए बैठ गए ॥ २० ॥

सर्वासां या तु मातॄणां नारी क्रोधसमुद्भवा ।
धात्री सा पुत्रवत्स्कन्दं शूलहस्ताभ्यरक्षत ॥ २१ ॥
लोकमाताओंके क्रोधसे जो स्त्री उत्पन्न हुई थी, वह हाथमें त्रिशूल लेकर स्वामी कार्तिककी पुत्रके समान रक्षा करने लगी ॥ २१ ॥

लोहितस्योदधेः कन्या क्रूरा लोहितभोजना ।
परिष्वज्य महासेनं पुत्रवत्पर्यरक्षत ॥ २२ ॥
जो लाल समुद्रकी कन्या थी वह भी स्वामी कार्तिककी पुत्रके समान रक्षा करने लगी। यह कन्या बडी कठिन स्वभाववाली और रक्त पीनेवाली थी ॥ २२ ॥

अग्निर्भूत्वा नैगमेयश्छागवक्त्रो बहुप्रजः ।
रमयामास शैलस्थं बालं क्रीडनकैरिव ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१५ ॥ ७६०१ ॥

और नैगमेय नामक अग्नि बकरेका मुंह बनाकर पर्वतमें स्थित उस बालकको खिलौनेके समान खिलाने लगा ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ पन्द्रहवां अध्याय समाप्त ॥ २१५ ॥ ७६०१ ॥

: २१६ :

मार्कण्डेय उवाच

ग्रहाः सोपग्रहाश्चैव ऋषयो मातरस्तथा ।
हुताशनमुखाश्चापि दीप्ताः पारिषदां गणाः ॥ १ ॥
मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! ग्रह, उपग्रह, ऋषि, लोकमाता और अग्नि आदि देवता तथा पार्षद लोग बहुत प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

एते चान्ये च बहवो घोरास्त्रिदिववासिनः ।
परिवार्य महासेनं स्थिता मातृगणैः सह ॥ २ ॥

ये तथा और भी बहुतसे देवता और लोकमातायें कार्तिकेयके चारों ओर बैठ गईं ॥ २ ॥

संदिग्धं विजयं दृष्ट्वा विजयेप्सुः सुरेश्वरः ।
आरुह्यैरावतस्कन्धं प्रययौ दैवतैः सहः ।
विजिघांसुर्महासेनमिन्द्रस्तूर्णतरं ययौ ॥ ३ ॥

जब देवराज इन्द्रने अपने विजयमें सन्देह देखा, तब ऐरावतपर चढकर सब देवताओंको साथमें लेकर कार्तिकेयको मारनेकी इच्छासे वेगसे चले ॥ ३ ॥

उग्रं तच्च महावेगं देवानीकं महाप्रभम् ।
विचित्रध्वजसंनाहं नानावाहनकार्मुकम् ।
प्रवराम्बरसंवीतं श्रिया जुष्टमलंकृतम् ॥ ४ ॥

कार्तिकेयने महा उग्र, महातेजस्वी, महावेगवाली, विचित्र ध्वजा कवच और धनुपधारिणी सेनाको देखा ॥ ४ ॥

विजिघांसुं तदायान्तं कुमारः शक्रमभ्ययात् ।
विनदन्पथि शक्रस्तु द्रुतं याति महाबलः ।
संहर्षयन्देवसेनां जिघांसुः पावकात्मजम् ॥ ५ ॥

उस सेनाको आते देखकर उसको मारनेके लिए इन्द्रकी ओर चले। हे युधिष्ठिर ! जब महाबलवान् इन्द्रने कार्तिकेयको आते देखा, तब उनको मारनेकी इच्छासे और देवताओंको प्रसन्न करनेकी इच्छासे गर्जने लगे ॥ ५ ॥

संपूज्यमानस्त्रिदशैस्तथैव परमर्षिभिः ।
समीपमुपसंप्राप्तः कार्तिकेयस्य वासवः ॥ ६ ॥

इन्द्रका शब्द सुनकर सब ऋषि और देवता उनकी पूजा करने लगे। इस प्रकार इन्द्र कार्तिकेयके पास पहुंचे ॥ ६ ॥

सिंहनादं ततश्चक्रे देवेशः सहितः सुरैः ।
गुहोऽपि शब्दं तं श्रुत्वा व्यनदत्सागरो यथा ॥ ७ ॥

वहां पहुंचकर इन्द्रने देवताओंके सहित सिंहके समान शब्द किया। उस शब्दको सुनकर कार्तिकेय भी समुद्रके समान गर्जने लगे ॥ ७ ॥

तस्य शब्देन महता समुद्भूतोदधिप्रभम् ।
बभ्राम तत्र तत्रैव देवसैन्यमचेतनम् ॥ ८ ॥

उनके शब्दको सुनकर समुद्रके समान देवताओंकी सेना घबडा गई और चेतनारहित होकर इधर उधर घूमने लगी ॥ ८ ॥

जिघांसूनुपसंप्राप्तान्देवान्दृष्ट्वा स पावकिः ।
विससर्ज मुखात्क्रुद्धः प्रवृद्धाः पावकार्चिषः ।
ता देवसैन्यान्यदहन्वेष्टमानानि भूतले ॥ ९ ॥

जब अग्निके पुत्र कार्तिकेयने देखा कि देवता हमें मारनेके लिए आए हैं, तब उन्होंने मुखसे बडी कठिन घोर अग्निकी ज्वाला उनकी ओरको छोडी; उससे सब देवताओंकी सेना जलने लगी और कांप कांपकर पृथ्वीपर गिरने लगी ॥ ९ ॥

ते प्रदीप्तशिरोदेहाः प्रदीप्तायुधवाहनाः ।
प्रच्युताः सहसा भान्ति चित्रास्तारागणा इव ॥ १० ॥

किसीका सिर, किसीका शरीर, किसीका वाहन, किसीका शस्त्र जलने लगा । उस समय जलते हुए देवताओंकी ऐसी शोभा हुई जैसे गिरते हुए तारोंकी शोभा होती है ॥ १० ॥

दह्यमानाः प्रपन्नास्ते शरणं पावकात्मजम् ।
देवा वज्रधरं त्यक्त्वा ततः शान्तिमुपागताः ॥ ११ ॥

तदनन्तर जलते हुए देवता अग्निपुत्र कार्तिकेयकी शरण गए । जब देवताओंने इन्द्रको छोड दिया तो युद्ध शान्त हो गया ॥ ११ ॥

त्यक्तो देवैस्ततः स्कन्दे वज्रं शक्रोऽभ्यवासृजत् ।
तद्विसृष्टं जघानाशु पार्श्वं स्कन्दस्य दक्षिणम् ।
बिभेद च महाराज पार्श्वं तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

तब देवताओं द्वारा त्यागे हुए इन्द्रने कार्तिकेयके वज्र मारा । वह वज्र कार्तिकेयके दाहिने कन्धेमें लगा और उसने उस महात्मा स्कंदके बगलको काटकर गिरा दिया ॥ १२ ॥

वज्रप्रहारात्स्कन्दस्य संजातः पुरुषोऽपरः ।
युवा काञ्चनसंनाहः शक्तिधृग्दिव्यकुण्डलः ।
यद्वज्रविशनाज्जातो विशाखस्तेन सोऽभवत् ॥ १३ ॥

तब महात्मा कार्तिकेयके कन्धेसे एक नवीन पुरुष उत्पन्न हुआ । वह युवा सोनेका कवच पहने शक्ति और दिव्य कुण्डल धारण किये था । जो पुरुष वज्रके लगनेसे उत्पन्न हुआ था उसका नाम विशाख हुआ ॥ १३ ॥

तं जातमपरं दृष्ट्वा कालानलसमद्युतिम् ।
भयादिन्द्रस्ततः स्कन्दं प्राञ्जलिः शरणं गतः ॥ १४ ॥

जब इन्द्रने कालकी अग्निके समान दूसरे पुरुषको देखा, तो हाथ जोडकर कार्तिकेयकी शरणमें गए ॥ १४ ॥

तस्याभयं ददौ स्कन्दः सहसैन्यस्य सत्तम।
ततः प्रहृष्टास्त्रिदशा वादित्राण्यभ्यवादयन् ॥ १५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥ ७६१६ ॥

हे श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तब कार्तिकेयने सेनाके सहित उन्हें अभय दान दिया। तब सब देवता प्रसन्न होकर बाजे बजाने लगे ॥ १५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ २१६ ॥ ७६१६ ॥

: २१७ :

मार्कण्डेय उवाच

स्कन्दस्य पार्षदान्घोराञ्शृणुष्वाद्भुतदर्शनान्।
वज्रप्रहारात्स्कन्दस्य जज्ञुस्तत्र कुमारकाः।
ये हरन्ति शिशूञ्जातान्गर्भस्थांश्चैव दारुणाः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! अब कार्तिकेयके पार्षदोंके नाम सुनिये। ये सब विचित्र रूपवाले हैं। इनका जन्म वज्र लगनेके समय कार्तिकेयके शरीरसे हुआ था। यही बडे कठोर पार्षद् बालकोंको और गर्भोंको नष्ट कर देते हैं ॥ १ ॥

वज्रप्रहारात्कन्याश्च जज्ञिरेऽस्य महाबलाः।
कुमाराश्च विशाखं तं पितृत्वे समकल्पयन् ॥ २ ॥

उसी समय वज्र लगनेसे कार्तिकेयके शरीरसे महाबलवान् कन्यायें भी उत्पन्न हुई थीं। उन कुमारोंने विशाखको अपना पिता माना ॥ २ ॥

स भूत्वा भगवान्संख्ये रक्षंश्छागमुखस्तदा।
वृतः कन्यागणैः सर्वैरात्मनीनैश्च पुत्रकैः ॥ ३ ॥

तदनन्तर वे भगवान् विशाख छागमुख होकर तथा कन्यागण और पुत्रोंसे वेष्टित होकर कार्तिकेयकी रणमें रक्षा करने लगे ॥ ३ ॥

मातृणां प्रेक्षतीनां च भद्रशाखश्च कौशलः।
ततः कुमारपितरं स्कन्दमाहुर्जना भुवि ॥ ४ ॥

वह विशाख देखनेके लिये आये हुए मातृगणमें भद्रशाख तथा कौसल नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसी दिनसे संसारके पुरुषोंने महाबलवान् कार्तिकेयको सब बालकोंका पिता मान लिया है ॥ ४ ॥

रुद्रमग्निमुमां स्वाहां प्रदेशेषु महाबलाम् ।
यजन्ति पुत्रकामाश्च पुत्रिणश्च सदा जनाः ॥ ५ ॥

तथा अग्नि और रुद्रको स्कंदका पिता और स्वाहा तथा उमाको उनकी माता मानते हैं । पुत्र और पुत्रियोंकी इच्छा करनेवाले लोग इन चारों -(अग्नि, रुद्र, स्वाहा और उमा) की पूजा करते हैं ॥ ५ ॥

यास्तास्त्वजनयत्कन्यास्तपो नाम हुताशनः ।
किं करोमीति ताः स्कन्दं संप्राप्ताः समभाषत ॥ ६ ॥

जो तपो नामक अग्निसे कन्यायें उत्पन्न हुई थीं, वे सब कार्त्तिकेयके पास आकर कहने लगीं कि हम लोग क्या करें ॥ ६ ॥

मातर ऊचुः

भवेम सर्वलोकस्य वयं मातर उत्तमाः ।
प्रसादात्तव पूज्याश्च प्रियमेतत्कुरुष्व नः ॥ ७ ॥

मातायें बोली– हे कार्त्तिकेय ! तुम्हारी कृपासे हम सब लोकोंकी उत्तम मातायें और पूज्य होना चाहती हैं, हमारे इस प्रिय कामनाको पूरा करो ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सोऽब्रवीद्बाढमित्येवं भविष्यध्वं पृथग्विधाः ।
अशिवाश्च शिवाश्चैव पुनः पुनरुदारधीः ॥ ८ ॥

मार्कण्डेय बोले– कार्त्तिकेयने कहा– बहुत अच्छा, तुम लोग सब अलग अलग हो जाओ । उत्तम बुद्धिमान् कार्त्तिकेय बार बार कहने लगे, कि तुम लोग आधी शिवा और आधी अशिवाके नामसे प्रसिद्ध होओ ॥ ८ ॥

ततः संकल्प्य पुत्रत्वे स्कन्दं मातृगणोऽगमत् ।
काकी च हलिमा चैव रुद्राथ बृहली तथा ।
आर्या पलाला वै मित्रा सप्तैताः शिशुमातरः ॥ ९ ॥

तब लोकमातायें कार्त्तिकेयको अपना अपना पुत्र मानकर चली गईं । उनमें काकी, हलिमा, रुद्रा, बृहली, आर्या, पलाला और मित्रा ये सात सब शिशुओंकी माता कहाती हैं ॥ ९ ॥

एतासां वीर्यसंपन्नः शिशुर्नामातिदारुणः ।
स्कन्दप्रसादजः पुत्रो लोहिताक्षो भयंकरः ॥ १० ॥

स्कंदकी कृपासे इनसे जो शिशु नामक पुत्र हुआ, वह बडा भयंकर लाल नेत्रवाला और दारुण स्वभावका था ॥ १० ॥

एष वीराष्टकः प्रोक्तः स्कन्दमातृगणोद्भवः ।
छागवक्त्रेण सहितो नवकः परिकीर्त्यते ॥ ११ ॥

यह कार्त्तिकेय और लोकमातासे उत्पन्न हुए आठ वीर हैं। छागमुख अग्निके सहित नौ होते हैं ॥ ११ ॥

षष्ठं छागमयं वक्त्रं स्कन्दस्यैवेति विद्धि तत् ।
षट्शिरोभ्यन्तरं राजन्नित्यं मातृगणार्चितम् ॥ १२ ॥

हे राजन् ! कार्त्तिकेयके छः मुखोंमेंसे जो बीचका मुख है, वह बकरेका है; लोकमातायें सदा ही उसकी पूजा करती रहती हैं ॥ १२ ॥

षण्णां तु प्रवरं तस्य शीर्षाणामिह शब्दते ।
शक्तिं येनासृजद्दिव्यां भद्रशाख इति स्म ह ॥ १३ ॥

यही मुख छः मुखोंमें उत्तम कहा जाता है। भद्रशाखने इसीसे दिव्य शक्तिको बनाया था ॥ १३ ॥

इत्येतद्विविधाकारं वृत्तं शुक्लस्य पञ्चमीम् ।
तत्र युद्धं महाघोरं वृत्तं षष्ठ्यां जनाधिप ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥ ७६३० ॥

हे राजन् ! इसप्रकारसे यह सब वृत्तान्त शुक्ल पक्षकी पञ्चमीको हुआ और षष्ठीको महाघोर युद्ध हुआ ॥ १४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ २१७ ॥ ७६३० ॥

: २१८ :

मार्कण्डेय उवाच

उपविष्टं ततः स्कन्दं हिरण्यकवचस्रजम् ।
हिरण्यचूडमुकुटं हिरण्याक्षं महाप्रभम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! तदनन्तर महातेजस्वी कार्त्तिकेय सोनेकी माला, कवच, लाल नेत्रवाले और मुकुट धारण करके एक स्थानपर बैठे हुए ॥ १ ॥

लोहिताम्बरसंवीतं तीक्ष्णदंष्ट्रं मनोरमम् ।
सर्वलक्षणसंपन्नं त्रैलोक्यस्यापि सुप्रियम् ॥ २ ॥

उस महातेजस्वी, लाल वस्त्रधारी, तीक्ष्णदांतवाले, मनोहर, सब लक्षणोंसे युक्त, तीनों लोकोंके प्रिय ॥ २ ॥

ततस्तं वरदं शूरं युवानं मृष्टकुण्डलम् ।
अभजत्पद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी ॥ ३ ॥

वरदान देनेवाले, शूर, वीर, युवा, धनुषधारी कार्त्तिकेयकी सेवा करनेके लिए साक्षात् रूप धारण करके लक्ष्मी आई ॥ ३ ॥

श्रिया जुष्टः पृथुयशाः स कुमारवरस्तदा ।
निषण्णो दृश्यते भूतैः पौर्णमास्यां यथा शशी ॥ ४ ॥

उस समय महायशस्वी कार्त्तिकेय लक्ष्मीसे युक्त होकर ऐसे शोभायमान हुए, जैसे पूर्णमासीमें चन्द्रमा ॥ ४ ॥

अपूजयन्महात्मानो ब्राह्मणास्तं महाबलम् ।
इदमाहुस्तदा चैव स्कन्दं तत्र महर्षयः ॥ ५ ॥

उसी समय महात्मा ऋषियोंने महाबली कार्त्तिकेयकी पूजा की और वहां बैठे हुए ऋषि स्कन्दसे ऐसा कहने लगे ॥ ५ ॥

हिरण्यवर्ण भद्रं ते लोकानां शंकरो भव ।
त्वया षड्रात्रजातेन सर्वे लोका वशीकृताः ॥ ६ ॥

हे सोनेकीसी आभावाले ! तुम्हारा कल्याण हो; तुम जगत्का कल्याण करो; तुमने छःही दिनमें जन्म लेनेके पश्चात् सब लोकोंको वशमें कर लिया है ॥ ६ ॥

अभयं च पुनर्दत्तं त्वयैवैषां सुरोत्तम ।
तस्मादिन्द्रो भवानस्तु त्रैलोक्यस्याभयंकरः । ॥ ७ ॥

हे देवश्रेष्ठ ! तुमने फिर उन सब देवताओंको अभय दान दिया है; इसलिये तुम इन्द्र हो जाओ; तब हम लोगोंको किसीका भी भय नहीं होगा ॥ ७ ॥

स्कन्द उवाच

किमिन्द्रः सर्वलोकानां करोतीह तपोधनाः ।
कथं देवगणांश्चैव पाति नित्यं सुरेश्वरः ॥ ८ ॥

कार्तिकेय बोले– हे ऋषियो ! इन्द्र तीनों लोकका कौनसा हित करता है, और किसप्रकार देवताओंकी रक्षा करता है ? ॥ ८ ॥

ऋषय ऊचुः

इन्द्रो दिशति भूतानां बलं तेजः प्रजाः सुखम् ।
तुष्टः प्रयच्छति तथा सर्वान्दायान्सुरेश्वरः ॥ ९ ॥

ऋषि बोले– इन्द्र सब प्रजामें सुख, तेज और बलका स्थापन करता है, जब प्रसन्न होता है, तब सब कामोंको सिद्ध करता है ॥ ९ ॥

×

दुर्वृत्तानां संहरति वृत्तस्थानां प्रयच्छति ।
अनुशास्ति च भूतानि कार्येषु बलसूदनः ॥ १० ॥

दुष्टोंका नाश और साधुओंका पालन करता है; वही बलनाशक इन्द्र सब प्रजाका शासन करता है ॥ १० ॥

असूर्ये च भवेत्सूर्यस्तथाचन्द्रे च चन्द्रमाः ।
भवत्यग्निश्च वायुश्च पृथिव्यापश्च कारणैः ॥ ११ ॥

सूर्यके अभावमें सूर्य, चन्द्रमाके अभावमें चन्द्रमा, अग्निके अभावमें अग्नि, वायु, पृथ्वी, जलके अभावमें उन्हींका रूप धारण कर लेता है ॥ ११ ॥

एतदिन्द्रेण कर्तव्यमिन्द्रे हि विपुलं बलम् ।
त्वं च वीर बलश्रेष्ठस्तस्मादिन्द्रो भवस्व नः ॥ १२ ॥

यही सब इन्द्रके कार्य हैं; इन्द्र ही सबसे अधिक बलवान् है। तुम सब बलवानोंमें श्रेष्ठ हो; इसलिये तुम ही हमारे इन्द्र हो जाओ ॥ १२ ॥

शक्र उवाच

भवस्वेन्द्रो महाबाहो सर्वेषां नः सुखावहः ।
अभिषिच्यस्व चैवाद्य प्राप्तरूपोऽसि सत्तम ॥ १३ ॥

इन्द्र बोले– हे महाबाहो ! हे सत्तम ! तुम हम लोगोंको सुख देनेवाले हो, इसलिये तुम ही इन्द्रासनपर अपना अभिषेक करो ॥ १३ ॥

स्कन्द उवाच

शाधि त्वमेव त्रैलोक्यमव्यग्रो विजये रतः ।
अहं ते किंकरः शक्र न ममेन्द्रत्वमीप्सितम् ॥ १४ ॥

कार्त्तिकेय बोले– हे शक्र ! मुझे इन्द्र होनेकी इच्छा नहीं है; तुम ही तीनों लोकोंका राज्य करो। मैं तुम्हारा दास हूँ; तुम सदा विजयकी इच्छा रखो ॥ १४ ॥

शक्र उवाच

बलं तवाद्भुतं वीर त्वं देवानामरीञ्जहि ।
अवज्ञास्यन्ति मां लोका वीर्येण तव विस्मिताः ॥ १५ ॥

इन्द्र बोले– हे वीर ! तुम्हारा बल विचित्र है; तुम देवताओंके शत्रुओंको जीतो, क्योंकि तुम्हारा अधिक बल देखकर लोक मेरा निरादर करने लगेंगे ॥ १५ ॥

इन्द्रत्वेऽपि स्थितं वीर बलहीनं पराजितम् ।
आवयोश्च मिथो भेदे प्रयतिष्यन्त्यतन्द्रिताः ॥ १६ ॥

जब मैं निर्बल होकर इन्द्रासनपर बैठूंगा, तो सब लोक सावधान होकर मेरे और तुम्हारे बीचमें भेद डालनेका यत्न करेंगे ॥ १६ ॥

भेदिते च त्वयि विभो लोको द्वैधमुपेष्यति ।
द्विधाभूतेषु लोकेषु निश्चितेष्वावयोस्तथा ।
विग्रहः संप्रवर्तेत भूतभेदान्महाबल ॥ १७ ॥

जब मुझमें तुममें भेद हो जायेगा, तब सब लोक दो दलोंमें बंट जायेगा । लोकोंके दो भागोंमें बंट जानेपर भेद हो जानेके कारण मेरा और तुम्हारा अवश्य ही युद्ध होगा ॥ १७ ॥

तत्र त्वं मां रणे तात यथाश्रद्धं विजेष्यसि ।
तस्मादिन्द्रो भवानद्य भविता मा विचारय ॥ १८ ॥

उस युद्धमें तुम मुझे अवश्य जीतोगे, इसलिये तुम अभीसे इन्द्र हो जाओ; इसमें विचार मत करो ॥ १८ ॥

स्कन्द उवाच

त्वमेव राजा भद्रं ते त्रैलोक्यस्य ममैव च ।
करोमि किं च ते शक्र शासनं तद्ब्रवीहि मे ॥ १९ ॥

कार्तिकेय बोले– हे इन्द्र ! तुम्हारा कल्याण हो; तुम ही हमारे और तीनों लोकोंके राजा हो; मैं तुम्हारा दास हूँ; कहो कौनसी आज्ञाका पालन करूँ ॥ १९ ॥

शक्र उवाच

यदि सत्यमिदं वाक्यं निश्चयाद्भाषितं त्वया ।
यदि वा शासनं स्कन्द कर्तुमिच्छसि मे शृणु ॥ २० ॥

इन्द्र बोले– हे स्कन्द ! यदि तुम यह बात निश्चय करके सत्य कहते हो और यदि तुम मेरी आज्ञाका पालन करना चाहते हो, तो मेरी बात सुनो ॥ २० ॥

अभिषिच्यस्व देवानां सेनापत्ये महाबल ।
अहमिन्द्रो भविष्यामि तव वाक्यान्महाबल ॥ २१ ॥

हे महाबलशाली स्कंद ! तुम देवोंके सेनापतिके पदपर अभिषिक्त होओ और मैं तुम्हारे कहनेके अनुसार इन्द्र पदपर बना रहूंगा ॥ २१ ॥

स्कन्द उवाच

दानवानां विनाशाय देवानामर्थसिद्धये ।
गोब्राह्मणस्य त्राणार्थं सेनापत्येऽभिषिञ्च माम् ॥ २२ ॥

कार्तिकेय बोले– हे इन्द्र ! दानवोंके नाश, देवताओंकी कार्यसिद्धि, तथा गौ और ब्राह्मणोंके हितार्थ मुझे देवताओंके सेनापतिके पदपर अभिषिक्त करो ॥ २२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सोऽभिषिक्तो मघवता सर्वैर्देवगणैः सह ।
अतीव शुशुभे तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ २३ ॥

मार्कण्डेय बोले– उसी समय सब देवताओंके सहित इन्द्रने स्वामी कार्तिकको सेनापति बनाया। उस समय ऋषियोंसे पूजित कार्तिकेय अत्यन्त शोभायमान हुए ॥ २३ ॥

तस्य तत्काञ्चनं छत्रं ध्रियमाणं व्यरोचत ।
यथैव सुसमिद्धस्य पावकस्यात्ममण्डलम् ॥ २४ ॥

सोनेका छत्र उनके सिरपर लगा हुआ ऐसा विराजमान हुआ जैसे साक्षात प्रज्वलित अग्नि-का मण्डल ॥ २४ ॥

विश्वकर्मकृता चास्य दिव्या माला हिरण्मयी ।
आबद्धा त्रिपुरघ्नेन स्वयमेव यशस्विना ॥ २५ ॥

विश्वकर्माकी बनाई हुई सोनेकी दिव्यमाला साक्षात् यशस्वी शिवने अपने हाथसे पहनाई ॥ २५ ॥

आगम्य मनुजव्याघ्र सह देव्या परंतप ।
अर्चयामास सुप्रीतो भगवान्गोवृषध्वजः ॥ २६ ॥
रुद्रमग्निं द्विजाः प्राहू रुद्रसूनुस्ततस्तु सः ।
रुद्रेण शुक्रमुत्सृष्टं तच्छ्वेतः पर्वतोऽभवत् ।
पावकस्येन्द्रियं श्वेते कृत्तिकाभिः कृतं नगे ॥ २७ ॥

हे मनुष्योंमें सिंह सदृश वीर ! उस समय शिव पार्वतीके सहित आए थे, उन्होंने भी कार्ति-केयकी पूजा की। ब्राह्मणोंने शिवका नाम अग्नि लिखा है, इसलिये कार्तिकेय शिवहीके पुत्र हुए। शिवने जो वीर्य त्याग किया था वही श्वेत पर्वत हो गया था; उस पर्वतपर कृत्तिकाओंने अग्निकी इन्द्रियको बनाया था ॥ २६–२७ ॥

पूज्यमानं तु रुद्रेण दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
रुद्रसूनुं ततः प्राहुर्गुहं गुणवतां वरम् ॥ २८ ॥

सब देवता शिवसे कार्तिकेयको पूजित होते देखकर गुणियोंमें सर्वश्रेष्ठ कार्तिकेय रुद्रका पुत्र कहने लगे ॥ २८ ॥

अनुप्रविश्य रुद्रेण वह्निं जातो ह्ययं शिशुः ।
तत्र जातस्ततः स्कन्दो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ २९ ॥

अग्निमें प्रवेश करके शिवने इस पुत्रको उत्पन्न किया है; उसी दिनसे सब लोग कार्तिकेयको शिवका पुत्र कहने लगे ॥ २९ ॥

रुद्रस्य वह्नेः स्वाहायाः षण्णां स्त्रीणां च तेजसा ।
जातः स्कन्दः सुरश्रेष्ठो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ॥ ३० ॥
हे भारत ! शिव, अग्नि, स्वाहादेवी और छः माताओंके तेजसे कार्तिकेयका जन्म हुआ है। ये कार्तिकेय सब देवताओंमें श्रेष्ठ और शिवके पुत्र हुए ॥ ३० ॥

अरजे वाससी रक्ते वसानः पावकात्मजः ।
भाति दीप्तवपुः श्रीमान्रक्ताभ्राभ्यामिवांशुमान् ॥ ३१ ॥
निर्मल लाल वस्त्र धारण किये अग्निनन्दन कार्त्तिकेय ऐसे शोभायमान हुए जैसे लाल मेघोंके बीचमें सूर्य ॥ ३१ ॥

कुक्कुटश्चाग्निना दत्तस्तस्य केतुरलंकृतः ।
रथे समुच्छ्रितो भाति कालाग्निरिव लोहितः ॥ ३२ ॥
उसी समय अग्निने एक कुक्कुट दिया और एक लाल ध्वजा दी। कुक्कुट युक्त वह ध्वजा रथपर लगकर ऐसी शोभायमान हुई, जैसी फैली हुई प्रलयकालकी अग्नि ॥ ३२ ॥

विवेश कवचं चास्य शरीरं सहजं ततः ।
युध्यमानस्य देवस्य प्रादुर्भवति तत्सदा ॥ ३३ ॥
शक्ति उनके संग उत्पन्न हुए कवचमें प्रवेश कर गई और वही शक्ति इस देवके युद्धके समय सदा प्रगट हो जाती है ॥ ३३ ॥

शक्तिर्वर्म बलं तेजः कान्तत्वं सत्यमक्षतिः ।
ब्रह्मण्यत्वमसंमोहो भक्तानां परिरक्षणम् ॥ ३४ ॥
हे नरनाथ ! शक्ति, कवच, बल, तेज, कांति, सत्य, अक्षीणता, ब्राह्मणता, चेतनता, भक्तोंकी रक्षा ॥ ३४ ॥

निकृन्तनं च शत्रूणां लोकानां चाभिरक्षणम् ।
स्कन्देन सह जातानि सर्वाण्येव जनाधिप ॥ ३५ ॥
दुष्टोंका नाश करना और लोकोंका पालन करना, ये सब गुण कार्त्तिकेयके जन्महीसे उत्पन्न हुए थे ॥ ३५ ॥

एवं देवगणैः सर्वैः सोऽभिषिक्तः स्वलंकृतः ।
बभौ प्रतीतः सुमनाः परिपूर्णेन्दुदर्शनः ॥ ३६ ॥
हे महाराज ! इसप्रकार सब देवताओंने कार्त्तिकेयका अभिषेक किया। उस समय कार्त्तिकेय सब भूषणोंको धारण करके ऐसे शोभायमान हुए जैसे प्रसन्न चन्द्रमाका मण्डल ॥ ३६ ॥

इष्टैः स्वाध्यायघोषैश्च देवतूर्यवरैरपि ।
देवगन्धर्वगीतैश्च सर्वैरप्सरसां गणैः ॥ ३७ ॥

उस समय देवताओंके बाजे बजाने लगे, देवता तथा गन्धर्व गाने लगे और अप्सरायें नाचने लगीं ॥ ३७ ॥

एतैश्चान्यैश्च विविधैर्हृष्टतुष्टैरलंकृतैः ।
क्रीडन्निव तदा देवैरभिषिक्तः स पावकिः ॥ ३८ ॥

इनसे भिन्न और भी बहुत लोगोंके द्वारा अग्निपुत्र कार्त्तिकेय अभिषिक्त हुए ॥ ३८ ॥

अभिषिक्तं महासेनमपश्यन्त दिवौकसः ।
विनिहत्य तमः सूर्यं यथेहाभ्युदितं तथा ॥ ३९ ॥

उस अभिषिक्त हुए हुए सेनापतिको देवोंने देखा । उस समय कार्त्तिकेयकी ऐसी शोभा बढी जैसी प्रातःकाल अन्धकारको दूर करते हुए उदय होते हुए सूर्यकी ॥ ३९ ॥

अथैनमभ्ययुः सर्वा देवसेनाः सहस्रशः ।
अस्माकं त्वं पतिरिति ब्रुवाणाः सर्वतोदिशम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर उनके पास सहस्रों देवताओंकी सेनायें आने लगीं । वे सब लोग चारों ओरसे कहने लगे कि तुम्हीं हमारे स्वामी हो ॥ ४० ॥

ताः समासाद्य भगवान्सर्वभूतगणैर्वृतः ।
अर्चितश्च स्तुतश्चैव सान्त्वयामास ता अपि ॥ ४१ ॥

जब उस सेनाने आकर भूतगणोंसे घिरे हुए भगवान् कार्त्तिकेयको घेर लिया, तब कार्त्तिकेयने पूजित और स्तुत होकर उन सबको शान्त किया ॥ ४१ ॥

शतक्रतुश्चाभिषिच्य स्कन्दं सेनापतिं तदा ।
सस्मार तां देवसेनां या सा तेन विमोक्षिता ॥ ४२ ॥

जब इन्द्र कार्त्तिकेयका अभिषेक कर चुके, तब इन्द्रने उस देवसेना कन्याका स्मरण किया जिसको उन्होंने राक्षससे छुडाया था ॥ ४२ ॥

अयं तस्याः पतिर्नूनं विहितो ब्रह्मणा स्वयम् ।
इति चिन्त्यानयामास देवसेनां स्वलंकृताम् ॥ ४३ ॥

इन्द्रने विचारा कि ब्रह्माने इसीको इस कन्याके लिये पति बनाया था । ऐसा विचारकर इन्द्र उस कन्याको आभूषण पहिनाकर कार्तिकेयके पास ले आये ॥ ४३ ॥

स्कन्दं चोवाच बलभिदियं कन्या सुरोत्तम ।
अजाते त्वयि निर्दिष्टा तव पत्नी स्वयंभुवा ॥ ४४ ॥

तब इन्द्र कार्तिकेयसे कहने लगे– कि हे देवताओंमें श्रेष्ठ ! यह कन्या है । जब तुम उत्पन्न नहीं हुए थे, तभी ब्रह्माने तुम्हारे लिये इसको बनाया था ॥ ४४ ॥

तस्मात्त्वमस्या विधिवत्पाणिं मन्त्रपुरस्कृतम् ।
गृहाण दक्षिणं देव्याः पाणिना पद्मवर्चसम् ॥ ४५ ॥

इसलिये तुम इसका कमलके समान दाहिना हाथ विधिके सहित अपने हाथसे ग्रहण करो ॥४५॥

एवमुक्तः स जग्राह तस्याः पाणिं यथाविधि ।
बृहस्पतिर्मन्त्रविधिं जजाप च जुहाव च ॥ ४६ ॥

इन्द्रके ऐसे वचन सुनकर कार्तिकेयने देवसेनासे विधिपूर्वक विवाह किया । उस विवाहमें मन्त्रके जाननेवाले बृहस्पतिने मन्त्र गाये और होम किया ॥ ४६ ॥

एवं स्कन्दस्य महिषीं देवसेनां विदुर्बुधाः ।
षष्ठीं यां ब्राह्मणाः प्राहुर्लक्ष्मीमाशां सुखप्रदाम् ।
सिनीवालीं कुहूं चैव सद्वृत्तिमपराजिताम् ॥ ४७ ॥

इसप्रकार विद्वान् देवसेनाको कार्तिकेयकी स्त्री बताते हैं । वह विवाह षष्ठी तिथिको हुआ था; इसलिये इसी तिथिको पहले ब्राह्मण सुख और लक्ष्मीको देनेवाली कहते हैं; इसीके सिनीवाली, कुहू, सद्वृत्ति और अपराजिता नाम हैं ॥ ४७ ॥

यदा स्कन्दः पतिर्लब्धः शाश्वतो देवसेनया ।
तदा तमाश्रयल्लक्ष्मी स्वयं देवी शरीरिणी ॥ ४८ ॥

जिस समय देवसेनाने कार्त्तिकेयको अपना पति बनाया, उसी समय लक्ष्मी भी अपना शरीर धारण करके कार्त्तिकेयके पास आई ॥ ४८ ॥

श्रीजुष्टः पञ्चमीं स्कन्दस्तस्माच्छ्रीपञ्चमी स्मृता ।
षष्ठ्यां कृतार्थोऽभूद्यस्मात्तस्मात्षष्ठी महातिथिः ॥ ४९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१८ ॥ ७६७९ ॥

पञ्चमी तिथिको कार्तिकेय लक्ष्मीवान् हुए थे, इसीसे उस तिथिका नाम श्रीपञ्चमी है। षष्ठीको कार्त्तिकेयका विवाह हुआ था, इसीसे षष्ठीको महातिथि कहा है ॥ ४९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ अट्ठारहवां अध्याय समाप्त ॥ २१८ ॥ ७६७९ ॥

२१९

मार्कण्डेय उवाच

श्रिया जुष्टं महासेनं देवसेनापतिं कृतम् ।
सप्तर्षिपत्न्यः षड् देव्यस्तत्सकाशमथागमन् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले— हे राजन् युधिष्ठिर ! जिस समय कार्त्तिकेय देवताओंके सेनापति हो चुके और परम शोभासे विराजमान होने लगे उसी समय सप्त ऋषियोंकी छै स्त्रियां उनके पास आईं ॥ १ ॥

ऋषिभिः संपरित्यक्ता धर्मयुक्ता महाव्रताः ।
द्रुतमागम्य चोचुस्ता देवसेनापतिं प्रभुम् ॥ २ ॥

वे सब धर्मको और व्रतको धारण करनेवाली थीं; परन्तु ऋषियोंने उनको छोड दिया था । देवोंके सेनापति उन प्रभु कार्तिकेयके पास आकर वे सब कहने लगीं ॥ २ ॥

वयं पुत्र परित्यक्ता भर्तृभिर्देवसंमितैः ।
अकारणाद्रुषा तात पुण्यस्थानात्परिच्युताः ॥ ३ ॥

हे पुत्र ! हम लोगोंको हमारे देव-समान पतियोंने विना कारण ही क्रोधवश होकर छोड दिया है, इसलिये हम लोग धर्मसे नष्ट हो गई हैं ॥ ३ ॥

अस्माभिः किल जातस्त्वमिति केनाप्युदाहृतम् ।
असत्यमेतत्संश्रुत्य तस्मान्नस्त्रातुमर्हसि ॥ ४ ॥

किसीने हमारे पतियोंसे कह दिया कि तुम हमारे ही गर्भसे उत्पन्न हुए हो, इस असत्य बातको सुनकर उन्होंने हमें छोड दिया, अतः तुम हमारी रक्षा करो ॥ ४ ॥

अक्षयश्च भवेत्स्वर्गस्त्वत्प्रसादाद्धि नः प्रभो ।
त्वां पुत्रं चाप्यभीप्सामः कृत्वैतदनृणो भव ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! तुम्हारी कृपासे हमको अक्षय स्वर्ग होगा, हम सब तुमको अपना पुत्र बनाना चाहती हैं; यह कार्य करके तुम उऋण हो जाओ ॥ ५ ॥

स्कन्द उवाच

मातरो हि भवत्यो मे सुतो वोऽहमनिन्दिताः ।
यच्चाभीप्सथ तत्सर्वं संभविष्यति वस्तथा ॥ ६ ॥

कार्तिकेय बोले— हे निन्दारहित ब्राह्मणियो ! तुम सब हमारी माता हो, मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, और जो कुछ तुम्हारी इच्छा हो सब सिद्ध होगी ॥ ६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्ते ततः शक्रं किं कार्यमिति सोऽब्रवीत् ।
उक्तः स्कन्देन ब्रूहीति सोऽब्रवीद्वासवस्ततः ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय बोले– उन ब्राह्मणियोंसे इसप्रकार कहकर कार्तिकेयने इन्द्रसे कहा कि, हे इन्द्र ! मैं तुम्हारा कौनसा कार्य सिद्ध करूँ ? स्कन्दके 'कहो' इसप्रकार कहनेपर इन्द्र बोले ॥ ७ ॥

अभिजित्स्पर्धमाना तु रोहिण्या कन्यसी स्वसा ।
इच्छन्ती ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं गता ॥ ८ ॥

हे कार्तिकेय ! अभिजित् रोहिणीसे छोटी है, परन्तु वह अपनी बडी बहिनसे स्पर्धा करना चाहती है, अतः वह रोहिणीसे बडी होना चाहती है, इसीलिये वह तप करने वनमें गई है ॥ ८ ॥

तत्र मूढोऽस्मि भद्रं ते नक्षत्रं गगनाच्च्युतम् ।
कालं त्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय ॥ ९ ॥

तुम्हारा कल्याण हो। इसीलिये मैं घबडा रहा हूं, क्योंकि अभिजित् नक्षत्र आकाशसे नष्ट हो गया है, इसीलिये तुम ब्रह्माके यहां जाकर समयका विचार करो ॥ ९ ॥

धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिनिर्मितः ।
रोहिण्याद्योऽभवत्पूर्वमेवं संख्या समाभवत् ॥ १० ॥

ब्रह्माने पहले धनिष्ठाको आदि काल बनाया हैं। सबसे पहली रोहिणी थी इसप्रकार यह संख्या है ॥ १० ॥

एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गताः ।
नक्षत्रं शकटाकारं भाति तद्वह्निदैवतम् ॥ ११ ॥

इन्द्रके यह वचन सुनकर कृत्तिका आकाशको चली गई। वही कृत्तिका शकट (गाडी) के आकारकी दिखाई देती है, उसका देवता अग्नि है ॥ ११ ॥

विनता चाब्रवीत्स्कन्दं मम त्वं पिण्डदः सुतः ।
इच्छामि नित्यमेवाहं त्वया पुत्र सहासितुम् ॥ १२ ॥

विनताने कार्तिकेयसे कहा कि तुम मेरे पिण्ड देनेवाले पुत्र हो, इसलिये, हे पुत्र ! मैं सदा तुम्हारे साथ रहना चाहती हूं ॥ १२ ॥

स्कन्द उवाच

एवमस्तु नमस्तेऽस्तु पुत्रस्नेहात्प्रशाधि माम्।
स्नुषया पूज्यमाना वै देवि वत्स्यसि नित्यदा। ॥ १३ ॥

कार्तिकेय बोले— तुमने कहा वह ऐसा ही होगा, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ, तुम मेरा पुत्रप्रेमसे पालन करो और पुत्रवधूसे पूजित होकर यहां सुखसे रहो ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अथ मातृगणः सर्वः स्कन्दं वचनमब्रवीत्।
वयं सर्वस्य लोकस्य मातरः कविभिः स्तुताः।
इच्छामो मातरस्तुभ्यं भवितुं पूजयस्व नः ॥ १४ ॥

मार्कण्डेय बोले— इसके पश्चात् सब लोकमातायें कार्तिकेयसे यह वचन कहने लगीं कि हम सब लोकोंकी माता हैं और सब ज्ञानी हमारी स्तुति करते हैं। हम तुम्हारी माता होना चाहती हैं, तुम हमारी पूजा करो ॥ १४ ॥

स्कन्द उवाच

मातरस्तु भवत्यो मे भवतीनामहं सुतः।
उच्यतां यन्मया कार्यं भवतीनामथेप्सितम् ॥ १५ ॥

कार्तिकेय बोले— हे लोकमाताओ ! तुम सब हमारी माता हो और मैं तुम सबका पुत्र हूँ, जो तुम्हारी इच्छा हो सो मुझसे कहो मैं उसको पूर्ण करूंगा ॥ १५ ॥

मातर ऊचुः

यास्तु ता मातरः पूर्वं लोकस्यास्य प्रकल्पिताः।
अस्माकं तद्भवेत्स्थानं तासां चैव न तद्भवेत् ॥ १६ ॥

लोकमातायें बोलीं— पहले जो लोकमातायें थीं उनके जो स्थान थे, सो हमको मिलें और उनको न मिलें ॥ १६ ॥

भवेम पूज्या लोकस्य न ताः पूज्याः सुरर्षभ।
प्रजास्माकं हृतास्ताभिस्त्वत्कृते ताः प्रयच्छ नः ॥ १७ ॥

हे सुरश्रेष्ठ ! हमीं सब लोकोंकी पूज्य हों और वे पूज्य न हों। उन्होंने तुम्हारे कारणसे हमारी सन्तानको छीन लिया है। अब उन सन्तानोंको तुम हमें दे दो ॥ १७ ॥

स्कन्द उवाच

दत्ताः प्रजा न ताः शक्या भवतीभिर्निषेवितुम् ।
अन्यां वः कां प्रयच्छामि प्रजां यां मनसेच्छथ ॥ १८ ॥

कार्तिकेय बोले— वह सब सन्तानें नष्ट हो गईं, अब तुम लोगोंको नहीं मिल सकती हैं। अतः तुम लोगोंकी जिनकी इच्छा हो वे दूसरी कौनसी प्रजायें तुम्हें दूँ? ॥ १८ ॥

मातर ऊचुः

इच्छाम तासां मातॄणां प्रजा भोक्तुं प्रयच्छ नः ।
त्वया सह पृथग्भूता ये च तासामथेश्वराः ॥ १९ ॥

लोकमातायें बोलीं— हे कार्तिकेय! हम उन लोकमाताओंकी प्रजाको खाना चाहती हैं, तुमको छोडकर और जो कुछ उनका हो हमको दे दो ॥ १९ ॥

स्कन्द उवाच

प्रजा वो दद्मि कष्टं तु भवतीभिरुदाहृतम् ।
परिरक्षत भद्रं वः प्रजाः साधु नमस्कृताः ॥ २० ॥

कार्तिकेय बोले— तुमने बडी दुःखदायक इच्छा मांगी है, तो भी मैं तुम्हें उन मातृकाओंकी प्रजायें देता हूं। तुम्हारा कल्याण हो, तुम उनकी रक्षा करना, क्योंकि तुमको सभी सत्पुरुष नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥

मातर ऊचुः

परिरक्षाम भद्रं ते प्रजाः स्कन्द यथेच्छसि ।
त्वया नो रोचते स्कन्द सहवासश्चिरं प्रभो ॥ २१ ॥

लोकमातायें बोलीं— हे कार्तिकेय! तुम्हारा कल्याण हो। हम प्रजाकी तुम्हारी इच्छानुसार रक्षा करेंगी, तुम्हारे साथ बहुत दिनतक रहनेकी हमारी इच्छा है ॥ २१ ॥

स्कन्द उवाच

यावत्षोडश वर्षाणि भवन्ति तरुणाः प्रजाः ।
प्रबाधत मनुष्याणां तावद्रूपैः पृथग्विधैः ॥ २२ ॥

कार्तिकेय बोले— जबतक मनुष्योंकी सन्तानें सोलह वर्षकी न हों, तबतक अलग अलग रूप बनाकर उन मनुष्योंकी सन्तानोंको पीडा दो ॥ २२ ॥

अहं च वः प्रदास्यामि रौद्रमात्मानमव्ययम् ।
परमं तेन सहिता सुखं वत्स्यथ पूजिताः ॥ २३ ॥

मैं तुम लोगोंको अपना भयङ्कर अंश दूंगा। उसके सहित सुखसे पूजा पाकर यहां रहो ॥ २३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततः शरीरात्स्कन्दस्य पुरुषः काञ्चनप्रभः ।
भोक्तुं प्रजाः स मर्त्यानां निष्पपात महाबलः ॥ २४ ॥

मार्कण्डेय बोले– उसी समय कार्तिकेयके शरीरसे मनुष्योंकी प्रजाको भक्षण करनेके लिये एक महाबलवान् पुरुष उत्पन्न हुआ, उसका सोनेके समान रंग था ॥ २४ ॥

अपतत्स तदा भूमौ विसंज्ञोऽथ क्षुधान्वितः ।
स्कन्देन सोऽभ्यनुज्ञातो रौद्ररूपोऽभवद्ग्रहः ।
स्कन्दापस्मारमित्याहुर्ग्रहं तं द्विजसत्तमाः ॥ २५ ॥

वह उत्पन्न होते ही भूखसे व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर गया । उसी समय कार्तिकेयकी आज्ञासे वह रुद्ररूपी ग्रह हो गया, ब्राह्मणोंने उसीको स्कन्दापस्मार कहा है ॥ २५ ॥

विनता तु महारौद्रा कथ्यते शकुनिग्रहः ।
पूतनां राक्षसीं प्राहुस्तं विद्यात्पूतनाग्रहम् ॥ २६ ॥

जो बडी भयङ्कर विनता है उसीको शकुनिग्रह कहते हैं। जो पूतना नामक राक्षसी है उसीको पूतनाग्रह भी कहते हैं ॥ २६ ॥

कष्टा दारुणरूपेण घोररूपा निशाचरी ।
पिशाची दारुणाकारा कथ्यते शीतपूतना ।
गर्भान्सा मानुषीणां तु हरते घोरदर्शना ॥ २७ ॥

जो बडा दुःख देनेवाली और घोररूपिणी है, भयानक रूपवाली पिशाची है उसे शीतपूतना कहते हैं । भयङ्कर रूपवाली वह स्त्रियोंके गर्भसे बालकोंको नष्ट कर देती है ॥ २७ ॥

अदितिं रेवतीं प्राहुर्ग्रहस्तस्यास्तु रैवतः ।
सोऽपि बालाञ्शिशून्घोरो बाधते वै महाग्रहः ॥ २८ ॥

अदितिका नाम रेवती है; उसका ग्रह रैवत है, वह भी बडा घोर है और बालकोंको दुःख देता है ॥ २८ ॥

दैत्यानां या दितिर्माता तामाहुर्मुखमण्डिकाम् ।
अत्यर्थं शिशुमांसेन संप्रहृष्टा दुरासदा ॥ २९ ॥

जो दिति नामक दैत्योंकी माता है, उसका नाम मुखमण्डिका है। वह सदा बालकोंका मांस खाया करती है ॥ २९ ॥

कुमाराश्च कुमार्यश्च ये प्रोक्ताः स्कन्दसंभवाः ।
तेऽपि गर्भभुजः सर्वे कौरव्य सुमहाग्रहाः ॥ ३० ॥

हे कुरुनन्दन! जो हमने कार्तिकेयके उत्पन्न हुए लडकी और लडके कहे, वे भी सब बालकोंको दुःख देनेवाले और महा ग्रह हैं ॥ ३० ॥

तासामेव कुमारीणां पतयस्ते प्रकीर्तिताः ।
अज्ञायमाना गृह्णन्ति बालकान्रौद्रकर्मिणः ॥ ३१ ॥

वे सब इन स्त्रियोंके पति और बडे दुष्ट कर्म करनेवाले हैं, यही बालकोंका नाश कर देनेवाले हैं ॥ ३१ ॥

गवां माता तु या प्राज्ञैः कथ्यते सुरभिर्नृप ।
शकुनिस्तामथारुह्य सह भुङ्क्ते शिशून्भुवि ॥ ३२ ॥

हे राजन्! जो सुरभी नामक गौओंकी माता है उसके ऊपर शकुनी चढकर पृथ्वीके बालकोंको खा जाता है ॥ ३२ ॥

सरमा नाम या माता शुनां देवी जनाधिप ।
सापि गर्भान्समादत्ते मानुषीणां सदैव हि ॥ ३३ ॥

हे नरनाथ! सरमा नामक जो कुत्तोंकी माता है वह भी मनुष्योंकी स्त्रियोंके गर्भको निकाल लेती है ॥ ३३ ॥

पादपानां च या माता करञ्जनिलया हि सा ।
करञ्जे तां नमस्यन्ति तस्मात्पुत्रार्थिनो नराः ॥ ३४ ॥

करंजनिलया नामक वृक्षोंकी माता है। इसीलिये पुत्र चाहनेवाले मनुष्य करंजके वृक्षमें उसे प्रणाम करते हैं ॥ ३४ ॥

इमे त्वष्टादशान्ये वै ग्रहा मांसमधुप्रियाः ।
द्विपञ्चरात्रं तिष्ठन्ति सततं सूतिकागृहे ॥ ३५ ॥

ये और इनसे अन्य अठारह ग्रह हैं; ये सब मांस और मद्यको अत्यन्त प्रिय मानते हैं, और सात दिनतक सूतिका स्थानमें रहते हैं ॥ ३५ ॥

कद्रूः सूक्ष्मवपुर्भूत्वा गर्भिणीं प्रविशेद्यदा ।
भुङ्क्ते सा तत्र तं गर्भं सा तु नागं प्रसूयते ॥ ३६ ॥

कद्रु सूक्ष्मरूप धारण करके गर्भमें घुस जाती है और स्त्रीके गर्भको खा जाती है, तब उसके गर्भसे नाग उत्पन्न होता है ॥ ३६ ॥

गन्धर्वाणां तु या माता सा गर्भं गृह्य गच्छति।
तत्तो विलीनगर्भा सा मानुषी भुवि दृश्यते ॥ ३७ ॥

जो गन्धर्वोंकी माता है, वह गर्भको लेकर चली जाती है। इसीसे वह स्त्री गर्भरहित होकर भूमिपर विचरती है ॥ ३७ ॥

या जनित्री त्वप्सरसां गर्भमास्ते प्रगृह्य सा।
उपविष्टं ततो गर्भं कथयन्ति मनीषिणः ॥ ३८ ॥

जो अप्सराओंकी माता है वह भी गर्भको ग्रहण करती है। इसीसे पंडित लोग स्त्रीका गर्भ नष्ट हो गया ऐसा कहते हैं ॥ ३८ ॥

लोहितस्योदधेः कन्या धात्री स्कन्दस्य सा स्मृता।
लोहितायनिरित्येवं कदम्बे सा हि पूज्यते ॥ ३९ ॥

जो लाल समुद्रकी कन्या है जिसने कार्तिकेयको दूध पिलाया था, उसका नाम लोहितायनी है; उसकी पूजा कदम्ब वृक्षमें होती है ॥ ३९ ॥

पुरुषेषु यथा रुद्रस्तथार्या प्रमदास्वपि।
आर्या माता कुमारस्य पृथक्कामार्थमिज्यते ॥ ४० ॥

जैसे पुरुषोंमें शिव हैं; वैसे ही स्त्रियोंमें आर्या है; वह आर्या कार्तिकेयकी माता है; उसकी पूजा अलग अलग इच्छाओंकी प्राप्तिके लिए की जाती है ॥ ४० ॥

एवमेते कुमाराणां मया प्रोक्ता महाग्रहाः।
यावत्षोडश वर्षाणि अशिवास्ते शिवास्ततः ॥ ४१ ॥

मैंने यह सब कुमारोंके ग्रह कहे। जबतक सोलह वर्षका बालक होता है, तबतक उसके लिए ये ग्रह अकल्याणकारी होते हैं, बादमें कल्याणकारी हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

ये च मातृगणाः प्रोक्ताः पुरुषाश्चैव ये ग्रहाः।
सर्वे स्कन्दग्रहा नाम ज्ञेया नित्यं शरीरिभिः ॥ ४२ ॥

जो मैंने पुरुष और स्त्रीके ग्रह कहे इन सबको मनुष्योंके द्वारा स्कन्द ग्रह जानना चाहिये ॥ ४२ ॥

तेषां प्रशमनं कार्यं स्नानं धूपमथाञ्जनम्।
बलिकर्मोपहारश्च स्कन्दस्येज्या विशेषतः ॥ ४३ ॥

इन सबकी पूजा धूप, दीप और स्नानसे करनी चाहिये; इनकी शान्तिके निमित्त कार्तिकेयके नामसे बलि चढानी चाहिये ॥ ४३ ॥

एवमेतेऽर्चिताः सर्वे प्रयच्छन्ति शुभं नृणाम्।
आयुर्वीर्यं च राजेन्द्र सम्यक्पूजानमस्कृताः ॥ ४४ ॥

इसप्रकार पूजा पाकर ये सब मनुष्योंको अच्छा फल देते हैं। हे राजेन्द्र ! ये सब पूजा पाकर पुरुषोंका वीर्य और आयु बढाते हैं ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वं तु षोडशाद्वर्षाद्ये भवन्ति ग्रहा नृणाम् ।
तानहं संप्रवक्ष्यामि नमस्कृत्य महेश्वरम् ॥ ४५ ॥

अब हम शिवको नमस्कार करके उन ग्रहोंका वर्णन करते हैं जो सोलह वर्षकी अवस्थाके बाद बालकोंको दुःख देते हैं ॥ ४५ ॥

यः पश्यति नरो देवाञ्जाग्रद्वा शयितोऽपि वा ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं तं तु देवग्रहं विदुः ॥ ४६ ॥

जो पुरुष सोते अथवा जागते हुए देवताओंको देखता है, और फिर शीघ्र ही पागल हो जाता है । उस ग्रहका नाम देवग्रह है ॥ ४६ ॥

आसीनश्च शयानश्च यः पश्यति नरः पितॄन् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयस्तु पितृग्रहः ॥ ४७ ॥

जो बैठे या सोये हुए पितरोंको देखता है, और फिर उन्मत्त हो जाता है, उसे पितृग्रहका दोष जानना चाहिये ॥ ४७ ॥

अवमन्यति यः सिद्धान्क्रुद्धाश्चापि शपन्ति यम् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ज्ञेयः सिद्धग्रहस्तु सः ॥ ४८ ॥

जो सिद्धोंका अपमान करता है और जिसे सिद्ध लोग क्रोधित होकर शाप देते हैं, फिर जो पागल हो जाता है, वह सिद्धग्रहका दोष है ॥ ४८ ॥

उपाघ्राति च यो गन्धान्रसांश्चापि पृथग्विधान् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयो राक्षसो ग्रहः ॥ ४९ ॥

जो मनुष्य अनेक सुगन्धियोंको सूंघे और अनेक रसोंको खाये और फिर पागल बन जाये, उसे राक्षसग्रह जानना चाहिये ॥ ४९ ॥

गन्धर्वाश्चापि यं दिव्याः संस्पृशन्ति नरं भुवि ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ग्रहो गान्धर्व एव सः ॥ ५० ॥

पृथ्वीपर जिसके शरीरमें गन्धर्व प्रवेश करता है और वह शीघ्र ही पागल हो जाता है, उसे गन्धर्वग्रह जानना चाहिये ॥ ५० ॥

आविशन्ति च यं यक्षाः पुरुषं कालपर्यये ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ज्ञेयो यक्षग्रहस्तु सः ॥ ५१ ॥

समयके विपरीत होनेपर जिस पुरुषपर यक्ष लोग आते हैं; और वह पागल हो जाता है, उसको यक्षग्रहका दोष कहते हैं ॥ ५१ ॥

अधिरोहन्ति यं नित्यं पिशाचाः पुरुषं क्वचित् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं पैशाचं तं ग्रहं विदुः ॥ ५२ ॥

जिस किसी पुरुषपर पिशाच चढ जाते हैं, और उसके कारण यदि वह पागल हो जाता है, उसे पैशाचग्रह कहते हैं ॥ ५२ ॥

यस्य दोषैः प्रकुपितं चित्तं मुह्यति देहिनः ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं साधनं तस्य शास्त्रतः ॥ ५३ ॥

जो पुरुष वात, पित्त और कफके कुपित हो जानेपर पागल हो जाता है, उसकी चिकित्सा शास्त्रानुसार करनी चाहिये ॥ ५३ ॥

वैक्लव्याच्च भयाच्चैव घोराणां चापि दर्शनात् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं सत्त्वं तस्य तु साधनम् ॥ ५४ ॥

जो पुरुष विकलतासे, भयसे और कठोर वस्तुके देखनेसे पागल हो जाता है, उसके चित्तको शान्त करना चाहिये ॥ ५४ ॥

कश्चित्क्रीडितुकामो वै भोक्तुकामस्तथापरः ।
अभिकामस्तथैवान्य इत्येष त्रिविधो ग्रहः ॥ ५५ ॥

कोई ग्रह खेलनेकी इच्छा करता है, कोई खानेकी इच्छा करता है, और कोई साधारण इच्छा रखता है; इसप्रकार ग्रहोंकी तीन इच्छायें होती हैं ॥ ५५ ॥

यावत्सप्ततिवर्षाणि भवन्त्येते ग्रहा नृणाम् ।
अतः परं देहिनां तु ग्रहतुल्यो भवेज्ज्वरः ॥ ५६ ॥

सत्तर वर्षकी अवस्थातक पुरुषोंको ये सब ग्रह दुःख देते हैं; इसके बाद ज्वर आदि रोग ही उनके लिए ग्रहके समान हो जाते हैं ॥ ५६ ॥

अप्रकीर्णेन्द्रियं दान्तं शुचिं नित्यमतन्द्रितम् ।
आस्तिकं श्रद्दधानं च वर्जयन्ति सदा ग्रहाः ॥ ५७ ॥

जो पुरुष इन्द्रियाजित्, पवित्र, दाता, सदा आलस्यरहित श्रद्धावान् और आस्तिक होता है, उसे ये ग्रह छोड देते हैं ॥ ५७ ॥

इत्येष ते ग्रहोद्देशो मानुषाणां प्रकीर्तितः ।
न स्पृशन्ति ग्रहा भक्तान्नरान्देवं महेश्वरम् ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१९ ॥ ७७३७ ॥

मैंने यह सब ग्रहोंका विधान आपसे कहा । जो पुरुष भगवान् शिवके भक्त हैं, उनको कोई ग्रह छू भी नहीं सकता ॥ ५८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ २१९ ॥ ७७३७ ॥

: २२० :

मार्कण्डेय उवाच

यदा स्कन्देन मातॄणामेवमेतत्प्रियं कृतम् ।
अथैनमब्रवीत्स्वाहा मम पुत्रस्त्वमौरसः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! जिस समय कार्तिकेयने लोकमाताओंका प्रिय कार्य किया, उसी समय स्वाहा देवीने कुमारसे कहा कि तुम हमारे गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्र हो ॥१॥

इच्छाम्यहं त्वया दत्तां प्रीतिं परमदुर्लभाम् ।
तामब्रवीत्ततः स्कन्दः प्रीतिमिच्छसि कीदृशीम् ॥ २ ॥

इसलिये मैं तुम्हारे द्वारा दिए गए दुर्लभ प्रेमको चाहती हूं । तब कार्तिकेयने उनसे कहा-कि तुम मुझसे किस प्रकारके प्रेमको चाहती हो ? ॥ २ ॥

स्वाहोवाच

दक्षस्याहं प्रिया कन्या स्वाहा नाम महाभुज ।
बाल्यात्प्रभृति नित्यं च जातकामा हुताशने ॥ ३ ॥

स्वाहा बोली– हे महाभुज ! मैं दक्षकी प्रिय कन्या हूं, मेरा नाम स्वाहा है । मैं बाल्यावस्थाहीसे अग्निको अपना पति बनाना चाहती थी ॥ ३ ॥

न च मां कामिनीं पुत्र सम्यग्जानाति पावकः ।
इच्छामि शाश्वतं वासं वस्तुं पुत्र सहाग्निना ॥ ४ ॥

हे पुत्र ! वह मुझको नहीं जानते थे, कि यह मेरी इच्छा करती है, हे पुत्र ! मैं सदा ही अग्निके साथ रहना चाहती हूं ॥ ४ ॥

स्कन्द उवाच

हव्यं कव्यं च यत्किंचिद्द्विजा मन्त्रपुरस्कृतम् ।
होष्यन्त्यग्नौ सदा देवि स्वाहेत्युक्त्वा समुद्यतम् ॥ ५ ॥
अद्य प्रभृति दास्यन्ति सुवृत्ताः सत्पथे स्थिताः ।
एवमग्निस्त्वया सार्धं सदा वत्स्यति शोभने ॥ ६ ॥

कार्तिकेय बोले– हे स्वाहे ! आजसे उत्तम चरित्रवाले तथा उत्तम मार्गमें स्थित ब्राह्मण यज्ञोंमें मन्त्रोंके सहित जो हव्य और कव्य अग्निमें देंगे, उसमें स्वाहा शब्दका उच्चारण करेंगे । इस-प्रकार तुम आजसे अग्निके साथ रहोगी । हे सुन्दरी ! अच्छे कर्म करनेवाले महात्मा आजसे ऐसा ही करेंगे ॥ ५-६ ॥

×

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्ता ततः स्वाहा तुष्टा स्कन्देन पूजिता ।
पावकेन समायुक्ता भर्त्रा स्कन्दमपूजयत् ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! स्वामी कार्तिकेयके ऐसे वचन सुनकर और उससे पूजित होकर स्वाहा देवी बहुत सन्तुष्ट हुई और अपने पति अग्निसे संयुक्त होकर उसने स्कन्दकी पूजा की ॥ ७ ॥

ततो ब्रह्मा महासेनं प्रजापतिरथाब्रवीत् ।
अभिगच्छ महादेवं पितरं त्रिपुरार्दनम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर प्रजापति ब्रह्माने महासेनानी कार्तिकेयसे कहा– कि तुम त्रिपुरासुरके नाश करनेवाले अपने पिता महादेवके पास जाओ ॥ ८ ॥

रुद्रेणाग्निं समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया ।
हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वमपराजितः ॥ ९ ॥

महादेवने अग्निका और पार्वतीने स्वाहादेवीका रूप धारण करके सब लोकोंके हितके लिए तुमको उत्पन्न किया है; तुमको युद्धमें कोई नहीं जीत सकता ॥ ९ ॥

उमायोन्यां च रुद्रेण शुक्रं सिक्तं महात्मना ।
आस्ते गिरौ निपतितं मिञ्जिकामिञ्जिकं यतः ॥ १० ॥

जो महात्मा शिवने अपने वीर्यको पार्वतीके योनिमें डाला था, वह इस पर्वतमें गिरा इसीसे मिंजिकामिंजिक संज्ञक स्त्री पुरुष उत्पन्न हुए हैं ॥ १० ॥

संभूतं लोहितोदे तु शुक्रशेषमवापतत् ।
सूर्यरश्मिषु चाप्यन्यदन्यच्चैवापतद्भुवि ।
आसक्तमन्यद्वृक्षेषु तदेवं पञ्चधापतत् ॥ ११ ॥

जो वीर्य शेष रह गया; वह लाल समुद्रमें तथा कुछ भाग सूर्य किरणोंमें, कुछ भूमिमें और कुछ वृक्षोंमें गिर गया था, इसप्रकार इस वीर्यके पांच टुकडे हो गये थे ॥ ११ ॥

त एते विविधाकारा गणा ज्ञेया मनीषिभिः ।
तव पारिषदा घोरा य एते पिशिताशनाः ॥ १२ ॥

इसीलिये अनेक प्रकारके गण भी उत्पन्न हुए हैं । ये जो मांस खानेवाले हैं; ये सब तुम्हारे पार्षद हैं । इन्हें बुद्धिमान् ही जान सकते हैं ॥ १२ ॥

एवमस्त्विति चाप्युक्त्वा महासेनो महेश्वरम् ।
अपूजयदमेयात्मा पितरं पितृवत्सलः ॥ १३ ॥

पिताके प्रिय अमित शक्तिशाली महासेनापति कार्तिकेयने 'ऐसा ही हो' इसप्रकार कहकर तथा उनके वचनोंको स्वीकार करके अपने पिता महादेवकी पूजा की ॥ १३ ॥

अर्कपुष्पैस्तु ते पञ्च गणाः पूज्या धनार्थिभिः ।
व्याधिप्रशमनार्थं च तेषां पूजां समाचरेत् ॥ १४ ॥

जो पुरुष धनकी इच्छा रखते हैं, उन्हें उन गणोंकी पूजा अर्क (मदार) के पुष्पोंसे करनी चाहिये। जो लोग किसी रोगको शान्त करना चाहते हैं, वे सामान्य पूजा करें ॥ १४ ॥

मिञ्जिकामिञ्जिकं चैव मिथुनं रुद्रसंभवम् ।
नमस्कार्यं सदैवेह बालानां हितमिच्छता ॥ १५ ॥

मिञ्जिक और अमिञ्जिक ये दोनों जोडे शिवसे उत्पन्न हुए हैं। इसलिये बालकोंके हित चाहनेवाले पुरुषोंको उचित है कि वे इन दोनोंको सदा प्रणाम किया करें ॥ १५ ॥

स्त्रियो मानुषमांसादा वृद्धिका नाम नामतः ।
वृक्षेषु जातास्ता देव्यो नमस्कार्याः प्रजार्थिभिः ॥ १६ ॥

सन्तान चाहनेवाले पुरुषोंको उचित है; कि जो मांसभक्षिणी, वृक्षवासिनी वृद्धिका नामक देवियां हैं, उनको वृक्षोंमें प्रणाम करें ॥ १६ ॥

एवमेते पिशाचानामसङ्ख्येया गणाः स्मृताः ।
घण्टायाः सपताकायाः श्रृणु मे संभवं नृप ॥ १७ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! हमने इसप्रकारसे असंख्य पिशाचोंके गण कहे; अब हम घण्टा और पताकाका जन्म कहते हैं; आप सुनिये ॥ १७ ॥

ऐरावतस्य घण्टे द्वे वैजयन्त्याविति श्रुते ।
गुहस्य ते स्वयं दत्ते शक्रेणानाय्य धीमता ॥ १८ ॥

ऐरावतके जो दो घण्टे हैं, उनका नाम वैजयन्ती प्रसिद्ध है। उन दोनोंको बुद्धिमान् इन्द्रने स्वयं कार्तिकेयको दिये थे ॥ १८ ॥

एका तत्र विशाखस्य घण्टा स्कन्दस्य चापरा ।
पताका कार्तिकेयस्य विशाखस्य च लोहिता ॥ १९ ॥

उनमेंसे एक घंटा विशाखका है, और एक कार्तिकेयका है। कार्तिकेयके घण्टेका नाम पताका और विशाखके घण्टेका नाम लोहिता है ॥ १९ ॥

यानि क्रीडनकान्यस्य देवैर्दत्तानि वै तदा ।
तैरेव रमते देवो महासेनो महाबलः ॥ २० ॥

देवताओंने जो कार्तिकेयको खिलौने दिये थे, उन्हींसे वे महाबली महासेनापति स्कंद खेलने लगे ॥ २० ॥

स संवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ।
शुशुभे काञ्चने शैले दीप्यमानः श्रिया वृतः ॥ २१ ॥

सब देवों और पिशाचोंसे घिरे हुए, शोभासे युक्त महा तेजस्वी वीर कार्तिकेय उस सोनेसे बने पर्वतपर शोभायमान हुए ॥ २१ ॥

तेन वीरेण शुशुभे स शैलः शुभकाननः ।
आदित्येनेवांशुमता मन्दरश्चारुकन्दरः ॥ २२ ॥

वह उत्तम वनोंवाला पर्वत उस वीरके कारण ऐसा सुशोभित हुआ जैसे सूर्यके निकलनेसे उत्तम गुफावाला मन्दराचल शोभित होता है ॥ २२ ॥

संतानकवनैः फुल्लैः करवीरवनैरपि ।
पारिजातवनैश्चैव जपाशोकवनैस्तथा ॥ २३ ॥
कदम्बतरुषण्डैश्च दिव्यैर्मृगगणैरपि ।
दिव्यैः पक्षिगणैश्चैव शुशुभे श्वेतपर्वतः ॥ २४ ॥

खिले हुए सन्तानक वृक्षोंके वनोंसे, कनेरके वनोंसे, पारिजात वृक्षोंके वनोंसे तथा जप और अशोक वृक्षोंके वनोंसे, कदंबादि वृक्षोंके वनसे तथा अनेक दिव्य पशुओंके समूहोंसे और पक्षियोंसे वह श्वेत पर्वत बहुत शोभायमान हुआ ॥ २३-२४ ॥

तत्र देवगणाः सर्वे सर्वे चैव महर्षयः ।
मेघतूर्यरवाश्चैव क्षुब्धोदधिसमस्वनाः ॥ २५ ॥

उस पर्वतपर सभी देवगण तथा सभी महर्षि आकर एकत्रित हुए तथा क्षुब्ध हुए समुद्रके समान शब्दवाले तथा मेघके समान गर्जना करनेवाले ढोल आदि बाजे बजने लगे ॥ २५ ॥

तत्र दिव्याश्च गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसस्तथा ।
हृष्टानां तत्र भूतानां श्रूयते निनदो महान् ॥ २६ ॥

उस पर्वतपर दिव्य गन्धर्व और अप्सरायें नाचने लगीं और प्रसन्न होकर गाने लगीं । उस पर्वतपर हर्षित हुए प्राणियोंका महान् कोलाहल होने लगा ॥ २६ ॥

एवं सेन्द्रं जगत्सर्वं श्वेतपर्वतसंस्थितम् ।
प्रहृष्टं प्रेक्षते स्कन्दं न च ग्लायति दर्शनात् ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥ ७७६४ ॥

इसप्रकारसे इन्द्रके सहित सब जगत् उस श्वेत पर्वतपर प्रसन्न कार्तिकेयको देखने लगा । पर इस दर्शनसे उन लोगोंको कभी भी तृप्ति नहीं हुई ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ वीसवां अध्याय समाप्त ॥ २२० ॥ ७७६४ ॥

: २२१ :

मार्कण्डेय उवाच

यदाभिषिक्तो भगवान्सेनापत्येन पावकिः ।
तदा संप्रस्थितः श्रीमान्हृष्टो भद्रवटं हरः ।
रथेनादित्यवर्णेन पार्वत्या सहितः प्रभुः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– जिस समय अग्निके पुत्र भगवान् कार्तिकेयका सेनापति पदपर अभिषेक हुआ, उसी दिन भगवान् शिव भी पार्वतीके सहित सूर्यके समान तेजस्वी रथपर चढकर प्रसन्न होकर भद्रवटको चले गए ॥ १ ॥

सहस्रं तस्य सिंहानां तस्मिन्युक्तं रथोत्तमे ।
उत्पपात दिवं शुभ्रं कालेनाभिप्रचोदितः ॥ २ ॥

उनके उस उत्तम रथमें एक सहस्र सिंह जुडे हुए थे। वह रथ उत्तम समय पाकर स्वच्छ आकाशमें उडने लगा ॥ २ ॥

ते पिबन्त इवाकाशं त्रासयन्तश्चराचरान् ।
सिंहा नभस्यगच्छन्त नदन्तश्चारुकेसराः ॥ ३ ॥

वे सिंह आकाशको मानों पीते हुए और चरअचरको डराते हुए तथा अपने गलेके बालोंको फैलाकर गर्जते हुए आकाशमें उडने लगे ॥ ३ ॥

तस्मिन्रथे पशुपतिः स्थितो भात्युमया सह ।
विद्युता सहितः सूर्यः सेन्द्रचापे घने यथा ॥ ४ ॥

उस समय पार्वतीके सहित महादेव उस रथमें बैठे हुए ऐसे शोभित हुए जैसे इन्द्र-धनुषके सहित मेघोंके बीचमें बिजलीके सहित सूर्य ॥ ४ ॥

अग्रतस्तस्य भगवान्धनेशो गुह्यकैः सह ।
आस्थाय रुचिरं याति पुष्पकं नरवाहनः ॥ ५ ॥

उनके आगे सब गुह्यकोंके सहित धनपति भगवान् कुबेर उत्तम पुष्पक विमानके ऊपर चढकर चले ॥ ५ ॥

ऐरावतं समास्थाय शक्रश्चापि सुरैः सह ।
पृष्ठतोऽनुययौ यान्तं वरदं वृषभध्वजम् ॥ ६ ॥

वरदान देनेवाले वृषवाहन भगवान् शिवके पीछे ऐरावतपर चढकर सब देवताओंके सहित इन्द्र चले ॥ ६ ॥

जृम्भकैर्यक्षरक्षोभिः स्रग्विभिः समलंकृतः ।
यात्यमोघो महायक्षो दक्षिणं पक्षमास्थितः ॥ ७ ॥

और उनकी दाहिनी ओर माला आदि सब आभूषणोंको पहिनकर जंभक नामक यक्ष और राक्षसोंको साथमें लेकर अमोघ नामक महायक्ष चले ॥ ७ ॥

तस्य दक्षिणतो देवा मरुतश्चित्रयोधिनः ।
गच्छन्ति वसुभिः सार्धं रुद्रैश्च सह संगताः ॥ ८ ॥

इनके दाहिनी ओर युद्ध करनेवाले अनेक मरुत् देवता रुद्र और वसु चले ! ॥ ८ ॥

यमश्च मृत्युना सार्धं सर्वतः परिवारितः ।
घोरैर्व्याधिशतैर्याति घोररूपवपुस्तथा ॥ ९ ॥

महाघोर रूपधारी यमराज मृत्यु सैकडों भयंकर रोगोंके सहित शिवको चारों ओरसे घेरकर चले ॥ ९ ॥

यमस्य पृष्ठतश्चैव घोरस्त्रिशिखरः शितः ।
विजयो नाम रुद्रस्य याति शूलः स्वलंकृतः ॥ १० ॥

यमके पीछे शिवका महाघोर तीन धारवाला, तीक्ष्ण विजय नामक त्रिशूल अलंकृत होकर चला ॥ १० ॥

तमुग्रपाशो वरुणो भगवान्सलिलेश्वरः ।
परिवार्य शनैर्याति यादोभिर्विविधैर्वृतः ॥ ११ ॥

उसके पीछे उग्र फांसीको धारण करनेवाले जलके राजा भगवान् वरुण जलजन्तुओंसे घिरकर तथा स्वयं शिवजीको घेरकर धीरे धीरे चले ॥ ११ ॥

पृष्ठतो विजयस्यापि याति रुद्रस्य पट्टिशः ।
गदामुसलशक्त्याद्यैर्वृतः प्रहरणोत्तमैः ॥ १२ ॥

विजय नामक त्रिशूलके पीछे गदा मूसल और शक्ति आदिक उत्तम शस्त्रोंके सहित शिवका पट्टिश चला ॥ १२ ॥

पट्टिशं त्वन्वगाद्राजंश्छत्रं रौद्रं महाप्रभम् ।
कमण्डलुश्चाप्यनु तं महर्षिगणसंवृतः ॥ १३ ॥

पट्टिशके पीछे उत्तम प्रकाशवाला शिवका छत्र चला । उसके पीछे महाऋषियोंसे घिरा हुआ कमण्डलु चला ॥ १३ ॥

तस्य दक्षिणतो भाति दण्डो गच्छञ्श्रिया वृतः ।
भृग्वङ्गिरोभिः सहितो देवैश्चाप्यभिपूजितः ॥ १४ ॥

एषां तु पृष्ठतो रुद्रो विमले स्यन्दने स्थितः ।
याति संहर्षयन्सर्वांस्तेजसा त्रिदिवौकसः ॥ १५ ॥

उसके दायें शोभासे भरा हुआ देवों और भृगुअङ्गिराओंसे पूजित दण्ड चला। इन सबके पीछे विमल रथपर चढकर शिव चले। इनके चलते ही इनके तेजसे सब देवता प्रसन्न होने लगे ॥ १४-१५ ॥

ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वा भुजगास्तथा ।
नद्यो नदा द्रुमाश्चैव तथैवाप्सरसां गणाः ॥ १६ ॥
नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव देवानां शिशवश्च ये ।
स्त्रियश्च विविधाकारा यान्ति रुद्रस्य पृष्ठतः ।
सृजन्त्यः पुष्पवर्षाणि चारुरूपा वराङ्गनाः ॥ १७ ॥

उनके पीछे ऋषि, देवता, गन्धर्व, सर्प, नदी, तालाव, पेड, अप्सरागण, नक्षत्र, ग्रह, देवताओंके बालक और अनेक आकारवाली सुन्दर सुन्दर रूपोंवाली श्रेष्ठ स्त्रियां फूलोंको बिखेरती हुई रुद्रके पीछे चलीं ॥ १६-१७ ॥

पर्जन्यश्चाप्यनुययौ नमस्कृत्य पिनाकिनम् ।
छत्रं तु पाण्डुरं सोमस्तस्य मूर्धन्यधारयत् ।
चामरे चापि वायुश्च गृहीत्वाग्निश्च विष्ठितौ ॥ १८ ॥

शिवको नमस्कार करके मेघ उनके पीछे चले। शिवके सिरपर सफेद छत्रको चन्द्रमाने धारण किया, चमरोंको वायु और अग्निने हाथमें लिया ॥ १८ ॥

शक्रश्च पृष्ठतस्तस्य याति राजञ्श्रिया वृतः ।
सह राजर्षिभिः सर्वैः स्तुवानो वृषकेतनम् ॥ १९ ॥

हे राजन् ! उनके पीछे राजऋषियोंके सहित शिवकी स्तुति करते हुए शोभासे सम्पन्न इन्द्र चले ॥ १९ ॥

गौरी विद्याथ गान्धारी केशिनी मित्रसाह्वया ।
सावित्र्या सह सर्वास्ताः पार्वत्या यान्ति पृष्ठतः ॥ २० ॥

पार्वतीके पीछे सावित्री, गौरी, विद्या, केशिनी, गान्धारी और मित्रसा चलीं ॥ २० ॥

तत्र विद्यागणाः सर्वे ये केचित्कविभिः कृताः ।
यस्य कुर्वन्ति वचनं सेन्द्रा देवाश्चमूमुखे ॥ २१ ॥

उनके पीछे कवियोंकी जितनी विद्यायें हैं वे सब चलीं । उस सैन्यमें इन्द्रादिक सब देव शिवजीके आज्ञाधारी बने ॥ २१ ॥

स गृहीत्वा पताकां तु यात्यग्रे राक्षसो ग्रहः ।
व्यापृतस्तु श्मशाने यो नित्यं रुद्रस्य वै सखा ।
पिङ्गलो नाम यक्षेन्द्रो लोकस्यानन्ददायकः ॥ २२ ॥

उनके आगे ग्रह नामका राक्षस पताका लेकर चला तथा उनके पीछे श्मशानवासी रुद्रके सखा सब लोगोंको सुख देनेवाला पिङ्गल नामक यक्षराज चले ॥ २२ ॥

एभिः स सहितस्तत्र ययौ देवा यथासुखम् ।
अग्रतः पृष्ठतश्चैव न हि तस्य गतिर्ध्रुवा ॥ २३ ॥

इसप्रकार सुखसे भगवान् शिव कैलाससे चले । शिवके आगे और पीछे किसीकी गति नहीं हुई ॥ २३ ॥

रुद्रं सत्कर्मभिर्मर्त्याः पूजयन्तीह दैवतम् ।
शिवमित्येव यं प्राहुरीशं रुद्रं पिनाकिनम् ।
भावैस्तु विविधाकारैः पूजयन्ति महेश्वरम् ॥ २४ ॥

शिवको जगत्के लोग अच्छे कर्मोंसे प्राप्त करते हैं; शिव परमदेव हैं; उन्हींका नाम शिव, रुद्र, ईश और पितामह है; जगत्के लोग उन्हीं महादेवको अनेक प्रकारसे पूजते हैं ॥ २४ ॥

देवसेनापतिस्त्वेवं देवसेनाभिरावृतः ।
अनुगच्छति देवेशं ब्रह्मण्यः कृत्तिकासुतः ॥ २५ ॥

इसप्रकारसे देवताओंके सेनापति कृत्तिकाके पुत्र ब्राह्मणोंके जाननेवाले भगवान् कार्तिकेय भी देवताओंकी सेनाके सहित शिवके पीछे चले ॥ २५ ॥

अथाब्रवीन्महासेनं महादेवो बृहद्वचः ।
सप्तमं मारुतस्कन्धं रक्ष नित्यमतन्द्रितः ॥ २६ ॥

इसके अनन्तर भगवान् शिवने कार्तिकेयसे कहा कि तुम सदा आलस्यरहित होकर देवोंके सातवें व्यूह "मारुतस्कन्ध" की रक्षा करना ॥ २६ ॥

स्कन्द उवाच

सप्तमं मारुतस्कन्धं पालयिष्याम्यहं प्रभो ।
यदन्यदपि मे कार्यं देव तद्ब्रूहि मा चिरम् ॥ २७ ॥

कार्तिकेय बोले— हे नाथ ! मैं सातवें व्यूह मारुत स्कन्धकी रक्षा करूंगा। इसके अलावा और भी जो कुछ मेरे योग्य काम हो उसे मुझे शीघ्र बताइये ॥ २७ ॥

तैर्विसृष्टान्यनीकेषु बाणजालान्यनेकशः ।
पर्वताश्च शतघ्न्यश्च प्रासाश्च परिघा गदाः ॥ ३४ ॥

वह सब राक्षस देवताओंकी सेनापर बाण बरसाने लगे। उसी समय देवताओंकी सेनापर पर्वत, शतघ्नी, प्रास, और परिघ आदि अनेक शस्त्र वर्षने लगे ॥ ३४ ॥

निपतद्भिश्च तैर्घोरैर्देवानीकं महायुधैः ।
क्षणेन व्यद्रवत्सर्वं विमुखं चाप्यदृश्यत ॥ ३५ ॥

उन महाभयंकर शस्त्रोंके लगनेसे क्षण भरमें युद्धसे देवताओंकी सेना विमुख हो गई, और भागने लगी ॥ ३५ ॥

निकृत्तयोधनागाश्वं कृत्तायुधमहारथम् ।
दानवैरर्दितं सैन्यं देवानां विमुखं बभौ ॥ ३६ ॥

किसीका घोडा, किसीका हाथी, किसीका रथ, और किसीका शस्त्र कट गया। उस समय दानवोंसे पीडित हुई देवताओंकी सेना विमुख हो गई ॥ ३६ ॥

असुरैर्वध्यमानं तत्पावकैरिव काननम् ।
अपतद्दग्धभूयिष्ठं महाद्रुमवनं यथा ॥ ३७ ॥

राक्षसोंसे मारी जाती हुई देवोंकी सेनाकी ऐसी शोभा हुई जैसे आगसे जलते हुए वनकी। जैसे जलते हुए वनमें वृक्ष गिरते हैं उसी तरह देवोंकी सेना राक्षसोंके शस्त्रास्त्रोंसे जलने लगी ॥ ३७ ॥

ते विभिन्नशिरोदेहाः प्रच्यवन्ते दिवौकसः ।
न नाथमध्यगच्छन्त वध्यमाना महारणे ॥ ३८ ॥

सिर और हाथसे हीन होकर वे देवता गिरने और भागने लगे। वे लोग युद्धसे पीडित होकर भागने लगे, परन्तु उन्हें कोई अपना स्वामी न दीख पडा ॥ ३८ ॥

अथ तद्विद्रुतं सैन्यं दृष्ट्वा देवः पुरंदरः ।
आश्वासयन्नुवाचेदं बलवद्दानवार्दितम् ॥ ३९ ॥

जब इन्द्रने देवताओंको भागते हुए देखा, तब इन्द्र बलशाली दानवोंसे पीडित अपने सैन्यको धीरज देकर कहने लगे ॥ ३९ ॥

भयं त्यजत भद्रं वः शूराः शस्त्राणि गृह्णत ।
कुरुध्वं विक्रमे बुद्धिं मा वः काचिद्व्यथा भवेत् ॥ ४० ॥

हे शूरवीरो ! तुम्हारा कल्याण हो, भयको छोड दो और शस्त्रोंको धारण करो। तुम लोग युद्ध करनेकी इच्छा करो और किसी तरहका दुःख मत करो ॥ ४० ॥

जयतैनान्सुदुर्वृत्तान्दानवान्घोरदर्शनान् ।
अभिद्रवत भद्रं वो मया सह महासुरान् ॥ ४१ ॥

इन दुष्ट और घोर रूपवाले राक्षसोंको जीत लो । तुम लोगोंका कल्याण हो, तुम सब मेरे सहित इन राक्षसोंसे लडनेके लिए चलो ॥ ४१ ॥

शक्रस्य वचनं श्रुत्वा समाश्वस्ता दिवौकसः ।
दानवान्प्रत्ययुध्यन्त शक्रं कृत्वा व्यपाश्रयम् ॥ ४२ ॥

इन्द्रके वचन सुनकर देवता आश्वस्त हुए और उन्होंने इन्द्रको आगे करके दानवोंसे युद्ध करना आरंभ किया ॥ ४२ ॥

ततस्ते त्रिदशाः सर्वे मरुतश्च महाबलाः ।
प्रत्युद्ययुर्महावेगाः साध्याश्च वसुभिः सह ॥ ४३ ॥

उस समय सब देवता महाबली मरुत, महाभाग साध्य और वसु दानवोंसे युद्ध करने लगे ॥ ४३ ॥

तैर्विसृष्टान्यनीकेषु क्रुद्धैः शस्त्राणि संयुगे ।
शराश्च दैत्यकायेषु पिबन्ति स्मासृगुल्बणम् ॥ ४४ ॥

क्रोधित होकर देवताओंने जो शस्त्र युद्धमें चलाए, वे राक्षसोंके शरीरमें प्रवेश करके रुधिर पीने लगे ॥ ४४ ॥

तेषां देहान्विनिर्भिद्य शरास्ते निशितास्तदा ।
निष्पतन्तो अदृश्यन्त नगेभ्य इव पन्नगाः ॥ ४५ ॥

उनके शरीरोंको छेद करके तीक्ष्ण बाण पृथ्वीपर गिरने लगे । उस समय उनकी ऐसी शोभा दिखाई देती थी जैसे पर्वतोंसे सर्प गिरते हैं ॥ ४५ ॥

तानि दैत्यशरीराणि निर्भिन्नानि स्म सायकैः ।
अपतन्भूतले राजंश्छिन्नाभ्राणीव सर्वशः ॥ ४६ ॥

हे राजन्! उस समय उन मरे हुए राक्षसोंके शरीर बाणोंसे कट कटकर पृथ्वीमें इसप्रकारसे गिरने लगे, जैसे आकाशसे बादल गिरता है ॥ ४६ ॥

ततस्तद्दानवं सैन्यं सर्वैर्देवगणैर्युधि ।
त्रासितं विविधैर्बाणैः कृतं चैव पराङ्मुखम् ॥ ४७ ॥

उस समय समस्त दानवोंकी सेना युद्धमें सब देवताओंके अनेक तरहके बाणोंसे व्याकुल होकर भागने लगी ॥ ४७ ॥

अथोत्क्रुष्टं तदा हृष्टैः सर्वैर्देवैरुदायुधैः ।
संहतानि च तूर्याणि तदा सर्वाण्यनेकशः ॥ ४८ ॥

तब सब शस्त्र हाथोंमें लिए हुए देवता प्रसन्न होकर गर्जने लगे और अनेक बाजोंको बजाने लगे ॥ ४८ ॥

एवमन्योन्यसंयुक्तं युद्धमासीत्सुदारुणम् ।
देवानां दानवानां च मांसशोणितकर्दमम् ॥ ४९ ॥

इसप्रकार देवता और दानवोंमें घोर युद्ध हुआ । उस समय उस युद्धभूमिमें मांस और रक्तका कीचड हो गया था ॥ ४९ ॥

अनयो देवलोकस्य सहसैव व्यदृश्यत ।
तथा हि दानवा घोरा विनिघ्नन्ति दिवौकसः ॥ ५० ॥

उस समय देवताओंकी अचानक ही पराजय दीखने लगी । वे भयंकर दानव देवोंको मारने लगे ॥ ५० ॥

ततस्तूर्यप्रणादाश्च भेरीणां च महास्वनाः ।
बभूवुर्दानवेन्द्राणां सिंहनादाश्च दारुणाः ॥ ५१ ॥

उसी समय भेरी आदिक अनेक बाजे बजने लगे, और दानव सिंहके समान घोर शब्द करने लगे ॥ ५१ ॥

अथ दैत्यबलाद्घोरान्निष्पपात महाबलः ।
दानवो महिषो नाम प्रगृह्य विपुलं गिरिम् ॥ ५२ ॥

उसी समय उस घोर दानवोंकी सेनामेंसे महाबली महिष नामक दानव निकला । वह एक भारी पर्वत लेकर देवताओंकी ओर दौडा ॥ ५२ ॥

ते तं घनैरिवादित्यं दृष्ट्वा संपरिवारितम् ।
समुद्यतगिरिं राजन्व्यद्रवन्त दिवौकसः ॥ ५३ ॥

हे राजन्! पहाडको उठाये उसको मेघोंके बीचमें सूर्यके समान आते हुए देखकर अनेक देवता उसकी ओर दौडे ॥ ५३ ॥

अथाभिद्रुत्य महिषो देवांश्चिक्षेप तं गिरिम् ।
पतता तेन गिरिणा देवसैन्यस्य पार्थिव ।
भीमरूपेण निहतमयुतं प्रापतद्भुवि ॥ ५४ ॥

महिषने भी देवताओंकी ओर दौडकर उस पर्वतको फेंका । हे राजन्! उस भयंकर पर्वतके गिरनेसे दश हजार देवता मर गए ॥ ५४ ॥

अथ तैर्दानवैः सार्धं महिषस्त्रासयन्सुरान् ।
अभ्यद्रवद्रणे तूर्णं सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ५५ ॥

उस समय दानवोंके सहित महिष युद्धमें देवोंको डराता हुआ उनकी ओर ऐसे दौडा जैसे छोटे हरिनोंकी ओर सिंह दौडता है ॥ ५५ ॥

तमापतन्तं महिषं दृष्ट्वा सेन्द्रा दिवौकसः ।
व्यद्रवन्त रणे भीता विशीर्णायुधकेतनाः ॥ ५६ ॥

उस महिषको आते देखकर इन्द्रादिक देवता डरसे शस्त्रोंको छोडकर युद्धसे भाग खडे हुए ॥ ५६ ॥

ततः स महिषः क्रुद्धस्तूर्णं रुद्ररथं ययौ ।
अभिद्रुत्य च जग्राह रुद्रस्य रथकूबरम् ॥ ५७ ॥

तब वह महिष क्रोध करके शिवके रथकी ओर दौडा और दौडकरके उसने शिवके रथके जुएको पकड लिया ॥ ५७ ॥

यदा रुद्ररथं क्रुद्धो महिषः सहसा गतः ।
रेसतू रोदसी गाढं मुमुहुश्च महर्षयः ॥ ५८ ॥

जिस समय क्रोधित महिपासुर शिवके रथकी ओर दौडा था उसी समय पृथ्वी और आकाशमें घोर शब्द होने लगा, ऋषि लोग मूर्च्छित हो गए ॥ ५८ ॥

व्यनदंश्च महाकाया दैत्या जलधरोपमाः ।
आसीच्च निश्चितं तेषां जितमस्माभिरित्युत ॥ ५९ ॥

उस समय मेघके समान शरीरवाले राक्षस गर्जने लगे; और उन्हें यह निश्चय हो गया कि हमने अब देवोंको जीत लिया ॥ ५९ ॥

तथाभूते तु भगवान्नावधीन्महिषं रणे ।
सस्मार च तदा स्कन्दं मृत्युं तस्य दुरात्मनः ॥ ६० ॥

उस समय भगवान् शिवने महिषासुरको मारना आरंभ किया; परन्तु उस दुष्टकी मृत्यु कार्तिकेयके हाथसे थी, इसलिये शिवने कार्तिकेयका स्मरण किया ॥ ६० ॥

महिषोऽपि रथं दृष्ट्वा रौद्रं रुद्रस्य नानदत् ।
देवान्संत्रासयंश्चापि दैत्यांश्चापि प्रहर्षयन् ॥ ६१ ॥

महिषासुरने भी शिवके रथको देखकर घोर शब्द किया; उससे दैत्य लोग प्रसन्न हुए और देवता लोग डरे ॥ ६१ ॥

ततस्तस्मिन्भये घोरे देवानां समुपस्थिते ।
आजगाम महासेनः क्रोधात्सूर्य इव ज्वलन् ॥ ६२ ॥

जब देवताओंके लिये ऐसा भयानक समय उपस्थित हुआ, तब क्रोधसे सूर्यके समान प्रकाशमान् कार्तिकेय आये ॥ ६२ ॥

लोहिताम्बरसंवीतो लोहितस्रग्विभूषणः ।
लोहितास्यो महाबाहुर्हिरण्यकवचः प्रभुः ॥ ६३ ॥

वे लाल कपडे और लाल माला पहिने हुए थे। क्रोधसे उनका मुंह लाल हो रहा था। महाबाहु कार्तिकेय सोनेका कवच पहिने थे ॥ ६३ ॥

रथमादित्यसंकाशमास्थितः कनकप्रभम् ।
तं दृष्ट्वा दैत्यसेना सा व्यद्रवत्सहसा रणे ॥ ६४ ॥

वे सूर्यके समान प्रकाशमान सोनेके वर्णवाले रथपर बैठकर युद्धमें आए। उनको देखते ही दैत्योंकी सब सेना भागने लगी ॥ ६४ ॥

स चापि तां प्रज्वलितां महिषस्य विदारिणीम् ।
मुमोच शक्तिं राजेन्द्र महासेनो महाबलः ॥ ६५ ॥

हे राजेन्द्र ! उसी समय महान् सेनापति महाबलवान् कार्तिकेयने महिपको मारनेवाली प्रकाशमान् घोर शक्तिको छोडा ॥ ६५ ॥

सा मुक्ताभ्यहनच्छक्तिर्महिषस्य शिरो महत् ।
पपात भिन्ने शिरसि महिषस्त्यक्तजीवितः ॥ ६६ ॥

उसी समय उस शक्तिने महिषासुरको काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया। सिरके कटते ही महिषासुर गिकर मर गया ॥ ६६ ॥

क्षिप्ताक्षिप्ता तु सा शक्तिर्हत्वा शत्रून्सहस्रशः ।
स्कन्दहस्तमनुप्राप्ता दृश्यते देवदानवैः ॥ ६७ ॥

वारवार फेंकी जानेपर उस शक्तिको हजारों शत्रुओंको मारकर फिर स्कन्दके हाथमें आते हुए देवों और दानवोंने देखा ॥ ६७ ॥

प्रायः शरैर्विनिहता महासेनेन धीमता ।
शेषा दैत्यगणा घोरा भीतास्त्रस्ता दुरासदैः ।
स्कन्दस्य पार्षदैर्हत्वा भक्षिताः शतसंघशः ॥ ६८ ॥

फिर बुद्धिमान् महासेनानी कार्तिकेयने अपने बाणोंसे अनेक दानवोंको मारा, फिर कार्तिकेयके घोर पार्षदोंने सहस्रों डरे हुए दानवोंको मारकर खा डाला ॥ ६८ ॥

दानवान्भक्षयन्तस्ते प्रपिबन्तश्च शोणितम् ।
क्षणान्निर्दानवं सर्वमकार्षुर्भृशहर्षिताः ॥ ६९ ॥

उन्होंने दानवोंको भक्षण करके उनके खूनको पिया और अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने क्षण-भरमें सब दानवोंका नाश कर दिया ॥ ६९ ॥

तमांसीव यथा सूर्यो वृक्षानग्निर्घनान्खगः ।
तथा स्कन्दोऽजयच्छत्रून्स्वेन वीर्येण कीर्तिमान् ॥ ७० ॥

जैसे अन्धकारको सूर्य, वृक्षोंको अग्नि और मेघोंको वायु नष्ट कर देते हैं, वैसे ही कार्तिकेयने अपने बलसे दानवोंका नाश कर दिया ॥ ७० ॥

संपूज्यमानस्त्रिदशैरभिवाद्य महेश्वरम् ।
शुशुभे कृत्तिकापुत्रः प्रकीर्णांशुरिवांशुमान् । ॥ ७१ ॥

कार्तिकेयने इन सबको मारकर शिवको प्रणाम किया, देवताओंने उनकी स्तुति की । उस समय कार्तिकेयकी ऐसी शोभा बढी जैसे प्रकाशमान् सूर्यकी ॥ ७१ ॥

नष्टशत्रुर्यदा स्कन्दः प्रयातश्च महेश्वरम् ।
अथाब्रवीन्महासेनं परिष्वज्य पुरंदरः ॥ ७२ ॥

जिस समय शत्रुओंका नाश करके कार्तिकेय शिवकी तरफ चले, उसी समय बीचमें इन्द्रने कार्तिकेयको अपने हृदयसे लगाकर कहा ॥ ७२ ॥

ब्रह्मदत्तवरः स्कन्द त्वयायं महिषो हतः ।
देवास्तृणमया यस्य बभूवुर्जयतां वर ।
सोऽयं त्वया महाबाहो शमितो देवकण्टकः ॥ ७३ ॥

हे कार्तिकेय ! तुमने महिषासुरको मारा, उसको ब्रह्माने वरदान दिया था । हे जीतनेवालोंमें श्रेष्ठ ! इसने देवताओंको तिनकेके समान मान रखा था। हे महाबाहु ! तुमने इस देवताओंके कांटेका नाश किया ॥ ७३ ॥

शतं महिषतुल्यानां दानवानां त्वया रणे ।
निहतं देवशत्रूणां यैर्वयं पूर्वतापिताः ॥ ७४ ॥

जिन्होंने हमको पहले दुःख दिया था उन सब भैंसोंके समान बलशाली और देवोंके शत्रु दैत्योंको तुमने युद्धमें मारा ॥ ७४ ॥

तावकैर्भक्षिताश्चान्ये दानवाः शतसङ्घशः ।
अजेयस्त्वं रणेऽरीणामुमापतिरिव प्रभुः ॥ ७५ ॥

तुम्हारे गणोंने भी दैत्योंके सैंकडों समूहोंको खा डाला । तुमको युद्धमें कोई नहीं जीत सकता है । तुम भगवान् शिवके समान सामर्थ्यशाली हो ॥ ७५ ॥

एतत्ते प्रथमं देव ख्यातं कर्म भविष्यति ।
त्रिषु लोकेषु कीर्तिश्च तवाक्षय्या भविष्यति ।
वशगाश्च भविष्यन्ति सुरास्तव सुरात्मज ॥ ७६ ॥

हे देव ! तुम्हारा जो यह प्रथम कर्म है वह प्रसिद्ध हो जायेगा और तुम्हारी अक्षयकीर्ति भी तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध होगी । हे देवोंसे उत्पन्न स्कन्द ! सब देवता तुम्हारे वशमें रहेंगे ॥७६॥

महासेनेत्येवमुक्त्वा निवृत्तः सह दैवतैः ।
अनुज्ञातो भगवता त्र्यम्बकेन शचीपतिः ॥ ७७ ॥

कार्तिकेयकी ऐसी स्तुति कर और भगवान् शिवकी आज्ञा लेकर शचीपति इन्द्र देवताओंके सहित चले गये ॥ ७७ ॥

गतो भद्रवटं रुद्रो निवृत्ताश्च दिवौकसः ।
उक्ताश्च देवा रुद्रेण स्कन्दं पश्यत मामिव ॥ ७८ ॥

भगवान् शिव भी भद्रवटको गए । देवता भी अपने अपने स्थानोंको चले गए । भगवान् शिवने चलते समय देवताओंसे कहा कि तुम कार्तिकेयको हमारे समान देखना ॥ ७८ ॥

स हत्वा दानवगणान्पूज्यमानो महर्षिभिः ।
एकाह्नैवाजयत्सर्वं त्रैलोक्यं वह्निनन्दनः ॥ ७९ ॥

अग्निके पुत्र कार्तिकेयने एक ही दिनमें सब दानवोंको मारकर तीनों लोकोंको जीत लिया, तब सब ऋषि उनकी पूजा करने लगे ॥ ७९ ॥

स्कन्दस्य य इदं जन्म पठते सुसमाहितः ।
स पुष्टिमिह संप्राप्य स्कन्दसालोक्यतामियात् ॥ ८० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२१ ॥
॥ समाप्तं मार्कण्डेयसमास्यापर्व ॥ ७८४४ ॥

जो कार्तिकेयके जन्मकी इस कथाको पढते हैं, वे सब इस लोकमें सुख पाकर मरनेके बाद कार्तिकेयके लोकको पाते हैं ॥ ८० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ इक्कीसवां अध्याय समाप्त ॥ २२१ ॥
॥ मार्कण्डेयसमास्यापर्व समाप्त ॥ ७८४४ ॥

वैशम्पायन उवाच

उपासीनेषु विप्रेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
द्रौपदी सत्यभामा च विविशाते तदा समम्।
जाहस्यमाने सुप्रीते सुखं तत्र निषीदतुः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय! जहां महात्मा ब्राह्मण और पाण्डव बैठे हुए थे, वहां द्रौपदी सत्यभामा एक साथ प्रविष्ट हुईं। वे दोनों हंसती हुई सुखसे उस स्थानपर बैठ गईं ॥ १ ॥

चिरस्य दृष्ट्वा राजेन्द्र तेऽन्योन्यस्य प्रियंवदे।
कथयामासतुश्चित्राः कथाः कुरुयदुक्षिताम् ॥ २ ॥

हे राजेन्द्र! वे दोनों बहुत दिनोंके बाद मिली थीं इसलिये परस्पर प्रिय बातें करने लगीं। वे दोनों कुरुवंशी और यदुवंशियोंकी उत्तम उत्तम कथायें कहने लगीं ॥ २ ॥

अथाब्रवीत्सत्यभामा कृष्णस्य महिषी प्रिया।
सात्राजिती याज्ञसेनीं रहसीदं सुमध्यमा ॥ ३ ॥

तदनन्तर कृष्णकी प्यारी पटरानी सत्राजित्‌की पुत्री सुन्दरी सत्यभामा द्रुपदकी पुत्री द्रौपदीसे एकान्तमें यह बोली ॥ ३ ॥

केन द्रौपदि वृत्तेन पाण्डवानुपतिष्ठसि।
लोकपालोपमान्वीरान्यूनः परमसंमतान्।
कथं च वशगास्तुभ्यं न कुप्यन्ति च ते शुभे ॥ ४ ॥

हे द्रौपदि! तुम किस तरहके व्यवहारसे पाण्डवोंकी सेवा करती हो? हे सुन्दरि! ये पांचों ही लोकपालोंके समान वीर और युवान हैं और परस्पर बहुत ही प्रीति रखते हैं। ये पांचों तुम्हारे वशमें कैसे रहते हैं, तुम्हारे ऊपर ये क्रोध कैसे नहीं करते? ॥ ४ ॥

तव वश्या हि सततं पाण्डवाः प्रियदर्शने।
मुखप्रेक्षाश्च ते सर्वे तत्त्वमेतद्ब्रवीहि मे ॥ ५ ॥

हे सुन्दरी! ये पांचों तुम्हारे वशमें कैसे रहते हैं? ये पांचों सुन्दर हैं, तथापि ये हमेशा तुम्हारे मुखकी तरफ ही देखते रहते हैं अर्थात् तुम्हारे वचनोंकी प्रतीक्षा करते रहते हैं, इसका कारण मुझे बतलाओ ॥ ५ ॥

व्रतचर्या तपो वापि स्नानमन्त्रौषधानि वा ।
विद्यावीर्यं मूलवीर्यं जपहोमस्तथागदाः ॥ ६ ॥
मम आचक्ष्व पाञ्चालि यशस्यं भगवेदनम् ।
येन कृष्णे भवेन्नित्यं मम कृष्णो वशानुगः ॥ ७ ॥

हे पाञ्चालि ! कोई व्रत, तप, स्नान, मंत्र, औषधि, विद्या, जप, होम अथवा दवा मुझे बताओ, जो मेरे सौभाग्यका बढानेवाला हो और जिससे कृष्ण सदा मेरे वशमें रहें ॥६-७॥

एवमुक्त्वा सत्यभामा विरराम यशस्विनी ।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी प्रत्युवाच ताम् ॥ ८ ॥

महायशस्विनी सत्यभामा ऐसा कहकर चुप हो गई । तब महाभाग्यशालिनी पतिव्रता द्रौपदी उससे बोली ॥ ८ ॥

असत्स्त्रीणां समाचारं सत्ये मामनुपृच्छसि ।
असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम् ॥ ९ ॥

हे सत्यभामे ! तुम मुझसे दुष्ट स्त्रियोंके कर्म पूछती हो दुराचारिणी स्त्रियोंके मार्गका वर्णन मैं कैसे कर सकती हूँ ? ॥ ९ ॥

अनुप्रश्नः संशयो वा नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
तथा ह्युपेता बुद्ध्या त्वं कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥ १० ॥

तुमको ऐसे सन्देह और प्रश्न नहीं करने चाहिये, क्योंकि तुम कृष्णकी प्यारी स्त्री और बुद्धिमती हो ॥ १० ॥

यदैव भर्ता जानीयान्मन्त्रमूलपरां स्त्रियम् ।
उद्विजेत तदैवास्याः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ ११ ॥

यदि कोई पति इस बातको जान जाये कि मेरी स्त्री मुझे वशमें करनेके लिए मंत्र सिद्ध करती है तो वह उससे ऐसे घबडाने लगता है, जैसे घरमें बैठे हुए सर्पसे मनुष्य घबराता है ॥११॥

उद्विग्नस्य कुतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।
न जातु वशगो भर्ता स्त्रियाः स्यान्मन्त्रकारणात् ॥ १२ ॥

घबडाए हुए पुरुषको शान्ति कहां ? और शान्तिरहितको सुख कहांसे होगा ? इसलिये मन्त्रसे पति स्त्रीके वशमें नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

अमित्रप्रहितांश्चापि गदान्परमदारुणान् ।
मूलप्रवादैर्हि विषं प्रयच्छन्ति जिघांसवः ॥ १३ ॥

ऐसे अवसरोंपर धोखेसे शत्रुओंद्वारा भेजी गई औषधियोंको स्त्रियां अपने पतियोंको खिला देती हैं, लिहाजा वे पति भयंकर भयंकर रोगोंके शिकार हो जाते हैं । इसके सिवाय इस मंत्र औषधिके बहाने किसीको मारनेकी इच्छावाले मनुष्य उसकी स्त्रीके द्वारा उसको औषधि दिलवाकर मरवा भी डालते हैं ॥ १३ ॥

जिह्वया यानि पुरुषस्त्वचा वाप्युपसेवते ।
तत्र चूर्णानि दत्तानि हन्युः क्षिप्रमसंशयम् ॥ १४ ॥

ऐसे मनुष्योंके दिए हुए चूर्णको यदि पुरुष जिह्वा अथवा त्वचासे सेवन करे तो उनसे वह पुरुष अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

जलोदरसमायुक्ताः श्वित्रिणः पलितास्तथा ।
अपुमांसः कृताः स्त्रीभिर्जडान्धबधिरास्तथा ॥ १५ ॥

इस प्रकार अनेक स्त्रियोंने अपने पतियोंको जलोदर, कुष्ठ, श्वेत बालवाले, नपुंसक, मूर्ख बहरा और अन्धा बना दिया है ॥ १५ ॥

पापानुगास्तु पापास्ताः पतीनुपसृजन्त्युत ।
न जातु विप्रियं भर्तुः स्त्रिया कार्यं कथंचन ॥ १६ ॥

वे स्त्रियां महापापिनी हैं । पापियोंके साथ ऐसे ऐसे कर्म करनेवाली हैं । ऐसी स्त्रियां अपने पतियोंको भारी संकटमें डाल देती हैं । स्त्रियोंको कदापि अपने पतियोंसे अप्रिय कर्म नहीं करने चाहिये ॥ १६ ॥

वर्ताम्यहं तु यां वृत्तिं पाण्डवेषु महात्मसु ।
तां सर्वां शृणु मे सत्यां सत्यभामे यशस्विनि ॥ १७ ॥

हे सत्यभामे ! हे यशस्विनि ! मैं जिस सत्यवृत्तिसे महात्मा पाण्डवोंके साथ बर्ताव करती हूं, उस सबको तुम सुनो ॥ १७ ॥

अहङ्कारं विहायाहं कामक्रोधौ च सर्वदा ।
सदारान्पाण्डवान्नित्यं प्रयतोपचराम्यहम् ॥ १८ ॥

मैं सदा काम, क्रोध और अहङ्कारको छोडकर स्त्रियोंके सहित पाण्डवोंकी सेवा प्रयत्नपूर्वक करती हूं ॥ १८ ॥

प्रणयं प्रतिसंगृह्य निधायात्मानमात्मनि ।
शुश्रूषुर्निरभीमाना पतीनां चित्तरक्षिणी ॥ १९ ॥

मैं अपने पतियोंकी सदा विनयपूर्वक सेवा करती हूं और अपनी आत्माको सदा अपने वशमें रखती हूं । मैं अभिमानरहित होकर पतियोंकी कामनाओंको पूरा करती हूं ॥ १९ ॥

दुर्व्याहृताच्छङ्कमाना दुःस्थितादुरवेक्षितात् ।
दुरासितादुर्व्रजितादिङ्गिताध्यासितादपि ॥ २० ॥

मैं अपने पतियोंकी बुरी बात, बुरे स्थान, बुरी दृष्टि, बुरी चेष्टा, बुरी गति और बुरे चिन्होंसे डरती रहती हूं ॥ २० ॥

सूर्यवैश्वानरनिभान्सोमकल्पान्महारथान् ।
सेवे चक्षुर्हणः पार्थानुग्रतेजःप्रतापिनः ॥ २१ ॥

मैं अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाके समान महातेजस्वी, दृष्टिमात्रसे शत्रुके नाश करनेवाले, महावीर्यवान् प्रतापी पतियोंकी सेवा करती हूं ॥ २१ ॥

देवो मनुष्यो गन्धर्वो युवा चापि स्वलङ्कृतः ।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषो मतः ॥ २२ ॥

कोई चाहे देवता हो, मनुष्य हो, चाहे सुन्दर हो या आभूषण धारण किये हो और कैसा ही द्रव्यवान् भी क्यों न हो, परन्तु मैं दूसरे पुरुषसे प्रेम नहीं करती ॥ २२ ॥

नाभुक्तवति नास्नाते नासंविष्टे च भर्तरि ।
न संविशामि नाश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि ॥ २३ ॥

मैं अपने पतियों तथा उनके सेवकोंको भोजन कराये विना कभी भोजन नहीं करती, उन्हें बिना नहलाये नहाती नहीं, उन्हें विना बिठलाये मैं स्वयं कभी नहीं बैठती, तथा उन्हें बिना सुलाये मैं कभी सोती नहीं ॥ २३ ॥

क्षेत्राद्वनाद्वा ग्रामाद्वा भर्तारं गृहमागतम् ।
प्रत्युत्थायाभिनन्दामि आसनेनोदकेन च ॥ २४ ॥

जब मेरे पति किसी खेत, गांव अथवा वनसे घरमें आते हैं, तब मैं उठकर खडी हो जाती हूं, तथा उनको आसन वा जल देकर उनका अभिनन्दन करती हूँ ॥ २४ ॥

प्रमृष्टभाण्डा मृष्टान्ना काले भोजनदायिनी ।
संयता गुप्तधान्या च सुसंमृष्टनिवेशना ॥ २५ ॥

मैं अपने घरके बरतनोंको धोती हूं, अन्नको निर्मल रखती हूं और उनको समयपर भोजन देती हूं। अपने शरीरको वशमें रखती हूं, अपने अन्नको छिपाकर रखती हूं और अपने घरको साफ रखती हूं ॥ २५ ॥

अतिरस्कृतसंभाषा दुःस्त्रियो नानुसेवती ।
अनुकूलवती नित्यं भवाम्यनलसा सदा ॥ २६ ॥

मैं वचनसे भी उनका तिरस्कार नहीं करती, तथा दुष्ट स्त्रियोंसे स्नेह कदापि नहीं करती । मैं हमेशा उनके अनुकूल आचरण करती हूँ । मैं अपने पतियोंकी सेवामें तनिक भी आलस्य नहीं करती ॥ २६ ॥

अनर्मे चापि हसनं द्वारि स्थानमभीक्ष्णशः ।
अवस्करे चिरस्थानं निष्कुटेषु च वर्जये ॥ २७ ॥

मैं कभी विना हंसीकी बातपर नहीं हंसती; बारबार द्वारपर जाकर खडी नहीं होती; जहां कूडा फेंका जाता है ऐसे गन्दे स्थानोंपर ज्यादा देरतक खडी नहीं होती तथा बगीचोंमें अकेली नहीं घूमती ॥ २७ ॥

अतिहासातिरोषौ च क्रोधस्थानं च वर्जये ।
निरताहं सदा सत्ये भर्तॄणामुपसेवने ।
सर्वथा भर्तृरहितं न ममेष्टं कथंचन ॥ २८ ॥

मैं कभी अधिक नहीं हंसती; मैं ज्यादा क्रोध भी कभी नहीं करती; मैं सदा सत्य बोलती हूं और पतियोंकी सेवा करती हूं, मुझे पतियोंसे अलग रहना अच्छा नहीं लगता ॥ २८ ॥

यदा प्रवसते भर्ता कुटुम्बार्थेन केनचित् ।
सुमनोवर्णकापेता भवामि व्रतचारिणी ॥ २९ ॥

जब मेरे पति कभी कुटुम्बके निमित्त कहीं परदेशको जाते हैं, तब मैं अपने मनको स्थिर करके व्रत करती हूं ॥ २९ ॥

यच्च भर्ता न पिबति यच्च भर्ता न खादति ।
यच्च नाश्नाति मे भर्ता सर्वं तद्वर्जयाम्यहम् ॥ ३० ॥
यथोपदेशं नियता वर्तमाना वराङ्गने ।
स्वलङ्कृता सुप्रयता भर्तुः प्रियहिते रता ॥ ३१ ॥

जिसको पति नहीं पीते और मेरे पति जिन वस्तुओंको नहीं खाते, मैं भी उन वस्तुओंको छोड देती हूं । हे सुन्दरी ! मैं उपदेशके अनुसार सब काम करती हूं । मैं सदा आभूषण पहनकर प्रयत्नपूर्वक पतिका प्रियकार्य करती हूं ॥ ३०-३१ ॥

ये च धर्माः कुटुम्बेषु श्वश्वा मे कथिताः पुरा ।
भिक्षाबलिश्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्वसु ।
मान्यानां मानसत्कारा ये चान्ये विदिता मया ॥ ३२ ॥

भिक्षा, पूजा, श्राद्ध पर्वोंमें भोजन आदिका बनाना, सेवकोंका मान और सबका आदर तथा सेवा आदि जो कुछ कुटुम्बके धर्म मेरी सासने कहे थे, मैं वही सब करती हूं ॥ ३२ ॥

तान्सर्वाननुवर्तास्मि दिवारात्रमतन्द्रिता ।
विनयान्नियमांश्चापि सदा सर्वात्मना श्रिता ॥ ३३ ॥

दिन रात आलस्यरहित होकर अपने पतियोंका अनुसरण करती हूं । मैं अपने चित्तको स्थिर करके सदा विनय और नियमोंको धारण करती हूं ॥ ३३ ॥

मृदून्सतः सत्यशीलान्सत्यधर्मानुपालिनः ।
आशीविषानिव क्रुद्धान्पतीन्परिचराम्यहम् ॥ ३४ ॥

मेरे पति कोमलताकी अवस्थामें पण्डित, सत्य और धर्मके पालनेवाले हैं; और वे ही क्रोधमें सर्पके समान हैं। ऐसे अपने पतियोंकी मैं सेवा करती हूं ॥ ३४ ॥

पत्याश्रयो हि मे धर्मो मतः स्त्रीणां सनातनः ।
स देवः सा गतिर्नान्या तस्य का विप्रियं चरेत् ॥ ३५ ॥

मेरा यही विचार है कि सदा पतिके आश्रयसे रहना ही स्त्रियोंका सनातन धर्म है। स्त्रियोंके लिए पति ही देवता हैं, वे ही स्त्रियोंके लिए गति हैं, उनके लिए और कोई गति नहीं है, अतः ऐसे पतिका अप्रिय कौन स्त्री करेगी ? ॥ ३५ ॥

अहं पतीन्नातिशये नात्यश्ने नातिभूषये ।
नापि परिवदे श्वश्रूं सर्वदा परियन्त्रिता ॥ ३६ ॥

मैं पतियोंके अपेक्षा ज्यादा नहीं सोती, ज्यादा खाती नहीं और ज्यादा सजी धजी भी नहीं रहती; अत्यन्त दुःख होनेपर भी कभी ससुरको बुरे शब्द नहीं कहती ॥ ३६ ॥

अवधानेन सुभगे नित्योत्थानतयैव च ।
भर्तारो वशगा मह्यं गुरुशुश्रूषणेन च ॥ ३७ ॥

हे सुन्दरी ! मैं सदा सावधान रहती हूं; नित्य उठकर पतियोंकी सेवा करती हूं; और वृद्धोंकी भी सेवा करती हूं; इसीसे मेरे पति मेरे वशमें रहते हैं ॥ ३७ ॥

नित्यमार्यामहं कुन्तीं वीरसूं सत्यवादिनीम् ।
स्वयं परिचराम्येका स्नानाच्छादनभोजनैः ॥ ३८ ॥

वीरमाता और सत्यवादिनी अपनी सास कुन्तीकी सेवा मैं अपने हाथोंसे करती हूं। मैं स्वयं ही उनको भोजन और वस्त्र देती हूं ॥ ३८ ॥

नैतामतिशये जातु वस्त्रभूषणभोजनैः ।
नापि परिवदे चाहं तां पृथां पृथिवीसमाम् ॥ ३९ ॥

मैं कभी अपनी सासका निरादर नहीं करती। मैं कभी अपनी सासको भोजन और वस्त्र देनेमें विलम्ब नहीं करती। मैं कभी अपनी पृथ्वीके समान पूज्य साससे नहीं झगडती ॥ ३९ ॥

अष्टावग्रे ब्राह्मणानां सहस्राणि स्म नित्यदा ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीषु युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४० ॥

पहले युधिष्ठिरके महलमें आठ हजार ब्राह्मण रोज सोनेके पात्रोंमें भोजन करते थे ॥ ४० ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः ॥ ४१ ॥

अट्ठासी हजार स्नातक गृहस्थ थे, जिनका भरणपोषण युधिष्ठिर करते थे, उनमेंसे प्रत्येक स्नातककी सेवाके लिए तीस तीस दासियां नियुक्त रहती थीं ॥ ४१ ॥

दशान्यानि सहस्राणि येषामन्नं सुसंस्कृतम् ।
ह्रियते रुक्मपात्रीभिर्यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ४२ ॥

दस हजार ब्रह्मचारी और ऊर्ध्वरेता यति सोनेके पात्रोंमें पका हुआ अन्न पाते थे ॥ ४२ ॥

तान्सर्वानग्रहारेण ब्राह्मणान्ब्रह्मवादिनः ।
यथार्हं पूजयामि स्म पानाच्छादनभोजनैः ॥ ४३ ॥

उन सब वेदपाठी ब्राह्मणोंको मैं खानपान और वस्त्रोंसे यथायोग्य पूजती थी ॥ ४३ ॥

शतं दासीसहस्राणि कौन्तेयस्य महात्मनः ।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलङ्कृताः ॥ ४४ ॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवर्णाश्चन्दनोक्षिताः ।
मणीन्हेम च बिभ्रत्यो नृत्यगीतविशारदाः ॥ ४५ ॥

महात्मा कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिरकी एक लाख दासियां थीं । वे सभी शंखके समान कण्ठवालीं, आभूषणधारिणी, गलेमें सोनेके आभूषण पहिने और बहुत मूल्यकी माला धारण करनेवाली थीं । वे सब परम सुन्दरियां, चन्दन लगानेवालीं, मणिजटित स्वर्णके आभूषण पहिने नाचने गानेमें निपुण थीं ॥ ४४-४५ ॥

तासां नाम च रूपं च भोजनाच्छादनानि च ।
सर्वासामेव वेदाहं कर्म चैव कृताकृतम् ॥ ४६ ॥

उन सबके नाम, रूप, भोजन, वस्त्र और उनके द्वारा किये गए और न किए गए सभी कर्मोंको मैं जानती थी ॥ ४६ ॥

शतं दासीसहस्राणि कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन्भोजयन्त्युत ॥ ४७ ॥

बुद्धिमान् कुन्तीनन्दनकी और भी एक लाख दासियां थीं, जो रात्रि दिन हाथमें पात्र लिये अतिथियोंको भोजन कराया करती थीं ॥ ४७ ॥

शतमश्वसहस्राणि दश नागायुतानि च ।
युधिष्ठिरस्यानुयात्रमिन्द्रप्रस्थनिवासिनः ॥ ४८ ॥

जो एक लाख अश्व और एक लाख हाथी महाराज युधिष्ठिरके पीछे चलते थे और जो इन्द्रप्रस्थमें रहते थे ॥ ४८ ॥

एतदासीत्तदा राज्ञो यन्महीं पर्यपालयत् ।
येषां संख्याविधिं चैव प्रदिशामि शृणोमि च ॥ ४९ ॥

उन सबकी संख्या और नियमोंको मैं जानती थी और उन सबको अपनी आज्ञामें रखती थी। जो पृथ्वीका पालन करते थे उन महाराज युधिष्ठिरके पास यह सब सामग्री रहती थी ॥ ४९ ॥

अन्तःपुराणां सर्वेषां भृत्यानां चैव सर्वशः ।
आ गोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ५० ॥

मैं रनिवासके दासोंके सहित और मन्त्रियोंसे लेकर अपने राज्यके ग्वालों पर्यन्त सब दासोंके किए गए और न किए गए सभी कार्योंको भलीभांति जानती थी ॥ ५० ॥

सर्वं राज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च ।
एकाहं वेद्मि कल्याणि पाण्डवानां यशस्विनाम् ॥ ५१ ॥

महाराजके राज्यके आय और व्ययका लेखा जोखा भी मैं अकेली ही रखती थी। हे कल्याणि ! मैं यशस्वी पाण्डवोंके सब कर्मोंको जानती हूं ॥ ५१ ॥

मयि सर्वं समासज्य कुटुम्बं भरतर्षभाः ।
उपासनरताः सर्वे घटन्ते स्म शुभानने ॥ ५२ ॥

हे सुन्दर मुखवाली सत्यभामे ! भरतकुलसिंह पाण्डव सब कुटुम्बका भार मेरे ही ऊपर छोड कर स्वयं केवल उपासना किया करते थे ॥ ५२ ॥

तमहं भारमासक्तमनाधृष्यं दुरात्मभिः ।
सुखं सर्वं परित्यज्य रात्र्यहानि घटामि वै ॥ ५३ ॥

दुरात्माओंके द्वारा उठानेके अयोग्य ऐसे उस भारको उठाकर मैं अपने सब सुखोंको छोडकर रातदिन परिश्रम करती थी ॥ ५३ ॥

अधृष्यं वरुणस्येव निधिपूर्णमिवोदधिम् ।
एकाहं वेद्मि कोशं वै पतीनां धर्मचारिणाम् ॥ ५४ ॥

मेरे धर्मात्मा पतियोंका जो वरुणके खजानेके समान तथा जलसे भरे समुद्रके समान अपार कोष था, उसे केवल मैं ही जानती थी ॥ ५४ ॥

अनिशायां निशायां च सहायाः क्षुत्पिपासयोः ।
आराधयन्त्याः कौरव्यांस्तुल्या रात्रिरहश्च मे ॥ ५५ ॥

चाहे रात्रि हो वा दिन हो, मैं सदा ही अपने पतियोंकी सेवा करती हूं। मैं कभी अपने पतियोंको भूखा और प्यासा नहीं रहने देती। पाण्डवोंकी सेवा करनेमें मैं रात्रि और दिनको समान ही समझती हूं ॥ ५५ ॥

प्रथमं प्रतिबुध्यामि चरमं संविशामि च ।
नित्यकालमहं सत्ये एतत्संवननं मम ॥ ५६ ॥

मैं प्रातःकाल उनसे पहले उठती और रात्रिमें सबसे पीछे सोती हूं। हे सत्यभामे! मेरा प्रतिदिनका यही काम है ॥ ५६ ॥

एतज्जानाम्यहं कर्तुं भर्तृसंवननं महत् ।
असत्स्त्रीणां समाचारं नाहं कुर्यां न कामये ॥ ५७ ॥

मैं इन्हीं सब कार्योंसे अपने पतियोंको वशमें रखती हूं और दुष्ट स्त्रियोंके कार्योंको न कभी करती हूँ और नाही करना चाहती हूँ ॥ ५७ ॥

तच्छ्रुत्वा धर्मसहितं व्याहृतं कृष्णया तदा ।
उवाच सत्या सत्कृत्य पाञ्चालीं धर्मचारिणीम् ॥ ५८ ॥

द्रौपदीके द्वारा कहे गए धर्मके वचन सुनकर धर्मचारिणी द्रौपदीका सम्मान करती हुई सत्यभामा बोली ॥ ५८ ॥

अभिपन्नास्मि पाञ्चालि याज्ञसेनि क्षमस्व मे ।
कामकारः सखीनां हि सोपहासं प्रभाषितुम् ॥ ५९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥ ७९०३ ॥

हे पाञ्चालि! मैं तुम्हारी शरणमें हूँ; हे याज्ञसेनि! मुझे क्षमा करो। सखियोंमें आपसमें ऐसी हास परिहासकी बातें हो ही जाया करती हैं ॥ ५९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ बाईसवां अध्याय समाप्त ॥ २२२ ॥ ७९०३ ॥

: २२३ :

द्रौपद्युवाच

इमं तु ते मार्गमपेतदोषं वक्ष्यामि चित्तग्रहणाय भर्तुः ।
यस्मिन्यथावत्सखि वर्तमाना भर्तारमाच्छेत्स्यासि कामिनीभ्यः ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली— मैं पतिके चित्तको अपने वशमें रखनेके लिए एक दोषरहित मार्ग बताती हूँ। हे सखि! इस मार्गपर यथायोग्य रीतिसे चलकर तुम अपने पतिके मनको दूसरी स्त्रियोंसे हटा सकोगी ॥ १ ॥

नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये सर्वेषु लोकेषु सदैवतेषु।
यथा पतिस्तस्य हि सर्वकामा लभ्याः प्रसादे कुपितश्च हन्यात् ॥ २ ॥
हे सखि! तीनों लोकोंमें जितने देव हैं उनमें भी पतिके समान कोई देव नहीं है। जिस स्त्रीका पति प्रसन्न रहता है, उसे सब काम सिद्ध होते हैं और उसके कुपित होनेसे सर्वनाश हो जाता है॥ २ ॥

तस्मादपत्यं विविधाश्च भोगाः शय्यासनान्यद्भुतदर्शनानि।
वस्त्राणि माल्यानि तथैव गन्धाः स्वर्गश्च लोको विषमा च कीर्तिः ॥ ३ ॥
उसीके प्रसन्न होनेसे अपत्य, अद्भुत रूपसे सुन्दर दीखनेवाले अनेक प्रकारके भोग, शय्या, वस्त्र, माला, गन्ध, स्वर्ग, यह लोक और परम कीर्ति प्राप्त होती है॥ ३ ॥

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि।
सा कृष्णमाराधय सौहृदेन प्रेम्णा च नित्यं प्रतिकर्मणा च ॥ ४ ॥
हे सत्यभामे ! इस संसारमें सुख सुखपूर्वक अर्थात् आसानीसे नहीं मिलता; पतिव्रता स्त्री तो दुःख भोगकर ही सुखको प्राप्त होती है। अतः तुम प्रेम, प्रीति और सेवासे कृष्णको प्रसन्न करो॥ ४ ॥

तथाशनैश्चारुभिरग्र्यमाल्यैर्दाक्षिण्ययोगैर्विविधैश्च गन्धैः।
अस्याः प्रियोऽस्मीति यथा विदित्वा त्वामेव संश्लिष्यति सर्वभावैः ॥ ५ ॥
तुम उनको उत्तम आसन, उत्तम उत्तम सुगन्धी माला आदि वस्तुयें प्रदान करो और धीरे धीरे उनको प्रसन्न करो; उनके शरीरपर उत्तम उत्तम गन्ध लगावो और और भी उत्तम उत्तम कर्म करो, जिससे कृष्ण 'यह हमारी प्रिया है,' ऐसा मानकर तुमको ही प्रेमसे आलिंगन देंगे॥५॥

श्रुत्वा स्वरं द्वारगतस्य भर्तुः प्रत्युत्थिता तिष्ठ गृहस्य मध्ये।
दृष्ट्वा प्रविष्टं त्वरितासनेन पाद्येन चैव प्रतिपूजय त्वम् ॥ ६ ॥
जब तुम अपने पतिका शब्द द्वारपर सुनो, उसी समय अपने घरमें उठकर खडी हो जावो। जब वे घरमें घुसें, उसी समय तुम उन्हें पैर धोनेके लिए पानी और आसन देकर उनका सत्कार करो॥ ६ ॥

संप्रेषितायामथ चैव दास्यामुत्थाय सर्वं स्वयमेव कुर्याः।
जानातु कृष्णस्तव भावमेतं सर्वात्मना मां भजतीति सत्ये ॥ ७ ॥
जब तुम्हारे पति किसी कार्यको करनेके लिए दासीको भेजें, तब तुम उठकर स्वयं ही उसे कर लिया करो। ऐसा करनेसे कृष्ण जान जायेंगे कि सत्यभामा मेरी मनसे सेवा करती है॥७॥

त्वत्संनिधौ यत्कथयेत्पतिस्ते यद्यप्यगुह्यं परिरक्षितव्यम् ।
काचित्सपत्नी तव वासुदेवं प्रत्यादिशेत्तेन भवेद्विरागः ॥ ८ ॥

यदि तुम्हारे पति तुमसे कोई साधारण बात भी कहें तो भी तुम उसको किसीसे मत कहो। अन्यथा तुम्हारे मुखसे वह बात सुनकर कोई तुम्हारी सौत कृष्णसे कुछ कहे तो उससे कृष्ण कदाचित् तुझसे विरक्त भी हो जायें ॥ ८ ॥

प्रियांश्च रक्तांश्च हितांश्च भर्तुस्तान्भोजयेथा विविधैरुपायैः ।
द्वेष्यैरपक्षैरहितैश्च तस्य भिद्यस्व नित्यं कुहकोद्धतैश्च ॥ ९ ॥

जो तुम्हारे पतिके भक्त, प्यारे और मित्र हों उन सबको अनेक उपायोंसे खिलाया पिलाया करो और जो तुम्हारे पतिसे द्वेष करते हों, उनसे अलग रहनेकी इच्छा करते हों, कपट करके अलग रहते हों, उन पुरुषोंसे सदा दूर रहना ॥ ९ ॥

मदं प्रमादं पुरुषेषु हित्वा संयच्छ भावं प्रतिगृह्य मौनम् ।
प्रद्युम्नसाम्बावपि ते कुमारौ नोपासितव्यौ रहिते कदाचित् ॥ १० ॥

अन्य पुरुषोंके सामने मद छोडकर सावधान होकर और मौन धारणकर अपने मनोगत भावोंको प्रकट मत होने दो। यद्यपि प्रद्युम्न और साम्ब तुम्हारे पुत्र हैं, तथापि उनके साथ भी तुम एकान्तमें कभी मत बैठना ॥ १० ॥

महाकुलीनाभिरपापिकाभिः स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु ।
चण्डाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च चौराश्च दुष्टाश्चपलाश्च वर्ज्याः ॥ ११ ॥

कुलीन, पापरहित और पतिव्रता स्त्रियोंके साथ तुम्हारी मित्रता हो। जो अत्यन्त क्रोधी, नशेमें चूर रहनेवालीं, अधिक खानेवालीं, चोरी करनेवालीं, दुष्ट और चंचल स्वभावकी स्त्रियां हों, उन्हें दूरसे ही त्याग दो ॥ ११ ॥

एतद्यशस्यं भगवेदनं च स्वर्ग्यं तथा शत्रुनिबर्हणं च ।
महार्हमाल्याभरणाङ्गरागा भर्तारमाराधय पुण्यगन्धा ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥ ७९१५ ॥

यह जो धर्म मैंने तुमसे कहा, वह यश और सौभाग्यका बढानेवाला है, स्वर्ग सुख देनेवाला है और शत्रुओंका नाश करनेवाला है। तुम बहुत मूल्यवाले आभूषण पहनकर तथा उत्तम गन्ध और माला धारण करके अपने पतिकी सेवा करो ॥ १२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ तेईसवां अध्याय समाप्त ॥ २२३ ॥ ७९१५ ॥

: २२४ :

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयादिभिर्विप्रैः पाण्डवैश्च महात्मभिः ।
कथाभिरनुकूलाभिः सहासित्वा जनार्दनः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् जनमेजय ! मार्कण्डेय आदि ऋषि और महात्मा पाण्डवोंके साथ अनेक उत्तम कथाओंको कहते हुए कृष्ण वहां रहे ॥ १ ॥

ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
आरुरुक्षू रथं सत्यामाह्वयामास केशवः ॥ २ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण उनसे यथायोग्य सलाह करके रथपर चढनेकी इच्छावाले केशवने सत्यभामाको बुलाया ॥ २ ॥

सत्यभामा ततस्तत्र स्वजित्वा द्रुपदात्मजाम् ।
उवाच वचनं हृद्यं यथाभावसमाहितम् ॥ ३ ॥

तब सत्यभामा द्रौपदीसे गले मिलकर प्रेमके सहित मीठे वचन कहने लगी ॥ ३ ॥

कृष्णे मा भूत्तवोत्कण्ठा मा व्यथा मा प्रजागरः ।
भर्तृभिर्देवसंकाशैर्जितां प्राप्स्यसि मेदिनीम् ॥ ४ ॥

हे कृष्णे ! तुम किसी बातसे घबडाना नहीं, तुम कभी दुःख मत उठाना, तुम इस तरह रात रातभर जागना छोड दो। थोडे ही समयमें देवतुल्य पाण्डव सब पृथ्वीको जीतेंगे और तुम महारानी बनोगी ॥ ४ ॥

न ह्येवं शीलसंपन्ना नैवं पूजितलक्षणाः ।
प्राप्नुवन्ति चिरं क्लेशं यथा त्वमसितेक्षणे ॥ ५ ॥

हे द्रौपदी ! तुम्हारे समान शील और उत्तम लक्षणोंवाली स्त्री बहुत दिनतक दुःख नहीं भोगती ॥ ५ ॥

अवश्यं च त्वया भूमिरियं निहतकण्टका ।
भर्तृभिः सह भोक्तव्या निर्द्वन्द्वेति श्रुतं मया ॥ ६ ॥

मैंने सुना है कि तुम अवश्य ही इस सब भूमिको वैरियोंसे रहित करके अपने पतियोंके सहित भोग करोगी ॥ ६ ॥

धार्तराष्ट्रवधं कृत्वा वैराणि प्रतियात्य च ।
युधिष्ठिरस्थां पृथिवीं द्रष्टासि द्रुपदात्मजे ॥ ७ ॥

हे द्रुपदनन्दिनि ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर और सब वैरका बदला ले करके महाराज युधिष्ठिरको राजा होते देखोगी ॥ ७ ॥

यास्ताः प्रव्राजमानां त्वां प्राहसन्दर्पमोहिताः।
ताः क्षिप्रं हृतसङ्कल्पा द्रक्ष्यसि त्वं कुरुस्त्रियः ॥ ८ ॥

जो कुरुवंशियोंकी स्त्रियां अभिमानसे मोहित होकर तुमको चलते देखकर हंसी थीं, उन्हें तुम शीघ्र ही नष्ट हुए संकल्पवाली देखोगी ॥ ८ ॥

तव दुःखोपपन्नाया यैराचरितमप्रियम्।
विद्धि संप्रस्थितान्सर्वांस्तान्कृष्णे यमसादनम् ॥ ९ ॥

हे कृष्णे! दुःखके समयमें जिन्होंने तुम्हारे अप्रिय कार्य किये हैं, उन सबको तुम यमलोकको गया हुआ ही समझो ॥ ९ ॥

पुत्रस्ते प्रतिविन्ध्यश्च सुतसोमस्तथा विभुः।
श्रुतकर्मार्जुनिश्चैव शतानीकश्च नाकुलिः।
सहदेवाच्च यो जातः श्रुतसेनस्तवात्मजः ॥ १० ॥
सर्वे कुशलिनो वीराः कृतास्त्राश्च सुतास्तव।
अभिमन्युरिव प्रीता द्वारवत्यां रता भृशम् ॥ ११ ॥

तुम्हारा पुत्र प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, अर्जुनसे उत्पन्न श्रुतकर्मा, नकुलसे उत्पन्न शतानीक और सहदेवसे उत्पन्न तुम्हारा पुत्र श्रुतसेन है वे सब तुम्हारे पुत्र कुशलपूर्वक शस्त्रविद्या सीख चुके हैं। वे सब अभिमन्युके समान प्रीतिपूर्वक द्वारिकामें रह रहे हैं ॥ १०–११ ॥

त्वमिवैषां सुभद्रा च प्रीत्या सर्वात्मना स्थिता।
प्रीयते भावनिर्द्वंद्वा तेभ्यश्च विगतज्वरा ॥ १२ ॥

जैसे तुम उनसे प्रेम करती हो वैसे ही सुभद्रा भी विना किसी चिन्ता और द्वेषके उनसे परम प्रीति करती है ॥ १२ ॥

भेजे सर्वात्मना चैव प्रद्युम्नजननी तथा।
भानुप्रभृतिभिश्चैनान्विशिनष्टि च केशवः ॥ १३ ॥

प्रद्युम्नकी माता भी तुम्हारे पुत्रोंको सब प्रकारसे मानती हैं और श्रीकृष्ण भी उनपर अपने भानु आदि पुत्रोंकी अपेक्षा भी अधिक ध्यान रखते हैं ॥ १३ ॥

भोजनाच्छादने चैषां नित्यं मे श्वशुरः स्थितः।
रामप्रभृतयः सर्वे भजन्त्यन्धकवृष्णयः।
तुल्यो हि प्रणयस्तेषां प्रद्युम्नस्य च भामिनि ॥ १४ ॥

मेरे ससुर वसुदेवजी तुम्हारे पुत्रोंके भोजन और वस्त्रोंका सदा ध्यान रखते हैं। बलराम आदि सब यदुवंशी तुम्हारे पुत्रोंका ध्यान रखते हैं। हे भामिनि! उन सबका और प्रद्युम्नका भी तुम्हारे पुत्रोंपर प्रेम है ॥ १४ ॥

एवमादि प्रियं प्रीत्या हृद्यमुक्त्वा मनोनुगम्।
गमनाय मनश्चक्रे वासुदेवरथं प्रति ॥ १५ ॥

इस प्रकारसे अनेक सत्य और हृदयको प्रिय लगनेवाले, मनके अनुकूल वचन कहकर सत्यभामा कृष्णके रथकी ओर चली ॥ १५ ॥

तां कृष्णां कृष्णमहिषी चकाराभिप्रदक्षिणम्।
आरुरोह रथं शौरेः सत्यभामा च भामिनी ॥ १६ ॥

कृष्णकी प्यारी सत्यभामाने द्रौपदीकी प्रदक्षिणा की और प्रणाम किया। तदनन्तर वह श्रीकृष्णके रथपर बैठ गई ॥ १६ ॥

स्मयित्वा तु यदुश्रेष्ठो द्रौपदीं परिसान्त्व्य च।
उपावर्त्य ततः शीघ्रैर्हयैः प्रायात्परंतपः ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥
॥ समाप्तं द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व ॥ ७९३२ ॥

यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने भी हंसकर द्रौपदीको सांत्वना दी। फिर अपने रथपर चढकर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्ण चले गये ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ चौबीसवां अध्याय समाप्त ॥ २२४ ॥
॥ द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व समाप्त ॥ ७९३२ ॥

२२५

जनमेजय उवाच

एवं वने वर्तमाना नराग्र्याः शीतोष्णवातातपकर्शिताङ्गाः।
सरस्तदासाद्य वनं च पुण्यं ततः परं किमकुर्वन्त पार्थाः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– पुरुषोंमें श्रेष्ठ पाण्डवलोग जब इस प्रकार वनमें रहकर शीत, उष्ण, वायु और घामसे दुबले होकर उस पवित्र तालावके तटपर पहुंचे, तब उसके पश्चात् उन्होंने क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

सरस्तदासाद्य तु पाण्डुपुत्रा जनं समुत्सृज्य विधाय चैषाम्।
वनानि रम्याण्यथ पर्वतांश्च नदीप्रदेशांश्च तदा विचेरुः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– जब महात्मा पाण्डव उस पवित्र तालावपर पहुंचे, तब उन्होंने अपने साथके पुरुषोंको विदा कर दिया और उनकी व्यवस्था कर दी। तदनन्तर आसपासके सुन्दर वन पर्वत तथा नदियोंके प्रदेशोंको देखते हुए घूमने लगे ॥ २ ॥

तथा वने तान्वसतः प्रवीरान्स्वाध्यायवन्तश्च तपोधनाश्च ।
अभ्याययुर्वेदविदः पुराणास्तान्पूजयामासुरथो नराग्र्याः ॥ ३ ॥

वनमें रहनेवाले उन वीर पाण्डवोंके पास स्वाध्यायशील, तपोधन, वेदज्ञ प्राचीन ऋषि मुनि आते थे और नरश्रेष्ठ पाण्डव भी उनकी पूजा एवं सत्कार करते थे ॥ ३ ॥

ततः कदाचित्कुशलः कथासु विप्रोऽभ्यगच्छद् भुवि कौरवेयान् ।
स तैः समेत्याथ यदृच्छयैव वैचित्रवीर्यं नृपमभ्यगच्छत् ॥ ४ ॥

एकदिन एक कथा कहनेमें कुशल एक ब्राह्मण पृथ्वीमें घूमता हुआ कौरवोंके पास गया । वह वहां पहुंचकर कौरवोंसे मिला, फिर विचित्रवीर्यके पुत्र धृतराष्ट्रके पास गया ॥ ४ ॥

अथोपविष्टः प्रतिसत्कृतश्च वृद्धेन राज्ञा कुरुसत्तमेन ।
प्रचोदितः सन्कथयांबभूव धर्मानिलेन्द्रप्रभवान्यमौ च ॥ ५ ॥

तब कुरुकुलश्रेष्ठ बूढे महाराज धृतराष्ट्रने उस ब्राह्मणका बहुत सत्कार किया और बैठनेके लिए आसन देकर उससे धर्मपुत्र युधिष्ठिर, वायुपुत्र भीम, इन्द्रपुत्र अर्जुन तथा अश्विनीपुत्र नकुल तथा सहदेवके बारेमें कुशल पूछा । तब उस ब्राह्मणने पाण्डवोंका सब हाल सुनाया ॥ ५ ॥

कृशांश्च वातातपकर्शिताङ्गान्दुःखस्य चोग्रस्य मुखे प्रपन्नान् ।
तां चाप्यनाथामिव वीरनाथां कृष्णां परिक्लेशगुणेन युक्ताम् ॥ ६ ॥

जब महाराजने पाण्डवोंके बारेमें सुना कि वे वायु और घामसे बहुत दुर्बल हो गए हैं और भयंकर दुःखके मुंह पडे हुए हैं, और वह वीरपत्नी द्रौपदी अनाथके समान क्लेशोंको भोग रही है ॥ ६ ॥

ततः कथां तस्य निशम्य राजा वैचित्रवीर्यः कृपयाभितप्तः ।
वने स्थितान्पार्थिवपुत्रपौत्राञ्श्रुत्वा तदा दुःखनदीं प्रपन्नान् ॥ ७ ॥
प्रोवाच दैन्याभिहतान्तरात्मा निःश्वासबाष्पोपहतः स पार्थान् ।
वाचं कथंचित्स्थिरतामुपेत्य तत्सर्वमात्मप्रभवं विचिन्त्य ॥ ८ ॥

तब उस कथाको सुनकर महाराज विचित्रवीर्यके पुत्र धृतराष्ट्रको बहुत दया आई और वे संताप करने लगे । राजाके पुत्र और पौत्र पाण्डवोंको इस प्रकार वनमें दुःखकी नदीमें बहते हुए सुनकर दुःखसे पीडित हृदयवाले होनेके कारण लम्बी सांस लेकर महाराज इस सब कर्मको अपने कर्मका फल जानकर बहुत दुःखी हुए; परन्तु किसी तरह अपनेको स्थिर करके बोले ॥ ७-८ ॥

कथं नु सत्यः शुचिरार्यवृत्तो ज्येष्ठः सुतानां मम धर्मराजः।
अजातशत्रुः पृथिवीतलस्थः शेते पुरा राङ्कवकूटशायी ॥ ९ ॥
जो पहले रंकु मृगके कोमल रोमोंवाली शय्यापर सोते थे, वे मेरे ज्येष्ठ पुत्र सत्यवादी, पवित्र, उत्तम कर्म करनेवाले, अजातशत्रु धर्मराज अब किस प्रकार पृथ्वीपर सोते होंगे ? ॥ ९ ॥

प्रबोध्यते मागधसूतपूगैर्नित्यं स्तुवद्भिः स्वयमिन्द्रकल्पः।
पतत्रिसंघैः स जघन्यरात्रे प्रबोध्यते नूनमिडातलस्थः ॥ १० ॥
जो इन्द्रके समान महाराज युधिष्ठिर पहले स्तुति करनेवाले सूत और वन्दियोंके समूहके द्वारा जगाये जाते; वे अब पृथ्वीपर सोते होंगे और उत्तररात्रिमें विविध पक्षियोंके शब्दसे जगाये जाते होंगे ॥ १० ॥

कथं नु वातातपकर्शिताङ्गो वृकोदरः कोपपरिप्लुताङ्गः।
शेते पृथिव्यामतथोचिताङ्गः कृष्णासमक्षं वसुधातलस्थः ॥ ११ ॥
महाक्रोधी भीमसेन वायु और घामसे दुबले हो गये होंगे। वे किस प्रकार द्रौपदीके सामने पृथ्वीपर सोते होंगे ? निश्चयसे भीमसेन इस दुःखके योग्य नहीं थे ॥ ११ ॥

तथार्जुनः सुकुमारो मनस्वी वशे स्थितो धर्मसुतस्य राज्ञः।
विदूयमानैरिव सर्वगात्रैर्ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ॥ १२ ॥
इसी प्रकार मनस्वी सुकुमार अर्जुन भी धर्मराजके वशमें होकर अपने दुःखी शरीरसे दुःख सहते होंगे और क्रोधके कारण सोते भी नहीं होंगे ॥ १२ ॥

यमौ च कृष्णां च युधिष्ठिरं च भीमं च दृष्ट्वा सुखविप्रयुक्तान्।
विनिःश्वसन्सर्प इवोग्रतेजा ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ॥ १३ ॥
नकुल, सहदेव, द्रौपदी, युधिष्ठिर और भीमको सुखसे भ्रष्ट देखकर महातेजस्वी अर्जुन सांपके समान क्रोधके सांस लेते होंगे और क्रोधके कारण सुखसे सोते भी नहीं होंगे ॥ १३ ॥

तथा यमौ चाप्यसुखौ सुखार्हौ समृद्धरूपावमरौ दिवीव।
प्रजागरस्थौ ध्रुवमप्रशान्तौ धर्मेण सत्येन च वार्यमाणौ ॥ १४ ॥
नकुल और सहदेव भी दुःख सहनेके योग्य नहीं हैं; परन्तु इस समय दुःख सह रहे हैं। वे स्वर्गके देवताओंके समान उत्तम रूपवाले हैं। वे निश्चयसे रात दिन जागते होंगे और शान्त नहीं होंगे, परन्तु सत्य और धर्मके वशमें होनेके कारण चुप हैं ॥ १४ ॥

समीरणेनापि समो बलेन समीरणस्यैव सुतो बलीयान्।
स धर्मपाशेन सितोग्रतेजा ध्रुवं विनिःश्वस्य सहत्यमर्षम् ॥ १५ ॥
वायुके पुत्र, वायुके समान वेगवाले, वायुके समान बलवान् भीमसेन धर्मराजाके धर्मपाशमें बन्धे हुए हैं, इसलिए वे भी लम्बी लम्बी सांस लेते हुए गुस्सेको पी जाते होंगे ॥ १५ ॥

स चापि भूमौ परिवर्तमानो वधं सुतानां मम काङ्क्षमाणः ।
सत्येन धर्मेण च वार्यमाणः कालं प्रतीक्षत्यधिको रणेऽन्यैः ॥ १६ ॥

वे पृथ्वीमें सोते हुए हमारे पुत्रोंके नाशकी इच्छा करते होंगे, परन्तु सत्य और धर्मके वशमें होकर कुछ कर नहीं सकते । वे अपने समयको बिता रहे हैं और युद्धका समय देख रहे हैं ॥ १६ ॥

अजातशत्रौ तु जिते निकृत्या दुःशासनो यत्परुषाण्यवोचत् ।
तानि प्रविष्टानि वृकोदराङ्गं दहन्ति मर्माग्निरिवेन्धनानि ॥ १७ ॥

जिस समय महाराज युधिष्ठिरको छलसे जीता था और दुःशासनने कठोर वचन कहे थे, वे सब भीमसेनके मर्ममें प्रविष्ट होकर उनके अंगोंको ऐसे जला रहे होंगे कि जिस प्रकार अग्नि ईंधनको जलाती है ॥ १७ ॥

न पापकं ध्यास्यति धर्मपुत्रो धनञ्जयश्चाप्यनुवर्तते तम् ।
अरण्यवासेन विवर्धते तु भीमस्य कोपोऽग्निरिवानिलेन ॥ १८ ॥

महाराज युधिष्ठिर कभी पापका ध्यान नहीं करेंगे; और अर्जुन भी उनका अनुसरण करते रहेंगे । पर वनमें रहनेसे भीमका क्रोध ऐसे बढेगा जैसे वायुसे अग्नि बढती है ॥ १८ ॥

स तेन कोपेन विदीर्यमाणः करं करेणाभिनिपीड्य वीरः ।
विनिःश्वसत्युष्णमतीव घोरं दहन्निवेमान्मम पुत्रपौत्रान् ॥ १९ ॥

भीमसेन उस क्रोधसे जलकर हाथसे हाथको मलते होंगे । वे हमारे पुत्र और पोतोंके मारनेका विचार करते और घोर तथा गरम गरम सांस लेते होंगे ॥ १९ ॥

गाण्डीवधन्वा च वृकोदरश्च संरम्भिणावन्तककालकल्पौ ।
न शेषयेतां युधि शत्रुसेनां शरान्किरन्तावशनिप्रकाशान् ॥ २० ॥

गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन और भीमसेन काल और यमराजके समान क्रोधी हैं । वज्रके समान बाणोंको बरसाते हुए वे दोनों युद्धमें शत्रुओंकी सेनाका कुछ भी शेष नहीं रखेंगे अर्थात् उनका पूर्णतया संहार कर देंगे ॥ २० ॥

दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रो दुःशासनश्चापि सुमन्दचेताः ।
मधु प्रपश्यन्ति न तु प्रपातं वृकोदरं चैव धनंजयं च ॥ २१ ॥

दुर्योधन, शकुनी, सूतपुत्र कर्ण और दुःशासन ये सब महामूर्ख हैं । ये लोग केवल शहदको देखते हैं उसके नीचे बहनेवाले झरनेको नहीं; अर्थात् वे केवल अपने प्रयोजनको देखते हैं हानिको नहीं; और न ये भीम और अर्जुनको ही देखते हैं ॥ २१ ॥

शुभाशुभं पुरुषः कर्म कृत्वा प्रतीक्षते तस्य फलं स्म कर्ता ।
स तेन युज्यत्यवशः फलेन मोक्षः कथं स्यात्पुरुषस्य तस्मात् ॥ २२ ॥

कर्ता पुरुष शुभ और अशुभ कर्म करके उनके फलका मार्ग देखता है; फिर उनका फल पाकर बेबस होकर वह उनसे संयुक्त होता है; फिर उस पुरुषको मोक्ष कैसे मिल सकता है? ॥२२॥

क्षेत्रे सुकृष्टे ह्युपिते च बीजे देवे च वर्षत्यृतुकालयुक्तम् ।
न स्यात्फलं तस्य कुतः प्रसिद्धिरन्यत्र दैवादिति चिन्तयामि ॥ २३ ॥

मैं सोचता हूँ जब खेत अच्छी प्रकारसे जोता जाये, फिर बीज बोया जाये, पश्चात् समयपर जल भी वर्षे, फिर भी यदि उसमें अन्न उत्पन्न हो, तो इसमें भाग्यके सिवा और कौनसा कारण हो सकता है? ॥ २३ ॥

कृतं मताक्षेण यथा न साधु साधुप्रवृत्तेन च पाण्डवेन
मया च दुष्पुत्रवशानुगेन यथा कुरूणामयमन्तकालः ॥ २४ ॥

जो अच्छा कर्म नहीं था, उसे ही शकुनिने किया, परन्तु उत्तम कर्म करनेवाले युधिष्ठिरने उस समय भी अच्छा कर्म किया और मैंने भी अपने दुष्ट पुत्रके वशमें होकर ऐसा कुकर्म किया, जिसके कारण कुरुवंशका यह अन्तिम समय आ गया है ॥ २४ ॥

ध्रुवं प्रवास्यत्यसमीरितोऽपि ध्रुवं प्रजास्यत्युत गर्भिणी या ।
ध्रुवं दिनादौ रजनीप्रणाशस्तथा क्षपादौ च दिनप्रणाशः ॥ २५ ॥

निश्चयसे हवा बहेगी ही, चाहे उसे कोई चलावे वा न चलावे। गर्भिणी भी सन्तान अवश्य उत्पन्न करती ही है। निश्चयसे दिन होनेसे रात्रिका नाश और रात्रि होनेसे दिनका नाश होगा ही ॥ २५ ॥

क्रियेत कस्मान्न परे च कुर्युर्वित्तं न दद्युः पुरुषाः कथंचित् ।
प्राप्यार्थकालं च भवेदनर्थः कथं नु तत्स्यादिति तत्कुतः स्यात् ॥ २६ ॥

ज्ञान हो जानेपर हम न करने योग्य काम किस तरह करेंगे? दूसरे लोग भी न करें। ज्ञान हो जानेपर मनुष्य अपना धन क्यों न देंगे? जो धन यथायोग्य समयपर उचित रीतिसे उपयोगमें नहीं लाया जाता, वह धन अनर्थका हेतु बन जाता है। अतः मनुष्य इस बातका विचार करे कि धनका सदुपयोग कहां और किस रीतिसे हो सकता है ॥ २६ ॥

कथं न भिद्येत न च स्रवेत न च प्रसिच्येदिति रक्षितव्यम् ।
अरक्ष्यमाणः शतधा विशीर्येद् ध्रुवं न नाशोऽस्ति कृतस्य लोके ॥ २७ ॥

यदि धनको यथायोग्य रीतिसे बांटा न जाए, तो वह नष्ट क्यों न हो जाए, अथवा फूटे घडेके जलकी तरह चू क्यों न जाए, अथवा विलीन क्यों न हो जाए? इसलिए इन सबसे बचानेके लिए धनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिए। क्योंकि रक्षा न करनेसे वह सहस्रों मार्ग बनाकर निकल जाता है। किये हुए कर्मका फल नष्ट नहीं होता, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ २७ ॥

गतो ह्यरण्यादपि शक्रलोकं धनंजयः पश्यत वीर्यमस्य ।
अस्त्राणि दिव्यानि चतुर्विधानि ज्ञात्वा पुनर्लोकमिमं प्रपन्नः ॥ २८ ॥

इस अर्जुनका बल देखो, यह वनसे इन्द्रलोक हो आये; और वहांसे चार प्रकारके दिव्य शस्त्र सीखकर पुनः इस लोकमें लौट आये ॥ २८ ॥

स्वर्गं हि गत्वा सशरीर एव को मानुषः पुनरागन्तुमिच्छेत् ।
अन्यत्र कालोपहताननेकान्समीक्षमाणस्तु कुरून्मुमूर्षून् ॥ २९ ॥

ऐसा कौन पुरुष है, जो इसी शरीरसे स्वर्गमें जाये और फिर लौटकर आनेकी इच्छा करे? अर्जुनके स्वर्गसे लौट आनेका कारण इसके सिवाय और क्या हो सकता है कि कालसे प्रेरित होकर ये कौरव मरनेकी इच्छा कर रहे हैं और अर्जुन भी यह सब देख रहे हैं ॥ २९ ॥

धनुर्ग्राहश्चार्जुनः सव्यसाची धनुश्च तद्गाण्डिवं लोकसारम् ।
अस्त्राणि दिव्यानि च तानि तस्य त्रयस्य तेजः प्रसहेत को नु ॥ ३० ॥

धनुषधारी सव्यसाची अर्जुन, वह लोकोंका नाश करनेवाला गाण्डीव धनुष और वे अर्जुनके दिव्य अस्त्र इन तीनोंका तेज इस लोकमें कौन सह सकता है? ॥ ३० ॥

निशम्य तद्वचनं पार्थिवस्य दुर्योधनो रहिते सौबलश्च ।
अबोधयत्कर्णमुपेत्य सर्वं स चाप्यहृष्टोऽभवदल्पचेताः ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥ ७२६३ ॥

राजाके यह वचन सुनकर दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनीने एकान्तमें कर्णके पास जाकर उससे सब कह सुनाया और वह मूर्ख भी यह सुनकर बहुत ही दुःखी हुआ ॥ ३१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ पच्चीसवां अध्याय समाप्त ॥ २२५ ॥ ७२६३ ॥

: २४६ :

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्य तद्वाक्यं निशम्य सहसौबलः ।
दुर्योधनमिदं काले कर्णो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! महाराज धृतराष्ट्रके ऐसे वचन सुनकर कर्णके साथ शकुनीने दुर्योधनसे ऐसा कहा ॥ १ ॥

प्रव्राज्य पाण्डवान्वीरान्स्वेन वीर्येण भारत ।
भुङ्क्ष्वेमां पृथिवीमेको दिवं शम्बरहा यथा ॥ २ ॥

हे भारत ! आपने अपने बलसे वीर पाण्डवोंको वनवास दिया, अब इस समस्त पृथ्वीका इस प्रकार भोग कीजिए जैसे शम्बरासुरको मारनेवाले इन्द्र स्वर्गका भोग करते हैं ॥ २ ॥

प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च प्रतीच्योदीच्यवासिनः ।
कृताः करप्रदाः सर्वे राजानस्ते नराधिप ॥ ३ ॥

हे नरनाथ ! पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणके रहनेवाले सब राजा आपको कर देनेवाले बना दिए हैं ॥ ३ ॥

या हि सा दीप्यमानेव पाण्डवान्भजते पुरा ।
साद्य लक्ष्मीस्त्वया राजन्नवाप्ता भ्रातृभिः सह ॥ ४ ॥

जो प्रकाशमान् लक्ष्मी पहिले पाण्डवोंके पास थी, उसी लक्ष्मीको, हे राजन् ! अब आपने भाइयोंके सहित प्राप्त की है ॥ ४ ॥

इन्द्रप्रस्थगते यां तां दीप्यमानां युधिष्ठिरे ।
अपश्याम श्रियं राजन्नचिरं शोककर्शिताः ॥ ५ ॥

हे राजन् ! हम लोगोंने जो लक्ष्मी इंद्रप्रस्थमें युधिष्ठिरके पास देखी थी, उसी लक्ष्मीको शोकसे कृश हुए हमने शीघ्र ही आपके पास देख ली है ॥ ५ ॥

सा तु बुद्धिबलेनेयं राज्ञस्तस्माद्युधिष्ठिरात् ।
त्वयाक्षिप्ता महाबाहो दीप्यमानेव दृश्यते ॥ ६ ॥

हे महाबाहो ! आपने अपनी बुद्धि और बलसे यह लक्ष्मी उस राजा युधिष्ठिरसे जबर्दस्ती छीन ली है और वह अब आपके पास तेजयुक्त दिखाई देती है ॥ ६ ॥

तथैव तव राजेन्द्र राजानः परवीरहन् ।
शासनेऽधिष्ठिताः सर्वे किं कुर्म इति वादिनः ॥ ७ ॥

हे शत्रुनाशक राजन् ! आज सब राजालोग आपके वशमें हैं । आपके अधीन होकर वे सब यही कहते हैं कि 'हे महाराज ! हम आपके आज्ञापालक हैं; कहिये, हम कौनसा काम करें' ॥ ७ ॥

तवाद्य पृथिवी राजन्निखिला सागराम्बरा।
सपर्वतवना देवी सग्रामनगराकरा।
नानावनोद्देशवती पत्तनैरुपशोभिता ॥ ८ ॥

हे राजन्! आज समुद्र, पर्वत, वन, गांव, नगर और खानोंके सहित सब पृथ्वी आपके वशमें है ॥ ८ ॥

वन्द्यमानो द्विजै राजन्पूज्यमानश्च राजभिः।
पौरुषाद्दिवि देवेषु भ्राजसे रश्मिवानिव ॥ ९ ॥

जिसप्रकार द्युलोकमें स्थित सूर्य देवोंमें प्रकाशित होता है; उसी प्रकार, हे राजन्! आप ब्राह्मणोंसे वन्दित और राजाओंसे पूजित होकर प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ९ ॥

रुद्रैरिव यमो राजा मरुद्भिरिव वासवः।
कुरुभिस्त्वं वृतो राजन्भासि नक्षत्रराडिव ॥ १० ॥

जैसे रुद्रोंमें राजा यम, मरुतोंमें इन्द्र और तारोंके बीचमें चन्द्रमा प्रकाशित होता है, वैसे ही हे राजन्! कुरुवंशियोंके बीचमें आप विराजमान् हैं ॥ १० ॥

ये स्म ते नाद्रियन्तेऽऽज्ञां नोद्विजन्ते कदा च न।
पश्यामस्ताञ्श्रिया हीनान्पाण्डवान्वनवासिनः ॥ ११ ॥

जो मूर्ख आपका आदर नहीं करते थे और जो कभी भी आपसे भय नहीं खाते थे उन्हीं पाण्डवोंको आज लक्ष्मीसे रहित होकर वनमें रहते हुए हम देख रहे हैं ॥ ११ ॥

श्रूयन्ते हि महाराज सरो द्वैतवनं प्रति।
वसन्तः पाण्डवाः सार्धं ब्राह्मणैर्वनवासिभिः ॥ १२ ॥

हे महाराज! हम लोगोंने सुना है कि पाण्डव वनवासी ब्राह्मणोंके साथ द्वैतवनमें एक तलाबके तटपर रहते हैं ॥ १२ ॥

स प्रयाहि महाराज श्रिया परमया युतः।
प्रतपन्पाण्डुपुत्रांस्त्वं रश्मिवानिव तेजसा ॥ १३ ॥

हे महाराज! आप अपनी लक्ष्मीसे तथा सूर्यके समान तेजसे युक्त होकर पाण्डवोंको पीडा देनेके लिये द्वैतवनको चलिये ॥ १३ ॥

स्थितो राज्ये च्युतान्राज्याच्छ्रिया हीनाञ्श्रिया वृतः।
असमृद्धान्समृद्धार्थः पश्य पाण्डुसुतान्नृप ॥ १४ ॥

हे नरनाथ! आप राज्यमें स्थित हैं; पाण्डव राज्यसे भ्रष्ट हैं, आप लक्ष्मीसे युक्त हैं; वे लक्ष्मीसे हीन हैं, आप धनादिसे समृद्ध हैं और पाण्डव समृद्धिसे रहित हैं। ऐसे पाण्डवोंको आप चलकर देखिये ॥ १४ ॥

महाभिजनसंपन्नं भद्रे महति संस्थितम्।
पाण्डवास्त्वाभिवीक्षन्तां ययातिमिव नाहुषम् ॥ १५ ॥

नहुषपुत्र ययातिके समान लक्ष्मीसे सम्पन्न और उत्तम उत्तम पुरुषोंसे घिरे हुए आपको पाण्डव देखें ॥ १५ ॥

यां श्रियं सुहृदश्चैव दुर्हृदश्च विशां पते।
पश्यन्ति पुरुषे दीप्तां सा समर्था भवत्युत ॥ १६ ॥

हे प्रजानाथ ! पुरुषमें प्रकाशमान जिस लक्ष्मीको शत्रु और मित्र देखते हैं, वही कार्य करनेमें समर्थ होती है ॥ १६ ॥

समस्थो विषमस्थान्हि दुर्हृदो योऽभिवीक्षते।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः किं ततः परमं सुखम् ॥ १७ ॥

जिस प्रकार पहाडपर खडा हुआ एक आदमी भूमिपर खडे हुए मनुष्योंको छोटा देखता है, उसी प्रकार जब एक मनुष्य स्वयं ऐश्वर्य सम्पन्न होकर अपने शत्रुओंको ऐश्वर्यरहित देखता है, तब उसे इससे अधिक सुख और क्या हो सकता है ? ॥ १७ ॥

न पुत्रधनलाभेन न राज्येनापि विन्दति।
प्रीतिं नृपतिशार्दूल याममित्राघदर्शनात् ॥ १८ ॥

हे राजश्रेष्ठ ! मनुष्यको पुत्र धन और राज्यके प्राप्त होनेसे भी इतना सुख नहीं होता, जितना कि अपने शत्रुओंको दुःखमें पडा हुआ देखनेसे होता है ॥ १८ ॥

किं नु तस्य सुखं न स्यादाश्रमे यो धनंजयम्।
अभिवीक्षेत सिद्धार्थो वल्कलाजिनवाससम् ॥ १९ ॥

जो स्वयं धनवान् होकर आश्रममें बैठे हुए और मुनियोंके वस्त्र पहने हुए अर्जुनको दुःखी देख ले, उसके लिए उससे बढकर सुख और क्या हो सकता है ? ॥ १९ ॥

सुवाससो हि ते भार्या वल्कलाजिनवाससम्।
पश्यन्त्वसुखितां कृष्णां सा च निर्विद्यतां पुनः।
विनिन्दतां तथात्मानं जीवितं च धनच्युता ॥ २० ॥

आपकी सभी स्त्रियां उत्तम वस्त्र पहनकर वहां जाएं और वहां वल्कल तथा मृगचर्म पहने तथा दुःखमें पडी हुई द्रौपदीको देखें, ताकि ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हुई वह द्रौपदी और अधिक दुःखी हो तथा अपनी और अपने जीवनकी निन्दा करे ॥ २० ॥

न तथा हि सभामध्ये तस्या भवितुमर्हति ।
वैमनस्यं यथा दृष्ट्वा तव भार्याः स्वलङ्कृताः ॥ २१ ॥

भरी सभामें अपमानित होनेपर भी द्रौपदीको इतना दुःख नहीं हुआ होगा, जितना कि अब गहनोंसे सजी हुई आपकी स्त्रियोंको देखकर उसे होगा ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा तु राजानं कर्णः शकुनिना सह ।
तूष्णीं बभूवतुरुभौ वाक्यान्ते जनमेजय ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥ ७९८५ ॥

हे राजन् जनमेजय ! राजा दुर्योधनसे ऐसे वचन कहकर शकुनि और कर्ण दोनों चुप हो गए ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ छब्बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २२६ ॥ ७९८५ ॥

: २२७ :

वैशम्पायन उवाच

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
हृष्टो भूत्वा पुनर्दीन इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तब कर्णके वचन सुनकर राजा दुर्योधन पहले तो बहुत प्रसन्न हुए और फिर दीन होकर यह वचन बोले ॥ १ ॥

ब्रवीषि यदिदं कर्ण सर्वं मे मनसि स्थितम् ।
न त्वभ्यनुज्ञां लप्स्यामि गमने यत्र पाण्डवाः ॥ २ ॥

हे कर्ण ! तुमने जो कुछ यह कहा सो सब मेरे मनमें भी है, परन्तु जहां पाण्डव हैं, वहां जानेकी आज्ञा महाराज मुझे नहीं देंगे ॥ २ ॥

परिदेवति तान्वीरान्धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
मन्यतेऽभ्यधिकांश्चापि तपोयोगेन पाण्डवान् ॥ ३ ॥

महाराज धृतराष्ट्र उन वीर पाण्डवोंके निमित्त रोया करते हैं और तपके कारण उनको हम लोगोंसे अधिक मानते हैं ॥ ३ ॥

अथ वाप्यनुबुध्येत नृपोऽस्माकं चिकीर्षितम् ।
एवमप्यायतिं रक्षन्नाभ्यनुज्ञातुमर्हति ॥ ४ ॥

यदि महाराज जान जायेंगे कि हम वहां जाकर क्या करना चाहते हैं, तो वे आनेवाले समयकी रक्षा करनेके लिये हमें कदापि आज्ञा न देंगे ॥ ४ ॥

न हि द्वैतवने किंचिद्विद्यतेऽन्यत्प्रयोजनम् ।
उत्सादनमृते तेषां वनस्थानां मम द्विषाम् ॥ ५ ॥

मेरे शत्रु वनवासी पाण्डवोंके दुःख देनेके सिवा द्वैतवनमें हम लोगोंको और कोई काम नहीं है ॥ ५ ॥

जानासि हि यथा क्षत्ता द्यूतकाल उपस्थिते ।
अब्रवीद्यच्च मां त्वां च सौबलं च वचस्तदा ॥ ६ ॥

तुम जानते हो कि जुएके समय विदुरने मुझसे तुमसे और शकुनिसे कैसे कैसे वचन कहे थे ॥ ६ ॥

तानि पूर्वाणि वाक्यानि यच्चान्यत्परिदेवितम् ।
विचिन्त्य नाधिगच्छामि गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥

पहले कहे गए उन सब वचनोंका और राजाके रोनेका विचार कर मैं चलने या न चलनेके बारेमें कुछ निश्चय नहीं कर पाता ॥ ७ ॥

ममापि हि महान्हर्षो यदहं भीमफल्गुनौ ।
क्लिष्टावरण्ये पश्येयं कृष्णया सहिताविति ॥ ८ ॥

यदि मैं भीम और अर्जुनको द्रौपदीके साथ वनमें दुःख पाता हुआ देखूं, तो मुझे भी बहुत हर्ष हो ॥ ८ ॥

न तथा प्राप्नुयां प्रीतिमवाप्य वसुधामपि ।
दृष्ट्वा यथा पाण्डुसुतान्वल्कलाजिनवाससः ॥ ९ ॥

वल्कल और मृगचर्म पहने हुए पाण्डुपुत्रोंको देखकर मुझे जितना हर्ष होगा, उतना हर्ष मुझे संभवतः सम्पूर्ण पृथ्वीको प्राप्त करके भी न होगा ॥ ९ ॥

किं नु स्यादधिकं तस्माद्यदहं द्रुपदात्मजाम् ।
द्रौपदीं कर्ण पश्येयं काषायवसनां वने ॥ १० ॥

हे कर्ण ! इससे और अधिक सुख क्या होगा जो मैं द्रुपदकी पुत्री द्रौपदीको गेरुआ वस्त्र पहिने हुए वनमें बैठे हुए देखूंगा ? ॥ १० ॥

यदि मां धर्मराजश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ।
युक्तं परमया लक्ष्म्या पश्येतां जीवितं भवेत् ॥ ११ ॥

हे कर्ण ! मुझे इससे अधिक और क्या सुख होगा कि जो मुझे धर्मराज युधिष्ठिर और भीमसेन परम लक्ष्मीसे युक्त हुआ देखें ? ॥ ११ ॥

उपायं न तु पश्यामि येन गच्छेम तद्वनम् ।
यथा चाभ्यनुजानीयाद्गच्छन्तं मां महीपतिः　　　॥ १२ ॥

परन्तु मुझे द्वैतवनमें जानेका कोई उपाय नहीं दीखता, तथा कोई भी ऐसा उपाय नहीं है कि जिससे राजा मुझे वनमें जानेकी अनुमति दें ॥ १२ ॥

स सौबलेन सहितस्तथा दुःशासनेन च ।
उपायं पश्य निपुणं येन गच्छेम तद्वनम्　　　॥ १३ ॥

इसलिये तुम दुःशासन और शकुनिके सहित कोई ऐसा उत्तम उपाय खोज निकालो कि जिससे हम लोग वनको जा सकें ॥ १३ ॥

अहमप्यद्य निश्चित्य गमनायेतराय वा ।
काल्यमेव गमिष्यामि समीपं पार्थिवस्य ह　　　॥ १४ ॥

मयि तत्रोपविष्टे तु भीष्मे च कुरुसत्तमे ।
उपायो यो भवेद्दृष्टस्तं ब्रूयाः सहसौबलः　　　॥ १५ ॥

मैं भी आज वनमें जाने या न जानेका विचार करके प्रातःकाल ही महाराजके पास जाऊंगा। कल सभामें जब कुरुश्रेष्ठ भीष्म तथा मैं बैठे होऊं, तब तुमने सुबलपुत्र शकुनिके साथ जो उपाय सोचा हो, उसे आकर कहना ॥ १४-१५ ॥

ततो भीष्मस्य राज्ञश्च निशम्य गमनं प्रति ।
व्यवसायं करिष्येऽहमनुनीय पितामहम्　　　॥ १६ ॥

तब हमारे वन जानेके बारेमें भीष्म और महाराजके वचन सुनकर और भीष्मको मनाकर चलने या न चलनेका निश्चय करूंगा ॥ १६ ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे जग्मुरावसथान्प्रति ।
व्युषितायां रजन्यां तु कर्णो राजानमभ्ययात्　　　॥ १७ ॥

तदनन्तर सबने 'ऐसा ही होगा' कहकर राजाके वचनको स्वीकार किया और सब लोग अपने अपने घरको चले गए। प्रातःकाल होते ही कर्ण राजा दुर्योधनके पास आए ॥ १७ ॥

ततो दुर्योधनं कर्णः प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
उपायः परिदृष्टोऽयं तं निबोध जनेश्वर　　　॥ १८ ॥

और कर्ण हंसकर दुर्योधनसे यह कहने लगे, हे पृथ्वीनाथ! हमने एक उपाय सोचा है, उसको आप सुनिये ॥ १८ ॥

×

घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ १९ ॥

द्वैतवनमें गौ और ग्वाले रहते हैं, वे सब आपका मार्ग देख रहे होंगे, इसलिये गौओंको देखनेके बहाने हम निश्चयसे जा सकेंगे ॥ १९ ॥

उचितं हि सदा गन्तुं घोषयात्रां विशां पते।
एवं च त्वां पिता राजन्समनुज्ञातुमर्हति ॥ २० ॥

हे पृथ्वीनाथ ! आप उनसे कहना कि, हे महाराज ! 'गौ देखनेके लिए जाना हमारे लिए आवश्यक है,' तब वे आपको जानेकी आज्ञा देंगे ॥ २० ॥

तथा कथयमानौ तौ घोषयात्राविनिश्चयम्।
गान्धारराजः शकुनिः प्रत्युवाच हसन्निव ॥ २१ ॥

कर्ण और दुर्योधनके घोषयात्राकी बातें सुनकर गांधारराज शकुनि हंसकर बोले ॥ २१ ॥

उपायोऽयं मया दृष्टो गमनाय निरामयः।
अनुज्ञास्यति नो राजा चोदयिष्यति चाप्युत ॥ २२ ॥

मैंने इस उपायको बहुत उत्तम सोचा है; अब महाराज हम लोगोंको अवश्य जानेकी आज्ञा देंगे और ऊपरसे 'तुम अवश्य गौवोंको देखो' ऐसा कहकर वे तुम्हें जानेकी प्रेरणा भी देंगे ॥२२॥

घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥ २३ ॥

हे राजन् ! द्वैतवनमें सब ग्वाले तुम्हारी प्रतीक्षामें हैं। इस प्रकार घोषयात्राके बहानेसे हम निःसन्देह वहां जा सकेंगे ॥ २३ ॥

ततः प्रहसिताः सर्वे तेऽन्योन्यस्य तलान्ददुः।
तदेव च विनिश्चित्य ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥ ८००९ ॥

ऐसा निश्चय करके वे सब लोग एक दूसरेको ताली दे देकर हंसने लगे। तदनन्तर यह निश्चय करके वे सब राजा धृतराष्ट्रके पास गए ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ सत्ताईसवां अध्याय समाप्त ॥ २२७ ॥ ८००९ ॥

: २२८ :

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रं ततः सर्वे ददृशुर्जनमेजय ।
पृष्ट्वा सुखमथो राज्ञः पृष्टा राज्ञा च भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! वे सब महाराजके पास गए और जाकर उन सबने कुशल पूछी और राजाने भी उनसे कुशल प्रश्न किया ॥ १ ॥

ततस्तैर्विहितः पूर्वं समङ्गो नाम बल्लवः ।
समीपस्थास्तदा गावो धृतराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ २ ॥

तब उनके द्वारा पहलेसे ही सिखा पढाकर तैय्यार किये गये समंग नामक ग्वालेने कहा कि, हे महाराज ! आपकी सब गायें आजकल समीप ही हैं ॥ २ ॥

अनन्तरं च राधेयः शकुनिश्च विशां पते ।
आहतुः पार्थिवश्रेष्ठं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ३ ॥

इसके बाद, हे राजन् जनमेजय ! राजाओंमें श्रेष्ठ नरनाथ धृतराष्ट्रसे कर्ण और शकुनि कहने लगे ॥ ३ ॥

रमणीयेषु देशेषु घोषाः संप्रति कौरव ।
स्मारणासमयः प्राप्तो वत्सानामपि चाङ्कनम् ॥ ४ ॥

हे कुरुकुलश्रेष्ठ ! आजकल गाय बैल रमणीय वनमें हैं, उनको देखने तथा नवीन बछडोंको संख्या चिह्न देनेका समय भी आ गया है ॥ ४ ॥

मृगया चोचिता राजन्नस्मिन्काले सुतस्य ते ।
दुर्योधनस्य गमनं त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५ ॥

और, हे राजन् ! इस समय आपके पुत्रके लिए शिकार खेलना भी उचित है, इसलिये आप दुर्योधनको जानेकी आज्ञा दीजिये ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

मृगया शोभना तात गवां च समवेक्षणम् ।
विश्रम्भस्तु न गन्तव्यो बल्लवानामिति स्मरे ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले– हे तात ! शिकार खेलना तो उचित ही है, और गायोंकी देखभाल करना भी आवश्यक है, परन्तु ग्वालोंकी बातोंपर विश्वास करके कहीं नहीं जाना चाहिये । यह नीति-वचन मुझे स्मरण हो आया है ॥ ६ ॥

ते तु तत्र नरव्याघ्राः समीप इति नः श्रुतम् ।
अतो नाभ्यनुजानामि गमनं तत्र वः स्वयम् ॥ ७ ॥

क्योंकि हमने सुना है कि पुरुषसिंह पाण्डव भी वहीं कहीं पासमें हैं । इसलिये मैं तुम्हें वहां जानेकी अनुमति नहीं दे सकता ॥ ७ ॥

छद्मना निर्जितास्ते हि कर्शिताश्च महावने ।
तपोनित्याश्च राधेय समर्थाश्च महारथाः ॥ ८ ॥

हे राधापुत्र ! उन सब लोगोंको तुमने छलसे जीता है और वे लोग वनमें रहते रहते बहुत दुःखी हो गये हैं; वे नित्य ही तप करते हैं, पाण्डव सामर्थ्यवान् और महारथी हैं ॥ ८ ॥

धर्मराजो न संक्रुध्येद्भीमसेनस्त्वमर्षणः ।
यज्ञसेनस्य दुहिता तेज एव तु केवलम् ॥ ९ ॥

मुझे विश्वास है कि धर्मराज युधिष्ठिर कभी क्रोध नहीं करेंगे, परन्तु भीमसेन महाक्रोधी हैं और द्रुपदकी पुत्री तो साक्षात् अग्नि ही है ॥ ९ ॥

यूयं चाप्यपराध्येयुर्दर्पमोहसमन्विताः ।
ततो विनिर्दहेयुस्ते तपसा हि समन्विताः ॥ १० ॥

और तुम लोग अभिमानसे मोहित हो; इससे उनका अपराध अवश्य ही करोगे, तब वे तुम सब लोगोंको अपने तपसे भस्म कर देंगे ॥ १० ॥

अथ वा सायुधा वीरा मन्युनाभिपरिप्लुताः ।
सहिता बद्धनिस्त्रिंशा दहेयुः शस्त्रतेजसा ॥ ११ ॥

अथवा वे पांचों भाई शस्त्र धारण करके और कवच पहनकर क्रोध करेंगे तो तुम लोगोंको अपने अस्त्रोंके तेजसे भस्म कर देंगे ॥ ११ ॥

अथ यूयं बहुत्वात्तानारभध्वं कथंचन ।
अनार्यं परमं तत्स्यादशक्यं नच मे मतम् ॥ १२ ॥

यदि तुम सब लोग इकट्ठे होकर उनसे युद्ध करोगे तो बहुत बडा अधर्म होगा और उसपर भी जीत नहीं सकोगे ॥ १२ ॥

उषितो हि महाबाहुरिन्द्रलोके धनंजयः ।
दिव्यान्यस्त्राण्यवाप्याथ ततः प्रत्यागतो वनम् ॥ १३ ॥
अकृतास्त्रेण पृथिवी जिता बीभत्सुना पुरा ।
किं पुनः स कृतास्त्रोऽद्य न हन्याद्वो महारथः ॥ १४ ॥

महाबाहु अर्जुन इन्द्रलोकमें रहे हैं और सब दिव्य शस्त्रोंको सीखकर वनमें आये हैं। जब अर्जुनने शस्त्रविद्या नहीं सीखी थी, तभी उन्होंने सब पृथ्वीको जीत लिया था, फिर अब तो सब शस्त्रविद्या सीख ली है; तब वह महारथी अर्जुन अब तुम लोगोंको क्यों न मारेंगे ? ॥ १३-१४ ॥

अथ वा मद्वचः श्रुत्वा तत्र यत्ता भविष्यथ।
उद्विग्नवासो विश्रम्भाद्दुःखं तत्र भविष्यति ॥ १५ ॥

यदि तुम लोग मेरे वचन सुनकर वहां जाकर सावधानीसे रहोगे, तो भी महा दुःख उत्पन्न होगा, क्योंकि पाण्डव लोग वनवाससे घवडा रहे हैं ॥ १५ ॥

अथ वा सैनिकाः केचिदपकुर्युर्युधिष्ठिरे।
तदबुद्धिकृतं कर्म दोषमुत्पादयेच्च वः ॥ १६ ॥

अथवा तुम्हारी सेनाके कुछ पुरुष युधिष्ठिरकी कुछ हानि करेंगे तो वही मूर्खताके कर्म तुम्हें अपराधी बना देंगे ॥ १६ ॥

तस्माद्गच्छन्तु पुरुषाः स्मारणायाप्तकारिणः।
न स्वयं तत्र गमनं रोचये तव भारत ॥ १७ ॥

हे दुर्योधन ! इसलिये हमारी यह इच्छा नहीं है कि तुम स्वयं वहां जाओ। तुम्हारे अन्य उत्तम पुरुष गौ और बैलोंकी संख्या करनेको जायें ॥ १७ ॥

शकुनिरुवाच

धर्मज्ञः पाण्डवो ज्येष्ठः प्रतिज्ञातं च संसदि।
तेन द्वादश वर्षाणि वस्तव्यानीति भारत ॥ १८ ॥

शकुनि बोला– हे महाराज ! युधिष्ठिर धर्मको जाननेवाले हैं, और उन्होंने सभामें प्रतिज्ञा की है, अतः, हे भारत ! उन्हें बारह वर्ष वनमें रहना ही पडेगा ॥ १८ ॥

अनुवृत्ताश्च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः।
युधिष्ठिरश्च कौन्तेयो न नः कोपं करिष्यति ॥ १९ ॥

सब पाण्डव धर्मात्मा और उत्तम कार्य करनेवाले हैं; अतः कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर हम लोगोंपर कभी क्रोध नहीं करेंगे ॥ १९ ॥

मृगयां चैव नो गन्तुमिच्छा संवर्धते भृशम्।
स्मारणं च चिकीर्षामो न तु पाण्डवदर्शनम् ॥ २० ॥

हम लोगोंकी इच्छा आखेट खेलनेकी ही है; हम केवल गौ और बछडोंको गिनने जाते हैं; हम पाण्डवोंका दर्शन नहीं करना चाहते ॥ २० ॥

न चानार्यसमाचारः कश्चित्तत्र भविष्यति।
न च तत्र गमिष्यामो यत्र तेषां प्रतिश्रयः ॥ २१ ॥

हम लोग वहां जाकर कोई अनर्थ नहीं करेंगे और न उस जगहपर ही जायेंगे कि जहां पाण्डवोंका निवास है ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
दुर्योधनं सहामात्यमनुजज्ञे न कामतः ॥ २२ ॥

वैशम्पायन बोले– शकुनिके ऐसे वचन सुनकर महाराज धृतराष्ट्रने मन्त्रियोंके सहित दुर्योधन-को वन जानेकी आज्ञा तो दे दी; परन्तु प्रसन्न होकर जानेको नहीं कहा ॥ २२ ॥

अनुज्ञातस्तु गान्धारिः कर्णेन सहितस्तदा ।
निर्ययौ भरतश्रेष्ठो बलेन महता वृतः ॥ २३ ॥
दुःशासनेन च तथा सौबलेन च देविना ।
संवृतो भ्रातृभिश्चान्यैः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ॥ २४ ॥

इसप्रकार आज्ञा पाकर भरतकुलमें श्रेष्ठ गान्धारीके पुत्र दुर्योधन कर्ण, दुःशासन जुआरी शकुनि अपने दूसरे भाई तथा हजारों स्त्रियोंके साथ बहुत बडी सेनासे घिरकर वनके लिए चल पडे ॥ २३-२४ ॥

तं निर्यान्तं महाबाहुं द्रष्टुं द्वैतवनं सरः ।
पौराश्चानुययुः सर्वे सहदारा वनं च तत् ॥ २५ ॥

जब महाबाहु दुर्योधन द्वैतवनमें तालाब देखनेको चले, तब नगरनिवासी लोग भी स्त्रियोंके सहित उस वनके लिए उनके पीछे चले ॥ २५ ॥

अष्टौ रथसहस्राणि त्रीणि नागायुतानि च ।
पत्तयो बहुसाहस्रा हयाश्च नवतिः शताः ॥ २६ ॥

दुर्योधनके साथ आठ हजार रथ, तीस हजार हाथी, नौ हजार घोडे और हजारों पैदल चले ॥ २६ ॥

शकटापणवेश्याश्च वणिजो वन्दिनस्तथा ।
नराश्च मृगयाशीलाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २७ ॥

महाराज दुर्योधनके साथ छकडे, बाजार, वेश्यायें, वनिये, भाट, और सैकडों सहस्रों आखेट करनेवाले पुरुष भी चले ॥ २७ ॥

ततः प्रयाणे नृपतेः सुमहानभवत्स्वनः ।
प्रावृषीव महावायोरुद्धतस्य विशां पते ॥ २८ ॥

हे प्रजापालक जनमेजय ! दुर्योधनके चलनेके समय ऐसा घोर शब्द हुआ, जैसा वर्षाकालमें घोर वायुका शब्द होता है ॥ २८ ॥

गव्यूतिमात्रे न्यवसद्राजा दुर्योधनस्तदा ।
प्रयातो वाहनैः सर्वैस्ततो द्वैतवनं सरः ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥ ८०३८ ॥

उस समय उन सब वाहनोंके साथ द्वैतवनको जाते हुए दुर्योधनने दो कोसपर डेरा डाला ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ अट्ठाइसवां अध्याय समाप्त ॥ २२८ ॥ ८०३८ ॥

२२९

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनो राजा तत्र तत्र वने वसन् ।
जगाम घोषानभितस्तत्र चक्रे निवेशनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! राजा दुर्योधन इस प्रकारसे जहां तहां वनमें रहते हुए अपनी गोशालाके पास पहुंचे और उस गौशालाके चारों ओर अपने डेरे लगा दिए ॥१॥

रमणीये समाज्ञाते सोदके समहीरुहे ।
देशे सर्वगुणोपेते चक्रुरावसथं नराः ॥ २ ॥

अत्यन्त रमणीय जल, वृक्ष और सब गुणोंसे भरे हुए स्थानमें मनुष्योंने डेरा डाला ॥ २ ॥

तथैव तत्समीपस्थान्पृथगावसथान्बहून् ।
कर्णस्य शकुनेश्चैव भ्रातॄणां चैव सर्वशः ॥ ३ ॥

महाराज दुर्योधनके पास ही कर्ण, शकुनि और उनके सब भाइयोंके अलग अलग डेरे डले ॥३॥

ददर्श स तदा गावः शतशोऽथ सहस्रशः ।
अङ्कैर्लक्षैश्च ताः सर्वा लक्षयामास पार्थिवः ॥ ४ ॥

तदनन्तर दुर्योधनने सैंकडों और हजारों गौवोंको देखा और उन सबको अंक और चिन्होंसे चिन्हित होते हुए भी देखा ॥ ४ ॥

अङ्कयामास वत्सांश्च जज्ञे चोपसृतास्त्वपि ।
बालवत्साश्च या गावः कालयामास ता अपि ॥ ५ ॥

नवीन बछडोंको संख्या चिन्ह दिये और पुराने बछडोंको भी गिना और फिर उस गिनतीको नई गिनतीसे मिलाया । जिन गौओंके नीचे छोटे छोटे बछडे थे, उनकी गिनती अलग अलग की ॥ ५ ॥

अथ स स्मारणं कृत्वा लक्षयित्वा त्रिहायनान्।
वृतो गोपालकैः प्रीतो व्यहरत्कुरुनन्दनः ॥ ६ ॥

उनमें जो तीन वर्षके बछडे थे उनको भी चिन्हितकर वहीं छोड दिया। तदनन्तर कुरुकुल-श्रेष्ठ दुर्योधन ग्वालोंसे घिरकर वहीं घूमने लगे ॥ ६ ॥

स च पौरजनः सर्वः सैनिकाश्च सहस्रशः।
यथोपजोषं चिक्रीडुर्वने तस्मिन्यथामराः ॥ ७ ॥

उसके बाद दुर्योधनके साथवाले नगरनिवासी और सेनाके लोग उस वनमें इच्छानुसार देवोंके समान खेलने लगे ॥ ७ ॥

ततो गोपाः प्रगातारः कुशला नृत्तवादिते।
धार्तराष्ट्रमुपातिष्ठन्कन्याश्चैव स्वलङ्कृताः ॥ ८ ॥

तदनन्तर गानेवाले और नाचनेवाले ग्वाले और उनकी कन्यायें आभूषण पहनकर दुर्योधनके पास आईं ॥ ८ ॥

स स्त्रीगणवृतो राजा प्रहृष्टः प्रददौ वसु।
तेभ्यो यथार्हमन्नानि पानानि विविधानि च ॥ ९ ॥

तब राजाने स्त्रियोंके सहित प्रसन्न होकर उन सबको उचित धन भोजन और अनेक प्रकारकी पीनेकी वस्तु दी ॥ ९ ॥

ततस्ते सहिताः सर्वे तरक्षून्महिषान्मृगान्।
गवयर्क्षवराहांश्च समन्तात्पर्यकालयन् ॥ १० ॥

तब उन सब ग्वालोंने राजा दुर्योधनके लिये भैंसे, रीछ, हरिन, नीलगाय और वराहोंको घेरा ॥ १० ॥

स ताञ्शरैर्विनिर्भिन्दन्गजान्बध्नन्महावने।
रमणीयेषु देशेषु ग्राहयामास वै मृगान् ॥ ११ ॥

तब उस रमणीय वनमें दुर्योधनने अपने बाणोंसे हाथी आदि अनेक जन्तुओंको मारा और हरिनोंको पकडवाया ॥ ११ ॥

गोरसानुपयुञ्जान उपभोगांश्च भारत ।
पश्यन्सुरमणीयानि पुष्पितानि वनानि च ॥ १२ ॥
मत्तभ्रमरजुष्टानि बर्हिणाभिरुतानि च ।
अगच्छदानुपूर्व्येण पुण्यं द्वैतवनं सरः ।
ऋद्ध्या परमया युक्तो महेन्द्र इव वज्रभृत् ॥ १३ ॥

हे भारत ! इस प्रकार दूध दहीका भोजन करते हुए तथा अन्य वस्तुओंका उपयोग करते हुए और फूलोंसे खिले हुए सुन्दर वनको देखते हुए मत्तवाले भौंरों और मोरोंके शब्द सुनते हुए वज्रको धारण करनेवाले इन्द्रके समान उत्तम ऋद्धिसे युक्त दुर्योधन क्रमसे पवित्र द्वैतवनमें पहुंचे ॥ १२-१३ ॥

यदृच्छया च तदहो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ईजे राजर्षियज्ञेन सद्यस्केन विशां पते ।
दिव्येन विधिना राजा वन्येन कुरुसत्तमः ॥ १४ ॥

उस दिन कुरुकुलश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर बारह दिनका राजर्षि यज्ञ कर रहे थे । उस यज्ञको कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने दिव्य पर वनविधिसे आरंभ किया था ॥ १४ ॥

कृत्वा निवेशमभितः सरसस्तस्य कौरवः ।
द्रौपद्या सहितो धीमान्धर्मपत्न्या नराधिपः ॥ १५ ॥

बुद्धिमान् पृथ्वीनाथ महाराज युधिष्ठिरने द्रौपदी और अपने भाइयोंके सहित उसी तडागपर यज्ञ आरम्भ किया था ॥ १५ ॥

ततो दुर्योधनः प्रेष्यानादिदेश सहानुजः ।
आक्रीडावसथाः क्षिप्रं क्रियन्तामिति भारत ॥ १६ ॥

हे भारत ! उसी समय दुर्योधनने छोटे भाइयोंके साथ अपने सहस्रों सेवकोंको आज्ञा दी कि तुम लोग शीघ्र विहार करनेके लिये स्थान ढूंढो ॥ १६ ॥

ते तथेत्येव कौरव्यमुक्त्वा वचनकारिणः ।
चिकीर्षन्तस्तदाक्रीडाञ्जग्मुर्द्वैतवनं सरः ॥ १७ ॥

दुर्योधनकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले वे सब 'ऐसा ही होगा' इसप्रकार कुरुराज दुर्योधनसे कहकर स्वीकार करके स्थान ढूंढनेके लिये उसी द्वैतवनके तालावकी ओर गए ॥ १७ ॥

सेनाग्रं धार्तराष्ट्रस्य प्राप्तं द्वैतवनं सरः ।
प्रविशन्तं वनद्वारि गन्धर्वाः समवारयन् ॥ १८ ॥

जब सेनाके अग्रभागने द्वैतवन सरोवरके पास आकर वनमें प्रवेश किया, तब वनके मुहानेपर ही गन्धर्व उन्हें रोकने लगे ॥ १८ ॥

तत्र गन्धर्वराजो वै पूर्वमेव विशां पते।
कुबेरभवनाद्राजन्नाजगाम गणावृतः ॥ १९ ॥

हे राजन्! जिस समय दुर्योधनकी सेनाने उस वनमें प्रवेश किया, उससे पहिले ही कुबेरके भवन अलकापुरीसे चलकर गन्धर्वराज अपनी सेना सहित वहां आये थे ॥ १९ ॥

गणैरप्सरसां चैव त्रिदशानां तथात्मजैः।
विहारशीलः क्रीडार्थं तेन तत्संवृतं सरः ॥ २० ॥

उनके साथ अनेक अप्सरायें और देवताओंके पुत्र भी थे; उन सबसे उस तालावका तट भरा हुआ था और वे लोग वहां विहार कर रहे थे ॥ २० ॥

तेन तत्संवृतं दृष्ट्वा ते राजपरिचारकाः।
प्रतिजग्मुस्ततो राजन्यत्र दुर्योधनो नृपः ॥ २१ ॥

हे राजन्! राजा दुर्योधनके सेवक उस तालावको गन्धर्वोंसे घिरा देखकर वहांसे लौट गये और राजासे सब समाचार कह सुनाया ॥ २१ ॥

स तु तेषां वचः श्रुत्वा सैनिकान्युद्धदुर्मदान्।
प्रेषयामास कौरव्य उत्सारयत तानिति ॥ २२ ॥

हे कुरुवंशी जनमेजय! राजाने उनके वचन सुनकर महायुद्ध करनेवाले सैनिकोंको भेजा और आज्ञा दी कि गन्धर्वोंको वनसे निकाल दो ॥ २२ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राज्ञः सेनाग्रयायिनः।
सरो द्वैतवनं गत्वा गन्धर्वानिदमब्रुवन् ॥ २३ ॥

उस राजाके वे वचन सुनकर सेनाके आगे आगे चलनेवाले वीर द्वैतवनमें तालावके पास जाकर गन्धर्वोंसे कहने लगे ॥ २३ ॥

राजा दुर्योधनो नाम धृतराष्ट्रसुतो बली।
विजिहीर्षुरिहायाति तदर्थमपसर्पत ॥ २४ ॥

कि महाराज धृतराष्ट्रके पुत्र महाबलवान् राजा दुर्योधन वहां विहार करनेको आना चाहते हैं; इसलिये तुम लोग भाग जाओ ॥ २४ ॥

एवमुक्तास्तु गन्धर्वाः प्रहसन्तो विशां पते।
प्रत्यब्रुवंस्तान्पुरुषानिदं सुपरुषं वचः ॥ २५ ॥

हे राजन्! उनके ऐसे वचन सुनकर गन्धर्व हंसने लगे और उन सेनाके पुरुषोंसे ये कठोर वचन बोले ॥ २५ ॥

न चेतयति वो राजा मन्दबुद्धिः सुयोधनः ।
योऽस्मानाज्ञापयत्येवं वश्यानिव दिवौकसः ॥ २६ ॥

कि, तुम्हारा दुर्योधन राजा महामूर्ख है, वह कुछ भी नहीं जानता, जो स्वर्गमें रहनेवाले हम लोगोंको अपने दासोंके समान आज्ञा देता है ॥ २६ ॥

यूयं मुमूर्षवश्चापि मन्दप्रज्ञा न संशयः ।
ये तस्य वचनादेवमस्मान्ब्रूत विचेतसः ॥ २७ ॥

और तुम लोग भी मरना चाहते हो, निःसन्देह तुम लोगोंमें भी बुद्धि नहीं है, जो उस मूर्खके वचनोंको हम लोगोंसे कहने आये हो ॥ २७ ॥

गच्छत त्वरिताः सर्वे यत्र राजा स कौरवः ।
द्रष्ट्यं माद्यैव गच्छध्वं धर्मराजनिवेशनम् ॥ २८ ॥

इसलिये तुम लोग उस कुरुवंशी राजाके पास लौट जाओ, नहीं तो हम अभी तुम सबको यमराजके पास भेज देंगे ॥ २८ ॥

एवमुक्तास्तु गन्धर्वै राज्ञः सेनाग्रयायिनः ।
संप्राद्रवन्यतो राजा धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनत्रिंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥ ८०६७ ॥

गन्धर्वोंके ऐसा कहनेपर वे सेनापति वहीं भागकर आ गए कि जहां धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन था ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ उन्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ २२९ ॥ ८०६७ ॥

: २३० :

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते सहिताः सर्वे दुर्योधनमुपागमन् ।
अब्रुवंश्च महाराज यदूचुः कौरवं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! तब वे सैनिक मिलकर दुर्योधनके पास आए और उन्होंने कौरवोंके बारेमें गन्धर्वोंने जो कुछ कहा था, वह सब कह सुनाया ॥ १ ॥

गन्धर्वैर्वारिते सैन्ये धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
अमर्षपूर्णः सैन्यानि प्रत्यभाषत भारत ॥ २ ॥

हे भारत ! जब प्रतापवान् धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने देखा कि मेरी सेनाको गन्धर्वोंने रोक दिया, तब वह क्रोधसे भर गया और अपनी सेनाको उसने आज्ञा दी ॥ २ ॥

शास्तैनानधर्मज्ञान्मम विप्रियकारिणः ।
यदि प्रक्रीडितो देवैः सर्वैः सह शतक्रतुः ॥ ३ ॥
कि हमारा अप्रिय कार्य करनेवाले इन अधर्मी गन्धर्वोंको मारो, यदि साक्षात् इन्द्र भी देवताओंके साथ विहार करते हों तो उन्हें भी यहांसे निकाल दो ॥ ३ ॥

दुर्योधनवचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
सर्व एवाभिसंनद्धा योधाश्चापि सहस्रशः ॥ ४ ॥
दुर्योधनकी आज्ञा सुनते ही धृतराष्ट्रके सभी पुत्र तथा महाबलवान् सहस्रों योद्धा युद्धके लिए तैय्यार हो गए ॥ ४ ॥

ततः प्रमथ्य गन्धर्वांस्तद्वनं विविशुर्बलात् ।
सिंहनादेन महता पूरयन्तो दिशो दश ॥ ५ ॥
तब उन सब लोगोंने गन्धर्वोंको अपने बलसे व्याकुल करके और अपने घोर शब्दसे दशों दिशाओंको पूर्ण करके उस वनमें जबर्दस्ती प्रवेश किया ॥ ५ ॥

ततोऽपरैरवार्यन्त गन्धर्वैः कुरुसैनिकाः ।
ते वार्यमाणा गन्धर्वैः साम्नैव वसुधाधिप ।
ताननादृत्य गन्धर्वांस्तद्वनं विविशुर्महत् ॥ ६ ॥
तब उन गन्धर्वोंने इन सब कुरुसैनिकोंको शान्तिपूर्वक रोका, परन्तु, हे राजन् ! इस प्रकार गंधर्वोंके द्वारा शान्तिपूर्वक रोके जानेपर कौरव उन गंधर्वोंका निरादर करके वनमें घुस गए ॥६॥

यदा वाचा न तिष्ठन्ति धार्तराष्ट्राः सराजकाः ।
ततस्ते खेचराः सर्वे चित्रसेने न्यवेदयन् ॥ ७ ॥
जब धृतराष्ट्रके पुत्रोंने उनके वचनोंको न माना, तब उन गन्धर्वोंने जाकर चित्रसेनसे कह दिया ॥ ७ ॥

गन्धर्वराजस्तान्सर्वानब्रवीत्कौरवान्प्रति ।
अनार्याञ्शासतेत्येवं चित्रसेनोऽत्यमर्षणः ॥ ८ ॥
महाक्रोधी गन्धर्वराज चित्रसेनने सुनते ही सब गन्धर्वोंको आज्ञा दी कि, इन अनार्य कौरवोंको मारो ॥ ८ ॥

अनुज्ञातास्तु गन्धर्वाश्चित्रसेनेन भारत ।
प्रगृहीतायुधाः सर्वे धार्तराष्ट्रानभिद्रवन् ॥ ९ ॥
हे भारत ! गन्धर्वराज चित्रसेनकी ऐसी आज्ञा सुनकर सब गन्धर्व शस्त्र लेकर कौरवोंकी ओर दौडे ॥ ९ ॥

तान्दृष्ट्वा पततः शीघ्रान्गन्धर्वानुद्यतायुधान् ।
सर्वे ते प्राद्रवन्संख्ये धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १० ॥

जब कौरवोंने शीघ्रगामी गन्धर्वोंको शस्त्र लिये अपनी ओर आते देखा, तब दुर्योधनके देखते देखते वे सब इधर उधर भागने लगे ॥ १० ॥

तान्दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान्धार्तराष्ट्रान्पराङ्मुखान् ।
वैकर्तनस्तदा वीरो नासीत्तत्र पराङ्मुखः ॥ ११ ॥

उन सभी धृतराष्ट्रके पुत्रोंको पीठ दिखाकर भागते हुए देखकर भी सूतपुत्र कर्ण युद्धको छोड-कर न भागा ॥ ११ ॥

आपतन्तीं तु संप्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम् ।
महता शरवर्षेण राधेयः प्रत्यवारयत् ॥ १२ ॥

जब कर्णने गंधर्वोंकी उस महासेनाको आते हुए देखा, तो घोर बाणोंकी वर्षा करके उसे रोक दिया ॥ १२ ॥

क्षुरप्रैर्विशिखैर्भल्लैर्वत्सदन्तैस्तथायसैः ।
गन्धर्वाञ्शतशोऽभ्यघ्नँल्लघुत्वात्सूतनन्दनः ॥ १३ ॥

सूतपुत्र कर्णने क्षुरप्र, विशिख, भाला, वत्सदन्त और लोहेके बाणोंसे क्षणभरमें ही सैकडों गन्धर्वोंको मार दिया ॥ १३ ॥

पातयन्नुत्तमाङ्गानि गन्धर्वाणां महारथः ।
क्षणेन व्यधमत्सर्वां चित्रसेनस्य वाहिनीम् ॥ १४ ॥

महारथी कर्णके बाणोंसे अनेक गन्धर्वोंके सिर कटकर पृथ्वीपर गिर गये और इस प्रकार उसने क्षणभरमें चित्रसेनकी सारी सेनाको व्याकुल कर दिया ॥ १४ ॥

ते वध्यमाना गन्धर्वाः सूतपुत्रेण धीमता ।
भूय एवाभ्यवर्तन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १५ ॥

बुद्धिमान् कर्णके बाणोंसे मारे जाते हुए वे सैंकडों और हजारों गन्धर्व फिर युद्ध करनेको लौटे ॥ १५ ॥

गन्धर्वभूता पृथिवी क्षणेन समपद्यत ।
आपतद्भिर्महावेगैश्चित्रसेनस्य सैनिकैः ॥ १६ ॥

वेगसे आनेवाले चित्रसेनके सैनिकोंसे उस समय वह समस्त रणभूमि गन्धर्वोंसे भरी हुई दीखती थी ॥ १६ ॥

अथ दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।
दुःशासनो विकर्णश्च ये चान्ये धृतराष्ट्रजाः ।
न्यहनंस्तत्तदा सैन्यं रथैर्गरुडनिस्वनैः ॥ १७ ॥

तब राजा दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनि, दुःशासन और विकर्ण आदि धृतराष्ट्रके पुत्र गरुडके समान शब्दवाले रथोंपर बैठकर गन्धर्वोंको मारने लगे ॥ १७ ॥

भूयश्च योधयामासुः कृत्वा कर्णमथाग्रतः ।
महता रथघोषेण हयचारेण चाप्युत ।
वैकर्तनं परीप्सन्तो गन्धर्वान्समवारयन् ॥ १८ ॥

दुर्योधनकी सेना कर्णको आगे करके अपने रथके घोषसे तथा घोडोंकी विविध गतियोंसे युक्त होकर महायुद्ध करने लगी । दुर्योधनकी सेनाने कर्णकी रक्षा करते हुए गन्धर्वोंको घेर लिया ॥ १८ ॥

ततः संन्यपतन्सर्वे गन्धर्वाः कौरवैः सह ।
तदा सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ॥ १९ ॥

तब गन्धर्व भी कौरवोंसे घोर युद्ध करने लगे। यह युद्ध महाघोर और लोमहर्षक हुआ ॥१९॥

ततस्ते मृदवोऽभूवन्गन्धर्वाः शरपीडिताः ।
उच्चुकुशुश्च कौरव्या गन्धर्वान्प्रेक्ष्य पीडितान् ॥ २० ॥

तब दुर्योधनकी सेनाके बाणोंसे पीडित होकर गन्धर्व लोग शिथिल पड गये । दुर्योधनके सैनिक गन्धर्वोंको व्याकुल देखकर गर्जने लगे ॥ २० ॥

गन्धर्वांस्त्रासितान्दृष्ट्वा चित्रसेनोऽत्यमर्षणः ।
उत्पपातासनात्क्रुद्धो वधे तेषां समाहितः ॥ २१ ॥

जब महाक्रोधी चित्रसेनने देखा कि गन्धर्व युद्धमें व्याकुल हो गए हैं, तब वह क्रोधसे उन सबको मारनेकी इच्छा करके अपने आसनसे उठा ॥ २१ ॥

ततो मायास्त्रमास्थाय युयुधे चित्रमार्गवित् ।
तयामुह्यन्त कौरव्याश्चित्रसेनस्य मायया ॥ २२ ॥

अनेक तरहके मार्गोंको जाननेवाला चित्रसेन मायास्त्रको प्रकट करके युद्ध करने लगा, तब चित्रसेनकी मायासे कौरव मोहित हो गए ॥ २२ ॥

एकैको हि तदा योधो धार्तराष्ट्रस्य भारत ।
पर्यवर्तत गन्धर्वैर्दशभिर्दशभिः सह ॥ २३ ॥

हे भारत ! उस समय दुर्योधनके एक एक योधाको दश दश गन्धर्वोंने एकसाथ घेर लिया ॥ २३ ॥

ततः संपीड्यमानास्ते बलेन महता तदा ।
प्राद्रवन्त रणे भीता यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

हे राजन् ! तब गन्धर्वोंकी सेनाके बाणोंसे दुर्योधनकी सब सेना पीडित हो गई और वे सब सैनिक जिधर युधिष्ठिर थे, उधर ही भाग गए ॥ २४ ॥

भज्यमानेष्वनीकेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वशः ।
कर्णो वैकर्तनो राजंस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ २५ ॥

हे राजन् ! जब दुर्योधनकी सब सेना इधर उधर भागने लगी, तब अकेला कर्ण ही पर्वतके समान अचल खडा रहा ॥ २५ ॥

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ।
गन्धर्वान्योधयांचक्रुः समरे भृशविक्षताः ॥ २६ ॥

उस समय दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि घावसे अत्यन्त पीडित होकर भी गन्धर्वोंसे युद्ध करते रहे ॥ २६ ॥

सर्व एव तु गन्धर्वाः शतशोऽथ सहस्रशः ।
जिघांसमानाः सहिताः कर्णमभ्यद्रवन्रणे ॥ २७ ॥

तब सब सैंकडों और हजारों गन्धर्व इकट्ठे होकर कर्णको मारनेकी इच्छासे युद्धमें कर्णकी तरफ दौडे ॥ २७ ॥

असिभिः पट्टिशैः शूलैर्गदाभिश्च महाबलाः ।
सूतपुत्रं जिघांसन्तः समन्तात्पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

महाबलवान् गन्धर्वोंने चारों ओरसे खड्ग, परिघ, शूल और गदासे कर्णको मारते हुए उसे चारों ओरसे घेर लिया ॥ २८ ॥

अन्येऽस्य युगमच्छिन्दन्ध्वजमन्ये न्यपातयन् ।
ईषामन्ये हयानन्ये सूतमन्ये न्यपातयन् ॥ २९ ॥

किसीने कर्णके रथके पहिये तोड दिए किसीने ध्वजा फाड दी, किसीने धुरी तोड दी, किसीने घोडे मार दिए, किसीने सारथीको मार गिराया ॥ २९ ॥

अन्ये छत्रं वरूथं च बन्धुरं च तथापरे ।
गन्धर्वा बहुसाहस्राः खण्डशोऽभ्यहनन्रथम् ॥ ३० ॥

किसीने छत्र, किसीने कलश, और किसीने रथके बन्धन काट डाले । इस प्रकार हजारों गन्धर्वोंने कर्णके रथके टुकडे टुकडे कर डाले ॥ ३० ॥

ततो रथादवप्लुत्य सूतपुत्रोऽसिचर्मभृत्।
विकर्णरथमास्थाय मोक्षायाश्वानचोदयत् ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥ ८०९८ ॥

तब सूतपुत्र कर्ण खड्ग और ढाल लेकर रथसे नीचे उतरा और विकर्णके रथपर चढकर वह युद्धसे छूटनेके लिए घोडोंको हांकता हुआ भाग गया ॥ ३१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ तीसवां अध्याय समाप्त ॥ २३० ॥ ८०९८ ॥

: २३१ :

वैशम्पायन उवाच

गन्धर्वैस्तु महाराज भग्ने कर्णे महारथे।
संप्राद्रवच्चमूः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! जब महारथी कर्ण गन्धर्वोंसे हारकर और युद्धको छोडकर भाग गया, तब दुर्योधनके देखते देखते उनकी सब सेना भाग गई ॥ १ ॥

तान्दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान्धार्तराष्ट्रान्पराङ्मुखान्।
दुर्योधनो महाराज नासीत्तत्र पराङ्मुखः ॥ २ ॥

उन सब धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भागते हुए देखनेपर भी उस घोर युद्धसे केवल महाराज दुर्योधन ही नहीं भागे ॥ २ ॥

तामापतन्तीं संप्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम्।
महता शरवर्षेण सोऽभ्यवर्षदरिंदमः ॥ ३ ॥

जब दुर्योधनने गन्धर्वोंकी उस महासेनाको अपनी ओर आते देखा तब शत्रुनाशी दुर्योधन बाणोंकी घोर वर्षा करने लगे ॥ ३ ॥

अचिन्त्य शरवर्षं तु गन्धर्वास्तस्य तं रथम्।
दुर्योधनं जिघांसन्तः समन्तात्पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

गन्धर्वोंने उनकी बाण वर्षापर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और दुर्योधनको मारनेके लिये उनके रथको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ४ ॥

युगमीषां वरूथं च तथैव ध्वजसारथी।
अश्वांस्त्रिवेणुं तल्पं च तिलशोऽभ्यहनन्रथम् ॥ ५ ॥

उस समय दुर्योधनके रथके पहिये, धुरी, ध्वजा, सारथी, घोडे और जुआ टुकडे टुकडे होकर पृथ्वीपर गिर गये ॥ ५ ॥

दुर्योधनं चित्रसेनो विरथं पतितं भुवि ।
अभिद्रुत्य महाबाहुर्जीवग्राहमथाग्रहीत् ॥ ६ ॥

और दुर्योधन भी रथरहित होकर पृथ्वीपर गिर पडे। तब महाबाहु चित्रसेनने दौडकर उनको जीवित ही पकड लिया ॥ ६ ॥

तस्मिन्गृहीते राजेन्द्र स्थितं दुःशासनं रथे ।
पर्यगृह्णन्त गन्धर्वाः परिवार्य समन्ततः ॥ ७ ॥

जिस समय महाराज दुर्योधन पकडे गए, उस समय रथपर बैठे हुए दुःशासनको भी गन्धर्वोंने चारों ओरसे घेरकर पकड लिया ॥ ७ ॥

विविंशतिं चित्रसेनमादायान्ये प्रदुद्रुवुः ।
विन्दानुविन्दावपरे राजदारांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

विविंशती, चित्रसेन, विन्द और अनुविन्द, तथा और सब राजस्त्रियोंको पकडकर गन्धर्व चल दिये ॥ ८ ॥

सैन्यास्तु धार्तराष्ट्रस्य गन्धर्वैः समभिद्रुताः ।
पूर्वं प्रभग्नैः सहिताः पाण्डवानभ्ययुस्तदा ॥ ९ ॥

तब गन्धर्वोंके द्वारा निरुत्साहित करके भगाई गई दुर्योधनकी सब सेना पाण्डवोंकी तरफ गई ॥ ९ ॥

शकटापणवेश्याश्च यानयुग्यं च सर्वशः ।
शरणं पाण्डवाञ्जग्मुर्ह्रियमाणे महीपतौ ॥ १० ॥

जब राजा दुर्योधन पकडे गये, तब दुर्योधनके वेश्याओंके साथ छकडे, वाहन और सेनाके सब लोग पाण्डवोंकी शरणमें गये ॥ १० ॥

प्रियदर्शनो महाबाहुर्धार्तराष्ट्रो महाबलः ।
गन्धर्वैर्ह्रियते राजा पार्थास्तमनुधावत ॥ ११ ॥

(वे बोले) हे पाण्डवो ! प्रियदर्शी महाबलवान् धृतराष्ट्रपुत्र महाबाहु दुर्योधनको गन्धर्व पकडे लिये जाते हैं, आप लोग दौडिये ॥ ११ ॥

दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुर्जयस्तथा ।
बद्ध्वा ह्रियन्ते गन्धर्वै राजदाराश्च सर्वशः ॥ १२ ॥

दुःशासन, दुर्विसह, दुर्मुख, दुर्जय और सब राजस्त्रियोंको बांधकर गन्धर्व लिये जाते हैं, आप लोग छुडाइये ॥ १२ ॥

इति दुर्योधनामात्याः क्रोशन्तो राजगृद्धिनः।
आर्ता दीनस्वराः सर्वे युधिष्ठिरमुपागमन् ॥ १३ ॥

इस प्रकार दुर्योधनको चाहनेवाले दुर्योधनके मन्त्री आर्त और दीन स्वरमें चिल्लाते हुए महाराज युधिष्ठिरकी शरणमें गए ॥ १३ ॥

तांस्तथा व्यथितान्दीनान्भिक्षमाणान्युधिष्ठिरम्।
वृद्धान्दुर्योधनामात्यान्भीमसेनोऽभ्यभाषत ॥ १४ ॥

दुर्योधनके उन वृद्ध मंत्रियोंको इसप्रकारसे व्याकुल, दीन और युधिष्ठिरसे प्राणकी भिक्षा मांगते देखकर भीमसेन बोले ॥ १४ ॥

अन्यथा वर्तमानानामर्थो जातोऽयमन्यथा।
अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ॥ १५ ॥

जो कार्य हमको करना था, सो ही गन्धर्वोंने किया। ये कौरव और ही कुछ करना चाहते थे, पर हो गया कुछ और ही ॥ १५ ॥

दुर्मन्त्रितमिदं तात राज्ञो दुर्द्यूतदेविनः।
द्वेष्टारमन्ये क्लीबस्य पातयन्तीति नः श्रुतम् ॥ १६ ॥

हे तात! यह जुआ खेलनेवाले राजा दुर्योधनकी बुरी मंत्रणाका फल है। हम लोगोंने यह सुना था कि असमर्थोंके शत्रुओंको कोई दूसरा ही मार देता है ॥ १६ ॥

तदिदं कृतं नः प्रत्यक्षं गन्धर्वैरतिमानुषम्।
दिष्ट्या लोके पुमानस्ति कश्चिदस्मत्प्रिये स्थितः।
येनास्माकं हृतो भार आसीनानां सुखावहः ॥ १७ ॥

गन्धर्वोंने यह अमानुष कर्म हमारे सामने ही किया। सौभाग्यसे जगत्में हमारा प्रिय करनेवाला कोई है, जिसने सुखसे बैठे हुए हमारे सिरसे इस बोझको उतार दिया ॥ १७ ॥

शीतवातातपसहांस्तपसा चैव कर्शितान्।
समस्थो विषमस्थान्हि द्रष्टुमिच्छति दुर्मतिः ॥ १८ ॥

हम लोग शीत, वात और घामको सहकर दुर्बल हो गये हैं और यह दुष्ट बुद्धि दुर्योधन सुखी होकर हम दुःखियोंको देखने आया था ॥ १८ ॥

अधर्मचारिणस्तस्य कौरव्यस्य दुरात्मनः।
ये शीलमनुवर्तन्ते ते पश्यन्ति पराभवम् ॥ १९ ॥

महाअधर्मी दुरात्मा दुर्योधनके जो लोग साथी हैं, वे ही इस समय उसका निरादर देख रहे हैं ॥ १९ ॥

अधर्मो हि कृतस्तेन येनैतदुपशिक्षितम् ।
अनृशंसास्तु कौन्तेयास्तस्याध्यक्षान्ब्रवीमि वः ॥ २० ॥

तुम पाण्डवोंको देखकर उनकी हंसी उडाओ, ऐसी शिक्षा जिसने भी कौरवोंको दी है उसने बडा अधर्म किया है । पर मैं इस सेनाके सेनापतियोंसे कह रहा हूं कि कुन्तीपुत्र ऐसे क्रूर कभी नहीं हैं ॥ २० ॥

एवं ब्रुवाणं कौन्तेयं भीमसेनममर्षणम् ।
न कालः परुषस्यायमिति राजाभ्यभाषत ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥ ८११९ ॥

जब कुन्तीनन्दन भीमसेन क्रोधमें भरकर ऐसा कह रहे थे, तब राजा युधिष्ठिरने कहा कि, यह समय कठोर वचन कहनेका नहीं है ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ इकतीसवां अध्याय समाप्त ॥ २३१ ॥ ८११९ ॥

: २३२ :

युधिष्ठिर उवाच

अस्मानभिगतां स्तात भयार्ताञ्शरणैषिणः ।
कौरवान्विषमप्राप्तान्कथं ब्रूयास्त्वमीदृशम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे तात ! कौरव इस समय शरणकी इच्छासे हमारे पास आये हैं । ये लोग भयसे व्याकुल होकर शरणकी इच्छा करते हैं तथा इस समय ये दुःखमें हैं, तब ऐसे समयमें तुम ऐसे वचन इनसे क्यों कहते हो ? ॥ १ ॥

भवन्ति भेदा ज्ञातीनां कलहाश्च वृकोदर ।
प्रसक्तानि च वैराणि ज्ञातिधर्मो न नश्यति ॥ २ ॥

हे वृकोदर ! एक वंशमें अनेक प्रकारके कलह और भेद उत्पन्न हो जाते हैं और आपसमें शत्रुता भी हो जाती है, परन्तु कुलके धर्म नष्ट नहीं होते ॥ २ ॥

यदा तु कश्चिज्ज्ञातीनां बाह्यः प्रार्थयते कुलम् ।
न मर्षयन्ति तत्सन्तो बाह्येनाभिप्रमर्षणम् ॥ ३ ॥

यदि कोई अन्य पुरुष अपने कुलके पुरुषको किसी प्रकारका दुःख देना चाहे, तो सज्जन पुरुष एक परायेके द्वारा अपने कुलका नाश नहीं देख सकते ॥ ३ ॥

जानाति ह्येष दुर्बुद्धिरस्मानिह चिरोषितान् ।
स एष परिभूयास्मानकार्षीदिदमप्रियम् ॥ ४ ॥

मूर्ख दुर्योधन जानता था, कि हम लोग यहां बहुत दिनोंसे रहते हैं, तो भी उसने हमारा निरादर करके यह अप्रिय कार्य किया ॥ ४ ॥

दुर्योधनस्य ग्रहणाद्गन्धर्वेण बलाद्रणे ।
स्त्रीणां बाह्याभिमर्शाच्च हतं भवति नः कुलम् ॥ ५ ॥

युद्धमें गन्धर्वके द्वारा बलपूर्वक दुर्योधनके पकडे जानेसे और अन्योंके द्वारा कौरवोंकी स्त्रियोंका घर्षण किए जानेसे हमारा वंश नष्ट हो जायेगा ॥ ५ ॥

शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य नः ।
उत्तिष्ठध्वं नरव्याघ्राः सज्जीभवत माचिरम् ॥ ६ ॥

हे पुरुषसिंहो ! शरणागतकी रक्षा करनेके लिए और वंशका उद्धार करनेके लिए तुम शीघ्र उठो, देर मत करो; सब युद्धकी सामग्री ठीक कर लो ॥ ६ ॥

अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च भीमापराजितः ।
मोक्षयध्वं धार्तराष्ट्रं ह्रियमाणं सुयोधनम् ॥ ७ ॥

हे भीम ! अर्जुन, नकुल, सहदेव और अपराजित तुम चारों वीर शीघ्र ही पकडकर ले जाये जाते हुए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको छुडाओ ॥ ७ ॥

एते रथा नरव्याघ्राः सर्वशस्त्रसमन्विताः ।
इन्द्रसेनादिभिः सूतैः संयताः कनकध्वजाः ॥ ८ ॥

हे पुरुषसिंहो ! ये रथ शस्त्रोंके सहित खडे हुए हैं और घोष करनेवाले इन सबपर सोनेकी ध्वजायें लगी हुई हैं तथा शस्त्रविद्याके जाननेवाले इन्द्रसेनादिक सूत इनपर बैठे हुए हैं ॥८॥

एतानास्थाय वै तात गन्धर्वान्योद्धुमाहवे ।
सुयोधनस्य मोक्षाय प्रयतध्वमतन्द्रिताः ॥ ९ ॥

तुम लोग आलस्यरहित होकर इन रथोंपर बैठकर रणमें गन्धर्वोंसे युद्ध करनेका सङ्कल्प करो और सुयोधनको छुडानेका प्रयत्न करो ॥ ९ ॥

य एव कश्चिद्राजन्यः शरणार्थमिहागतम् ।
परं शक्त्याभिरक्षेत किं पुनस्त्वं वृकोदर ॥ १० ॥

हे वृकोदर ! सामान्य क्षत्रिय भी शरणमें आये हुएकी अपनी शक्तिके अनुसार रक्षा करते हैं; फिर तुम्हारी तो बात ही क्या है ? ॥ १० ॥

क इहान्यो भवेत्त्राणमभिधावेति चोदितः ।
प्राञ्जलिं शरणापन्नं दृष्ट्वा शत्रुमपि ध्रुवम् ॥ ११ ॥

" दौडो, बचाओ, " इस प्रकार पुकारनेवाला भले ही शत्रु ही हो, यदि वह हाथ जोडकर शरणमें आता है, तो उसकी रक्षा करनेवाला यहां तुम्हारे सिवा और कौन है ? ॥ ११ ॥

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च पाण्डव ।
शत्रोश्च मोक्षणं क्लेशात्त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ १२ ॥

हे पाण्डव ! देवतासे वरदान पाना, राज्य पाना, पुत्रका उत्पन्न होना, और शत्रुको किसी दुःखसे छुडाना इन चारोंमें प्रथम तीनके बराबर अन्तिम है ॥ १२ ॥

किं ह्यभ्यधिकमेतस्माद्यदापन्नः सुयोधनः ।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य जीवितं परिमार्गति ॥ १३ ॥

हे भीम ! इससे अधिक आनन्द क्या होगा जो दुर्योधन तुम्हारी शरणमें आया है और तुम्हारे बाहुबलका आश्रय लेकर अपने जीनेकी इच्छा करता है ॥ १३ ॥

स्वयमेव प्रधावेयं यदि न स्याद्वृकोदर ।
विततोऽयं क्रतुर्वीर न हि मेऽत्र विचारणा ॥ १४ ॥

हे वीर वृकोदर ! यदि मैं यह यज्ञ न करता होता तो मैं स्वयं युद्धको जाता। मैं इस विषयमें कुछ भी विचार न करता ॥ १४ ॥

साम्नैव तु यथा भीम मोक्षयेथाः सुयोधनम् ।
तथा सर्वैरुपायैस्त्वं यतेथाः कुरुनन्दन ॥ १५ ॥

हे कुरुनन्दन भीम ! तुम प्रथम ऐसे ही उपायोंसे प्रयत्न करना कि जिससे सुयोधन शान्तिसे ही छूट जाए ॥ १५ ॥

न साम्ना प्रतिपद्येत यदि गन्धर्वराडसौ ।
पराक्रमेण मृदुना मोक्षयेथाः सुयोधनम् ॥ १६ ॥

यदि गन्धर्वराज शान्तिसे दुर्योधनको न छोडे तो छोटासा ही युद्ध करके दुर्योधनको छुडा लेना ॥ १६ ॥

अथासौ मृदुयुद्धेन न मुञ्चेद्भीम कौरवान् ।
सर्वोपायैर्विमोच्यास्ते निगृह्य परिपन्थिनः ॥ १७ ॥

हे भीम ! यदि कोमल युद्धसे गन्धर्वराज कौरवोंको न छोडे तो सब उपाय करके शत्रुओंको अपने वशमें कर लेना और कौरवोंको छुडा लेना ॥ १७ ॥

एतावद्धि मया शक्यं संदेष्टुं वै वृकोदर ।
वैताने कर्मणि तते वर्तमाने च भारत ॥ १८ ॥

हे भारत वृकोदर ! इस यज्ञके इस समय चलनेके कारण मैं तुमसे इतना ही केवल कह सकता हूँ ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

अजातशत्रोर्वचनं तच्छ्रुत्वा तु धनञ्जयः।
प्रतिजज्ञे गुरोर्वाक्यं कौरवाणां विमोक्षणम् ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोले– अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरके ऐसे वचन सुनकर अर्जुनने अपने बडे भाईकी आज्ञाको स्वीकार कर लिया और कौरवोंको छुडानेकी प्रतिज्ञा की ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

यदि साम्ना न मोक्ष्यन्ति गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान्।
अद्य गन्धर्वराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ २० ॥

अर्जुन बोले– यदि गन्धर्व धृतराष्ट्रको शान्तिसे नहीं छोडेंगे तो आज भूमि गन्धर्वराजकें रुधिरको पीयेगी ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य तु तां श्रुत्वा प्रतिज्ञां सत्यवादिनः।
कौरवाणां तदा राजन्पुनः प्रत्यागतं मनः ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥ ८१४० ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् ! सत्यवादी अर्जुनकी ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर कौरवोंका जीवन फिर लौट आया ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ बत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ २३२ ॥ ८१४० ॥

: २३३ :

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरवचः श्रुत्वा भीमसेनपुरोगमाः।
प्रहृष्टवदनाः सर्वे समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! महाराज युधिष्ठिरके ऐसे वचन सुनकर भीमसेन आदि नरश्रेष्ठ पाण्डव बहुत प्रसन्न होकर उठे ॥ १ ॥

अभेद्यानि ततः सर्वे समनह्यन्त भारत।
जाम्बूनदविचित्राणि कवचानि महारथाः ॥ २ ॥

हे भारत ! पुरुषसिंह महारथी पाण्डवोंने सोनेके बने हुए विचित्र और अभेद्य कवचोंको पहना ॥२॥

ते दंशिता रथैः सर्वे ध्वजिनः सशरासनाः ।
पाण्डवाः प्रत्यदृश्यन्त ज्वलिता इव पावकाः ॥ ३ ॥

तदनन्तर वे सब लोग धनुष धारण करके ध्वजा सहित रथोंपर बैठे। उस समय पाण्डवोंकी ऐसी शोभा बढी जैसे जलती हुई अग्निकी होती है ॥ ३ ॥

तान्रथान्साधु संपन्नान्संयुक्ताञ्जवनैर्हयैः ।
आस्थाय रथशार्दूलाः शीघ्रमेव ययुस्ततः ॥ ४ ॥

वे नरव्याघ्र पाण्डव वेगवान् घोडोंवाले, अच्छे सारथियोंसे युक्त रथोंपर बैठकर शीघ्र ही वहांसे चले ॥ ४ ॥

ततः कौरवसैन्यानां प्रादुरासीन्महास्वनः ।
प्रयातान्सहितान्दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रान्महारथान् ॥ ५ ॥

उस समय महारथी पाण्डवोंको एकसाथ युद्ध करनेके लिए चलते हुए देख कौरवोंकी सेनाका बडा भारी शब्द हुआ ॥ ५ ॥

जितकाशिनश्च खचरास्त्वरिताश्च महारथाः ।
क्षणेनैव वने तस्मिन्समाजग्मुरभीतवत् ॥ ६ ॥

तब जीते हुए आकाशचारी महारथी गन्धर्व भी क्षणभरमें उस वनमें आकर ऐसे इकट्ठे हो गए कि जैसे मानों उन्हें कोई डर ही न हो ॥ ६ ॥

न्यवर्तन्त ततः सर्वे गन्धर्वा जितकाशिनः ।
दृष्ट्वा रथगतान्वीरान्पाण्डवांश्चतुरो रणे ॥ ७ ॥

चारों पाण्डवोंको रथमें बैठकर युद्धमें आते हुए देखते ही वे सब विजयी गन्धर्व युद्ध करनेके लिए लौट आए ॥ ७ ॥

तांस्तु विभ्राजतो दृष्ट्वा लोकपालानिवोद्यतान् ।
व्यूढानीका व्यतिष्ठन्त गन्धमादनवासिनः ॥ ८ ॥

चारों वीर पाण्डवोंको लोकपालोंके समान उद्यत देखकर गंधमादन पर्वतपर रहनेवाले गन्धर्व अपनी सेनाका व्यूह बनाकर तैय्यार हो गए ॥ ८ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः ।
क्रमेण मृदुना युद्धमुपक्रामन्त भारत ॥ ९ ॥

हे भारत जनमेजय ! बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरके वचनके अनुसार पाण्डवोंने पहले कोमल युद्ध किया ॥ ९ ॥

न तु गन्धर्वराजस्य सैनिका मन्दचेतसः ।
शक्यन्ते मृदुना श्रेयः प्रतिपादयितुं तदा ॥ १० ॥

परन्तु गन्धर्वराज चित्रसेनके मूर्ख सैनिकोंको कोमलतासे कल्याणके मार्गपर लाना संभव न हुआ ॥ १० ॥

ततस्तान्युधि दुर्धर्षः सव्यसाची परंतपः ।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमुवाच खचरान्रणे ॥ ११ ॥

पहले शत्रुनाशक अपराजेय सव्यसाची अर्जुनने युद्धमें उन आकाशगामी गंधर्वोंसे शान्तिपूर्वक यह वचन कहे ॥ ११ ॥

नैतद्गन्धर्वराजस्य युक्तं कर्म जुगुप्सितम् ।
परदाराभिमर्शश्च मानुषैश्च समागमः ॥ १२ ॥

गन्धर्वराजने जो यह नीच कर्म किया वह उनके योग्य नहीं था। दूसरेकी स्त्रियोंको पकडना, मनुष्योंके साथ युद्ध करना उनके लिए उचित नहीं था ॥ १२ ॥

उत्सृजध्वं महावीर्यान्धृतराष्ट्रसुतानिमान् ।
दारांश्चैषां विमुञ्चध्वं धर्मराजस्य शासनात् ॥ १३ ॥

इसलिये तुम महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे इन महापराक्रमी धृतराष्ट्रके पुत्रोंको और उनकी स्त्रियोंको छोड दो ॥ १३ ॥

एवमुक्तास्तु गन्धर्वाः पाण्डवेन यशस्विना ।
उत्स्मयन्तस्तदा पार्थमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १४ ॥

यशस्वी अर्जुनके ऐसे वचन सुनकर गन्धर्व हंसकर अर्जुनसे यह वचन बोले ॥ १४ ॥

एकस्यैव वयं तात कुर्याम वचनं भुवि ।
यस्य शासनमाज्ञाय चराम विगतज्वराः ॥ १५ ॥

हे तात ! हम पृथ्वीपर केवल एकहीकी आज्ञाका पालन करते हैं, और उसकी आज्ञाका पालन करते हुए हम निश्चिन्त होकर घूमते हैं ॥ १५ ॥

तेनैकेन यथादिष्टं तथा वर्ताम भारत ।
न शास्ता विद्यतेऽस्माकमन्यस्तस्मात्सुरेश्वरात् ॥ १६ ॥

हे भारत ! वे एक हमको जैसी आज्ञा देते हैं वैसा ही हम करते हैं। उन इन्द्रके सिवा और कोई हमको आज्ञा देनेवाला पृथ्वीपर नहीं है ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु गन्धर्वैः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
गन्धर्वान्पुनरेवेदं वचनं प्रत्यभाषत ॥ १७ ॥

गन्धर्वोंके ऐसे वचन सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुन फिर गन्धर्वोंसे यह वचन बोले ॥ १७ ॥

यदि साम्ना न मोक्षध्वं गन्धर्वा धृतराष्ट्रजम् ।
मोक्षयिष्यामि विक्रम्य स्वयमेव सुयोधनम् ॥ १८ ॥

हे गन्धर्वो ! यदि तुम शान्तभावसे धृतराष्ट्रके पुत्रोंको नहीं छोडोगे, तो मैं स्वयं पराक्रम प्रकट करके दुर्योधनको छुडा लूंगा ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ।
ससर्ज निशितान्बाणान्खचरान्खचरान्प्रति ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर कुन्तीपुत्र सव्यसाची अर्जुन आकाशचारी गन्धर्वोंपर आकाशमें उडनेवाले तीक्ष्ण बाण छोडने लगे ॥ १९ ॥

तथैव शरवर्षेण गन्धर्वास्ते बलोत्कटाः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त पाण्डवाश्च दिवौकसः ॥ २० ॥

तब वे बलवान् गन्धर्व भी उसी प्रकार पाण्डवोंके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे और पाण्डव भी गन्धर्वोंके ऊपर बाण छोडने लगे ॥ २० ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं गन्धर्वाणां तरस्विनाम् ।
बभूव भीमवेगानां पाण्डवानां च भारत ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥ ८१६१ ॥

हे भारत ! उस समय भयंकर वेगवाले पाण्डवों और बलवान् गन्धर्वोंका घोर युद्ध होने लगा ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ तैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ २३३ ॥ ८१६१ ॥

: २३४ :

वैशम्पायन उवाच

ततो दिव्यास्त्रसंपन्ना गन्धर्वा हेममालिनः ।
विसृजन्तः शरान्दीप्तान्समन्तात्पर्यवारयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! तब सोनेकी माला पहिने गन्धर्वोंने पाण्डवोंको चारों ओरसे घेरकर दिव्य बाण चलाना आरंभ किया ॥ १ ॥

चत्वारः पाण्डवा वीरा गन्धर्वाश्च सहस्रशः ।
रणे संन्यपतन्राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २ ॥

उस युद्धमें एक ओर चार पाण्डव और एक ओर सहस्रों गन्धर्व थे; परन्तु जो चार ही युद्ध करते रहे, यह बडी अद्भुत बात हुई ॥ २ ॥

यथा कर्णस्य च रथो धार्तराष्ट्रस्य चोभयोः ।
गन्धर्वैः शतशश्छिन्नौ तथा तेषां प्रचक्रिरे ॥ ३ ॥

तब गन्धर्वोंने जैसे कर्ण और दुर्योधनके रथको घेरा था वैसे ही बाणोंकी वर्षा करके पाण्डवोंको भी घेर लिया ॥ ३ ॥

तान्समापततो राजन्गन्धर्वाञ्शतशो रणे ।
प्रत्यगृह्णन्नरव्याघ्राः शरवर्षैरनेकशः ॥ ४ ॥

जब पुरुषसिंह पाण्डवोंने सहस्रों गन्धर्वोंको अपनी ओर आते देखा, तब बाणोंकी वर्षा करनी आरंभ की ॥ ४ ॥

अवकीर्यमाणाः खगमाः शरवर्षैः समन्ततः ।
न शेकुः पाण्डुपुत्राणां समीपे परिवर्तितुम् ॥ ५ ॥

आकाशमें संचार करनेवाले गन्धर्व पाण्डवोंके बाणोंसे पीडित होकर उनके रथोंके पास न आ सके ॥ ५ ॥

अभिक्रुद्धानभिप्रेक्ष्य गन्धर्वानर्जुनस्तदा ।
लक्षयित्वाथ दिव्यानि महास्त्राण्युपचक्रमे ॥ ६ ॥

अर्जुनने गन्धर्वोंको क्रोधित हुआ देखकर उनके ऊपर दिव्य और महान् अस्त्र चलाये ॥६॥

सहस्राणां सहस्रं स प्राहिणोद्यमसादनम् ।
आग्नेयेनार्जुनः संख्ये गन्धर्वाणां बलोत्कटः ॥ ७ ॥

उन बाणोंके लगनेसे सहस्रों गन्धर्व मर गये । तदनन्तर बलवान् अर्जुनने अग्निबाण चलाया, उससे अनेक गन्धर्व मर गये ॥ ७ ॥

तथा भीमो महेष्वासः संयुगे बलिनां वरः ।
गन्धर्वाञ्शतशो राजञ्जघान निशितैः शरैः ॥ ८ ॥

हे राजन् ! इसीप्रकार महा धनुषधारी भीमसेनने भी युद्धमें अनेक गन्धर्वोंको तीक्ष्ण बाणोंसे मारा ॥ ८ ॥

माद्रीपुत्रावपि तथा युध्यमानौ बलोत्कटौ ।
परिगृह्याग्रतो राजञ्जघ्नतुः शतशः परान् ॥ ९ ॥

हे राजन् ! युद्ध करनेवाले अत्यन्त बलशाली माद्रीपुत्र नकुल और सहदेव भी आगे होकर सैकडों गन्धर्वोंको मारने लगे ॥ ९ ॥

ते वध्यमाना गन्धर्वा दिव्यैरस्त्रैर्महात्मभिः ।
उत्पेतुः खमुपादाय धृतराष्ट्रसुतांस्ततः ॥ १० ॥

गन्धर्व महारथ पाण्डवोंके दिव्य बाणोंसे पीडित होकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंको सङ्ग लेकर आकाशमें उड गये ॥ १० ॥

तानुत्पतिष्णून्बुद्ध्वा तु कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
महता शरजालेन समन्तात्पर्यवारयत् ॥ ११ ॥

जब अर्जुनने गन्धर्वोंको आकाशकी ओर उडते देखा, तो उन्हें चारों ओरसे बाणोंके जालमें फांस लिया ॥ ११ ॥

ते बद्धाः शरजालेन शकुन्ता इव पञ्जरे ।
ववर्षुरर्जुनं क्रोधाद्गदाशक्त्यृष्टिवृष्टिभिः ॥ १२ ॥

वे लोग बाणोंके जालमें ऐसे फँस गये जैसे पक्षी पिंजरेमें फँसते हैं। तब उन लोगोंने अर्जुनके ऊपर गदा, शक्ति, और खड्गोंकी वर्षा की ॥ १२ ॥

गदाशक्त्यसिवृष्टीस्ता निहत्य स महास्त्रवित् ।
गात्राणि चाहनद्भल्लैर्गन्धर्वाणां धनंजयः ॥ १३ ॥

परम शस्त्रोंके जाननेवाले अर्जुन उस शस्त्रवृष्टिको काटकर अपने बाणोंसे गन्धर्वोंकी सेनाको काटने लगे ॥ १३ ॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्च चरणैर्बाहुभिस्तथा ।
अश्मवृष्टिरिवाभाति परेषामभवद्भयम् ॥ १४ ॥

उस समय आकाशसे गिरते हुए शिर, पैर और हाथोंकी ऐसी वृष्टि हुई जैसे कहीं पत्थर वर्षते हों। उस समय गन्धर्वोंको वहुत भय उत्पन्न हुआ ॥ १४ ॥

ते वध्यमाना गन्धर्वाः पाण्डवेन महात्मना ।
भूमिष्ठमन्तरिक्षस्थाः शरवर्षैरवाकिरन् ॥ १५ ॥

भूमिमें खडे हुए महात्मा अर्जुनके बाणोंसे गन्धर्व पीडित हो गए। तब उन्होंने आकाशसे भूमिपर खडे हुए अर्जुनके ऊपर बाण बरसाये ॥ १५ ॥

तेषां तु शरवर्षाणि सव्यसाची परंतपः ।
अस्त्रैः संवार्य तेजस्वी गन्धर्वान्प्रत्यविध्यत ॥ १६ ॥

महातेजस्वी शत्रुनाशी सव्यसाची अर्जुनने उनकी बाणवर्षाको काटकर अपने बाणोंसे गन्धर्वोंका शरीर काटना आरंभ किया ॥ १६ ॥

स्थूणाकर्णेन्द्रजालं च सौरं चापि तथार्जुनः ।
आग्नेयं चापि सौम्यं च ससर्ज कुरुनन्दनः ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन अर्जुनने स्थूणाकर्ण, इन्द्रजाल, सौर, आग्नेय और सौम्य बाण चलाये ॥ १७ ॥

ते दह्यमाना गन्धर्वाः कुन्तीपुत्रस्य सायकैः ।
दैतेया इव शक्रेण विषादमगमन्परम् ॥ १८ ॥

जिसप्रकार इन्द्रके शस्त्रास्त्रोंसे दैत्य पीडित हुए थे उसी तरह गन्धर्व अर्जुनके बाणोंसे दग्ध होकर बहुत विषादको प्राप्त हुए ॥ १८ ॥

ऊर्ध्वमाक्रममाणाश्च शरजालेन वारिताः।
विसर्पमाणा भल्लैश्च वार्यन्ते सव्यसाचिना ॥ १९ ॥

जो गन्धर्व आकाशमें उडते थे उनको अर्जुन अपने बाणोंसे रोकते थे। जो लोग युद्ध करनेको आते थे; उनको भी अर्जुन अपने बाणोंसे रोक देते थे ॥ १९ ॥

गन्धर्वांस्त्रासितान्दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रेण धीमता।
चित्रसेनो गदां गृह्य सव्यसाचिनमाद्रवत् ॥ २० ॥

गन्धर्वोंको बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र अर्जुनके बाणोंसे पीडित देखकर गन्धर्वराज चित्रसेन गदा लेकर अर्जुनकी ओर दौडे ॥ २० ॥

तस्याभिपततस्तूर्णं गदाहस्तस्य संयुगे।
गदां सर्वायसीं पार्थः शरैश्चिच्छेद सप्तधा ॥ २१ ॥

जब अर्जुनने युद्धमें गदाको हाथमें लेकर उनको अपनी ओर आते देखा, तब उनकी लोहेकी गदाको अपने बाणसे काटकर उसके सात टुकडे कर दिये ॥ २१ ॥

स गदां बहुधा दृष्ट्वा कृत्तां बाणैस्तरस्विना।
संवृत्य विद्ययात्मानं योधयामास पाण्डवम्।
अस्त्राणि तस्य दिव्यानि योधयामास खे स्थितः ॥ २२ ॥

जब चित्रसेन गन्धर्वने अपनी गदाको अर्जुनके तेज बाणोंसे कटा हुआ देखा, तो मायासे अपने शरीरको छिपा लिया और अर्जुनसे युद्ध करने लगे। इसप्रकार आकाशमें स्थित होकर गन्धर्व दिव्य अस्त्रोंसे युद्ध करने लगे ॥ २२ ॥

गन्धर्वराजो बलवान्माययान्तर्हितस्तदा।
अन्तर्हितं समालक्ष्य प्रहरन्तमथार्जुनः।
ताडयामास खचरैर्दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ॥ २३ ॥

तब महात्मा अर्जुनके बाणोंसे निवारण होकर गन्धर्वराज अपनी मायासे अन्तर्धान हो गया। तब अन्तर्धान होकर शस्त्रोंका प्रहार करते हुए गन्धर्वराजको अर्जुनने अपने अभिमंत्रित दिव्य आकाश-गामी बाणोंसे मारा ॥ २३ ॥

अन्तर्धानवधं चास्य चक्रे क्रुद्धोऽर्जुनस्तदा।
शब्दवेध्यमुपाश्रित्य बहुरूपो धनंजयः ॥ २४ ॥

तब अनेक रूपोंवाले धनंजय अर्जुनने क्रोधसे अन्तर्हित चित्रसेनके ऊपर शब्दबेधी बाण छोडे ॥ २४ ॥

स वध्यमानस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना।
अथास्य दर्शयामास तदात्मानं प्रियः सखा ॥ २५ ॥

जब अर्जुनका प्यारा मित्र चित्रसेन महात्मा अर्जुनके बाणोंसे बहुत पीडित हुआ, तब उसने अपने शरीरको प्रकट कर दिया ॥ २५ ॥

चित्रसेनमथालक्ष्य सखायं युधि दुर्बलम्।
संजहारास्त्रमथ तत्प्रसृष्टं पाण्डवर्षभः ॥ २६ ॥

तब चित्रसेन बोला– इस युद्धमें लडनेवाले मुझे अपना मित्र चित्रसेन समझो। पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनने अपने प्रिय मित्र चित्रसेनको युद्धमें दुर्बल देखा, तो अर्जुनने युद्धमें छोडे गए अपने बाणोंको लौटा लिया ॥ २६ ॥

दृष्ट्वा तु पाण्डवाः सर्वे संहृतास्त्रं धनंजयम्।
संजग्हुः प्रद्रुतानश्वाञ्शरवेगान्धनूंषि च ॥ २७ ॥

जब पाण्डवोंने देखा, कि अर्जुनने अपने शस्त्रको रोक लिया, तब सबने अपने धनुष, बाण और घोडोंको रोक दिया ॥ २७ ॥

चित्रसेनश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि।
पृष्ट्वा कौशलमन्योन्यं रथेष्वेवावतस्थिरे ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४ ॥ ८१८९ ॥

चित्रसेन, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवने परस्पर कुशल प्रश्न पूछे और वे सब रथोंमें बैठ गए ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ चौंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ २३४ ॥ ८१८९ ॥

: २३५ :

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनश्चित्रसेनं प्रहसन्निदमब्रवीत्।
मध्ये गन्धर्वसैन्यानां महेष्वासो महाद्युतिः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय! तब महातेजस्वी और धनुषधारी अर्जुनने गन्धर्वोंकी सेनाके मध्यमें हंसकर चित्रसेनसे कहा ॥ १ ॥

किं ते व्यवसितं वीर कौरवाणां विनिग्रहे ।
किमर्थं च सदारोऽयं निगृहीतः सुयोधनः ॥ २ ॥

हे वीर ! कौरवोंको तुमने जो पकडा उसमें तुम्हारा क्या प्रयोजन था ? तुमने स्त्रियोंके सहित दुर्योधनको क्यों पकडा ? ॥ २ ॥

चित्रसेन उवाच

विदितोऽयमभिप्रायस्तत्रस्थेन महात्मना ।
दुर्योधनस्य पापस्य कर्णस्य च धनंजय ॥ ३ ॥
वनस्थान्भवतो ज्ञात्वा क्लिश्यमानाननर्हवत् ।
इमेऽवहसितुं प्राप्ता द्रौपदीं च यशस्विनीम् ॥ ४ ॥

चित्रसेन बोला— ये कौरव वनमें रहकर दुःख भोगते हुए आपकी तथा यशस्विनी द्रौपदीकी हंसी उडानेके लिये आये थे । हे अर्जुन ! पापी दुर्योधन और कर्णका यह अभिप्राय स्वर्गमें रहनेवाले महात्मा इन्द्रने जान लिया था ॥ ३-४ ॥

ज्ञात्वा चिकीर्षितं चैषां मामुवाच सुरेश्वरः ।
गच्छ दुर्योधनं बद्ध्वा सामात्यं त्वमिहानय ॥ ५ ॥

इन सबके अभिप्रायको जानकर इन्द्रने मुझसे कहा— कि तुम द्वैतवनमें जाओ और मन्त्रियों सहित दुर्योधनको पकड लाओ ॥ ५ ॥

धनंजयश्च ते रक्ष्यः सह भ्रातृभिराहवे ।
स हि प्रियः सखा तुभ्यं शिष्यश्च तव पाण्डवः ॥ ६ ॥

युद्धमें भाइयोंके सहित अर्जुनकी रक्षा करना, क्योंकि वह पाण्डुपुत्र अर्जुन तुम्हारा प्रिय मित्र और शिष्य है ॥ ६ ॥

वचनाद्देवराजस्य ततोऽस्मीहागतो द्रुतम् ।
अयं दुरात्मा बद्धश्च गमिष्यामि सुरालयम् ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! मैं इन्द्रकी इस आज्ञाको मानकर यहां शीघ्र चला आया । मैं पाकशासन इन्द्रकी आज्ञासे इस दुष्टको बांधकर इन्द्रके पास ले जाऊंगा ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच

उत्सृज्यतां चित्रसेन भ्राताऽस्माकं सुयोधनः ।
धर्मराजस्य संदेशान्मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ ८ ॥

अर्जुन बोले— हे चित्रसेन ! यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो, तो महाराज धर्मराजकी आज्ञासे हमारे भाई दुर्योधनको छोड दो ॥ ८ ॥

चित्रसेन उवाच

पापोऽयं नित्यसंदुष्टो न विमोक्षणमर्हति ।
प्रलब्धा धर्मराजस्य कृष्णायाश्च धनंजय ॥ ९ ॥

चित्रसेन बोले– हे अर्जुन ! यह महापापी, सदा दुष्ट है, यह सदा धर्मराज और द्रौपदीकी निन्दा किया करता है; इसलिये यह छोडनेके योग्य नहीं है ॥ ९ ॥

नेदं चिकीर्षितं तस्य कुन्तीपुत्रो महाव्रतः ।
जानाति धर्मराजो हि श्रुत्वा कुरु यथेच्छसि ॥ १० ॥

इसकी इच्छाओंको कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर नहीं जानते हैं। इसलिये हम सब धर्मराजके पास चलते हैं, वे जैसी आज्ञा देंगे वैसा ही किया जायेगा ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

ते सर्व एव राजानमभिजग्मुर्युधिष्ठिरम् ।
अभिगम्य च तत्सर्वं शशंसुस्तस्य दुष्कृतम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायन बोले– तब वे सब महाराज युधिष्ठिरके पास गए और जाकर उनका सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ११ ॥

अजातशत्रुस्तच्छ्रुत्वा गन्धर्वस्य वचस्तदा ।
मोक्षयामास तान्सर्वान्गन्धर्वान्प्रशशंस च ॥ १२ ॥

अजातशत्रु महाराजने गन्धर्वोंके वचन सुनकर सब कौरवोंको छुडा दिया और गन्धर्वोंकी बहुत प्रशंसा की ॥ १२ ॥

दिष्ट्या भवद्भिर्बलिभिः शक्तैः सर्वैर्न हिंसितः ।
दुर्वृत्तो धार्तराष्ट्रोऽयं सामात्यज्ञातिबान्धवः ॥ १३ ॥

(युधिष्ठिर बोले) तुम सब लोग बहुत बलवान् और समर्थ हो; तुम लोगोंने हमारे प्रारब्धहीसे इस दुष्ट दुर्योधनको मंत्री, भाई और बान्धवोंके सहित नहीं मारा ॥ १३ ॥

उपकारो महांस्तात कृतोऽयं मम खेचराः ।
कुलं न परिभूतं मे मोक्षेणास्य दुरात्मनः ॥ १४ ॥

हे आकाशचारी गन्धर्वो ! तुम लोगोंने हमपर यह एक बडा भारी उपकार किया है। तुम लोगोंने जो इस दुरात्माको छोड दिया, इससे हमारे कुलका नाश नहीं हुआ ॥ १४ ॥

आज्ञापयध्वमिष्टानि प्रीयामो दर्शनेन वः ।
प्राप्य सर्वानभिप्रायांस्ततो व्रजत माचिरम् ॥ १५ ॥

अब तुम लोगोंकी जो इच्छा हो सो मांग लो, हम तुम लोगोंको देखकर बहुत प्रसन्न हुए। अपनी इच्छानुसार हमसे सब वस्तु प्राप्त करके यहांसे शीघ्र चले जाओ ॥ १५ ॥

अनुज्ञातास्तु गन्धर्वाः पाण्डुपुत्रेण धीमता ।
सहाप्सरोभिः संहृष्टाश्चित्रसेनमुखा ययुः ॥ १६ ॥

महाराज बुद्धिमान् धर्मराजकी आज्ञा पाकर गन्धर्व बहुत प्रसन्न हुए और चित्रसेन आदि प्रमुख गंधर्व अप्सराओंके साथ चले गये ॥ १६ ॥

देवराडपि गन्धर्वान्मृतांस्तान्समजीवयत् ।
दिव्येनामृतवर्षेण ये हताः कौरवैर्युधि ॥ १७ ॥

युद्धमें कौरवोंने जिन गन्धर्वोंको मारा था, इन्द्रने उन सबपर दिव्य अमृतकी वर्षा की, तब वे सब जी गये ॥ १७ ॥

ज्ञातींस्तानवमुच्याथ राजदारांश्च सर्वशः ।
कृत्वा च दुष्करं कर्म प्रीतियुक्ताश्च पाण्डवाः ॥ १८ ॥

पाण्डव भी इस दुष्कर कर्मको करके तथा अपने बन्धुओं तथा उनकी स्त्रियोंको छुडवाकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १८ ॥

सस्त्रीकुमारैः कुरुभिः पूज्यमाना महारथाः ।
बभ्राजिरे महात्मानः कुरुमध्ये यथाग्नयः ॥ १९ ॥

उस समय कुरुकुलकी स्त्रियों और कुमारोंने महारथी पाण्डवोंकी बहुत प्रशंसा की । महात्मा पाण्डव उस समय ऐसे प्रकाशित हुए जैसे यज्ञमें अग्नि प्रकाशित होती है ॥ १९ ॥

ततो दुर्योधनं मुच्य भ्रातृभिः सहितं तदा ।
युधिष्ठिरः सप्रणयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

तदनन्तर गन्धर्वोंसे भाइयोंके सहित छूटे हुए दुर्योधनसे महाराजने प्रेमसे ऐसे वचन कहे ॥ २० ॥

मा स्म तात पुनः कार्षीरीदृशं साहसं क्वचित् ।
न हि साहसकर्तारः सुखमेधन्ति भारत ॥ २१ ॥

हे तात ! ऐसा साहस फिर कभी मत करना । क्योंकि, हे भारत ! ऐसे साहसका कर्म करनेवाले मनुष्य कभी भी सुखपूर्वक नहीं बढते ॥ २१ ॥

स्वस्तिमान्सहितः सर्वैर्भ्रातृभिः कुरुनन्दन ।
गृहान्व्रज यथाकामं वैमनस्यं च मा कृथाः ॥ २२ ॥

हे कुरुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो; अब तुम अपने भाइयोंके साथ घर जाओ; और मनमें किसी प्रकारका वैमनस्य मत रखना ॥ २२ ॥

पाण्डवेनाभ्यनुज्ञातो राजा दुर्योधनस्तदा ।
विदीर्यमाणो व्रीडेन जगाम नगरं प्रति ॥ २३ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर दुर्योधन लज्जासे मानों विदीर्ण होता हुआ नगरको चला ॥ २३ ॥

तस्मिन्गते कौरवेये कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितो वीरः पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २४ ॥
तपोधनैश्च तैः सर्वैर्वृतः शक्र इवामरैः ।
वने द्वैतवने तस्मिन्विजहार मुदा युतः ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३५ ॥ ८२१४ ॥

जब दुर्योधन चला गया; तब वीर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अपने भाई और तपोधन ब्राह्मणोंसे पूजित होकर तथा तपस्वी ब्राह्मणोंसे घिरकर प्रसन्नतापूर्वक उस वनमें ऐसे विहार करने लगे जैसे देवताओंके सहित इन्द्र नन्दनवनमें विहार करते हैं ॥ २४-२५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ पैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ २३५ ॥ ८२१४ ॥

: २३६ :

जनमेजय उवाच

शत्रुभिर्जितबद्धस्य पाण्डवैश्च महात्मभिः ।
मोक्षितस्य युधा पश्चान्मानस्थस्य दुरात्मनः ॥ १ ॥
कत्थनस्यावलिप्तस्य गर्वितस्य च नित्यशः ।
सदा च पौरुषौदार्यैः पाण्डवानवमन्यतः ॥ २ ॥

जनमेजय बोले– शत्रुओं द्वारा जीतकर बांधा गया पश्चात् महात्मा पांडवोंके द्वारा युद्ध करके छुडाया गया, अभिमानी दुष्टात्मा दुर्योधन सदा अपनी प्रशंसा किया करता था, जो सदा अभिमानी रहता था, जो अपने बल और उदारतासे पाण्डवोंको नीच मानता था ॥ १-२ ॥

दुर्योधनस्य पापस्य नित्याहङ्कारवादिनः ।
प्रवेशो हास्तिनपुरे दुष्करः प्रतिभाति मे ॥ ३ ॥

जो पापी दुर्योधन सदा अहङ्कारकी बात करता था, उसको हस्तिनापुरमें जाना बडा कठिन हुआ होगा, ऐसा मुझे प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

तस्य लज्जान्वितस्यैव शोकव्याकुलचेतसः ।
प्रवेशं विस्तरेण त्वं वैशंपायन कीर्तय ॥ ४ ॥

हे वैशम्पायन ! लज्जा और शोकसे व्याकुल चित्तवाले दुर्योधनने किस प्रकार नगरमें प्रवेश किया ? इस कथाको विस्तारपूर्वक कहिये ॥ ४ ॥

×

वैशम्पायन उवाच

धर्मराजनिसृष्टस्तु धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
लज्जयाधोमुखः सीदन्नुपासर्पत्सुदुःखितः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन बोले– हे महाराज ! जब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन धर्मराजसे विदा हुए, तब लज्जासे मुंह नीचे करके दुःखसे रोते हुए चले ॥ ५ ॥

स्वपुरं प्रययौ राजा चतुरङ्गबलानुगः ।
शोकोपहतया बुद्ध्या चिन्तयानः पराभवम् ॥ ६ ॥

उस समय राजा दुर्योधनकी बुद्धि शोकसे नष्ट हो गई थी, वे अपने निरादरको सोचते हुए, चतुरङ्गिणी सेनाके सहित नगरको चले ॥ ६ ॥

विमुच्य पथि यानानि देशे सुयवसोदके ।
संनिविष्टः शुभे रम्ये भूमिभागे यथेप्सितम् ।
हस्त्यश्वरथपादातं यथास्थानं न्यवेशयत् ॥ ७ ॥

थोडी दूर जाकर घास और जलसे सम्पन्न प्रदेशमें डेरा डाला । वहां हाथी, घोडे, रथ और पैदलोंको उचित स्थानमें ठहराकर, स्वयं भी एक रमणीय सुन्दर तथा अपनी इच्छाके अनुरूप भूप्रदेशमें जाकर ठहर गए ॥ ७ ॥

अथोपविष्टं राजानं पर्यङ्के ज्वलनप्रभे ।
उपप्लुतं यथा सोमं राहुणा रात्रिसंक्षये ।
उपगम्याब्रवीत्कर्णो दुर्योधनमिदं तदा ॥ ८ ॥

राजा दुर्योधन अपने डेरेमें अग्निके समान तेजस्वी एक पलंगपर बैठे हुए थे। उस समय उनके मुखकी कान्ति ऐसी फीकी फीकीसी लग रही थी, जिस प्रकार रात्रिके अन्तमें राहुसे आक्रान्त चन्द्रमाकी लगती है । उसी समय कर्ण दुर्योधनके पास आकर यह बोला ॥ ८ ॥

दिष्ट्या जीवसि गान्धारे दिष्ट्या नः सङ्गमः पुनः ।
दिष्ट्या त्वया जिताश्चैव गन्धर्वाः कामरूपिणः ॥ ९ ॥

हे गान्धारीपुत्र ! तुम सौभाग्यसे ही जीते हो, सौभाग्यसे ही हम फिर तुमसे मिले हैं, सौभाग्यसे ही तुमने अपनी इच्छानुसार रूपोंको धारण करनेवाले गन्धर्वोंको युद्धमें जीता ॥ ९ ॥

दिष्ट्या समग्रान्पश्यामि भ्रातॄंस्ते कुरुनन्दन ।
विजिगीषून्रणान्मुक्तान्निर्जितारीन्महारथान ॥ १० ॥

हे कुरुनन्दन ! सौभाग्यसे ही मैं तुम्हारे सभी विजिगीषु, रणसे मुक्त, शत्रुओंको जीतकर आए हुए महारथी भाइयोंको देख रहा हूँ ॥ १० ॥

अहं त्वभिद्रुतः सर्वैर्गन्धर्वैः पश्यतस्तव ।
नाशक्नुवं स्थापयितुं दीर्यमाणां स्ववाहिनीम् ॥ ११ ॥

मैं तो तुम्हारे सामने ही गन्धर्वोंके युद्धमें भाग आया था और मैं भागती हुई अपनी सेनाको स्थिर नहीं कर सका ॥ ११ ॥

शरक्षताङ्गश्च भृशं व्यपयातोऽभिपीडितः ।
इदं त्वत्यद्भुतं मन्ये यद्युष्मानिह भारत ॥ १२ ॥
अरिष्टानक्षतांश्चापि सदारधनवाहनान् ।
विमुक्तान्संप्रपश्यामि तस्माद्युद्धादमानुषात् ॥ १३ ॥

मेरे शरीरमें बाणोंके बहुत घाव हो गए थे, इसलिये अत्यन्त पीडित होकर मैं युद्धसे भाग गया था। पर, हे भारत ! मैं जो आप सबको उस अमानुषी युद्धसे मुक्त हुआ तथा स्त्री धन और वाहनोंके साथ आप लोगोंको अक्षत और संकटरहित देख रहा हूँ, यह मैं एक महान् आश्चर्यकी बात ही समझता हूँ ॥ १२-१३ ॥

नैतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन्पुमान्विद्येत भारत ।
यत्कृतं ते महाराज सह भ्रातृभिराहवे ॥ १४ ॥

हे महाराज ! आपने अपने भाइयोंके सहित इस युद्धमें जो कर्म किया, हे भारत ! इसका करनेवाला इस लोकमें और कोई पुरुष नहीं है ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
उवाचावाक्शिरा राजन्बाष्पगद्गदया गिरा ॥ १५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥ ८२२९ ॥

कर्णके वचन सुनकर राजा दुर्योधन नीचे सिर करके आंसुओंसे रुंधी हुई वाणीमें कहने लगा ॥ १५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ छत्तीसवां अध्याय समाप्त ॥ २३६ ॥ ८२२९ ॥

: २३७ :

दुर्योधन उवाच

अजानतस्ते राधेय नाभ्यसूयाम्यहं वचः ।
जानासि त्वं जिताञ्शत्रून्गन्धर्वांस्तेजसा मया ॥ १ ॥

दुर्योधन बोले– हे राधापुत्र ! तुम इस वृत्तान्तको नहीं जानते हो; इसलिये मैं तुम्हारे वचनको बुरा नहीं मानता, क्योंकि तुम यह जानते हो कि अपने शत्रु गन्धर्वोंको मैंने अपने बलसे जीता है ॥ १ ॥

आयोधितास्तु गन्धर्वाः सुचिरं सोदरैर्मम ।
मया सह महाबाहो कुलश्चोभयतः क्षयः ॥ २ ॥

हे महाबाहो ! हमारे भाइयोंने मेरे साथ बहुत समयतक गन्धर्वोंसे युद्ध किया और दोनों पक्षोंकी बहुत हानि हुई ॥ २ ॥

मायाधिकास्त्वयुध्यन्त यदा शूरा वियद्गताः ।
तदा नो नसमं युद्धमभवत्सह खेचरैः ॥ ३ ॥

परन्तु जब गन्धर्वोंने मायायुद्ध किया और वे लोग आकाशमें चले गये, तब उन आकाशगामी गंधर्वोंके साथ हमारा युद्ध समान न रहा, अर्थात् वे आकाशमें रहकर लडने लगे और हम भूमिपर रहकर ॥ ३ ॥

पराजयं च प्राप्ताः स्म रणे बन्धनमेव च ।
सभृत्यामात्यपुत्राश्च सदारधनवाहनाः ।
उच्चैराकाशमार्गेण ह्रियामस्तैः सुदुःखिताः ॥ ४ ॥

तब हम लोग युद्धमें हार गये और उन्होंने हमको बांध लिया। हमारे दास, पुत्र, स्त्री, मन्त्री, धन और वाहन सब पकड लिए गए । उस समय हम लोग बहुत दुःखित हुए और गन्धर्व हमको लेकर आकाशमें उड गए ॥ ४ ॥

अथ नः सैनिकाः केचिदमात्याश्च महारथान् ।
उपगम्याब्रुवन्दीनाः पाण्डवाञ्शरणप्रदान् ॥ ५ ॥

उसी समय हमारे कुछ सैनिकों और मन्त्रियोंने शरण देनेवाले महारथी पाण्डवोंके पास जाकर दीन होकर कहा ॥ ५ ॥

एष दुर्योधनो राजा धार्तराष्ट्रः सहानुजः ।
सामात्यदारो ह्रियते गन्धर्वैर्दिवमास्थितैः ॥ ६ ॥

हे पाण्डवो ! धृतराष्ट्रके पुत्र महाराज दुर्योधनको भाई, मन्त्री और स्त्रियोंके सहित पकडकर गन्धर्व आकाशमें लिये जाते हैं ॥ ६ ॥

तं मोक्षयत भद्रं वः सहदारं नराधिपम् ।
परामर्शो मा भविष्यत्कुरुदारेषु सर्वशः ॥ ७ ॥

आप लोगोंका कल्याण हो, स्त्रियोंके सहित उस राजाको छुडाइये । इन गन्धर्वोंने कौरवोंकी सब स्त्रियोंको पकड लिया है । ये गन्धर्व कुरुवंशियोंकी स्त्रियोंके साथ कोई अत्याचार न करें ॥ ७ ॥

एवमुक्ते तु धर्मात्मा ज्येष्ठः पाण्डुसुतस्तदा ।
प्रसाद्य सोदरान्सर्वानाज्ञापयत मोक्षणे ॥ ८ ॥

मन्त्रियोंके ऐसे वचन सुनकर पाण्डुके पुत्रोंमें सबसे बडे धर्मात्मा युधिष्ठिरने अपने भाईयोंको प्रसन्न करके हमें छुडानेकी आज्ञा दी ॥ ८ ॥

अथागम्य तमुद्देशं पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
सान्त्वपूर्वमयाचन्त शक्ताः सन्तो महारथाः ॥ ९ ॥

तदनन्तर पुरुषसिंह पाण्डवोंने उस स्थानपर आकर शान्तिपूर्वक प्रार्थना की। पाण्डव महारथी और युद्धमें समर्थ थे, तो भी उन लोगोंने शान्तिपूर्वक गन्धर्वोंसे हम लोगोंको मांगा ॥ ९ ॥

यदा चास्मान्न मुमुचुर्गन्धर्वाः सान्त्विता अपि ।
ततोऽर्जुनश्च भीमश्च यमजौ च बलोत्कटौ ।
मुमुचुः शरवर्षाणि गन्धर्वान्प्रत्यनेकशः ॥ १० ॥

पर जब गन्धर्वोंने शान्तिसे कहनेपर भी हम लोगोंको न छोडा तो अर्जुन, भीम, बलवान् नकुल और सहदेवने गन्धर्वोंके ऊपर बाणोंकी वर्षा करनी आरंभ की ॥ १० ॥

अथ सर्वे रणं मुक्त्वा प्रयाताः खचरा दिवम् ।
अस्मानेवाभिकर्षन्तो दीनान्मुदितमानसाः ॥ ११ ॥

तब वे आकाशचारी गन्धर्व युद्धको छोडकर प्रसन्न मनसे दुःखी हुए हमें खींचते हुए आकाशमें उड गए ॥ ११ ॥

ततः समन्तात्पश्यामि शरजालेन वेष्टितम् ।
अमानुषाणि चास्त्राणि प्रयुञ्जानं धनंजयम् ॥ १२ ॥

तब मैंने चारों ओरसे बाणोंसे घिरे होनेपर भी अमानुषीय अस्त्रोंका प्रयोग करते हुए अर्जुनको देखा ॥ १२ ॥

समावृता दिशो दृष्ट्वा पाण्डवेन शितैः शरैः ।
धनञ्जयसखात्मानं दर्शयामास वै तदा ॥ १३ ॥

जब गन्धर्वोंने सब दिशाओंको अर्जुनके तीक्ष्ण बाणोंसे पूरित देखा, तब धनंजयके मित्र चित्रसेनने स्वयंको प्रकट किया ॥ १३ ॥

चित्रसेनः पाण्डवेन समाश्लिष्य परंतपः ।
कुशलं परिपप्रच्छ तैः पृष्टश्चाप्यनामयम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर शत्रुनाशी चित्रसेन अर्जुनसे गले मिला और उसने पाण्डवोंकी कुशलता पूछी और उन पाण्डवोंने भी चित्रसेनसे उसकी कुशलता पूछी ॥ १४ ॥

ते समेत्य तथान्योन्यं संनाहान्विप्रमुच्य च ।
एकीभूतास्ततो वीरा गन्धर्वाः सह पाण्डवैः ।
अपूजयेतामन्योन्यं चित्रसेनधनंजयौ ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३७ ॥ ८२४४ ॥

तब वे वीर पाण्डव तथा गन्धर्व अपने कवच आदिको उतारकर एक दूसरेसे मिले और एकत्रित हो गए । तब चित्रसेन और धनंजयने एक दूसरेका सत्कार किया ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ सैंतीसवां अध्याय समाप्त ॥ २३७ ॥ ८२४४ ॥

: २३८ :

दुर्योधन उवाच

चित्रसेनं समागम्य प्रहसन्नर्जुनस्तदा ।
इदं वचनमक्लीबमब्रवीत्परवीरहा ॥ १ ॥

दुर्योधन बोले– तब चित्रसेनसे मिलकर शत्रुनाशक अर्जुनने हंसकर वीरतासे पूर्ण यह वचन कहा ॥ १ ॥

भ्रातॄनर्हसि नो वीर मोक्तुं गन्धर्वसत्तम ।
अनर्हा धर्षणं हीमे जीवमानेषु पाण्डुषु ॥ २ ॥

हे वीर गन्धर्वश्रेष्ठ ! आप हमारे भाईयोंको छोड दीजिये, क्योंकि पाण्डवोंके जीते जी इन लोगोंकी ऐसी दुर्दशा नहीं होनी चाहिये ॥ २ ॥

एवमुक्तस्तु गन्धर्वः पाण्डवेन महात्मना ।
उवाच यत्कर्ण वयं मन्त्रयन्तो विनिर्गताः ।
द्रष्टारः स्म सुखाद्धीनान्सदारान्पाण्डवानिति ॥ ३ ॥

हे कर्ण ! महावीर अर्जुनके ऐसे वचन सुनकर चित्रसेन गन्धर्वने कहा कि– ये कौरव इस बातकी सलाह करके वहांसे चले थे कि हम सुखसे भ्रष्ट हुए पाण्डवोंको उनकी स्त्रीके साथ देखेंगे ॥ ३ ॥

तस्मिन्नुच्चार्यमाणे तु गन्धर्वेण वचस्यथ ।
भूमेर्विवरमन्वैच्छं प्रवेष्टुं व्रीडयान्वितः ॥ ४ ॥

हे कर्ण ! जिस समय गन्धर्वने यह सब बात कही, उस समय मैं लज्जासे पृथ्वीमें घुस जानेके लिए उसमें कोई विवर ढूंढने लगा ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरमथागम्य गन्धर्वाः सह पाण्डवैः ।
अस्मद्दुर्मन्त्रितं तस्मै बद्धांश्चास्मान्न्यवेदयन् ॥ ५ ॥

तदनन्तर पाण्डवोंके साथ गन्धर्व युधिष्ठिरके पास आये और उन्हें हमारी दुर्मंत्रणाके बारेमें बताया और पाशोंसे बंधे हुए हमको युधिष्ठिरके सुपुर्द कर दिया ॥ ५ ॥

स्त्रीसमक्षमहं दीनो बद्धः शत्रुवशं गतः ।
युधिष्ठिरस्योपहृतः किं नु दुःखमतः परम् ॥ ६ ॥

मैं स्त्रियोंके सामने दीन भावसे शत्रुओंके वशमें पड गया और उसी दशामें मैं युधिष्ठिरके सामने ले जाया गया, इससे बढकर और अधिक दुःख मुझे क्या होगा ? ॥ ६ ॥

ये मे निराकृता नित्यं रिपुर्येषामहं सदा ।
तैर्मोक्षितोऽहं दुर्बुद्धिर्दत्तं तैर्जीवितं च मे ॥ ७ ॥

जिनका मैंने सदा निरादर किया था, जिनका मैं सदासे शत्रु हूं, उन्होंने ही मुझ दुर्बुद्धिको शत्रुओंके हाथसे छुडाया, उन्होंने ही मुझको जीवनदान दिया ॥ ७ ॥

प्राप्तः स्यां यद्यहं वीर वधं तस्मिन्महारणे ।
श्रेयस्तद्भविता मह्यमेवंभूतं न जीवितम् ॥ ८ ॥

हे वीर ! यदि मैं उस महायुद्धमें मृत्युको प्राप्त हो जाता तो बहुत अच्छा होता, परन्तु यह निरादर बहुत बुरा हुआ ॥ ८ ॥

भवेद्यशः पृथिव्यां मे ख्यातं गन्धर्वतो वधात् ।
प्राप्ताश्च लोकाः पुण्याः स्युर्महेन्द्रसदनेऽक्षयाः ॥ ९ ॥

यदि मुझको गन्धर्व युद्धमें मार डालते, तो पृथ्वीमें मेरा यश बहुत फैलता और इन्द्रलोकमें अक्षय पुण्यलोक प्राप्त होते ॥ ९ ॥

यत्त्वद्य मे व्यवसितं तच्छृणुध्वं नरर्षभाः ।
इह प्रायमुपासिष्ये यूयं व्रजत वै गृहान् ।
भ्रातरश्चैव मे सर्वे प्रयान्त्वद्य पुरं प्रति ॥ १० ॥

हे पुरुषसिंहो ! अब मैंने जो निश्चय किया है उसे तुम सुनो। अब मैं इस स्थानपर ही रहकर उपवास करूंगा। तुम लोग घरको जाओ। मेरे सभी भाई भी हस्तिनापुरको लौट जायें ॥१०॥

कर्णप्रभृतयश्चैव सुहृदो बान्धवाश्च ये ।
दुःशासनं पुरस्कृत्य प्रयान्त्वद्य पुरं प्रति ॥ ११ ॥

कर्णादि जो मेरे मित्र और बान्धव हैं, वे सब दुःशासनको आगे करके हस्तिनापुरको लौट जायें ॥ ११ ॥

न ह्यहं प्रतियास्यामि पुरं शत्रुनिराकृतः ।
शत्रुमानापहो भूत्वा सुहृदां मानकृत्तथा ॥ १२ ॥

पहले अपने मित्रोंको सम्मान देनेवाला तथा शत्रुओंका मानमर्दन करनेवाला होकर मैं शत्रुओंके द्वारा तिरस्कृत होनेके कारण अब अपने नगरको नहीं जाऊंगा ॥ १२ ॥

स सुहृच्छोकदो भूत्वा शत्रूणां हर्षवर्धनः ।
वारणाह्वयमासाद्य किं वक्ष्यामि जनाधिपम् ॥ १३ ॥

अब मैं शत्रुओंको सुख और मित्रोंको दुःख देनेवाला हो गया हूँ। मैं अब हस्तिनापुरमें जाकर राजासे क्या कहूंगा ? ॥ १३ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपो द्रौणिर्विदुरः सञ्जयस्तथा ।
बाह्लिकः सोमदत्तश्च ये चान्ये वृद्धसंमताः ॥ १४ ॥

भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य; अश्वत्थामा, विदुर, सञ्जय, बाल्हीक, भूरिश्रवा तथा और जो वृद्ध-संमत ब्राह्मण हैं ॥ १४ ॥

ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ।
किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम् ॥ १५ ॥

तथा श्रेणियोंमें मुख्य और महात्मा लोग जो हैं वे सब मुझे देखकर क्या कहेंगे ? और मैं भी उन्हें क्या उत्तर दूंगा ? ॥ १५ ॥

रिपूणां शिरसि स्थित्वा तथा विक्रम्य चोरसि ।
आत्मदोषात्परिभ्रष्टः कथं वक्ष्यामि तानहम् ॥ १६ ॥

मैं पहले सदा शत्रुओंके सिरपर रहा हूँ और उनकी छातीपर मैंने सदा अपना पराक्रम प्रगट किया है और अब अपने ही दोषसे भ्रष्ट हो गया हूँ। अब उन लोगोंसे जाकर मैं क्या कहूँगा ॥ १६ ॥

दुर्विनीताः श्रियं प्राप्य विद्यामैश्वर्यमेव च ।
तिष्ठन्ति न चिरं भद्रे यथाहं मदगर्वितः ॥ १७ ॥

दुष्ट लोग लक्ष्मी, विद्या और ऐश्वर्यको पाकर बहुत दिनतक कल्याणमें नहीं रह पाते; जिस प्रकार अहंकारसे मत्त मैं कल्याणमें नहीं रह सका ॥ १७ ॥

अहो बत यथेदं मे कष्टं दुश्चरितं कृतम् ।
स्वयं दुर्बुद्धिना मोहाद्येन प्राप्तोऽस्मि संशयम् ॥ १८ ॥

दुष्ट बुद्धिवाले मैंने मोहमें आकर यह कुकर्म किया, जिसके कारण मुझे यह संकट प्राप्त हुआ। इसीका बडा भारी कष्ट है ॥ १८ ॥

तस्मात्प्रायमुपासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ।
चेतयानो हि को जीवेत्कृच्छ्राच्छत्रुभिरुद्धृतः ॥ १९ ॥

इसलिये अब यहीं रहकर अन्न, जल छोडकर प्राणत्याग कर दूंगा । अब मैं जीवित नहीं रह सकूंगा । ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो शत्रुओंसे जीवदान पाकर जीता रहे ? ॥ १९ ॥

शत्रुभिश्चावहसितो मानी पौरुषवर्जितः ।
पाण्डवैर्विक्रमाढ्यैश्च सावमानमवेक्षितः ॥ २० ॥

मैं परम अभिमानी और शक्तिसे हीन हूँ । इसीलिए शत्रु मुझपर हंसते हैं । महाबलवान् पाण्डवोंने निरादरकी नजरसे मेरी ओर देखा था ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं चिन्तापरिगतो दुःशासनमथाब्रवीत् ।
दुःशासन निबोधेदं वचनं मम भारत ॥ २१ ॥

वैशम्पायन बोले– ऐसा कहकर चिन्तासे व्याकुल होकर महाराज दुर्योधनने दुःशासनसे कहा कि हे दुःशासन ! हे भारत ! तुम मेरे इन वचनोंको सुनो ॥ २१ ॥

प्रतीच्छ त्वं मया दत्तमभिषेकं नृपो भव ।
प्रशाधि पृथिवीं स्फीतां कर्णसौबलपालिताम् ॥ २२ ॥

अब मेरे द्वारा दिए गए अभिषेकको तुम स्वीकार करो और तुम आजसे राजा हो जाओ । तुम कर्ण और शकुनिसे सुरक्षित इस समृद्ध पृथ्वीपर शासन करो ॥ २२ ॥

भ्रातॄन्पालय विस्रब्धं मरुतो वृत्रहा यथा ।
बान्धवास्त्वोपजीवन्तु देवा इव शतक्रतुम् ॥ २३ ॥

हे दुःशासन ! तुम अपने भाइयोंका इसप्रकार पालन करना जैसे इन्द्र मरुतोंका पालन करते हैं । तुम्हारे भाई भी तुम्हारा आश्रय लेकर उसी प्रकार जीवित रहें जिस प्रकार देवगण इन्द्रका आश्रय लेकर जीवित रहते हैं ॥ २३ ॥

ब्राह्मणेषु सदा वृत्तिं कुर्वीथाश्चाप्रमादतः ।
बन्धूनां सुहृदां चैव भवेथास्त्वं गतिः सदा ॥ २४ ॥

तुम सदा सावधान होकर ब्राह्मणोंकी सेवा करना । बन्धु और मित्रोंको हमेशा सहारा देते रहना ॥ २४ ॥

ज्ञातींश्चाप्यनुपश्येथा विष्णुर्देवगणानिव ।
गुरवः पालनीयास्ते गच्छ पालय मेदिनीम् ॥ २५ ॥

अपनी जातिके ऊपर ऐसी ही दृष्टि रखना जैसे विष्णु देवोंके उपर रखते हैं । वृद्धोंकी अच्छी प्रकार सेवा करना । जाओ, पृथ्वीका पालन करो ॥ २५ ॥

नन्दयन्सुहृदः सर्वाञ्शात्रवांश्चावभर्त्सयन् ।
कण्ठे चैनं परिष्वज्य गम्यतामित्युवाच ह ॥ २६ ॥

तुम मित्रोंको प्रसन्न करो और शत्रुओंको दुःख देकर पृथ्वीका पालन करो। ऐसा कहकर दुःशासनको अपने गलेसे लगाया और कहा कि 'जाओ' ॥ २६ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दीनो दुःशासनोऽब्रवीत् ।
अश्रुकण्ठः सुदुःखार्तः प्राञ्जलिः प्रणिपत्य च ।
सगद्गदमिदं वाक्यं भ्रातरं ज्येष्ठमात्मनः ॥ २७ ॥

उस दुर्योधनके उस वचनको सुनकर दुःखसे अत्यन्त व्याकुल तथा आंसुओंसे रुंधे हुए कण्ठ-वाला दुःखी दुःशासन अपने बडे भाई दुर्योधनको प्रणामकर हाथ जोडकर गद्‌गद होकर यह वाक्य कहने लगा ॥ २७ ॥

प्रसीदेत्यपतद्भूमौ दूयमानेन चेतसा ।
दुःखितः पादयोस्तस्य नेत्रजं जलमुत्सृजन् ॥ २८ ॥

दुःखसे व्याकुल हुआ वह दुःशासन दुःखी मनसे अपनी आंखोंसे निकलनेवाले जलसे दुर्यो-धनके पैरोंको धोता हुआ दुर्योधनसे 'प्रसन्न होइये' यह कहकर भूमिपर गिर पडा ॥२८॥

उक्तवांश्च नरव्याघ्रो नैतदेवं भविष्यति ।
विदीर्येत्सनगा भूमिर्द्यौश्चापि शकलीभवेत् ।
रविरात्मप्रभां जह्यात्सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥ २९ ॥
वायुः शैघ्र्यमथो जह्याद्धिमवांश्च परिव्रजेत् ।
शुष्येत्तोयं समुद्रेषु वह्निरप्युष्णतां त्यजेत् ॥ ३० ॥

वह नरव्याघ्र दुःशासन बोला– भले ही पर्वतों सहित यह भूमि फट जाए, द्युलोकके टुकडे टुकडे हो जायें, सूर्य अपनी प्रभाको छोड दे और चन्द्र अपनी शीतलताको छोड दे। चाहे वायु अपनी गतिको छोड दे, चाहे हिमाचल चलने लगे, चाहे समुद्रका पानी सूख जाये, चाहे अग्नि ठंडी हो जायें, पर आपकी आज्ञा मैं नहीं मान सकता ॥ २९-३० ॥

न चाहं त्वदृते राजन्प्रशासेयं वसुन्धराम् ।
पुनः पुनः प्रसीदेति वाक्यं चेदमुवाच ह ।
त्वमेव नः कुले राजा भविष्यसि शतं समाः ॥ ३१ ॥

हे राजन्! मैं आपके बिना पृथ्वीपर शासन नहीं करूंगा। फिर वारवार दुःशासन कहने लगा कि, आप प्रसन्न होइए, आप ही सौ वर्षतक हमारे राजा रहेंगे ॥ ३१ ॥

एवमुक्त्वा स राजेन्द्र सस्वनं प्ररुरोद ह ।
पादौ संगृह्य मानार्हौ भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत ॥ ३२ ॥

हे राजेन्द्र जनमेजय ! ऐसा कहकर दुःशासन ऊंचे स्वरसे रोने लगा और अपने बडे भाईके सम्मानके योग्य चरणोंपर गिर पडा ॥ ३२ ॥

तथा तौ दुःखितौ दृष्ट्वा दुःशासनसुयोधनौ ।
अभिगम्य व्यथाविष्टः कर्णस्तौ प्रत्यभाषत ॥ ३३ ॥

इस प्रकार उन दोनों दुर्योधन और दुःशासनको दुःखी देखकर व्यथासे व्याकुल होकर कर्ण आए और ऐसा कहने लगे ॥ ३३ ॥

विषीदथः किं कौरव्यौ बालिश्यात्प्राकृताविव ।
न शोकः शोचमानस्य विनिवर्तेत कस्यचित् ॥ ३४ ॥

हे कौरवो ! तुम मूर्खताके कारण सामान्य पुरुषके समान क्यों रो रहे हो ? शोक करनेवाले किसी पुरुषका शोक नष्ट नहीं होता ॥ ३४ ॥

यदा च शोचतः शोको व्यसनं नापकर्षति ।
सामर्थ्यं किं त्वतः शोके शोचमानौ प्रपश्यथः ।
धृतिं गृह्णीत मा शत्रूञ्शोचन्तौ नन्दयिष्यथः ॥ ३५ ॥

जब शोक करनेसे शोक करनेवालेका दुःख नष्ट नहीं होता, तब आप दोनों शोक करते हुए शोकमें क्या सामर्थ्य देखते हैं ? आप लोग धैर्य धारण कीजिए । शोक करके शत्रुओंको प्रसन्न मत कीजिये ॥ ३५ ॥

कर्तव्यं कि कृतं राजन्पाण्डवैस्तव मोक्षणम् ।
नित्यमेव प्रियं कार्यं राज्ञो विषयवासिभिः ।
पाल्यमानास्त्वया ते हि निवसन्ति गतज्वराः ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! पाण्डवोंने जो आप लोगोंको शत्रुओंके हाथसे छुडाया सो ऐसा करना उनके लिये उचित ही था; क्योंकि राज्यमें रहनेवालोंको राजाकी सेवा करनी ही चाहिये । आप उनकी सदा रक्षा करते हैं; इसीसे वे लोग सुखपूर्वक वनमें रहते हैं ॥ ३६ ॥

नार्हस्येवंगते मन्युं कर्तुं प्राकृतवद्यथा ।
विषण्णास्तव सोदर्यास्त्वयि प्रायं समास्थिते ।
उत्तिष्ठ व्रज भद्रं ते समाश्वासय सोदरान् ॥ ३७ ॥

इस विपयमें आपको साधारण पुरुषोंके समान शोक नहीं करना चाहिये । आपको उपवास करते देखकर आपके भाई दुःखी हो रहे हैं । हे राजन् ! आपका कल्याण हो, उठो और चलकर अपने भाईयोंको सान्त्वना प्रदान करो ॥ ३७ ॥

राजन्नद्यावगच्छामि तवेह लघुसत्त्वताम् ।
किमत्र चित्रं यद्वीर मोक्षितः पाण्डवैरसि ।
सद्यो वशं समापन्नः शत्रूणां शत्रुकर्शन ॥ ३८ ॥

हे राजन् ! आपके इस प्रकार उत्साहहीन होनेका कारण मैं नहीं जान पा रहा। हे शत्रुनाशक वीर ! शत्रुओंके वशमें पडे हुए आपको यदि एक बार पाण्डवोंने छुडा भी लिया, तो इसमें आश्चर्य क्या हो गया ? ॥ ३८ ॥

सेनाजीवैश्च कौरव्य तथा विषयवासिभिः ।
अज्ञातैर्यदि वा ज्ञातैः कर्तव्यं नृपतेः प्रियम् ॥ ३९ ॥

हे कौरव ! जो आपकी सेनामें रहकर अपनी जीविका चलाते हैं, जो आपके राज्यमें रहते हैं, उन्हें आप जानते हों या न जानते हों, उन्हें राजाका प्रिय करना ही चाहिये ॥ ३९ ॥

प्रायः प्रधानाः पुरुषाः क्षोभयन्त्यरिवाहिनीम् ।
निगृह्यन्ते च युद्धेषु मोक्ष्यन्ते चै स्वसैनिकैः ॥ ४० ॥

प्रधान पुरुष प्रायः शत्रुओंकी सेनाको मथ देते हैं, फिर आप युद्धोंमें पकडे जाते हैं, और सेनावाले लोग फिर उनको छुडा लेते हैं ॥ ४० ॥

सेनाजीवाश्च ये राज्ञां विषये सन्ति मानवाः ।
तैः सङ्गम्य नृपार्थाय यतितव्यं यथातथम् ॥ ४१ ॥

जो लोग सेनाके हैं और जो लोग राज्यमें बसते हैं; उन सबको मिलकर राजाका यथायोग्य कल्याण करना ही चाहिये ॥ ४१ ॥

यद्येवं पाण्डवै राजन्भवद्विषयवासिभिः ।
यदृच्छया मोक्षितोऽद्य तत्र का परिदेवना ॥ ४२ ॥

यदि आपके राज्यमें रहनेवाले पाण्डवोंने अपनी इच्छासे आपको छुडा दिया, तो उसमें दुःख माननेकी कौनसी बात है ? ॥ ४२ ॥

न चैतत्साधु यद्राजन्पाण्डवास्त्वां नृपोत्तम ।
स्वसेनया संप्रयान्तं नानुयान्ति स्म पृष्ठतः ॥ ४३ ॥

हे राजाओंमें श्रेष्ठ राजन् ! जो आप अपनी सेनाके सहित जाते होते और पाण्डव आपके पीछे न चलते, तो यह दुःखकी बात अवश्य होती ॥ ४३ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च संयुगेष्वपलायिनः ।
भवतस्ते सभायां वै प्रेष्यतां पूर्वमागताः ॥ ४४ ॥

निस्सन्देह पाण्डव बडे शूरवीर बलवान् और युद्धमें स्थिर रहनेवाले हैं, फिर भी पहले ही वे आपकी सभामें आपके दास बन चुके हैं ॥ ४४ ॥

पाण्डवेयानि रत्नानि त्वमवाप्युपभुञ्जसे ।
सत्त्वस्थान्पाण्डवान्पश्य न ते प्रायमुपाविशन् ।
उत्तिष्ठ राजन्भद्रं ते न चिन्तां कर्तुमर्हसि ॥ ४५ ॥

उन्हीं पाण्डवोंके सब रत्नोंका आप आज भोग करते हैं, फिर भी देखिये, पाण्डव कैसे सत्त्वस्थ हैं, वे कभी आपके समान प्रायोपवेश नहीं करते । हे राजन् ! आपका कल्याण हो, अब आप उठिये, विलम्ब मत कीजिये ॥ ४५ ॥

अवश्यमेव नृपते राज्ञो विषयवासिभिः ।
प्रियाण्याचरितव्यानि तत्र का परिदेवना ॥ ४६ ॥

हे राजन् ! राज्यमें रहनेवाले पुरुषोंको राजाकी सेवा अवश्य ही करनी चाहिये; अतः इसमें दुःखी होनेकी क्या बात है ? ॥ ४६ ॥

मद्वाक्यमेतद्राजेन्द्र यद्येवं न करिष्यसि ।
स्थास्यामीह भवत्पादौ शुश्रूषन्नरिमर्दन ॥ ४७ ॥

हे शत्रुनाशक राजेन्द्र ! यदि आप मेरे वाक्योंको न मानेंगे तो मैं भी आपके चरणोंकी सेवा करते हुए आपके पास ही रहूंगा ॥ ४७ ॥

नोत्सहे जीवितुमहं त्वद्विहीनो नरर्षभ ।
प्रायोपविष्टस्तु नृप राज्ञां हास्यो भविष्यसि ॥ ४८ ॥

हे पुरुषसिंह ! हे राजेन्द्र ! मैं आपके बिना नहीं जी सकता । हे राजन् ! अनशन करनेसे तो आप राजाओंके हंसीके पात्र ही होंगे ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
नैवोत्थातुं मनश्चक्रे स्वर्गाय कृतनिश्चयः ॥ ४९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३८ ॥ ८२९३ ॥

वैशम्पायन बोले– जब राजा दुर्योधनसे कर्णने ऐसे वचन कहे, तब भी महाराजने उठनेकी इच्छा न की और अपने मनमें मरनेका ही निश्चय कर लिया ॥ ४९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ अडतीसवां अध्याय समाप्त ॥ २३८ ॥ ८२९३ ॥

२३९

वैशम्पायन उवाच

प्रायोपविष्टं राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच सान्त्वयन्राजञ्शकुनिः सौबलस्तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! महाक्रोधी शत्रुनाशक महाराज दुर्योधनको इस प्रकार अनशन करनेके लिए बैठे हुए देखकर सुवलपुत्र शकुनि उसे सान्त्वना देता हुआ कहने लगा ॥ १ ॥

सम्यगुक्तं हि कर्णेन तच्छ्रुतं कौरव त्वया ।
मयाहृतां श्रियं स्फीतां मोहात्समपहाय किम् ।
त्वमबुद्ध्या नृपवर प्राणानुत्स्रष्टुमिच्छसि ॥ २ ॥

हे कौरव ! कर्णने जो कुछ आपसे कहा सो आपने अच्छी प्रकार सुना । आप मेरे द्वारा उपार्जित की गई समृद्धियुक्त लक्ष्मीको क्या मोहसे यों ही छोड देंगे ? जो, हे राजश्रेष्ठ ! इस प्रकार आप मूर्खतासे अपना प्राण परित्याग करना चाहते हैं ॥ २ ॥

अद्य चाप्यवगच्छामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया ।
यः समुत्पतितं हर्षं दैन्यं वा न नियच्छति ।
स नश्यति श्रियं प्राप्य पात्रमाममिवाम्भसि ॥ ३ ॥

आज मुझे यह ज्ञात हुआ कि आपने बूढोंकी सेवा नहीं की है। जो सुख या दुःखके आनेपर स्वयंपर संयम नहीं कर पाता उसका उसी प्रकारसे नाश हो जाता है जैसे मिट्टीका कच्चा वर्तन पानीमें गल जाता है ॥ ३ ॥

अतिभीरुमतिक्लीबं दीर्घसूत्रं प्रमादिनम् ।
व्यसनाद्विषयाक्रान्तं न भजन्ति नृपं श्रियः ॥ ४ ॥

हे राजेन्द्र ! अत्यन्त डरपोक, नपुंसक, आलसी, असावधान, व्यसनी और विषयोंमें फंसे हुए राजाके पास लक्ष्मी नहीं आती ॥ ४ ॥

सत्कृतस्य हि ते शोको विपरीते कथं भवेत् ।
मा कृतं शोभनं पार्थैः शोकमालम्ब्य नाशय ॥ ५ ॥

पाण्डवोंने जब आपका सत्कार ही किया तब तो आप इतना शोक कर रहे हैं, जब वे इसके विपरीत आपका तिरस्कार करते, तो पता नहीं आप कितना शोक करते । पाण्डवोंने जो उत्तम कर्म किया है, उसे शोकका आश्रय लेकर नष्ट मत कीजिये ॥ ५ ॥

यत्र हर्षस्त्वया कार्यः सत्कर्तव्याश्च पाण्डवाः ।
तत्र शोचसि राजेन्द्र विपरीतमिदं तव ॥ ६ ॥

हे राजेन्द्र ! जहां आपको प्रसन्न होना चाहिये और पाण्डवोंका सत्कार करना चाहिए, वहां शोक करते हैं, यह बहुत विपरीत बात है ॥ ६ ॥

प्रसीद मा त्यजात्मानं तुष्टश्च सुकृतं स्मर ।
प्रयच्छ राज्यं पार्थानां यशो धर्ममवाप्नुहि ॥ ७ ॥

हे महाराज ! आप प्रसन्न होईए; शरीरको वृथा नष्ट न कीजिये; और प्रसन्न होकर अपने पुण्यका स्मरण कीजिये । पाण्डवोंका राज्य उनको देकर यश और धर्मको प्राप्त कीजिये ॥७॥

क्रियामेतां समाज्ञाय कृतघ्नो न भविष्यसि ।
सौभ्रात्रं पाण्डवैः कृत्वा समवस्थाप्य चैव तान् ।
पित्र्यं राज्यं प्रयच्छैषां ततः सुखमवाप्नुहि ॥ ८ ॥

ऐसा करनेसे आपको कोई कृतघ्न नहीं कहेगा । उन्हें राज्यपर बिठला देनेपर पाण्डवोंसे सौभ्रात्र भी बना रहेगा। पाण्डवोंके पितामहका राज्य उनको लौटाकर सुखी होइये ॥ ८ ॥

शकुनेस्तु वचः श्रुत्वा दुःशासनमवेक्ष्य च ।
पादयोः पतितं वीरं विक्लवं भ्रातृसौहृदात् ॥ ९ ॥
बाहुभ्यां साधुजाताभ्यां दुःशासनमरिंदमम् ।
उत्थाप्य संपरिष्वज्य प्रीत्याजिघ्रत मूर्धनि ॥ १० ॥

शकुनिके ऐसे वचन सुनकर और वीर दुःशासनको भाईके प्रेमके कारण चरणोंमें पडा हुआ देखकर राजा दुर्योधनने शत्रुनाशक दुःशासनको अपने सुन्दर हाथोंसे उठाकर और उसे गलेसे लगाकर उसका माथा प्रेमसे सूंघा ॥ ९-१० ॥

कर्णसौबलयोश्चापि संस्मृत्य वचनान्यसौ ।
निर्वेदं परमं गत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
व्रीडयाभिपरीतात्मा नैराश्यमगमत्परम् ॥ ११ ॥

कर्ण और शकुनिके वचनोंको यादकर राजा दुर्योधनको बहुत दुःख हुआ और लज्जासे व्याकुल होकर बहुत निराश हुए ॥ ११ ॥

सुहृदां चैव तच्छ्रुत्वा समन्युरिदमब्रवीत् ।
न धर्मधनसौख्येन नैश्वर्येण न चाज्ञया ।
नैव भोगैश्च मे कार्यं मा विहन्यत गच्छत ॥ १२ ॥

तदनन्तर अपने मित्रोंकी उन बातोंको सुनकर क्रोधमें भरके कहने लगे— कि मुझे धर्म, धन, सुख, ऐश्वर्य और राज्यसे तथा अनेक प्रकारके भोगोंसे कुछ प्रयोजन नहीं है, तुम लोग मुझे दुःख मत दो । तुम लोग घरको चले जाओ ॥ १२ ॥

निश्चितेयं मम मतिः स्थिता प्रायोपवेशने।
गच्छध्वं नगरं सर्वे पूज्याश्च गुरवो मम ॥ १३ ॥

मैंने अपनी बुद्धिको स्थिर करके यह निश्चय किया है, कि अब अनशन अवश्य करूंगा। अब तुम सब हस्तिनापुरको चले जाओ और मेरे बडे बूढोंकी सेवा करना ॥ १३ ॥

त एवमुक्ताः प्रत्यूचू राजानमरिमर्दनम्।
या गतिस्तव राजेन्द्र सास्माकमपि भारत।
कथं वा संप्रवेक्ष्यामस्त्वद्विहीनाः पुरं वयम् ॥ १४ ॥

राजाके ऐसा वचन सुनकर वे लोग शत्रुनाशक दुर्योधनसे कहने लगे— कि हे राजेन्द्र! हे भारत! आपको छोडकर हम लोग नगरमें कैसे प्रवेश करेंगे ? इसलिये आपकी जो दशा होगी वही हम सबकी भी होगी ॥ १४ ॥

स सुहृद्भिरमात्यैश्च भ्रातृभिः स्वजनेन च।
बहुप्रकारमप्युक्तो निश्चयान्न व्यचाल्यत ॥ १५ ॥

हे राजन् जनमेजय ! महाराज दुर्योधन इस प्रकार मन्त्री, भाई, मित्र और बान्धवोंके द्वारा अनेक प्रकारसे समझाये जानेपर भी अपने निश्चयसे विचालित न हुए ॥ १५ ॥

दर्भप्रस्तरमास्तीर्य निश्चयाद्धृतराष्ट्रजः।
संस्पृश्यापः शुचिर्भूत्वा भूतलं समुपाश्रितः ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रपुत्र राजसिंह महाराज दुर्योधनने निश्चय करके पृथ्वीपर कुशका आसन बिछाया और जल आदिसे पवित्र होकर वे उसपर बैठ गए ॥ १६ ॥

कुशचीराम्बरधरः परं नियममास्थितः।
वाग्यतो राजशार्दूलः स स्वर्गगतिकाङ्क्षया।
मनसोपचितिं कृत्वा निरस्य च बहिष्क्रियाः ॥ १७ ॥
अथ तं निश्चयं तस्य बुद्ध्वा दैतेयदानवाः।
पातालवासिनो रौद्राः पूर्वं देवैर्विनिर्जिताः ॥ १८ ॥

तब महाराजने कुशके आसनपर बैठकर कुशसे बने वस्त्र ओढ लिये और अपने वचनको अपने वशमें किया, अर्थात् मौन हो गये। उस समय महाराजने केवल स्वर्ग जानेहीका ध्यान किया। अपने मनको वशमें करके बाहरकी सब क्रियाओंको त्याग दिया ॥ १७-१८ ॥

ते स्वपक्षक्षयं तं तु ज्ञात्वा दुर्योधनस्य वै।
आह्वानाय तदा चक्रुः कर्म वैतानसंभवम् ॥ १९ ॥

महाराजका ऐसा निश्चय देखकर दितिपुत्र दैत्य, दानव, पातालमें रहनेवाले घोर राक्षस और जिनको देवताओंने पहिले जीता था उन सबने अपने पक्षका नाश विचारकर दुर्योधनको आह्वान करनेके लिये अथर्ववेदकी रीतिसे यज्ञ करना आरम्भ किया ॥ १९ ॥

बृहस्पत्युशनोक्तैश्च मन्त्रैर्मन्त्रविशारदाः ।
अथर्ववेदप्रोक्तैश्च याश्चोपनिषदि क्रियाः ।
मन्त्रजप्यसमायुक्तास्तास्तदा समवर्तयन् ॥ २० ॥

मंत्रोंको जाननेवाले ब्राह्मणोंने बृहस्पति और शुक्रके कहे हुए मंत्रोंसे अथर्ववेद और उपनिषदोंके अनुसार मन्त्र जपना और यज्ञ करना आरम्भ किया ॥ २० ॥

जुह्वत्यग्नौ हविः क्षीरं मन्त्रवत्सुसमाहिताः ।
ब्राह्मणा वेदवेदाङ्गपारगाः सुदृढव्रताः ॥ २१ ॥

वेद और वेदाङ्गोंके जाननेवाले उत्तम व्रतधारी ब्राह्मण अग्निमें मंत्रोंके साथ खीर और दूधकी आहुति देने लगे ॥ २१ ॥

कर्मसिद्धौ तदा तत्र जृम्भमाणा महाद्भुता ।
कृत्या समुत्थिता राजन्किं करोमीति चाब्रवीत् ॥ २२ ॥

हे राजन् ! इसप्रकार कर्म सिद्ध होनेके बाद यज्ञकुण्डसे एक जंभाई देनेवाली महाआश्चर्यकारक कृत्या उत्पन्न हुई और कहने लगी, कि मैं क्या करूं ? ॥ २२ ॥

आहुर्दैत्याश्च तां तत्र सुप्रीतेनान्तरात्मना ।
प्रायोपविष्टं राजानं धार्तराष्ट्रमिहानय ॥ २३ ॥

तब सब दैत्य प्रसन्न मनवाले हो गए और उससे बोले— कि अनशन करनेके लिए बैठे हुए धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनको हमारे पास ले आओ ॥ २३ ॥

तथेति च प्रतिश्रुत्य सा कृत्या प्रययौ तदा ।
निमेषादगमच्चापि यत्र राजा सुयोधनः ॥ २४ ॥

वह स्त्री "तथास्तु" कहकर और उनके वचनको स्वीकार करके वहांसे चली और क्षणभरमें उस स्थानपर जा पहुंची कि जहां राजा दुर्योधन बैठे हुए थे ॥ २४ ॥

समादाय च राजानं प्रविवेश रसातलम् ।
दानवानां मुहूर्ताच्च तमानीतं न्यवेदयत् ॥ २५ ॥

दुर्योधनको लेकर वह रसातलमें चली गई और क्षणभरमें वह दानवोंके पास जाकर बोली कि मैं दुर्योधनको ले आई हूँ ॥ २५ ॥

तमानीतं नृपं दृष्ट्वा रात्रौ संहत्य दानवाः ।
प्रहृष्टमनसः सर्वे किंचिदुत्फुल्ललोचनाः ।
साभिमानमिदं वाक्यं दुर्योधनमथाब्रुवन् ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३९ ॥ ८३१९ ॥

कृत्या द्वारा लाए गए राजा दुर्योधनको देखकर सब दानव प्रसन्न हुए। उनकी आंखें प्रसन्नतासे खिल उठीं। वे रात्रिमें दुर्योधनसे भेटकर और उससे अभिमानपूर्वक यह वचन कहने लगे ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ उन्तालिसवां अध्याय समाप्त ॥ २३९ ॥ ८३१९ ॥

: २४० :

दानवा ऊचुः

भोः सुयोधन राजेन्द्र भरतानां कुलोद्वह ।
शूरैः परिवृतो नित्यं तथैव च महात्मभिः ॥ १ ॥
अकार्षीः साहसमिदं कस्मात्प्रायोपवेशनम् ।
आत्मत्यागी ह्यवाग्याति वाच्यतां चायशस्करीम् ॥ २ ॥

दानव बोले– हे राजेन्द्र! भरतकुलश्रेष्ठ दुर्योधन! आपने हमेशा शूरवीर और महात्मा पुरुषोंसे युक्त होकर भी अन्न जलके परित्याग करनेका यह साहस क्यों किया है? जो पुरुष अपने शरीरका नाश करता है, वह नरकगामी होता है और पृथ्वीमें उसकी कीर्ति भी नष्ट हो जाती है ॥ १-२ ॥

न हि कार्यविरुद्धेषु बह्वपायेषु कर्मसु ।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ ३ ॥

आपके समान बुद्धिमान् विरुद्ध, पापमय और सर्वनाशक कार्योंको नहीं करते ॥ ३ ॥

नियच्छैतां मतिं राजन्धर्मार्थसुखनाशिनीम् ।
यशःप्रतापधैर्यघ्नीं शत्रूणां हर्षवर्धनीम् ॥ ४ ॥

हे राजन्! आप इस धर्म, अर्थ और सुखके नाश करनेवाली आपके यश, प्रताप और धैर्यको नष्ट करनेवाली तथा शत्रुओंके हर्षको बढानेवाली बुद्धिको त्याग दीजिये ॥ ४ ॥

श्रूयतां च प्रभो तत्त्वं दिव्यतां चात्मनो नृप ।
निर्माणं च शरीरस्य ततो धैर्यमवाप्नुहि ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! धैर्य धारण कीजिए अब आप यथार्थ वार्ताको सुनिये हम आपके शरीरकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं ॥ ५ ॥

पुरा त्वं तपसास्माभिर्लब्धो देवान्महेश्वरात् ।
पूर्वकायश्च सर्वस्ते निर्मितो वज्रसंचयैः ॥ ६ ॥

हे राजन् ! पहिले समयमें हम लोगोंने शिवकी तपस्या की थी; तब आपको प्राप्त किया था । हे राजेन्द्र ! आपका जो नाभिके ऊपरका शरीर है, वह वज्रसे बना हुआ है ॥ ६ ॥

अस्त्रैरभेद्यः शस्त्रैश्चाप्यधःकायश्च तेऽनघ ।
कृतः पुष्पमयो देव्या रूपतः स्त्रीमनोहरः ॥ ७ ॥

हे पापरहित ! आपका जो नीचेका शरीर है, वह भी अस्त्र और शस्त्रोंसे नहीं कट सकता । उसको पार्वती देवीने फूलोंसे बनाया है । वह अपने रूपसे स्त्रियोंके मनको मोहनेवाला है ॥७॥

एवमीश्वरसंयुक्तस्तव देहो नृपोत्तम ।
देव्या च राजशार्दूल दिव्यस्त्वं हि न मानुषः ॥ ८ ॥

हे नृपोत्तम ! इस प्रकार आपका शरीर ईश्वर और देवीने बनाया है । हे राजशार्दूल ! आप देवता हैं, मनुष्य नहीं ॥ ८ ॥

क्षत्रियाश्च महावीर्या भगदत्तपुरोगमाः ।
दिव्यास्त्रविदुषः शूराः क्षपयिष्यन्ति ते रिपून् ॥ ९ ॥

महाबलवान् भगदत्त आदि क्षत्रिय दिव्य शस्त्रोंके जाननेवाले और महा शूरवीर हैं; वे सब आपके शत्रुओंका नाश करेंगे ॥ ९ ॥

तदलं ते विषादेन भयं तव न विद्यते ।
साह्यार्थं च हि ते वीराः संभूता भुवि दानवाः ॥ १० ॥

आप कुछ विषाद न कीजिये; आपको कुछ भय नहीं है । आपकी सहायताके लिये अनेक दानवोंने पृथ्वीमें अवतार लिया है ॥ १० ॥

भीष्मद्रोणकृपादींश्च प्रवेक्ष्यन्त्यपरेऽसुराः ।
यैराविष्टा घृणां त्यक्त्वा योत्स्यन्ते तव वैरिभिः ॥ ११ ॥

भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्यके शरीरमें अनेक दानव प्रवेश करेंगे; वे लोग उनके वशमें होकर दयाको छोडकर आपके शत्रुओंसे युद्ध करेंगे ॥ ११ ॥

नैव पुत्रान्न च भ्रातॄन्न पितॄन्न च बान्धवान्।
नैव शिष्यान्न च ज्ञातीन्न बालान्स्थविरान्न च ॥ १२ ॥
युधि संप्रहरिष्यन्तो मोक्ष्यन्ति कुरुसत्तम।
निःस्नेहा दानवाविष्टाः समाक्रान्तेऽन्तरात्मनि ॥ १३ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! उन भीष्मादियोंकी अन्तरात्मामें दानवोंके प्रविष्ट होनेके कारण वे स्नेहरहित हो जायेंगे। इसलिये वे युद्धमें प्रहार करते हुए न अपने पुत्रोंको छोडेंगे, न भाईयोंको, न पितरोंको, न बान्धवोंको, न शिष्योंको, न जातिवालोंको, न बालकोंको और न बूढोंको ही वे छोडेंगे ॥ १२–१३ ॥

प्रहरिष्यन्ति बन्धुभ्यः स्नेहमुत्सृज्य दूरतः।
हृष्टाः पुरुषशार्दूलाः कलुषीकृतमानसाः।
अविज्ञानविमूढाश्च दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥ १४ ॥

वे पुरुषसिंह क्षत्रिय किसीका मोह नहीं करेंगे, और बन्धुओंसे युद्ध करेंगे। उस घोर युद्धमें वीर प्रसन्न भी होंगे, और दुःखी भी होंगे। सब लोग प्रारब्धके वशमें होकर अज्ञानसे मोहित हो जायेंगे ॥ १४ ॥

व्याभाषमाणाश्चान्योन्यं न मे जीवन्विमोक्ष्यसे।
सर्वशस्त्रास्त्रमोक्षेण पौरुषे समवस्थिताः।
श्लाघमानाः कुरुश्रेष्ठ करिष्यन्ति जनक्षयम् ॥ १५ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! सब लोग परस्पर कहेंगे कि तुम हमसे जीते नहीं बचोगे; वे सब वीर शस्त्र, अस्त्र धारण करके बलपूर्वक अपनी अपनी श्लाघा करेंगे और जगत्का नाश करेंगे ॥ १५ ॥

तेऽपि शक्त्या महात्मानः प्रतियोत्स्यन्ति पाण्डवाः।
वधं चैषां करिष्यन्ति दैवयुक्ता महाबलाः ॥ १६ ॥

महात्मा पाण्डव भी अपनी शक्तिसे घोर युद्ध करेंगे, और वे महाबली पाण्डव देवसे प्रेरित होकर उन सबका नाश करेंगे ॥ १६ ॥

दैत्यरक्षोगणाश्चापि संभूताः क्षत्रयोनिषु।
योत्स्यन्ति युधि विक्रम्य शत्रुभिस्तव पार्थिव।
गदाभिर्मुसलैः खड्गैः शस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ॥ १७ ॥

आजकल अनेक दैत्य और राक्षसोंने क्षत्रिय कुलमें अवतार लिया है। हे राजन् ! वे लोग अत्यन्त पराक्रम करके आपके शत्रुओंसे गदा, मूसल, तलवार और छोटे बडे शस्त्र लेकर युद्ध करेंगे ॥ १७ ॥

यच्च तेऽन्तर्गतं वीर भयमर्जुनसंभवम् ।
तत्रापि विहितोऽस्माभिर्वधोपायोऽर्जुनस्य वै　　　॥ १८ ॥

हे वीर ! आपके अन्तःकरणमें जो अर्जुनसे उत्पन्न होनेवाला जो भय है, हमने उस अर्जुनके मारनेका भी उपाय किया है ॥ १८ ॥

हतस्य नरकस्यात्मा कर्णमूर्तिमुपाश्रितः ।
तद्वैरं संस्मरन्वीर योत्स्यते केशवार्जुनौ　　　॥ १९ ॥

जो नरकासुर नामक राक्षस मारा गया था, उसकी आत्मा अब कर्णमें प्रविष्ट हो गई है । उसी वैरको स्मरण करके अर्जुन और कृष्ण उससे युद्ध करेंगे ॥ १९ ॥

स ते विक्रमशौण्डीरो रणे पार्थं विजेष्यति ।
कर्णः प्रहरतां श्रेष्ठः सर्वांश्चारीन्महारथः　　　॥ २० ॥

समर्थ कर्ण भी अपने बलसे अर्जुनको युद्धमें जीतेगा । कर्ण महारथ और शस्त्र चलानेवालोंमें श्रेष्ठ है, अतः वह सब शत्रुओंको जीतेगा ॥ २० ॥

ज्ञात्वैतच्छद्मना वज्री रक्षार्थं सव्यसाचिनः ।
कुण्डले कवचं चैव कर्णस्यापहरिष्यति　　　॥ २१ ॥

यही जानकर वज्रधारी इन्द्र छद्म वेष धारण करके अर्जुनकी रक्षा करनेके लिये कर्णसे कुण्डल कवच ले लेंगे ॥ २१ ॥

तस्मादस्माभिरप्यत्र दैत्याः शतसहस्रशः ।
नियुक्ता राक्षसाश्चैव ये ते संशप्तका इति ।
प्रख्यातास्तेऽर्जुनं वीरं निहनिष्यन्ति मा शुचः　　　॥ २२ ॥

इसीलिये हम लोगोंने भी संशप्तक नामसे सहस्रों दैत्य और राक्षसोंको इस कार्यपर नियुक्त किया है; आप शोक न करें, वे लोग अर्जुनको युद्धमें मारेंगे ॥ २२ ॥

असपत्ना त्वया हीयं भोक्तव्या वसुधा नृप ।
मा विषादं नयस्वास्मान्नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
विनष्टे त्वयि चास्माकं पक्षो हीयेत कौरव　　　॥ २३ ॥

हे राजन् ! आप शत्रुओंको मारकर इस पृथ्वीका उपभोग करेंगे । हे राजन् ! आप हमें भी दुःखमें मत डालिए, क्योंकि यह काम आपके योग्य नहीं है । हे कौरव ! आप यदि मर जायेंगे, तो हमारा बल नष्ट हो जायेगा ॥ २३ ॥

गच्छ वीर न ते बुद्धिरन्या कार्या कथंचन ।
त्वमस्माकं गतिर्नित्यं देवतानां च पाण्डवाः ॥ २४ ॥

हे वीर ! अब आप जाइये; अपनी बुद्धिको विपरीत मत बनाइये। आप सदासे हमारी गति हैं । इसीप्रकार देवता भी पाण्डवोंको अपनी गति मानते हैं ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा परिष्वज्य दैत्यास्तं राजकुञ्जरम् ।
समाश्वास्य च दुर्धर्षं पुत्रवद्दानवर्षभाः ॥ २५ ॥

वैशम्पायन बोले– ऐसा कहकर दानवोंने राजसिंह दुर्योधनको अपने हृदयसे लगाकर बहुत समझाया और पुत्रके समान उनको सांत्वना प्रदान की ॥ २५ ॥

स्थिरां कृत्वा बुद्धिमस्य प्रियाण्युक्त्वा च भारत ।
गम्यतामित्यनुज्ञाय जयमाप्नुहि चेत्यथ ॥ २६ ॥

हे भरतवंशी राजेन्द्र ! उन्होंने मीठे वचन कहकर दुर्योधनकी बुद्धिको स्थिर कर दिया और कहा कि ' जाओ ' । यह कहकर और उसे ' विजय प्राप्त करो ' इस प्रकारका आशीर्वाद भी दिया ॥ २६ ॥

तैर्विसृष्टं महाबाहुं कृत्या सैवानयत्पुनः ।
तमेव देशं यत्रासौ तदा प्रायमुपाविशत् ॥ २७ ॥

इस प्रकार राक्षसोंके द्वारा महाबाहु दुर्योधनको जानेके लिए कह देनेपर कृत्याने महाराज दुर्योधनको उसी स्थानपर पहुंचा दिया जहां वे अन्न और जलको छोडकर बैठे थे ॥ २७ ॥

प्रतिनिक्षिप्य तं वीरं कृत्या समभिपूज्य च ।
अनुज्ञाता च राज्ञा सा तत्रैवान्तरधीयत ॥ २८ ॥

उस वीर राजाको वहांपर पहुंचाकर और उनका सत्कार करके उनकी आज्ञा लेकर वह कृत्या वहीं गुप्त हो गई ॥ २८ ॥

गतायामथ तस्यां तु राजा दुर्योधनस्तदा ।
स्वप्नभूतमिदं सर्वमचिन्तयत भारत ।
विजेष्यामि रणे पाण्डूनिति तस्याभवन्मतिः ॥ २९ ॥

उस स्त्रीके चले जानेके पश्चात् राजा दुर्योधनने उन सब बातोंको स्वप्नके समान जाना और उनके मनमें यह निश्चय हो गया कि मैं पाण्डवोंको युद्धमें जीतूंगा ॥ २९ ॥

कर्णं संशप्तकांश्चैव पार्थस्यामित्रघातिनः ।
अमन्यत वधे युक्तान्समर्थांश्च सुयोधनः ॥ ३० ॥

महाराज दुर्योधनने कर्ण और संशप्तकगणको पाण्डवोंके मारनेमें समर्थ और अपना मित्र समझा ॥ ३० ॥

एवमाशा दृढा तस्य धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।
विनिर्जये पाण्डवानामभवद्भरतर्षभ ॥ ३१ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! उस दुष्टबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी पाण्डवोंको जीतनेकी आशा दृढ हो गई ॥ ३१ ॥

कर्णोऽप्याविष्टचित्तात्मा नरकस्यान्तरात्मना ।
अर्जुनस्य वधे क्रूरामकरोत्स मतिं तदा ॥ ३२ ॥

इसीप्रकार नरकासुरकी आत्माके कर्णकी आत्मामें प्रविष्ट हो जानेपर उसने अर्जुनको मारनेका क्रूर निश्चय कर लिया ॥ ३२ ॥

संशप्तकाश्च ते वीरा राक्षसाविष्टचेतसः ।
रजस्तमोभ्यामाक्रान्ताः फल्गुनस्य वधैषिणः ॥ ३३ ॥

राक्षसोंके द्वारा जिनका चित्त प्रभावित हो गया है, ऐसे महावीर संशप्तक राक्षस भी रज और तमोगुणसे प्रभावित हो करके अर्जुनको मारनेकी इच्छा करने लगे ॥ ३३ ॥

भीष्मद्रोणकृपाद्याश्च दानवाक्रान्तचेतसः ।
न तथा पाण्डुपुत्राणां स्नेहवन्तो विशां पते ।
न चाचचक्षे कस्मैचिदेतद्राजा सुयोधनः ॥ ३४ ॥

भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदिके मनोंमें भी राक्षसोंके प्रवेश कर जानेसे उन सबकी भी बुद्धि पलट गई और, हे राजन् ! पाण्डुके पुत्रोंके प्रति उनका स्नेह पहलेके समान न रहा । हे राजन् ! दुर्योधनने इस वृत्तान्तको किसीसे नहीं कहा ॥ ३४ ॥

दुर्योधनं निशान्ते च कर्णो वैकर्तनोऽब्रवीत् ।
स्मयन्निवाञ्जलिं कृत्वा पार्थिवं हेतुमद्वचः ॥ ३५ ॥

प्रातःकाल होते ही विकर्तनके पुत्र कर्णने हाथ जोडकर मुस्कराते हुए महाराज दुर्योधनको प्रसन्न करके उनसे हेतुके सहित ऐसे वचन कहे ॥ ३५ ॥

न मृतो जयते शत्रूञ्जीवन्भद्राणि पश्यति ।
मृतस्य भद्राणि कुतः कौरवेय कुतो जयः ।
न कालोऽद्य विषादस्य भयस्य मरणस्य वा ॥ ३६ ॥

कोई मरकर शत्रुओंको नहीं जीतता । जीता हुआ पुरुष ही अनेक सुख देखता है । हे कौरव ! मरे हुए पुरुषको सुख कहां और उसे जय भी कहांसे प्राप्त होगी ? इसलिए अब यह समय विषाद करनेका, डरनेका अथवा मरनेका नहीं है ॥ ३६ ॥

परिष्वज्याब्रवीच्चैनं भुजाभ्यां स महाभुजः।
उत्तिष्ठ राजन्किं शेषे कस्माच्छोचसि शत्रुहन्।
शत्रून्प्रताप्य वीर्येण स कथं मर्तुमिच्छसि ॥ ३७ ॥

महाबाहु कर्णने राजा दुर्योधनको अपने हाथसे पकडकर तथा गलेसे लगाकर कहा कि हे राजन्! अब आप उठिये; क्यों सोते हैं? और क्यों शोक करते हैं? हे शत्रुनाशक! आप तो अपने बलसे शत्रुओंको दुःख देनेवाले हैं फिर मरनेकी इच्छा क्यों करते हैं? ॥ ३७ ॥

अथ वा ते भयं जातं दृष्ट्वार्जुनपराक्रमम्।
सत्यं ते प्रतिजानामि वधिष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥ ३८ ॥

यदि आपको युद्धमें अर्जुनका बल देखकर कुछ भय हुआ हो तो मैं आपसे सत्य कहता हूं कि मैं युद्धमें अर्जुनको मारूंगा ॥ ३८ ॥

गते त्रयोदशे वर्षे सत्येनायुधमालभे।
आनयिष्याम्यहं पार्थान्वशं तव जनाधिप ॥ ३९ ॥

मैं शस्त्रोंको छूकर सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तेरह वर्ष बीत जायेंगे; तब, हे राजन्! सब पाण्डवोंको आपके वशमें कर दूंगा ॥ ३९ ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन दैत्यानां वचनात्तथा।
प्रणिपातेन चान्येषामुदतिष्ठत्सुयोधनः।
दैत्यानां तद्वचः श्रुत्वा हृदि कृत्वा स्थिरां मतिम् ॥ ४० ॥

कर्णके ऐसे वचन सुनकर तथा दैत्योंके वचनोंका स्मरण कर और सब लोगोंको प्रणाम करते देख महाराज दुर्योधन उठे। उन्होंने दैत्योंके वचनसे अपने मनको स्थिर किया ॥ ४० ॥

ततो मनुजशार्दूलो योजयामास वाहिनीम्।
रथनागाश्वकलिलां पदातिजनसंकुलाम् ॥ ४१ ॥

इसके बाद मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजाने रथ, सारथी, घोडे और पैदलोंसे भरी हुई अपनी सेनाको चलनेकी आज्ञा दी ॥ ४१ ॥

गङ्गौघप्रतिमा राजन्प्रयाता सा महाचमूः।
श्वेतच्छत्रैः पताकाभिश्चामरैश्च सुपाण्डुरैः ॥ ४२ ॥
रथैर्नागैः पदातैश्च शुशुभेऽतीव संकुला।
व्यपेताभ्रघने काले द्यौरिवाव्यक्तशारदी ॥ ४३ ॥

वह सेना गंगाप्रवाहके समान चल पडी। श्वेत छत्र, सफेद चमर, पताका, रथ, हाथी, घोडे और पैदलोंसे वह सेना बहुत शोभित होने लगी। उस समय सेनाकी ऐसी शोभा बढी जैसे संपूर्ण रूपसे प्रटक न हुई हुई शरद् ऋतुमें मेघरहित आकाशकी शोभा होती है ॥ ४२-४३ ॥

जयाशीर्भिर्द्विजेन्द्रैस्तु स्तूयमानोऽधिराजवत्।
गृह्णन्नञ्जलिमालाश्च धार्तराष्ट्रो जनाधिपः ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणोंने उनको जयका आशीर्वाद दिया। वे स्तुति करनेवाले लोगोंसे माला और प्रणामको ग्रहण करते हुए चले। उस समय धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन चक्रवर्ती महाराजके समान शोभित हुए ॥ ४४ ॥

सुयोधनो ययावग्रे श्रिया परमया ज्वलन्।
कर्णेन सार्धं राजेन्द्र सौबलेन च देविना ॥ ४५ ॥

राजा दुर्योधन लक्ष्मीसे परम प्रकाशमान् होकर, हे राजेन्द्र! कर्ण और जुवारी शकुनिके साथ आगे चले ॥ ४५ ॥

दुःशासनादयश्चास्य भ्रातरः सर्व एव ते।
भूरिश्रवाः सोमदत्तो महाराजश्च बाह्लिकः ॥ ४६ ॥
रथैर्नानाविधाकारैर्हयैर्गजवरैस्तथा।
प्रयान्तं नृपसिंहं तमनुजग्मुः कुरूद्वहाः।
कालेनाल्पेन राजंस्ते विविशुः स्वपुरं तदा ॥ ४७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४० ॥ ८३६६ ॥

दुःशासनादि सभी भाई; भूरिश्रवा, सोमदत्त और महाराज बाह्लिक आदि कौरव अनेक तरहके आकारवाले रथों, उत्तम घोडों और श्रेष्ठ हाथियोंपर चढकर जानेवाले नृपश्रेष्ठ दुर्योधनके पीछे पीछे चले। हे राजेन्द्र! वे लोग थोडे ही समयमें हस्तिनापुरमें जा पहुंचे ॥ ४६-४७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ चालीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४० ॥ ८३६६ ॥

२४१

जनमेजय उवाच

वसमानेषु पार्थेषु वने तस्मिन्महात्मसु।
धार्तराष्ट्रा महेष्वासाः किमकुर्वन्त सत्तम ॥ १ ॥
कर्णो वैकर्तनश्चापि शकुनिश्च महाबलः।
भीष्मद्रोणकृपाश्चैव तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ २ ॥

जनमेजय बोले— हे द्विजसत्तम! जब महात्मा पाण्डव वनमें रहने लगे, तब महा धनुर्धारी धृतराष्ट्रपुत्र, विकर्त्तनपुत्र कर्ण, महा बलवान् शकुनि, भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्यने क्या किया? सो मुझसे कहिये ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं गतेषु पार्थेषु विसृष्टे च सुयोधने ।
आगते हास्तिनपुरं मोक्षिते पाण्डुनन्दनैः ।
भीष्मोऽब्रवीन्महाराज धार्तराष्ट्रमिदं वचः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले– हे महाराज ! जब पाण्डवोंने दुर्योधनको छुडाया और दुर्योधन पाण्डवोंसे विदा होकर हस्तिनापुर पहुंचे, और पाण्डव वनमें ही रह गए; तब, हे महाराज ! दुर्योधनसे भीष्मने यह वचन कहा ॥ ३ ॥

उक्तं तात मया पूर्वं गच्छतस्ते तपोवनम् ।
गमनं मे न रुचितं तव तच्च कृतं च ते ॥ ४ ॥

हे तात ! जब तुम तपोवनको जा रहे थे; तभी मैंने कहा था कि तुम्हारा वनको जाना मुझे अच्छा नहीं लगता, परन्तु तुमने मेरी बात नहीं मानी ॥ ४ ॥

ततः प्राप्तं त्वया वीर ग्रहणं शत्रुभिर्बलात् ।
मोक्षितश्चासि धर्मज्ञैः पाण्डवैर्न च लज्जसे ॥ ५ ॥

हे वीर ! इसीसे तुमको शत्रुओंने अपने बलसे पकड लिया। उस समय धर्मात्मा पाण्डवोंने ही तुमको छुडाया; इसपर भी तुमको लज्जा नहीं आई ॥ ५ ॥

प्रत्यक्षं तव गान्धारे ससैन्यस्य विशां पते ।
सूतपुत्रोऽपयाद्भीतो गन्धर्वाणां तदा रणात्
क्रोशतस्तव राजेन्द्र ससैन्यस्य नृपात्मज ॥ ६ ॥

हे गान्धारीपुत्र ! हे पृथ्वीनाथ ! हे राजपुत्र ! तुम्हारे और तुम्हारी सेनाके चिल्लाते रहनेपर भी तुम्हारे देखते देखते कर्ण गन्धर्वोंके युद्धमेंसे डरकर भाग गया ॥ ६ ॥

दृष्टस्ते विक्रमश्चैव पाण्डवानां महात्मनाम् ।
कर्णस्य च महाबाहो सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ ७ ॥

हे महाबाहो ! महात्मा पाण्डवोंका पराक्रम तुमने देखा और दुर्बुद्धि सूतपुत्र कर्णका बल भी तुमने देख लिया है ॥ ७ ॥

न चापि पादभाक्कर्णः पाण्डवानां नृपोत्तम ।
धनुर्वेदे च शौर्ये च धर्मे वा धर्मवत्सल ॥ ८ ॥

हे नृपोत्तम ! हे धर्मप्रिय ! धनुर्वेद, शूरता और धर्माचरणमें कर्ण पाण्डवोंके चरणके समान भी नहीं है ॥ ८ ॥

तस्य तेऽहं क्षमं मन्ये पाण्डवैस्तैर्महात्मभिः ।
संधिं संधिविदां श्रेष्ठ कुलस्यास्य विवृद्धये ॥ ९ ॥

हे सन्धिजाननेवालोंमें श्रेष्ठ! इसलिये मैं महात्मा पाण्डवोंसे सन्धि करना अच्छा समझता हूँ। सन्धि करनेसे इस कुलकी वृद्धि होगी ॥ ९ ॥

एवमुक्तस्तु भीष्मेण धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः ।
प्रहस्य सहसा राजन्विप्रतस्थे ससौबलः ॥ १० ॥

हे महाराज जनमेजय ! राजा भीष्मके ऐसे वचन सुनकर धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन सुबलपुत्र शकुनिके साथ हंसकर वहांसे चल दिये ॥ १० ॥

तं तु प्रस्थितमाज्ञाय कर्णदुःशासनादयः ।
अनुजग्मुर्महेष्वासा धार्तराष्ट्रं महाबलम् ॥ ११ ॥

जब राजा दुर्योधन वहांसे चले, तब महाबलवान् कर्ण और दुःशासन आदि महाधनुर्धारी भी महाबलशाली दुर्योधनके पीछे पीछे उठकर चल दिए ॥ ११ ॥

तांस्तु संप्रस्थितान्दृष्ट्वा भीष्मः कुरुपितामहः ।
लज्जया व्रीडितो राजञ्जगाम स्वं निवेशनम् ॥ १२ ॥

हे राजन् जनमेजय ! जब कुरुओंके पितामह भीष्मने उनको जाते देखा, तो वे भी लज्जित होकर वहांसे अपने घरको चले गये ॥ १२ ॥

गते भीष्मे महाराज धार्तराष्ट्रो जनाधिपः ।
पुनरागम्य तं देशममन्त्रयत मन्त्रिभिः ॥ १३ ॥

हे महाराज ! जब भीष्म चले गये, तो राजा दुर्योधन मन्त्रियोंके सहित वहीं आकर सलाह करने लगे ॥ १३ ॥

किमस्माकं भवेच्छ्रेयः किं कार्यमवशिष्यते ।
कथं नु सुकृतं च स्यान्मन्त्रयामास भारत ॥ १४ ॥

हे भारत ! अब हम लोगोंका कल्याण कैसे होगा ? और अब हमको क्या करना चाहिए ? हमको किस प्रकार पुण्य लाभ होगा ? इन सब बातोंपर वह विचार विमर्श करने लगे ॥ १४ ॥

कर्ण उवाच

दुर्योधन निबोधेदं यत्त्वा वक्ष्यामि कौरव ।
श्रुत्वा च तत्तथा सर्वं कर्तुमर्हस्यरिंदम ॥ १५ ॥

कर्ण बोले– हे शत्रुनाशक दुर्योधन! हे कौरव ! तुम मेरे वचनोंको सुनो और जो मैं कहता हूँ सो करो ॥ १५ ॥

तवाद्य पृथिवी वीर निःसपत्ना नृपोत्तम ।
तां पालय यथा शक्रो हतशत्रुर्महामनाः ॥ १६ ॥

हे नृपोत्तम ! इस समय पृथ्वीमें तुम्हारा शत्रु कोई नहीं है; इसलिये तुम इस पृथ्वीका इस प्रकार पालन करो जैसे शत्रुओंको नाश करके महात्मा इन्द्र पालन करते हैं ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन कर्णं राजाब्रवीत्पुनः ।
न किंचिद्दुर्लभं तस्य यस्य त्वं पुरुषर्षभ ॥ १७ ॥
सहायश्चानुरक्तश्च मदर्थं च समुद्यतः ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तं वै शृणु यथातथम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायन बोले– कर्णके ऐसे वचन सुनकर राजा दुर्योधनने कर्णसे फिर कहा, हे पुरुषसिंह ! जिसके तुम ऐसे सहायक और भक्त हों तथा जिसके लिये तुम सदा उद्यत रहते हो, हे पुरुषश्रेष्ठ ! उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है, मेरे मनमें जो इच्छा है, उसको तुम ठीक तरह सुनो ॥ १७-१८ ॥

राजसूयं पाण्डवस्य दृष्ट्वा क्रतुवरं तदा ।
मम स्पृहा समुत्पन्ना तां संपादय सूतज ॥ १९ ॥

हे सूतपुत्र ! जबसे मैंने राजा युधिष्ठिरका बृहत् राजसूय यज्ञ देखा है, तबसे मेरी भी इच्छा राजसूय यज्ञ करनेकी हुई है, इसलिये तुम राजसूय यज्ञका प्रबन्ध करो ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्ततः कर्णो राजानमिदमब्रवीत् ।
तवाद्य पृथिवीपाला वश्याः सर्वे नृपोत्तम ॥ २० ॥

इस प्रकार दुर्योधनके वचन सुनकर कर्ण राजासे बोले– हे नृपोत्तम ! इस समय सब राजा तुम्हारे वशमें हैं ॥ २० ॥

आहूयन्तां द्विजवराः संभाराश्च यथाविधि ।
संभ्रियन्तां कुरुश्रेष्ठ यज्ञोपकरणानि च ॥ २१ ॥

अब तुम ब्राह्मणोंको निमन्त्रण भेजो । हे भरतर्षभ ! अब तुम विधिपूर्वक यज्ञकी सब सामग्री इकट्ठी करो ॥ २१ ॥

ऋत्विजश्च समाहूता यथोक्तं वेदपारगाः ।
क्रियां कुर्वन्तु ते राजन्यथाशास्त्रमरिंदम ॥ २२ ॥

हे शत्रुनाशक राजन् दुर्योधन ! तुम्हारे द्वारा बुलाये गए वेदोंमें पारङ्गत वे ऋत्विज तुम्हारे कथनके अनुकूल होकर शास्त्रानुसार कार्योंको करें ॥ २२ ॥

बह्वन्नपानसंयुक्तः सुसमृद्धगुणान्वितः ।
प्रवर्ततां महायज्ञस्तवापि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

अब तुम्हारा भी खाद्य, पेय और सब समृद्धि तथा गुणोंसे युक्त महायज्ञ राजसूय आरम्भ हो ॥ २३ ॥

एवमुक्तस्तु कर्णेन धार्तराष्ट्रो विशां पते ।
पुरोहितं समानाय्य इदं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! कर्णके ऐसे वचन सुनकर राजा दुर्योधनने पुरोहितको बुलाकर यह वचन कहा ॥ २४ ॥

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं समाप्तवरदक्षिणम् ।
आहर त्वं मम कृते यथान्यायं यथाक्रमम् ॥ २५ ॥

कि आप मेरे लिये दक्षिणा और विधिके सहित तथा क्रमानुसार यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूय यज्ञका आरम्भ करें ॥ २५ ॥

स एवमुक्तो नृपतिमुवाच द्विजपुङ्गवः ।
न स शक्यः क्रतुश्रेष्ठो जीवमाने युधिष्ठिरे ।
आहर्तुं कौरवश्रेष्ठ कुले तव नृपोत्तम ॥ २६ ॥

राजाके ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मणश्रेष्ठ पुरोहित राजासे कहने लगे, हे कौरव श्रेष्ठ ! हे नृपोत्तम ! युधिष्ठिरके जीवित रहते हुए आपके कुलमें कोई भी यज्ञोंमें श्रेष्ठ इस राजसूय यज्ञको नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

दीर्घायुर्जीवति च वै धृतराष्ट्रः पिता तव ।
अतश्चापि विरुद्धस्ते क्रतुरेष नृपोत्तम ॥ २७ ॥

और अभी आपके दीर्घायु पिता धृतराष्ट्र भी जीवित हैं इस कारण भी, हे राजश्रेष्ठ ! आप राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते ॥ २७ ॥

अस्ति त्वन्यन्महत्सत्रं राजसूयसमं प्रभो ।
तेन त्वं यज राजेन्द्र शृणु चेदं वचो मम ॥ २८ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! हे राजेन्द्र ! आप मेरे वचन सुनिये । राजसूयके समान और भी बडे बडे यज्ञ हैं ,उन्हीं यज्ञोंको आप करिए ॥ २८ ॥

य इमे पृथिवीपालाः करदास्तव पार्थिव ।
ते करान्संप्रयच्छन्तु सुवर्णं च कृताकृतम् ॥ २९ ॥

हे राजन् ! आपको कर देनेवाले ये जितने राजा हैं, वे सब आपको आभूषणोंके रूपमें तथा करके रूपमें सुवर्ण प्रदान करें ॥ २९ ॥

तेन ते क्रियतामद्य लाङ्गलं नृपसत्तम ।
यज्ञवाटस्य ते भूमिः कृष्यतां तेन भारत ॥ ३० ॥

हे राजश्रेष्ठ ! सुवर्णसे एक हल बनवाइये और, हे भारत! उससे यज्ञभूमिको जोतिये ॥३०॥

तत्र यज्ञो नृपश्रेष्ठ प्रभूतान्नः सुसंस्कृतः ।
प्रवर्ततां यथान्यायं सर्वतो ह्यनिवारितः ॥ ३१ ॥

तब वहांपर प्रभूत अन्न और उत्तम संस्कारसे युक्त आपका यज्ञ यथोक्त रीतिसे निर्विघ्न शुरु हो ॥ ३१ ॥

एष ते वैष्णवो नाम यज्ञः सत्पुरुषोचितः ।
एतेन नेष्टवान्कश्चिदृते विष्णुं पुरातनम् ॥ ३२ ॥

वहांपर सत्पुरुषोंके करने योग्य विष्णुयज्ञका आरंभ कीजिये। इस यज्ञको सनातन विष्णुके सिवा और किसीने नहीं किया है ॥ ३२ ॥

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं स्पर्धत्येष महाक्रतुः ।
अस्माकं रोचते चैव श्रेयश्च तव भारत ।
अविघ्नश्च भवेदेष सफला स्यात्स्पृहा तव ॥ ३३ ॥

यह वैष्णवयज्ञ यज्ञश्रेष्ठ राजसूयसे स्पर्धा करता है। हे भारत ! यही यज्ञ हमें पसन्द है और इसीमें आपका कल्याण है। यह आपका यज्ञ निर्विघ्न रीतिसे समाप्त हो और आपकी अभिलाषा सफल हो ॥ ३३ ॥

एवमुक्तस्तु तैर्विप्रैर्धार्तराष्ट्रो महीपतिः ।
कर्णं च सौबलं चैव भ्रातॄंश्चैवेदमब्रवीत् ॥ ३४ ॥

उन ब्राह्मणके ऐसे वचन सुनकर राजा दुर्योधनने कर्ण, शकुनि और अपने भाईयोंसे यह कहा ॥ ३४ ॥

रोचते मे वचः कृत्स्नं ब्राह्मणानां न संशयः ।
रोचते यदि युष्माकं तन्मा प्रब्रूत माचिरम् ॥ ३५ ॥

मुझे ब्राह्मणोंके सब वचन प्रिय लगते हैं; इसमें कोई संशय नहीं है। यदि तुम लोगोंको भी पसन्द हो, तो मुझसे कहो, देर मत करो ॥ ३५ ॥

एवमुक्तास्तु ते सर्वे तथेत्यूचुर्नराधिपम् ।
संदिदेश ततो राजा व्यापारस्थान्यथाक्रमम् ॥ ३६ ॥

राजाके इस प्रकार कहनेपर सब लोगोंने राजाको 'वैसा ही हो' कहकर अपनी स्वीकृति प्रदान की। तब राजा दुर्योधनने सबको अपने अपने काम करनेकी आज्ञा दी ॥ ३६ ॥

हलस्य करणे चापि व्यादिष्टाः सर्वशिल्पिनः ।
यथोक्तं च नृपश्रेष्ठ कृतं सर्वं यथाक्रमम् ॥ ३७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४१ ॥ ८४०३ ॥

तब राजाने सब शिल्पियोंको हल तैयार करनेके लिये और कर्मकारोंको यज्ञशाला बनानेकी आज्ञा दी । हे नृपश्रेष्ठ ! उन्होंने वचन सुनते ही सब तैय्यार कर दिया ॥ ३७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ इकतालीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४१ ॥ ८४०३ ॥

: २४२ :

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु शिल्पिनः सर्वे अमात्यप्रवराश्च ह ।
विदुरश्च महाप्राज्ञो धार्तराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् जनमेजय ! तदनन्तर सब शिल्पियों, श्रेष्ठ मंत्रियों और महा बुद्धिमान् विदुरने राजा दुर्योधनसे निवेदन किया ॥ १ ॥

सज्जं क्रतुवरं राजन्कालप्राप्तं च भारत ।
सौवर्णं च कृतं दिव्यं लाङ्गलं सुमहाधनम् ॥ २ ॥

हे राजन् ! हे भारत ! यज्ञशाला बन गई और यज्ञ करनेका समय भी आ गया है । हमने बहुत धन लगाकर सोनेका हल भी बनवा लिया है ॥ २ ॥

एतच्छ्रुत्वा नृपश्रेष्ठो धार्तराष्ट्रो विशां पते ।
आज्ञापयामास नृपः क्रतुराजप्रवर्तनम् ॥ ३ ॥

हे राजन् जनमेजय ! विदुरके ऐसे वचन सुनकर नृपश्रेष्ठ राजा दुर्योधनने उस श्रेष्ठ यज्ञको आरंभ करनेकी आज्ञा दी ॥ ३ ॥

ततः प्रववृते यज्ञः प्रभूतान्नः सुसंस्कृतः ।
दीक्षितश्चापि गान्धारिर्यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ॥ ४ ॥

तब बहुत धन और बहुत अन्नके सहित यज्ञ आरंभ हुआ । उस यज्ञमें राजा दुर्योधनने विधिके अनुसार दीक्षा ली ॥ ४ ॥

प्रहृष्टो धृतराष्ट्रोऽभूद्विदुरश्च महायशाः ।
भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णो गान्धारी च यशस्विनी ॥ ५ ॥

तब राजा धृतराष्ट्र, यशस्वी विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण और यशस्विनी गान्धारी बहुत प्रसन्न हुए ॥ ५ ॥

निमन्त्रणार्थं दूतांश्च प्रेषयामास शीघ्रगान्।
पार्थिवानां च राजेन्द्र ब्राह्मणानां तथैव च।
ते प्रयाता यथोद्दिष्टं दूतास्त्वरितवाहनाः ॥ ६ ॥

तदनन्तर उन्होंने शीघ्र जानेवाले दूतोंको राजा और ब्राह्मणोंको बुलानेके लिए भेजा। वे दूत भी शीघ्र चलनेवाले वाहनोंपर चढकर अपने अपने लक्ष्यकी तरफ चल दिये ॥ ६ ॥

तत्र कंचित्प्रयातं तु दूतं दुःशासनोऽब्रवीत्।
गच्छ द्वैतवनं शीघ्रं पाण्डवान्पापपूरुषान्।
निमन्त्रय यथान्यायं विप्रांस्तास्मिन्महावने ॥ ७ ॥

जाते हुए उन दूतोंमेंसे एक दूतसे दुःशासनने कहा कि, तुम शीघ्र द्वैतवनको जाओ और वहां विधिपूर्वक पापी पाण्डवोंको न्योता दे आओ, तथा वहां रहनेवाले ब्राह्मणोंको भी न्यायके अनुसार निमन्त्रण दे दो ॥ ७ ॥

स गत्वा पाण्डवावासमुवाचाभिप्रणम्य तान्।
दुर्योधनो महाराज यजते नृपसत्तमः ॥ ८ ॥
स्ववीर्यार्जितमर्थौघमवाप्य कुरुनन्दनः।
तत्र गच्छन्ति राजानो ब्राह्मणाश्च ततस्ततः ॥ ९ ॥

वह दूत पाण्डवोंके आवास स्थानपर जा पहुंचा और उन्हें प्रणाम करके बोला– हे महाराज! कुरुकुलमें श्रेष्ठ तथा राजाओंमें श्रेष्ठ दुर्योधन अपने पराक्रमसे अर्जित विपुल धनको प्राप्त करके एक यज्ञ कर रहे हैं, और इधर उधरसे अनेक राजा और ब्राह्मण उस यज्ञमें पहुंच रहे हैं ॥ ८-९ ॥

अहं तु प्रेषितो राजन्कौरवेण महात्मना।
आमन्त्रयति वो राजा धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः।
मनोभिलषितं राज्ञस्तं क्रतुं द्रष्टुमर्हथ ॥ १० ॥

हे राजन्! मुझे महात्मा दुर्योधनने आपके समीप भेजा है। महाराज दुर्योधन आपको यज्ञमें निमन्त्रण देते हैं और उनकी इच्छा आपको यज्ञमें बुलानेकी है, इसलिये आप चलकर उस यज्ञको देखिये ॥ १० ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा तच्छ्रुत्वा दूतभाषितम्।
अब्रवीन्नृपशार्दूलो दिष्ट्या राजा सुयोधनः।
यजते क्रतुमुख्येन पूर्वेषां कीर्तिवर्धनः ॥ ११ ॥

दूतके वचन सुनकर राजसिंह राजा युधिष्ठिर बोले– सौभाग्यसे राजा दुर्योधनने इस उत्तम यज्ञका आरम्भ किया है। वह पूर्व पुरुषोंकी कीर्तिको बढानेवाले हैं ॥ ११ ॥

वयमप्युपयास्यामो न त्विदानीं कथंचन ।
समयः परिपाल्यो नो यावद्वर्षं त्रयोदशम् ॥ १२ ॥

हमलोगोंकी इच्छा भी उस यज्ञमें जानेकी है, परन्तु इस समय किसी प्रकार भी नहीं जा सकते, क्योंकि हमको तेरह वर्ष वनमें रहकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी है ॥ १२ ॥

श्रुत्वैतद्धर्मराजस्य भीमो वचनमब्रवीत् ।
तदा तु नृपतिर्गन्ता धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥
अस्त्रशस्त्रप्रदीप्तेऽग्नौ यदा तं पातयिष्यति ।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं रणसत्रे नराधिपः ॥ १४ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसे वचन सुनकर भीम यह वचन बोले– हे दूत ! महाराज धर्मराज युधिष्ठिर तो उसी समय हस्तिनापुर जायेंगे, जब तेरह वर्षके पश्चात् होनेवाले युद्धमें राजा युधिष्ठिर अस्त्र और शस्त्रोंकी अग्निमें दुर्योधनकी आहुति दे चुकेंगे ॥ १३-१४ ॥

यदा क्रोधहविर्मोक्ता धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवः ।
आगन्तारस्तदा स्मेति वाच्यस्ते स सुयोधनः ॥ १५ ॥

जब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें अपने क्रोधरूपी हविका आधान करेंगे, तभी हम सब हस्तिनापुरको जायेंगे। हमारे सब वचन तुम दुर्योधनसे कह देना ॥ १५ ॥

शेषास्तु पाण्डवा राजन्नैवोचुः किंचिदप्रियम् ।
दूतश्चापि यथावृत्तं धार्तराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥ १६ ॥

हे राजन् ! पाण्डवोंमेंसे और किसीने कठोर वचन नहीं कहा। वह दूत वहांसे राजा दुर्योधनके पास गया और उसने सब कह सुनाया ॥ १६ ॥

अथाजग्मुर्नरश्रेष्ठा नानाजनपदेश्वराः ।
ब्राह्मणाश्च महाभागा धार्तराष्ट्रपुरं प्रति ॥ १७ ॥

तदनन्तर अनेक नरश्रेष्ठ तथा नाना जनपदोंके स्वामी और महाभाग्यशाली ब्राह्मण हस्तिनापुरमें आये ॥ १७ ॥

ते त्वर्चिता यथाशास्त्रं यथावर्णं यथाक्रमम् ।
मुदा परमया युक्ताः प्रीत्या चापि नरेश्वर ॥ १८ ॥

राजा दुर्योधनने उन सबकी पूजा शास्त्रविधि वर्ण और क्रमके अनुसार की। तब, हे राजन् ! वे राजा भी विधि और क्रमके अनुसार पूजा पाकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १८ ॥

*

धृतराष्ट्रोऽपि राजेन्द्र संवृतः सर्वकौरवैः।
हर्षेण महता युक्तो विदुरं प्रत्यभाषत ॥ १९ ॥

हे राजेन्द्र जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र सब कौरवोंके सहित बहुत प्रसन्न होकर विदुरसे बोले ॥ १९ ॥

यथा सुखी जनः सर्वः क्षत्तः स्यादन्नसंयुतः।
तुष्येच्च यज्ञसदने तथा क्षिप्रं विधीयताम् ॥ २० ॥

हे विदुर! जिससे सभी मनुष्य अन्नसे युक्त होकर सुखी हों और जिससे इस यज्ञशालामें आए हुए सब लोग सन्तुष्ट रहें, आप वैसा ही यत्न करें ॥ २० ॥

विदुरस्त्वेवमाज्ञप्तः सर्ववर्णानरिंदम।
यथाप्रमाणतो विद्वान्पूजयामास धर्मवित् ॥ २१ ॥

हे शत्रुनाशी जनमेजय! धर्म जाननेवाले विद्वान् विदुरने उनकी आज्ञाको स्वीकार कर प्रमाणके अनुसार सब वर्णोंकी पूजा की ॥ २१ ॥

भक्ष्यभोज्यान्नपानेन माल्यैश्चापि सुगन्धिभिः।
वासोभिर्विविधैश्चैव योजयामास हृष्टवत् ॥ २२ ॥

विदुरने प्रसन्न होकर खाने खिलाने, पीनेकी वस्तु, माला, सुगन्धि और वस्त्रोंका उचित प्रबन्ध कर दिया ॥ २२ ॥

कृत्वा ह्यवभृथं वीरो यथाशास्त्रं यथाक्रमम्।
सान्त्वयित्वा च राजेन्द्रो दत्त्वा च विविधं वसु।
विसर्जयामास नृपान्ब्राह्मणांश्च सहस्रशः ॥ २३ ॥

फिर शास्त्र और क्रमके अनुसार यज्ञ समाप्तिका स्नान करके दुर्योधनने सब राजाओंको प्रसन्न करके विदा किया; फिर हजारों ब्राह्मणोंको धन देकर उनको भी विदा किया ॥ २३ ॥

विसर्जयित्वा स नृपान्भ्रातृभिः परिवारितः।
विवेश हास्तिनपुरं सहितः कर्णसौबलैः ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४२ ॥ ८४२७ ॥

इस प्रकार यज्ञ समाप्त करके और राजाओंको विदा करके कर्ण, शकुनि और अपने भाइयोंके सहित राजा दुर्योधनने हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ बयालीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४२ ॥ ८४२७ ॥

: २४३ :

वैशम्पायन उवाच

प्रविशन्तं महाराज सूतास्तुष्टुवुरच्युतम् ।
जनाश्चापि महेष्वासं तुष्टुवू राजसत्तमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! तब नगरमें प्रवेश करते हुए अपराजित दुर्योधनकी भाटोंने स्तुति की और उन महाधनुर्धारी राजश्रेष्ठ दुर्योधनकी नगरवासियोंने भी स्तुति की ॥१॥

लाजैश्चन्दनचूर्णैश्चाप्यवकीर्य जनास्तदा ।
ऊचुर्दिष्ट्या नृपाविघ्नात्समाप्तोऽयं क्रतुस्तव ॥ २ ॥

उनके ऊपर धानके लावे और चन्दनका चूर्ण बरसाकर प्रजायें कहने लगीं– कि, हे राजन् ! सौभाग्यसे यह तुम्हारा यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया ॥ २ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र वातिकास्तं महीपतिम् ।
युधिष्ठिरस्य यज्ञेन न समो ह्येष ते क्रतुः ।
नैव तस्य क्रतोरेष कलामर्हति षोडशीम् ॥ ३ ॥

कुछ दूसरे लोग, जिनका मस्तिष्क वात रोगसे पीडित था, कहने लगे– कि, यह तुम्हारा यज्ञ युधिष्ठिरके यज्ञके जैसा नहीं हुआ । यह युधिष्ठिरके यज्ञके सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है ॥ ३ ॥

एवं तत्राब्रुवन्केचिद्वातिकास्तं नरेश्वरम् ।
सुहृदस्त्वब्रुवंस्तत्र अति सर्वानयं क्रतुः ॥ ४ ॥

इस प्रकार कुछ वातरोगसे ग्रस्त लोगोंने कहा । पर उनके मित्रोंने कहा– कि यह यज्ञ सब यज्ञोंसे बढकर हुआ है ॥ ४ ॥

ययातिर्नहुषश्चापि मांधाता भरतस्तथा ।
क्रतुमेनं समाहृत्य पूताः सर्वे दिवं गताः ॥ ५ ॥

इसी यज्ञके करनेसे पवित्र होकर ययाति, नहुष, मान्धाता और भरत स्वर्गको गये हैं ॥५॥

एता वाचः शुभाः शृण्वन्सुहृदां भरतर्षभ ।
प्रविवेश पुरं हृष्टः स्ववेश्म च नराधिपः ॥ ६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकारसे अपने मित्रोंके शुभ वचनोंको सुनते हुए राजा दुर्योधनने प्रसन्न होकर नगरमें प्रवेश किया । फिर अपने घरमें गए ॥ ६ ॥

अभिवाद्य तत पादौ मातापित्रोर्विशां पते।
भीष्मद्रोणकृपाणां च विदुरस्य च धीमतः ॥ ७ ॥

हे राजन्! वहां जाकर अपने माता, पिता, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और बुद्धिमान् विदुरके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ७ ॥

अभिवादितः कनीयोभिर्भ्रातृभिर्भ्रातृवत्सलः।
निषसादासने मुख्ये भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ८ ॥

तदनन्तर अपने भाइयोंको प्यार करनेवाले दुर्योधन अपने छोटे भाइयोंसे अभिवादन पाकर तथा अपने भाईयोंसे घिरकर मुख्य सिंहासनपर बैठे ॥ ८ ॥

तमुत्थाय महाराज सूतपुत्रोऽब्रवीद्वचः।
दिष्ट्या ते भरतश्रेष्ठ समाप्तोऽयं महाक्रतुः ॥ ९ ॥

हे राजन्! तब सबके बीचमें खडे होकर कर्ण राजासे कहने लगे– हे भरतश्रेष्ठ! सौभाग्यसे यह तुम्हारा महायज्ञ समाप्त हो गया ॥ ९ ॥

हतेषु युधि पार्थेषु राजसूये तथा त्वया।
आहृतेऽहं नरश्रेष्ठ त्वां सभाजयिता पुनः ॥ १० ॥

अब, हे नरश्रेष्ठ! जिस ससय युद्धमें मैं पाण्डवोंको युद्धमें मार चुकूंगा और आप राजसूय यज्ञ करेंगे, तब फिर मैं आपकी पूजा करूंगा ॥ १० ॥

तमब्रवीन्महाराजो धार्तराष्ट्रो महायशाः।
सत्यमेतत्त्वया वीर पाण्डवेषु दुरात्मसु ॥ ११ ॥
निहतेषु नरश्रेष्ठ प्राप्ते चापि महाक्रतौ।
राजसूये पुनर्वीर त्वं मां संवर्धयिष्यसि ॥ १२ ॥

कर्णके वचन सुनकर महायशस्वी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन बोले– हे कर्ण! तुमने सत्य कहा। हे वीर नरश्रेष्ठ! जब दुष्ट पाण्डव युद्धमें मारे जायेंगे और राजसूय महायज्ञ किया जाएगा, तब तुम फिर मेरी ऐसी ही वृद्धि करोगे ॥ ११-१२ ॥

एवमुक्त्वा महाप्राज्ञः कर्णमाश्लिष्य भारत।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास कौरवः ॥ १३ ॥

हे भारत! ऐसा कहकर महाबुद्धिमान् दुर्योधनने कर्णको अपने-हृदयसे लगाया और कुरुवंशी दुर्योधन उस यज्ञश्रेष्ठ राजसूय यज्ञके विषयमें विचार करने लगे ॥ १३ ॥

सोऽब्रवीत्सुहृदश्चापि पार्श्वस्थान्नृपसत्तमः ।
कदा तु तं क्रतुवरं राजसूयं महाधनम् ।
निहत्य पाण्डवान्सर्वानाहरिष्यामि कौरवाः ॥ १४ ॥

तदनन्तर राजाओंमें श्रेष्ठ राजा दुर्योधन पासमें खडे हुए कौरवोंसे बोले– हे कौरवो ! वह कौनसा दिन होगा, कि जब मैं सब पाण्डवोंको मारकर उस महाधनवाले यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूयको करूंगा ॥ १४ ॥

तमब्रवीत्तदा कर्णः शृणु मे राजकुञ्जर ।
पादौ न धावये तावद्यावन्न निहतोऽर्जुनः ॥ १५ ॥

ऐसा सुनकर कर्ण उनसे बोले– हे राजाओंमें श्रेष्ठ ! मैं जबतक अर्जुनको युद्धमें नहीं मार लूंगा, तबतक किसीसे अपने पैर नहीं धुलवाऊंगा ॥ १५ ॥

अथोत्क्रुष्टं महेष्वासैर्धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
प्रतिज्ञाते फल्गुनस्य वधे कर्णेन संयुगे ।
विजितांश्चाप्यमन्यन्त पाण्डवान्धृतराष्ट्रजाः ॥ १६ ॥

जब इस प्रकारसे कर्णने युद्धमें अर्जुनको मारनेकी प्रतिज्ञा की, तो महारथी महाधनुर्धारी धृतराष्ट्रके पुत्र जोर जोरसे शब्द करने लगे । उन सबने यह मान लिया कि हमने पाण्डवोंको जीत ही लिया है ॥ १६ ॥

दुर्योधनोऽपि राजेन्द्र विसृज्य नरपुङ्गवान् ।
प्रविवेश गृहं श्रीमान्यथा चैत्ररथं प्रभुः ।
तेऽपि सर्वे महेष्वासा जग्मुर्वेश्मानि भारत ॥ १७ ॥

तदनन्तर महाराज दुर्योधनने उन नरश्रेष्ठोंको विदा किया । फिर जैसे इन्द्र चैत्ररथमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही दुर्योधनने भी अपने घरमें प्रवेश किया । वे सब महाधनुर्धारी वीर भी अपने अपने घरोंको चले गये ॥ १७ ॥

पाण्डवाश्च महेष्वासा दूतवाक्यप्रचोदिताः ।
चिन्तयन्तस्तमेवार्थं नालभन्त सुखं क्वचित् ॥ १८ ॥

महाधनुर्धारी पाण्डवोंने जबसे दूतके वचन सुने थे, तभीसे अत्यधिक चिन्ता करने लगे और उनको किसी समय सुख न प्राप्त हुआ ॥ १८ ॥

भूयश्च चारै राजेन्द्र प्रवृत्तिरुपपादिता ।
प्रतिज्ञा सूतपुत्रस्य विजयस्य वधं प्रति ॥ १९ ॥

हे राजेन्द्र ! फिर पाण्डवोंके दूतोंने आकर महाराज युधिष्ठिरसे अर्जुनके वधके बारेमें कर्णकी प्रतिज्ञा कह सुनाई ॥ १९ ॥

एतच्छ्रुत्वा धर्मसुतः समुद्विग्नो नराधिप ।
अभेद्यकवचं मत्वा कर्णमद्भुतविक्रमम् ।
अनुस्मरंश्च संक्लेशान्न शान्तिमुपयाति सः ॥ २० ॥

हे महाराज ! कर्णकी प्रतिज्ञा सुनकर उसका अद्भुत पराक्रम विचार कर तथा उसके अभेद्य कवचके बारेमें सोच करके धर्मराज बहुत उद्विग्न हो गए और अपने क्लेशोंको याद करके महाराजके चित्तको शान्ति प्राप्त नहीं हुई ॥ २० ॥

तस्य चिन्तापरीतस्य बुद्धिर्जज्ञे महात्मनः ।
बहुव्यालमृगाकीर्णं त्यक्तुं द्वैतवनं वनम् ॥ २१ ॥

तब चिन्तासे व्याकुल महात्मा धर्मराजने अनेक सांप और पशुओंसे भरे हुए द्वैतवनको छोडनेकी इच्छा की ॥ २१ ॥

धार्तराष्ट्रोऽपि नृपतिः प्रशशास वसुंधराम् ।
भ्रातृभिः सहितो वीरैर्भीष्मद्रोणकृपैस्तथा ॥ २२ ॥

उधर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन भी वीर भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य तथा अपने वीर भाइयोंके सहित पृथ्वीका राज्य करने लगे ॥ २२ ॥

संगम्य सूतपुत्रेण कर्णेनाहवशोभिना ।
दुर्योधनः प्रिये नित्यं वर्तमानो महीपतिः ।
पूजयामास विप्रेन्द्रान्क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २३ ॥

युद्ध जीतनेवाले सूतपुत्र कर्णके साथ रहकर राज्यमें सब कार्य करने लगे । महाराज दुर्योधन सबका प्रिय कार्य करने लगे और अनेक यज्ञ करके ब्राह्मणोंको बहुत दक्षिणा देने लगे ॥ २३ ॥

भ्रातॄणां च प्रियं राजन्स चकार परंतपः ।
निश्चित्य मनसा वीरो दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४३ ॥
॥ समाप्तं घोषयात्रापर्व ॥ ८४५१ ॥

तब वीर दुर्योधनने अपने मनमें निश्चय किया कि, धनको देना और भोगना ही इसका फल है । ऐसा विचारकर शत्रुनाशक दुर्योधनने अपने भाइयोंका प्रिय कार्य किया ॥ २४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ तेतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ २४३ ॥ ८४५१ ॥
घोषयात्रापर्व समाप्त ॥ ८४५१ ॥

: २४४ :

जनमेजय उवाच

दुर्योधनं मोचयित्वा पाण्डुपुत्रा महाबलाः ।
किमकार्षुर्वने तस्मिंस्तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे महामुने ! दुर्योधनको छुडाकर महाबलवान् पाण्डवोंने उस वनमें रहकर कौनसा कार्य किया, उसे आप हमसे कहिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शयानं कौन्तेयं रात्रौ द्वैतवने मृगाः ।
स्वप्नान्ते दर्शयामासुर्बाष्पकण्ठा युधिष्ठिरम् ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– एक दिन कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर वनमें सो रहे थे, उसी समय उनके स्वप्नमें आंसुओंसे रुंधे हुए कण्ठवाले पशु उनके पास आए ॥ २ ॥

तानब्रवीत्स राजेन्द्रो वेपमानान्कृताञ्जलीन् ।
ब्रूत यद्वक्तुकामाः स्थ के भवन्तः किमिष्यते ॥ ३ ॥

उनको रोते हुए हाथ जोडे खडे तथा कांपते हुए देखकर राजाधिराज धर्मराजने पूछा कि तुम लोग कौन हो ? और हमसे क्या कहना चाहते हो ? कहो, तुम क्या चाहते हो ॥ ३ ॥

एवमुक्ताः पाण्डवेन कौन्तेयेन यशस्विना ।
प्रत्यब्रुवन्मृगास्तत्र हतशेषा युधिष्ठिरम् ॥ ४ ॥

महायशस्वी कुन्तीपुत्र पाण्डवश्रेष्ठ धर्मराजके इस प्रकार कहनेपर मरनेसे बचे हुए पशु बोले ॥ ४ ॥

वयं मृगा द्वैतवने हतशिष्टाः स्म भारत ।
नोत्सीदेम महाराज क्रियतां वासपर्ययः ॥ ५ ॥

हे महाराज ! हे भारत ! हम द्वैतवनके पशु हैं। हम मरनेसे बच गए हैं, हे महाराज ! आपके कारण हमारा कुल नष्ट न हो जाए, इसलिये आप दूसरे वनमें निवास कीजिये ॥ ५ ॥

भवन्तो भ्रातरः शूराः सर्व एवास्त्रकोविदाः ।
कुलान्यल्पावशिष्टानि कृतवन्तो वनौकसाम् ॥ ६ ॥

आपके भाई सभी शूर, वीर और शस्त्र विद्याके जाननेवाले हैं। उन्होंने वनमें रहनेवाले हम पशुओंके कुलको थोडी ही संख्यामें जीवित छोडा है ॥ ६ ॥

बीजभूता वयं केचिदवशिष्टा महामते।
विवर्धेमहि राजेन्द्र प्रसादात्ते युधिष्ठिर ॥ ७॥

हे महामते! अब हम लोग बीजमात्र रह गये हैं; इसलिये आप कृपा कीजिये। हे राजेन्द्र युधिष्ठिर! आपकी कृपासे हम फिर भी बढ जायेंगे ॥ ७॥

तान्वेपमानान्वित्रस्तान्बीजमात्रावशेषितान्।
मृगान्दृष्ट्वा सुदुःखार्तो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ८॥
तांस्तथेत्यब्रवीद्राजा सर्वभूतहिते रतः।
तथ्यं भवन्तो ब्रुवते करिष्यामि च तत्तथा ॥ ९॥

धर्मराज युधिष्ठिरने जब उन पशुओंको कांपते, डरते और बीजके रूपमें थोडीसी संख्यामें जीवित देखा, तो बहुत दुःखसे भरकर और सब प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले राजा युधिष्ठिर कहने लगे कि तुम लोग सच कहते हो, मैं वैसा ही करूंगा ॥ ८-९ ॥

इत्येवं प्रतिबुद्धः स रात्र्यन्ते राजसत्तमः।
अब्रवीत्सहितान्भ्रातॄन्दयापन्नो मृगान्प्रति ॥ १०॥

ऐसा स्वप्न देखकर राजाओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर प्रातःकाल उठे और अपने भाइयोंको बुलाकर पशुओंके ऊपर कृपा करके कहने लगे ॥ १० ॥

उक्तो रात्रौ मृगैरस्मि स्वप्नान्ते हतशेषितैः।
तनुभूताः स्म भद्रं ते दया नः क्रियतामिति ॥ ११॥

मुझसे स्वप्नमें मरनेसे बचे हुए पशुओंने कहा है, कि अब हम बहुत थोडे ही बचे हैं, अतः अब आप हमारे ऊपर कृपा कीजिये ॥ ११ ॥

ते सत्यमाहुः कर्तव्या दयास्माभिर्वनौकसाम्।
साष्टमासं हि नो वर्षं यदेनानुपयुञ्ज्महे ॥ १२॥

उन्होंने सत्य ही कहा है। हम लोगोंको वनमें रहनेवाले जन्तुओं पर कृपा करनी चाहिये। हम लोगोंको अब एक वर्ष और आठ महीने इस वनमें रहते हो गए, तबसे हम इन्हीं पशुओंको खा रहे हैं ॥ १२ ॥

पुनर्बहुमृगं रम्यं काम्यकं काननोत्तमम्।
मरुभूमेः शिरः ख्यातं तृणबिंदुसरः प्रति।
तत्रेमा वसतीः शिष्टा विहरन्तो रमेमहि ॥ १३॥

अब हम फिर मरुदेशमें उत्तम काम्यक वनको चलें, वह बहुत रमणीय तथा बहुत हरिनों और घाससे भरा हुआ है। उसमें जो बिन्दुसर नामक तालाब है, उसके तटपर विहार करके हम लोग शेष समयको बिता देंगे ॥ १३ ॥

ततस्ते पाण्डवा शीघ्रं प्रययुर्धर्मकोविदाः।
ब्राह्मणैः सहिता राजन्ये च तत्र सहोषिताः।
इन्द्रसेनादिभिश्चैव प्रेष्यैरनुगतास्तदा ॥ १४ ॥

हे राजन्! धर्मराजकी आज्ञा सुनकर धर्मको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ पाण्डव, ब्राह्मण तथा दूसरे भी जो उनके साथ रहनेवाले इन्द्रसेनादिक सारथी और सेवक थे, उनके साथ वहांसे चल दिये ॥ १४ ॥

ते यात्वानुसृतैर्मार्गैः स्वन्नैः शुचिजलान्वितैः।
ददृशुः काम्यकं पुण्यमाश्रमं तपसायुतम् ॥ १५ ॥

वे लोग पवित्र, शुद्ध और जलसे भरे हुए मार्गोंसे चलते चलते पवित्र और तपस्वियोंसे युक्त काम्यक वनमें पहुंचे ॥ १५ ॥

विविशुस्ते स्म कौरव्या वृता विप्रर्षभैस्तदा।
तद्वनं भरतश्रेष्ठाः स्वर्गं सुकृतिनो यथा ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४४ ॥
॥ समाप्तं मृगस्वप्नभयपर्व ॥ ८४६७ ॥

जैसे पुण्यात्मा स्वर्गमें प्रवेश करते हैं वैसे ही भरतकुलश्रेष्ठ पाण्डवोंने ब्राह्मणोंके सहित काम्यक वनमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ चौवालिसवां अध्याय समाप्त ॥ २४४ ॥
मृगस्वप्नभयपर्व समाप्त ॥ ८४६७ ॥

: २४५ :

वैशम्पायन उवाच

वने निवसतां तेषां पाण्डवानां महात्मनाम्।
वर्षाण्येकादशातीयुः कृच्छ्रेण भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय! उन महात्मा पाण्डवोंको वनमें रहते और दुःख सहते हुए ग्यारह वर्ष बीत गये ॥ १ ॥

फलमूलाशनास्ते हि सुखार्हा दुःखमुत्तमम्।
प्राप्तकालमनुध्यान्तः सेहुरुत्तमपूरुषाः ॥ २ ॥

सुख भोगने योग्य पाण्डवोंने फल और मूल खाकर तथा कठिन दुःख सहकर इन ग्यारह वर्षोंको व्यतीत किया। महात्मा पाण्डव अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अपने उचित समयकी प्रतीक्षा करते हुए दुःख सहते रहे ॥ २ ॥

युधिष्ठिरस्तु राजर्षिरात्मकर्मापराधजम्।
चिन्तयन्स महाबाहुर्भ्रातॄणां दुःखमुत्तमम् ॥ ३ ॥
न सुष्वाप सुखं राजा हृदि शल्यैरिवार्पितैः।
दौरात्म्यमनुपश्यंस्तत्काले द्यूतोद्भवस्य हि ॥ ४ ॥

महाबाहु राजऋषि युधिष्ठिर अपने कर्मके अपराध और अपने भाइयोंके दुःखके बारेमें सोच सोचकर कभी सुखसे नहीं सोते थे। उनको जुएसे उत्पन्न हुए दुःखोंके विचार करनेसे ऐसी पीडा होती थी, जैसे हृदयमें बाण लगनेसे पीडा होती है ॥ ३–४ ॥

संस्मरन्परुषा वाचः सूतपुत्रस्य पाण्डवः।
निःश्वासपरमो दीनो बिभ्रत्कोपविषं महत् ॥ ५ ॥

जिस समय महाराजको कर्णके कठोर वचन स्मरण होते थे, उस समय दीन होकर श्वास लेते थे, और क्रोधके विषसे व्याकुल हो जाते थे ॥ ५ ॥

अर्जुनो यमजौ चोभौ द्रौपदी च यशस्विनी।
स च भीमो महातेजाः सर्वेषामुत्तमो बली।
युधिष्ठिरमुदीक्षन्तः सेहुर्दुःखमनुत्तमम् ॥ ६ ॥

अर्जुन, नकुल, सहदेव, यशस्विनी द्रौपदी और महातेजस्वी तथा सबसे अधिक बली भीम युधिष्ठिरके मुखको देख देखकर महान् दुःख सहते थे ! ॥ ६ ॥

अवशिष्टमल्पकालं मन्वानाः पुरुषर्षभाः।
वपुरन्यदिवाकार्षुरुत्साहामर्षचेष्टितैः ॥ ७ ॥

"अब तो वनवासका समय थोडा ही अवशिष्ट रह गया है," यह सोचकर उन पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंने उत्साह और क्रोधकी चेष्टाओंसे अपने शरीरको कुछ औरसाही बना डाला था ॥७॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य व्यासः सत्यवतीसुतः।
आजगाम महायोगी पाण्डवानवलोककः ॥ ८ ॥

थोडे समयके बाद सत्यवतीके पुत्र महायोगी पाण्डवोंको देखनेकी इच्छावाले व्यासदेव वहां आए ॥ ८ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
प्रत्युद्गम्य महात्मानं प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि ॥ ९ ॥

महात्मा व्यासको आते देखकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर खडे हो गये, और आगे बढकर उनका विधिपूर्वक स्वागत किया ॥ ९ ॥

तमासीनमुपासीनः शुश्रूषुर्नियतेन्द्रियः ।
तोषयन्प्रणिपातेन व्यासं पाण्डवनन्दनः ॥ १० ॥

उनको बिठलाकर जितेन्द्रिय धर्मराज भी उनसे कथा सुननेकी इच्छा करके उनके पास बैठ गये। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने हाथ जोडकर व्यासमुनिको प्रसन्न किया ॥ १० ॥

तानवेक्ष्य कृशान्पौत्रान्वने वन्येन जीवतः ।
महर्षिरनुकंपार्थमब्रवीद्बाष्पगद्गदम् ॥ ११ ॥

अपने पौत्र पाण्डवोंको दुर्बल और वनमें फलमूल खाके जीवित रहते हुए देखकर महाऋषि व्यासको बहुत दया आई, और आंसुओंसे रुंधे हुए कण्ठसे वे कहने लगे ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो शृणु धर्मभृतां वर ।
नातप्ततपसः पुत्र प्राप्नुवन्ति महत्सुखम् ॥ १२ ॥

हे युधिष्ठिर ! हे महाबाहो ! हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ ! तुम मेरे वचनोंको सुनो। हे पुत्र ! बिना तप किये कोई सुख नहीं पाता ॥ १२ ॥

सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणोपसेवते ।
नात्यन्तमसुखं कश्चित्प्राप्नोति पुरुषर्षभ ॥ १३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! प्रायः सब लोग सुख और दुःखको एक एक करके भोगते हैं। कोई भी शाश्वत सुखको नहीं भोग सकता ॥ १३ ॥

प्रज्ञावांस्त्वेव पुरुषः संयुक्तः परया धिया ।
उदयास्तमयज्ञो हि न शोचति न हृष्यति ॥ १४ ॥

उदय और अस्तको जाननेवाला बुद्धिमान् और उत्तम बुद्धिसे युक्त पंडित न शोक करता है और न प्रसन्न होता है ॥ १४ ॥

सुखमापतितं सेवेद्दुःखमापतितं सहेत् ।
कालप्राप्तमुपासीत सस्यानामिव कर्षकः ॥ १५ ॥

इसलिये पुरुषको चाहिए कि वह आए हुए सुखका भोग करे और आए हुए दुःखको सहे और जैसे किसान समयके अनुसार सब काम करता है वैसे ही प्राप्त हुए समयके अनुसार सब व्यवहार करे ॥ १५ ॥

तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ।
नासाध्यं तपसः किंचिदिति बुध्यस्व भारत ॥ १६ ॥

तपसे बढकर और कोई वस्तु नहीं है। तपसे मोक्ष प्राप्त होता है। हे भारत ! यह समझ लो कि ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो तपसे न मिल सके ॥ १६ ॥

सत्यमार्जवमक्रोधः संविभागो दमः शमः।
अनसूयाविहिंसा च शौचमिन्द्रियसंयमः।
साधनानि महाराज नराणां पुण्यकर्मणाम् ॥ १७ ॥

हे युधिष्ठिर! सत्य, कोमलता, क्रोध न करना, दान, दम, शम, किसीके सुखको देखकर दुःखी न होना, हिंसा न करना, पवित्रता और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना, हे महाराज! ये ही पुण्यशाली मनुष्योंके साधन हैं ॥ १७ ॥

अधर्मरुचयो मूढास्तिर्यग्गतिपरायणाः।
कृच्छ्रां योनिमनुप्राप्य न सुखं विन्दते जनाः ॥ १८ ॥

अधर्ममें रुचि रखनेवाले पापी और मूर्ख लोग इनका आदर नहीं करते हैं; इसीसे वे लोग नीच योनियोंमें जन्म लेते हैं और सुखको प्राप्त नहीं होते ॥ १८ ॥

इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते।
तस्माच्छरीरं युञ्जीत तपसा नियमेन च ॥ १९ ॥

इस लोकमें जो कर्म किया जाता है, वही परलोकमें प्राप्त होता है, इसलिये शरीरको तप और नियमोंसे युक्त करना चाहिये ॥ १९ ॥

यथाशक्ति प्रयच्छेच्च संपूज्याभिप्रणम्य च।
काले प्राप्ते च हृष्टात्मा राजन्विगतमत्सरः ॥ २० ॥

पुरुषको चाहिए कि वह अच्छा समय प्राप्त होनेपर प्रसन्न होकर और दुष्टताको त्यागकर प्रणाम और पूजा करे तथा शक्तिके अनुसार दान करे ॥ २० ॥

सत्यवादी लभेतायुरनायासमथार्जवी।
अक्रोधनोऽनसूयश्च निर्वृतिं लभते पराम् ॥ २१ ॥

सत्यवादी तथा सरलतासे व्यवहार करनेवाला मनुष्य अनायास ही दीर्घायु प्राप्त कर लेता है। क्रोध और द्रोहसे रहित पुरुष शीघ्र ही विरक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

दांतः शमपरः शश्वत्परिक्लेशं न विन्दति।
न च तप्यति दांतात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम् ॥ २२ ॥

जितेन्द्रिय और शान्त पुरुषको कभी क्लेश नहीं होता। जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, वह दूसरेकी लक्ष्मीको देखकर दुःखी नहीं होता ॥ २२ ॥

संविभक्ता च दाता च भोगवान्सुखवान्नरः।
भवत्यहिंसकश्चैव परमारोग्यमश्नुते ॥ २३ ॥

जो धनका विभाग और दान करता है, वह सदा भोगोंको और सुखोंको प्राप्त करता है, हिंसा न करनेवाला पुरुष परम आरोग्य प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

मान्यान्मानयिता जन्म कुले महति विन्दति ।
व्यसनैर्न तु संयोगं प्राप्नोति विजितेन्द्रियः ॥ २४ ॥

जो मानने योग्य पुरुषोंका मान करता है, वह उत्तम कुलमें उत्पन्न होता है। जितेन्द्रिय कभी भी किसी दुःखसे संयुक्त नहीं होता ॥ २४ ॥

शुभानुशयबुद्धिर्हि संयुक्तः कालधर्मणा ।
प्रादुर्भवति तद्योगात्कल्याणमतिरेव सः ॥ २५ ॥

जो नियमके अनुसार अपनी बुद्धिको अच्छी करता है, वह उस उत्तम बुद्धिके प्रभावसे अच्छे कुलमें जन्म लेता है, और उसकी बुद्धि भी अच्छी होती है ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन्दानधर्माणां तपसो वा महामुने ।
किं स्विद्बहुगुणं प्रेत्य किं वा दुष्करमुच्यते ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भगवन् ! हे महामुने ! मरनेके बाद मनुष्यके लिए दान, धर्म और तपमें कौन अधिक गुणदायक है ? और कौन अधिक कठिन है ? ॥ २६ ॥

व्यास उवाच

दानान्न दुष्करतरं पृथिव्यामस्ति किंचन ।
अर्थे हि महती तृष्णा स च दुःखेन लभ्यते ॥ २७ ॥

व्यास बोले– हे तात ! पृथ्वीमें दानसे अधिक कठिन और कोई धर्म नहीं है, क्योंकि पृथ्वीमें पुरुषोंको धनका बहुत लोभ रहता है और वह धन बहुत कठिनाईसे प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

परित्यज्य प्रियान्प्राणान्धनार्थं हि महाहवम् ।
प्रविशन्ति नरा वीराः समुद्रमटवीं तथा ॥ २८ ॥

धनके लिए लोग अपने प्रिय प्राणोंकी भी आशा छोडकर समुद्र और जङ्गलोंमें घुस जाते हैं ॥ २८ ॥

कृषिगोरक्ष्यमित्येके प्रतिपद्यन्ति मानवाः ।
पुरुषाः प्रेष्यतामेके निर्गच्छन्ति धनार्थिनः ॥ २९ ॥

हे महामते ! कुछ पुरुष धनकी इच्छासे खेती और गौकी रक्षा करते हैं। कुछ लोग धनकी इच्छासे नौकरी करनेके लिए विदेश भी चले जाते हैं ॥ २९ ॥

तस्य दुःखार्जितस्यैवं परित्यागः सुदुष्करः ।
न दुष्करतरं दानात्तस्माद्दानं मतं मम ॥ ३० ॥

इस प्रकार दुःखसे उपत्न्न हुए धनको त्यागना बहुत कठिन होता है, अतः मेरी बुद्धिमें दानके समान कठिन धर्म और कोई नहीं है ॥ ३० ॥

विशेषस्त्वत्र विज्ञेयो न्यायेनोपार्जितं धनम् ।
पात्रे देशे च काले च साधुभ्यः प्रतिपादयेत् ॥ ३१ ॥

यहां एक और विशेष बात जाननी चाहिये, कि न्यायसे कमाया हुआ धन उत्तम देशमें सत्पात्रको ही देना चाहिए ॥ ३१ ॥

अन्यायसमुपात्तेन दानधर्मो धनेन यः ।
क्रियते न स कर्तारं त्रायते महतो भयात् ॥ ३२ ॥

जो अन्यायसे उत्पन्न हुआ धन दान दिया जाता है, वह देनेवालेको महान् भयसे नहीं छुडा सकता ॥ ३२ ॥

पात्रे दानं स्वल्पमपि काले दत्तं युधिष्ठिर ।
मनसा सुविशुद्धेन प्रेत्यानन्तफलं स्मृतम् ॥ ३३ ॥

हे युधिष्ठिर ! जो थोडा भी दान उत्तम समयमें सुपात्रको दिया जाता है, और उस समय मन शुद्ध होता है, तो वह दान देनेके पश्चात् अनन्त फलको देता है ॥ ३३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
व्रीहिद्रोणपरित्यागाद्यत्फलं प्राप मुद्गलः ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४५ ॥ ८५०१ ॥

यहां एक पुराने इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, जो द्रौणि धान देनेसे मुद्गलको फल मिला था ॥ ३४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ पैंतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ २४५ ॥ ८५०१ ॥

: २४६ :

युधिष्ठिर उवाच

व्रीहिद्रोणः परित्यक्तः कथं तेन महात्मना ।
कस्मै दत्तश्च भगवन्विधिना केन चात्थ मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भगवन् ! महात्मा मुद्गलने किस विधिसे और कौनसे समयमें किसको एक द्रोणी धान दान किया था, वह मुझसे कहें ॥ १ ॥

प्रत्यक्षधर्मा भगवान्यस्य तुष्टो हि कर्मभिः ।
सफलं तस्य जन्माहं मन्ये सद्धर्मचारिणः ॥ २ ॥

जिस महात्माके दान कर्मसे साक्षात् धर्मरूपी भगवान् प्रसन्न हुए, मैं सद्धर्मका आचरण करने-वाले उनके जन्मको धन्य मानता हूँ ॥ २ ॥

व्यास उवाच

शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा मुद्गलः संशितव्रतः ।
आसीद्राजन्कुरुक्षेत्रे सत्यवागनसूयकः ॥ ३ ॥
अतिथिव्रती क्रियावांश्च कापोतीं वृत्तिमास्थितः ।
सत्रमिष्टीकृतं नाम समुपास्ते महातपाः ॥ ४ ॥

व्यास बोले– हे राजन् ! कुरुक्षेत्रमें मुद्गल नामक ब्राह्मण थे। वह जितेन्द्रिय शीलोञ्छ वृत्तिवाले, सत्यवादी, डाहरहित, अतिथिसेवक और क्रियावान् थे। उनकी वृत्ति कबूतरके समान थी अर्थात् अधिक संग्रह नहीं करते थे। वे महा तपस्वी मुद्गल इष्टी नामक यज्ञ करते थे ॥ ३-४ ॥

सपुत्रदारो हि मुनिः पक्षाहारो बभूव सः ।
कपोतवृत्त्या पक्षेण व्रीहिद्रोणमुपार्जयत् ॥ ५ ॥

वे स्त्री और पुत्रोंके सहित एक पक्षमें भोजन करते थे और दूसरे पक्षमें वह कबूतरकी वृत्तिसे अर्थात् एक एक दाना चुनकर एक द्रोणी धान इकट्ठा करते थे ॥ ५ ॥

दर्शं च पौर्णमासं च कुर्वन्विगतमत्सरः ।
देवतातिथिशेषेण कुरुते देहयापनम् ॥ ६ ॥

उसीसे छलरहित होकर पूर्णमासी और अमावसको यज्ञ करते थे। शेष भाग अतिथि और देवताको देते थे। उनको देकर उससे जो बचता था, उसे खाकर वह अपने शरीरका निर्वाह करते थे ॥ ६ ॥

तस्येन्द्रः सहितो देवैः साक्षात्त्रिभुवनेश्वरः ।
प्रत्यगृह्णान्महाराज भागं पर्वणि पर्वणि ॥ ७ ॥

महाभाग मुद्गलके आश्रमपर सब पर्वोंमें तीनों लोकोंके स्वामी साक्षात् इन्द्र देवोंके साथ आते थे और ऋषिके द्वारा दिया गया भाग ग्रहण करते थे ॥ ७ ॥

स पर्वकालं कृत्वा तु मुनिवृत्त्या समन्वितः ।
अतिथिभ्यो ददावन्नं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ८ ॥

महात्मा मुद्गल मुनि शीलोञ्छ वृत्ति करके सब पर्वोंमें यज्ञ समाप्त करके बडे ही प्रसन्न मनसे अतिथियोंका अन्न दिया करते थे ॥ ८ ॥

व्रीहिद्रोणस्य तदहो ददतोऽन्नं महात्मनः ।
शिष्टं मात्सर्यहीनस्य वर्धत्यतिथिदर्शनात् ॥ ९ ॥

मात्सर्यसे रहित अन्न देनेवाले महात्मा उन मुद्गलका एक द्रोणी धान अतिथियोंको देखकर बढ जाता था ॥ ९ ॥

तच्छतान्यपि भुञ्जन्ति ब्राह्मणानां मनीषिणाम्।
मुनेस्त्यागविशुद्ध्या तु तदन्नं वृद्धिमृच्छति ॥ १० ॥

इसीसे उनके एक द्रोणी अन्नमें सौ पण्डित ब्राह्मण भोजन कर लेते थे। मुनिके त्यागवलसे वह अन्न बढता जाता था ॥ १० ॥

तं तु शुश्राव धर्मिष्ठं मुद्गलं संशितव्रतम्।
दुर्वासा नृप दिग्वासास्तमथाभ्याजगाम ह ॥ ११ ॥

इस प्रकार दान करनेवाले उत्तम वृत्तिधारी महात्मा मुद्गलका नाम सुनकर दिगम्बरी दुर्वासा उनके पास आए ॥ ११ ॥

बिभ्रच्चानियतं वेषमुन्मत्त इव पाण्डव।
विकचः परुषा वाचो व्याहरन्विविधा मुनिः ॥ १२ ॥
अभिगम्याथ तं विप्रमुवाच मुनिसत्तमः।
अन्नार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां मुनिसत्तम ॥ १३ ॥

हे पाण्डव! दुर्वासाने अद्भुत पागलकासा वेष बनाया, और वे अनेक प्रकारकी कठोर वाणी बोलते हुए आए और वे मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा उस ब्राह्मणसे कहने लगे—हे मुनिश्रेष्ठ! मैं अन्नकी इच्छा करके तुम्हारे पास आया हूँ, ऐसा तुम समझो ॥ १२-१३ ॥

स्वागतं तेऽस्त्विति मुनिं मुद्गलः प्रत्यभाषत।
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिवेद्यान्नमुत्तमम् ॥ १४ ॥

महामुनि मुद्गलने उत्तर दिया— कि आपका स्वागत हो। ऐसा कहकर दुर्वासाको पाद्य और आचमन दिया ॥ १४ ॥

प्रादात्स तपसोपात्तं क्षुधितायातिथिव्रती।
उन्मत्ताय परां श्रद्धामास्थाय स धृतव्रतः ॥ १५ ॥

उसके पश्चात् भूखे दुर्वासाको अतिथिव्रती मुद्गलने अपने तपसे सम्पादित अन्न दिया और व्रतधारी मुद्गलने उस पागलमें भी परम श्रद्धा की ॥ १५ ॥

ततस्तदन्नं रसवत्स एव क्षुधयान्वितः।
बुभुजे कृत्स्नमुन्मत्तः प्रादात्तस्मै च मुद्गलः ॥ १६ ॥

फिर पागलरूपधारी दुर्वासाने भूखा होनेके कारण वह स्वाद भरा सब अन्न खा लिया, तब मुद्गलने उन्हें और अन्न दिया ॥ १६ ॥

भुक्त्वा चान्नं ततः सर्वमुच्छिष्टेनात्मनस्ततः।
अथानुलिलिपेऽङ्गानि जगाम च यथागतम् ॥ १७ ॥

भोजन करनेसे जो अन्न बच रहा, उसको उस पागलने अपने शरीरमें लगा लिया, और फिर जिधरसे आया था उधरहीको चला गया ॥ १७ ॥

एवं द्वितीये संप्राप्ते पर्वकाले मनीषिणः।
आगम्य बुभुजे सर्वमन्नमुञ्छोपजीविनः ॥ १८ ॥

इस प्रकार जब बुद्धिमान् उञ्छवृत्तिसे जीवित रहनेवाले मुद्गलने दूसरे पक्षमें यज्ञ किया, तो फिर उसी प्रकारसे दुर्वासा आए और सब अन्न खा गये ॥ १८ ॥

निराहारस्तु स मुनिरुञ्छमार्जयते पुनः।
न चैनं विक्रियां नेतुमशकन्मुद्गलं क्षुधा ॥ १९ ॥

तब महात्मा मुद्गल भूखे ही रहकर उञ्छवृत्ति करने लगे। इस प्रकार भूखा रहकर कार्य करनेपर भी भूख उनको दुःख न दे सकी ॥ १९ ॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं नावमानो न संभ्रमः।
सपुत्रदारमुञ्छन्तमाविवेश द्विजोत्तमम् ॥ २० ॥

स्त्री पुत्र भी भूखे रहने लगे, इसपर भी उस द्विजश्रेष्ठ मुद्गलके मनमें न क्रोध उत्पन्न हुआ, न ईर्ष्या पैदा हुई, न दुर्वासाके प्रति अपमानके भाव पैदा हुए और न उनकी बुद्धिमें कोई विभ्रम ही पैदा हुआ ॥ २० ॥

तथा तमुञ्छधर्माणं दुर्वासा मुनिसत्तमम्।
उपतस्थे यथाकालं षट्कृत्वः कृतनिश्चयः ॥ २१ ॥

इस प्रकार दुर्वासा कुछ संकल्प करके उञ्छवृत्तिपर जीवन गुजारनेवाले उन मुनिश्रेष्ठ मुद्गलके पास छै बार आये ॥ २१ ॥

न चास्य मानसं किंचिद्विकारं ददृशे मुनिः।
शुद्धसत्त्वस्य शुद्धं स ददृशे निर्मलं मनः ॥ २२ ॥

परन्तु दुर्वासा मुनिने पवित्र शक्तिवाले मुद्गलके मनमें कुछ भी विकार न देखा, वरन् उनका मन सदा शुद्ध ही पाया ॥ २२ ॥

तमुवाच ततः प्रीतः स मुनिर्मुद्गलं तदा।
त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन्दाता मात्सर्यवर्जितः ॥ २३ ॥

तब महात्मा दुर्वासा प्रसन्न होकर मुद्गलसे बोले– कि इस लोकमें तुम्हारे समान ईर्ष्यारहित दानी और कोई नहीं है ॥ २३ ॥

क्षुद्धर्मसंज्ञां प्रणुदत्यादत्ते धैर्यमेव च।
विषयानुसारिणी जिह्वा कर्षत्येव रसान्प्रति ॥ २४ ॥

तुमने अपने धैर्यसे क्षुधाका धर्म और जिह्वाकी शक्तिको जीत लिया; यह जिह्वा रसको चाहने-वाली है, इसलिये पुरुषको अवश्य ही रसोंकी ओर खींचती है ॥ २४ ॥

आहारप्रभवाः प्राणा मनो दुर्निग्रहं चलम्।
मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं निश्चितं तपः ॥ २५ ॥

प्राण भोजनसे स्थिर रहते हैं; मन बडा चञ्चल कठिनतासे वशमें आनेवाला है; मनको एकाग्र करके इन्द्रियोंको वशमें रखना ही तप कहाता है ॥ २५ ॥

श्रमेणोपार्जितं त्यक्तुं दुःखं शुद्धेन चेतसा।
तत्सर्वं भवता साधो यथावदुपपादितम् ॥ २६ ॥

परिश्रमसे उत्पन्न किये धनको शुद्ध मनसे देना बहुत कठिन है। हे मुने! तुमने यह सब कर्म उचित रीतिसे किया ॥ २६ ॥

प्रीताः स्मोऽनुगृहीताश्च समेत्य भवता सह।
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं संविभागो दमः शमः ॥ २७ ॥

मैं तुमसे मिलकर बहुत सुखी और अनुग्रहीत हुआ। तुम्हारे शरीरमें इन्द्रियोंका जीतना, धैर्य, अन्नादिक बांटनेकी रीति, शम, दम ॥ २७ ॥

दया सत्यं च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
जितास्ते कर्मभिर्लोकाः प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ॥ २८ ॥

दया, सत्य और धर्म स्थित हैं। तुमने कर्मोंसे स्वर्गलोकको जीत लिया है। तुम परम गतिको प्राप्त हुए हो ॥ २८ ॥

अहो दानं विघुष्टं ते सुमहत्स्वर्गवासिभिः।
सशरीरो भवान्गन्ता स्वर्गं सुचरितव्रत ॥ २९ ॥

तुम्हारा दान धन्य है। तुम्हारे दानकी प्रशंसा देवता भी करते हैं, हे उत्तम चारित्र और व्रतोंवाले! तुम इसी शरीरसे स्वर्गको जाओगे ॥ २९ ॥

इत्येवं वदतस्तस्य तदा दुर्वाससो मुनेः।
देवदूतो विमानेन मुद्गलं प्रत्युपस्थितः ॥ ३० ॥

जिस समय दुर्वासामुनि मुद्गलसे ऐसा कह रहे थे, उसी समय विमानपर बैठकर देवताओंका दूत आया ॥ ३० ॥

हंससारसयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना।
कामगेन विचित्रेण दिव्यगन्धवता तथा ॥ ३१ ॥

वह विमान दिव्य सुगन्ध, घण्टे, घुंघुरु, हंस और सारससे युक्त था, तथा इच्छा अनुसार चलता था ॥ ३१ ॥

उवाच चैनं विप्रर्षिं विमानं कर्मभिर्जितम्।
समुपारोह संसिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां मुने ॥ ३२ ॥

वह देवदूत विप्रर्षि मुद्गलसे बोला– हे महामुने! तुमने अपने कर्मोंसे इस विमानको प्राप्त किया है, अब इसपर बैठो, तुम परमासिद्धिको प्राप्त हुए हो ॥ ३२ ॥

तमेवंवादिनमृषिर्देवदूतमुवाच ह।
इच्छामि भवता प्रोक्तान्गुणान्स्वर्गनिवासिनाम् ॥ ३३ ॥

तब ऐसे वचन कहते हुए देवदूतसे मुद्गल मुनि बोले– हे देवदूत! आपके मुंहसे स्वर्गवासियोंके गुणोंको सुनना चाहता हूँ ॥ ३३ ॥

के गुणास्तत्र वसतां किं तपः कश्च निश्चयः।
स्वर्गे स्वर्गसुखं किं च दोषो वा देवदूतक ॥ ३४ ॥

हे देवदूत! आप कहिये, स्वर्गमें रहनेवालोंमें क्या गुण हैं? उनका क्या तप और क्या निश्चय है? स्वर्गमें क्या सुख और क्या दोष हैं ॥ ३४ ॥

सतां साप्तपदं मित्रमाहुः सन्तः कुलोचिताः।
मित्रतां च पुरस्कृत्य पृच्छामि त्वामहं विभो ॥ ३५ ॥

हे विभो! मैं आपको अपना मित्र जानकर ये सब बातें पूछता हूं, क्योंकि कुलीन महात्माओंने सात कदम साथ साथ चलनेसे ही सज्जन मित्र होते हैं ऐसा कहा है ॥ ३५ ॥

यदत्र तथ्यं पथ्यं च तद्ब्रवीह्यविचारयन्।
श्रुत्वा तथा करिष्यामि व्यवसायं गिरा तव ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४६ ॥ ८५३७ ॥

मेरे प्रश्नोंका जो सत्य और उचित उत्तर हो, उसे बिना किसी हिचकिचाहटके कहिये। आपकी बातको सुनकर जो उचित होगा सो करूंगा ॥ ३६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ छियालीसवां अध्याय समाप्त ॥ २४६ ॥ ८५३७ ॥

: २४७ :

देवदूत उवाच

महर्षेऽकार्यबुद्धिस्त्वं यः स्वर्गसुखमुत्तमम्।
संप्राप्तं बहु मन्तव्यं विमृशस्यबुधो यथा ॥ १ ॥

देवदूत बोले– हे महर्षे! आपकी बुद्धि अकार्यमें प्रवृत्त हो रही है, क्योंकि आप मानने योग्य परम उत्तम स्वर्गके सुखके विषयमें भी मूर्खके समान विचार रहे हैं ॥ १ ॥

उपरिष्टादसौ लोको योऽयं स्वरिति संज्ञितः।
ऊर्ध्वगः सत्पथः शश्वद्देवयानचरो मुने ॥ २ ॥

इस लोकसे ऊपर स्वर्गलोक है उसीको स्वर्लोक भी कहते हैं। उसके ऊपर एक देवोंका मार्ग है, उसमें सदा ही देवोंके विमान घूमा करते हैं ॥ २ ॥

नातप्ततपसः पुंसो नामहायज्ञयाजिनः।
नानृता नास्तिकाश्चैव तत्र गच्छन्ति मुद्गल ॥ ३ ॥

हे मुद्गल ! उस मार्गमें तपसे बिना तपा हुआ तथा महायज्ञोंको न किया हुआ कोई भी पुरुष नहीं जा सकता। वहां असत्यवादी और नास्तिककी गति नहीं है ॥ ३ ॥

धर्मात्मानो जितात्मानः शान्ता दान्ता विमत्सराः।
दानधर्मरताः पुंसः शूराश्चाहृतलक्षणाः ॥ ४ ॥

उस स्थानपर धर्मात्मा, मनको वशमें करनेवाले, शान्त, जितेन्द्रिय, साधु, दान, धर्म करनेवाले और युद्धमें मरे हुए वीर जाते हैं ॥ ४ ॥

तत्र गच्छन्ति कर्माग्र्यं कृत्वा शमदमात्मकम्।
लोकान्पुण्यकृतां ब्रह्मन्सद्भिरासेवितान्नृभिः ॥ ५ ॥

हे ब्रह्मन् ! उन पुण्यशालियोंके लोकोंमें शम और दमरूपी धर्म करनेसे उत्तम कर्म करनेवाले महात्मा ही जाते हैं ॥ ५ ॥

देवाः साध्यास्तथा विश्वे मरुतश्च महर्षिभिः।
यामा धामाश्च मौद्गल्य गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ६ ॥
एषां देवनिकायानां पृथक्पृथगनेकशः।
भास्वन्तः कामसंपन्ना लोकास्तेजोमयाः शुभाः ॥ ७ ॥

हे ब्रह्मन् ! देवता, साध्य, सब मरुत, महर्षि, याम, धाम, गन्धर्व और अप्सरादि देवजातियोंके भिन्न भिन्न लोक हैं। वे सब लोक परम प्रकाशमान, सब सुख और तेजोंसे सम्पन्न और परम सुन्दर हैं ॥ ६-७ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानां हिरण्मयः।
मेरुः पर्वतराडयत्र देवोद्यानानि मुद्गल ॥ ८ ॥

वहां तैंतीस हजार योजन विस्तृत सुवर्णमय मेरुपर्वत और देवताओंकी अनेक वाटिकायें हैं ॥ ८ ॥

नन्दनादीनि पुण्यानि विहाराः पुण्यकर्मणाम्।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न शीतोष्णभयं तथा ॥ ९ ॥

उसके ऊपर नन्दन आदि अनेक बाग हैं, उनमें पुण्य कर्म करनेवाले महात्मा लोग विहार करते हैं। वहां न भूख है, न प्यास है, न थकावट है और न सर्दी गर्मीका ही भय है ॥ ९ ॥

वीभत्समशुभं वापि रोगा वा तत्र केचन ।
मनोज्ञाः सर्वतो गन्धाः सुखस्पर्शाश्च सर्वशः ॥ १० ॥

वहां भयानक और अशुभ या रोगादि कुछ भी नहीं है। वहां बहुत अच्छी सुगन्धि आती है; वहांका वायु बहुत शीतल और स्पर्श होनेपर सुखदायक है ॥ १० ॥

शब्दाः श्रुतिमनोग्राह्याः सर्वतस्तत्र वै मुने ।
न शोको न जरा तत्र नायासपरिदेवने ॥ ११ ॥

हे मुने ! वहांके शब्द कानको बहुत प्यारे लगते हैं। स्वर्गमें न शोक है, न जरा, है न पश्चात्ताप है और नहीं दुःख है ॥ ११ ॥

ईदृशः स मुने लोकः स्वकर्मफलहेतुकः ।
सुकृतैस्तत्र पुरुषाः संभवन्त्यात्मकर्मभिः ॥ १२ ॥

हे मुने ! स्वर्गलोक ऐसा है। उसको महात्मा अपने कर्मसे प्राप्त कर सकते हैं वहां पुरुष स्वयं किए गए पुण्योंके कारण ही जा पाते हैं ॥ १२ ॥

तैजसानि शरीराणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम् ।
कर्मजान्येव मौद्गल्य न मातृपितृजान्युत ॥ १३ ॥

हे मुद्गल ! वहांके रहनेवालोंके शरीर अपने अपने कर्मोंके अनुसार अग्निमय होते हैं। वहां कोई माता और पितासे उत्पन्न नहीं होता ॥ १३ ॥

न च स्वेदो न दौर्गन्ध्यं पुरीषं मूत्रमेव च ।
तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ॥ १४ ॥

हे मुने ! वहां न किसीको पसीना आता है न दुर्गन्धि आती है। विष्ठा, मूत्र और रज भी नहीं होते, अतः उनके वस्त्र भी मैले नहीं होते ॥ १४ ॥

न म्लायन्ति स्रजस्तेषां दिव्यगन्धा मनोरमाः ।
पर्युह्यन्ते विमानैश्च ब्रह्मन्नेवंविधाश्च ते ॥ १५ ॥

वहां देवताओंकी दिव्य गन्धवाली और मनोहर माला कभी कुम्हलाती नहीं है। हे ब्राह्मण ! स्वर्गवासी दिव्य विमानोंपर बैठकर घूमते हैं ॥ १५ ॥

ईर्ष्याशोकक्लमापेता मोहमात्सर्यवर्जिताः ।
सुखं स्वर्गजितस्तत्र वर्तयन्ति महामुने ॥ १६ ॥

वहांके लोग डाह, शोक, थकावट, मोह और दुष्टतासे रहित होते हैं। हे महामुने ! उस स्वर्गमें महात्मा ही सुखपूर्वक निवास करते हैं ॥ १६ ॥

तेषां तथाविधानां तु लोकानां मुनिपुङ्गव।
उपर्युपरि शक्रस्य लोका दिव्यगुणान्विताः ॥ १७ ॥

हे मुनिराज ! इस प्रकार इस इन्द्र लोकके ऊपर दूसरा लोक है। जो जिसके ऊपर है वह अपने नीचेवाले लोकसे सुन्दर और अधिक गुणवान् है ॥ १७ ॥

पुरस्ताद्ब्रह्मणस्तत्र लोकास्तेजोमयाः शुभाः।
यत्र यान्त्यृषयो ब्रह्मन्पूताः स्वैः कर्मभिः शुभैः ॥ १८ ॥

हे ब्रह्मन् ! उन सबके ऊपर ब्रह्माके लोक परम सुन्दर और तेजसे भरे हुए हैं। उन्हींमें अपने शुभ कर्मोंसे पवित्र हुए ऋषि जाते हैं ॥ १८ ॥

ऋभवो नाम तत्रान्ये देवानामपि देवताः।
तेषां लोकाः परतरे तान्यजन्तीह देवताः ॥ १९ ॥

उस स्थानमें ऋभु नामक देवता रहते हैं, वे देवताओंके भी देवता हैं। उनके लोकसे ऊपर भी लोक हैं। देवता भी उनकी पूजा करते हैं ॥ १९ ॥

स्वयंप्रभास्ते भास्वन्तो लोकाः कामदुघाः परे।
न तेषां स्त्रीकृतस्तापो न लोकैश्वर्यमत्सरः ॥ २० ॥

वे सब लोक अपने ही तेजसे प्रकाशमान रहते हैं। उनमें सब सिद्धि प्राप्त होती है। उनमें रहनेवालोंको स्त्री, धन और किसी वस्तुका दुःख नहीं है ॥ २० ॥

न वर्तयन्त्याहुतिभिस्ते नाप्यमृतभोजनाः।
तथा दिव्यशरीरास्ते न च विग्रहमूर्तयः ॥ २१ ॥

वे लोग कभी आहुतिसे उपजीवन नहीं करते और न अमृतभोजन ही करते हैं। उन लोगोंका शरीर दिव्य है। वे शरीर धारण नहीं करते ॥ २१ ॥

न सुखे सुखकामाश्च देवदेवाः सनातनाः।
न कल्पपरिवर्तेषु परिवर्तन्ति ते तथा ॥ २२ ॥

उन्हें सुखकी कुछ इच्छा नहीं है। वे लोग देवताओंके देवता और सनातन हैं। फलके अन्तमें महा प्रलय होनेसे भी उनका शरीर नष्ट नहीं होता ॥ २२ ॥

जरा मृत्युः कुतस्तेषां हर्षः प्रीतिः सुखं न च।
न दुःखं न सुखं चापि रागद्वेषौ कुतो मुने ॥ २३ ॥

उनमें हर्ष, प्रेम और सुख ही नहीं है, तब उनमें बुढापा और मृत्यु कहांसे होगी ? उनमें न सुखके भाव हैं और न दुःखके भाव हैं, तो फिर, हे मुने ! उनमें राग द्वेष ही कहांसे होंगे ? ॥ २३ ॥

देवानामपि मौद्गल्य काङ्क्षिता सा गतिः परा ।
दुष्प्रापा परमा सिद्धिरगम्या कामगोचरैः ॥ २४ ॥

हे मुद्गल ! देवता भी उस गतिकी इच्छा करते हैं, वह गति परम दुर्लभ है और काम तथा इन्द्रियोंमें तत्पर रहनेवालोंको वह गति प्राप्त नहीं हो सकती ॥ २४ ॥

त्रयस्त्रिंशादिमे लोकाः शेषा लोका मनीषिभिः ।
गम्यन्ते नियमैः श्रेष्ठैर्दानैर्वा विधिपूर्वकैः ॥ २५ ॥

ये तैतीस प्रकारके लोक हैं । जिन लोकोंमें बुद्धिमान् दानी विधिपूर्वक अच्छे कर्म, नियम और दान करके जाते हैं ॥ २५ ॥

सेयं दानकृता व्युष्टिरत्र प्राप्ता सुखावहा ।
तां भुङ्क्ष्व सुकृतैर्लब्धां तपसा द्योतितप्रभः ॥ २६ ॥

वही दानियोंकी उत्तम गति तुमको प्राप्त हुई है । अब तुम अपने तपके तेजसे प्रकाशमान होकर उस सुखका भोग करो ॥ २६ ॥

एतत्स्वर्गसुखं विप्र लोका नानाविधास्तथा ।
गुणाः स्वर्गस्य प्रोक्तास्ते दोषानपि निबोध मे ॥ २७ ॥

हे विप्र ! यही स्वर्गादि उत्तम लोकोंके सुख हैं । हमने स्वर्गके गुण तुमसे कहे । आगे स्वर्गके दोषोंका वर्णन करते हैं ॥ २७ ॥

कृतस्य कर्मणस्तत्र भुज्यते यत्फलं दिवि ।
न चान्यत्क्रियते कर्म मूलच्छेदेन भुज्यते ॥ २८ ॥

हे मुद्गल ! पुरुष स्वर्गमें जाकर कर्मोंका जो कुछ फल भोगता है उसके अलावा और कोई काम वह नहीं कर सकता । इससे कर्मका मूलच्छेद हो जाता है ॥ २८ ॥

सोऽत्र दोषो मम मतस्तस्यान्ते पतनं च यत् ।
सुखव्याप्तमनस्कानां पतनं यच्च मुद्गल ॥ २९ ॥

स्वर्गमें एक बडा भारी दोष मैं यही समझता हूँ कि कर्मके भोग समाप्त हो जानेपर मनुष्यका स्वर्गसे पतन हो जाता है । सदा सुखमें ही व्याप्त मनवालोंका यह पतन, हे मुद्गल ! बहुत दुःखदायी होता है ॥ २९ ॥

असंतोषः परीतापो दृष्ट्वा दीप्ततराः श्रियः ।
यद्भवत्यवरे स्थाने स्थितानां तच्च दुष्करम् ॥ ३० ॥

स्वर्गमें भी निम्न स्थानपर रहनेवालोंका उच्च स्थानपर रहनेवालोंकी लक्ष्मी देखकर असन्तोष होना, डाह होना आदि बातोंका वर्णन बडा कठिन है ॥ ३० ॥

संज्ञामोहश्च पततां रजसा च प्रधर्षणम्।
प्रम्लानेषु च माल्येषु ततः पिपतिषोर्भयम् ॥ ३१ ॥

वहांसे जो गिराया जाता है उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, और वह रजोगुणसे भर जाता है। जिस समय किसीके स्वर्गसे गिरनेके दिन आते हैं, तब उसकी माला सूखने लगती है, उसी दिनसे उसको अपने गिरनेका भय हो जाता है ॥ ३१ ॥

आ ब्रह्मभवनादेते दोषा मौद्गल्य दारुणाः।
नाकलोके सुकृतिनां गुणास्त्वयुतशो नृणाम् ॥ ३२ ॥

हे मुद्गल ! ये दारुण दुःख ब्रह्मादिक देवताओंके लोकोंमें भी होते हैं। स्वर्गलोकमें जानेवाले पुण्यशाली मनुष्योंमें गुण अनेकों है ॥ ३२ ॥

अयं त्वन्यो गुणः श्रेष्ठश्च्युतानां स्वर्गतो मुने।
शुभानुशययोगेन मनुष्येषूपजायते ॥ ३३ ॥

हे मुने ! इनको छोडकर स्वर्गमें एक और भी परम श्रेष्ठ गुण है कि जो वहांसे गिराया जाता है, उसका जन्म उसके शुभ संस्कारोंके कारण मनुष्यके यहां होता है ॥ ३३ ॥

तत्रापि सुमहाभागः सुखभागभिजायते।
न चेत्संबुध्यते तत्र गच्छत्यधमतां ततः ॥ ३४ ॥

मनुष्यमें भी वह महाभागी और सुखी होता है। यदि वहां उसने अच्छा कर्म न किया तो परम नीचताको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते।
कर्मभूमिरियं ब्रह्मन्फलभूमिरसौ मता ॥ ३५ ॥

हे ब्राह्मण ! जो कुछ कर्म इस मर्त्यलोकमें किए जाते हैं, उनका फल स्वर्गलोकमें भोगा जाता है, अतः यह मर्त्यलोक कर्मभूमि है और स्वर्गको फलभूमि कहते हैं ॥ ३५ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां पृच्छसि मुद्गल।
तवानुकम्पया साधो साधु गच्छाम माचिरम् ॥ ३६ ॥

हे साधो मुद्गल ! आपने मुझसे जो पूछा सो सब मैंने कहा। अब आपकी कृपासे हम सब चलें, देर मत कीजिए ॥ ३६ ॥

व्यास उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु मौद्गल्यो वाक्यं विममृशे धिया।
विमृश्य च मुनिश्रेष्ठो देवदूतमुवाच ह ॥ ३७ ॥

व्यास बोले– देवदूतके ऐसे वचन सुनकर मुद्गल मुनि अपनी बुद्धिसे विचार करने लगे, और विचारकर वे मुनियोंमें श्रेष्ठ मुद्गल देवदूतसे बोले ॥ ३७ ॥

देवदूत नमस्तेऽस्तु गच्छ तात यथासुखम् ।
महादोषेण मे कार्यं न स्वर्गेण सुखेन वा　　　　॥ ३८ ॥

हे तात देवदूत ! तुमको प्रणाम है, तुम्हारी जहां इच्छा हो वहां चले जाओ । ऐसे दोषोंसे भरे हुए स्वर्गसे तथा सुखसे मेरा कोई भी प्रयोजन नहीं है ॥ ३८ ॥

पतनं तन्महद्दुःखं परितापः सुदारुणः ।
स्वर्गभाजश्च्यवन्तीह तस्मात्स्वर्गं न कामये　　　　॥ ३९ ॥

जिस स्वर्गसे स्वर्गवासी भ्रष्ट हो जाते हैं, और जहांसे गिरनेके समय महादुःख और घोर पश्चात्ताप हो; ऐसे स्वर्गको मैं जाना नहीं चाहता ॥ ३९ ॥

यत्र गत्वा न शोचन्ति न व्यथन्ति चलन्ति वा ।
तदहं स्थानमत्यन्तं मार्गयिष्यामि केवलम्　　　　॥ ४० ॥

जिस स्थानमें जाकर लोग शोक नहीं करते, व्यथित नहीं होते और भ्रष्ट नहीं होते, उसी शाश्वत सुखके स्थानको मैं जाना चाहता हूँ ॥ ४० ॥

इत्युक्त्वा स मुनिर्वाक्यं देवदूतं विसृज्य तम् ।
शिलोञ्छवृत्तिमुत्सृज्य शममास्थितदुत्तमम्　　　　॥ ४१ ॥

ऐसा कहकर मुद्गलने देवदूतको विदा किया और स्वयं धर्मपूर्वक शिलोञ्छवृत्तिका भी परित्याग करके शमकी साधना करने लगे ॥ ४१ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्भूत्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
ज्ञानयोगेन शुद्धेन ध्याननित्यो बभूव ह　　　　॥ ४२ ॥

स्तुति, निन्दा, ढेला, काठ, पत्थर और सोनेको समान ही समझने लगे । शुद्ध ज्ञानके योगसे उन्होंने ध्यानको प्राप्त किया ॥ ४२ ॥

ध्यानयोगाद्बलं लब्ध्वा प्राप्य चर्द्धिमनुत्तमाम् ।
जगाम शाश्वतीं सिद्धिं परां निर्वाणलक्षणाम्　　　　॥ ४३ ॥

इस प्रकार ज्ञान, ध्यान और योगसे पवित्र होकर कुछ कालमें पवित्र ऋद्धि प्राप्त करके सनातन मोक्षको प्राप्त हुए ॥ ४३ ॥

तस्मात्त्वमपि कौन्तेय न शोकं कर्तुमर्हसि ।
राज्यात्स्फीतात्परिभ्रष्टस्तपसा तदवाप्स्यसि　　　　॥ ४४ ॥

हे कौन्तेय ! अब आप भी शोकका परित्याग कीजिये । आप राज्यसे भ्रष्ट हुए हैं, परन्तु फिर उसी राज्यको तपके बलसे पायेंगे ॥ ४४ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
पर्यायेणोपवर्तन्ते नरं नेमिमरा इव ॥ ४५ ॥

पुरुषको सुखके पश्चात् दुःख और दुःखके पश्चात् सुख हुआ ही करता है ये दोनों मनुष्यके पास इस प्रकार प्राप्त होते हैं कि जिस प्रकार गाडीके पहिएके अरें ऊपर नीचे होते रहते हैं ॥ ४५ ॥

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्स्यस्यमितविक्रम।
वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ४६ ॥

हे महापराक्रमी ! तेरह वर्षके पश्चात् तुम अपने पिता पितामहके राज्यको प्राप्त करोगे। अब तुम अपने मनके दुःखको दूर करो ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान्व्यासः पाण्डवनन्दनम्।
जगाम तपसे धीमान्पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ४७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४७॥
॥ समाप्तं व्रीहिद्रौणिकपर्व ॥ ८५८४ ॥

वैशम्पायन बोले– भगवान् बुद्धिमान् व्यास पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर तप करनेकी इच्छासे फिर अपने आश्रमको चले गये ॥ ४७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ सैंतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ २४७ ॥
॥ व्रीहिद्रौणक पर्व समाप्त ॥ ८५८४ ॥

२४८

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्बहुमृगेऽरण्ये रममाणा महारथाः।
काम्यके भरतश्रेष्ठा विजह्रुस्ते यथामराः ॥ १ ॥
प्रेक्षमाणा बहुविधान्वनोद्देशान्समन्ततः।
यथर्तुकालरम्याश्च वनराजीः सुपुष्पिताः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– इस प्रकार वे महारथी और भरतश्रेष्ठ पाण्डव बहुत सारे पशुओंसे युक्त उस काम्यक वनमें ऋतुओंके अनुसार फूलोंसे भरे हुए रमणीय वृक्षोंकी पंक्तियोंको तथा चारों ओर फैले हुए नाना प्रकारके वन प्रदेशोंको देखते हुए देवोंके समान घूमने लगे ॥ १–२ ॥

पाण्डवा मृगयाशीलाश्चरन्तस्तन्महावनम् ।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः कंचित्कालमरिंदमाः ॥ ३ ॥

मृगयामें रत रहनेवाले वे इन्द्रके समान पराक्रमी तथा शत्रुनाशी पाण्डव उस वनमें आखेट करते हुए कुछ समयतक विहार करते रहे ॥ ३ ॥

ततस्ते यौगपद्येन ययुः सर्वे चतुर्दिशम् ।
मृगयां पुरुषव्याघ्रा ब्राह्मणार्थे परंतपाः ॥ ४ ॥
द्रौपदीमाश्रमे न्यस्य तृणबिन्दोरनुज्ञया ।
महर्षेर्दीप्ततपसो धौम्यस्य च पुरोधसः ॥ ५ ॥

एक दिन वे शत्रुनाशी और पुरुषव्याघ्र पाण्डव ब्राह्मणोंके निमित्त शिकार मारकर लानेके लिये महर्षि तृणबिन्दु तथा अत्यन्त तेजस्वी पुरोहित धौम्यकी आज्ञासे द्रौपदीको आश्रममें अकेली ही छोडकर चारों दिशाओंमें एक साथ निकल गए ॥ ४–५ ॥

ततस्तु राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रिर्महायशाः ।
विवाहकामः शाल्वेयान्प्रयातः सोऽभवत्तदा ॥ ६ ॥

उसी समय महायशस्वी वृद्धक्षत्रका पुत्र सिन्धु देशका राजा जयद्रथ विवाह करनेकी इच्छासे शाल्वदेशको जा रहा था ॥ ६ ॥

महता परिबर्हेण राजयोग्येन संवृतः ।
राजभिर्बहुभिः सार्धमुपायात्काम्यकं च सः ॥ ७ ॥

उसके साथ राजाके योग्य सेना, सेवक और अनेक राजपुत्र भी थे। मार्गमें वह काम्यक वनमें ठहर गया ॥ ७ ॥

तत्रापश्यत्प्रियां भार्यां पाण्डवानां यशस्विनीम् ।
तिष्ठन्तीमाश्रमद्वारि द्रौपदीं निर्जने वने ॥ ८ ॥

उस निर्जन वनमें उन्होंने पाण्डवोंकी प्यारी स्त्री यशस्विनी द्रौपदीको अपने आश्रमके द्वारपर खडी हुई देखा ॥ ८ ॥

विभ्राजमानां वपुषा बिभ्रतीं रूपमुत्तमम् ।
भ्राजयन्तीं वनोद्देशं नीलाभ्रमिव विद्युतम् ॥ ९ ॥

द्रौपदी अपने तेजसे प्रकाशमान् हो रही थी। उसका रूप बहुत ही सुन्दर था । उसके तेजसे वह वन ऐसा प्रकाशमान् हो रहा था, जैसे नीलमेघ बिजलीसे प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

अप्सरा देवकन्या वा माया वा देवनिर्मिता ।
इति कृत्वाञ्जलिं सर्वे ददृशुस्तामनिन्दिताम् ॥ १० ॥

उसकी सेनाके सब लोग हाथ जोडकर द्रौपदीको देखने लगे और कहने लगे– क्या यह कोई अप्सरा है ? या देवकन्या है ? अथवा देवोंकी बनाई हुई कोई माया है ? ॥ १० ॥

ततः स राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रिर्जयद्रथः।
विस्मितस्तामनिन्द्याङ्गीं दृष्ट्वासीद्धृष्टमानसः ॥ ११ ॥

अनिन्दित अंगोंवाली द्रौपदीको देखकर सिन्धुदेशका राजा वृद्धक्षत्रका पुत्र जयद्रथ विस्मित हो गया और उसके चित्तमें ढीठता आ गई ॥ ११ ॥

स कोटिकाश्यं राजानमब्रवीत्काममोहितः।
कस्य त्वेषानवद्याङ्गी यदि वापि न मानुषी ॥ १२ ॥

तदनन्तर जयद्रथने कामसे पीडित होकर राजा कोटिकाश्यसे कहा— यह सुन्दरी किसकी स्त्री है? मुझे जान पडता है, कि यह मानुषी नहीं है ॥ १२ ॥

विवाहार्थो न मे कश्चिदिमां दृष्ट्वातिसुन्दरीम्।
एतामेवाहमादाय गमिष्यामि स्वमालयम् ॥ १३ ॥

यदि यह अति सुन्दरी स्त्री मुझे मिल जाए तो अन्य विवाहसे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। मैं इसीको लेकर अपने घरको चला जाऊंगा ॥ १३ ॥

गच्छ जानीहि सौम्यैनां कस्य का च कुतोऽपि वा।
किमर्थमागता सुभ्रूरिदं कण्टकितं वनम् ॥ १४ ॥

हे सौम्य! तुम इसके पास जाकर पूछो कि वह कौन है? किसकी है और कहांसे आई है? यह उत्तम भौंहोंवाली सुन्दरी इस कांटोंसे भरे हुए वनमें क्यों आई है? ॥ १४ ॥

अपि नाम वरारोहा मामेषा लोकसुन्दरी।
भजेदद्यायतापाङ्गी सुदती तनुमध्यमा ॥ १५ ॥

क्या भला यह सुन्दर मुखवाली, लोकसुन्दरी, विशाल नेत्रप्रान्तोंवाली, उत्तम दांतोंवाली तथा पतली कमरवाली मुझे मिल सकेगी? ॥ १५ ॥

अप्यहं कृतकामः स्यामिमां प्राप्य वरस्त्रियम्।
गच्छ जानीहि को न्वस्या नाथ इत्येव कोटिक ॥ १६ ॥

क्या मैं स्त्रियोंमें श्रेष्ठ इसे प्राप्त करके कृतकृत्य हो सकूंगा? हे कोटिकाश्य! तुम इसके पास जाओ और पता लगाओ कि इसका स्वामी कौन है? ॥ १६ ॥

स कोटिकाश्यस्तच्छ्रुत्वा रथात्प्रस्कन्द्य कुण्डली।
उपेत्य पप्रच्छ तदा क्रोष्टा व्याघ्रवधूमिव ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४८ ॥ ८६०१ ॥

जयद्रथके ऐसे वचन सुनकर कुण्डलधारी कोटिकाश्य अपने रथसे उतरा और द्रौपदीके पास जाकर इस प्रकार पूछने लगा, जैसे कोई सियार व्याघ्रकी स्त्रीसे पूछता है ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ अडतालिसवां अध्याय समाप्त ॥ २४८ ॥ ८६०१ ॥

: २४९ :

कोटिकाश्य उवाच

का त्वं कदम्बस्य विनम्य शाखामेकाश्रमे तिष्ठसि शोभमाना ।
देदीप्यमानाग्निशिखेव नक्तं दोधूयमाना पवनेन सुभ्रूः ॥ १ ॥

कोटिकाश्य बोला– हे सुन्दर भौंहवाली ! तुम कौन हो ? और इस कदम्बकी शाखाको झुकाकर इस आश्रममें अकेली यहां क्यों खडी हो ? तुम इस वनमें ऐसी प्रकाशमान हो रही हो, जैसे रात्रिमें पवनसे कम्पित होकर अग्निकी ज्वाला प्रकाशित होती है ॥ १ ॥

अतीव रूपेण समन्विता त्वं न चाप्यरण्येषु बिभेषि किं नु ।
देवी नु यक्षी यदि दानवी वा वराप्सरा दैत्यवराङ्गना वा ॥ २ ॥

तुम अपने रूपसे अत्यन्त प्रकाशमान् हो । क्या इस वनमें तुम जरा भी नहीं डरतीं ? तुम कोई देवी हो ? कि यक्षी हो ? कि दानवी हो ? अथवा अप्सरा हो ? वा किसी दैत्यकी उत्तम स्त्री हो ? ॥ २ ॥

वपुष्मती वोरगराजकन्या वनेचरी वा क्षणदाचरस्त्री ।
यद्येव राज्ञो वरुणस्य पत्नी यमस्य सोमस्य धनेश्वरस्य ॥ ३ ॥

अथवा साक्षात् सर्पराजकी पुत्री हो ? या इस वनकी देवता हो ? अथवा किसी निशाचरकी स्त्री हो ? या राजा वरुण, यम, कुबेर, चन्द्रमा स्त्री हो ॥ ३ ॥

धातुर्विधातुः सवितुर्विभोर्वा शक्रस्य वा त्वं सदनात्प्रपन्ना ।
न ह्येव नः पृच्छसि ये वयं स्म न चापि जानीम तवेह नाथम् ॥ ४ ॥

अथवा तुम धाता, विधाता, सूर्य, इन्द्रके भवनसे आई हो ? न तुम हमसे ही यह पूछती हो कि हम कौन हैं और न हम ही यह जानते हैं कि तुम्हारा स्वामी कौन है ? ॥ ४ ॥

वयं हि मानं तव वर्धयन्तः पृच्छाम भद्रे प्रभवं प्रभुं च ।
आचक्ष्व बन्धूंश्च पतिं कुलं च तत्त्वेन यच्चेह करोषि कार्यम् ॥ ५ ॥

हे भद्रे ! हम तुम्हारे मानको बढाते हुए तुम्हारे नाथको और तुम्हारी जन्मकथाको जानना चाहते हैं। तुम हमें अपने पति, बन्धु और कुलको बताओ और यह भी बताओ कि तुम इस वनमें क्या करती हो ? ॥ ५ ॥

अहं तु राज्ञः सुरथस्य पुत्रो यं कोटिकाश्येति विदुर्मनुष्याः ।
असौ तु यस्तिष्ठति काञ्चनाङ्गे रथे हुतोऽग्निश्चयने यथैव ।
त्रिगर्तराजः कमलायताक्षि क्षेमङ्करो नाम स एष वीरः ॥ ६ ॥

मैं राजा सुरथका पुत्र हूं, जिसे लोग कोटिकाश्यके नामसे जानते हैं। हे कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली ! ये जो सोनेके रथमें आहुतिसे प्रदीप्त अग्निके समान तेजस्वी पुरुष बैठा हुआ है, इस वीरका नाम क्षेमङ्कर है, और यह त्रिगर्त देशका राजा है ॥ ६ ॥

अस्मात्परस्त्वेष महाधनुष्मान्पुत्रः कुणिन्दाधिपतेर्वरिष्ठः ।
निरीक्षते त्वां विपुलायतांसः सुविस्मितः पर्वतवासनित्यः ॥ ७ ॥

उसके आगे जो महाधनुषधारी राजपुत्र बैठा हुआ है, जिसके कंधे बहुत बडे हैं, जो विस्मित होकर तुम्हारी ओर देख रहा है, वह कुणिन्द देशके राजाका पुत्र है; यह सदा ही पर्वतपर निवास करता है ॥ ७ ॥

असौ तु यः पुष्करिणीसमीपे श्यामो युवा तिष्ठति दर्शनीयः ।
इक्ष्वाकुराज्ञः सुबलस्य पुत्रः स एष हन्ता द्विषतां सुगात्रि ॥ ८ ॥

यह जो तालावके समीप श्याम-सुन्दर युवा पुरुष खडा हुआ है, वह अयोध्याके राजा सुबलका पुत्र है। हे सुन्दरी ! यह सब शत्रुओंका नाश करता है ॥ ८ ॥

यस्यानुयात्रं ध्वजिनः प्रयान्ति सौवीरका द्वादश राजपुत्राः ।
शोणाश्वयुक्तेषु रथेषु सर्वे मखेषु दीप्ता इव हव्यवाहाः ॥ ९ ॥

हे सुभगे ! जिसके रथके पीछे ध्वजाओंको हाथमें लिए बारह सौवीर देशके राजपुत्र चलते हैं जो लाल घोडोंके रथोंपर यज्ञोंमें जलती हुई अग्निके समान तेजस्वी होकर बैठे हैं ॥ ९ ॥

अङ्गारकः कुञ्जरगुप्तकश्च शत्रुञ्जयः सञ्जयसुप्रवृद्धौ ।
प्रभङ्करोऽथ भ्रमरो रविश्च शूरः प्रतापः कुहरश्च नाम ॥ १० ॥

उनके नाम ये हैं, अङ्गारक, कुञ्जर, गुप्तक, शत्रुञ्जय, सञ्जय, सुप्रवृद्ध, प्रभङ्कर, भ्रमर, रवि, शूर, प्रताप और कुहर ॥ १० ॥

यं षट्सहस्रा रथिनोऽनुयान्ति नागा हयाश्चैव पदातिनश्च ।
जयद्रथो नाम यदि श्रुतस्ते सौवीरराजः सुभगे स एषः ॥ ११ ॥

जिसके पीछे छः सहस्र रथी, अनेक हाथी, घोडे और पैदल सेना जाती है, हे सुभगे ! यह वही सौवीर देशका राजा जयद्रथ है। संभवतः तुमने भी इसका नाम सुना हो ॥ ११ ॥

तस्यापरे भ्रातरोऽदीनसत्त्वा बलाहकानीकविदारणाद्याः ।
सौवीरवीराः प्रवरा युवानो राजानमेते बलिनोऽनुयान्ति ॥ १२ ॥
उसके दूसरे अत्यन्त बलवान् बलाहक, अनीक विदारण आदि भाई उसके साथ हैं। ये सब श्रेष्ठ युवा बलशाली सौवीर देशके वीर उस राजा जयद्रथके पीछे चलते हैं ॥ १२ ॥

एतैः सहायैरुपयाति राजा मरुद्गणैरिन्द्र इवाभिगुप्तः ।
अजानतां ख्यापय नः सुकेशि कस्यासि भार्या दुहिता च कस्य ॥ १३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४९ ॥ ८६१४ ॥

जिसप्रकार इन्द्र मरुतोंसे रक्षित होकर सर्वत्र घूमता है, उसी तरह इनसे रक्षित होकर राजा जयद्रथ सर्वत्र विचरता है। हे सुकेशी! हम तुमको नहीं जानते हैं, इसलिए बताओ कि तुम किसकी पत्नी और किसकी पुत्री हो? ॥ १३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ उनंचासवां अध्याय समाप्त ॥ २४९ ॥ ८६१४ ॥

२५०

वैशम्पायन उवाच

अथाऽब्रवीद् द्रौपदी, राजपुत्री पृष्टा शिबीनां प्रवरेण तेन ।
अवेक्ष्य मन्दं प्रविमुच्य शाखां संगृह्णती कौशिकमुत्तरीयम् ॥ १ ॥
वैशम्पायन बोले– शिविवंशमें श्रेष्ठ कोटिकाश्यके इसप्रकार पूछनेपर राजपुत्री द्रौपदीने कदम्बकी शाखा छोड दी और वह अपने वस्त्रको संभालकर तथा उस मूर्खकी ओर देखकर बोली ॥ १ ॥

बुद्ध्याभिजानामि नरेन्द्रपुत्र न मादृशी त्वामभिभाष्टुमर्हा ।
न त्वेह वक्तास्ति तवेह वाक्यमन्यो नरो वाप्यथ वापि नारी ॥ २ ॥
हे नरेन्द्रपुत्र! मैं अच्छीतरह जानती हूं, मेरे समान कोई पतिव्रता स्त्री तुमसे बात नहीं कर सकती है, परन्तु इस समय यहां कोई पुरुष या स्त्री ऐसा नहीं है, जो तुम्हारे इन प्रश्नोंका उत्तर दे सके ॥ २ ॥

एका ह्यहं संप्रति तेन वाचं ददानि वै भद्र निबोध चेदम् ।
अहं ह्यरण्ये कथमेकमेका त्वामालपेयं निरता स्वधर्मे ॥ ३ ॥
हे भद्र! इस वनमें तुम भी अकेले हो और मैं भी अकेली हूँ, ऐसी अवस्थामें अपने पातिव्रत्यधर्ममें तत्पर रहनेवाली मैं तुमसे वार्तालाप कैसे कर सकती हूँ? तथापि चूंकि इस स्थान पर मैं अकेली ही हूं, इसलिए विवश होकर तुम्हारी बातोंका उत्तर मुझे देना पडेगा। तुम सुनो ॥ ३ ॥

जानामि च त्वां सुरथस्य पुत्रं यं कोटिकाश्येति विदुर्मनुष्याः।
तस्मादहं शैब्य तथैव तुभ्यमाख्यामि बन्धून्प्रति तन्निबोध ॥ ४ ॥
परन्तु मैं तुमको जानती हूं, तुम राजा सुरथके पुत्र हो जिसे लोग कोटिकाश्यके नामसे जानते हैं। हे शैब्य! इसलिये तुमसे अपने बन्धुओंका परिचय देती हूं, उसे तुम सुनो ॥ ४ ॥

अपत्यमस्मि द्रुपदस्य राज्ञः कृष्णेति मां शैब्य विदुर्मनुष्याः।
साहं वृणे पञ्च जनान्पतित्वे ये खाण्डवप्रस्थगताः श्रुतास्ते ॥ ५ ॥
हे शैब्य! मैं राजा द्रुपदकी पुत्री हूं। मुझे लोग द्रौपदीके नामसे जानते हैं। खाण्डवप्रस्थके कारण जो प्रसिद्ध हो गए हैं, उन्हीं पांचोंको मैंने अपना पति चुना है ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ।
ते मां निवेश्येह दिशश्चतस्रो विभज्य पार्था मृगयां प्रयाताः ॥ ६ ॥
वे राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और माद्रीके पुत्र पुरुषश्रेष्ठ नकुल और वीर सहदेव मुझको यहां विठलाकर चारों दिशाओंको बांटकर आखेट करने गये हैं ॥ ६ ॥

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो जयः प्रतीचीं यमजावुदीचीम्।
मन्ये तु तेषां रथसत्तमानां कालोऽभितः प्राप्त इहोपयातुम् ॥ ७ ॥
पूर्वकी ओर महाराज, दक्षिणको भीमसेन, पश्चिमको अर्जुन और उत्तरको नकुल तथा सहदेव गये हैं। मैं समझती हूं कि उन पांचों महारथियोंके यहां आनेका समय भी समीप ही है ॥७॥

संमानिता यास्यथ तैर्यथेष्टं विमुच्य वाहानवगाहयध्वम्।
प्रियातिथिर्धर्मसुतो महात्मा प्रीतो भविष्यत्यभिवीक्ष्य युष्मान् ॥ ८ ॥
तुम सब उनके द्वारा सम्मानित होकर आगे जाना, इसलिये तुम लोग अपने रथोंसे उतरकर यहीं ठहरो। महाराज धर्मराज अतिथियोंका बहुत सत्कार करते हैं; वे तुमको देखकर बहुत प्रसन्न होंगे ॥ ८ ॥

एतावदुक्त्वा द्रुपदात्मजा सा शैब्यात्मजं चन्द्रमुखी प्रतीता।
विवेश तां पर्णकुटीं प्रशस्तां संचिन्त्य तेषामतिथिस्वधर्मम् ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५० ॥ ८६२३ ॥

चन्द्रमुखी वह द्रौपदी शिविके पुत्र कोटिकाश्यसे ऐसा कहकर और अतिथिसत्काररूप धर्मका विचार करते हुए अपनी सुन्दर पर्णकुटीमें चली गई ॥ ९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ पचासवां अध्याय समाप्त ॥ २५० ॥ ८६२३ ॥

: २५१ :

वैशम्पायन उवाच

अथासीनेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।
कोटिकाश्यवचः श्रुत्वा शैब्यं सौवीरकोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! बैठे हुए क्षत्रियोंके बीचमें कोटिकाश्यकी बात सुनकर जयद्रथने कोटिकाश्यसे कहा ॥ १ ॥

यदा वाचं व्याहरन्त्यामस्यां मे रमते मनः ।
सीमन्तिनीनां मुख्यायां विनिवृत्तः कथं भवान् ॥ २ ॥

जिस समय स्त्रियोंमें श्रेष्ठ वह तुमसे बात कर रही थी, तब मेरा मन उसीमें लगा हुआ था । तुम उसे साथ लिए बिना लौट कैसे आये ? ॥ २ ॥

एतां दृष्ट्वा स्त्रियो मेऽन्या यथा शाखामृगस्त्रियः ।
प्रतिभान्ति महाबाहो सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ३ ॥

हे महाबाहो ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, कि इसको देखकर और सब स्त्रियां मुझे बंदरीसी दिखाई देती हैं ॥ ३ ॥

दर्शनादेव हि मनस्तया मेऽपहृतं भृशम् ।
तां समाचक्ष्व कल्याणीं यदि स्याच्छैब्य मानुषी ॥ ४ ॥

इसने पहली ही नजरमें मेरे मनको अपने वशमें कर लिया है । तुम मुझे बताओ कि क्या वह कल्याणी मानुषी है ? ॥ ४ ॥

कोटिकाश्य उवाच

एषा वै द्रौपदी कृष्णा राजपुत्री यशस्विनी ।
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां महिषी संमता भृशम् ॥ ५ ॥

कोटिकाश्य बोला– हे राजन् ! यह यशस्विनी राजपुत्री द्रुपद्की पुत्री कृष्णा है । यह पांचों पाण्डवोंकी प्यारी रानी है ॥ ५ ॥

सर्वेषां चैव पार्थानां प्रिया बहुमता सती ।
तया समेत्य सौवीर सुवीरान्सुसुखी व्रज ॥ ६ ॥

यह पतिव्रता पांचों पाण्डवोंको बहुत प्रिय है । हे सुवीर देशके स्वामिन् ! उसे तुम साथमें लेकर सुखपूर्वक सुवीर देश चले जाओ ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच पश्यामो द्रौपदीमिति ।
पतिः सौवीरसिन्धूनां दुष्टभावो जयद्रथः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन बोले– कोटिकाश्यके ऐसे वचन सुनकर दुष्ट भावोंवाला, सुवीर तथा सिन्धुदेशका राजा जयद्रथ बोला, कि हम द्रौपदीको देखेंगे ॥ ७ ॥

स प्रविश्याश्रमं शून्यं सिंहगोष्ठं वृको यथा ।
आत्मना सप्तमः कृष्णामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

ऐसा कहकर वह दुष्ट जयद्रथ उस जनशून्य कुटीमें इस प्रकार गया, जैसे सिंहके घरमें भेडिया जाता है । छः पुरुष जयद्रथके साथ गये। जयद्रथ वहां जाकर द्रौपदीसे बोला ॥८॥

कुशलं ते वरारोहे भर्तारस्तेऽप्यनामयाः ।
येषां कुशलकामासि तेऽपि कच्चिदनामयाः ॥ ९ ॥

हे सुन्दर मुखवाली ! तुम कुशलसे तो हो न? तुम्हारे पांचों पति तो अच्छे हैं न? जिनका तुम कुशल चाहती हो वे भी अच्छे हैं न ? ॥ ९ ॥

द्रौपद्युवाच

कौरव्यः कुशली राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अहं च भ्रातरश्चास्य यांश्चान्यान्परिपृच्छसि ॥ १० ॥

द्रौपदी बोली– तुम जिनके बारेमें पूछ रहे हो, वे श्रीमान् महाराज कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अपने भाइयोंके सहित कुशलसे हैं और मैं भी कुशलसे हूं ॥ १० ॥

पाद्यं प्रतिगृहाणेदमासनं च नृपात्मज ।
मृगान्पञ्चाशतं चैव प्रातराशं ददानि ते ॥ ११ ॥

हे राजपुत्र ! यह पैर धोनेके लिए जल है, इसे लो । यह आसन है, इसपर बैठो । मैं तुम्हारे कलेवा करनेके लिये पचास हरिण देती हूँ ॥ ११ ॥

ऐणेयान्पृषतान्न्यङ्कून्हरिणाञ्शरभाञ्शशान् ।
ऋश्यान्रुरूञ्शम्बरांश्च गवयांश्च मृगान्बहून् ॥ १२ ॥
वराहान्महिषांश्चैव याश्चान्या मृगजातयः ।
प्रदास्यति स्वयं तुभ्यं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥

ऐणेय, पृषत, न्यंकु, (ये सब हरिनोंकी जातियां हैं) शरभ, खरहे, रीछ, रुरु, शम्बर, नील गाय और बहुतसे हिरण सुअर और भैंसे तथा अन्य भी जो पशुओंकी जातियां हैं, उन्हें स्वयं महाराज युधिष्ठिर आकर तुमको देंगे ॥१२-१३॥

जयद्रथ उवाच

कुशलं प्रातराशस्य सर्वा मेऽपचितिः कृता ।
एहि मे रथमारोह सुखमाप्नुहि केवलम् ॥ १४ ॥

जयद्रथ बोला– हे सुन्दरी ! हमारे यहां सब कुशल है। तुमने जो कुछ कहा, वह सब हमको प्राप्त हो गया। आओ, तुम रथपर चढो और सुखसे समय विताओ ॥ १४ ॥

गतश्रीकांश्च्युतान्राज्यात्कृपणान्गतचेतसः ।
अरण्यवासिनः पार्थान्नानुरोद्धुं त्वमर्हसि ॥ १५ ॥

ये पाण्डव लक्ष्मीरहित हो गए हैं। राज्यसे भ्रष्ट हो गए हैं। दीन बनकर बुद्धिसे रहित हो गए हैं। अब अरण्यमें वास कर रहे हैं, ऐसे पाण्डवोंका अनुसरण करना तुम्हारे लिए योग्य नहीं है ॥ १५ ॥

न वै प्राज्ञा गतश्रीकं भर्तारमुपयुञ्जते ।
युञ्जानमनुयुञ्जीत न श्रियः संक्षये वसेत् ॥ १६ ॥

उत्तम बुद्धिमती स्त्री श्री या लक्ष्मीसे रहित पतिकी सेवा नहीं करती। जो सेवाके योग्य हो, उसीकी सेवा करे। लक्ष्मीके नष्ट हो जानेपर उसके आश्रयसे न रहे ॥ १६ ॥

श्रिया विहीना राज्याच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः ।
अलं ते पाण्डुपुत्राणां भक्त्या क्लेशमुपासितुम् ॥ १७ ॥

पाण्डव बहुत दिनके लिये लक्ष्मीसे रहित और राज्यसे भ्रष्ट हो गये हैं। उनकी सेवा करनेसे तुम्हें कुछ लाभ नहीं है; केवल क्लेश ही भोगना पडेगा ॥ १७ ॥

भार्या मे भव सुश्रोणि त्यजैनान्सुखमाप्नुहि ।
अखिलान्सिन्धुसौवीरानवाप्नुहि मया सह ॥ १८ ॥

हे सुन्दरी ! तुम पाण्डवोंको छोड दो और मेरी स्त्री हो जाओ; तब अनेक सुखोंको प्राप्त करोगी। तुम मेरे साथ समस्त सिन्धु और सौवीर देशका राज्य प्राप्त करो ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा सिन्धुराजेन वाक्यं हृदयकम्पनम् ।
कृष्णा तस्मादपाक्रामद्देशात्सभ्रुकुटीमुखी ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोला– जयद्रथके ऐसे हृदयको कंपानेवाले वचन सुनकर सुन्दर मुख और भ्रुकुटिवाली द्रौपदी उस जगहसे हट गई ॥ १९ ॥

अवमत्यास्य तद्वाक्यमाक्षिप्य च सुमध्यमा ।
मैवमित्यब्रवीत्कृष्णा लज्जस्वेति च सैन्धवम् ॥ २० ॥

उसके उस वचनका तिरस्कार करके वह सुन्दरी कृष्णा सिन्धुराज जयद्रथसे बोली– कि ऐसा मत कहो, कहते हुए कुछ तो लज्जा करो ॥ २० ॥

सा काङ्क्षमाणा भर्तॄणामुपयानमनिन्दिता ।
विलोभयामास परं वाक्यैर्वाक्यानि युञ्जती ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५१ ॥ ८६४४ ॥

अपने पतियोंका मार्ग देखती हुई वह सुन्दरी द्रौपदी अपनी मीठी मीठी बातोंमें लगाकर जयद्रथको लुभाने लगी ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ इक्यावनवां अध्याय समाप्त ॥ २५१ ॥ ८६४४ ॥

: २५२ :

वैशम्पायन उवाच

सरोषरागोपहतेन वल्गुना सरागनेत्रेण नतोन्नतभ्रुवा ।
मुखेन विस्फूर्य सुवीरराष्ट्रपं ततोऽब्रवीत्तं द्रुपदात्मजा पुनः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– उस समय द्रौपदी क्रोधसे आरक्त, तथा लालनेत्र और टेढी भौंहसे युक्त अपने सुन्दर मुखसे फूत्कार छोडकर सौवीराधिपति जयद्रथसे पुनः कहने लगी ॥ १ ॥

यशस्विनस्तीक्ष्णविषान्महारथानधिक्षिपन्मूढ न लज्जसे कथम् ।
महेन्द्रकल्पान्निरतान्स्वकर्मसु स्थितान्समूहेष्वपि यक्षरक्षसाम् ॥ २ ॥

रे मूर्ख ! तू यशस्वी, तीक्ष्ण विषवाले, महारथी इन्द्रके समान पराक्रमी, अपने कर्मोंमें तत्पर, यक्ष और सर्पोंको जीतनेवाले धार्मिक पाण्डवोंपर आक्षेप करता हुआ लज्जित क्यों नहीं होता ॥ २ ॥

न किंचिदीड्यं प्रवदन्ति पापं वनेचरं वा गृहमेधिनं वा ।
तपस्विनं संपरिपूर्णविद्यं भषन्ति हैवं श्वनराः सुवीर ॥ ३ ॥

सज्जन मनुष्य पूजनीय, तपस्वी और पूर्ण विद्वान्के प्रति, चाहे वह घरमें रहे या वनमें, अनुचित बातें नहीं कहते हैं । हे सुवीर ! जो मनुष्योंमें कुत्तेके समान होते हैं, वे ही तेरी तरह भोंका करते हैं ॥ ३ ॥

अहं तु मन्ये तव नास्ति कश्चिदेतादृशे क्षत्रियसंनिवेशे ।
यस्त्वाद्य पातालमुखे पतन्तं पाणौ गृहीत्वा प्रतिसंहरेत ॥ ४ ॥

मैं तो यही समझती हूं कि तेरे साथ आए हुए इन क्षत्रियोंके समूहमें कोई भी ऐसा वीर नहीं है, जो पातालमें गिरते हुए तुझको अपने हाथसे पकडकर निकाले ॥ ४ ॥

नागं प्रभिन्नं गिरिकूटकल्पमुपत्यकां हैमवतीं चरन्तम् ।
दण्डीव यूथादपसेधसे त्वं यो जेतुमाशंससि धर्मराजम् ॥ ५ ॥

तू बडा मूर्ख है जो धर्मराजको जीतनेको कहता है। यह बात वैसे ही है जैसे कोई मूर्ख एक लाठी हाथमें लेकर कहे कि मैं हिमाचलके नीचे घूमते हुए, पर्वतके समान शरीरवाले मतवाले हाथीको उसके यूथके बीचमेंसे पकड लूंगा ॥ ५ ॥

बाल्यात्प्रसुप्तस्य महाबलस्य सिंहस्य पक्ष्माणि मुखाल्लुनासि ।
पदा समाहत्य पलायमानः क्रुद्धं यदा द्रक्ष्यसि भीमसेनम् ॥ ६ ॥

तू अपनी मूर्खतासे सोते हुए शेरको लात मारकर उसके मुखके बाल नोच रहा है। जब तू क्रुद्ध हुए भीमसेनको देखेगा, तो भाग खडा होगा ॥ ६ ॥

महाबलं घोरतरं प्रवृद्धं जातं हरिं पर्वतकन्दरेषु ।
प्रसुप्तमुग्रं प्रपदेन हंसि यः क्रुद्धमासेत्स्यसि जिष्णुमुग्रम् ॥ ७ ॥

जो तू क्रुद्ध हुए वीर अर्जुनसे लोहा लेना चाहता है, तो तू यह समझ ले कि तू महाबलवान्, भयंकर रूपसे बढे हुए, पर्वतकी गुफामें सोते हुए भयंकर सिंहको लातसे मार डालना चाहता है ॥ ७ ॥

कृष्णोरगौ तीक्ष्णविषौ द्विजिह्वौ मत्तः पदाक्रामसि पुच्छदेशे ।
यः पाण्डवाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्यां जघन्यजाभ्यां प्रयुयुत्ससे त्वम् ॥ ८ ॥

जो तू सबसे छोटे पुरुषोत्तम पाण्डुपुत्र नकुल तथा सहदेवसे युद्ध करनेकी इच्छा करता है, तो तू यही समझ ले तू उन्मत्त होकर भयंकर विषवाले, दो जीभवाले काले सांपोंके पूंछपर लात मारना चाहता है ॥ ८ ॥

यथा च वेणुः कदली नलो वा फलन्त्यभावाय न भूतयेऽऽत्मनः ।
तथैव मां तैः परिरक्ष्यमाणामादास्यसे कर्कटकीव गर्भम् ॥ ९ ॥

जिस प्रकार बांस केला और नलके वृक्ष अपने नाशके लिए ही फलते हैं, अपनी वृद्धिके लिए नहीं अथवा जैसे केकडीका गर्भधारण प्राणनाशक हैं, वैसे ही उन पाण्डवोंके द्वारा रक्षित होनेवाली मुझको दुर्वाक्य कहकर तू भी नष्ट हो जायेगा ॥ ९ ॥

जयद्रथ उवाच

जानामि कृष्णे विदितं ममैतद्यथाविधास्ते नरदेवपुत्राः।
न त्वेवमेतेन विभीषणेन शक्या वयं त्रासयितुं त्वयाद्य ॥ १० ॥

जयद्रथ बोला– हे द्रौपदी ! वे राजपुत्र पाण्डव जैसे हैं उनको मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ। अपनी इन डरावनी बातोंसे आज तुम हमें डरा नहीं सकतीं ॥ १० ॥

वयं पुनः सप्तदशेषु कृष्णे कुलेषु सर्वेऽनवमेषु जाताः।
षड्भ्यो गुणेभ्योऽभ्यधिका विहीनान्मन्यामहे द्रौपदि पाण्डुपुत्रान् ॥ ११ ॥

हे द्रौपदी ! हम उस सनातन वंशमें उत्पन्न हुए हैं जिसमें राजाओंके सत्रह कर्म, छः गुण विराजमान हैं। हे द्रौपदी ! हम पाण्डवोंको इन सबसे रहित ही समझते हैं ॥ ११ ॥

सा क्षिप्रमातिष्ठ गजं रथं वा न वाक्यमात्रेण वयं हि शक्याः।
आशंस वा त्वं कृपणं वदन्ती सौवीरराजस्य पुनः प्रसादम् ॥ १२ ॥

अतः तुम शीघ्र ही हाथी अथवा रथपर चढ लो, क्योंकि केवल वचन मात्रसे हम तुमको नहीं छोडेंगे, या दीन होकर सौवीर देशके राजाको प्रसन्न करो ॥ १२ ॥

द्रौपद्युवाच

महाबला किं त्विह दुर्बलेव सौवीरराजस्य मताहमस्मि।
याहं प्रमाथादिह संप्रतीता सौवीरराजं कृपणं वदेयम् ॥ १३ ॥

द्रौपदी बोली– मैं बहुत बलवती हूं, परन्तु इस समय तुझसे दुर्बलके समान बात कर रही हूं। मैं अपने पकडे जानेपर भी तुझसे दीन वचन नहीं कहूंगी ॥ १३ ॥

यस्या हि कृष्णौ पदवीं चरेतां समास्थितावेकरथे सहायौ।
इन्द्रोऽपि तां नापहरेत्कथंचिन्मनुष्यमात्रः कृपणः कुतोऽन्यः ॥ १४ ॥

क्योंकि जिसके ढूंढनेके लिए साक्षात् कृष्ण और अर्जुन एक रथपर बैठकर चलेंगे, उसे साक्षात् इन्द्र भी नहीं छीन सकता है, तब फिर क्षुद्र मनुष्योंकी कथा ही क्या है ? ॥ १४ ॥

यदा किरीटी परवीरघाती निघ्नन्रथस्थो द्विषतां मनांसि।
मदन्तरे त्वद्ध्वजिनीं प्रवेष्टा कक्षं दहन्नग्निरिवोष्णगेषु ॥ १५ ॥

जिस समय साक्षात् अर्जुन रथपर बैठकर अपने शत्रुओंके मनको निराश करते हुए तेरी सेनामें घुसेंगे, उस समय तेरी सेना ऐसे नष्ट हो जायेगी जैसे उष्णकालमें अग्नि लगनेसे सूखी घास ॥ १५ ॥

जनार्दनस्यानुगा वृष्णिवीरा महेष्वासाः केकयाश्चापि सर्वे।
एते हि सर्वे मम राजपुत्राः प्रहृष्टरूपाः पदवीं चरेयुः ॥ १६ ॥
जिस समय अन्धक और वृष्णिवंशियोंके समेत साक्षात् श्रीकृष्ण तुझसे युद्ध करनेको आवेंगे, और महाधनुर्धारी केकय देशके सब राजपुत्र प्रसन्न होकर युद्ध करनेको उपस्थित होंगे, तब तू कुछ भी नहीं कर सकेगा ॥ १६ ॥

मौर्वीविसृष्टाः स्तनयित्नुघोषा गाण्डीवमुक्तास्त्वतिवेगवन्तः।
हस्तं समाहत्य धनञ्जयस्य भीमाः शब्दं घोरतरं नदन्ति ॥ १७ ॥
जिस समय गाण्डीव धनुषके रोदेसे छूटकर घोर वेगवाले अर्जुनके बाण तेरी सेनामें आकर घोर शब्द करेंगे, तब तू क्या करेगा ? ॥ १७ ॥

गाण्डीवमुक्तांश्च महाशरौघान्पतङ्गसङ्घानिव शीघ्रवेगान्।
सशङ्खघोषः सतलत्रघोषो गाण्डीवधन्वा मुहुरुद्वमंश्च।
यदा शरानर्पयिता तवोरसि तदा मनस्ते किमिवाभविष्यत् ॥ १८ ॥
जिस समय महावेगवाले अग्निमें पडे पतंगोंके समान अर्जुनके बाणोंको और वीर अर्जुनको देखेगा, जिस समय शंख, पंजे और गाण्डीव धनुषका शब्द करके अर्जुनके बाण तेरे हृदयके रुधिरको पीवेंगे, उस समय न जाने तेरा मन कैसा होगा ? ॥ १८ ॥

गदाहस्तं भीममभिद्रवन्तं माद्रीपुत्रौ संपतन्तौ दिशश्च।
अमर्षजं क्रोधविषं वमन्तौ दृष्ट्वा चिरं तापमुपैष्यसेऽधम ॥ १९ ॥
रे अधम ! जिस समय गदा हाथमें लेकर भीमसेन युद्धमें आवेंगे; और जब नकुल तथा सहदेव क्रोधके विषको छोडते हुए सब ओरसे तेरे ऊपर बाणोंकी वर्षा करेंगे, उस समय तू बहुत दिनतक दुःख भोगेगा ॥ १९ ॥

यथा चाहं नातिचरे कथंचित्पतीन्महार्हान्मनसापि जातु।
तेनाद्य सत्येन वशीकृतं त्वां द्रष्टास्मि पार्थैः परिकृष्यमाणम् ॥ २० ॥
जिस प्रकारसे मैं अपने महात्मा पतियोंका मनसे भी निरादर नहीं करती हूं उसी सत्यसे मैं तुमको पाण्डवोंके वशमें पडा हुआ और भीमसेनके हाथसे बाल पकडकर खिंचता हुआ देखूंगी ॥ २० ॥

न संभ्रमं गन्तुमहं हि शक्ष्ये त्वया नृशंसेन विकृष्यमाणा।
समागताहं हि कुरुप्रवीरैः पुनर्वनं काम्यकमागता च ॥ २१ ॥
मैं घबडाकर तुझ दुष्टके हाथसे खिंचकर चलना अच्छा नहीं समझती। मुझे निश्चय है कि अब महात्मा पाण्डव लौटकर आवेंगे तब मैं काम्यक वनमें फिर आ जाऊंगी ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

साताननुप्रेक्ष्य विशालनेत्रा जिघृक्षमाणानवभर्त्सयन्ती ।
प्रोवाच मा मा स्पृशतेति भीता धौम्यं प्रचुक्रोश पुरोहितं सा ॥ २२ ॥

वैशम्पायन बोले– विशालनैनी द्रौपदी इस प्रकारसे उन सबको डराती हुई भयसे कांपने लगी और जयद्रथसे कहने लगी कि तू मुझे मत छू और डरसे धौम्य पुरोहितको पुकारने लगी ॥ २२ ॥

जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे जयद्रथस्तं समवाक्षिपत्सा ।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः पपात शाखीव निकृत्तमूलः ॥ २३ ॥

उसी समय जयद्रथने द्रौपदीका दुपट्टा पकडा और द्रौपदीने उसे एक झटका दिया । वह पापी झटका लगनेसे पृथ्वीपर ऐसे गिर पडा, जैसे जड कटनेसे वृक्ष गिर पडता है ॥२३॥

प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री ।
सा कृष्यमाणा रथमारुरोह धौम्यस्य पादावभिवाद्य कृष्णा ॥ २४ ॥

परन्तु फिर उठकर उसने वेगसे द्रौपदीको पकड लिया । तब द्रौपदी लम्बी सांसे लेने लगी और पुरोहित धौम्यको प्रणाम करने लगी । तब जयद्रथने खींचकर द्रौपदीको अपने रथपर बिठला लिया ॥ २४ ॥

धौम्य उवाच

नेयं शक्या त्वया नेतुमविजित्य महारथान् ।
धर्मं क्षत्रस्य पौराणमवेक्षस्व जयद्रथ ॥ २५ ॥

धौम्य बोले– हे जयद्रथ ! पाण्डवोंको बिना जीते तुम द्रौपदीको नहीं ले जा सकते हो, क्योंकि क्षत्रियोंका सनातन धर्म यही है, इस धर्मपर तुम दृष्टि डालो ॥ २५ ॥

क्षुद्रं कृत्वा फलं पापं प्राप्स्यसि त्वमसंशयम् ।
आसाद्य पाण्डवान्वीरान्धर्मराजपुरोगमान् ॥ २६ ॥

तुम इस क्षुद्र और पाप कर्मको करके तथा धर्मराज आदि पाण्डव वीरोंका मुकाबला करके उसका फल पाओगे, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा ह्रियमाणां तां राजपुत्रीं यशस्विनीम् ।
अन्वगच्छत्तदा धौम्यः पदातिगणमध्यगः ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५२ ॥ ८६७१ ॥

वैशम्पायन बोले– ऐसा कहकर महात्मा धौम्य राजपुत्री यशस्विनी द्रौपदीके रथके पीछे पैदलोंके साथ दौडने लगे ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ बावनवां अध्याय समाप्त ॥ २५२ ॥ ८६७१ ॥

: २५२ :

वैशम्पायन उवाच

ततो दिशः संप्रविहृत्य पार्था मृगान्वराहान्महिषांश्च हत्वा ।
धनुर्धराः श्रेष्ठतमाः पृथिव्यां पृथक्चरन्तः सहिता बभूवुः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले— उसी समय जगत् प्रसिद्ध धनुपधारियोंमें श्रेष्ठ पाण्डव भी चारों ओरसे हरिण और भैंसोंको मारकर एक स्थानपर इकट्ठे हुए ॥ १ ॥

ततो मृगव्यालगणानुकीर्णं महावनं तद्विहगोपघुष्टम् ।
भ्रातॄंश्च तानभ्यवदद्युधिष्ठिरः श्रुत्वा गिरो व्याहरतां मृगाणाम् ॥ २ ॥

उस समय वनमें हरिण और पक्षी शब्द करते फिरते थे। इन सबके शब्दोंको सुनकर महाराज युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा ॥ २ ॥

आदित्यदीप्तां दिशमभ्युपेत्य मृगा द्विजाः क्रूरमिमे वदन्ति ।
आयासमुग्रं प्रतिवेदयन्तो महाहवं शत्रुभिर्वाध्यमानम् ॥ ३ ॥

देखो यह हरिण और पक्षी सूर्यकी ओर मुख करके घोर शब्द कर रहे हैं; हमको जान पडता है कि कुछ घोर उपद्रव होगा; हमको निश्चय है कि किसी शत्रुने हमारे आश्रमको घेर लिया है ॥ ३ ॥

क्षिप्रं निवर्तध्वमलं मृगैर्नो मनो हि मे दूयति दह्यते च ।
बुद्धिं समाच्छाद्य च मे समन्युरुद्धूयते प्राणपतिः शरीरे ॥ ४ ॥

मेरा मन बहुत घबडाता है; बुद्धि क्रोधसे नष्ट हुई जाती है; प्राणपति जीव बहुत व्यथित हो रहा है। इसलिये तुम शीघ्र लौटो; हमको और हरिण मारनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है ॥ ४ ॥

सरः सुपर्णेन हृतोरगं यथा राष्ट्रं यथाराजकमात्तलक्ष्मि ।
एवंविधं मे प्रतिभाति काम्यकं शौण्डैर्यथा पीतरसश्च कुम्भः ॥ ५ ॥

हमें इस समय काम्यक वन ऐसा दीखता है कि जैसे किसी उत्तम तडागमेंसे गरुडने सर्पको निकाल लिया हो; जैसे किसी धन धान्य भरे राज्यमेंसे राजा निकल गया हो; जिस प्रकार किसी घडेका मद्य मद्यपी पी गया हो और वे शोभारहित हो गये हों, ऐसे ही इस वनकी शोभा मुझे दीखती है ॥ ५ ॥

ते सैन्धवैरत्यनिलौघवेगैर्महाजवैर्वाजिभिरुह्यमानाः ।
युक्तैर्बृहद्भिः सुरथैर्नृवीरास्तदाश्रमायाभिमुखा बभूवुः ॥ ६ ॥

तब पाण्डव महाराजकी आज्ञा सुनते ही सिन्धु देशके घोडोंसे युक्त रथोंपर बैठकर वायुके समान वेगसे चले। पुरुष वीर पाण्डव अपने महान् रथोंपर बैठकर आश्रमकी ओर आए ॥ ६ ॥

तेषां तु गोमायुरनल्पघोषो निवर्ततां वामसुपेत्य पार्श्वम् ।
प्रव्याहरत्तं प्रविमृश्य राजा प्रोवाच भीमं च धनंजयं च ॥ ७ ॥

जिस समय वे लोग आश्रमकी ओर चले, उस समय अनेक सियार उनकी बांई ओर बोलने लगे। यह देखकर महाराजने भीमसेन और अर्जुनसे कहा ॥ ७ ॥

यथा वदत्येष विहीनयोनिः शालावृको वामसुपेत्य पार्श्वम् ।
सुव्यक्तमस्मानवमन्य पापैः कृतोऽभिमर्दः कुरुभिः प्रसह्य ॥ ८ ॥

देखो, सियार हमारे बांई ओर बोल रहे हैं। इससे निश्चय होता है कि, दुष्ट धृतराष्ट्रपुत्रोंने हमारे आश्रमपर आकर कोई घोर उपद्रव किया है ॥ ८ ॥

इत्येव ते तद्वनमाविशन्तो महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा ।
बालामपश्यन्त तदा रुदन्तीं धात्रेयिकां प्रेष्यवधूं प्रियायाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार लोग उस महावनमें शिकार खेल चुकनेके बाद लौटे चले आ रहे थे। इतनेहीमें देखा कि द्रौपदीकी प्यारी धात्री और दूतकी स्त्री रो रही है ॥ ९ ॥

तामिन्द्रसेनस्त्वरितोऽभिसृत्य रथादवप्लुत्य ततोऽभ्यधावत् ।
प्रोवाच चैनां वचनं नरेन्द्र धात्रेयिकामार्ततरस्तदानीम् ॥ १० ॥

उसी समय इन्द्रसेन शीघ्र रथसे उतरा, और दौडकर धात्रीके पास गया और, हे राजन्! उस धात्रेयिकाके पास जाकर उससे बोला ॥ १० ॥

किं रोदिषि त्वं पतिता धरण्यां किं ते मुखं शुष्यति दीनवर्णम् ।
कच्चिन्न पापैः सुनृशंसकृद्भिः प्रमाथिता द्रौपदी राजपुत्री ।
अनिन्द्यरूपा सुविशालनेत्रा शरीरतुल्या कुरुपुङ्गवानाम् ॥ ११ ॥

कि हे धात्री! तू पृथ्वीपर पडी हुई क्यों रो रही है? तेरा मुख सूख क्यों गया है? तेरे मुखका वर्ण क्यों दीन हो गया है? कहीं पापी और अत्याचारी कौरवोंने अनिंद्य रूपवाली, विशाल नेत्रोंवाली तथा पाण्डवोंके लिए अत्यन्त योग्य राजपुत्री द्रौपदीको दुःख तो नहीं दिया है? ॥ ११ ॥

यद्येव देवी पृथिवीं प्रविष्टा दिवं प्रपन्नाप्यथ वा समुद्रम् ।
तस्या गमिष्यन्ति पदं हि पार्थास्तथा हि संतप्यति धर्मराजः ॥ १२ ॥

धर्मराज बहुत दुःखी हो रहे हैं, अतः यदि वह द्रौपदी पृथ्वीमें घुस गई हो अथवा समुद्रमें ही चली गई हो, तो भी पाण्डव उस द्रौपदीके पदचिन्होंपर चलकर उसे ढूंढ लायेंगे ॥ १२ ॥

को हीदृशानामरिमर्दनानां क्लेशक्षमाणामपराजितानाम् ।
प्राणैः समामिष्टतमां जिहीर्षेदनुत्तमं रत्नमिव प्रमूढः ।
न बुध्यते नाथवतीमिहाद्य बहिश्चरं हृदयं पाण्डवानाम् ॥ १३ ॥

जगत्‌में ऐसा कौन वीर है जो शत्रुनाशक क्लेश सहनेवाले अपराजित पाण्डवोंकी प्राणके समान प्यारी स्त्रीको ले जाय ? यह काम तो वैसा ही हुआ जैसे कोई मूर्ख उत्तम रत्नको चुरा ले। मुझको यहां द्रौपदी नहीं दीखती है। वह द्रौपदी पाण्डवोंका हृदय है ॥ १३ ॥

कस्याद्य कायं प्रतिभिद्य घोरा महीं प्रवेक्ष्यन्ति शिताः शराग्र्याः ।
मा त्वं शुचस्तां प्रति भीरु विद्धि यथाद्य कृष्णा पुनरेष्यतीति ।
निहत्य सर्वान्द्विषतः समग्रान्पार्थाः समेष्यन्त्यथ याज्ञसेन्या ॥ १४ ॥

आज पाण्डवोंके तीक्ष्ण बाण किसके हृदयको छेदकर पृथ्वीमें प्रवेश करेंगे ? हे धात्री ! तू कुछ सोच मत कर, शीघ्र बता दे, द्रौपदीको कौन ले गया ? क्योंकि तेरे कहनेसे पाण्डव सब शत्रुओंको मारकर द्रौपदीको छीन लावेंगे ॥ १४ ॥

अथाब्रवीच्चारुमुखं प्रमृज्य धात्रेयिका सारथिमिन्द्रसेनम् ।
जयद्रथेनापहृता प्रमथ्य पञ्चेन्द्रकल्पान्परिभूय कृष्णा ॥ १५ ॥

इन्द्रसेनके वचन सुनकर अपने सुन्दर मुखको पोंछकर धात्री सारथि इन्द्रसेनसे बोली—हे सारथे ! इन्द्रके समान पांच पाण्डवोंका निरादर करके जयद्रथ द्रौपदीको खींचकर ले गया है ॥१५॥

तिष्ठन्ति वर्त्मानि नवान्यमूनि वृक्षाश्च न म्लान्ति तथैव भग्नाः ।
आवर्तयध्वं ह्यनुयात शीघ्रं नदूरयातैव हि राजपुत्री ॥ १६ ॥

अभी रथोंके पहिये भी मार्गमें बने हुए हैं। अभी टूटे हुए वृक्षोंके पत्ते कुम्हलाये भी नहीं हैं। इससे जान पडता है कि अभी द्रौपदी दूर नहीं गई होगी, अतः तुम शीघ्र लौटो और उसका पीछा करो ॥ १६ ॥

संनह्यध्वं सर्व एवेन्द्रकल्पा महान्ति चारूणि च दंशनानि ।
गृह्णीत चापानि महाधनानि शरांश्च शीघ्रं पदवीं व्रजध्वम् ॥ १७ ॥

हे इन्द्रके समान पराक्रमी पाण्डवों ! शीघ्र ही महान् एवं मनोहर कवच धारण कर लीजिए। शीघ्र ही मूल्यवान् धनुष और बाण धारण करके शत्रुके मार्गका अनुसरण कीजिए ॥ १७ ॥

पुरा हि निर्भर्त्सनदण्डमोहिता प्रमूढचित्ता वदनेन शुष्यता ।
ददाति कस्मैचिदनर्हते तनुं वराज्यपूर्णामिव भस्मनि स्रुचम् ॥ १८ ॥

कहीं ऐसा न हो कि वह द्रौपदी डाँट उपट और दण्डके भयसे मोहित चित्तवाली होकर तथा डरके मारे सूखे मुंहवाली होकर किसी अयोग्य पुरुषको अपना शरीर समर्पित न कर दे। यदि ऐसा हो गया तो आप समझ लें कि किसीने उत्तम घीसे भरी हुई स्रुवाको भस्ममें डाल दिया है ॥१८॥

पुरा तुषाग्नाविव हूयते हविः पुरा श्मशाने स्रगिवापविध्यते ।
पुरा च सोमोऽध्वरगोऽवलिह्यते शुना यथा विप्रजने प्रमोहिते ।
महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा पुरा शृगालो नलिनीं विगाहते ॥ १९ ॥

किसीने हविको भूसेकी अग्निमें डाल दिया है। (देवपूजाके लिए निर्मित) मालाको स्मशानमें फेंक दिया है। यज्ञमें रखे हुए सोमको ब्राह्मणोंकी असावधानीके कारण कुत्तेने चाट लिया है। विशाल वनमें शिकार करनेके कारण अपवित्र हुए किसी सियारने किसी सरोवरमें डुबकी लगाकर उसे अपवित्र कर दिया है। ऐसी अप्रिय घटना होनेसे पहले ही आप वहां पहुंच जाइए ॥ १९ ॥

मा वः प्रियायाः सुनसं सुलोचनं चन्द्रप्रभाच्छं वदनं प्रसन्नम् ।
स्पृश्याच्छुभं कश्चिदकृत्यकारी श्वा वै पुरोडाशमिवोपयुङ्क्षीत् ।
एतानि वर्त्मान्यनुयात शीघ्रं मा वः कालः क्षिप्रमिहात्यगाद्वै ॥ २० ॥

जिस प्रकार कोई कुत्ता यज्ञकी खीरको खा जाता है, वैसे ही द्रौपदीके उत्तम नाक और उत्तम नेत्रवाले चंद्रमाके समान सुन्दर मुखको कोई दुष्ट न छुए। इन मार्गोंसे शीघ्र चले जाइए। आपका समय वृथा न बीते ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

भद्रे स्तूष्णीमास्व नियच्छ वाचं मास्मत्सकाशे परुषाण्यवोचः ।
राजानो वा यदि वा राजपुत्रा बलेन मत्ता वञ्चनां प्राप्नुवन्ति ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भद्रे! तुम चुप हो जाओ, अपनी वाणीपर नियंत्रण करो; हम लोगोंके सन्मुख कठोर वचन मत कहो। अपने बलसे उन्मत्त होकर जिन्होंने यह निन्दनीय काम किया है, वे राजा हो या राजपुत्र, उन्हें अपने इस कामका फल अवश्य भोगना पडेगा ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा प्रययुर्हि शीघ्रं तान्येव वर्त्मान्यनुवर्तमानाः ।
मुहुर्मुहुर्व्यालवदुच्छ्वसन्तो ज्यां विक्षिपन्तश्च महाधनुर्भ्यः ॥ २२ ॥

वैशम्पायन बोले– ऐसा कहकर सर्पके समान श्वास छोडते हुए पाण्डव शीघ्र उसी मार्गसे चले और अपने धनुषपर रोदे चढाने लगे ॥ २२ ॥

ततोऽपश्यंस्तस्य सैन्यस्य रेणुमुद्धूतं वै वाजिखुरप्रणुन्नम् ।
पदातीनां मध्यगतं च धौम्यं विक्रोशन्तं भीममभिद्रवेति ॥ २३ ॥

थोडी दूर जाकर पाण्डवोंने सेनाके घोडोंके खुरोंसे उडती हुई धूलीको देखा। आगे चलकर देखा कि पदातियोंके बीचमें भीमसेनको ' शीघ्र आओ ' ऐसा पुकारते हुए धौम्य चले जाते हैं ॥ २३ ॥

ते सान्त्व्य धौम्यं परिदीनसत्त्वाः सुखं भवानेत्विति राजपुत्राः ।
श्येना यथैवामिषसंप्रयुक्ता जवेन तत्सैन्यमथाभ्यधावन् ॥ २४ ॥

तब दीन पाण्डवोंने धौम्यको शान्त किया, और कहा आप सुखसे धीरे धीरे आइये। ऐसा कहकर पाण्डव इस प्रकार वेगसे दौडे कि, जैसे मांस खानेको बाज दौडता है ॥ २४ ॥

तेषां महेन्द्रोपमविक्रमाणां संरब्धानां धर्षणाद्याज्ञसेन्याः ।
क्रोधः प्रजज्वाल जयद्रथं च दृष्ट्वा प्रियां तस्य रथे स्थितां च ॥ २५ ॥

उसी समय इन्द्रके समान पराक्रमी और द्रौपदीके धर्षणसे क्रोधाविष्ट हुए पांचों पाण्डवोंने अपनी प्यारी स्त्रीको जयद्रथके रथमें बैठी हुई देखा। द्रौपदीको देखते ही पाण्डवोंका क्रोध अग्निके समान तेज हो गया ॥ २५ ॥

प्रचुक्रुशुश्चाप्यथ सिन्धुराजं वृकोदरश्चैव धनञ्जयश्च ।
यमौ च राजा च महाधनुर्धरास्ततो दिशः संमुमुहुः परेषाम् ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५३ ॥ ८६९७ ॥

और अर्जुन और भीम, नकुल, सहदेव, युधिष्ठिर बार बार सिन्धुराज जयद्रथको ललकारने लगे। उस शब्दको सुनकर शत्रु दिङ्मूढ बन गये ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ तिरेपनवां अध्याय समाप्त ॥ २५३ ॥ ८६९७ ॥

: २५४ :

वैशम्पायन उवाच

ततो घोरतरः शब्दो वने समभवत्तदा ।
भीमसेनार्जुनौ दृष्ट्वा क्षत्रियाणाममर्षिणाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– भीमसेन और अर्जुनको देखकर जयद्रथकी सेनाके क्रोधी क्षत्रिय लोग घोर शब्द करने और पाण्डव भी गरजने लगे। तब उस वनमें महा घोर शब्द होने लगा ॥ १ ॥

तेषां ध्वजाग्राण्यभिवीक्ष्य राजा स्वयं दुरात्मा कुरुपुङ्गवानाम् ।
जयद्रथो याज्ञसेनीमुवाच रथे स्थितां भानुमतीं हतौजाः ॥ २ ॥

कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवोंकी ध्वजाओंके अग्रभागोंको देखकर नीच राजा जयद्रथ रथमें बैठी हुई तेजस्विनी होनेपर भी तेजसे रहित द्रौपदीसे कहने लगा ॥ २ ॥

आयान्तीमे पञ्च रथा महान्तो मन्ये च कृष्णे पतयस्तवैते।
सा जानती ख्यापय नः सुकेशि परं परं पाण्डवानां रथस्थम् ॥ ३ ॥
हे द्रौपदी ! ये पांचों महारथी आ रहे हैं। मैं समझता हूँ कि ये तुम्हारे ही पति होंगे, हे सुकेशी ! तुम हमसे इन पांचोंका अलग अलग वर्णन करो ॥ ३ ॥

द्रौपद्युवाच
किं ते ज्ञातैर्मूढ महाधनुर्धरैरनायुष्यं कर्म कृत्वातिघोरम्।
एते वीराः पतयो मे समेता न वः शेषः कश्चिदिहास्ति युद्धे ॥ ४ ॥
द्रौपदी बोली– रे मूर्ख ! इन पांचोंका नाम सुनकर क्या करेगा ? ये मेरे पांचों पति महा धनुषधारी और महावीर हैं। तूने इनका घोर निरादर किया है। युद्धमें इन मेरे वीर पतियोंसे मुकावला करके तुममेंसे कोई भी जीता नहीं वचेगा ॥ ४ ॥

आख्यातव्यं त्वेव सर्वं मुमूर्षोर्मया तुभ्यं पृष्टया धर्म एषः।
न मे व्यथा विद्यते त्वद्भयं वा संपश्यन्त्याः सानुजं धर्मराजम् ॥ ५ ॥
मैं भाइयोंके सहित धर्मराजको देखकर अव तुझसे कुछ नहीं डरती; और न अव मुझे किसी तरहकी व्यथा ही है। रे मूर्ख ! मरनेकी इच्छावाले तूने मुझसे प्रश्न किया है, इससे पाण्डवोंका वर्णन करना ही मेरा धर्म है ॥ ५ ॥

यस्य ध्वजाग्रे नदतो मृदङ्गौ नन्दोपनन्दौ मधुरौ युक्तरूपौ।
एतं स्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञं सदा जनाः कृत्यवन्तोऽनुयान्ति ॥ ६ ॥
जिनकी रथकी ध्वजापर, सुन्दर रूपवाले नन्द और उपनन्द मृदङ्ग वज रहे हैं, जिन धर्म और अर्थको जाननेवालेके पीछे अनेक महात्मा लोग चलते हैं ॥ ६ ॥

य एष जाम्बूनदशुद्धगौरः प्रचण्डघोणस्तनुरायताक्षः।
एतं कुरुश्रेष्ठतमं वदन्ति युधिष्ठिरं धर्मसुतं पतिं मे ॥ ७ ॥
जिनका रंग शुद्ध सोनेके समान तेजस्वी है, जिनकी नासिका ऊंची और नेत्र वडे हैं, इन्हीं मेरे पतिको कुरुकुलमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिर कहते हैं ॥ ७ ॥

अप्येष शत्रोः शरणागतस्य दद्यात्प्राणान्धर्मचारी नृवीरः।
परैह्येनं मूढ जवेन भूतये त्वमात्मनः प्राञ्जलिर्न्यस्तशस्त्रः ॥ ८ ॥
ये ही महात्मा शरणमें आये शत्रुको भी प्राणदान देते हैं। ये वहुत धर्मात्मा और महावीर हैं। अरे मूर्ख ! तू शस्त्र और अस्त्रोंको छोडकर तथा हाथ जोडकर इनकी शरणमें जा, तव तेरा कल्याण होगा ॥ ८ ॥

अथाप्येनं पश्यसि यं रथस्थं महाभुजं शालमिव प्रवृद्धम् ।
संदष्टोष्ठं भ्रुकुटीसंहतभ्रुवं वृकोदरो नाम पतिर्ममैषः ॥ ९ ॥

शाल वृक्षके समान ऊंचे, विशालबाहु, टेढी भौं और भ्रुकुटीवाले जिन्हें तू रथमें बैठा हुआ देख रहा है, जो अपने होठोंको दांतसे चबा रहे हैं, यह वृकोदर नामक मेरे पति हैं ॥ ९ ॥

आजानेया बलिनः साधु दान्ता महाबलाः शूरमुदावहन्ति ।
एतस्य कर्माण्यतिमानुषाणि भीमेति शब्दोऽस्य गतः पृथिव्याम् ॥ १० ॥

जिसके रथके अश्व बलवान् और उत्तम शिक्षित हैं । जिनके कर्मोंको देखकर महाबलवान् वीरोंने इन्हें साधु पदवी दी है, जिनके अमानुष कर्मने भीम ऐसा नाम प्रसिद्ध किया है, ये वही मेरे स्वामी भीमसेन हैं ॥ १० ॥

नास्यापराद्धाः शेषमिहाप्नुवन्ति नाप्यस्य वैरं विस्मरते कदाचित् ।
वैरस्यान्तं संविधायोपयाति पश्चाच्छान्तिं न च गच्छत्यतीव ॥ ११ ॥

इनका अपराध करके कोई जीता नहीं बचता । ये अपने वैरको कभी नहीं भूलते हैं। वे अपने वैरका बदला लेकर ही रहते हैं, उसके बाद भी इन्हें शान्ति नहीं मिलती ॥ ११ ॥

मृदुर्वदान्यो धृतिमान्यशस्वी जितेन्द्रियो वृद्धसेवी नृवीरः ।
भ्राता च शिष्यश्च युधिष्ठिरस्य धनंजयो नाम पतिर्ममैषः ॥ १२ ॥

जो धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् तेजस्वी जितेन्द्रिय पुरुष वीर राजा युधिष्ठिरके शिष्य और भाई हैं वही अर्जुन नामक मेरे पति हैं ॥ १२ ॥

यो वै न कामान्न भयान्न लोभात्त्यजेद्धर्मं न नृशंसं च कुर्यात् ।
स एष वैश्वानरतुल्यतेजाः कुन्तीसुतः शत्रुसहः प्रमाथी ॥ १३ ॥

ये काम क्रोध लोभ और मोहसे भी कर्म और धर्मको नहीं छोडते और कभी अधर्मका काम नहीं करते । ये ही शत्रुनाशक अग्निके समान तेजस्वी कुन्तीपुत्र अर्जुन हैं ॥ १३ ॥

यः सर्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञो भयार्तानां भयहर्ता मनीषी ।
यस्योत्तमं रूपमाहुः पृथिव्यां यं पाण्डवाः परिरक्षन्ति सर्वे ॥ १४ ॥

जो सब धर्म और अर्थके निश्चयोंको जानते हैं। यही सब भयभीत पुरुषोंके भयका नाश करते हैं जिनके समान पृथ्वीमें कोई सुन्दर नहीं है। पाण्डव सदा जिनकी रक्षा करते हैं ॥ १४ ॥

प्राणैर्गरीयांसमनुव्रतं वै स एष वीरो नकुलः पतिर्मे ।
यः खड्गयोधी लघुचित्रहस्तो महांश्च धीमान्सहदेवोऽद्वितीयः ॥ १५ ॥

जो पाण्डवोंको प्राणसे भी अधिक प्यारे हैं, वे ही वीर नकुल मेरे पति हैं। जो खड्गसे विचित्र युद्ध करते हैं, जिनका हाथ बहुत शीघ्र चलता है वेही महाबुद्धिमान् अद्वितीय वीर सहदेव हैं ॥ १५ ॥

यस्याद्य कर्म द्रक्ष्यसे मूढसत्त्व शतक्रतोर्वा दैत्यसेनासु संख्ये ।
शूरः कृतास्त्रो मतिमान्मनीष प्रियङ्करो धर्मसुतस्य राज्ञः ॥ १६ ॥

अरे मूर्ख ! तू वीर सहदेवके कर्मको युद्धमें आज इस प्रकार देखेगा, जैसे इन्द्रके कर्मको राक्षस लोग देखते हैं। ये महात्मा तेजस्वी शस्त्रविद्याके जाननेवाले और धर्मराजके प्रिय कार्य-कर्ता हैं ॥ १६ ॥

य एष चन्द्रार्कसमानतेजा जघन्यजः पाण्डवानां प्रियश्च ।
बुद्ध्या समो यस्य नरो न विद्यते वक्ता तथा सत्सु विनिश्चयज्ञः ॥ १७ ॥

यही महात्मा सहदेव चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी सब भाइयोंमें छोटे और पाण्डवोंके प्रिय हैं । इनके समान पृथ्वीमें कोई पण्डित, वक्ता, बुद्धिमान् और निश्चयकर्त्ता नहीं है ॥१७॥

स एष शूरो नित्यममर्षणश्च धीमान्प्राज्ञः सहदेवः पतिर्मे ।
त्यजेत्प्राणान्प्रविशेद्धव्यवाहं न त्वेवैष व्याहरेद्धर्मबाह्यम् ।
सदा मनस्वी क्षत्रधर्मे निविष्टः कुन्त्याः प्राणैरिष्टतमो नृवीरः ॥ १८ ॥

वे ही हमारे स्वामी सहदेव शूरवीर क्षमावान् और महापण्डित हैं । ये प्राणोंको त्याग देंगे, अग्निमें प्रवेश कर जायेंगे, परन्तु अधर्म कभी नहीं करेंगे। ये मनस्वी सदा क्षत्रियोंके पालने-वाले महावीर और कुन्तीको प्राणके समान प्यारे हैं ॥ १८ ॥

विशीर्यन्तीं नावमिवार्णवान्ते रत्नाभिपूर्णां मकरस्य पृष्ठे ।
सेनां तवेमां हतसर्वयोधां विक्षोभितां द्रक्ष्यसि पाण्डुपुत्रैः ॥ १९ ॥

तेरी सेनाकी वह दशा है, कि जैसे रत्नोंसे भरी हुई टूटी नाव समुद्रके बीचमें किसी मगरकी पीठमें धरी हो। अब थोडे समयमें तू देखेगा, कि पाण्डवोंने तेरी सब सेनाका नाश कर दिया ॥ १९ ॥

इत्येते वै कथिताः पाण्डुपुत्रा यांस्त्वं मोहादवमन्य प्रवृत्तः ।
यद्येतैस्त्वं मुच्यसेऽरिष्टदेहः पुनर्जन्म प्राप्स्यसे जीव एव ॥ २० ॥

जिन पांचों पाण्डवोंका मैंने वर्णन किया। उन्हींका तूने मूर्खता तथा मोहसे निरादर किया है; यदि तू इनसे जीते बच जाए तो तेरा दूसरा जन्म होगा ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः पार्थाः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पास्त्यक्त्वा त्रस्तान्प्राञ्जलींस्तान्पदातीन् ।
रथानीकं शरवर्षान्धकारं चक्रुः क्रुद्धाः सर्वतः संनिगृह्य ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुःपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५४ ॥ ८७१८ ॥

वैशम्पायन बोले– उसी समय इन्द्रके समान पांचों पाण्डव डरी हुई और हाथ जोडती हुई पैदल सेनाको छोडकर जयद्रथकी प्रधान सेनापर क्रोध करके बाणोंकी वर्षा करने लगे और चारों ओर अन्धकार कर दिया ॥ २१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ चौव्वनवां अध्याय समाप्त ॥ २५४ ॥ ८७१८ ॥

२५५

वैशम्पायन उवाच

संतिष्ठत प्रहरत तूर्णं विपरिधावत ।
इति स्म सैन्धवो राजा चोदयामास तान्नृपान् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– पाण्डवोंको युद्ध करते देखकर सिन्धुदेशका राजा जयद्रथ अपने साथी राजाओंसे कहने लगा कि, तुम लोग शस्त्र चलाओ, चारों ओरसे घेरकर स्थिर रहो ॥ १ ॥

ततो घोरतरः शब्दो रणे समभवत्तदा ।
भीमार्जुनयमान्दृष्ट्वा सैन्यानां सयुधिष्ठिरान् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको युद्धमें देखकर सिन्धु और सौवीर देशके क्षत्रिय गर्जने लगे । उस समय रणभूमिमें घोर शब्द होने लगा ॥ २ ॥

शिबिसिन्धुत्रिगर्तानां विषादश्चाप्यजायत ।
तान्दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान्व्याघ्रानिव बलोत्कटान् ॥ ३ ॥

सिंहके समान बलवान् पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंको देख शिबी, सिन्धु, त्रिगर्त देशके क्षत्रियोंमें विषाद उत्पन्न हो गया ॥ ३ ॥

हेमचित्रसमुत्सेधां सर्वशैक्यायसीं गदाम् ।
प्रगृह्याभ्यद्रवद्भीमः सैन्धवं कालचोदितम् ॥ ४ ॥

उस समय सोनेसे चित्रित लोहेकी शैक्य नामक गदाको लेकर भीमसेन कालसे प्रेरित जयद्रथकी ओर दौडे ॥ ४ ॥

तदन्तरमथाघृत्य कोटिकाश्योऽभ्यहारयत् ।
महता रथवंशेन परिवार्य वृकोदरम् ॥ ५ ॥
तब भीमसेनके आगे महारथी सेनाको लिये हुए कोटिकाश्य आया। और वह रथोंसे घेर-कर भीमके ऊपर प्रहार करने लगा ॥ ५ ॥

शक्तितोमरनाराचैर्वीरबाहुप्रचोदितैः ।
कीर्यमाणोऽपि बहुभिर्न स्म भीमोऽभ्यकम्पत ॥ ६ ॥
शक्ति, तोमर तथा बाणोंकी वर्षा करनी आरम्भ की; परन्तु उनसे भीम कुछ भी न डरे ॥६॥

गजं तु सगजारोहं पदातींश्च चतुर्दश ।
जघान गदया भीमः सैन्धवध्वजिनीमुखे ॥ ७ ॥
भीमने वीरोंके सहित चौदह हाथियोंको तथा अनेक पैदलोंको मारकर पृथ्वीपर गिरा दिया। उनके मरनेसे जयद्रथकी सेनाका मुख टूट गया ॥ ७ ॥

पार्थः पञ्चशताञ्छूरान्पार्वतीयान्महारथान् ।
परीप्समानः सौवीरं जघान ध्वजिनीमुखे ॥ ८ ॥
अर्जुनने भी सेनाके आगे लडते हुए पर्वत देशके महारथी पांचसौ वीरोंको मारा और वे जयद्रथको ढूंढने लगे ॥ ८ ॥

राजा स्वयं सुवीराणां प्रवराणां प्रहारिणाम् ।
निमेषमात्रेण शतं जघान समरे तदा ॥ ९ ॥
उस समय धर्मराजने भी युद्धमें सुवीर देशोत्पन्न शस्त्रवाले सौ वीरोंको क्षणभरमें मार डाला ॥ ९ ॥

ददृशे नकुलस्तत्र रथात्प्रस्कन्द्य खड्गधृक् ।
शिरांसि पादरक्षाणां बीजवत्प्रवपन्मुहुः ॥ १० ॥
वीर नकुल खड्ग लेकर अपने रथसे उतरे और पैदल सेनामें प्रवेश किया और इस प्रकार वीरोंके शिर काटकर पृथ्वीमें गिराने लगे, जैसे कोई किसान बीज बोता है ॥ १० ॥

सहदेवस्तु संयाय रथेन गजयोधिनः ।
पातयामास नाराचैर्द्रुमेभ्य इव बर्हिणः ॥ ११ ॥
सहदेवने अपने रथको गजसेनाकी ओर चलाया और वे अपने बाणोंसे इस प्रकार वीरोंके सिर काटकर गिराने लगे जैसे वृक्षोंसे मरे हुए पक्षी गिरते हैं ॥ ११ ॥

ततस्त्रिगर्तः सधनुरवतीर्य महारथात् ।
गदया चतुरो वाहान्राज्ञस्तस्य तदावधीत् ॥ १२ ॥
तब त्रिगर्त्त देशका धनुर्धारी राजा गदा लेकर अपने रथसे उतरा और उसने महाराजके चारों घोडोंको मार दिया ॥ १२ ॥

तमभ्याशगतं राजा पदातिं कुन्तिनन्दनः ।
अर्धचन्द्रेण बाणेन विव्याधोरसि धर्मराट् ॥ १३ ॥

तब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने त्रिगर्त्तराजको अपनी तरफ पैदल ही आते देखा, तो धर्मराजने अर्द्धचन्द्र बाणसे उसके हृदयको विदीर्ण कर दिया ॥ १३ ॥

स भिन्नहृदयो वीरो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।
पपाताभिमुखः पार्थे छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ १४ ॥

फटे हुए हृदयवाला वह वीर मुखसे रुधिर गिराता हुआ युधिष्ठिरके सामने ही कटे हुए जडवाले वृक्षके समान पृथ्वीपर गिर पडा ॥ १४ ॥

इन्द्रसेनद्वितीयस्तु रथात्प्रस्कन्द्य धर्मराट् ।
हताश्वः सहदेवस्य प्रतिपेदे महारथम् ॥ १५ ॥

तब रथके घोडे नष्ट होनेके कारण इन्द्रसेनके साथ महाराज अपने रथसे उतरकर सहदेवके रथपर चढ गये ॥ १५ ॥

नकुलं त्वभिसंधाय क्षेमङ्करमहामुखौ ।
उभावुभयतस्तीक्ष्णैः शरवर्षैरवर्षताम् ॥ १६ ॥

उसी समय नकुलसे युद्ध करनेके लिए क्षेमङ्कर और महामुख आए। वे दोनों ओरसे तीक्ष्ण बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

तौ शरैरभिवर्षन्तौ जीमूताविव वार्षिकौ ।
एकैकेन विपाठेन जघ्ने माद्रवतीसुतः ॥ १७ ॥

वे दोनों वर्षाकालके मेघके समान तोमरोंकी वर्षा करने लगे। तब नकुलने एक एक खड्गसे दोनोंको मार दिया ॥ १७ ॥

त्रिगर्तराजः सुरथस्तस्याथ रथधूर्गतः ।
रथमाक्षेपयामास गजेन गजयानवित् ॥ १८ ॥

तभी गजसंचालनमें कुशल त्रिगर्तके राजा सुरथने नकुलके रथकी धुरीके पास आकर अपने हाथीसे नकुलके रथको दूर फिंकवा दिया ॥ १८ ॥

नकुलस्त्वपभीस्तस्माद्रथाच्चर्मासिपाणिमान् ।
उद्क्रान्तं स्थानमास्थाय तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १९ ॥

नकुल भी निडर होकर खड्ग और ढाल लेकर रथसे नीचे कूद गए और एक निरापद स्थानमें आकर पर्वतके समान अचल होकर खडे हो गए ॥ १९ ॥

सुरथस्तं गजवरं वधाय नकुलस्य तु ।
प्रेषयामास सक्रोधमभ्युच्छ्रितकरं ततः ॥ २० ॥

तब सुरथने क्रोधसे विशाल तथा उठाये हुए सूण्डवाले हाथीको नकुलको मारनेके लिए प्रेरित किया ॥ २० ॥

नकुलस्तस्य नागस्य समीपपरिवर्तिनः ।
सविषाणं भुजं मूले खड्गेन निरकृन्तत ॥ २१ ॥

जब नकुलने उस हाथीको अपने पास आते हुए देखा, तो अपने खड्गसे दांतोंके समेत उसकी सूंड काट डाली ॥ २१ ॥

स विनद्य महानादं गजः कङ्कणभूषणः ।
पतन्नवाक्शिरा भूमौ हस्त्यारोहानपोथयत् ॥ २२ ॥

घुंघुरुओंसे सुभूषित वह हाथी सूण्ड कटनेसे महाशब्द करके पृथ्वीपर गिर गया और उसपर चढे हुए वीर भी उसके नीचे दबकर मर गये ॥ २२ ॥

स तत्कर्म महत्कृत्वा शूरो माद्रवतीसुतः ।
भीमसेनरथं प्राप्य शर्म लेभे महारथः ॥ २३ ॥

वीर महारथी माद्रीपुत्र नकुल इस महा कर्मको करके भीमके रथपर चढकर सुखी हुए ॥२३॥

भीमस्त्वापततो राज्ञः कोटिकाश्यस्य सङ्गरे ।
सूतस्य नुदतो वाहान्क्षुरेणापाहरच्छिरः ॥ २४ ॥

भीमसेनने युद्ध करते हुए कोटिकाश्यके घोडोंको हांकते हुए सारथीके सिरको अपने बाणोंसे काट डाला ॥ २४ ॥

न बुबोध हतं सूतं स राजा बाहुशालिना ।
तस्याश्वा व्यद्रवन्सङ्ख्ये हतसूतास्ततस्ततः ॥ २५ ॥

राजा कोटिकाश्यने यह न जाना कि बलवान् भीमसेनने हमारे सारथीको मार डाला। तब सारथिके मारे जानेसे उसके घोडे युद्धमें इधर उधर दौडने लगे ॥ २५ ॥

विमुखं हतसूतं तं भीमः प्रहरतां वरः ।
जघान तलयुक्तेन प्रासेनाभ्येत्य पाण्डवः ॥ २६ ॥

जब शस्त्र चलानेवालोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने देखा कि मारे गए सारथिवाला कोटिकाश्य युद्धसे भागा जा रहा है, तो उसके पास जाकर प्रास नामक एक मूठदार अस्त्रसे उसको मार डाला ॥ २६ ॥

द्वादशानां तु सर्वेषां सौवीराणां धनंजयः ।
चकर्त निशितैर्भल्लैर्धनूंषि च शिरांसि च ॥ २७ ॥

वीर अर्जुनने अपने तीक्ष्ण बाणोंसे बारह सौवीर देशी राजपुत्रोंके धनुष और सिर काट दिये ॥ २७ ॥

शिबीनिक्ष्वाकुमुख्यांश्च त्रिगर्तान्सैन्धवानपि ।
जघानातिरथः संख्ये बाणगोचरमागतान् ॥ २८ ॥
शिबि, इक्ष्वाकु, त्रिगर्त्त और सिन्धु देशके जो वीर युद्धमें अर्जुनके बाणोंके लक्ष्यमें आए, उन सबको अर्जुनने मार डाला ॥ २८ ॥

सादिताः प्रत्यदृश्यन्त बहवः सव्यसाचिना ।
सपताकाश्च मातङ्गाः सध्वजाश्च महारथाः ॥ २९ ॥
अर्जुनके द्वारा मारे हुए ध्वजा और पताकोंके सहित अनेक महारथ और हाथी पृथ्वीपर गिरे हुए दिखाई दिए ॥ २९ ॥

प्रच्छाद्य पृथिवीं तस्थुः सर्वमायोधनं प्रति ।
शरीराण्यशिरस्कानि विदेहानि शिरांसि च ॥ ३० ॥
उस समय विना सिरके धड और विना धडके सिर समस्त रणभूमिमें भर गये ॥ ३० ॥

श्वगृध्रकङ्ककाकोलभासगोमायुवायसाः ।
अतृप्यंस्तत्र वीराणां हतानां मांसशोणितैः ॥ ३१ ॥
उस युद्धमें मरे हुए वीरोंके मांस और रक्तको खा पीकर कुत्ते, गिद्ध, कंक (सफेद चीलें) काकोल (पहाडी कौवे), चीलें, गीदड और कौवे तृप्त होने लगे ॥ ३१ ॥

हतेषु तेषु वीरेषु सिन्धुराजो जयद्रथः ।
विमुच्य कृष्णां संत्रस्तः पलायनपरोऽभवत् ॥ ३२ ॥
अपने साथके सब वीरोंको मरा हुआ देखकर सिन्धुराज जयद्रथ बहुत डरा, और द्रौपदीको छोडकर भागनेकी इच्छा करने लगा ॥ ३२ ॥

स तस्मिन्संकुले सैन्ये द्रौपदीमवतार्य वै ।
प्राणप्रेप्सुरुपाधावद्वनं येन नराधमः ॥ ३३ ॥
जब इस प्रकार सेनामें हाहाकारका शब्द हुआ तो जयद्रथने द्रौपदीको रथसे उतारा और फिर द्रौपदीको छोडकर प्राण बचानेकी इच्छासे वह नराधम जयद्रथ घोर वनकी ओर भाग गया ॥ ३३ ॥

द्रौपदीं धर्मराजस्तु दृष्ट्वा धौम्यपुरस्कृताम् ।
माद्रीपुत्रेण वीरेण रथमारोपयत्तदा ॥ ३४ ॥
जब धर्मराजने देखा, कि धौम्यके सहित द्रौपदी पृथ्वी पर खडी हुई है, तो उसको सहदेवके रथपर चढा लिया ॥ ३४ ॥

ततस्तद्विद्रुतं सैन्यमपयाते जयद्रथे।
आदिश्यादिश्य नाराचैराजघान वृकोदरः ॥ ३५ ॥

जयद्रथके भागते ही उसकी सब सेना इधर उधर भाग गई। उस समय भीमसेन बाणोंसे उन उनके नाम सुना सुनाकर सबको मारने लगे ॥ ३५ ॥

सव्यसाची तु तं दृष्ट्वा पलायन्तं जयद्रथम्।
वारयामास निघ्नन्तं भीमं सैन्धवसैनिकान् ॥ ३६ ॥

सव्यसाची अर्जुनने भागते हुए जयद्रथको देखा और सिन्धुदेशके सैनिकोंको मारते हुए भीमको रोका ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

यस्यापचारात्प्राप्तोऽयमस्मान्क्लेशो दुरासदः।
तमस्मिन्समरोद्देशे न पश्यामि जयद्रथम् ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले— जिस दुष्टके अपराधसे हम लोगोंको महा कष्ट हुआ है, उस जयद्रथको मैं युद्धभूमिमें नहीं देखता ॥ ३७ ॥

तमेवान्विष भद्रं ते किं ते योधैर्निपातितैः।
अनामिषमिदं कर्म कथं वा मन्यते भवान् ॥ ३८ ॥

हे भीम ! तुम्हारा कल्याण हो, अब उसी जयद्रथको ढूंढो। इन योधाओंको मारनेसे तुम्हें क्या फायदा ? यह तुम्हारा कर्म तो निष्फल है। अथवा इस विषयमें तुम्हारा क्या विचार है ? ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भीमसेनस्तु गुडाकेशेन धीमता।
युधिष्ठिरमभिप्रेक्ष्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन बोले— बुद्धिमान् अर्जुनके ऐसे वचन सुनकर युधिष्ठिरके पास जाकर बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ भीमसेन यह वचन कहने लगे ॥ ३९ ॥

हतप्रवीरा रिपवो भूयिष्ठं विद्रुता दिशः।
गृहीत्वा द्रौपदीं राजन्निवर्ततु भवानितः ॥ ४० ॥

हे राजन् ! सब शत्रु लोग मारे गये और बचे हुए इधर उधर भाग गये, अब आप द्रौपदीको लेकर यहांसे लौट जाएं ॥ ४० ॥

यमाभ्यां सह राजेन्द्र धौम्येन च महात्मना।
प्राप्याश्रमपदं राजन्द्रौपदीं परिसान्त्वय ॥ ४१ ॥

तथा, हे राजेन्द्र ! नकुल, सहदेव और महात्मा धौम्यको साथमें लेकर आश्रमको लौट जाइये, और, हे राजन् ! वहां जाकर द्रौपदीको शान्त कीजिये ॥ ४१ ॥

न हि मे मोक्ष्यते जीवन्मूढः सैन्धवको नृपः ।
पातालतलसंस्थोऽपि यदि शक्रोऽस्य सारथिः ॥ ४२ ॥

यदि मूर्ख जयद्रथ पातालमें भी घुस जायेगा, और साक्षात् इन्द्र भी उसके सारथी वन जायेंगे तो भी आज वह मुझसे जीता नहीं बचेगा ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्मापि स सैन्धवः ।
दुःशलामभिसंस्मृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम् ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे महाबाहो ! यद्यपि जयद्रथ बडा दुष्ट है, तो भी तुम उसको मारना मत, क्योंकि उसके मरनेसे दुःशला विधवा हो जायेगी और यशस्विनी गान्धारीको भी बडा दुःख होगा । इन दोनोंका स्मरण करके तुम उसे मारना मत ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा द्रौपदी भीममुवाच व्याकुलेन्द्रिया ।
कुपिता ह्रीमती प्राज्ञा पती भीमार्जुनावुभौ ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन बोले– महाराजके ऐसे वचन सुनकर क्रोधसे व्याकुल–इन्द्रियोंवाली लज्जावती विदुषी द्रौपदी भीम और अर्जुनसे बोली ॥ ४४ ॥

कर्तव्यं चेत्प्रियं मह्यं वध्यः स पुरुषाधमः ।
सैन्धवापसदः पापो दुर्मतिः कुलपांसनः ॥ ४५ ॥

यदि तुम मेरा प्रियकार्य करना चाहते हो, तो पापी दुर्बुद्धि पुरुषाधम कुलकलङ्क जयद्रथको अवश्य मार डालना ॥ ४५ ॥

भार्याभिहर्ता निर्वैरो यश्च राज्यहरो रिपुः ।
याचमानोऽपि संग्रामे न स जीवितुमर्हति ॥ ४६ ॥

जो शत्रु स्त्रीको छीने, राज्यको छीने, उस दुष्टको क्षमा मांगने पर भी युद्धमें जीता छोडना नहीं चाहिये ॥ ४६ ॥

इत्युक्तौ तौ नरव्याघ्रौ ययतुर्यत्र सैन्धवः ।
राजा निववृते कृष्णामादाय सपुरोहितः ॥ ४७ ॥

राजा और द्रौपदीके ऐसे वचन सुनकर पुरुषसिंह भीम और अर्जुन उधर ही चले, जिधर जयद्रथ गया था । इधर राजा भी द्रौपदी और पुरोहितके साथ लौट आए ॥ ४७ ॥

स प्रविश्याश्रमपदं व्यपविद्धबृसीघटम् ।
मार्कण्डेयादिभिर्विप्रैरनुकीर्णं ददर्श ह ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिरने आश्रममें जाकर देखा कि कुटियामें बैठनेके आसन तथा अन्य वस्तुयें इधर उधर बिखरी हुई थीं और वहां मार्कण्डेय आदि ऋषि इकट्ठे हो गए थे ॥ ४८ ॥

द्रौपदीमनुशोचद्भिर्ब्राह्मणैस्तैः समागतैः ।
समियाय महाप्राज्ञः सभार्यो भ्रातृमध्यगः ॥ ४९ ॥

वे सब आए हुए ब्राह्मण द्रौपदीके लिये शोक कर रहे थे । उसी समय अपने भाई और द्रौपदीके सहित महाज्ञानी युधिष्ठिर भी अपने आश्रम पहुंचे ॥ ४९ ॥

ते स्म तं मुदिता दृष्ट्वा पुनरभ्यागतं नृपम् ।
जित्वा तान्सिन्धुसौवीरान्द्रौपदीं चाहृतां पुनः ॥ ५० ॥

जब सब ब्राह्मणोंने देखा कि सिन्धु और सौवीर देशके वीरोंको जीतकर महाराज आ गए हैं और द्रौपदीको भी ले आए हैं, तो वे बहुत प्रसन्न हुए ॥ ५० ॥

स तैः परिवृतो राजा तत्रैवोपविवेश ह ।
प्रविवेशाश्रमं कृष्णा यमाभ्यां सह भामिनी ॥ ५१ ॥

महाराज युधिष्ठिर ब्राह्मणोंसे घिरकर वहीं बैठ गये । द्रौपदी नकुल और सहदेवके सहित आश्रमके भीतर चली गयी ॥ ५१ ॥

भीमार्जुनावपि श्रुत्वा क्रोशमात्रगतं रिपुम् ।
स्वयमश्वांस्तुदन्तौ तौ जवेनैवाभ्यधावताम् ॥ ५२ ॥

जब भीमसेन और अर्जुनने सुना कि जयद्रथ एक कोस ही भागकर गया, तो वे स्वयं घोडोंको हांकते हुए वेगसे दौडे ॥ ५२ ॥

इदमत्यद्भुतं चात्र चकार पुरुषोऽर्जुनः ।
क्रोशमात्रगतानश्वान्सैन्धवस्य जघान यत् ॥ ५३ ॥

उसी समय अर्जुनने एक अद्भुत कर्म किया । उन्होंने एक कोसकी दूरीसे ही जयद्रथके घोडोंको मार दिया ॥ ५३ ॥

स हि दिव्यास्त्रसंपन्नः कृच्छ्रकालेऽप्यसंभ्रमः ।
अकरोद्दुष्करं कर्म शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः ॥ ५४ ॥

अत्यन्त कठिन समयमें भी अर्जुनको भ्रम नहीं होता था, और वे दिव्य अस्त्रोंके जाननेवाले थे । इसी कारण दिव्य मन्त्रोंके बलसे दुष्कर कर्मोंको भी सिद्ध कर लेते थे ॥ ५४ ॥

ततोऽभ्यधावतां वीरावुभौ भीमधनंजयौ ।
हताश्वं सैन्धवं भीतमेकं व्याकुलचेतसम् ॥ ५५ ॥

तदनन्तर भीमसेन और अर्जुन ये दोनों वीर मारे गए घोडोंवाले, भयभीत और व्याकुल चित्तवाले अकेले जयद्रथके पीछे भागे ॥ ५५ ॥

सैन्धवस्तु हतान्दृष्ट्वा तथाश्वान्स्वान्सुदुःखितः ।
दृष्ट्वा विक्रमकर्माणि कुर्वाणं च धनंजयम् ।
पलायनकृतोत्साहः प्राद्रवद्येन वै वनम् ॥ ५६ ॥

जयद्रथने देखा कि मेरे घोडे और सारथी सब मारे गये और अर्जुन बहुत पराक्रम कर रहे हैं, तब दुःखी होकर वह रथको छोडकर घोर वनमें भागा ॥ ५६ ॥

सैन्धवं त्वभिसंप्रेक्ष्य पराक्रान्तं पलायने ।
अनुयाय महाबाहुः फल्गुनो वाक्यमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

जब अर्जुनने देखा कि सिन्धुराज भागा जाता है, तो उसका पीछा करते हुए अर्जुन पुकार कर यह वाक्य कहने लगे ॥ ५७ ॥

अनेन वीर्येण कथं स्त्रियं प्रार्थयसे बलात् ।
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ।
कथं चानुचरान्हित्वा शत्रुमध्ये पलायसे ॥ ५८ ॥

हे वीर ! तुमको भागना उचित नहीं है। क्या इसी बलसे दूसरेकी स्त्रीको छीनना चाहते थे? तुम अपने साथियोंको शत्रुओंके बीचमें छोडकर कैसे भागे जाते हो? हे राजपुत्र ! लौट आओ ॥ ५८ ॥

इत्युच्यमानः पार्थेन सैन्धवो न न्यवर्तत ।
तिष्ठ तिष्ठेति तं भीमः सहसाभ्यद्रवद्बली ।
मा वधीरिति पार्थस्तं दयावानभ्यभाषत ॥ ५९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५५ ॥ ८७७७ ॥

अर्जुनके ऐसे वचन सुनकर भी जयद्रथ न लौटा। तब भीमसेनने कहा– रे मूर्ख ! ' खडा रह, खडा रह ', ऐसा कहके मारनेको वेगसे दौडे। तब दयावान् अर्जुनने कहा– कि इसको मत मारो ॥ ५९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ पचपनवां अध्याय समाप्त ॥ २५५ ॥ ८७७७ ॥

: २५६ :

वैशम्पायन उवाच

जयद्रथस्तु संप्रेक्ष्य भ्रातरावुद्यतायुधौ।
प्राद्रवत्तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुदुःखितः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! जब जयद्रथने देखा कि भीम और अर्जुन मेरे पीछे शस्त्र लिये चले आते हैं, तो वह दुःखी होकर प्राणको बचानेकी इच्छासे सावधान होकर तेजीसे भागने लगा ॥ १ ॥

तं भीमसेनो धावन्तमवतीर्य रथाद्बली।
अभिद्रुत्य निजग्राह केशपक्षेऽत्यमर्षणः ॥ २ ॥

तब बलवान् और क्रोधी भीमसेनने रथसे उतर कर दौडते हुए जयद्रथके बाल पकड लिये ॥२॥

समुद्यम्य च तं रोषान्निष्पिपेष महीतले।
गले गृहीत्वा राजानं ताडयामास चैव ह ॥ ३ ॥

और क्रोधमें आकर उठाकर उसे पृथ्वी पटक दिया और रगडने लगे और उस राजाका गला पकड कर उसे मारने लगे ॥ ३ ॥

पुनः संजीवमानस्य तस्योत्पतितुमिच्छतः।
पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद्विलपिष्यतः ॥ ४ ॥

फिर महाबाहु भीमने चैतन्यतामें आकर खडा होनेकी इच्छा करनेवाले तथा विलाप करते हुए जयद्रथके सिरपर लात मारी ॥ ४ ॥

तस्य जानुं ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना।
स मोहमगमद्राजा प्रहारवरपीडितः ॥ ५ ॥

फिर भीम उसके शरीरपर दोनों घुटने रखकर उसे मुक्कोंसे मारने लगे, उन प्रहारोंसे पीडित होकर वह जयद्रथ मूर्च्छित हो गया ॥ ५ ॥

विरोषं भीमसेनं तु वारयामास फल्गुनः।
दुःशलायाः कृते राजा यत्तदाहेति कौरव ॥ ६ ॥

तब दयावान् अर्जुनने क्रोधी भीमसेनको रोका, कि हे कौरव ! महाराजने आज्ञा दी है कि दुःशलाको विधवा न करना ॥ ६ ॥

भीमसेन उवाच

नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
द्रौपद्यास्तदनर्हायाः परिक्लेष्टा नराधमः ॥ ७ ॥

भीमसेन बोले– यह पापी दुराचारी मुझसे जीता बचनेके योग्य नहीं है । इस पुरुषाधमने दुःख न भोगनेके योग्य द्रौपदीको दुःख दिया है ॥ ७ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं यद्राजा सततं घृणी ।
त्वं च बालिशया बुद्ध्या सदैवास्मान्प्रबाधसे ॥ ८ ॥

परन्तु मैं क्या करूं ? राजा सभीके ऊपर कृपा कर देते हैं, और तुम भी मूर्खतासे हमारे सब कर्मोंमें बाधा देते रहते हो ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा सटास्तस्य पञ्च चक्रे वृकोदरः ।
अर्धचन्द्रेण बाणेन किंचिदब्रुवतस्तदा ॥ ९ ॥

इसप्रकार कहकर भीमसेनने अर्द्धचन्द्र बाणसे कुछ भी न बोलनेवाले जयद्रथके सिरके बाल मूंड दिये और उसके सिरपर पांच चोटियां रख दीं ॥ ९ ॥

विकल्पयित्वा राजानं ततः प्राह वृकोदरः ।
जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ॥ १० ॥

तब कटु वचनोंसे सिन्धुराजका तिरस्कार करके भीमने कहा– रे मूर्ख ! यदि तू अपने जीनेकी इच्छा करता है तो मैं जो कहता हूँ उसको सुन ॥ १० ॥

दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च ।
एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ॥ ११ ॥

तू सब पण्डितोंकी सभामें कह दे कि मैं पाण्डवोंका दास हूँ, तब तेरा जीवदान दिया जायेगा । युद्धमें जीते हुए शत्रुओंके साथ ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये ॥ ११ ॥

एवमस्त्विति तं राजा कृच्छ्रप्राणो जयद्रथः ।
प्रोवाच पुरुषव्याघ्रं भीममाहवशोभिनम् ॥ १२ ॥

ऐसा कहकर शत्रुनाशक पुरुषसिंह भीम उसको कष्ट देने लगे । तब राजा जयद्रथने कहा कि मैं चलकर महाराजके आगे ऐसा ही कह दूंगा ॥ १२ ॥

तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः ।
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ॥ १३ ॥

तब भीमसेनने धूलमें सने हुए, मूर्च्छित होकर छटपटाते हुए जयद्रथको बांध लिया और रथमें डाल दिया ॥ १३ ॥

ततस्तं रथमास्थाय भीमः पार्थानुगस्तदा ।
अभ्येत्याश्रममध्यस्थमभ्यगच्छद्युधिष्ठिरम् ॥ १४ ॥

उस राजा जयद्रथको रथपर चढाकर आगे आगे भीम चले और उनके पीछे अर्जुन । वे भीम आश्रममें पहुंचकर ब्राह्मणोंके बीचमें बैठे हुए युधिष्ठिरके पास पहुंचे ॥ १४ ॥

दर्शयामास भीमस्तु तदवस्थं जयद्रथम् ।
तं राजा प्राहसद्दृष्ट्वा मुच्यतामिति चाब्रवीत् ॥ १५ ॥

और जाकर बंधे हुए जयद्रथको आगे खडा कर दिया । तब महाराज जयद्रथको बंधा हुआ देखकर हंसे और अपने भाइयोंसे कहा कि इसे छोड दो ॥ १५ ॥

राजानं चाब्रवीद्भीमो द्रौपद्यै कथयेति वै ।
दासभावं गतो ह्येष पाण्डूनां पापचेतनः ॥ १६ ॥

फिर महाराजसे भीमसेन बोले, कि द्रौपदीसे यह कह दीजिए कि यह पापी पाण्डवोंका दास हो गया है ॥ १६ ॥

तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ।
मुञ्चैनमधमाचारं प्रमाणा यदि ते वयम् ॥ १७ ॥

भीमके बडे भाई धर्मराज भीमसे प्रेमपूर्वक यह वचन बोले कि यदि हमारी आज्ञा माननी हो तो इस अधर्माचारीको छोड दो ॥ १७ ॥

द्रौपदी चाब्रवीद्भीममभिप्रेक्ष्य युधिष्ठिरम् ।
दासोऽयं मुच्यतां राज्ञस्त्वया पञ्चसटः कृतः ॥ १८ ॥

द्रौपदीने युधिष्ठिरकी ओर देखकर भीमसेनसे कहा कि, यह महाराजका दास हो गया है और तुमने इसके सिरपर पांच शिखायें भी रख दी हैं । अब इसे छोड दो ॥ १८ ॥

स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य युधिष्ठिरम् ।
ववन्दे विह्वलो राजा तांश्च सर्वान्मुनींस्तदा ॥ १९ ॥

तब भीमसेनने राजा जयद्रथको छोड दिया । जयद्रथने छूटकर महाराज युधिष्ठिर और सब मुनियोंको प्रणाम किया तथा बहुत व्याकुल हो गया ॥ १९ ॥

तमुवाच घृणी राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
तथा जयद्रथं दृष्ट्वा गृहीतं सव्यसाचिना ॥ २० ॥

तब दयावान् धर्मराज युधिष्ठिरने अर्जुनके द्वारा पकडे हुए जयद्रथको देखकर जयद्रथसे कहा ॥ २० ॥

अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः पुनः क्वचित् ।
स्त्रीकामुक धिगस्तु त्वां क्षुद्रः क्षुद्रसहायवान् ।
एवंविधं हि कः कुर्यात्त्वदन्यः पुरुषाधमः ॥ २१ ॥

कि तुमको हम दास भावसे छुडा देते हैं, अब जहां तुम्हारी इच्छा हो वहां जाओ, परन्तु ऐसा कर्म फिर कभी न करना । तुम दूसरेकी स्त्रीकी इच्छा रखते हो, इसलिये तुम्हें धिक्कार है । तुम क्षुद्र हो और तुम्हारे सहायक भी क्षुद्र हैं। तुम्हारे सिवा कौन नीच पुरुष ऐसे कर्मोंको करेगा ? ॥ २१ ॥

गतसत्त्वमिव ज्ञात्वा कर्तारमशुभस्य तम् ।
संप्रेक्ष्य भरतश्रेष्ठः कृपां चक्रे नराधिपः ॥ २२ ॥

जब भरतश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिरने अशुभ कर्मोंको करनेवाले उस जयद्रथको निर्बलके समान बैठे हुए देखा, तो उसके ऊपर कृपा की और कहा ॥ २२ ॥

धर्मे ते वर्धतां बुद्धिर्मा चाधर्मे मनः कृथाः ।
साश्वः सरथपादातः स्वस्ति गच्छ जयद्रथ ॥ २३ ॥

हे जयद्रथ ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपने घोडे, रथ और पैदलोंके सहित चले जाओ । सदा धर्म करते रहना और अधर्ममें अपनी बुद्धिको कभी मत लगाना ॥ २३ ॥

एवमुक्तस्तु सव्रीडं तूष्णीं किंचिदवाङ्मुखः ।
जगाम राजा दुःखार्तो गङ्गाद्वाराय भारत ॥ २४ ॥

हे भारत ! राजाके ऐसे वचन सुनकर लज्जासे नीचे मुख करके राजा जयद्रथ दुःखसे व्याकुल होकर वहांसे गङ्गाद्वार तीर्थको गया ॥ २४ ॥

स देवं शरणं गत्वा विरूपाक्षमुमापतिम् ।
तपश्चचार विपुलं तस्य प्रीतो वृषध्वजः ॥ २५ ॥

और वहां जाकर वह विरूपाक्ष पार्वतीपतिकी शरणमें गया और घोर तप करने लगा । तब शिव उसके घोर तपसे प्रसन्न हुए ॥ २५ ॥

बलिं स्वयं प्रत्यगृह्णात्प्रीयमाणस्त्रिलोचनः ।
वरं चास्मै ददौ देवः स च जग्राह तच्छृणु ॥ २६ ॥

तदनन्तर प्रसन्न हुए त्रिनेत्र शिवने प्रकट होकर उसकी दी हुई बलिको ग्रहण किया, और उससे कहा कि जो तेरी इच्छा हो सो वरदान मांग । तब उस जयद्रथने जो मांगा, उसे सुनो ॥ २६ ॥

समस्तान्सरथान्पश्च जयेयं युधि पाण्डवान् ।
इति राजाब्रवीद्देवं नेति देवस्तमब्रवीत् ॥ २७ ॥

राजाने देवसे कहा कि मैं पांचों पाण्डवोंको रथके सहित युद्धमें जीतूं। तब शिवने कहा ऐसा नहीं हो सकता ॥ २७ ॥

अजय्यांश्चाप्यवध्यांश्च वारयिष्यसि तान्युधि ।
ऋतेऽर्जुनं महाबाहुं देवैरपि दुरासदम् ॥ २८ ॥

क्योंकि पाण्डव अजेय और अवध्य हैं; परन्तु तुम देवोंके द्वारा भी पराभूत न होनेवाले अर्जुनको छोडकर और सब पाण्डवोंको युद्धमें रोक सकोगे ॥ २८ ॥

यमाहुरजितं देवं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
प्रधानः सोऽस्त्रविदुषां तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥ २९ ॥

जिस शंख, चक्र और गदाको धारण करनेवाले देवको अजित कहते हैं, वह देव कृष्ण अस्त्र जाननेवाले पाण्डवोंमें प्रधान अर्जुनकी रक्षा करते हैं ॥ २९ ॥

एवमुक्तस्तु नृपतिः स्वमेव भवनं ययौ ।
पाण्डवाश्च वने तस्मिन्न्यवसन्काम्यके तदा ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५६ ॥ ८८०७ ॥

शिवके इस प्रकार कहनेपर जयद्रथ भी अपने घरको चला गया, और पाण्डव उसी काम्यक वनमें रहने लगे ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ छप्पनवां अध्याय समाप्त ॥ २५६ ॥ ८८०७ ॥

: २५७ :

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
अत ऊर्ध्वं नरव्याघ्राः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– इस प्रकार द्रौपदीहरणके पश्चात् अत्यन्त क्लेश सहकर इसके बाद पुरुषसिंह पाण्डवोंने क्या किया? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं कृष्णां मोक्षयित्वा विनिर्जित्य जयद्रथम् ।
आसांचक्रे मुनिगणैर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! इस प्रकार द्रौपदीको छुडाकर और जयद्रथको युद्धमें जीतकर धर्मराज युधिष्ठिर मुनियोंके साथ बैठे ॥ २ ॥

तेषां मध्ये महर्षीणां शृण्वतामनुशोचताम् ।
मार्कण्डेयमिदं वाक्यमब्रवीत्पाण्डुनन्दनः ॥ ३ ॥

उन पाण्डवों पर आई हुई विपत्तिको सुनकर शोक करनेवाले महाऋषियोंके बीचमें विराजमान मार्कण्डेय महर्षिसे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने यह वाक्य कहा ॥ ३ ॥

मन्ये कालश्च बलवान्दैवं च विधिनिर्मितम् ।
भवितव्यं च भूतानां यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४ ॥

यह मैं मानता हूँ कि समय बडा बलवान् है, भाग्य ब्रह्मा द्वारा बनाया गया है, प्राणियोंका भविष्य इन तीनके विरुद्ध नहीं जाया सकता ॥ ४ ॥

कथं हि पत्नीमस्माकं धर्मज्ञां धर्मचारिणीम् ।
संस्पृशेदीदृशो भावः शुचिं स्तैन्यमिवानृतम् ॥ ५ ॥

धर्मको जाननेवाली द्रौपदी हम धर्मका आचरण करनेवालोंकी स्त्री है, इसको भी ऐसे दुःख क्यों होते हैं ? ऐसी धर्मचारिणीको दुःख मिलना ऐसा ही है जैसे किसी पवित्र पुरुषपर चोरी अथवा झूठ बोलनेका दोष लगे ॥ ५ ॥

न हि पापं कृतं किंचित्कर्म वा निन्दितं क्वचित् ।
द्रौपद्या ब्राह्मणेष्वेव धर्मः सुचरितो महान् ॥ ६ ॥

द्रौपदीने कभी कोई पाप निंदित कर्म वा ब्राह्मणोंका निरादर नहीं किया है । सदा ब्राह्मणोंमें महान् धर्मका आचरण ही करती रही है ॥ ६ ॥

तां जहार बलाद्राजा मूढबुद्धिर्जयद्रथः ।
तस्याः संहरणात्प्राप्तः शिरसः केशवापनम् ।
पराजयं च संग्रामे ससहायः समाप्तवान् ॥ ७ ॥

उसको मूर्ख दुर्बुद्धि जयद्रथ जबर्दस्ती हर ले गया । द्रौपदीको हरकर ले जानेके कारण उस मूर्खके सिरके बाल मूंडे गये । वह दुष्ट युद्धमें अपने सहायकोंके सहित हार गया ॥ ७ ॥

प्रत्याहृता तथास्माभिर्हत्वा तत्सैन्धवं बलम् ।
तद्दारहरणं प्राप्तमस्माभिरवितर्कितम् ॥ ८ ॥

हम उसकी सेनाका नाश करके द्रौपदीको छुडा लाये । इस प्रकार हमने जिसके बारेमें सोचा भी नहीं था, वही यह स्त्रीहरण रूप संकट हमें भोगना पडा ॥ ८ ॥

दुःखश्चायं वने वासो मृगयायां च जीविका।
हिंसा च मृगजातीनां वनौकोभिर्वनौकसाम्।
ज्ञातिभिर्विप्रवासश्च मिथ्या व्यवसितैरयम् ॥ ९ ॥

इस वनमें निवास करना, आखेट खेलकर जीविका चलानी, हरिणोंकी हत्या करनी, और अन्यायके द्वारा जातिसे अलग रहना, इससे अधिक और दुःख क्या होगा ? ॥ ९ ॥

अस्ति नूनं मया कश्चिदल्पभाग्यतरो नरः।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा भवेत् ॥ १० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५७ ॥ ८८१७ ॥

क्या हमसे भी अधिक दुर्भाग्यशाली मनुष्य कोई है ? आपने हमारे समान मन्दभाग्य कोई पुरुष देखा या सुना है ? ॥ १० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ सत्तावनवां अध्याय समाप्त ॥ २५७ ॥ ८८१७ ॥

: २५८ :

मार्कण्डेय उवाच

प्राप्तमप्रतिमं दुःखं रामेण भरतर्षभ।
रक्षसा जानकी तस्य हृता भार्या बलीयसा ॥ १ ॥
आश्रमाद्राक्षसेन्द्रेण रावणेन विहायसा।
मायामास्थाय तरसा हत्वा गृध्रं जटायुषम् ॥ २ ॥

मार्कण्डेय बोले— हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! रामने भी अप्रतिम दुःख पाया था। राक्षसोंका राजा रावण आकाशमार्गसे रामके आश्रमपर आया और उस बलवान् राक्षसने मायाका रूप धारण करके और जटायु नाम गीधको मारकर रामकी पत्नीका हरण किया था ॥ १-२ ॥

प्रत्याजहार तां रामः सुग्रीवबलमाश्रितः।
बद्ध्वा सेतुं समुद्रस्य दग्ध्वा लङ्कां शितैः शरैः ॥ ३ ॥

तब रामने सुग्रीवकी सेनाकी सहायता लेकर समुद्रका सेतु बांधा, और तीक्ष्णबाणोंसे लङ्काको जलाकर राम सीताको छुडा लाये ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मिन्रामः कुले जातः किंवीर्यः किंपराक्रमः।
रावणः कस्य वा पुत्रः किं वैरं तस्य तेन ह ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर बोले— हे भगवन् ! राम किस कुलमें उत्पन्न हुए थे ? उनका बल और पराक्रम कैसा था ? रावण किसका पुत्र था ? और उन दोनोंका आपसमें वैर क्यों हो गया था ? ॥४॥

एतन्मे भगवन्सर्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि ।
श्रोतुमिच्छामि चरितं रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ५ ॥

श्रेष्ठ कर्म करनेवाले रामके सम्पूर्ण चरित्रको मैं आपसे सुनना चाहता हूँ । आप इस कथाको कहिये ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

अजो नामाभवद्राजा महानिक्ष्वाकुवंशजः ।
तस्य पुत्रो दशरथः शश्वत्स्वाध्यायवाञ्शुचिः ॥ ६ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे पृथ्वीनाथ ! इक्ष्वाकु वंशमें अज नामक महाराज उत्पन्न हुए थे। उनके पुत्रका नाम दशरथ था । दशरथ महाराज स्वाध्यायशील और पवित्र थे ॥ ६ ॥

अभवंस्तस्य चत्वारः पुत्रा धर्मार्थकोविदाः ।
रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना भरतश्च महाबलः ॥ ७ ॥

उनके चार पुत्र हुए, चारोंके नाम थे राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न। ये चारों धर्म और अर्थके जाननेवाले तथा महापराक्रमी थे ॥ ७ ॥

रामस्य माता कौसल्या कैकेयी भरतस्य तु ।
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रायाः परंतपौ ॥ ८ ॥

रामकी माताका नाम कौसल्या, भरतकी माताका नाम कैकेयी, तथा शत्रुनाशक लक्ष्मण और शत्रुघ्न सुमित्राके पुत्र थे ॥ ८ ॥

विदेहराजो जनकः सीता तस्यात्मजा विभो ।
यां चकार स्वयं त्वष्टा रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ ९ ॥

हे राजन् ! मिथिला देशके राजा जनक थे। सीता उनकी पुत्री थी । उसको साक्षात् ब्रह्माने बनाया था। यही सीता रामचन्द्रकी पटरानी थी ॥ ९ ॥

एतद्रामस्य ते जन्म सीतायाश्च प्रकीर्तितम् ।
रावणस्यापि ते जन्म व्याख्यास्यामि जनेश्वर ॥ १० ॥

मैंने राम और सीताका जन्म तुमसे कहा। अब, हे राजन् ! रावणका जन्म भी तुम्हें बताता हूँ ॥ १० ॥

पितामहो रावणस्य साक्षाद्देवः प्रजापतिः ।
स्वयंभूः सर्वलोकानां प्रभुः स्रष्टा महातपाः ॥ ११ ॥

रावणके दादा साक्षात् ब्रह्मा है । वे ही सब लोकोंकी सृष्टि करनेवाले महातपस्वी और स्वयं उत्पन्न होनेवाले हैं ॥ ११ ॥

पुलस्त्यो नाम तस्यासीन्मानसो दयितः सुतः।
तस्य वैश्रवणो नाम गवि पुत्रोऽभवत्प्रभुः ॥ १२ ॥

उनके प्रिय मानसिक पुत्रका नाम पुलस्त्य है। उन पुलस्त्यकी गऊ नामक स्त्रीके गर्भसे वैश्रवण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥

पितरं स समुत्सृज्य पितामहमुपस्थितः।
तस्य कोपात्पिता राजन्ससर्जात्मानमात्मना ॥ १३ ॥

वह वैश्रवण अपने पिताको छोडकर ब्रह्माके पास चला गया। हे राजन्! तब उनके पिताको बहुत क्रोध हुआ और उन्होंने अपने शरीरसे एक दूसरा पुत्र उत्पन्न किया ॥ १३ ॥

स जज्ञे विश्रवा नाम तस्यात्मार्धेन वै द्विजः।
प्रतीकाराय सक्रोधस्ततो वैश्रवणस्य वै ॥ १४ ॥

पुलस्यके शरीरके आधे भागसे वह विश्रवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह वैश्रवणसे बदला लेनेके लिए हमेशा गुस्सेमें भरा रहता था ॥ १४ ॥

पितामहस्तु प्रीतात्मा ददौ वैश्रवणस्य ह।
अमरत्वं धनेशत्वं लोकपालत्वमेव च ॥ १५ ॥

परन्तु ब्रह्माने पहिले ही प्रसन्न होकर वैश्रवणको अमरत्व और कुबेरका पद दे दिया था और लोकपाल भी बना दिया था ॥ १५ ॥

ईशानेन तथा सख्यं पुत्रं च नलकूबरम्।
राजधानीनिवेशं च लङ्कां रक्षोगणान्विताम् ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५८ ॥ ८८३२ ॥

तब शिवके साथ उनकी मित्रता हो गई और उनके नलकूबर नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। तब ब्रह्माने राक्षसोंके समेत लङ्काको कुबेरकी राजधानी बनाया ॥ १६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ अट्ठावनवां अध्याय समाप्त ॥ २५८ ॥ ८८३२ ॥

: २५९ :

मार्कण्डेय उवाच

पुलस्त्यस्य तु यः क्रोधादर्धदेहोऽभवन्मुनिः।
विश्रवा नाम सक्रोधः स वैश्रवणमैक्षत ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे महाराज युधिष्ठिर! क्रोधयुक्त पुलस्त्य मुनिके आधे शरीरसे जो विश्रवा नामक मुनि उत्पन्न हुए थे, उन्होंने क्रोधसे कुबेरकी ओर देखा ॥ १ ॥

बुबुधे तं तु सक्रोधं पितरं राक्षसेश्वरः ।
कुबेरस्तत्प्रसादार्थं यतते स्म सदा नृप ॥ २ ॥

जब कुबेरने यह जाना कि, मेरे पिता मेरे ऊपर क्रुद्ध हैं; तब, हे राजन् ! वे अपने पिताको प्रसन्न करनेकी कोशिश करने लगे ॥ २ ॥

स राजराजो लङ्कायां निवसन्नरवाहनः ।
राक्षसीः प्रददौ तिस्रः पितुर्वै परिचारिकाः ॥ ३ ॥

नरवाहन राक्षसनाथ कुबेर बहुत दिनतक लङ्कामें राज्य करते रहे । फिर उन्होंने अपने पिता विश्रवाकी सेवाके लिए पुष्पोत्कटा, राका और मालिनी नामक तीन राक्षसियां नियुक्त कीं ॥ ३ ॥

तास्तदा तं महात्मानं संतोषयितुमुद्यताः ।
ऋषिं भरतशार्दूल नृत्तगीतविशारदाः ॥ ४ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! नृत्य और गीतमें प्रवीण वे तीनों दासियां महात्मा विश्रवाको प्रसन्न करनेका उपाय करने लगीं ॥ ४ ॥

पुष्पोत्कटा च राका च मालिनी च विशां पते ।
अन्योन्यस्पर्धया राजञ्श्रेयस्कामाः सुमध्यमाः ॥ ५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! पुष्पोत्कटा, राका और मालिनी सुन्दरियां परस्पर स्पर्धापूर्वक अपना अपना कल्याण चाहती थीं ॥ ५ ॥

तासां स भगवांस्तुष्टो महात्मा प्रददौ वरान् ।
लोकपालोपमान्पुत्रानेकैकस्या यथेप्सितान् ॥ ६ ॥

तब भगवान् विश्रवाने उनसे प्रसन्न होकर तीनोंको वरदान दिया कि तुम्हारे प्रत्येकके पुत्र होगा । ये तीनों पुत्र तुम्हारी इच्छाके अनुसार लोकपालोंके समान होंगे ॥ ६ ॥

पुष्पोत्कटायां जज्ञाते द्वौ पुत्रौ राक्षसेश्वरौ ।
कुम्भकर्णदशग्रीवौ बलेनाप्रतिमौ भुवि ॥ ७ ॥

तब पुष्पोत्कटाके दो पुत्र हुए, एकका नाम कुम्भकर्ण और दूसरेका नाम रावण था; ये दोनों राक्षसोंके राजा संसारमें अद्वितीय बलशाली थे ॥ ७ ॥

मालिनी जनयामास पुत्रमेकं विभीषणम् ।
राकायां मिथुनं जज्ञे खरः शूर्पणखा तथा ॥ ८ ॥

मालिनीके विभीषण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । राकाकी खर और शूर्पणखा नामक दो सन्ततियां हुईं ॥ ८ ॥

विभीषणस्तु रूपेण सर्वेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत् ।
स बभूव महाभागो धर्मगोप्ता क्रियारतिः ॥ ९ ॥

इन सबमें विभीषण रूपमें सबसे बढकर हुआ। वह सुन्दर, क्रियावान् और धार्मिक हुआ ॥९॥

दशग्रीवस्तु सर्वेषां ज्येष्ठो राक्षसपुंगवः ।
महोत्साहो महावीर्यो महासत्त्वपराक्रमः ॥ १० ॥

रावण भाइयोंमें सबसे बडा था; इसलिये वही राजा हुआ। यह दशमुख रावण महापराक्रमी, महाबली और महा उत्साही था ॥ १० ॥

कुम्भकर्णो बलेनासीत्सर्वेभ्योऽभ्यधिकस्तदा ।
मायावी रणशौण्डश्च रौद्रश्च रजनीचरः ॥ ११ ॥

राक्षस कुम्भकर्ण सब भाइयोंमें अधिक बलवान्, मायावी, युद्धमें वीर और रौद्र था ॥११॥

खरो धनुषि विक्रान्तो ब्रह्मद्विट् पिशिताशनः ।
सिद्धविघ्नकरी चापि रौद्रा शूर्पणखा तथा ॥ १२ ॥

खर धनुर्विद्यामें पराक्रमी, ब्राह्मणोंका शत्रु और मांस खानेवाला था। शूर्पणखा सिद्धोंके कार्यमें विघ्न करनेवाली और दुष्टा थी ॥ १२ ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
ऊषुः पित्रा सह रता गन्धमादनपर्वते ॥ १३ ॥

ये चारों भाई वेदके पण्डित, व्रतधारी और वीर थे। ये सब अपने पिताके साथ गन्धमादन पर्वतपर रहने लगे ॥ १३ ॥

ततो वैश्रवणं तत्र ददृशुर्नरवाहनम् ।
पित्रा सार्धं समासीनमृद्ध्या परमया युतम् ॥ १४ ॥

एक दिन उन्होंने अपने पिताके साथ बैठे हुए परम ऋद्धिसे युक्त नरवाहन कुबेरको देखा ॥ १४ ॥

जातस्पर्धास्ततस्ते तु तपसे धृतनिश्चयाः ।
ब्रह्माणं तोषयामासुर्घोरेण तपसा तदा ॥ १५ ॥

और तब वे सब कुबेरसे स्पर्धा करने लगे और उन्होंने तप करनेका निश्चय किया। तदनन्तर इन चारोंने घोर तपसे ब्रह्माको प्रसन्न किया ॥ १५ ॥

अतिष्ठदेकपादेन सहस्रं परिवत्सरान् ।
वायुभक्षो दशग्रीवः पञ्चाग्निः सुसमाहितः ॥ १६ ॥

रावण एक सहस्र वर्षतक वायु भक्षण करके एक चरणसे खडा रहा और सावधान होकर पांच अग्नि तापने लगा ॥ १६ ॥

अधःशायी कुम्भकर्णो यताहारो यतव्रतः ।
विभीषणः शीर्णपर्णमेकमभ्यवहारयत्　　　　॥ १७ ॥

कुम्भकर्ण आहारका संयम करके पृथ्वीपर सोकर व्रत करने लगा । विभीषण एक सूखा पत्ता खाकर तप करने लगा ॥ १७ ॥

उपवासरतिर्धीमान्सदा जप्यपरायणः ।
तमेव कालमातिष्ठत्तीव्रं तप उदारधीः　　　　॥ १८ ॥

विभीषण भी उपवासमें श्रद्धा रखता था । वह बुद्धिमान् तथा सदा जपमें मग्न रहता था । उस उदार बुद्धिवाले विभीषणने भी उतने ही समयतक तप किया ॥ १८ ॥

खरः शूर्पणखा चैव तेषां वै तप्यतां तपः ।
परिचर्यां च रक्षां च चक्रतुर्हृष्टमानसौ　　　　॥ १९ ॥

खर और शूर्पणखा प्रसन्न होकर तप करनेवाले उन सब राक्षसोंकी सेवा और रक्षा करते रहे ॥ १९ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्छित्त्वा दशाननः ।
जुहोत्यग्नौ दुराधर्षस्तेनातुष्यज्जगत्प्रभुः　　　　॥ २० ॥

एक हजार वर्षके पश्चात् निर्भीक रावणने अपना सिर काटकर अग्निमें जला दिया, तब जगत्के स्वामी ब्रह्मा प्रसन्न हो गये ॥ २० ॥

ततो ब्रह्मा स्वयं गत्वा तपसस्तान्न्यवारयत् ।
प्रलोभ्य वरदानेन सर्वानेव पृथक् पृथक्　　　　॥ २१ ॥

तब ब्रह्मा स्वयं उनके पास गए और उन सबको पृथक् पृथक् रूपसे वरदानका लोभ देकर उन्हें तप करनेसे रोका ॥ २१ ॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्मि वो निवर्तध्वं वरान्वृणुत पुत्रकाः ।
यद्यदिष्टमृते त्वेकममरत्वं तथास्तु तत्　　　　॥ २२ ॥

ब्रह्मा बोले– हे पुत्रो ! मैं तुम लोगोंसे प्रसन्न हूँ अब तपस्यासे निवृत्त हो जाओ । केवल अमरताको छोडकर जो जो तुम्हें इष्ट हो उन वरोंको मांग लो, वह वर तुम्हें मिल सकेगा ॥२२॥

यद्यदग्नौ हुतं सर्वं शिरस्ते महदीप्सया ।
तथैव तानि ते देहे भविष्यन्ति यथेप्सितम्　　　　॥ २३ ॥

महानता प्राप्तिकी इच्छासे जितने सिर तुमने अग्निमें होम किये हैं उतने ही सिर तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हारे देहमें उत्पन्न हो जायेंगे ॥ २३ ॥

वैरूप्यं च न ते देहे कामरूपधरस्तथा।
भविष्यसि रणेऽरीणां विजेतासि न संशयः ॥ २४ ॥
तुम्हारा शरीर कुरूप नहीं होगा। तुम इच्छानुसार रूप धारण कर सकोगे और युद्धमें सब शत्रुओंको जीतोगे इसमें कोई संशय नहीं है ॥ २४ ॥

रावण उवाच

गन्धर्वदेवासुरतो यक्षराक्षसतस्तथा।
सर्पकिंनरभूतेभ्यो न मे भूयात्पराभवः ॥ २५ ॥
रावण बोला– गन्धर्व, देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, सर्प, किन्नर तथा अन्य प्राणियोंसे मेरी मृत्यु न हो ॥ २५ ॥

ब्रह्मोवाच

य एते कीर्तिताः सर्वे न तेभ्योऽस्ति भयं तव।
ऋते मनुष्याद्भद्रं ते तथा तद्विहितं मया ॥ २६ ॥
ब्रह्मा बोले– हे रावण! तुम्हारा कल्याण हो। तुमने जिन सब लोगोंका नाम लिया उनसे मृत्यु नहीं है। तुमको मनुष्यके सिवा और कोई नहीं मार सकेगा। मनुष्यके द्वारा तुम्हारी मृत्यु मैंने पहलेसे ही निश्चित कर रखी थी ॥ २६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तो दशग्रीवस्तुष्टः समभवत्तदा।
अवमेने हि दुर्बुद्धिर्मनुष्यान्पुरुषादकः ॥ २७ ॥
मार्कण्डेय बोले– ब्रह्माके ये वचन सुनकर रावण बहुत प्रसन्न हुआ। वह मनुष्यभक्षी दुष्ट बुद्धिवाला रावण मनुष्योंको तृणवत् समझता था ॥ २७ ॥

कुम्भकर्णमथोवाच तथैव प्रपितामहः।
स वव्रे महतीं निद्रां तमसा ग्रस्तचेतनः ॥ २८ ॥
तब तमोगुणसे चित्त व्याप्त होनेके कारण कुम्भकर्णने ब्रह्मासे दीर्घ निद्राका वरदान मांगा ॥२८॥

तथा भविष्यतीत्युक्त्वा विभीषणमुवाच ह।
वरं वृणीष्व पुत्र त्वं प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ॥ २९ ॥
उसको वही वरदान देकर ब्रह्मा विभीषणसे बार बार बोले– हे पुत्र! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ अब जो तुम्हारी इच्छा हो, सो वरदान मांगो ॥ २९ ॥

विभीषण उवाच

परमापद्गतस्यापि नाधर्मे मे मतिर्भवेत् ।
अशिक्षितं च भगवन्ब्रह्मास्त्रं प्रतिभातु मे ॥ ३० ॥

विभीषण बोला– हे भगवन् ! मैं यह वरदान मांगता हूं कि अत्यन्त आपत्ति पडनेपर भी मेरी बुद्धि अधर्ममें न जाये और मुझको विना पढे ही ब्रह्मास्त्र प्राप्त हो जाये ॥ ३० ॥

ब्रह्मोवाच

यस्माद्राक्षसयोनौ ते जातस्यामित्रकर्शन ।
नाधर्मे रमते बुद्धिरमरत्वं ददानि ते ॥ ३१ ॥

ब्रह्मा बोले– हे शत्रुनाशक ! राक्षस योनिमें उत्पन्न होकर भी तुम्हारी बुद्धि अधर्ममें नहीं रहती, इसलिए मैं तुमको अमरत्व प्रदान करता हूं ॥ ३१ ॥

मार्कण्डेय उवाच

राक्षसस्तु वरं लब्ध्वा दशग्रीवो विशां पते ।
लङ्कायाश्च्यावयामास युधि जित्वा धनेश्वरम् ॥ ३२ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे पृथ्वीनाथ ! राक्षस रावणने इस प्रकार ब्रह्मासे वरदान पाकर युद्धमें धनेश्वर कुबेरको जीतकर उसे लङ्कासे भ्रष्ट कर दिया ॥ ३२ ॥

हित्वा स भगवाँल्लङ्कामाविशद्गन्धमादनम् ।
गन्धर्वयक्षानुगतो रक्षःकिंपुरुषैः सह ॥ ३३ ॥

भगवान् कुबेर लङ्काको छोडकर गन्धर्व यक्ष और राक्षस और किन्नरोंके सहित गन्धमादनपर जाकर रहने लगे ॥ ३३ ॥

विमानं पुष्पकं तस्य जहाराक्रम्य रावणः ।
शशाप तं वैश्रवणो न त्वामेतद्वहिष्यति ॥ ३४ ॥

तब रावणने कुबेरपर आक्रमण करके उनसे पुष्पक विमान छीन लिया; तब कुबेरने रावणको शाप दिया कि यह विमान तुझको नहीं ले जायेगा ॥ ३४ ॥

यस्तु त्वां समरे हन्ता तमेवैतद्वहिष्यति ।
अवमन्य गुरुं मां च क्षिप्रं त्वं न भविष्यसि ॥ ३५ ॥

जो युद्धमें तुझे मारनेवाला होगा, उसे ही यह ले जाएगा । मैं तुझसे बडा हूँ, फिर भी तूने मेरा अपमान किया है, इसलिये तू बहुत दिन नहीं जीयेगा ॥ ३५ ॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा सतां धर्ममनुस्मरन् ।
अन्वगच्छन्महाराज श्रिया परमया युतः ॥ ३६ ॥

हे महाराज ! महात्मा विभीषण धर्मात्माओंके धर्मका स्मरण करके परम लक्ष्मीके सहित कुवेरके साथ घूमते रहे ॥ ३६ ॥

तस्मै स भगवांस्तुष्टो भ्राता भ्रात्रे धनेश्वरः ।
सैनापत्यं ददौ धीमान्यक्षराक्षससेनयोः ॥ ३७ ॥

तब उसके भाई भगवान् और बुद्धिमान् कुवेरने प्रसन्न होकर विभीषणको यक्ष और राक्षसोंकी सेनाका सेनापति बना दिया ॥ ३७ ॥

राक्षसाः पुरुषादाश्च पिशाचाश्च महाबलाः ।
सर्वे समेत्य राजानमभ्यषिञ्चन्दशाननम् ॥ ३८ ॥

उसी समय मनुष्यभक्षी राक्षस महाबलवान् पिशाच इन सबने मिलकर रावणका राजाके पदपर अभिषेक किया ॥ ३८ ॥

दशग्रीवस्तु दैत्यानां देवानां च बलोत्कटः ।
आक्रम्य रत्नान्यहरत्कामरूपी विहङ्गमः ॥ ३९ ॥

तब इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, आकाशमें उडनेवाले बलशाली रावणने देवता और दानवोंसे युद्ध करके उनके रत्नोंको छीन लिया ॥ ३९ ॥

रावयामास लोकान्यत्तस्माद्रावण उच्यते ।
दशग्रीवः कामबलो देवानां भयमादधत् ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५९ ॥ ८८७३ ॥

उसने सब लोकोंको रुलाया, इसीलिये उसका नाम रावण हुआ । इच्छानुसार बलको धारण करके रावणने देवताओंको भयभीत कर दिया ॥ ४० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ उनसठवां अध्याय समाप्त ॥ २५९ ॥ ८८७३ ॥

: २६० :

मार्कण्डेय उवाच

ततो ब्रह्मर्षयः सिद्धा देवराजर्षयस्तथा ।
हव्यवाहं पुरस्कृत्य ब्रह्माणं शरणं गताः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे महाराज युधिष्ठिर ! तब एकदिन ब्रह्मऋषि, सिद्ध, देव तथा राजर्षि अग्निको आगे करके ब्रह्माकी शरणमें गये ॥ १ ॥

अग्निरुवाच

यः स विश्रवसः पुत्रो दशग्रीवो महाबलः ।
अवध्यो वरदानेन कृतो भगवता पुरा ॥ २ ॥

अग्नि बोले– हे भगवन् ! आपने पहले विश्रवाके पुत्र महाबलवान् रावणको वरदान देकर अवध्य कर दिया है ॥ २ ॥

स बाधते प्रजाः सर्वा विप्रकारैर्महाबलः ।
ततो नस्त्रातु भगवन्नान्यस्त्राता हि विद्यते ॥ ३ ॥

वह महाबलवान् रावण सब जगत्‌की प्रजाओंको अनेक प्रकारसे सता रहा है, इसलिये आप हमारी रक्षा कीजिये । आपके सिवा और कोई रक्षा नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

ब्रह्मोवाच

न स देवासुरैः शक्यो युद्धे जेतुं विभावसो ।
विहितं तत्र यत्कार्यमभितस्तस्य निग्रहे ॥ ४ ॥

ब्रह्मा बोले– हे अग्ने ! वह युद्धमें देवों और असुरोंके द्वारा भी नहीं जीता जा सकता । पर उस दुष्टका सब प्रकारसे दमन करनेके लिए जो कार्य आवश्यक है, उसका विधान मैंने कर दिया है ॥ ४ ॥

तदर्थमवतीर्णोऽसौ मन्नियोगाच्चतुर्भुजः ।
विष्णुः प्रहरतां श्रेष्ठः स कर्मैतत्करिष्यति ॥ ५ ॥

इसीलिये भगवान् विष्णुने मेरी प्रार्थनासे जगत्‌में अवतार लिया है । शस्त्र चलानेवालोंमें श्रेष्ठ विष्णु ही इस कामको सिद्ध कर सकते हैं ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

पितामहस्ततस्तेषां संनिधौ वाक्यमब्रवीत् ।
सर्वैर्देवगणैः सार्धं संभवध्वं महीतले ॥ ६ ॥

मार्कण्डेय बोले– तदनन्तर ब्रह्माने सब देवताओंके सामने इन्द्रसे कहा कि तुम लोग विष्णुकी सहायताके लिए पृथ्वीपर अवतार लो ॥ ६ ॥

विष्णोः सहायानृक्षीषु वानरीषु च सर्वशः ।
जनयध्वं सुतान्वीरान्कामरूपबलान्वितान् ॥ ७ ॥

तुम सब रीछोंकी और वानरोंकी स्त्रियोंमें विष्णुकी सहायता करनेके लिए इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, बलशाली और वीर पुत्रोंको उत्पन्न करो ॥ ७ ॥

ततो भागानुभागेन देवगन्धर्वदानवाः ।
अवतर्तुं महीं सर्वे रञ्जयामासुरञ्जसा ॥ ८ ॥

ब्रह्माके ऐसे वचन सुनकर देवता दानव और गन्धर्व अपने अंशोंसे पृथ्वीपर अवतार लेनेके विषयमें अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगे ॥ ८ ॥

तेषां समक्षं गन्धर्वीं दुन्दुभीं नाम नामतः ।
शशास वरदो देवो देवकार्यार्थसिद्धये ॥ ९ ॥

उन्हीं देवादियोंके सामने वरदेनेवाले देव ब्रह्माने देवोंके कार्यकी सिद्धिके लिए दुन्दुभी नामक एक गन्धर्वीको आज्ञा दी ॥ ९ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा गन्धर्वी दुन्दुभी ततः ।
मन्थरा मानुषे लोके कुब्जा समभवत्तदा ॥ १० ॥

पितामह ब्रह्माके वचनको सुनकर दुन्दुभी नामक गन्धर्वीने पृथ्वीमें अवतार लिया और उसका नाम मन्थरा हुआ । वह कुबडी थी ॥ १० ॥

शक्रप्रभृतयश्चैव सर्वे ते सुरसत्तमाः ।
वानरर्क्षवरस्त्रीषु जनयामासुरात्मजान् ।
तेऽन्ववर्तन्पितॄन्सर्वे यशसा च बलेन च ॥ ११ ॥

इन्द्रादि देवोंमें श्रेष्ठ उन सबने उत्तम उत्तम वानरोंकी स्त्रियोंके गर्भसे पुत्र उत्पन्न किये । इसी प्रकार रीछोंकी स्त्रियोंके गर्भसे भी पुत्र उत्पन्न हुए । वे सब लोग बल और यशमें अपने अपने पिताओंके समान थे ॥ ११ ॥

भेत्तारो गिरिशृङ्गाणां शालतालशिलायुधाः ।
वज्रसंहननाः सर्वे सर्वे चौघबलास्तथा ॥ १२ ॥

वे सब पर्वतोंके शिखरोंको तोड सकते थे। शाल, ताड आदि वृक्ष तथा पत्थर ही उनके शस्त्र थे; सब वज्रके समान थे। वे सभी अत्यन्त बलशाली थे ॥ १२ ॥

कामवीर्यधराश्चैव सर्वे युद्धविशारदाः ।
नागायुतसमप्राणा वायुवेगसमा जवे ।
यत्रेच्छकनिवासाश्च केचिदत्र वनौकसः ॥ १३ ॥

वे लोग इच्छानुसार शरीर और बलको धारण कर सकते थे । सब लोग युद्धविद्याके पण्डित थे । सहस्र हाथियोंके समान बलवान्, वायुके समान तेज चलनेवाले और इच्छानुसार निवास करनेवाले तथा कोई वनमें रहनेवाले थे ॥ १३ ॥

एवं विधाय तत्सर्वं भगवाँल्लोकभावनः ।
मन्थरां बोधयामास यद्यत्कार्यं यथा यथा ॥ १४ ॥

लोकहितकारी भगवान् ब्रह्माने यह सब प्रबन्ध करके मन्थराको जो जो काम जिस जिस तरह करना था, वह सब बता दिया ॥ १४ ॥

सा तद्वचनमाज्ञाय तथा चक्रे मनोजवा ।
इतश्चेतश्च गच्छन्ती वैरसंधुक्षणे रता ॥ १५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६० ॥ ८८८८ ॥

मनके समान वेगवाली मन्थरा ब्रह्माके वचनको स्वीकार करके इधर उधर घूमने लगी और वैर करानेके लिये समय खोजने लगी ॥ १५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ साठवां अध्याय समाप्त ॥ २६० ॥ ८८८८ ॥

: २६१ :

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं भगवता जन्म रामादीनां पृथक् पृथक् ।
प्रस्थानकारणं ब्रह्मञ्श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे भगवन् ! आपने राम आदिका जन्म अलग अलग रूपसे कह दिया । अब उनके वन जानेका कारण सुनना चाहता हूं, उसे कहिए ॥ १ ॥

कथं दाशरथी वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
प्रस्थापितौ वनं ब्रह्मन्मैथिली च यशस्विनी ॥ २ ॥

हे ब्रह्मन् ! दशरथके पुत्र वीर राम और लक्ष्मण ये दोनों भाई यशस्विनी सीताको साथमें लेकर वनको क्यों गये थे ? ॥ २ ॥

मार्कण्डेय उवाच

जातपुत्रो दशरथः प्रीतिमानभवन्नृपः ।
क्रियारतिर्धर्मपरः सततं वृद्धसेविता ॥ ३ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे नरनाथ ! जब महाराज दशरथके चार पुत्र उत्पन्न हो गये, तब कर्म क्रिया और बूढोंकी सेवा करनेवाले दशरथ बहुत प्रसन्न हो गए ॥ ३ ॥

क्रमेण चास्य ते पुत्रा व्यवर्धन्त महौजसः ।
वेदेषु सरहस्येषु धनुर्वेदे च पारगाः ॥ ४ ॥

महाराजके चार पुत्र महा तेजस्वी वेद और वेदाङ्गोंके जाननेवाले धनुर्वेदके पारगामी होकर क्रमसे वढने लगे ॥ ४ ॥

चरितब्रह्मचर्यास्ते कृतदाराश्च पार्थिव ।
यदा तदा दशरथः प्रीतिमानभवत्सुखी ॥ ५ ॥

उन चारोंने ब्रह्मचर्य व्रतका पालन किया । तदनन्तर महाराजने चारों पुत्रोंका विवाह कर दिया । उस समय महाराज दशरथ वहुत प्रसन्न हुए ॥ ५ ॥

ज्येष्ठो रामोऽभवत्तेषां रमयामास हि प्रजाः ।
मनोहरतया धीमान्पितुर्हृदयतोषणः ॥ ६ ॥

उन चारों भाइयोंमें बडेका नाम राम था । उनसे प्रजा वहुत प्रसन्न रहती थी । बुद्धिमान् राम वहुत श्रेष्ठ थे और वे पिताका हृदय प्रसन्न करनेवाले थे ॥ ६ ॥

ततः स राजा मतिमान्मत्वात्मानं वयोधिकम् ।
मन्त्रयामास सचिवैर्धर्मज्ञैश्च पुरोहितैः ॥ ७ ॥
अभिषेकाय रामस्य यौवराज्येन भारत ।
प्राप्तकालं च ते सर्वे मेनिरे मन्त्रिसत्तमाः ॥ ८ ॥

हे भारत ! जव बुद्धिमान् दशरथने देखा कि मैं वृद्ध हो गया हूं, तव धर्मको जाननेवाले मन्त्री और पुरोहितोंको बुलाकर युवराजके पदपर रामका अभिषेक करनेके वारेमें उनकी सलाह ली । मन्त्रियोंने भी उचित समय जानकर दशरथके प्रस्तावपर अपनी स्वीकृति दे दी ॥७-८॥

लोहिताक्षं महाबाहुं मत्तमातङ्गगामिनम् ।
दीर्घबाहुं महोरस्कं नीलकुञ्चितमूर्धजम् ॥ ९ ॥

हे कुरुनन्दन ! महाराज दशरथ अपने पुत्र रामको देखकर वहुत प्रसन्न होते थे । वे राम लाल नेत्रवाले, महावाहु, मतवाले हाथीके समान चालवाले, लम्वी वाहोंवाले, ऊंचे कन्धे और काले तथा घुंघराले वालोंवाले थे ॥ ९ ॥

दीप्यमानं श्रिया वीरं शक्रादनवमं बले ।
पारगं सर्वधर्माणां बृहस्पतिसमं मतौ ॥ १० ॥

वे महातेजस्वी, वीर, वलमें इन्द्रके समान, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान्, सव धर्मोंके जाननेवाले ॥ १० ॥

सर्वानुरक्तप्रकृतिं सर्वविद्याविशारदम् ।
जितेन्द्रियममित्राणामपि दृष्टिमनोहरम् ॥ ११ ॥

सब विद्याओंमें पण्डित, सब प्रजाओंके प्यारे, जितेन्द्रिय, शत्रुओंकी भी दृष्टियों और मनोंको हरनेवाले ॥ ११ ॥

नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम् ।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ १२ ॥

दुष्टोंको दण्ड देनेवाले, धर्मात्माओंके रक्षक, धैर्यवान्, स्वयं अजेय होकर शत्रुओंको जीतनेवाले तथा कभी भी पराजित न होनेवाले थे ॥ १२ ॥

पुत्रं राजा दशरथः कौसल्यानन्दवर्धनम् ।
संदृश्य परमां प्रीतिमगच्छत्कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

ऐसे कौसल्याके आनन्दको बढानेवाले अपने पुत्रको देखकर राजा दशरथ बहुत प्रसन्न होते थे ॥ १३ ॥

चिन्तयंश्च महातेजा गुणान्रामस्य वीर्यवान् ।
अभ्यभाषत भद्रं ते प्रीयमाणः पुरोहितम् ॥ १४ ॥

हे युधिष्ठिर ! आपका कल्याण हो। महातेजस्वी बलवान् दशरथ रामके गुणोंको विचारकर प्रसन्न होकर अपने पुरोहितसे बोले ॥ १४ ॥

अद्य पुष्यो निशि ब्रह्मन्पुण्यं योगमुपैष्यति ।
संभाराः संभ्रियन्तां मे रामश्चोपनिमन्त्र्यताम् ॥ १५ ॥

हे ब्रह्मन् ! आज सायंकाल पुष्य नक्षत्र आवेगा, यह पवित्र अवसर है। सब सामग्री इकट्ठी कीजिए और रामको निमन्त्रण दे दीजिए ॥ १५ ॥

इति तद्राजवचनं प्रतिश्रुत्याथ मन्थरा ।
कैकेयीमभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

महाराजकी ऐसी आज्ञाको सुनकर मन्थरा कैकेयीके पास गई, और अच्छा समय जानकर यह वचन कहने लगी ॥ १६ ॥

अद्य कैकेयि दौर्भाग्यं राज्ञा ते ख्यापितं महत् ।
आशीविषस्त्वां संक्रुद्धश्चण्डो दशति दुर्भगे ॥ १७ ॥

हे कैकेयी ! आज राजाने तुम्हारे लिए एक महान् दुर्भाग्यकी सूचना दी है। हे दुर्भागिनी ! तुमको घोर और क्रुद्ध हुआ हुआ सर्प डसनेवाला है ॥ १७ ॥

सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते।
कुतो हि तव सौभाग्यं यस्याः पुत्रो न राज्यभाक् ॥ १८ ॥

कौसल्या बडी भाग्यवती है, जिसका पुत्र प्रातःकाल राजा होगा। जिसका पुत्र राज्यका अधिकारी नहीं बन सका, ऐसा तुम्हारा सौभाग्य कहां ? ॥ १८ ॥

सा तद्वचनमाज्ञाय सर्वाभरणभूषिता।
वेदीविलग्नमध्येव बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ १९ ॥
विविक्ते पतिमासाद्य हसन्तीव शुचिस्मिता।
प्रणयं व्यञ्जयन्तीव मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

मन्थराके ऐसे वचन सुनकर वेदीके समान कृश कमरवाली वह कैकेयी सब आभूषण पहिनकर और अत्यन्त सुन्दर रूप धारण करके राजाको एकान्तमें बुलाकर हंसती हुई वह सुन्दर मुस्कराहटोंवाली कैकेयी मानों अपने प्रेमको प्रकट करती हुई मीठे वचनसे बोली ॥१९-२०॥

सत्यप्रतिज्ञ यन्मे त्वं काममेकं निसृष्टवान्।
उपाकुरुष्व तद्राजंस्तस्मान्मुच्यस्व संकटात् ॥ २१ ॥

हे सत्यप्रतिज्ञ महाराज! तुमने जो वरदान दिया था उनको आज पूर्ण करके उस संकटसे मुक्त होना आपको योग्य है ॥ २१ ॥

राजोवाच

वरं ददानि ते हन्त तद्गृहाण यदिच्छसि।
अवध्यो वध्यतां कोऽद्य वध्यः कोऽद्य विमुच्यताम् ॥ २२ ॥

महाराज बोले— हे कल्याणि! जो तुम्हारी इच्छा हो सो वरदान मांगो, मैं तुम्हें दूंगा। तुम्हारे कहनेसे न मारने योग्य भी पुरुष मारा जायेगा और मारने योग्य भी छोड दिया जायेगा ॥ २२ ॥

धनं ददानि कस्याद्य ह्रियतां कस्य वा पुनः।
ब्राह्मणस्वादिहान्यत्र यत्किंचिद्वित्तमस्ति मे ॥ २३ ॥

कहो, कौनसे निर्धनको धनी कर दूं और कौनसे धनीको निर्धन कर दूं। ब्राह्मणोंके धनको छोडकर और जो कुछ मेरे पास है, सो सब तुम्हारे कहनेसे दान कर सकता हूं ॥ २३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सा तद्वचनमाज्ञाय परिगृह्य नराधिपम्।
आत्मनो बलमाज्ञाय तत एनमुवाच ह ॥ २४ ॥

मार्कण्डेय बोले— राजाके ऐसे वचन सुनकर और उसे हर तरहसे वचनबद्ध करके अपनेको प्रबल जानकर कैकेयी इस राजासे बोली ॥ २४ ॥

आभिषेचनिकं यत्ते रामार्थमुपकल्पितम् ।
भरतस्तदवाप्नोतु वनं गच्छतु राघवः ॥ २५ ॥

आपने जो रामके अभिषेकके लिये सामग्री इकट्ठी की है, उससे भरतका अभिषेक हो और राम वनको जायें ॥ २५ ॥

स तद्राजा वचः श्रुत्वा विप्रियं दारुणोदयम् ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठ न किंचिद्व्याजहार ह ॥ २६ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! राजा कैकेयीके ऐसे कठोर और अप्रिय वचन सुनकर दुःखसे व्याकुल हो गया और कुछ न बोला ॥ २६ ॥

ततस्तथोक्तं पितरं रामो विज्ञाय वीर्यवान् ।
वनं प्रतस्थे धर्मात्मा राजा सत्यो भवत्विति ॥ २७ ॥

जब धर्मात्मा बलवान् रामने इस समाचारको सुना तो वे 'महाराजकी प्रतिज्ञा सत्य हो' ऐसा कहकर वनको चले गये ॥ २७ ॥

तमन्वगच्छल्लक्ष्मीवान्धनुष्माँल्लक्ष्मणस्तदा ।
सीता च भार्या भद्रं ते वैदेही जनकात्मजा ॥ २८ ॥

उनके पीछे धनुप धारण करके श्रीमान् लक्ष्मण भी चले, हे राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो। उनके पीछे उनकी स्त्री विदेहराज जनकनन्दिनी सीता भी चली ॥ २८ ॥

ततो वनं गते रामे राजा दशरथस्तदा ।
समयुज्यत देहस्य कालपर्यायधर्मणा ॥ २९ ॥

रामके वन जानेके पश्चात् दशरथ भी कालक्रमके अनुसार देहसे वियुक्त हो गए ॥ २९ ॥

रामं तु गतमाज्ञाय राजानं च तथागतम् ।
आनाय्य भरतं देवी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३० ॥

जब कैकेयीने देखा कि राम वनको चले गये और दशरथ भी मर गए, तब भरतको बुलाकर देवी कैकेयीने यह वाक्य कहा ॥ ३० ॥

गतो दशरथः स्वर्गं वनस्थौ रामलक्ष्मणौ ।
गृहाण राज्यं विपुलं क्षेमं निहतकण्टकम् ॥ ३१ ॥

राजा दशरथ तो स्वर्गको चले गये और राम लक्ष्मण वनवासी हो गये, अब तुम कण्टकरहित इस बडे भारी राज्यको ग्रहण करो ॥ ३१ ॥

तामुवाच स धर्मात्मा नृशंसं बत ते कृतम् ।
पतिं हत्वा कुलं चेदमुत्साद्य धनलुब्धया ॥ ३२ ॥

माताके वचन सुनकर धर्मात्मा भरतने कहा, तूने धनके लोभसे अपने पतिको मार डाला। इस कुलका नाश करके तूने बडी दुष्टताका काम किया है ॥ ३२ ॥

अयशः पातयित्वा मे मूर्ध्नि त्वं कुलपांसने ।
सकामा भव मे मातरित्युक्त्वा प्ररुरोद ह ॥ ३३ ॥

हे कुलकलंकिनी ! तूने अपयशका भार मेरे सिरपर धर दिया है। अब तू प्रसन्न होकर अपनी इच्छानुसार काम कर। यह कहकर भरत रोने लगे ॥ ३३ ॥

स चारित्रं विशोध्याथ सर्वप्रकृतिसंनिधौ ।
अन्वयाद्भ्रातरं रामं विनिवर्तनलालसः ॥ ३४ ॥

तदनन्तर सब सभासदोंको बुलाकर सबके आगे कहा कि यह काम मेरी सम्मतिसे नहीं हुआ। कैकेयीने अपनी इच्छानुसार किया है। तदनन्तर भरत रामको लौटानेके लिये चले ॥३४॥

कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं च सुदुःखितः ।
अग्रे प्रस्थाप्य यानैः स शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ ३५ ॥
वसिष्ठवामदेवाभ्यां विप्रैश्चान्यैः सहस्रशः ।
पौरजानपदैः सार्धं रामानयनकाङ्क्षया ॥ ३६ ॥

तदनन्तर दुःखी भरतने रामको लौटा लानेकी अभिलापासे कौसल्या, सुमित्रा और कैकयीको आगे भेजा और स्वयं भी वसिष्ठ, वामदेव, हजारों अन्य ब्राह्मण, अन्य पुरवासी तथा अपने भाई शत्रुघ्नके साथ वाहनोंपर चढकर चले ॥ ३५-३६ ॥

ददर्श चित्रकूटस्थं स रामं सहलक्ष्मणम् ।
तापसानामलंकारं धारयन्तं धनुर्धरम् ॥ ३७ ॥

भरतने चित्रकूट पर्वतपर लक्ष्मणके सहित रामको मुनियोंका वेप धारण किये और धनुष हाथमें लिये बैठे हुए देखा ॥ ३७ ॥

विसर्जितः स रामेण पितुर्वचनकारिणा ।
नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं पुरस्कृत्यास्य पादुके ॥ ३८ ॥

रामने भरतको बहुत समझाया और कहा कि मेरे लौटनेसे पिताके वचन असत्य हो जायेंगे। तब भरत अयोध्याको लौट आये और रामकी खडाऊं रखके नन्दिग्राममें राज्य करने लगे ॥ ३८ ॥

रामस्तु पुनराशङ्क्य पौरजानपदागमम् ।
प्रविवेश महारण्यं शरभङ्गाश्रमं प्रति ॥ ३९ ॥

रामने जाना कि यहां फिर भी नगर निवासी आवेंगे। तब वहांसे महाघोर वनको चले गये; वहांसे शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर पहुंचे ॥ ३९ ॥

सत्कृत्य शरभङ्गं स दण्डकारण्यमाश्रितः ।
नदीं गोदावरीं रम्यामाश्रित्य न्यवसत्तदा ॥ ४० ॥

वहां शरभङ्ग मुनिकी पूजा करके दण्डकारण्य वनको चले गये। वहां रमणीय गोदावरीके तटपर रहने लगे ॥ ४० ॥

वसतस्तस्य रामस्य ततः शूर्पणखाकृतम् ।
खरेणासीन्महद्वैरं जनस्थाननिवासिना ॥ ४१ ॥

उस वनमें रहते हुए शूर्पणखाके (नाक काटने रूप) कार्यसे जनस्थान निवासी खर नामक राक्षससे रामका घोर वैर हो गया ॥ ४१ ॥

रक्षार्थं तापसानां च राघवो धर्मवत्सलः ।
चतुर्दश सहस्राणि जघान भुवि रक्षसाम् ॥ ४२ ॥

धर्मप्रिय रामने मुनियोंकी रक्षाके निमित्त युद्धमें चौदह हजार राक्षसोंको मारा ॥ ४२ ॥

दूषणं च खरं चैव निहत्य सुमहाबलौ ।
चक्रे क्षेमं पुनर्धीमान्धर्मारण्यं स राघवः ॥ ४३ ॥

उसी युद्धमें महाबलवान् खर और दूषण भी मारे गये। तब बुद्धिमान् रामने उस धर्मस्थानको पुनः कल्याणकारक बना दिया ॥ ४३ ॥

हतेषु तेषु रक्षःसु ततः शूर्पणखा पुनः ।
ययौ निकृत्तनासोष्ठी लङ्कां भ्रातुर्निवेशनम् ॥ ४४ ॥

उन राक्षसोंके मारे जानेपर कटी हुई नाक और ओठोंवाली शूर्पणखा लङ्कामें अपने भाई रावणके घर गई ॥ ४४ ॥

ततो रावणमभ्येत्य राक्षसी दुःखमूर्छिता ।
पपात पादयोर्भ्रातुः संशुष्करुधिरानना ॥ ४५ ॥

रावणके पास जाकर वह राक्षसी दुःखसे मूर्च्छित-सी होकर अपने भाईके चरणोंपर गिर पडी। शूर्पणखाके मुखका रक्त सूख गया था ॥ ४५ ॥

तां तथा विकृतां दृष्ट्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
उत्पपातासनात्क्रुद्धो दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥ ४६ ॥

उस शूर्पणखाको उस प्रकार विकृत हुई देखकर रावण क्रोधसे मूर्च्छितसा हो गया और क्रोधसे अपने दांतोंको कटकटाते हुए अपने सिंहासनसे कूदकर खडा हो गया ॥ ४६ ॥

स्वानमात्यान्विसृज्याथ विविक्ते तामुवाच सः ।
केनास्येवं कृता भद्रे मामचिन्त्यावमन्य च ॥ ४७ ॥

तब रावणने अपने मंत्रियोंको विदा करके शूर्पणखाको एकान्तमें बुलाकर पूछने लगा- हे भद्रे ! मेरा निरादर करके तुम्हारी यह दशा किसने कर दी ? ॥ ४७ ॥

कः शूलं तीक्ष्णमासाद्य सर्वगात्रैर्निषेवते ।
कः शिरस्यग्निमाधाय विश्वस्तः स्वपते सुखम् ॥ ४८ ॥

कौन घोर त्रिशूलपर बैठकर अपने शरीरको काटना चाहता है ? किसने जलती हुई अग्निको अपने सिरहाने रखकर सुखसे सोनेकी इच्छा की है ? ॥ ४८ ॥

आशीविषं घोरतरं पादेन स्पृशतीह कः ।
सिंहं केसरिणं कश्च दंष्ट्रासु स्पृश्य तिष्ठति ॥ ४९ ॥

कौन मूर्ख विषभरे सर्पको लातसे मारना चाहता है? कौन घोर बलवान् सिंहके दांत उखाडना चाहता है ? ॥ ४९ ॥

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य स्रोतोभ्यस्तेजसोऽर्चिषः ।
निश्चेरुर्दह्यतो रात्रौ वृक्षस्येव स्वरन्ध्रतः ॥ ५० ॥

ऐसा कहते हुए रावणके कान नाकसे अग्निकी ज्वालायें निकलने लगीं। उस समय रावणकी ऐसी शोभा हुई जैसे रातमें जलते हुए वृक्षकी होती है ॥ ५० ॥

तस्य तत्सर्वमाचख्यौ भगिनी रामविक्रमम् ।
खरदूषणसंयुक्तं राक्षसानां पराभवम् ॥ ५१ ॥

तब उसकी बहिन शूर्पणखाने रामका सब पराक्रम कह सुनाया और कहा कि चौदह हजार राक्षसोंके सहित खर दूषण भी मारे गये हैं ॥ ५१ ॥

स निश्चित्य ततः कृत्यं स्वसारमुपसान्त्व्य च ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे राजा विधाय नगरे विधिम् ॥ ५२ ॥

तब रावणने शूर्पणखाको शान्त किया और रामको मारनेका विचार करने लगा। राजा रावण अपने सब नगरका प्रबन्ध ठीक करके आकाश मार्गसे उड चला ॥ ५२ ॥

त्रिकूटं समतिक्रम्य कालपर्वतमेव च ।
दर्दर्श मकरावासं गम्भीरोदं महोदधिम् ॥ ५३ ॥

उसके पश्चात् त्रिकूटाचल और काल पर्वतको लांघकर मगरोंसे पूर्ण रमणीय समुद्रको देखा ॥५३॥

तमतीत्याथ गोकर्णमभ्यगच्छद्दशाननः ।
दयितं स्थानमव्यग्रं शूलपाणेर्महात्मनः ॥ ५४ ॥

उस समुद्रको भी लांघकर रावण आकाश मार्गसे गोकर्णकी ओर चला। वह गोकर्ण त्रिशूलधारी महात्मा शिवका अत्यन्त प्रिय स्थान है ॥ ५४ ॥

तत्राभ्यगच्छन्मारीचं पूर्वामात्यं दशाननः ।
पुरा रामभयादेव तापस्यं समुपाश्रितम् ॥ ५५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६१ ॥ ८९४३ ॥

वहां रावणने जाकर अपने पहले अमात्य मारीचको देखा। वह मारीच पहिलेहीसे रामके डरके मारे उस स्थानमें तप करनेके लिये आया था ॥ ५५ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ इकसठवां अध्याय समाप्त ॥ २६१ ॥ ८९४३ ॥

: २६२ :

मार्कण्डेय उवाच

मारीचस्त्वथ संभ्रान्तो दृष्ट्वा रावणमागतम् ।
पूजयामास सत्कारैः फलमूलादिभिस्तथा ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! रावणको आया देखकर मारीच घबडाकर उठा और फल, मूल तथा अन्य सत्कारकी विधियोंसे उसकी पूजा की ॥ १ ॥

विश्रान्तं चैनमासीनमन्वासीनः स राक्षसः ।
उवाच प्रश्रितं वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ २ ॥

जब सुखपूर्वक राक्षसराज आसनपर बैठ गया तब वह भी बैठ गया, फिर बातचीतमें कुशल मारीच वाक्यको समझनेमें चतुर रावणसे बोला ॥ २ ॥

न ते प्रकृतिमान्वर्णः कच्चित्क्षेमं पुरे तव ।
कच्चित्प्रकृतयः सर्वा भजन्ते त्वां यथा पुरा ॥ ३ ॥

हे राक्षसनाथ ! तुम्हारे चेहरेका रंग स्वाभाविक नहीं है, वह उडा उडा हुआ-सा है। कहो तुम्हारे नगर और घरमें कुशल तो है ? कहो, प्रजा पहलेकी तरह तुम्हारी सेवा तो करती है ? ॥ ३ ॥

किमिहागमने चापि कार्यं ते राक्षसेश्वर ।
कृतमित्येव तद्विद्धि यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥ ४ ॥

हे राक्षसेश्वर ! यहां आनेमें तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? वह काम भले ही बहुत कठिन हो, तो भी उसे सिद्ध हुआ ही समझो ॥ ४ ॥

शशंस रावणस्तस्मै तत्सर्वं रामचेष्टितम् ।
मारीचस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा समासेनैव रावणम् ॥ ५ ॥

तब रावणने रामके सब पराक्रमको मारीचसे कह सुनाया । रावणके वचन सुनकर मारीचने रावणसे संक्षेपमें यह बात कही ॥ ५ ॥

अलं ते राममासाद्य वीर्यज्ञो ह्यस्मि तस्य वै ।
बाणवेगं हि कस्तस्य शक्तः सोढुं महात्मनः ॥ ६ ॥

कि रामसे वैर करना वृथा है। मैं उनके पराक्रमको जानता हूँ। उस महात्माके बाणके वेगको कौन सह सकता है ? ॥ ६ ॥

प्रव्रज्यायां हि मे हेतुः स एव पुरुषर्षभः ।
विनाशमुखमेतत्ते केनाख्यातं दुरात्मना ॥ ७ ॥

मेरी इस प्रव्रज्याके पीछे कारण भी वह पुरुषश्रेष्ठ राम ही है । किस मूर्खने तुमको यह नाशका द्वार बता दिया है ? ॥ ७ ॥

तमुवाचाथ सक्रोधो रावणः परिभर्त्सयन् ।
अकुर्वतोऽस्मद्वचनं स्यान्मृत्युरपि ते ध्रुवम् ॥ ८ ॥

तब क्रोधित होकर रावणने उसे डराते हुए कहा— जो तू मेरे वचनको नहीं मानेगा, तो तेरी मृत्यु निश्चित है ॥ ८ ॥

मारीचश्चिन्तयामास विशिष्टान्मरणं वरम् ।
अवश्यं मरणे प्राप्ते करिष्याम्यस्य यन्मतम् ॥ ९ ॥

मारीचने विचार किया यदि मरण प्राप्त ही हो, तो श्रेष्ठ पुरुषके हाथसे मरना अच्छा है, अतः इसके कहे हुएके अनुसार ही करना चाहिये ॥ ९ ॥

ततस्तं प्रत्युवाचाथ मारीचो राक्षसेश्वरम् ।
किं ते साह्यं मया कार्यं करिष्याम्यवशोऽपि तत् ॥ १० ॥

ऐसा विचारकर मारीच राक्षसराज रावणसे बोला— कहो मैं तुम्हारी सहायताके लिये कौनसा कर्म करूं ? उसे मैं विवश होकर करूंगा ॥ १० ॥

तमब्रवीद्दशग्रीवो गच्छ सीतां प्रलोभय ।
रत्नशृङ्गो मृगो भूत्वा रत्नचित्रतनूरुहः　　　॥ ११ ॥

तब दशमुख रावणने उससे कहा– तुम अपने शरीरको रत्न और सोनेका बनाओ और हरिणका रूप धारण करके रत्नके सींग बनाओ; ऐसा विचित्र रूप बनाकर तुम सीताके आगे जाओ और उसे प्रलोभन दो ॥ ११ ॥

ध्रुवं सीता समालक्ष्य त्वां रामं चोदयिष्यति ।
अपक्रान्ते च काकुत्स्थे सीता वश्या भविष्यति　　　॥ १२ ॥

तुम्हें देखकर वह सीता अवश्य तुम्हें मारनेके लिये रामको भेजेगी । जब राम आश्रमसे निकलकर चला जायेगा, तब सीता मेरे वशमें हो जायेगी ॥ १२ ॥

तामादायापनेष्यामि ततः स न भविष्यति ।
भार्यावियोगाद्दुर्बुद्धिरेतत्साह्यं कुरुष्व मे　　　॥ १३ ॥

तब मैं सीताको लेकर लङ्काको चला आऊंगा । तब राम भी आप ही मर जायेगा । वह दुर्बुद्धि राम स्त्रीके वियोगमें कभी जीता नहीं रहेगा । इसलिये तुम मेरी यही सहायता करो ॥१३॥

इत्येवमुक्तो मारीचः कृत्वोदकमथात्मनः ।
रावणं पुरतो यान्तमन्वगच्छत्सुदुःखितः　　　॥ १४ ॥

मारीचने उसके वचनको स्वीकार करके अपनी मरणोत्तर जलक्रिया कर डाली । फिर दुःखी होकर आगे जाते हुए रावणके पीछे पीछे चला ॥ १४ ॥

ततस्तस्याश्रमं गत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
चक्रतुस्तत्तथा सर्वमुभौ यत्पूर्वमन्त्रितम्　　　॥ १५ ॥

जब ये दोनों उत्तम कर्म करनेवाले रामके आश्रमपर पहुंचे, तब उन दोनोंने वही कर्म किया जिसकी संमति पहिले कर चुके थे ॥ १५ ॥

रावणस्तु यतिर्भूत्वा मुण्डः कुण्डी त्रिदण्डधृक् ।
मृगश्च भूत्वा मारीचस्तं देशमुपजग्मतुः　　　॥ १६ ॥

रावणने तीन दण्ड धारण किये और सिर मुंडाकर कमण्डलु धारण किया और मारीचने हरिणका रूप धारण कर लिया । तब वे दोनों रामके आश्रमपर पहुंचे ॥ १६ ॥

दर्शयामास वैदेहीं मारीचो मृगरूपधृक् ।
चोदयामास तस्यार्थे सा रामं विधिचोदिता　　　॥ १७ ॥

तब हिरणके रूपको धारण किए हुए मारीचने अपना रूप सीताको दिखाया, तब विधिसे प्रेरित हुई हुई सीताने रामसे उस हिरणको लानेके लिए कहा ॥ १७ ॥

रामस्तस्याः प्रियं कुर्वन्धनुरादाय सत्वरः।
रक्षार्थे लक्ष्मणं न्यस्य प्रययौ मृगलिप्सया ॥ १८ ॥

राम उसका प्रिय करनेके लिये हिरणके लोभसे धनुष लेकर शीघ्र दौडे और सीताकी रक्षाके लिये लक्ष्मणको वहीं छोड गये ॥ १८ ॥

स धन्वी बद्धतूणीरः खड्गगोधाङ्गुलित्रवान्।
अन्वधावन्मृगं रामो रुद्रस्तारामृगं यथा ॥ १९ ॥

राम धनुष, तूणीर और खड्ग धारण करके तथा अंगुलित्राण आदि बांधकर उस हरिणके पीछे इस प्रकार दौडे जैसे हरिण रूपधारी प्रजापतिके पीछे शिव दौडे थे ॥ १९ ॥

सोऽन्तर्हितः पुनस्तस्य दर्शनं राक्षसो व्रजन्।
चकर्ष महदध्वानं रामस्तं बुबुधे ततः ॥ २० ॥

उस समय मारीच कहीं प्रगट हो जाता तो कहीं गुप्त हो जाता था। इस प्रकार राम मारीचके पीछे बहुत दूरतक दौडे गये। तब रामने जान लिया कि यह राक्षस है ॥ २० ॥

निशाचरं विदित्वा तं राघवः प्रतिभानवान्।
अमोघं शरमादाय जघान मृगरूपिणम् ॥ २१ ॥

तब बुद्धिमान् रघुवंशी रामने उसे राक्षस जानकर धनुषपर महाबाणको चढाकर उस मृगरूपी राक्षसको मारा ॥ २१ ॥

स रामबाणाभिहतः कृत्वा रामस्वरं तदा।
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं चुक्रोशार्तस्वरेण ह ॥ २२ ॥

उस बाणके लगनेपर मारीच मरते समय रामका जैसा शब्द बनाकर आर्तस्वरसे " हा सीते, हा लक्ष्मण " इसप्रकार जोरसे चिल्लाया ॥ २२ ॥

शुश्राव तस्य वैदेही ततस्तां करुणां गिरम्।
सा प्राद्रवद्यतः शब्दस्तामुवाचाथ लक्ष्मणः ॥ २३ ॥

उस करुणापूर्ण शब्दको विदेह राजपुत्री सीताने सुना और वह उसी ओरको दौडी। तब लक्ष्मणने सीतासे कहा ॥ २३ ॥

अलं ते शङ्कया भीरु को रामं विषहिष्यति।
मुहूर्ताद् द्रक्ष्यसे राममागतं तं शुचिस्मिते ॥ २४ ॥

हे भीरु ! जगत्में ऐसा कौन है जो रामका पराक्रम सह सकेगा ? इसलिये शङ्का मत करो हे सुन्दर मुस्कराहटोंवाली ! तुम एक मुहूर्तके पश्चात् उन रामको आया हुआ देखोगी ॥२४॥

इत्युक्ता सा प्ररुदती पर्यशङ्कत देवरम्।
हता वै स्त्रीस्वभावेन शुद्धचारित्रभूषणम् ॥ २५ ॥

इसप्रकार लक्ष्मणके कहनेपर स्त्री स्वभावके कारण सीता शुद्धचारित्रवाले अपने देवर लक्ष्मणके बारेमें शंका करने लगी ॥ २५ ॥

सा तं परुषमारब्धा वक्तुं साध्वी पतिव्रता।
नैष कालो भवेन्मूढ यं त्वं प्रार्थयसे हृदा ॥ २६ ॥

वह साध्वी और पतिव्रता सीता लक्ष्मणसे कठोर वचन कहने लगी-जो बात तू अपने हृदयमें सोचता है, वह कभी नहीं होगी ॥ २६ ॥

अप्यहं शस्त्रमादाय हन्यामात्मानमात्मना।
पतेयं गिरिशृङ्गाद्वा विशेयं वा हुताशनम् ॥ २७ ॥

मैं किसी शस्त्रसे आत्महत्या करूंगी अथवा पर्वतसे गिरकर मर जाऊंगी, या जलती हुई अग्निमें प्रवेश कर जाऊंगी ॥ २७ ॥

रामं भर्तारमुत्सृज्य न त्वहं त्वां कथंचन।
निहीनमुपतिष्ठेयं शार्दूली क्रोष्टुकं यथा ॥ २८ ॥

पर जिसप्रकार एक शेरनी शेरको छोडकर सियारको नहीं अपनाती, उसी तरह राम जैसे अपने पतिको छोडकर तुझ नीचके पास मैं कभी नहीं आ सकती ॥ २८ ॥

एतादृशं वचः श्रुत्वा लक्ष्मणः प्रियराघवः।
पिधाय कर्णौ सद्वृत्तः प्रस्थितो येन राघवः।
स रामस्य पदं गृह्य प्रससार धनुर्धरः ॥ २९ ॥

रामके प्रिय उत्तम चारित्रवाले लक्ष्मणने सीताके ऐसे कडे वचनोंको सुनकर अपने कानोंको बन्द कर लिया और धनुष उठाकर जिधर राम गये थे, उधरही रामके पदचिन्होंको देखते देखते चले गये ॥ २९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे रक्षो रावणः प्रत्यदृश्यत।
अभव्यो भव्यरूपेण भस्मच्छन्न इवानलः।
यतिवेषप्रतिच्छन्नो जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ॥ ३० ॥

लक्ष्मणके जानेके पश्चात् रावण रामके आश्रममें आया। उस दुष्ट रावणने संन्यासीका वेष बनाया। उस समय रावणका ऐसा रूप था जैसे राखसे छिपी हुई अग्निकी। उस दुष्टने पतिव्रता सीताको चुरानेकी इच्छा की ॥ ३० ॥

सा तमालक्ष्य संप्राप्तं धर्मज्ञा जनकात्मजा ।
निमन्त्रयामास तदा फलमूलाशनादिभिः ॥ ३१ ॥

जब धर्म जाननेवाली सीताने देखा कि आश्रमपर एक संन्यासी आया है, तब उसने खानेको फल और मूल देकर उसका सत्कार किया ॥ ३१ ॥

अवमन्य स तत्सर्वं स्वरूपं प्रतिपद्य च ।
सान्त्वयामास वैदेहीमिति राक्षसपुङ्गवः ॥ ३२ ॥

तब उस राक्षसश्रेष्ठ रावणने उन सबका निरादर किया और वह अपना रूप धारण कर सीताको इसप्रकार सांत्वना देने लगा ॥ ३२ ॥

सीते राक्षसराजोऽहं रावणो नाम विश्रुतः ।
मम लङ्का पुरी नाम्ना रम्या पारे महोदधेः ॥ ३३ ॥

हे सीते ! मैं राक्षसराज हूं, मैं रावणके नामसे प्रसिद्ध हूँ । इस महासागरके पार लंकाके नामसे मेरी एक नगरी है ॥ ३३ ॥

तत्र त्वं वरनारीषु शोभिष्यसि मया सह ।
भार्या मे भव सुश्रोणि तापसं त्यज राघवम् ॥ ३४ ॥

अब तुम मेरे साथ विहार करती हुई वहांके सब स्त्रीपुरुषोंमें शोभा पाओगी । हे सुन्दरी ! तुम तपस्वी रामको छोड दो और मेरी स्त्री हो जाओ ॥ ३४ ॥

एवमादीनि वाक्यानि श्रुत्वा सीताथ जानकी ।
पिधाय कर्णौ सुश्रोणी मैवमित्यब्रवीद्वचः ॥ ३५॥

सुन्दरी जनकनन्दिनी सीताने रावणके ऐसे कठोर वचनोंको सुनकर अपने दोनों कानोंको बन्द कर लिया, और कहा कि ऐसा नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥

प्रपतेद् द्यौः सनक्षत्रा पृथिवी शकलीभवेत् ।
शैत्यमग्निरियान्नाहं त्यजेयं रघुनन्दनम् ॥ ३६ ॥

चाहे तारों सहित आकाश गिर पडे, चाहे पृथ्वी फट जाये, चाहे अग्नि ठण्डी हो जाये, पर मैं रामको नहीं छोडूंगी ॥ ३६ ॥

कथं हि भिन्नकरटं पद्मिनं वनगोचरम् ।
उपस्थाय महानागं करेणुः सूकरं स्पृशेत् ॥ ३७ ॥

भला कोई हाथिनी मदके कारण फटे हुए गण्डस्थलवाले, पद्मोंकी माला पहने हुए, वनमें स्वच्छन्द विचरनेवाले गजराजके पास जाकर फिर सुअरको कैसे छुएगी ? ॥ ३७ ॥

कथं हि पीत्वा माध्वीकं पीत्वा च मधुमाधवीम् ।
लोभं सौवीरके कुर्यान्नारी काचिदिति स्मरे ॥ ३८ ॥

जो फूलोंके रससे बने हुए मधुर पेय तथा मधुमक्खियोंके शहदको पी चुकी हो, वह स्त्री कांजीका लोभ कैसे कर सकती है ? ॥ ३८ ॥

इति सा तं समाभाष्य प्रविवेशाश्रमं पुनः ।
तामनुद्रुत्य सुश्रोणीं रावणः प्रत्यषेधयत् ॥ ३९ ॥

रावणसे ऐसा कहकर सीता अपनी कुटीके भीतर चली गई । तब रावणने दौडकर सुन्दरी सीताको पकड लिया ॥ ३९ ॥

भर्त्सयित्वा तु रूक्षेण स्वरेण गतचेतनाम् ।
मूर्धजेषु निजग्राह खमुपाचक्रमे ततः ॥ ४० ॥

और बेहोश हुई हुई सीतासे कठोर वचन कहने लगा । तदनन्तर सीताके बाल पकडकर और उसे लेकर आकाशमें उड गया ॥ ४० ॥

तां ददर्श तदा गृध्रो जटायुर्गिरिगोचरः ।
रुदतीं राम रामेति ह्रियमाणां तपस्विनीम् ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६२ ॥ ८९८४ ॥

तब रावणके द्वारा हरी जाती हुई तथा हा राम ! हा राम ! कहकर चिल्लाती हुई उस तपस्विनी सीताको पहाडोंमें विचरनेवाले जटायुने देखा ॥ ४१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ बासठवां अध्याय समाप्त ॥ २६२ ॥ ८९८४ ॥

: २६३ :

मार्कण्डेय उवाच

सखा दशरथस्यासीज्जटायुररुणात्मजः ।
गृध्रराजो महावीर्यः संपातिर्यस्य सोदरः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! सम्पातीका भाई, अरुणका पुत्र महावीर जटायु नामक गिद्धराज महाराज दशरथका मित्र था ॥ १ ॥

स ददर्श तदा सीतां रावणाङ्कगतां स्नुषाम् ।
क्रोधादभ्यद्रवत्पक्षी रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ २ ॥

जब उसने अपनी पुत्रवधू सीताको रावणकी गोदमें छटपटाते देखा, तो वह पक्षी क्रुद्ध होकर राक्षसराज रावणके पीछे दौडा ॥ २ ॥

अथैनमब्रवीद्गृध्रो मुञ्च मुञ्चेति मैथिलीम् ।
ध्रियमाणे मयि कथं हरिष्यसि निशाचर ।
न हि मे मोक्ष्यसे जीवन्यदि नोत्सृजसे वधूम् ॥ ३ ॥

तब वह पक्षी रावणसे कहने लगा— हे निशाचर ! तू सीताको छोड दे; मेरे जीते जी इसे हरकर कैसे ले जा सकेगा ? यदि इस मेरी पुत्रवधूको नहीं छोडेगा, तो मुझसे जीता नहीं बचेगा ॥ ३ ॥

उक्त्वैवं राक्षसेन्द्रं तं चकर्त नखरैर्भृशम् ।
पक्षतुण्डप्रहारैश्च बहुशो जर्जरीकृतः ।
चक्षार रुधिरं भूरि गिरिः प्रस्रवणैरिव ॥ ४ ॥

ऐसा कहकर जटायु रावणको अपने पञ्जोंसे मारने लगा। गिद्धके पंजे और चोंचसे चोट लगनेके कारण रावणके शरीरमें अनेक घाव हो गये और उनसे इस प्रकार रुधिर बहने लगा कि जैसे पहाडके झरनोंसे जल बहता है ॥ ४ ॥

स वध्यमानो गृध्रेण रामप्रियहितैषिणा ।
खड्गमादाय चिच्छेद भुजौ तस्य पतत्रिणः ॥ ५ ॥

रामका प्रिय करनेकी इच्छावाले गिद्धसे पीडित होकर रावणने खड्गसे जटायुके दोनों पर काट दिये ॥ ५ ॥

निहत्य गृध्रराजं स छिन्नाभ्रशिखरोपमम् ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे सीतां गृहीत्वाङ्केन राक्षसः ॥ ६ ॥

उस वर्षते हुए मेघके समान गिद्धको मारकर रावण सीताको गोदमें लेकर आकाश मार्गसे उड चला ॥ ६ ॥

यत्र यत्र तु वैदेही पश्यत्याश्रममण्डलम् ।
सरो वा सरितं वापि तत्र मुञ्चति भूषणम् ॥ ७ ॥

सीताने जहां जहां ऋषियोंका आश्रम देखा और नदी तथा तालाब देखा, वहीं वहीं अपना एक एक भूषण डाल दिया ॥ ७ ॥

सा ददर्श गिरिप्रस्थे पञ्च वानरपुङ्गवान् ।
तत्र वासो महद्दिव्यमुत्ससर्ज मनस्विनी ॥ ८ ॥

मनस्विनी सीताने एक पर्वतके शिखरपर पांच बन्दरोंको बैठे देखा। वहां उस मनस्विनीने अपना दिव्य और महान् वस्त्र डाल दिया ॥ ८ ॥

तत्तेषां वानरेन्द्राणां पपात पवनोद्धुतम् ।
मध्ये सुपीतं पञ्चानां विद्युन्मेघान्तरे यथा ॥ ९ ॥

वह पीला वस्त्र वायुसे उडता हुआ उन पांच बन्दरोंके बीचमें इस प्रकार गिरा कि जैसे बादलोंके बीच बिजली गिरी हो ॥ ९ ॥

एवं हृतायां वैदेह्यां रामो हत्वा महामृगम्।
निवृत्तो ददृशे धीमान्भ्रातरं लक्ष्मणं तदा ॥ १० ॥

इस प्रकार जब रावण सीताको हर ले गया, तब बुद्धिमान् राम भी हरिणको मारकर लौटे आ रहे थे कि उन बुद्धिमान् रामने अपने भाई लक्ष्मणको आते हुए देखा ॥ १० ॥

कथमुत्सृज्य वैदेहीं वने राक्षससेविते।
इत्येवं भ्रातरं दृष्ट्वा प्राप्तोऽसीति व्यगर्हयत् ॥ ११ ॥

तब रामने लक्ष्मणकी निन्दा करते हुए उनसे कहा— हे लक्ष्मण! तुम राक्षसोंसे भरे हुए इस बनमें अकेली सीताको छोडकर किस प्रकार चले आये? ॥ ११ ॥

मृगरूपधरेणाथ रक्षसा सोऽपकर्षणम्।
भ्रातुरागमनं चैव चिन्तयन्पर्यतप्यत ॥ १२ ॥

रामने मृग रूपधारी राक्षससे खिंचे चले आने और लक्ष्मणके आगमनके विषयमें सोचकर बहुत दुःख किया ॥ १२ ॥

गर्हयन्नेव रामस्तु त्वरितस्तं समासदत्।
अपि जीवति वैदेही नेति पश्यामि लक्ष्मण ॥ १३ ॥

फिर लक्ष्मणकी निन्दा की और कहने लगे, हे लक्ष्मण! शीघ्र आश्रमको चलो, देखूं सीता जीती है, या नहीं ॥ १३ ॥

तस्य तत्सर्वमाचख्यौ सीताया लक्ष्मणो वचः।
यदुक्तवत्यसदृशं वैदेही पश्चिमं वचः ॥ १४ ॥

लक्ष्मणने सीताके कहे कठोर वचनोंको कह सुनाया। सीताने जो कुछ उल्टी बातें कहीं, सब कह सुनाया ॥ १४ ॥

दह्यमानेन तु हृदा रामोऽभ्यपतदाश्रमम्।
स ददर्श तदा गृध्रं निहतं पर्वतोपमम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर रामका हृदय जलने लगा। तब वे दोनों आश्रमकी ओर शीघ्रतासे चले। मार्गमें मारे जानेके कारण पडे हुए पर्वतके समान जटायुको देखा ॥ १५ ॥

राक्षसं शङ्कमानस्तु विकृष्य बलवद्धनुः।
अभ्यधावत काकुत्स्थस्ततस्तं सहलक्ष्मणः ॥ १६ ॥

राम और लक्ष्मणने उसको राक्षस जानकर बलशाली धनुष खींचा और उसकी ओरको दौडे ॥ १६ ॥

स तावुवाच तेजस्वी सहितौ रामलक्ष्मणौ ।
गृध्रराजोऽस्मि भद्रं वां सखा दशरथस्य ह ॥ १७ ॥

उसने उन तेजस्वी राम लक्ष्मणसे कहा– तुम लोगोंका कल्याण हो । मैं महाराज दशरथका मित्र जटायु नामक गिद्ध हूं ॥ १७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा संगृह्य धनुषी शुभे ।
कोऽयं पितरमस्माकं नाम्नाहेत्यूचतुश्च तौ ॥ १८ ॥

उसके वचन सुनकर उन दोनोंने अपने शुभ धनुषोंको उतार लिया, और बोले– यह हमारे पिताका नाम लेनेवाला कौन है ? ॥ १८ ॥

ततो ददृशतुस्तौ तं छिन्नपक्षद्वयं तथा ।
तयोः शशंस गृध्रस्तु सीतार्थे रावणाद्वधम् ॥ १९ ॥

तब दोनोंने उसके पास जाकर एक पक्षी पडा हुआ देखा । उसके दोनों पंख कटे हुए थे । तब गिद्धने सीताके निमित्त रावणसे अपनी मृत्युका सब हाल रामसे कह सुनाया ॥ १९ ॥

अपृच्छद्राघवो गृध्रं रावणः कां दिशं गतः ।
तस्य गृध्रः शिरःकम्पैराचचक्षे ममार च ॥ २० ॥

तदनन्तर रामने गिद्धसे पूछा कि रावण किस ओर गया है ? तब जटायुने अपने सिरको हिलाकर दक्षिणकी ओर बता दिया और वह मर गया ॥ २० ॥

दक्षिणामिति काकुत्स्थो विदित्वास्य तदिङ्गितम् ।
संस्कारं लम्भयामास सखायं पूजयन्पितुः ॥ २१ ॥

तब रामने उसके इशारेसे दक्षिण दिशाको जान लिया और अपने पिताके मित्रकी पूजा करके उसकी क्रिया की ॥ २१ ॥

ततो दृष्ट्वाश्रमपदं व्यपविद्धबृसीघटम् ।
विध्वस्तकलशं शून्यं गोमायुबलसेवितम् ॥ २२ ॥

फिर राम अपने आश्रमपर आये । उन्होंने आश्रममें देखा कि बैठनेके आसन, जलके घट तथा कलश आदि टूट फूट गए हैं, और सीतारहित होनेके कारण उस आश्रममें सियार डेरा डाले हुए हैं ॥ २२ ॥

दुःखशोकसमाविष्टौ वैदेहीहरणार्दितौ ।
जग्मतुर्दण्डकारण्यं दक्षिणेन परंतपौ ॥ २३ ॥

यह देखकर वे शोक और दुःखसे व्याकुल हो गये । शत्रुनाशक राम और लक्ष्मण सीताके हरणके दुःखसे व्याकुल होकर दक्षिणकी ओरको चले ॥ २३ ॥

वने महति तस्मिंस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।
ददर्श मृगयूथानि द्रवमाणानि सर्वशः ।
शब्दं च घोरं सत्त्वानां दावाग्नेरिव वर्धतः ॥ २४ ॥

राम और लक्ष्मणने उस घोर वनमें फिरते हुए हिरणोंके अनेक झुंड देखे। उस समय उस वनमें जन्तुओंका ऐसा घोर शब्द हो रहा था जैसे आग लगनेसे होता है ॥ २४ ॥

अपश्येतां मुहूर्ताच्च कबन्धं घोरदर्शनम् ।
मेघपर्वतसंकाशं शालस्कन्धं महाभुजम् ।
उरोगतविशालाक्षं महोदरमहामुखम् ॥ २५ ॥

थोडे समयके पश्चात् उन्होंने एक घोर रूपवाले 'कबन्ध' (धड) को देखा । वह मेघ और पर्वतके समान शरीरवाला, शालके वृक्षके समान ऊंचे कंधोंवाला था । उसकी छातीमें दो बडी बडी आंखे थी और उसके पेटमें एक बहुत बडा मुख था ॥ २५ ॥

यदृच्छयाथ तद्रक्षः करे जग्राह लक्ष्मणम् ।
विषादमगमत्सद्यः सौमित्रिरथ भारत ॥ २६ ॥

उस राक्षसने लक्ष्मणको अपने हाथसे पकड लिया । हे भारत ! यह देखकर सुमित्रानन्दन लक्ष्मण बहुत दुःखी हो गए ॥ २६ ॥

स राममभिसंप्रेक्ष्य कृष्यते येन तन्मुखम् ।
विषण्णश्चाब्रवीद्रामं पश्यावस्थामिमां मम ॥ २७ ॥

जिधर उस राक्षसका मुख था, उधर ही लक्ष्मण खिंचे चले जा रहे थे। तब लक्ष्मण विषण्ण होकर रामसे बोले– मेरी इस दशाको आप देखिये ॥ २७ ॥

हरणं चैव वैदेह्या मम चायमुपप्लवः ।
राज्यभ्रंशश्च भवतस्तातस्य मरणं तथा ॥ २८ ॥

हे आर्य ! सीताका चुराया जाना, मेरी यह दुर्दशा, पिताका मरना और राज्य भ्रष्ट होना ये सब आपत्तियां एक ही बार आपके ऊपर पडीं ॥ २८ ॥

नाहं त्वां सह वैदेह्या समेतं कोसलागतम् ।
द्रक्ष्यामि पृथिवीराज्ये पितृपैतामहे स्थितम् ॥ २९ ॥

अब मैं सीताके साथ अयोध्यामें जाकर पिता पितामहके राज्यपर बैठे हुए आपको नहीं देख सकूंगा ॥ २९ ॥

द्रक्ष्यन्त्यार्यस्य धन्या ये कुशलाजशमीलवैः।
अभिषिक्तस्य वदनं सोमं साभ्रलवं यथा ॥ ३० ॥

जो पुरुष आपका कुश लाजा और दूर्वसे अभिषेक होता देखेंगे, वे धन्य हैं। जब आप राज-सिंहासनपर बैठेंगे तो आपके मुखकी ऐसी शोभा होगी कि जैसे बादलसे निकले हुए चन्द्रमाकी ॥ ३० ॥

एवं बहुविधं धीमान्विललाप स लक्ष्मणः।
तमुवाचाथ काकुत्स्थः संभ्रमेष्वप्यसंभ्रमः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार कहकर वे बुद्धिमान् लक्ष्मण विलाप करने लगे। तब आपत्तिकालमें भी धैर्य धारण करनेवाले राम बोले ॥ ३१ ॥

मा विषीद नरव्याघ्र नैष कश्चिन्मयि स्थिते।
छिन्ध्यस्य दक्षिणं बाहुं छिन्नः सव्यो मया भुजः ॥ ३२ ॥

हे पुरुषसिंह ! तुम किसी प्रकार घबडाओ मत। मेरे रहते हुए तो यह राक्षस कुछ भी नहीं है ? तुम इसके दाहिने हाथको काट दो, मैं बांएको काटता हूं ॥ ३२ ॥

इत्येवं वदता तस्य भुजो रामेण पातितः।
खड्गेन भृशतीक्ष्णेन निकृत्तस्तिलकाण्डवत् ॥ ३३ ॥

ऐसा कहकर रामने तीक्ष्ण खड्गसे उसकी बांई भुजाको इस प्रकार काटकर गिरा दिया कि जैसे कोई तिलकी शाखाको काटता है ॥ ३३ ॥

ततोऽस्य दक्षिणं बाहुं खड्गेनाजघ्निवान्बली।
सौमित्रिरपि संप्रेक्ष्य भ्रातरं राघवं स्थितम् ॥ ३४ ॥

उसी समय बलवान् लक्ष्मणने अपने भाई रामको खडा हुआ देखकर अपने खड्गसे उस राक्षसका दाहिना हाथ काट डाला ॥ ३४ ॥

पुनरभ्याहनत्पार्श्वे तद्रक्षो लक्ष्मणो भृशम्।
गतासुरपतद्भूमौ कबन्धः सुमहांस्ततः ॥ ३५ ॥

उसके बाद लक्ष्मणने उस राक्षसकी पसलीमें बडे जोरसे तलवार मारी। तब वह कबन्ध राक्षस मरकर पृथ्वीपर गिर गया ॥ ३५ ॥

तस्य देहाद्विनिःसृत्य पुरुषो दिव्यदर्शनः।
ददृशे दिवमास्थाय दिवि सूर्य इव ज्वलन् ॥ ३६ ॥

तब उसके शरीरसे एक दिव्य दर्शनवाला पुरुष निकला और वह आकाशमें जाकर सूर्यके समान प्रकाशमान् होने लगा ॥ ३६ ॥

पप्रच्छ रामस्तं वाग्मी कस्त्वं प्रब्रूहि पृच्छतः ।
कामया किमिदं चित्रमाश्चर्यं प्रतिभाति मे ॥ ३७ ॥

तब बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ रामने उससे पूछा कि तुम कौन हो? तुम्हें देखकर हमें आश्चर्य होता है। तुमने इच्छाके अनुसार यह रूप क्यों धारण किया था? ॥ ३७ ॥

तस्याचचक्षे गन्धर्वो विश्वावसुरहं नृप ।
प्राप्तो ब्रह्मानुशापेन योनिं राक्षससेविताम् ॥ ३८ ॥

तब उस गन्धर्वने रामसे कहा- कि मैं विश्वावसु नामक गन्धर्व हूं। मैंने ब्राह्मणके शापसे राक्षसयोनिमें जन्म लिया था ॥ ३८ ॥

रावणेन हृता सीता राज्ञा लङ्कानिवासिना ।
सुग्रीवमभिगच्छस्व स ते साह्यं करिष्यति ॥ ३९ ॥

लङ्कावासी राक्षस रावण सीताको ले गया है। अब तुम सुग्रीवके पास जाओ, वह तुम्हारी सहायता करेगा ॥ ३९ ॥

एषा पम्पा शिवजला हंसकारण्डवायुता ।
ऋश्यमूकस्य शैलस्य संनिकर्षे तटाकिनी ॥ ४० ॥

यह ऋश्यमूक पर्वतके तटपर हंसों और सारसोंसे भरा हुआ पम्पा नामक तडाग है, इसका जल बहुत सुन्दर है ॥ ४० ॥

संवसत्यत्र सुग्रीवश्चतुर्भिः सचिवैः सह ।
भ्राता वानरराजस्य वालिनो हेममालिनः ॥ ४१ ॥

उसी ऋश्यमूक पर्वतपर चार मन्त्रियोंके सहित सुग्रीव निवास करता है। वह सुवर्ण मालाधारी वानरराज वालीका भाई है ॥ ४१ ॥

एतावच्छक्यमस्माभिर्वक्तुं द्रष्टासि जानकीम् ।
ध्रुवं वानरराजस्य विदितो रावणालयः ॥ ४२ ॥

हम इतना कह सकते हैं कि तुम सीताको अवश्य प्राप्त करोगे। क्योंकि वानरराज सुग्रीव रावणके घरको जानता है ॥ ४२ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हितो दिव्यः पुरुषः स महाप्रभः ।
विस्मयं जग्मतुश्चोभौ तौ वीरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६३ ॥ ९०२७ ॥

ऐसा कहकर वह महा तेजस्वी दिव्य पुरुष अन्तर्धान हो गया। तब उन दोनों वीर राम और लक्ष्मणको बहुत आश्चर्य हुआ ॥ ४३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ तिरसठवां अध्याय समाप्त ॥ २६३ ॥ ९०२७ ॥

२६४

मार्कण्डेय उवाच

ततोऽविदूरे नलिनीं प्रभूतकमलोत्पलाम्।
सीताहरणदुःखार्तः पम्पां रामः समासदत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! तब सीताके दुःखसे व्याकुल राम वहांसे चले और पास ही अनेक कमलोंसे भरे हुए पम्पासरपर जा पहुंचे ॥ १ ॥

मारुतेन सुशीतेन सुखेनामृतगन्धिना।
सेव्यमानो वने तस्मिञ्जगाम मनसा प्रियाम् ॥ २ ॥

जब उस वनमें अमृतकी सुगंधसे युक्त उत्तम तथा शीतल हवाका स्पर्श रामको हुआ, तब राम मनसे अपनी प्रिया सीताके पास पहुंचे ॥ २ ॥

विललाप स राजेन्द्रस्तत्र कान्तामनुस्मरन्।
कामबाणाभिसंतप्तः सौमित्रिस्तमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ राम कामदेवके बाणसे व्याकुल होकर सीताको स्मरण करके विलाप करने लगे, तब लक्ष्मणने उनसे कहा ॥ ३ ॥

न त्वामेवंविधो भावः स्प्रष्टुमर्हति मानद।
आत्मवन्तमिव व्याधिः पुरुषं वृद्धशीलिनम् ॥ ४ ॥

हे मानके योग्य ! जिस तरह मनको काबूमें रखनेवाले तथा वृद्धोंके समान उत्तम आचरण करनेवाले पुरुषको रोग नहीं छू सकते उसी तरह आपके मनमें इस प्रकारके भावोंका आना मुझे उचित नहीं जान पडता ॥ ४ ॥

प्रवृत्तिरुपलब्धा ते वैदेह्या रावणस्य च।
तां त्वं पुरुषकारेण बुद्ध्या चैवोपपादय ॥ ५ ॥

आपको सीता और रावणका पता तो लग ही गया है। अब अपने बल बुद्धिसे रावणको मारनेका उपाय कीजिये ॥ ५ ॥

अभिगच्छाव सुग्रीवं शैलस्थं हरिपुङ्गवम्।
मयि शिष्ये च भृत्ये च सहाये च समाश्वस ॥ ६ ॥

चलिये, हम पर्वतपर रहनेवाले वानरराज सुग्रीवसे मिलें। मैं आपका दास, शिष्य और भृत्य और सहायक हूं; अतः आप शान्त हो जाइए ॥ ६ ॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्लक्ष्मणेन स राघवः ।
उक्तः प्रकृतिमापेदे कार्ये चानन्तरोऽभवत् ॥ ७ ॥

इस प्रकार लक्ष्मणके अनेक तरह वचनोंके कहनेपर वह रघुवंशी राम अपनी स्वाभाविक स्थितिपर आ गए और उपायका विचार करने लगे ॥ ७ ॥

निषेव्य वारि पम्पायास्तर्पयित्वा पितॄनपि ।
प्रतस्थतुरुभौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ८ ॥

रामने पंपाके जलमें स्नान किया और पितरोंका तर्पण किया । फिर वे दोनों वीर भाई लक्ष्मण और राम आगे चले ॥ ८ ॥

तावृश्यमूकमभ्येत्य बहुमूलफलं गिरिम् ।
गिर्यग्रे वानरान्पञ्च वीरौ ददृशतुस्तदा ॥ ९ ॥

वहांसे चलकर राम और लक्ष्मण अनेक फूल और मूलसे भरे हुए ऋश्यमूक पर्वतपर पहुंचे । वहां उन्होंने पर्वतके शिखरपर बैठे हुए पांच बन्दरोंको देखा ॥ ९ ॥

सुग्रीवः प्रेषयामास सचिवं वानरं तयोः ।
बुद्धिमन्तं हनूमन्तं हिमवन्तमिव स्थितम् ॥ १० ॥

तब सुग्रीवने हिमाचलके समान शरीरवाले बुद्धिमान् मन्त्री हनूमान् वानरको उन दोनोंके पास भेजा ॥ १० ॥

तेन संभाष्य पूर्वं तौ सुग्रीवमभिजग्मतुः ।
सख्यं वानरराजेन चक्रे रामस्ततो नृप ॥ ११ ॥

तब पहले उससे वार्त्तालाप करके वे दोनों सुग्रीवके पास गये । हे महाराज ! तब रामने सुग्रीवके साथ मैत्री की ॥ ११ ॥

तद्वासो दर्शयामासुस्तस्य कार्ये निवेदिते ।
वानराणां तु यत्सीता ह्रियमाणाभ्यवासृजत् ॥ १२ ॥

और अपना सब प्रयोजन कहा । तब सुग्रीवने रामको सीताका वह वस्त्र दिखाया जो हरण करके ले जाई जाती हुई सीताने गिरा दिया था ॥ १२ ॥

तत्प्रत्ययकरं लब्ध्वा सुग्रीवं प्लवगाधिपम् ।
पृथिव्यां वानरैश्वर्ये स्वयं रामोऽभ्यषेचयत् ॥ १३ ॥

तब विश्वास दिलानेवाली उस वस्तुको प्राप्त करके रामने सुग्रीवको वानरोंका राजा बनाया और पृथ्वीपर जितना भी वानरोंका ऐश्वर्य था, उससे रामने स्वयं सुग्रीवका अभिषेक किया ॥ १३ ॥

प्रतिजज्ञे च काकुत्स्थः समरे वालिनो वधम् ।
सुग्रीवश्चापि वैदेह्याः पुनरानयनं नृप ॥ १४ ॥

फिर रामने युद्धमें वालीको मारनेकी प्रतिज्ञा की और सुग्रीवने भी सीताको लानेकी प्रतिज्ञा की ॥ १४ ॥

इत्युक्त्वा समयं कृत्वा विश्वास्य च परस्परम् ।
अभ्येत्य सर्वे किष्किन्धां तस्थुर्युद्धाभिकाङ्क्षिणः ॥ १५ ॥

इसप्रकार प्रतिज्ञा करके उन्होंने परस्पर विश्वास करके मित्रताको दृढ किया । फिर वे सब युद्धकी इच्छासे किष्किंधाको गये ॥ १५ ॥

सुग्रीवः प्राप्य किष्किन्धां ननादौघनिभस्वनः ।
नास्य तन्ममृषे वाली तं तारा प्रत्यषेधयत् ॥ १६ ॥

किष्किंधापर जाकर सुग्रीव बडे वेगसे गरजा । सुग्रीवका शब्द वाली सह न सका और उससे युद्ध करनेके लिये वह चला । तब उसकी स्त्री ताराने उसको जानेसे रोका ॥ १६ ॥

यथा नदति सुग्रीवो बलवानेष वानरः ।
मन्ये चाश्रयवान्प्राप्तो न त्वं निर्गन्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

और कहने लगी कि यह बलवान् वानर सुग्रीव जिस प्रकार गरज रहा है इससे जान पडता है कि अवश्य इसका कोई सहायक है, इसलिये तुम युद्ध करने मत जाओ ॥ १७ ॥

हेममाली ततो वाली तारां ताराधिपाननाम् ।
प्रोवाच वचनं वाग्मी तां वानरपतिः पतिः ॥ १८ ॥

तब सोनेकी माला धारण करनेवाला, बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ वानरोंका राजा वह वाली चन्द्रके समान सुन्दर मुखवाली अपनी पत्नी तारासे यह वचन बोला ॥ १८ ॥

सर्वभूतरुतज्ञा त्वं पश्य बुद्ध्या समन्विता ।
केनापाश्रयवान्प्राप्तो ममैष भ्रातृगन्धिकः ॥ १९ ॥

तुम सब जन्तुओंकी बोलीको जानती हो । तुम बुद्धिमती भी हो । इसलिए सोचकर बताओ कि मेरा यह नाममात्रका भाई सुग्रीव किसकी मदद लेकर आया है ॥ १९ ॥

चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु तारा ताराधिपप्रभा ।
पतिमित्यब्रवीत्प्राज्ञा शृणु सर्वं कपीश्वर ॥ २० ॥

तब चन्द्रमुखी बुद्धिमती ताराने एक मुहूर्ततक विचारकर अपने पतिसे कहा कि— हे वानरराज ! आप सब विचारको सुनिये ॥ २० ॥

हृतदारो महासत्त्वो रामो दशरथात्मजः ।
तुल्यारिमित्रतां प्राप्तः सुग्रीवेण धनुर्धरः ॥ २१ ॥

दशरथपुत्र बलशाली रामकी स्त्रीको रावण चुराकर ले गया है। वही धनुषधारी राम सुग्रीवके मित्र बन गए हैं, उन दोनोंने आपसमें एक दूसरेके शत्रुको शत्रु और एक दूसरेके मित्रको मित्र मान लिया है ॥ २१ ॥

भ्राता चास्य महाबाहुः सौमित्रिरपराजितः ।
लक्ष्मणो नाम मेधावी स्थितः कार्यार्थसिद्धये ॥ २२ ॥

उनके भाईका नाम महाबाहु लक्ष्मण है; वे सुमित्राके पुत्र युद्धमें अपराजित और बुद्धिमान् हैं। वेही सुग्रीवके कार्यसिद्धिके लिये उपस्थित हुए हैं ॥ २२ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनूमांश्चानिलात्मजः ।
जाम्बवानृक्षराजश्च सुग्रीवसचिवाः स्थिताः ॥ २३ ॥

द्विविद, मैन्द, वायुपुत्र हनूमान् और ऋक्षराज जांबवान् ये चारों सुग्रीवके मन्त्री भी सुग्रीवके सहायक हैं ॥ २३ ॥

सर्वे एते महात्मानो बुद्धिमन्तो महाबलाः ।
अलं तव विनाशाय रामवीर्यव्यपाश्रयात् ॥ २४ ॥

ये सभी बुद्धिमान्, बलवान् और महात्मा हैं। सुग्रीव रामके बलका आश्रय लेकर तुम्हें मारनेमें समर्थ है ॥ २४ ॥

तस्यास्तदाक्षिप्य वचो हितमुक्तं कपीश्वरः ।
पर्यशङ्कत तामीर्षुः सुग्रीवगतमानसाम् ॥ २५ ॥

इसप्रकार हितकारी वचनोंको कहनेपर भी वानरराज वालीने ताराकी बात न मानी। उस ईर्ष्यालुको यह शङ्का हो गई कि यह तारा मनसे सुग्रीवको चाहती है ॥ २५ ॥

तारां परुषमुक्त्वा स निर्जगाम गुहामुखात् ।
स्थितं माल्यवतोऽभ्याशे सुग्रीवं सोऽभ्यभाषत ॥ २६ ॥

तब ताराको कठोर वचन कहकर वाली अपनी गुहाके द्वारसे बाहर निकल गया और माल्यवान् पर्वतके नीचे खडे हुए सुग्रीवसे बोला ॥ २६ ॥

असकृत्त्वं मया मूढ निर्जितो जीवितप्रियः ।
मुक्तो ज्ञातिरिति ज्ञात्वा का त्वरा मरणे पुनः ॥ २७ ॥

मैंने तुझको कई बार युद्धमें जीत लिया था, तब तू अपने जीवको लेकर भाग गया था। मैंने भी अपना भाई जानकर तुझको छोड दिया था। अब मरनेकी इतनी शीघ्रता क्यों है ? ॥ २७ ॥

इत्युक्तः प्राह सुग्रीवो भ्रातरं हेतुमद्वचः ।
प्राप्तकालममित्रघ्नो रामं संबोधयन्निव ॥ २८ ॥

वालीके ऐसे वचन सुनकर शत्रुनाशक सुग्रीवने हेतुके सहित समयानुसार रामको सुनाकर वालीसे ये वचन कहे ॥ २८ ॥

हृतदारस्य मे राजन्हृतराज्यस्य च त्वया ।
किं नु जीवितसामर्थ्यमिति विद्धि समागतम् ॥ २९ ॥

हे राजन् ! आपने मेरा राज्य छीन लिया, मेरी स्त्रीको छीन लिया। तब मैंने विचारा कि अब मैं जीकर क्या करूंगा इसलिये अब युद्ध करनेको आया हूं ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा बहुविधं ततस्तौ संनिपेततुः ।
समरे वालिसुग्रीवौ शालतालशिलायुधौ ॥ ३० ॥

ऐसा कहकर शाल तथा तालके वृक्षोंको तथा चट्टानोंको शस्त्र बनाकर वे दोनों वाली और सुग्रीव उस युद्धमें एक दूसरेपर अनेक तरहसे प्रहार करने लगे ॥ ३० ॥

उभौ जघ्नतुरन्योन्यमुभौ भूमौ निपेततुः ।
उभौ ववल्गतुश्चित्रं मुष्टिभिश्च निजघ्नतुः ॥ ३१ ॥

कभी मुक्के और दांतोंहीको शस्त्र बनाते थे; कभी एक दूसरेको पृथ्वीमें रगडते थे, कभी दोनों खडे होकर युद्ध करने लगते थे ॥ ३१ ॥

उभौ रुधिरसंसिक्तौ नखदन्तपरिक्षतौ ।
शुशुभाते तदा वीरौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ३२ ॥

दोनों नाखून और दांतोंके लगनेसे रुधिरसे भीग गये । उस समय उन दोनोंकी ऐसी शोभा हुई जैसे फूले हुए टेसूकी ॥ ३२ ॥

न विशेषस्तयोर्युद्धे तदा कश्चन दृश्यते ।
सुग्रीवस्य तदा मालां हनूमान्कण्ठ आसजत् ॥ ३३ ॥

उस युद्धमें उन दोनोंके रूपमें जब कुछ भी भेद न दिखाई दिया, तब हनूमान्‌ने सुग्रीवके कण्ठमें एक माला पहिना दी ॥ ३३ ॥

स मालया तदा वीरः शुशुभे कण्ठसक्तया ।
श्रीमानिव महाशैलो मलयो मेघमालया ॥ ३४ ॥

कण्ठमें पहनी हुई उस मालासे सुग्रीवकी ऐसी शोभा बढी जैसी मेघोंकी मालासे महापर्वत मलयाचलकी शोभा होती है ॥ ३४ ॥

कृतचिह्नं तु सुग्रीवं रामो दृष्ट्वा महाधनुः ।
विचकर्ष धनुःश्रेष्ठं वालिमुद्दिश्य लक्ष्यवत् ॥ ३५ ॥

जब रामने सुग्रीवके गलेमें चिन्ह देख लिया, तब महा धनुपपर बाण चढाकर खींचा और वालीको लक्ष बनाया ॥ ३५ ॥

विस्फारस्तस्य धनुषो यन्त्रस्येव तदा बभौ ।
वितत्रास तदा वाली शरेणाभिहतो हृदि ॥ ३६ ॥

उस समय रामके धनुषकी टङ्कार इतनी जोरसे हुई जैसे किसी यन्त्र (कल) की होती है । जिस समय वह बाण वालीके हृदयमें लगा उस समय वाली घबडाकर पृथ्वीपर गिर पडा ॥ ३६ ॥

स भिन्नमर्माभिहतो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।
ददर्शावस्थितं राममारात्सौमित्रिणा सह ॥ ३७ ॥

उस बाणके लगनेसे वालीका हृदय फट गया, और मुखसे रुधिरकी उल्टी करने लगा। जब वाली पृथ्वीपर गिर गया तब उसने दूरसे लक्ष्मणके सहित रामको खडा देखा ॥ ३७ ॥

गर्हयित्वा स काकुत्स्थं पपात भुवि मूर्छितः ।
तारा ददर्श तं भूमौ तारापतिमिव च्युतम् ॥ ३८ ॥

तब उसने रामकी बहुत निन्दा की और मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर गया । तब ताराने तेजस्वी वालीको इसप्रकार भूमिपर पडा हुआ देखा मानों चन्द्रमा ही आकाशसे टूटकर गिर पडा हो ॥ ३८ ॥

हते वालिनि सुग्रीवः किष्किन्धां प्रत्यपद्यत ।
तां च तारापतिमुखीं तारां निपतितेश्वराम् ॥ ३९ ॥

वालीके मरनेके पश्चात् सुग्रीव किष्किन्धामें गया, और वहां जाकर मारे गए पतिवाली चन्द्रमुखी ताराके समेत सब राज्यको प्राप्त किया ॥ ३९ ॥

रामस्तु चतुरो मासान्पृष्ठे माल्यवतः शुभे ।
निवासमकरोद्धीमान्सुग्रीवेणाभ्युपस्थितः ॥ ४० ॥

राम भी सुन्दर माल्यवान् पर्वतके ऊपर वर्षाऋतुके चार मास भर रहे । सुग्रीव बुद्धिमान् रामकी सेवा करता रहा ॥ ४० ॥

रावणोऽपि पुरीं गत्वा लङ्कां कामबलात्कृतः ।
सीतां निवेशयामास भवने नन्दनोपमे ।
अशोकवनिकाभ्याशे तापसाश्रमसंनिभे ॥ ४१ ॥

जब कामसे पीडित रावण अपनी रमणीय लङ्कापुरीमें पहुंचा, तब सीताको अशोक वनके पास तपस्वियोंके आश्रम जैसे तथा नन्दनके समान एक बागमें रख दिया ॥ ४१ ॥

भर्तृस्मरणतन्वङ्गी तापसीवेषधारिणी।
उपवासतपःशीला तत्र सा पृथुलेक्षणा।
उवास दुःखवसतीः फलमूलकृताशना ॥ ४२ ॥

वह विशाल नयनोंवाली सीता भी उस उपवनमें अपने पतिके स्मरणसे कृशशरीरवाली होकर तापसियोंका वेश धारण करके उपवास और तपका आचरण करती हुई फल और मूलका आहार करती हुई अत्यन्त दुःखी होकर रहने लगी ॥ ४२ ॥

दिदेश राक्षसीस्तत्र रक्षणे राक्षसाधिपः।
प्रासासिशूलपरशुमुद्गरालातधारिणीः ॥ ४३ ॥

राक्षसराज रावणने सीताकी रक्षाके लिये अनेक राक्षसियोंको रख दिया। वे राक्षसियां प्रास, खड्ग, त्रिशूल, फरसा और मुद्गर आदि अनेक शस्त्रोंको धारण करके सीताके पास रहने लगीं ॥ ४३ ॥

द्व्यक्षीं त्र्यक्षीं ललाटाक्षीं दीर्घजिह्वामजिह्विकाम्।
त्रिस्तनीमेकपादां च त्रिजटामेकलोचनाम् ॥ ४४ ॥

उन राक्षसियोंमें किसीके दो नेत्र, किसीके तीन नेत्र, किसीके माथेमें नेत्र, किसीके वडी जिह्वा और किसीके जिह्वा ही नहीं, किसीके तीन स्तन, किसीके एक चरण, और किसीके तीन जटायें और किसीके एक ही आंख थी ॥ ४४ ॥

एताश्चान्याश्च दीप्ताक्ष्यः करभोत्कटमूर्धजाः।
परिवार्यासते सीतां दिवारात्रमतन्द्रिताः ॥ ४५ ॥

ये तथा अनेक रूपवाली अन्य राक्षसियां सीताकी रक्षा करने लगीं। उनके नेत्र वडे प्रकाशमान और वडे वडे तथा उनके वाल भी ऊंटके समान रूखे थे। वे राक्षसियां दिन रात आलस रहित होकर सीताको घेरकर वैठी रहती थीं ॥ ४५ ॥

तास्तु तामायतापाङ्गीं पिशाच्यो दारुणस्वनाः।
तर्जयन्ति सदा रौद्राः परुषव्यञ्जनाक्षराः ॥ ४६ ॥

वे भयंकर आवाजवाली तथा कठोर अक्षरोंवाली दारुण पिशाचरूपधारणी राक्षसियां विशालनैनी सीताको डराया करती थीं ॥ ४६ ॥

खादाम पाटयामैनां तिलशः प्रविभज्य ताम्।
येयं भर्तारमस्माकमवमन्येह जीवति ॥ ४७ ॥

(वे कहती थीं) कि यह हमारे स्वामी रावणका निरादर करके जीती है, इसलिये हम इसको खा जायें, चीर डालें, तिलके समान टुकडे कर डालें ॥ ४७ ॥

इत्येवं परिभर्त्संन्तीस्त्रास्यमाना पुनः पुनः ।
भर्तृशोकसमाविष्टा निःश्वस्येदमुवाच ताः ॥ ४८ ॥

सब सीताको डराकर बार बार दुःख देती थीं । तब सीता रामके शोकसे व्याकुल होकर और सांस लेकर इस प्रकार उत्तर देती थी ॥ ४८ ॥

आर्याः खादत मां शीघ्रं न मे लोभोऽस्ति जीविते ।
विना तं पुण्डरीकाक्षं नीलकुञ्चितमूर्धजम् ॥ ४९ ॥

हे स्त्रियो ! तुम मुझे शीघ्र खा जाओ । कमलोंके समान आंखोंवाले तथा काले और घुंघराले बालोंवाले उन रामके बिना मुझे इस जीवनसे कोई प्रेम नहीं है ॥ ४९ ॥

अप्येवाहं निराहारा जीवितप्रियवर्जिता ।
शोषयिष्यामि गात्राणि व्याली तालगता यथा ॥ ५० ॥

अपने प्राणप्रिय पतिसे रहित होकर मैं निराहार होकर अपने जीवनको त्यागना चाहती हूं। मैं अपने शरीरको ताडके वृक्षपर सर्पिणीकी तरह सुखा दूंगी ॥ ५० ॥

न त्वन्यमभिगच्छेयं पुमांसं राघवादृते ।
इति जानीत सत्यं मे क्रियतां यदनन्तरम् ॥ ५१ ॥

मैं रामको छोडकर दूसरे पुरुषके पास कभी नहीं जाऊंगी । तुम मेरे इन वचनोंको सत्य समझो । इसके बाद तुम जो करना चाहो, करो ॥ ५१ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा राक्षस्यस्ताः खरस्वनाः ।
आख्यातुं राक्षसेन्द्राय जग्मुस्तत्सर्वमादितः ॥ ५२ ॥

घोर शब्द-वाली राक्षसियां सीताके ऐसे वचन सुनकर यह सब समाचार कहनेके लिए राक्षसराज रावणके पास गईं ॥ ५२ ॥

गतासु तासु सर्वासु त्रिजटा नाम राक्षसी ।
सान्त्वयामास वैदेहीं धर्मज्ञा प्रियवादिनी ॥ ५३ ॥

जब वे सब राक्षसियां वहांसे चली गईं, तब धर्मको जाननेवाली, प्रियवादिनी त्रिजटा नामकी राक्षसी सीताको सांत्वना देकरके बोली ॥ ५३ ॥

सीते वक्ष्यामि ते किंचिद्विश्वासं कुरु मे सखि ।
भयं ते व्येतु वामोरु शृणु चेदं वचो मम ॥ ५४ ॥

हे वैदेही ! हे सखी ! मैं तुमसे एक बात कहती हूँ, तुम मुझपर विश्वास करो । हे वामोरु! तुम भयको छोड दो और मेरे इन वचनोंको सुनो ॥ ५४ ॥

अविन्ध्यो नाम मेधावी वृद्धो राक्षसपुङ्गवः।
स रामस्य हितान्वेषी त्वदर्थे हि स मावदत् ॥ ५५ ॥
बुद्धिमान् राक्षसश्रेष्ठ बूढा अविन्ध्य रामका हित चाहता है; उसने मुझसे तुम्हारे लिए कहा है ॥ ५५ ॥

सीता मद्वचनाद्वाच्या समाश्वास्य प्रसाद्य च।
भर्ता ते कुशली रामो लक्ष्मणानुगतो बली ॥ ५६ ॥
कि तुम सीताके पास जाकर उसे सान्त्वना देकर तथा प्रसन्न करके ये वचन कहना, कि तुम्हारे पति बलवान् राम अपने अनुचर लक्ष्मणके सहित सुखी हैं ॥ ५६ ॥

सख्यं वानरराजेन शक्रप्रतिमतेजसा।
कृतवान्राघवः श्रीमांस्त्वदर्थे च समुद्यतः ॥ ५७ ॥
उन्होंने इन्द्रके समान तेजस्वी वानरराज सुग्रीवसे मित्रता कर ली है, और तुम्हारे लिये बहुत उद्योग कर रहे हैं ॥ ५७ ॥

मा च तेऽस्तु भयं भीरु रावणाल्लोकगर्हितात्।
नलकूबरशापेन रक्षिता ह्यस्यनिन्दिते ॥ ५८ ॥
तुम लोगोंसे निन्दनीय तथा नीच इस रावणसे कुछ भय मत करो; क्योंकि, हे अनिन्दिते सीते ! तुम नलकूबरके शापसे रक्षित हो ॥ ५८ ॥

शप्तो ह्येष पुरा पापो वधूं रम्भां परामृशन्।
न शक्तो विवशां नारीमुपैतुमजितेन्द्रियः ॥ ५९ ॥
पहले यह अजितेन्द्रिय दुष्ट रावण नलकूबरकी स्त्री रम्भाके पीछे दौडा था, तब नलकूबरने इसको शाप दिया था, कि तू किसी भी स्त्रीको विवश करके उससे सम्बन्ध नहीं कर सकता ॥ ५९ ॥

क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सुग्रीवेणाभिरक्षितः।
सौमित्रिसहितो धीमांस्त्वां चेतो मोक्षयिष्यति ॥ ६० ॥
सुग्रीवसे रक्षित होकर तुम्हारे पति बुद्धिमान् राम लक्ष्मणके सहित शीघ्र यहां आयेंगे; और तुमको इस दुःखसे छुडा लेंगे ॥ ६० ॥

स्वप्ना हि सुमहाघोरा दृष्टा मेऽनिष्टदर्शनाः।
विनाशायास्य दुर्बुद्धेः पौलस्त्यकुलघातिनः ॥ ६१ ॥
मैंने महाघोर अशुभके सूचक स्वप्न भी देखे हैं, उस स्वप्नका फल यह होगा, कि यह दुर्बुद्धि और पुलस्त्यके कुलका नाशक रावण मारा जायेगा ॥ ६१ ॥

दारुणो ह्येष दुष्टात्मा क्षुद्रकर्मा निशाचरः ।
स्वभावाच्छीलदोषेण सर्वेषां भयवर्धनः ॥ ६२ ॥

यह दुष्ट राक्षस महापापी क्षुद्रकर्मकर्ता, अपने स्वभाव और अपने चारित्र्यके दोषके कारण सबके लिए भयङ्कर है ॥ ६२ ॥

स्पर्धते सर्वदेवैर्यः कालोपहतचेतनः ।
मया विनाशलिङ्गानि स्वप्ने दृष्टानि तस्य वै ॥ ६३ ॥

इसका चित्त मृत्युके अधीन हो गया है, इसीलिए यह सदा सब देवोंसे वैर करता है। इस दुष्टके विनाशके चिन्ह मैंने स्वप्नमें देखे हैं ॥ ६३ ॥

तैलाभिषिक्तो विकचो मज्जन्पङ्के दशाननः ।
असकृत्खरयुक्ते तु रथे नृत्यन्निव स्थितः ॥ ६४ ॥

मैंने यह देखा, कि दशमुख रावण तेलमें स्नान करके और सिर मुंडवाकर कीचडमें स्नान कर रहा है। वह बार बार गधोंके रथपर ऐसा खडा हुआ है कि मानों वह नाच ही रहा हो ॥ ६४ ॥

कुम्भकर्णादयश्चेमे नग्नाः पतितमूर्धजाः ।
कृष्यन्ते दक्षिणामाशां रक्तमाल्यानुलेपनाः ॥ ६५ ॥

कुंभकर्ण आदि राक्षस लाल माला पहने तथा लाल चन्दन लगाकर तथा वस्त्र और बालोंसे रहित होकर दक्षिण दिशाकी तरफ खिंचे चले जा रहें हैं ॥ ६५ ॥

श्वेतातपत्रः सोष्णीषः शुक्लमाल्यविभूषणः ।
श्वेतपर्वतमारूढ एक एव विभीषणः ॥ ६६ ॥

केवल विभीषण ही सफेद माला, चन्दन, छत्र और पगडी धारण करके सफेद पर्वतके ऊपर बैठे हुए हैं ॥ ६६ ॥

सचिवाश्चास्य चत्वारः शुक्लमाल्यानुलेपनाः ।
श्वेतपर्वतमारूढा मोक्ष्यन्तेऽस्मान्महाभयात् ॥ ६७ ॥

तथा सफेद पर्वतपर चढे हुए विभीषणके चारों मन्त्री सफेद मालाको धारण करके हम लोगोंको इस दुःखसे छुडावेंगे ॥ ६७ ॥

रामस्यास्त्रेण पृथिवी परिक्षिप्ता ससागरा ।
यशसा पृथिवीं कृत्स्नां पूरयिष्यति ते पतिः ॥ ६८ ॥

और यह भी देखा कि ये समस्त पृथ्वी रामके बाणोंसे व्याप्त हो रही है। इससे प्रतीत यह होता है कि तुम्हारे पतिके यशसे सारी पृथ्वी व्याप्त हो जायेगी ॥ ६८ ॥

अस्थिसंचयमारूढो भुञ्जानो मधुपायसम् ।
लक्ष्मणश्च मया दृष्टो निरीक्षन्सर्वतो दिशः ॥ ६९ ॥

मैंने यह भी देखा कि लक्ष्मण हड्डियोंके पर्वतपर बैठे हुए मधु और खीर खा रहे हैं, तथा सब दिशाओंको देख रहे हैं ॥ ६९ ॥

रुदती रुधिरार्द्राङ्गी व्याघ्रेण परिरक्षिता ।
असकृत्त्वं मया दृष्टा गच्छन्ती दिशमुत्तराम् ॥ ७० ॥

तुमको भी मैंने स्वप्नमें इसप्रकार देखा है, कि रोती हुई तुम रुधिरमें भीग रही हो और व्याघ्रसे रक्षित होकर उत्तरकी ओर जा रही हो ॥ ७० ॥

हर्षमेष्यसि वैदेहि क्षिप्रं भर्तृसमन्विता ।
राघवेण सह भ्रात्रा सीते त्वमचिरादिव ॥ ७१ ॥

हे वैदेही ! तुम लक्ष्मणके सहित अपने पतिसे मिलकर शीघ्र आनन्दको प्राप्त करोगी । सन्देह मत करो ॥ ७१ ॥

इति सा मृगशावाक्षी तच्छ्रुत्वा त्रिजटावचः ।
बभूवाशावती बाला पुनर्भर्तृसमागमे ॥ ७२ ॥

हिरणके छोनेके समान सुन्दर आंखोंवाली सीता त्रिजटाके ऐसे वचन सुनकर प्रसन्न हुई और वह अपने पतिसे मिलनेकी दृढ आशासे युक्त हो गई ॥ ७२ ॥

यावदभ्यागता रौद्राः पिशाच्यस्ताः सुदारुणाः ।
ददृशुस्तां त्रिजटया सहासीनां यथा पुरा ॥ ७३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६४ ॥ ९१०० ॥

उसी समय वे घोर राक्षसियां वहां आ गईं । उन्होंने सीताको त्रिजटाके साथ पहलेके समान ही बैठे हुए देखा ॥ ७३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ चौंसठवां अध्याय समाप्त ॥ २६४ ॥ ९१०० ॥

। २६५ ।

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तां भर्तृशोकार्तां दीनां मलिनवाससम् ।
मणिशेषाभ्यलङ्कारां रुदतीं च पतिव्रताम् ॥ १ ॥
राक्षसीभिरुपास्यन्तीं समासीनां शिलातले ।
रावणः कामबाणार्तो ददर्शोपससर्प च ॥ २ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! तदनन्तर पतिके शोकसे व्याकुल, दुःखिनी, मलिन वस्त्रधारिणी, रोती हुई मणिमात्र भूषणको धारण करनेवाली पतिव्रता राक्षसियोंसे घिरी हुई, उनके बीचमें शिलापर बैठी हुई सीताको कामपीडित रावणने देखा और वह उसके पास आया ॥ १-२ ॥

देवदानवगन्धर्वयक्षकिंपुरुषैर्युधि ।
अजितोऽशोकवनिकां ययौ कन्दर्पमोहितः ॥ ३ ॥

जो रावण देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किम्पुरुषोंसे भी युद्धमें नहीं हारता था, वह कामके बाणसे पीडित होकर अशोक वाटिकामें सीताके पास आया ॥ ३ ॥

दिव्याम्बरधरः श्रीमान्सुमृष्टमणिकुण्डलः ।
विचित्रमाल्यमुकुटो वसन्त इव मूर्तिमान् ॥ ४ ॥

दिव्य वस्त्र, मणिमय कुण्डल और विचित्र माला तथा विचित्र मुकुटधारी रावणकी शोभा ऐसी जान पडती थी, जैसे वसन्त ही शरीर धारण करके आया हो ॥ ४ ॥

स कल्पवृक्षसदृशो यत्नादपि विभूषितः ।
श्मशानचैत्यद्रुमवद्भूषितोऽपि भयङ्करः ॥ ५ ॥

प्रयत्नपूर्वक अनेक आभूषण धारण करनेपर भी उसकी शोभा कल्पवृक्षके समान नहीं थी। इसके विपरीत वह, जिस प्रकार फूलने फलनेपर भी श्मशानका वृक्ष भयङ्कर होता है उसी तरह भयङ्कर लग रहा था ॥ ५ ॥

स तस्यास्तनुमध्यायाः समीपे रजनीचरः ।
ददृशे रोहिणीमेत्य शनैश्चर इव ग्रहः ॥ ६ ॥

रावण उस सुन्दरी सीताके पास जाकर जब खडा हुआ तब वह ऐसा दिखाई देता था कि मानों रोहिणीके पास जाकर शनिश्चर खडा हो गया हो ॥ ६ ॥

स तामामन्त्र्य सुश्रोणीं पुष्पकेतुशराहतः ।
इदमित्यब्रवीद्बालां त्रस्तां रौहीमिवाबलाम् ॥ ७ ॥

काम-पीडित रावण हरिणीके समान डरी हुई अबला बाला सीतासे इस प्रकार बोला ॥ ७ ॥

सीते पर्याप्तमेतावत्कृतो भर्तुरनुग्रहः ।
प्रसादं कुरु तन्वङ्गि क्रियतां परिकर्म ते ॥ ८ ॥

हे सीता! तुम जो अपने पतिसे प्यार करती हो, वह इतना ही पर्याप्त है। हे सुन्दरी! अब मेरे ऊपर कृपा करो और वस्त्रादिको धारण करो ॥ ८ ॥

भजस्व मां वरारोहे महार्हाभरणाम्बरा ।
भव मे सर्वनारीणामुत्तमा वरवर्णिनि ॥ ९ ॥

हे सुन्दर मुखवाली! बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणोंको धारण करके मेरी सेवा करो। तुम मेरी सब स्त्रियोंमें श्रेष्ठ बन जाओ ॥ ९ ॥

सन्ति मे देवकन्याश्च राजर्षीणां तथाङ्गनाः ।
सन्ति दानवकन्याश्च दैत्यानां चापि योषितः ॥ १० ॥

मेरे यहां अनेक देवोंकी कन्यायें और राजर्षियोंकी स्त्रियां हैं, अनेकों दैत्य तथा दानवोंकी स्त्रियां भी हैं ॥ १० ॥

चतुर्दश पिशाचानां कोट्यो मे वचने स्थिताः ।
द्विस्तावत्पुरुषादानां रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ ११ ॥

चौदह करोड पिशाच मेरी आज्ञामें रहनेवाले हैं, और अट्ठाइस करोड मनुष्यभक्षी तथा भयंकर कर्म करनेवाले राक्षस मेरे वचनमें रहते हैं ॥ ११ ॥

ततो मे त्रिगुणा यक्षा ये मद्वचनकारिणः ।
केचिदेव धनाध्यक्षं भ्रातरं मे समाश्रिताः ॥ १२ ॥

उनसे तिगुने यक्ष मेरे वचनके अनुसार काम करनेवाले हैं, उनमें कुछ ही मेरे भाई कुबेरके दास हैं ॥ १२ ॥

गन्धर्वाप्सरसो भद्रे मामापानगतं सदा ।
उपतिष्ठन्ति वामोरु यथैव भ्रातरं मम ॥ १३ ॥

हे वामोरु! हे भद्रे! अप्सरा और गन्धर्व जिस प्रकार मेरे भाई कुबेरको देखकर खडे हो जाते हैं, उसी प्रकार मुझे भी देखकर खडे हो जाते हैं ॥ १३ ॥

पुत्रोऽहमपि विप्रर्षेः साक्षाद्विश्रवसो मुनेः ।
पञ्चमो लोकपालानामिति मे प्रथितं यशः ॥ १४ ॥

मैं साक्षात् महामुनि विप्रर्षि विश्रवाका पुत्र हूं। पञ्चम लोकपालके रूपमें मेरा यश फैला हुआ है ॥ १४ ॥

दिव्यानि भक्ष्यभोज्यानि पानानि विविधानि च ।
यथैव त्रिदशेशस्य तथैव मम भामिनि ॥ १५ ॥

हे भामिनि ! इन्द्रके भवनमें जिस प्रकार अनेक तरहके दिव्य भक्ष्य, भोज्य और पीनेके योग्य पदार्थ हैं उसी तरह मेरे भवनमें भी हैं ॥ १५ ॥

क्षीयतां दुष्कृतं कर्म वनवासकृतं तव ।
भार्या मे भव सुश्रोणि यथा मन्दोदरी तथा ॥ १६ ॥

अब वनवासके कारण होनेवाले पापकर्म क्षीण हो जायें। हे सुन्दरी ! तुम मेरी स्त्री हो जाओ। मैं तुमको मन्दोदरीके समान मानूंगा ॥ १६ ॥

इत्युक्ता तेन वैदेही परिवृत्य शुभानना ।
तृणमन्तरतः कृत्वा तमुवाच निशाचरम् ॥ १७ ॥

रावणके ऐसे वचन सुनकर सुन्दर मुखवाली सीताने अपना मुंह घुमा लिया और एक तिनकेको अपने और रावणके बीचमें करके उस राक्षससे बोली ॥ १७ ॥

अशिवेनातिवामोरूरजस्रं नेत्रवारिणा ।
स्तनावपतितौ बाला संहितावभिवर्षती ।
उवाच वाक्यं तं क्षुद्रं वैदेही पतिदेवता ॥ १८ ॥

अपने पतिको ही देवता माननेवाली, सुन्दर जांघोंवाली वह बाला सीता आंखोंसे निरन्तर गिरनेवाले अकल्याणके सूचक आंसुओंसे अपने सटे हुए और कठोर स्तनोंको भिगोती हुई उस क्षुद्र रावणसे यह वाक्य बोली ॥ १८ ॥

असकृद्वदतो वाक्यमीदृशं राक्षसेश्वर ।
विषादयुक्तमेतत्ते मया श्रुतमभाग्यया ॥ १९ ॥

हे राक्षसेश्वर ! तुमने इस तरहके विषाददायक वचन अनेक बार कहे और वे वचन मुझ अभागिनीने सुने ॥ १९ ॥

तद्भद्रसुख भद्रं ते मानसं विनिवर्त्यताम् ।
परदारास्म्यलभ्या च सततं च पतिव्रता ॥ २० ॥

हे भद्र ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम अब मुझ परसे अपना मन हटा लो । मैं एक तो दूसरेकी स्त्री हूँ, दूसरी कि मैं सदासे पतिव्रता हूं । इसलिये मैं तुमको प्राप्त नहीं हो सकती ॥ २० ॥

न चैवोपयिकी भार्या मानुषी कृपणा तव ।
विवशां धर्षयित्वा च कां त्वं प्रीतिमवाप्स्यसि ॥ २१ ॥

मैं दीन मनुष्य जातिमें उत्पन्न हुई हूं, इसलिए तुम्हारी स्त्री नहीं बन सकती । यदि मुझको विवश करके मेरा अपमान कर भी दोगे, तो उससे तुम्हें क्या लाभ होगा ? ॥ २१ ॥

प्रजापतिसमो विप्रो ब्रह्मयोनिः पिता तव।
न च पालयसे धर्मं लोकपालसमः कथम् ॥ २२ ॥
तुम्हारे पिता ब्रह्माके पौत्र ज्ञानी और प्रजापतिके समान हैं। फिर भी तुम धर्मका पालन नहीं करते, तब फिर तुम लोकपालके समान कैसे हो ? ॥ २२ ॥

भ्रातरं राजराजानं महेश्वरसखं प्रभुम्।
धनेश्वरं व्यपदिशन्कथं त्विह न लज्जसे ॥ २३ ॥
तुम्हारे भाई धनेश्वर कुबेर राजाओंके भी राजा, शिवके मित्र और सामर्थ्यशाली हैं, उनका नाम लेते हुए लज्जित क्यों नहीं होते ? ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वा प्रारुदत्सीता कम्पयन्ती पयोधरौ।
शिरोधरां च तन्वङ्गी मुखं प्रच्छाद्य वाससा ॥ २४ ॥
यह कहकर तन्वङ्गी सीता अपनी गर्दनको नीची करके तथा अपने मुखको कपडेसे ढककर अपने दोनों स्तनोंको कंपाती हुई फूट फूटकर रोने लगी ॥ २४ ॥

तस्या रुदत्या भामिन्या दीर्घा वेणी सुसंयता।
ददृशे स्वसिता स्निग्धा काली व्यालीव मूर्धनि ॥ २५ ॥
रोती हुई सुन्दरी सीताके सिरपर अच्छी तरह गुंथी हुई, काली और चिकनी तथा चमकीली लम्बी वेणी काली सांपिनके समान दिखाई देती थी ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा रावणो वाक्यं सीतयोक्तं सुनिष्ठुरम्।
प्रत्याख्यातोऽपि दुर्मेधाः पुनरेवाब्रवीद्वचः ॥ २६ ॥
सीताके कठोर वचनोंको सुनकर मना करनेपर भी दुर्बुद्धि रावण फिर यह बोला ॥ २६ ॥

काममङ्गानि मे सीते दुनोतु मकरध्वजः।
न त्वामकामां सुश्रोणीं समेष्ये चारुहासिनीम् ॥ २७ ॥
हे सीते ! कामदेव भले ही अपनी इच्छानुसार दुःख दे, परन्तु मैं उत्तम हंसनेवाली तुमसे विना तुम्हारी इच्छाके कुछ नहीं करूंगा ॥ २७ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं यत्त्वमद्यापि मानुषम्।
आहारभूतमस्माकं राममेवानुरुध्यसे ॥ २८ ॥
तुम अब भी हमारे भक्ष्य मनुष्य रामसे प्रेम करती हो, ऐसी स्थितिमें मैं क्या कर सकता हूँ ? ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वा तामनिन्द्याङ्गीं स राक्षसगणेश्वरः।
तत्रैवान्तर्हितो भूत्वा जगामाभिमतां दिशम् ॥ २९ ॥
अनिन्दित अंगोंवाली सीतासे ऐसा कहकर राक्षसराज रावण वहीं अन्तर्धान होकर अपनी अभिलषित दिशाकी ओर चला गया ॥ २९ ॥

राक्षसीभिः परिवृता वैदेही शोककर्शिता।
सेव्यमाना त्रिजटया तत्रैव न्यवसत्तदा ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६५ ॥ ९१३० ॥

सीता भी शोकसे व्याकुल होकर सब राक्षसियोंसे घिरकर तथा त्रिजटासे सेवा पाकर उसी वनमें रहने लगी ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ पैंसठवां अध्याय समाप्त ॥ २६५ ॥ ९१३० ॥

: २६६ :

मार्कण्डेय उवाच

राघवस्तु ससौमित्रिः सुग्रीवेणाभिपालितः।
वसन्माल्यवतः पृष्ठे ददर्श विमलं नभः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले— हे राजन् युधिष्ठिर ! सुग्रीवसे रक्षित होकर लक्ष्मणके सहित रामने वर्षाऋतु भर माल्यवान् पर्वतपर निवास किया। वर्षाके पश्चात् रामने निर्मल आकाशको देखा॥ १ ॥

स दृष्ट्वा विमले व्योम्नि निर्मलं शशलक्षणम्।
ग्रहनक्षत्रताराभिरनुयातममित्रहा ॥ २ ॥

शत्रुनाशी रामने निर्मल आकाशमें निर्मल चन्द्रमाको तथा ग्रह, नक्षत्र और तारोंको देखा॥२॥

कुमुदोत्पलपद्मानां गन्धमादाय वायुना।
महीधरस्थः शीतेन सहसा प्रतिबोधितः ॥ ३ ॥

एक दिन कमल, कुमुदिनी और नीले कमलकी सुगन्धिसे सुगन्धित पर्वतके शीतल वायुने रामको जगाया, अर्थात् रामने जाना कि शरद् ऋतु आ गई ॥ ३ ॥

प्रभाते लक्ष्मणं वीरमभ्यभाषत दुर्मनाः।
सीतां संस्मृत्य धर्मात्मा रुद्धां राक्षसवेश्मनि ॥ ४ ॥

तब परम धर्मात्मा रामने रावणके घरमें बंदी हुई हुई सीताका स्मरण करके और दुःखसे व्याकुल होकर वीर लक्ष्मणसे कहा ॥ ४ ॥

गच्छ लक्ष्मण जानीहि किष्किन्धायां कपीश्वरम्।
प्रमत्तं ग्राम्यधर्मेषु कृतघ्नं स्वार्थपण्डितम् ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम किष्किन्धाको जाओ और विषयोंमें फंसकर उन्मत्त हुए, कृतघ्न और स्वार्थ साधनेमें चतुर वानरराज सुग्रीवसे मिलो ॥ ५ ॥

योऽसौ कुलाधमो मूढो मया राज्येऽभिषेचितः।
सर्ववानरगोपुच्छा यमृक्षाश्च भजन्ति वै ॥ ६ ॥

मैंने उस मूर्ख कुलाधमको राज्यपर अभिषिक्त किया। मेरे प्रतापसे सब वन्दर, लंगूर और रीछ उसकी सेवा करते हैं ॥ ६ ॥

यदर्थं निहतो वाली मया रघुकुलोद्वह।
त्वया सह महाबाहो किष्किन्धोपवने तदा ॥ ७ ॥

हे रघुकुलोत्तम ! हे महाबाहो ! जिसके लिये मैंने तुम्हारी सहायतासे किष्किन्धाके वनमें वालीको मारा था ॥ ७ ॥

कृतघ्नं तमहं मन्ये वानरापसदं भुवि।
यो मामेवंगतो मूढो न जानीतेऽद्य लक्ष्मण ॥ ८ ॥

उस वानराधर्मको हे लक्ष्मण ! मैं कृतघ्न ही मानता हूँ, जो मूर्ख इस अवस्थामें पडे होनेपर भी मेरी खबर नहीं लेता है ॥ ८ ॥

असौ मन्ये न जानीते समयप्रतिपादनम्।
कृतोपकारं मां नूनमवमन्याल्पया धिया ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! मुझे जान पडता है, कि वह मूर्ख अपनी प्रतिज्ञाका पालन करना नहीं जानता। उस मूर्खकी बुद्धि बहुत कम है, इसीसे वह उपकार करनेपर भी मेरी अवहेलना कर रहा है ॥ ९ ॥

यदि तावदनुद्युक्तः शेते कामसुखात्मकः।
नेतव्यो वालिमार्गेण सर्वभूतगतिं त्वया ॥ १० ॥

तुम जाकर देखो कि यदि वह सीताके लिये कुछ उद्योग न कर रहा हो और केवल कामके वशमें होकर सो रहा हो, तो जिस मार्गसे वाली गया है और जिस मार्गसे सब जगत्के प्राणी जाते हैं, उसी मार्गसे तुम सुग्रीवको भेज देना ॥ १० ॥

अथापि घटतेऽस्माकमर्थे वानरपुङ्गवः।
तमादायैहि काकुत्स्थ त्वरावान्भव मा चिरम् ॥ ११ ॥

हे लक्ष्मण ! यदि वानरराज सुग्रीव हमारे लिये कुछ उद्योग कर रहा हो तो उसको लेकर शीघ्र ही मेरे पास चले आना देर मत करना ॥ ११ ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणो भ्रात्रा गुरुवाक्यहिते रतः।
प्रतस्थे रुचिरं गृह्य समार्गणगुणं धनुः।
किष्किन्धाद्वारमासाद्य प्रविवेशानिवारितः ॥ १२ ॥

बडोंकी आज्ञा पालनेवाले लक्ष्मण अपने भाईकी ऐसी आज्ञा सुनकर चढी हुई डोरीवाले धनुष और वाणोंको लेकर किष्किन्धाके द्वारपर जाकर नगरके भीतर लक्ष्मण चले गये उन्हे किसीने रोका नहीं ॥ १२ ॥

सक्रोध इति तं मत्वा राजा प्रत्युद्ययौ हरिः ।
तं सदारो विनीतात्मा सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
पूजया प्रतिजग्राह प्रीयमाणस्तदर्हया ॥ १३ ॥

जब वानरराज सुग्रीवने सुना कि लक्ष्मण नाराज होकरके किष्किन्धामें आये हैं; तब वह वानरराज सुग्रीव अपनी पत्नीके साथ विनयपूर्वक लक्ष्मणके आगे गया और प्रसन्न होकर सुग्रीवने पूजाके योग्य लक्ष्मणकी पूजा की ॥ १३ ॥

तमब्रवीद्रामवचः सौमित्रिरकुतोभयः ।
स तत्सर्वमशेषेण श्रुत्वा प्रह्वः कृताञ्जलिः ॥ १४ ॥
सभृत्यदारो राजेन्द्र सुग्रीवो वानराधिपः ।
इदमाह वचः प्रीतो लक्ष्मणं नरकुञ्जरम् ॥ १५ ॥

निर्भय लक्ष्मणने सुग्रीवसे रामके सब वचन कह सुनाये । हे राजन् ! रामकी आज्ञा सुनकर वानरराज सुग्रीव हाथ जोडकर स्त्री, पुत्र और दासोंके सहित पुरुषसिंह लक्ष्मणसे इस प्रकार बोला ॥ १४-१५ ॥

नास्मि लक्ष्मण दुर्मेधा न कृतघ्नो न निर्घृणः ।
श्रूयतां यः प्रयत्नो मे सीतापर्येषणे कृतः ॥ १६ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं दुर्बुद्धि, कृतघ्न और निर्लज्ज नहीं हूं । मैंने सीताको ढूंढनेका जो प्रयत्न किया है, उसे सुनिये ॥ १६ ॥

दिशः प्रस्थापिताः सर्वे विनीता हरयो मया ।
सर्वेषां च कृतः कालो मासेनागमनं पुनः ॥ १७ ॥

मैंने सब दिशाओंमें प्रधान वन्दरोंको भेज दिया है, और सबको समय दे दिया है कि वे एक महीनेमें लौटकर चले आएं ॥ १७ ॥

यैरियं सवना साद्रिः सपुरा सागराम्बरा ।
विचेतव्या मही वीर सग्रामनगराकरा ॥ १८ ॥

हे वीर लक्ष्मण ! वे सब वन, पर्वत, नगर, समुद्र और आकाशके सहित समस्त पृथ्वीमें सीताको ढूंढेंगे । उनसे कोई गांव, नगर, वन और पहाडी न बचेगी ॥ १८ ॥

स मासः पञ्चरात्रेण पूर्णो भवितुमर्हति ।
ततः श्रोष्यसि रामेण सहितः सुमहत्प्रियम् ॥ १९ ॥

अब वह महीना पांच दिनमें पूरा होनेवाला है । तब तुम रामके सहित बहुत प्रिय वचनको सुनोगे ॥ १९ ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तेन वानरेन्द्रेण धीमता।
त्यक्त्वा रोषमदीनात्मा सुग्रीवं प्रत्यपूजयत् ॥ २० ॥

बुद्धिमान् वानरराज सुग्रीवके ऐसे वचन सुनकर तेजस्वी लक्ष्मण शान्त हुए और क्रोध छोडकर उन्होंने सुग्रीवका सत्कार किया ॥ २० ॥

स रामं सहसुग्रीवो माल्यवत्पृष्ठमास्थितम्।
अभिगम्योदयं तस्य कार्यस्य प्रत्यवेदयत् ॥ २१ ॥

फिर सुग्रीव और लक्ष्मणने माल्यवान् पर्वतपर बैठे हुए रामके पास जाकर सुग्रीवके कार्यका सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २१ ॥

इत्येवं वानरेन्द्रास्ते समाजग्मुः सहस्रशः।
दिशस्तिस्रो विचित्याथ न तु ये दक्षिणां गताः ॥ २२ ॥

इस प्रकार सहस्रों वानर पूर्व पश्चिम और उत्तरकी दिशाको देखकर लौट आये, परन्तु जो दक्षिण दिशामें गए थे, वे लौटकर नहीं आए ॥ २२ ॥

आचख्युस्ते तु रामाय महीं सागरमेखलाम्।
विचितां न तु वैदेह्या दर्शनं रावणस्य वा ॥ २३ ॥

उन सबने आकर रामसे कहा, कि हम समुद्रपर्यन्त सब पृथ्वीको देख आये, परन्तु सीता और रावणको कहीं न पाया ॥ २३ ॥

गतास्तु दक्षिणामाशां ये वै वानरपुङ्गवाः।
आशावांस्तेषु काकुत्स्थः प्राणानार्तोऽप्यधारयत् ॥ २४ ॥

तब जो वानरश्रेष्ठ दक्षिणकी ओर गये थे, उन्हींमें अपनी आशाको लगाकर काकुत्स्थ राम दुःखसे किसी तरह प्राणोंको धारण किए रहे ॥ २४ ॥

द्विमासोपरमे काले व्यतीते प्लवगास्ततः।
सुग्रीवमभिगम्येदं त्वरिता वाक्यमब्रुवन् ॥ २५ ॥

दो महीने बीतनेके पश्चात् एक दिन कुछ दूसरे बन्दर सुग्रीवके पास जाकर शीघ्रतापूर्वक यह वाक्य बोले ॥ २५ ॥

रक्षितं वालिना यत्तत्स्फीतं मधुवनं महत्।
त्वया च प्लवगश्रेष्ठ तद्भुङ्क्ते पवनात्मजः ॥ २६ ॥

हे वानरराज! जिस समृद्धशाली मधु-वनकी रक्षा वाली और आपने की थी, उसको हनूमान् खा रहे हैं ॥ २६ ॥

वालिपुत्रोऽङ्गदश्चैव ये चान्ये प्लवगर्षभाः ।
विचेतुं दक्षिणामाशां राजन्प्रस्थापितास्त्वया ॥ २७ ॥

हे राजन् ! वालीके पुत्र अङ्गद तथा और जिन वानरोंको आपने दक्षिणकी ओर सीताको ढूंढनेके लिए भेजा था, वे सब मधुवनको खा रहे हैं ॥ २७ ॥

तेषां तं प्रणयं श्रुत्वा मेने स कृतकृत्यताम् ।
कृतार्थानां हि भृत्यानामेतद्भवति चेष्टितम् ॥ २८ ॥

उन सबके ऐसे वचन सुनकर सुग्रीवने सोचा कि ये वानर अपने कार्यमें सफल होकर आये हैं, क्योंकि जो सेवक कार्य सिद्धि कर लेते हैं, वे ही ऐसे ऐसे काम कर सकते हैं ॥ २८ ॥

स तद्रामाय मेधावी शशंस प्लवगर्षभः ।
रामश्चाप्यनुमानेन मेने दृष्टां तु मैथिलीम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् वानरराज सुग्रीवने यह सब समाचार रामसे कहा । रामने भी अनुमानसे जान लिया, कि ये लोग सीताको देख आये हैं ॥ २९ ॥

हनूमत्प्रमुखाश्चापि विश्रान्तास्ते प्लवंगमाः ।
अभिजग्मुर्हरीन्द्रं तं रामलक्ष्मणसंनिधौ ॥ ३० ॥

हनुमान् आदि वानर विश्राम लेनेके बाद राम और लक्ष्मणके पास बैठे हुए महाराज सुग्रीवके पास गये ॥ ३० ॥

गतिं च मुखवर्णं च दृष्ट्वा रामो हनूमतः ।
अगमत्प्रत्ययं भूयो दृष्टा सीतेति भारत ॥ ३१ ॥

हे भारत युधिष्ठिर ! हनूमान्का मुख और चेष्टा देखकर रामको विश्वास हो गया, कि इसने सीताको देखा है ॥ ३१ ॥

हनूमत्प्रमुखास्ते तु वानराः पूर्णमानसाः ।
प्रणेमुर्विधिवद्रामं सुग्रीवं लक्ष्मणं तथा ॥ ३२ ॥

पूर्ण हुए मनोरथवाले हनुमान् आदि बन्दरोंने सुग्रीव, लक्ष्मण और रामको विधिपूर्वक प्रणाम किया ॥ ३२ ॥

तानुवाचागतान्रामः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
अपि मां जीवयिष्यध्वमपि वः कृतकृत्यता ॥ ३३ ॥

तब प्रणाम करते हुए उन बन्दरोंसे रामने बाणोंके सहित धनुष उठाकर कहा, क्या तुम लोग मुझे जिलाओगे ? क्या तुम लोग कार्यमें सिद्धि प्राप्त करके आये हो ? ॥ ३३ ॥

अपि राज्यमयोध्यायां कारयिष्याम्यहं पुनः ।
निहत्य समरे शत्रूनाहृत्य जनकात्मजाम् ॥ ३४ ॥

क्या मैं सब शत्रुओंको युद्धमें मारकर फिर सीताको पाऊंगा ? क्या मैं अयोध्यामें फिर राज्य करूंगा ? ॥ ३४ ॥

असोक्षयित्वा वैदेहीमहत्वा च रिपून्रणे ।
हृतदारोऽवधूतश्च नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३५ ॥

क्योंकि मैं विदेहराजपुत्री सीताको बिना छुडाये और युद्धमें शत्रुओंका संहार किये बिना अपनी पत्नीको खोकर और संन्यासी बनकर जीना नहीं चाहता ॥ ३५ ॥

इत्युक्तवचनं रामं प्रत्युवाचानिलात्मजः ।
प्रियमाख्यामि ते राम दृष्टा सा जानकी मया ॥ ३६ ॥

रामके ऐसे वचन सुनकर वायुपुत्र हनूमान् बोले– हे राम ! मैं आपसे प्रिय समाचार कहता हूँ । मैंने सीताको देख लिया है ॥ ३६ ॥

विचित्य दक्षिणामाशां सपर्वतवनाकराम् ।
श्रान्ताः काले व्यतीते स्म दृष्टवन्तो महागुहाम् ॥ ३७ ॥

जब हम पर्वत और गुफाओंके सहित सब दक्षिण दिशाको ढूंढ चुके और समय बीतनेसे थक भी गये, तब हमें एक बहुत बडी गुफा दिखाई दी ॥ ३७ ॥

प्रविशामो वयं तां तु बहुयोजनमायताम् ।
अन्धकारां सुविपिनां गहनां कीटसेविताम् ॥ ३८ ॥

वह बहुत योजन लम्बी और गहन अन्धकारमय थी । उसके भीतर झाडझंकाड बहुत थे और बहुतसे जन्तु भी रहते थे । तब हम उस गुफाके भीतर घुस गये ॥ ३८ ॥

गत्वा सुमहदध्वानमादित्यस्य प्रभां ततः ।
दृष्टवन्तः स्म तत्रैव भवनं दिव्यमन्तरा ॥ ३९ ॥

बहुत दूर जाकर हमने सूर्यका प्रकाश देखा और वहीं उस गुफाके अन्दर एक सुन्दर स्थान भी देखा ॥ ३९ ॥

मयस्य किल दैत्यस्य तदासीद्वेश्म राघव ।
तत्र प्रभावती नाम तपोऽतप्यत तापसी ॥ ४० ॥

हे राघव ! यह स्थान मय नामक दैत्यका था । वहां एक प्रभावती नामकी तपस्विनी तप करती थी ॥ ४० ॥

तया दत्तानि भोज्यानि पानानि विविधानि च ।
भुक्त्वा लब्धबलाः सन्तस्तयोक्तेन पथा ततः ॥ ४१ ॥

उसने हम लोगोंको अनेक प्रकारके भोजन और पीनेकी वस्तुयें दीं । उसको खाकर हम लोग शान्त हुए और उसके बताये हुए मार्गसे चलने लगे ॥ ४१ ॥

निर्याय तस्मादुद्देशात्पश्यामो लवणाम्भसः ।
समीपे सह्यमलयौ दर्दुरं च महागिरिम् ॥ ४२ ॥

उस गुफासे निकलते ही हम लोगोंने समुद्रके तटपर सह्य, मलय और दर्दुर नामक पर्वतोंको देखा ॥ ४२ ॥

ततो मलयमारुह्य पश्यन्तो वरुणालयम् ।
विषण्णा व्यथिताः खिन्ना निराशा जीविते भृशम् ॥ ४३ ॥

जब मलय पर्वतपर चढकर हमने समुद्र देखा, तब हम उदास, दुःखी और खिन्न हो गए और हम लोगोंने अपने जीनेकी आशा छोड दी ॥ ४३ ॥

अनेकशतविस्तीर्णं योजनानां महोदधिम् ।
तिमिनक्रझषावासं चिन्तयन्तः सुदुःखिताः ॥ ४४ ॥

समुद्र कई सौ योजनका चौडा, मछली, मगर आदि जलजन्तुओंका स्थान और परम भयानक था यह सोचकर हम बहुत दुःखी हो गए ॥ ४४ ॥

तत्रानशनसङ्कल्पं कृत्वासीना वयं तदा ।
ततः कथान्ते गृध्रस्य जटायोरभवत्कथा ॥ ४५ ॥

तब हम सब यह सङ्कल्प करके बैठ गये, कि हम सब लोग अब कुछ न खायेंगे। उसके पश्चात् हम लोग वार्तालाप करने लगे, तो गृद्धराज जटायुका वृत्तान्त आ गया ॥ ४५ ॥

ततः पर्वतशृङ्गाभं घोररूपं भयावहम् ।
पक्षिणं दृष्टवन्तः स्म वैनतेयमिवापरम् ॥ ४६ ॥

तब हमने पर्वतके शिखरके समान शरीरधारी, भयानक, एक दूसरे गरुडके समान विशाल एक पक्षीको देखा ॥ ४६ ॥

सोऽस्मानतर्कयद्भोक्तुमथाभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ।
भोः क एष मम भ्रातुर्जटायोः कुरुते कथाम् ॥ ४७ ॥

वह हमारे पास आकर हमें खा जानेका विचार करने लगा । वह यह वचन बोला– तुम लोग कौन हो ? जो मेरे भाई जटायुका वृत्तान्त कह रहे हो ? ॥ ४७ ॥

सम्पातिर्नाम तस्याहं ज्येष्ठो भ्राता खगाधिपः ।
अन्योन्यस्पर्धयारूढावावामादित्यसंसदम् ॥ ४८ ॥

मैं सम्पाति नामक पक्षीराज हूं। मैं जटायुका वडा भाई हूं। एक वार हम दोनों एक दूसरेसे स्पर्धा करते हुए सूर्यमण्डलकी ओर उड चले ॥ ४८ ॥

ततो दग्धाविमौ पक्षौ न दग्धौ तु जटायुषः ।
तदा मे चिरदृष्टः स भ्राता गृध्रपतिः प्रियः ।
निर्दग्धपक्षः पतितो ह्यहमस्मिन्महागिरौ ॥ ४९ ॥

तब मेरे यह पङ्ख जल गये, परन्तु जटायुके पङ्ख नहीं जले। अपने भाई प्यारे पक्षीराज जटायुको देखे हुए मुझे बहुत समय बीत गया है। मैं पङ्ख जलनेसे इस पर्वतके ऊपर गिर गया ॥४९॥

तस्यैवं वदतोऽस्माभिर्हतो भ्राता निवेदितः ।
व्यसनं भवतश्चेदं संक्षेपाद्वै निवेदितम् ॥ ५० ॥

तब हमने उससे कहा कि तुम्हारा भाई तो मार दिया गया है। इसके साथ ही हमने आपके संकटका सब समाचार उससे संक्षेपसे कहा ॥ ५० ॥

स सम्पातिस्तदा राजञ्श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
विषण्णचेताः पप्रच्छ पुनरस्मानरिंदम ॥ ५१ ॥

हे राजन् राम! सम्पाति हमारे अप्रिय वचनोंको सुनकर बहुत दुःखी हुआ। तब, हे शत्रुनाशी राम ! वह हमसे फिर पूछने लगा ॥ ५१ ॥

कः स रामः कथं सीता जटायुश्च कथं हतः ।
इच्छामि सर्वमेवैतच्छ्रोतुं प्लवगसत्तमाः ॥ ५२ ॥

यह राम कौन हैं ? सीता किस प्रकार चुराई गयी ? और जटायु कैसे मारा गया ? हे वानर-श्रेष्ठो ! मैं इस सब वृत्तान्तको तुम लोगोंसे सुनना चाहता हूँ ॥ ५२ ॥

तस्याहं सर्वमेवैतं भवतो व्यसनागमम् ।
प्रायोपवेशने चैव हेतुं विस्तरतोऽब्रुवम् ॥ ५३ ॥

तब हमने आपके ऊपर आये हुए सब संकटोंकी कथा कह दी और अपने अन्न जल छोडनेका कारण भी कह दिया ॥ ५३ ॥

सोऽस्मानुत्थापयामास वाक्येनानेन पक्षिराट् ।
रावणो विदितो मह्यं लङ्का चास्य महापुरी ॥ ५४ ॥

तब पक्षीराज सम्पातिने हम लोगोंको यह कहकर उठाया कि मैं रावणको और उसके महा नगर लङ्काको भी जानता हूँ ॥ ५४ ॥

दृष्टा पारे समुद्रस्य त्रिकूटगिरिकन्दरे ।
भवित्री तत्र वैदेही न मेऽस्त्यत्र विचारणा　　　　　॥ ५५ ॥

लङ्का समुद्रके पार त्रिकूट पर्वतपर है, वहीं सीता होंगी । मैं इस बातको निश्चयसे जानता हूँ ॥ ५५ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा वयमुत्थाय सत्वराः ।
सागरप्लवने मन्त्रं मन्त्रयामः परन्तप　　　　　॥ ५६ ॥

हम लोग उसके वचन सुनकर जल्दी ही खडे हो गये । तब, हे शत्रुनाशी राम ! समुद्र लांघनेके लिये विचार करने लगे ॥ ५६ ॥

नाध्यवस्यद्यदा कश्चित्सागरस्य विलङ्घने ।
ततः पितरमाविश्य पुप्लुवेऽहं महार्णवम् ।
शतयोजनविस्तीर्णं निहत्य जलराक्षसीम्　　　　　॥ ५७ ॥

हे शत्रुनाशन ! जब हम लोगोंने समुद्रसे पार होनेका उपाय कोई न देखा, तब अपने पिता वायुका आश्रय लेकर मैं उस चारसौ कोस चौडे समुद्रको एक जलराक्षसीको मारकर लांघ गया ॥ ५७ ॥

तत्र सीता मया दृष्टा रावणान्तःपुरे सती ।
उपवासतपःशीला भर्तृदर्शनलालसा ।
जटिला मलदिग्धाङ्गी कृशा दीना तपस्विनी　　　　　॥ ५८ ॥

वहां लङ्कामें जाकर रावणके अंतःपुरमें पतिव्रता सीताका दर्शन किया । वह तपस्विनी अत्यन्त दुःखिनी, जटाधारिणी, मलिन शरीरवाली, उपवास और तप करती हुई आपके दर्शनकी इच्छा कर रही है ॥ ५८ ॥

निमित्तैस्तामहं सीतामुपलभ्य पृथग्विधैः ।
उपसृत्याब्रुवं चार्यामभिगम्य रहोगताम्　　　　　॥ ५९ ॥

जब मैंने अनेक लक्षणोंसे जान लिया, कि यही सीता है, तो एकान्तमें बैठी हुई उन आर्याके पास जाकर बोला ॥ ५९ ॥

सीते रामस्य दूतोऽहं वानरो मारुतात्मजः ।
त्वद्दर्शनमभिप्रेप्सुरिह प्राप्तो विहायसा　　　　　॥ ६० ॥

हे सीते ! मैं जातिका वानर, पवनका पुत्र हनूमान् रामका दूत बनकर आया हूं । मैं आपके दर्शनकी इच्छासे आकाशमार्गसे लङ्कामें आया हूं ॥ ६० ॥

राजपुत्रौ कुशलिनौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
सर्वशाखामृगेन्द्रेण सुग्रीवेणाभिपालितौ ॥ ६१ ॥

राजपुत्र राम और लक्ष्मण ये दोनों भाई कुशलसे हैं। सब वानरोंके राजा सुग्रीव उनकी रक्षा करते हैं ॥ ६१ ॥

कुशलं त्वाब्रवीद्रामः सीते सौमित्रिणा सह ।
सखिभावाच्च सुग्रीवः कुशलं त्वानुपृच्छति ॥ ६२ ॥

हे सीते ! राम और लक्ष्मण आपका कुशल पूछते हैं। उनके मित्र होनेके कारण सुग्रीवने भी आपसे कुशल प्रश्न किया है ॥ ६२ ॥

क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सर्वशाखामृगैः सह ।
प्रत्ययं कुरु मे देवि वानरोऽस्मि न राक्षसः ॥ ६३ ॥

आपके पति राम सब वानरोंके सहित यहां आवेंगे। हे देवि ! आप विश्वास कीजिये मैं राक्षस नहीं हूँ, बन्दर हूँ ॥ ६३ ॥

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सीता मां प्रत्युवाच ह ।
अवैमि त्वां हनूमन्तमविन्ध्यवचनादहम् ॥ ६४ ॥

मेरे वचन सुनकर सीता क्षणमात्र ध्यान करके बोली— मुझसे अविन्ध्यनामक राक्षसने पहिले ही तुम्हारे बारेमें कहा था, इसलिये तुम हनूमान्‌को मैं जानती हूँ ॥ ६४ ॥

अविन्ध्यो हि महाबाहो राक्षसो वृद्धसंमतः ।
कथितस्तेन सुग्रीवस्त्वद्विधैः सचिवैर्वृतः ॥ ६५ ॥

हे महाबाहो ! अविन्ध्य नामक एक बुद्धिमान् बूढा राक्षस है। उसने कहा था, कि तुम्हारे समान मंत्रियोंसे सम्पन्न एक सुग्रीव हैं ॥ ६५ ॥

गम्यतामिति चोक्त्वा मां सीता प्रादादिमं मणिम् ।
धारिता येन वैदेही कालमेतमनिन्दिता ॥ ६६ ॥

तब सीताने मुझसे कहा "अब तुम जाओ" और चलते समय यह मणि भी मुझे दी। अनिन्दिता सीता आजतक इसी मणिके कारण जीती थी ॥ ६६ ॥

प्रत्ययार्थं कथां चेमां कथयामास जानकी ।
क्षिप्तामिषीकां काकस्य चित्रकूटे महागिरौ ।
भवता पुरुषव्याघ्र प्रत्यभिज्ञानकारणात् ॥ ६७ ॥

उन्होंने विश्वासके लिये मुझसे यह कथा भी कही है। हे पुरुषसिंह ! आपने चित्रकूट नामक पर्वतपर कौएको मारनेके लिए एक सींक चलाई थी। यह कथा सीताने अपनी पहचान करानेके लिए कही है ॥ ६७ ॥

श्रावयित्वा तदात्मानं ततो दग्ध्वा च तां पुरीम् ।
संप्राप्त इति तं रामः प्रियवादिनमर्चयत् ॥ ६८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६६ ॥ ९१९८ ॥

तब मैंने अपना वृत्तान्त कहा, फिर मैंने लङ्काको जला दिया; तब आपके पास आया हूं । हनूमान्‌के ऐसे वचन सुनकर रामने उनकी बहुत प्रशंसा की ॥ ६८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ छियासठवां अध्याय समाप्त ॥ २६६ ॥ ९१९८ ॥

: २६७ :

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तत्रैव रामस्य समासीनस्य तैः सह ।
समाजग्मुः कपिश्रेष्ठाः सुग्रीववचनात्तदा ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! उसी समय सुग्रीवकी आज्ञासे उत्तम बानरोंके समूह उसी माल्यवान् पर्वतपर उसके साथ बैठे हुए रामके पास पहुंचने लगे ॥ १ ॥

वृतः कोटिसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ।
श्वशुरो वालिनः श्रीमान्सुषेणो राममभ्ययात् ॥ २ ॥

एक हजार करोड बलवान् वानरोंके सहित वालीका ससुर श्रीमान् सुषेण नामक बन्दर रामके पास आया ॥ २ ॥

कोटीशतवृतौ चापि गजो गवय एव च ।
वानरेन्द्रौ महावीर्यौ पृथक्पृथगदृश्यताम् ॥ ३ ॥

महाबलवान् वानरराज गज और गवय अलग अलग रूपसे सौ करोड वानरोंके साथ आते हुए दिखाई दिए ॥ ३ ॥

षष्टिकोटिसहस्राणि प्रकर्षन्प्रत्यदृश्यत ।
गोलाङ्गूलो महाराज गवाक्षो भीमदर्शनः ॥ ४ ॥

हे महाराज युधिष्ठिर ! घोर रूपवाला गवाक्ष नामक लंगूर साठ हजार करोड वानरोंको लाता हुआ दिखाई दिया ॥ ४ ॥

गन्धमादनवासी तु प्रथितो गन्धमादनः ।
कोटीसहस्रमुग्राणां हरीणां समकर्षत ॥ ५ ॥

गन्धमादनके नामसे प्रसिद्ध गन्धमादन पर्वतपर रहनेवाला बन्दर एक हजार करोड वीर बन्दरोंको लाया ॥ ५ ॥

पनसो नाम मेधावी वानरः सुमहाबलः ।
कोटीर्दश द्वादश च त्रिंशत्पञ्च प्रकर्षति ॥ ६ ॥

पनस नामक महा बलशाली तथा बुद्धिमान् बन्दर सत्तावन करोड बन्दर लेकर आया ॥६॥

श्रीमान्दधिमुखो नाम हरिवृद्धोऽपि वीर्यवान् ।
प्रचकर्ष महत्सैन्यं हरीणां भीमतेजसाम् ॥ ७ ॥

वानरोंमें अत्यन्त वृद्ध, वीर्यवान् और श्रीमान् दधिमुख नामका बन्दर अत्यन्त तेजस्वी बन्दरोंकी एक बडी भारी सेना लेकर आया ॥ ७ ॥

कृष्णानां मुखपुण्ड्राणामृक्षाणां भीमकर्मणाम् ।
कोटीशतसहस्रेण जाम्बवान्प्रत्यदृश्यत ॥ ८ ॥

सौ हजार करोड काले मुखवाले तथा भयंकर कर्मवाले रीछोंके साथ जाम्बवान् आता हुआ दिखाई दिया ॥ ८ ॥

एते चान्ये च बहवो हरियूथपयूथपाः ।
असंख्येया महाराज समीयू रामकारणात् ॥ ९ ॥

इसीप्रकार, हे महाराज ! अनेक वानरोंके झुण्डके अधिपति तथा असंख्य वानर रामके निमित्त आए ॥ ९ ॥

शिरीषकुसुमाभानां सिंहानामिव नर्दताम् ।
श्रूयते तुमुलः शब्दस्तत्र तत्र प्रधावताम् ॥ १० ॥

उनके शरीर शिरीष फूलोंके समान तेजस्वी, शब्द सिंहके समान थे। वे लोग इधर उधर घूमने लगे। तब उनका शब्द चारों ओर सुनाई देने लगा ॥ १० ॥

गिरिकूटनिभाः केचित्केचिन्महिषसंनिभाः ।
शरदभ्रप्रतीकाशाः पिष्टहिङ्गुलकाननाः ॥ ११ ॥

किसीका शरीर पर्वतके समान, किसीका शरीर भैंसेके समान, किसीका शरद् ऋतुके मेघके समान तथा किसीका मुख पीसे हुए हिंगुलके समान लाल था ॥ ११ ॥

उत्पतन्तः पतन्तश्च प्लवमानाश्च वानराः ।
उद्धुन्वन्तोऽपरे रेणून्समाजग्मुः समन्ततः ॥ १२ ॥

कूदते हुए, गिरते हुए, उडते हुए और धूलको उडाते हुए वे सब वानर चारों ओरसे आ आकर वहां इकट्ठे होने लगे ॥ १२ ॥

स वानरमहालोकः पूर्णसागरसंनिभः ।
निवेशमकरोत्तत्र सुग्रीवानुमते तदा ॥ १३ ॥

यह वानरोंकी महासेना भरे हुए समुद्रके समान शोभित हुई। उस दिन सेना सुग्रीवकी आज्ञासे वहीं रही ॥ १३ ॥

ततस्तेषु हरीन्द्रेषु समावृत्तेषु सर्वशः ।
तिथौ प्रशस्ते नक्षत्रे मुहूर्ते चाभिपूजिते ॥ १४ ॥
तेन व्यूढेन सैन्येन लोकानुद्वर्तयन्निव ।
प्रययौ राघवः श्रीमान्सुग्रीवसहितस्तदा ॥ १५ ॥

तदनन्तर उन सब वानरराजाओंके इकट्ठे हो जानेपर उत्तम और प्रशस्त नक्षत्र तथा उत्तम तिथिपर रामने उस सेनाका व्यूह बनाया और श्रीमान् राम सुग्रीवके साथ मानों लोकोंका संहार करनेके लिए वहांसे चल दिये ॥ १४-१५ ॥

मुखमासीत्तु सैन्यस्य हनूमान्मारुतात्मजः ।
जघनं पालयामास सौमित्रिरकुतोभयः ॥ १६ ॥

उस वानरसेनाके व्यूहके मुख स्थानपर पवनपुत्र हनूमान् थे। तथा उसके जघन भागकी रक्षा निर्भीक लक्ष्मण कर रहे थे ॥ १६ ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ राघवौ तत्र रेजतुः ।
वृतौ हरिमहामात्रैश्चन्द्रसूर्यौ ग्रहैरिव ॥ १७ ॥

कवच और दस्ताने आदि पहिने हुए रामचन्द्र और लक्ष्मण उन बन्दरोंके बीचमें ऐसे शोभायमान हुए, जैसे ग्रहोंके बीचमें सूर्य और चन्द्रमा ॥ १७ ॥

प्रबभौ हरिसैन्यं तत्छालतालशिलायुधम् ।
सुमहच्छालिभवनं यथा सूर्योदयं प्रति ॥ १८ ॥

शाल, ताड और शिलाके शस्त्र लिये हुए बन्दरोंकी वह सेना सूर्योदयके समय पके हुए धानके खेतके समान दिखाई देती थी ॥ १८ ॥

नलनीलाङ्गदक्राथमैन्दद्विविदपालिता ।
ययौ सुमहती सेना राघवस्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥

नल, नील, अङ्गद, क्राथ, मयन्द और द्विविदसे रक्षित होकर वह महासेना रामके कार्यको सिद्ध करनेके लिये चली ॥ १९ ॥

विधिवत्सुप्रशस्तेषु बहुमूलफलेषु च ।
प्रभूतमधुमांसेषु वारिमत्सु शिवेषु च ॥ २० ॥
निवसन्ती निराबाधा तथैव गिरिसानुषु ।
उपायाद्धरिसेना सा क्षारोदमथ सागरम् ॥ २१ ॥

अनेक भांतिके उत्तम उत्तम फल, मूल, मद्य, मांस और जलसे भरे हुए सुखदाई पर्वतके शिखरोंपर निर्विघ्न रूपसे निवास करती हुई वह बन्दरोंकी सेना खारे पानीके समुद्रके तटपर जा पहुंची ॥ २०-२१ ॥

द्वितीयसागरनिभं तद्बलं बहुलध्वजम् ।
वेलावनं समासाद्य निवासमकरोत्तदा ॥ २२ ॥

वह सेना अनेक पताकाओंसे शोभायमान दूसरे सागरके समान जान पडती थी। उस दिन उस सेनाने समुद्रके तटपर निवास किया ॥ २२ ॥

ततो दाशरथिः श्रीमान्सुग्रीवं प्रत्यभाषत ।
मध्ये वानरमुख्यानां प्राप्तकालमिदं वचः ॥ २३ ॥

तब दशरथपुत्र श्रीमान् रामने सब मुख्य वानरोंके बीचमें सुग्रीवसे समयानुसार यह वचन कहा ॥ २३ ॥

उपायः को नु भवतां मतः सागरलङ्घने।
इयं च महती सेना सागरश्चापि दुस्तरः ॥ २४ ॥

आपने समुद्रको पार करनेका कौनसा उपाय सोचा है? यह सेना बडी भारी है, और समुद्र भी अति दुस्तर है ॥ २४ ॥

तत्रान्ये व्याहरन्ति स्म वानराः पटुमानिनः ।
समर्था लङ्घने सिन्धोर्न तु कृत्स्नस्य वानराः ॥ २५ ॥

बहुतसे अभिमानी बन्दर बोले– कि हम लोग समुद्रको लांघकर ही पार चले जायेंगे। परन्तु यह उपाय सबके करने योग्य नहीं है ॥ २५ ॥

केचिन्नौभिर्व्यवस्यन्ति केचिच्च विविधैः प्लवैः ।
नेति रामश्च तान्सर्वान्सान्त्वयन्प्रत्यभाषत ॥ २६ ॥

किसीने नौकाओंके द्वारा पार जानेका उपाय बताया, तो किसीने बेडे बांधकर पार उतरनेका उपाय बतलाया। परन्तु रामने सबको शान्त करके कहा– कि पार जानेका यह कोई भी उपाय नहीं है ॥ २६ ॥

शतयोजनविस्तारं न शक्ताः सर्ववानराः ।
क्रान्तुं तोयनिधिं वीरा नैषा वो नैष्ठिकी मतिः ॥ २७ ॥

इससे सब वानर समुद्रको लांघ नहीं सकेंगे, क्योंकि सौ योजन बिस्तारवाले, समुद्रको लांघनेमें सब वानर समर्थ नहीं हैं, इसलिए ये तुम्हारे विचार यथार्थ नहीं हैं ॥ २७ ॥

नावो न सन्ति सेनाया बह्वयस्तारयितुं तथा ।
वणिजामुपघातं च कथमस्मद्विधश्चरेत् ॥ २८ ॥

इतनी अधिक नौकायें भी नहीं हैं; जिनसे सम्पूर्ण सेना पार जा सके और व्यापारियोंकी नौकाओंको रोककर व्यापारको हमारे ऐसे पुरुष कैसे बन्द कर सकते हैं ? ॥ २८ ॥

विस्तीर्णं चैव नः सैन्यं हन्याच्छिद्रेषु वै परः ।
प्लवोडुपप्रतारश्च नैवात्र मम रोचते ॥ २९ ॥

हमारी सेना बहुत बडी है, उसका कोई भी छिद्र पानेसे शत्रु उसका नाश कर सकता है । इस कारण नौका या बेडोंके द्वारा सेनाको पार करना मुझे उचित नहीं मालूम होता ॥ २९ ॥

अहं त्विमं जलनिधिं समारप्स्याम्युपायतः ।
प्रतिशेष्याम्युपवसन्दर्शयिष्यति मां ततः ॥ ३० ॥

मैं इस समुद्रकी आराधना करूंगा । मैं इसी समुद्रके तटपर बैठकर उपवास करूंगा, तब समुद्र स्वयं दर्शन देकर मुझे मार्ग बतायेगा ॥ ३० ॥

न चेद्दर्शयिता मार्गं धक्ष्याम्येनमहं ततः ।
महास्त्रैरप्रतिहतैरत्यग्निपवनोज्ज्वलैः ॥ ३१ ॥

यदि समुद्र मुझे मार्ग न देगा तो मैं अग्निके समान प्रज्वलित और निवारण करनेके अयोग्य शस्त्रोंसे उसे भस्म कर दूंगा ॥ ३१ ॥

इत्युक्त्वा सहसौमित्रिरुपस्पृश्याथ राघवः ।
प्रतिशिश्ये जलनिधिं विधिवत्कुशसंस्तरे ॥ ३२ ॥

इस प्रकारसे कहकर लक्ष्मणके सहित राम समुद्रके तटपर विधिपूर्वक कुशासन बिछाकर बैठ गये ॥ ३२ ॥

सागरस्तु ततः स्वप्ने दर्शयामास राघवम् ।
देवो नदनदीभर्ता श्रीमान्यादोगणैर्वृतः ॥ ३३ ॥

इसके पश्चात् स्वप्नमें नद नदियोंका स्वामी तथा अनेकों जलजन्तुओंसे भरा हुआ समुद्र रामके पास आया ॥ ३३ ॥

कौसल्यामातरित्येवमाभाष्य मधुरं वचः ।
इदमित्याह रत्नानामाकरैः शतशो वृतः ॥ ३४ ॥

सैकडों रत्नोंकी खानोंसे समृद्ध वह समुद्र 'कौसल्यापुत्र उठो' इस प्रकार मीठे वचन कहकर यह बोला ॥ ३४ ॥

ब्रूहि किं ते करोम्यत्र साहाय्यं पुरुषर्षभ ।
इक्ष्वाकुरस्मि ते ज्ञातिरिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! कहिये मैं आपकी क्या सहायता करूं ? मैं भी आपकी जाति और इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुआ हूं । यह सुनकर श्रीराम उससे बोले ॥ ३५ ॥

मार्गमिच्छामि सैन्यस्य दत्तं नदनदीपते ।
येन गत्वा दशग्रीवं हन्यां पौलस्त्यपांसनम् ॥ ३६ ॥

हे नद और नदियोंके स्वामी ! मैं सेनाके लिये मार्ग चाहता हूं, जिस मार्गसे जाकर मैं पुलस्त्यकुलकलङ्क रावणको मारूं ॥ ३६ ॥

यद्येवं याचतो मार्गं न प्रदास्यति मे भवान् ।
शरैस्त्वां शोषयिष्यामि दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ॥ ३७ ॥

यदि तुम मांगनेसे मुझे मार्ग न दोगे तो मैं मन्त्रोंसे अभिमंत्रित दिव्य अस्त्र और बाणोंसे तुमको सुखा दूंगा ॥ ३७ ॥

इत्येवं ब्रुवतः श्रुत्वा रामस्य वरुणालयः ।
उवाच व्यथितो वाक्यमिति बद्धाञ्जलिः स्थितः ॥ ३८ ॥

रामके ऐसे वचन सुनकर समुद्र हाथ जोडकर खडा हो गया और बहुत व्यथित होकर यह बोला ॥ ३८ ॥

नेच्छामि प्रतिघातं ते नास्मि विघ्नकरस्तव ।
शृणु चेदं वचो राम श्रुत्वा कर्तव्यमाचर ॥ ३९ ॥

हे राम ! मैं तुमको रोकना नहीं चाहता; मैं तुम्हारा विघ्नकारी नहीं हूं । मेरे इस वचनको सुनो और सुनकर तदनुसार काम करो ॥ ३९ ॥

यदि दास्यामि ते मार्गं सैन्यस्य व्रजतोऽऽज्ञया ।
अन्येऽप्याज्ञापयिष्यन्ति मामेवं धनुषो बलात् ॥ ४० ॥

यदि मैं तुम्हारी आज्ञासे तुम्हें और तुम्हारे साथ जाती हुई इस सेनाको मार्ग दे दूंगा, तो दूसरे भी अपने धनुषके बलसे मुझे आज्ञा देने लगेंगे ॥ ४० ॥

अस्ति त्वत्र नलो नाम वानरः शिल्पिसंमतः ।
त्वष्टुर्देवस्य तनयो बलवान्विश्वकर्मणः ॥ ४१ ॥

तुम्हारी सेनामें नल नामक वानर शिल्पी (इंजिनीयर) है। वह विश्वकर्माका पुत्र और अपने पितासे भी अधिक बलवान् है ॥ ४१ ॥

स यत्काष्ठं तृणं वापि शिलां वा क्षेप्स्यते मयि ।
सर्वं तद्धारयिष्यामि स ते सेतुर्भविष्यति ॥ ४२ ॥

वह जो भी काठ, तृण वा पत्थर मुझमें डालेगा, उन सबको मैं अपने ऊपर ही रख लूंगा और वही तुम्हारा सेतु (पुल) हो जायेगा ॥ ४२ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन्रामो नलमुवाच ह।
कुरु सेतुं समुद्रे त्वं शक्तो ह्यसि मतो मम ॥ ४३ ॥

जब समुद्र ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गया, तब रामने नलसे कहा कि तुम समुद्रपर एक सेतु बांधो। तुम इस कार्यमें समर्थ हो ऐसा मेरा विचार है ॥ ४३ ॥

तेनोपायेन काकुत्स्थः सेतुबन्धमकारयत्।
दशयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ॥ ४४ ॥

इस उपायसे रघुवंशी रामने समुद्रपर सेतु बंधवाया। इस सेतुकी चौडाई चालीस कोस और लम्बाई चार सौ कोसकी थी ॥ ४४ ॥

नलसेतुरिति ख्यातो योऽद्यापि प्रथितो भुवि।
रामस्याज्ञां पुरस्कृत्य धार्यते गिरिसंनिभः ॥ ४५ ॥

यह सेतु अबतक भी नलसेतुके नामसे जगत्में प्रसिद्ध है। रामकी आज्ञासे समुद्रने उस पर्वत जैसे विशाल पुलको अपने ऊपर धारण किया ॥ ४५ ॥

तत्रस्थं स तु धर्मात्मा समागच्छद्विभीषणः।
भ्राता वै राक्षसेन्द्रस्य चतुर्भिः सचिवैः सह ॥ ४६ ॥

वहीं राक्षसेन्द्र रावणका भाई धर्मात्मा विभीषण अपने चार मन्त्रियोंके सहित रामके पास आया ॥ ४६ ॥

प्रतिजग्राह रामस्तं स्वागतेन महामनाः।
सुग्रीवस्य तु शङ्काभूत्प्रणिधिः स्यादिति स्म ह ॥ ४७ ॥

महामनस्वी रामने बडे आदरसे विभीषणको अपनाया। सुग्रीवको यह शङ्का हुई कि यह दूत होगा ॥ ४७ ॥

राघवस्तस्य चेष्टाभिः सम्यक्च चरितेङ्गितैः।
यदा तत्त्वेन तुष्टोऽभूत्तत एनमपूजयत् ॥ ४८ ॥

परन्तु जब राम उसकी सत्य चेष्टा उसके कार्य तथा इंगितोंसे पूरीतरह प्रसन्न हो गए, तब उसका बहुत सम्मान किया ॥ ४८ ॥

सर्वराक्षसराज्ये चाप्यभ्यषिञ्चद्विभीषणम्।
चक्रे च मन्त्रानुचरं सुहृदं लक्ष्मणस्य च ॥ ४९ ॥

सम्पूर्ण राक्षसोंके राज्यपर विभीषणका अभिषेक किया और उसे अपना मन्त्री तथा लक्ष्मणका मित्र बनाया ॥ ४९ ॥

विभीषणमते चैव सोऽत्यक्रामन्महार्णवम् ।
ससैन्यः सेतुना तेन मासेनैव नराधिप ॥ ५० ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! विभीषणकी सम्मतिसे राम एक ही महीनेमें सेनाके सहित समुद्रके पार गये ॥ ५० ॥

ततो गत्वा समासाद्य लङ्कोद्यानान्यनेकशः ।
भेदयामास कपिभिर्महान्ति च बहूनि च ॥ ५१ ॥

इसके पश्चात् लङ्कापुरीमें जाकर बन्दरोंने बडे बडे और बहुत सारे बाग नष्ट कर दिये ॥५१॥

तत्रास्तां रावणामात्यौ राक्षसौ शुकसारणौ ।
चारौ वानररूपेण तौ जग्राह विभीषणः ॥ ५२ ॥

इसके अनन्तर रावणके शुक और सारण नामक दो मन्त्री वानरका रूप धारण करके सेनामें आए; उन्हें विभीषणने पकड लिया ॥ ५२ ॥

प्रतिपन्नौ यदा रूपं राक्षसं तौ निशाचरौ ।
दर्शयित्वा ततः सैन्यं रामः पश्चादवासृजत् ॥ ५३ ॥

जब उन निशाचरोंने फिर राक्षसका रूप धारण किया, तब रामने बन्दरोंकी सम्पूर्ण सेना दिखलाकर उसे बाहर निकाल दिया ॥ ५३ ॥

निवेश्योपवने सैन्यं तच्छूरः प्राज्ञवानरम् ।
प्रेषयामास दौत्येन रावणस्य ततोऽङ्गदम् ॥ ५४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६७ ॥ ९२५२ ॥

सेनाको लंकाके समीप उपवनमें ठहराकर बुद्धिमान् अङ्गदको दूत बनाकर रावणके समीप भेजा ॥ ५४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ सडसठवां अध्याय समाप्त ॥ २६७ ॥ ९२५२ ॥

२६८

मार्कण्डेय उवाच

प्रभूतान्नोदके तस्मिन्बहुमूलफले वने ।
सेनां निवेश्य काकुत्स्थो विधिवत्पर्यरक्षत ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– अन्नजलसे पूर्ण अनेक भांतिके पुष्पोंसे भरे उस वनमें सेनाको ठहरा करके राम उस सेनाकी विधिपूर्वक रक्षा करने लगे ॥ १ ॥

रावणश्च विधिं चक्रे लङ्कायां शास्त्रनिर्मितम् ।
प्रकृत्यैव दुराधर्षा दृढप्राकारतोरणा ॥ २ ॥

रावण भी शास्त्रमें लिखी हुई विधिसे युद्ध सामग्री इकट्ठी करने लगा। लङ्का स्वभावहीसे शत्रुओंके जीतनेके अयोग्य दृढ परकोटेवाली थी ॥ २ ॥

अगाधतोयाः परिखा मीननक्रसमाकुलाः ।
बभूवुः सप्त दुर्धर्षाः खादिरैः शङ्कुभिश्चिताः ॥ ३ ॥

उसके चारों ओरकी खाइयोंमें अथाह जल भरा हुआ था, जिसमें मछलियां और मगर भरे हुए थे। लङ्काके सात द्वारोंमें खैरके किवाड लगे हुए थे जो बहुत ही मजबूत थे ॥ ३ ॥

कर्णाट्टयन्त्रदुर्धर्षा बभूवुः सहुडोपलाः ।
साशीविषघटायोधाः ससर्जरसपांसवः ॥ ४ ॥

वे किवाड ऐसे यन्त्रोंसे युक्त थे, कि उनको कोई भी नष्ट नहीं कर सकता था; तथा गोलोंके ढेर लगे थे; कहीं विषसे भरे हुए घडोंके ढेर, कहीं राल और बारूदके ढेर लगे थे ॥ ४ ॥

मुसलालातनाराचतोमरासिपरश्वधैः ।
अन्विताश्च शतघ्नीभिः समधूच्छिष्टमुद्गराः ॥ ५ ॥

कहींपर मूसल, आलातवान्, तोमर, खड्ग, परश्वध और तोपोंके ढेर लगे हुए थे। कहींपर मोमसे चिकने गए मुद्गर रक्खे थे ॥ ५ ॥

पुरद्वारेषु सर्वेषु गुल्माः स्थावरजङ्गमाः ।
बभूवुः पत्तिबहुलाः प्रभूतगजवाजिनः ॥ ६ ॥

नगरके सब द्वारोंमें अनेक भांतिके अचल बुर्ज बने हुए थे तथा सैनिकोंके अनेक दल सर्वत्र घूमते रहते थे, जिनमें अनेक पैदल और हाथीसवार और घुडसवार थे ॥ ६ ॥

अङ्गदस्त्वथ लङ्काया द्वारदेशमुपागतः ।
विदितो राक्षसेन्द्रस्य प्रविवेश गतव्यथः ॥ ७ ॥

अङ्गद लङ्काके द्वारपर जाकर रावणको अपने आनेकी सूचना देकर निर्भीकतासे भीतर गया ॥७॥

मध्ये राक्षसकोटीनां बह्वीनां सुमहाबलः ।
शुशुभे मेघमालाभिरादित्य इव संवृतः ॥ ८ ॥

राक्षसोंकी सभामें महाबली अङ्गदकी ऐसी शोभा हुई, जैसी मेघोंके बीचमें सूर्यकी होती है ॥८॥

स समासाद्य पौलस्त्यममात्यैरभिसंवृतम् ।
रामसंदेशमामन्त्र्य वाग्मी वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ९ ॥

अंगद मन्त्रियोंके सहित बैठे हुए पुलस्त्य कुलमें उत्पन्न रावणके पास जाकर रामचन्द्रके सन्देश इस प्रकारसे कहने लगा ॥ ९ ॥

आह त्वां राघवो राजन्कोसलेन्द्रो महायशाः ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यं तदादत्स्व कुरुष्व च ॥ १० ॥

हे राजन् ! महायशस्वी कोशलाधिपति रघुवंशी रामने समयानुसार तुमसे ये वचन कहे हैं, उन्हें तुम मानो और वैसे ही करो ॥ १० ॥

अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम् ।
विनश्यन्त्यनयाविष्टा देशाश्च नगराणि च ॥ ११ ॥

अनीति करनेवाले पापी राजाको पाकर अनीतिसे रक्षित होनेके कारण देश और नगर नष्ट हो जाते हैं ॥ ११ ॥

त्वयैकेनापराद्धं मे सीतामाहरता बलात् ।
वधायानपराद्धानामन्येषां तद्भविष्यति ॥ १२ ॥

अकेले तुमने बलपूर्वक सीताको हरकर मेरा अपराध किया है, किन्तु यह तुम्हारा अपराध अनेक अन्य निरपराधी जनोंके वधका कारण बनेगा ॥ १२ ॥

ये त्वया बलदर्पाभ्यामाविष्टेन वनेचराः ।
ऋषयो हिंसिताः पूर्वं देवाश्चाप्यवमानिताः ॥ १३ ॥

तुमने जो बलके अभिमानसे अनेक वनवासी ऋषियोंको मारा है, देवताओंका अपमान किया है ॥ १३ ॥

राजर्षयश्च निहता रुदन्त्यश्चाहृताः स्त्रियः ।
तदिदं समनुप्राप्तं फलं तस्यानयस्य ते ॥ १४ ॥

राजऋषियोंका नाश किया है, रोती हुई स्त्रियोंको हरा है, उन सब पापोंका फल अब उदय हुआ है ॥ १४ ॥

हन्तास्मि त्वां सहामात्यं युध्यस्व पुरुषो भव ।
पश्य मे धनुषो वीर्यं मानुषस्य निशाचर ॥ १५ ॥

हे निशाचर ! तुम पुरुष बनकर मुझसे लडो । मैं मंत्रियोंके सहित तुमको मारूंगा । मुझ मनुष्यके धनुषका प्रताप देखो ॥ १५ ॥

मुच्यतां जानकी सीता न मे मोक्ष्यसि कर्हिचित् ।
अराक्षसमिमं लोकं कर्तास्मि निशितैः शरैः ॥ १६ ॥

जानकीको शीघ्र छोड दो । यदि न छोडोगे तो मैं तीक्ष्णबाणोंसे जगत्को निशाचरोंसे रहित कर दूंगा ॥ १६ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य दूतस्य परुषं वचः ।
श्रुत्वा न ममृषे राजा रावणः क्रोधमूर्छितः ॥ १७ ॥

इसप्रकार बोलते हुए उस दूतके ऐसे कठोर वचनको सुनके रावण सहन न कर सका और क्रोधसे मूर्च्छितसा हो गया ॥ १७ ॥

इङ्गितज्ञास्ततो भर्तुश्चत्वारो रजनीचराः ।
चतुर्ष्वङ्गेषु जगृहुः शार्दूलमिव पक्षिणः ॥ १८ ॥

अपने स्वामीके संकेतोंको जाननेवाले चार राक्षस अङ्गदके शरीरमें उसीप्रकार लिपट गये, जैसे शार्दूलके अङ्गमें पक्षी लिपटते हैं ॥ १८ ॥

तांस्तथाङ्गेषु संसक्तानङ्गदो रजनीचरान् ।
आदायैव खमुत्पत्य प्रासादतलमाविशत् ॥ १९ ॥

अङ्गमें लिपटे हुए राक्षसोंके सहित अङ्गद आकाशमें उडकर राजभवनकी छतपर बैठ गया ॥ १९॥

वेगेनोत्पततस्तस्य पेतुस्ते रजनीचराः ।
भुवि संभिन्नहृदयाः प्रहारपरिपीडिताः ॥ २० ॥

वेगके साथ उडनेसे वे चारों निशाचर पृथ्वीमें गिर गये, अत्यधिक प्रहार होनेके कारण उनका हृदय फट गया ॥ २० ॥

स मुक्तो हर्म्यशिखरात्तस्मात्पुनरवापतत् ।
लङ्घयित्वा पुरीं लङ्कां स्वबलस्य समीपतः ॥ २१ ॥

अगंद राजभवनकी छतसे उडकर लङ्कापुरीको लांघकर अपनी सेनाके समीप आया ॥ २१ ॥

कोसलेन्द्रमथाभ्येत्य सर्वमावेद्य चाङ्गदः ।
विशश्राम स तेजस्वी राघवेणाभिनन्दितः ॥ २२ ॥

रामचन्द्रके समीप जाकर अंगदने सब कथा सुना दी और रामसे आदर पाकर अंगदने विश्राम किया ॥ २२ ॥

ततः सर्वाभिसारेण हरीणां वातरंहसाम् ।
भेदयामास लङ्कायाः प्राकारं रघुनन्दनः ॥ २३ ॥

पश्चात् रघुनन्दन रामने वन्दरोंकी सब सेनाको भेजकर लङ्काकी चार दिवारीको तुडवा डाला ॥ २३ ॥

विभीषणर्क्षाधिपती पुरस्कृत्याथ लक्ष्मणः ।
दक्षिणं नगरद्वारमवामृद्नाद्दुरासदम् ॥ २४ ॥

पश्चात् विभीषण और जाम्बवान्को संग लेकर लक्ष्मणने लङ्काके दुर्गम दक्षिण द्वारपर पहुंचकर उसको तोड डाला ॥ २४ ॥

करभारुणगात्राणां हरीणां युद्धशालिनाम् ।
कोटीशतसहस्रेण लङ्कामभ्यपतत्तदा ॥ २५ ॥

सोनेके समान रंगवाले सौ हजार करोड वन्दरोंका यूथ युद्ध करनेके लिए लङ्कामें पहुंचा ॥२५॥

उत्पतद्भिः पतद्भिश्च निपतद्भिश्च वानरैः ।
नादृश्यत तदा सूर्यो रजसा नाशितप्रभः ॥ २६ ॥

हे राजन्! उस समय वन्दरोंके उडने और गिरनेसे ऐसी धूल उडी कि सूर्य छिप गया ॥२६॥

शालिप्रसूनसदृशैः शिरीषकुसुमप्रभैः ।
तरुणादित्यसदृशैः शरगौरैश्च वानरैः ॥ २७ ॥
प्राकारं ददृशुस्ते तु समन्तात्कपिलीकृतम् ।
राक्षसा विस्मिता राजन्सस्त्रीवृद्धाः समन्ततः ॥ २८ ॥

धानोंकी वाल, सिरसके फल, प्रातःकालके सूर्य और सनके समान रंगवाले वन्दरोंसे नगरकी चार दिवारोंको पूरित देखके वालक बूढे और स्त्रियोंके सहित सब राक्षस विस्मित हो गये ॥ २७-२८ ॥

बिभिदुस्ते मणिस्तम्भान्कर्णाट्टशिखराणि च ।
भग्नोन्मथितवेगानि यन्त्राणि च विचिक्षिपुः ॥ २९ ॥

वन्दरोंने मणियोंके खम्भ और पत्थरोंके स्थानोंको तोडकर गिरा दिया, यन्त्रोंको तोडके इधर उधर फेंक दिये ॥ २९ ॥

परिगृह्य शतघ्नीश्च सचक्राः सहुडोपलाः ।
चिक्षिपुर्भुजवेगेन लङ्कामध्ये महाबलाः ॥ ३० ॥

वे बलशाली वानर तोपोंको गोलोंके सहित उठाकर लंकामें फेंकने लगे ॥ ३० ॥

प्राकारस्थाश्च ये केचिन्निशाचरगणास्तदा ।
प्रदुद्रुवुस्ते शतशः कपिभिः समभिद्रुताः ॥ ३१ ॥

चार दिवारीके समीप जितने राक्षस थे, वे वानरोंके भयसे इधर उधरको भाग गये ॥ ३१ ॥

ततस्तु राजवचनाद्राक्षसाः कामरूपिणः ।
निर्ययुर्विकृताकाराः सहस्रशतसङ्घशः ॥ ३२ ॥

उसके पश्चात् राजाज्ञाको पाके कामरूपी भयंकर आकारवाले हजारों राक्षस निकल आए ॥३२॥

शस्त्रवर्षाणि वर्षन्तो द्रावयन्तो वनौकसः ।
प्राकारं शोधयन्तस्ते परं विक्रममास्थिताः ॥ ३३ ॥

वे शस्त्रोंकी वर्षासे वन्दरोंको डराते और चार दिवारीकी शोभाको बढाते लङ्कासे निकले और पराक्रम दिखाने लगे ॥ ३३ ॥

स माषराशिसदृशैर्बभूव क्षणदाचरैः ।
कृतो निर्वानरो भूयः प्राकारो भीमदर्शनैः ॥ ३४ ॥

काले उडदकी ढेरके समान काल कलूटे उन भयानक शरीरवाले राक्षसोंने क्षणभरमें चार दिवारीको बन्दरोंसे खाली कर दिया ॥ ३४ ॥

पेतुः शूलविभिन्नाङ्गा बहवो वानरर्षभाः ।
स्तम्भतोरणभग्नाश्च पेतुस्तत्र निशाचराः ॥ ३५ ॥

अनेक वानर त्रिशूलोंसे कटकर पृथ्वीमें गिर पडे और खम्भे तथा वृक्षोंकी मारसे राक्षस भी बहुत पृथ्वीपर गिरे ॥ ३५ ॥

केशाकेश्यभवद्युद्धं रक्षसां वानरैः सह ।
नखैर्दन्तैश्च वीराणां खादतां वै परस्परम् ॥ ३६ ॥

बन्दर और राक्षस परस्पर केश पकडके लडने लगे । दांत और नाखूनोंसे काटकर एक दूसरेको खाने लगे ॥ ३६ ॥

निष्टनन्तो ह्युभयतस्तत्र वानरराक्षसाः ।
हता निपतिता भूमौ न मुञ्चन्ति परस्परम् ॥ ३७ ॥

वन्दर और राक्षस शब्द करके पृथ्वीपर गिर पडते थे और पृथ्वीपर गिरते हुए भी एक दूसरेको नहीं छोडते थे ॥ ३७ ॥

रामस्तु शरजालानि ववर्ष जलदो यथा ।
तानि लङ्कां समासाद्य जघ्नुस्तान्रजनीचरान् ॥ ३८ ॥

रामने भी बाणोंकी ऐसी वर्षा की जैसे मेघ जलकी वर्षा करते हैं । रामके बाण लङ्कामें जाकर राक्षसोंको मारने लगे ॥ ३८ ॥

सौमित्रिरपि नाराचैर्दृढधन्वा जितक्लमः ।
आदिश्यादिश्य दुर्गस्थान्पातयामास राक्षसान् ॥ ३९ ॥

लक्ष्मण विना क्लेशके धनुष धारण करके बाणोंसे दुर्गके राक्षसोंको बता बताकर मारने लगे ॥ ३९ ॥

ततः प्रत्यवहारोऽभूत्सैन्यानां राघवाज्ञया ।
कृते विमर्दे लङ्कायां लब्धलक्षो जयोत्तरः ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६८ ॥ ९२९२ ॥

इसके अनन्तर रामकी आज्ञासे लङ्काको ध्वस्त करके लक्ष्यसिद्धिपूर्वक विजय प्राप्त करके वानरोंकी सेना अपने डेरोंको फिर लौट आई ॥ ४० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ अडसठवां अध्याय समाप्त ॥ २६८ ॥ ९२९२ ॥

: २६९ :

मार्कण्डेय उवाच

ततो निविशमानांस्तान्सैनिकान्रावणानुगाः ।
अभिजग्मुर्गणानेके पिशाचक्षुद्ररक्षसाम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! जब रामकी सेना अपने डेरोंमें लौट आई, तब रावणके सेवक पिशाच और छोटे राक्षसोंके झुण्डोंने उनपर आक्रमण कर दिया ॥ १ ॥

पर्वणः पूतनो जम्भः खरः क्रोधवशो हरिः ।
प्ररुजश्चारुजश्चैव प्रघसश्चैवमादयः ॥ २ ॥

उन झुण्डोंके सङ्ग पर्वण, पतन, जम्भ, खर, क्रोधवश, हरि, प्ररुज, अरुज, प्रघस आदि थे ॥ २ ॥

ततोऽभिपततां तेषामदृश्यानां दुरात्मनाम् ।
अन्तर्धानवधं तज्ज्ञश्चकार स विभीषणः ॥ ३ ॥

तब अदृश्य होकर आक्रमण करनेवाले उन दुरात्माओंकी मायाको जाननेवाले विभीषणने उनकी अन्तर्धान मायाका नाश कर दिया ॥ ३ ॥

ते दृश्यमाना हरिभिर्बलिभिर्दूरपातिभिः ।
निहताः सर्वशो राजन्महीं जग्मुर्गतासवः ॥ ४ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! अन्तर्धान मायाके नाश होते ही वे राक्षस वन्दरोंको दीखने लगे । उन बलशाली वानरोंने उन सबको मारके पृथ्वीमें गिरा दिया ॥ ४ ॥

अमृष्यमाणः सबलो रावणो निर्ययावथ ।
व्यूह्य चौशनसं व्यूहं हरीन्सर्वानहारयत् ॥ ५ ॥

तब रावण क्रोध करके सेनासहित निकला और रावणने शुक्रव्यूह बनाके वन्दरोंको घेर लिया ॥ ५ ॥

राघवस्त्वभिनिर्याय व्यूढानीकं दशाननम् ।
बार्हस्पत्यं विधिं कृत्वा प्रत्यव्यूहन्निशाचरम् ॥ ६ ॥

सेनाके सहित व्यूह बनाकर रावणको आया देखकर रघुवंशी रामने बृहस्पति व्यूह बनाके रावणको घेर लिया ॥ ६ ॥

समेत्य युयुधे तत्र ततो रामेण रावणः ।
युयुधे लक्ष्मणश्चैव तथैवेन्द्राजिता सह ॥ ७ ॥

तब राम और रावण लडने लगे तथा लक्ष्मण मेघनादके साथ लडने लगे ॥ ७ ॥

विरूपाक्षेण सुग्रीवस्तारेण च निखर्वटः ।
तुण्डेन च नलस्तत्र पटुशः पनसेन च ॥ ८ ॥

सुग्रीव और विरूपाक्षका, तार और निखर्वटका, तुण्ड और नलका, पटुश और पनसका युद्ध होने लगा ॥ ८ ॥

विषह्यं यं हि यो मेने स स तेन समेयिवान् ।
युयुधे युद्धवेलायां स्वबाहुबलमाश्रितः ॥ ९ ॥

इसमें जिसने जिसको अपने बराबर देखा, वह उससे युद्ध करने लगा, और वह अपने बाहुबलके सहारे उससे लडने लगा ॥ ९ ॥

स संप्रहारो ववृधे भीरूणां भयवर्धनः ।
लोमसंहर्षणो घोरः पुरा देवासुरे यथा ॥ १० ॥

उस युद्धमें प्रहारोंका कायरोंको डरानेवाला ऐसा भयानक लोमहर्षक युद्ध हुआ जैसे पूर्वकालमें देवासुर संग्राममें हुआ था ॥ १० ॥

रावणो राममानर्छच्छक्तिशूलासिवृष्टिभिः ।
निशितैरायसैस्तीक्ष्णै रावणं चापि राघवः ॥ ११ ॥

रावणने शक्ति, शूल और खड्गकी वर्षासे रामको बहुत पीडित किया । ऐसे ही तीक्ष्ण बाणोंसे रामने रावणको व्याकुल कर दिया ॥ ११ ॥

तथैवेन्द्रजितं यत्तं लक्ष्मणो मर्मभेदिभिः ।
इन्द्रजिच्चापि सौमित्रिं बिभेद बहुभिः शरैः ॥ १२ ॥

उसी तरह लक्ष्मणने मर्मभेदी बाणोंसे इन्द्रजित्को और इन्द्रजित्ने भी बहुतसे बाणोंसे सुमित्रा-पुत्र लक्ष्मणको व्याकुल कर दिया ॥ १२ ॥

विभीषणः प्रहस्तं च प्रहस्तश्च विभीषणम् ।
खगपत्रैः शरैस्तीक्ष्णैरभ्यवर्षद्गतव्यथः ॥ १३ ॥

ऐसे ही विभीषणने प्रहस्तको और निर्भीक प्रहस्तने विभीषणको पक्षियोंके पंखोंसे युक्त तेज बाणोंसे व्याकुल कर दिया ॥ १३ ॥

तेषां बलवतामासीन्महास्त्राणां समागमः ।
विव्यथुः सकला येन त्रयो लोकाश्चराचराः ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६९ ॥ ९३०६ ॥

इन बलवान् शस्त्रधारियोंका युद्ध बहुत भयानक हुआ, कि जिससे तीन लोकोंके चराचर व्याकुल हो गये ॥ १४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ उनहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २६९ ॥ ९३०६ ॥

२७०

मार्कण्डेय उवाच

ततः प्रहस्तः सहसा समभ्येत्य विभीषणम्।
गदया ताडयामास विनद्य रणकर्कशः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! तब घोर युद्ध करनेवाले प्रहस्तने शीघ्रताके साथ दौडकर और गर्जकर विभीषणको गदा मारी ॥ १ ॥

स तयाभिहतो धीमान्गदया भीमवेगया।
नाकम्पत महाबाहुर्हिमवानिव सुस्थिरः ॥ २ ॥

उस भयानक वेगवाली गदासे पीडित होकर भी बुद्धिमान् महाबाहु विभीषण हिमाचल पर्वतके समान खडा रहा और जरा भी कम्पायमान न हुआ ॥ २ ॥

ततः प्रगृह्य विपुलां शतघण्टां विभीषणः।
अभिमन्त्र्य महाशक्तिं चिक्षेपास्य शिरः प्रति ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् जिस शक्तिमें सौ घण्टे लगे हुए थे, उसे मन्त्रसे युक्त करके विभीषणने प्रहस्तके सिरकी ओर छोडा ॥ ३ ॥

पतन्त्या स तया वेगाद्राक्षसोऽशनिनादया।
हृतोत्तमाङ्गो ददृशे वातरुग्ण इव द्रुमः ॥ ४ ॥

उस वज्रके समान शब्द करनेवाली शक्तिके लगनेसे प्रहस्तका सिर कट गया। उस समय वह ऐसा दीखने लगा, जैसे कोई हवासे गिरा हुआ वृक्षसे पडा हुआ हो ॥ ४ ॥

तं दृष्ट्वा निहतं संख्ये प्रहस्तं क्षणदाचरम्।
अभिदुद्राव धूम्राक्षो वेगेन महता कपीन् ॥ ५ ॥

राक्षस प्रहस्तको युद्धमें मरा हुआ देखकर धूम्राक्ष बडे वेगसे बन्दरोंकी ओर दौडा ॥ ५ ॥

तस्य मेघोपमं सैन्यमापतद्भीमदर्शनम्।
दृष्ट्वैव सहसा दीर्णा रणे वानरपुङ्गवाः ॥ ६ ॥

उसकी भयानक तथा मेघोंके समान घनी सेनाको आते हुए देखकर मुख्य मुख्य वानर तितर बितर होकर इधर उधर भागने लगे ॥ ६ ॥

ततस्तान्सहसा दीर्णान्दृष्ट्वा वानरपुङ्गवान्।
निर्याय कपिशार्दूलो हनूमान्पर्यवस्थितः ॥ ७ ॥

उन मुख्य बन्दरोंको तितर बितर होकर भागते हुए देखकर पवनपुत्र बन्दरोंमें मुख्य हनूमान् आए ॥ ७ ॥

तं दृष्ट्वावस्थितं संख्ये हरयः पवनात्मजम् ।
वेगेन महता राजन्संन्यवर्तन्त सर्वशः ॥ ८ ॥

हे राजन्! पवनपुत्र हनूमान्‌को युद्धमें खडा हुआ देखकर चारों ओरसे बन्दर युद्ध करनेके लिए वेगसे लौट आए ॥ ८ ॥

ततः शब्दो महानासीत्तुमुलो लोमहर्षणः ।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ ९ ॥

हे राजन्! उस समय एक दूसरेपर आक्रमण करनेवाले राम और रावणकी सेनाके युद्धका भयानक लोमहर्षक शब्द होने लगा ॥ ९ ॥

तस्मिन्प्रवृत्ते सङ्ग्रामे घोरे रुधिरकर्दमे ।
धूम्राक्षः कपिसैन्यं तद् द्रावयामास पत्रिभिः ॥ १० ॥

उस भयानक युद्धमें रुधिरका कीचड हो गया। धूम्राक्षने बाणोंसे बन्दरोंकी उस सेनाको भगा दिया ॥ १० ॥

तं राक्षसमहामात्रमापतन्तं सपत्नजित् ।
तरसा प्रतिजग्राह हनूमान्पवनात्मजः ॥ ११ ॥

उस रावणके महामंत्रीको युद्धमें आते हुए देखकर शत्रुओंका नाश करनेवाले पवनपुत्र हनूमान्‌ने बडे वेगसे जाकर पकड लिया ॥ ११ ॥

तयोर्युद्धमभूद्धोरं हरिराक्षसवीरयोः ।
जिगीषतोर्युधान्योन्यमिन्द्रप्रह्लादयोरिव ॥ १२ ॥

उस मुख्य राक्षस और मुख्य बन्दरका जयकी इच्छासे ऐसा भयानक युद्ध हुआ, जैसा प्रह्लाद और इन्द्रका हुआ था ॥ १२ ॥

गदाभिः परिघैश्चैव राक्षसो जघ्निवान्कपिम् ।
कपिश्च जघ्निवान्रक्षः सस्कन्धविटपैर्द्रुमैः ॥ १३ ॥

राक्षसने गदा और परिघादि शस्त्रोंसे हनूमानको मारा और हनूमान्‌ने शाखायुक्त वृक्षोंसे धूम्राक्षको व्याकुल किया ॥ १३ ॥

ततस्तमतिकायेन साश्वं सरथसारथिम् ।
धूम्राक्षमवधीद्धीमान्हनूमान्मारुतात्मजः ॥ १४ ॥

इसके पश्चात् पवनपुत्र बुद्धिमान् हनूमान्‌ने धूम्राक्षको रथ सारथी और घोडोंके सहित मार डाला ॥ १४ ॥

×

ततस्तं निहतं दृष्ट्वा धूम्राक्षं राक्षसोत्तमम् ।
हरयो जातविस्रम्भा जघ्नुरभ्येत्य सैनिकान् ॥ १५ ॥

राक्षसोत्तम धूम्राक्षको मरा हुआ देखकर हर्षित हुए वन्दरोंने सेनाके अन्य राक्षसोंका वहुत नाश किया ॥ १५ ॥

ते वध्यमाना बलिभिर्हरिभिर्जितकाशिभिः ।
राक्षसा भग्नसंकल्पा लङ्कामभ्यपतन्भयात् ॥ १६ ॥

विजयी वानरोंके मुक्कोंसे पीडित होकर राक्षस भयभीत होकर अपनी आशाओंको त्यागकर लङ्काको चले गये ॥ १६ ॥

तेऽभिपत्य पुरं भग्ना हतशेषा निशाचराः ।
सर्वं राज्ञे यथावृत्तं रावणाय न्यवेदयन् ॥ १७ ॥

मरनेसे जो राक्षस बचे थे उन्होंने लङ्कामें आकर राजा रावणसे सब वृत्तान्त कहा ॥ १७ ॥

श्रुत्वा तु रावणस्तेभ्यः प्रहस्तं निहतं युधि ।
धूम्राक्षं च महेष्वासं ससैन्यं वानरर्षभैः ॥ १८ ॥

रावणने उन राक्षसोंके मुंहसे सुना कि युद्धमें श्रेष्ठ वानरोंने प्रहस्त और महाधनुर्धारी धूम्राक्षको सेना सहित मार दिया है ॥ १८ ॥

सुदीर्घमिव निःश्वस्य समुत्पत्य वरासनात् ।
उवाच कुम्भकर्णस्य कर्मकालोऽयमागतः ॥ १९ ॥

यह सुनकर रावणने बहुत लम्बी सांस ली, और अपने श्रेष्ठ आसनसे उठकर कहा— यह समय कुम्भकर्णके योग्य कर्मका प्राप्त हुआ है ॥ १९ ॥

इत्येवमुक्त्वा विविधैर्वादित्रैः सुमहास्वनैः ।
शयानमतिनिद्रालुं कुम्भकर्णमबोधयत् ॥ २० ॥

ऐसा कहकर वहुत सोनेवाले कुम्भकर्णको अनेक भांतिके बडी आवाजवाले बाजोंसे जगाया ॥ २० ॥

प्रबोध्य महता चैनं यत्नेनागतसाध्वसः ।
स्वस्थमासीनमव्यग्रं विनिद्रं राक्षसाधिपः ।
ततोऽब्रवीद्दशग्रीवः कुम्भकर्णं महाबलम् ॥ २१ ॥

कठिन परिश्रमसे उसे उठाकर अत्यन्त भयभीत हुए रावणने निद्राको त्यागकर व्याकुलतासे रहित होकर स्वस्थ बैठे हुए महाबली कुंभकर्णसे कहा ॥ २१ ॥

धन्योऽसि यस्य ते निद्रा कुम्भकर्णेयमीदृशी ।
य इमं दारुणं कालं न जानीषे महाभयम् ॥ २२ ॥

हे कुम्भकर्ण! तुम धन्य हो, तुम्हारी ऐसी प्रबल निद्रा है, जो तुम इस घोर भयको भी नहीं जानते हो ॥ २२ ॥

एष तीर्त्वार्णवं रामः सेतुना हरिभिः सह ।
अवमन्येह नः सर्वान्करोति कदनं महत् ॥ २३ ॥

राम बन्दरोंके सहित पुलके द्वारा समुद्रको तरकर और हम सबका अपमान करके लङ्काहीमें घोर उपद्रव कर रहा है ॥ २३ ॥

मया ह्यपहृता भार्या सीता नामास्य जानकी ।
तां मोक्षयिषुरायातो बद्ध्वा सेतुं महार्णवे ॥ २४ ॥

मैं जनकनन्दिनी सीता नामकी उसकी स्त्रीको चुरा लाया हूं । उसे छुडानेके लिए राम समुद्रपर सेतु बांधके लंकामें आया है ॥ २४ ॥

तेन चैव प्रहस्तादिर्महान्नः स्वजनो हतः ।
तस्य नान्यो निहन्तास्ति त्वदृते शत्रुकर्शन ॥ २५ ॥

और हमारे प्यारे प्रहस्तादिकको उसने ही मार डाला है । हे शत्रुनाशक ! अब तुम्हारे सिवाय उसको मारनेवाला और कोई नहीं है ॥ २५ ॥

स दंशितोऽभिनिर्याय त्वमद्य बलिनां वर ।
रामादीन्समरे सर्वाञ्जहि शत्रूनरिंदम ॥ २६ ॥

हे वलवानोंमें श्रेष्ठ ! तुम कवचादि पहनकर युद्धके लिये जाओ । हे शत्रुओंको दमन करनेवाले ! तुम युद्धमें रामादि शत्रुओंका नाश करो ॥ २६ ॥

दूषणावरजौ चैव वज्रवेगप्रमाथिनौ ।
तौ त्वां बलेन महता सहितावनुयास्यतः ॥ २७ ॥

दूषणके छोटे भाई वज्रवेग और प्रमाथी बहुतसी सेना लेकर तुम्हारे पीछे जायेंगे ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा राक्षसपतिः कुम्भकर्णं तरस्विनम् ।
संदिदेशेतिकर्तव्ये वज्रवेगप्रमाथिनौ ॥ २८ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! इसप्रकारसे बलवान् कुम्भकर्णको आज्ञा देकर राक्षसपति रावण वज्रवेग और प्रमाथीको आज्ञा देने गया ॥ २८ ॥

तथेत्युक्त्वा तु तौ वीरौ रावणं दूषणानुजौ ।
कुम्भकर्णं पुरस्कृत्य तूर्णं निर्ययतुः पुरात् ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७० ॥ ९३३५ ॥

दूषणके छोटे भाईयोंने रावणकी आज्ञा मानकर और कुम्भकर्णको आगे करके नगरसे प्रस्थान किया ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ सत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७० ॥ ९३३५ ॥

: २७१ :

मार्कण्डेय उवाच

ततो विनिर्याय पुरात्कुम्भकर्णः सहानुगः ।
अपश्यत्कपिसैन्यं तज्जितकाश्यग्रतः स्थितम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! कुम्भकर्णने अपने सेवकोंके सहित नगरसे बाहर निकलके दृढ मुष्टिवाली वन्दरोंकी सेनाको आगे खडे देखा ॥ १ ॥

तमभ्येत्याशु हरयः परिवार्य समन्ततः ।
अभ्यघ्नंश्च महाकायैर्बहुभिर्जगतीरुहैः ।
करजैरतुदंश्चान्ये विहाय भयमुत्तमम् ॥ २ ॥

तदनन्तर बन्दरोंने पास आकर उसे चारों ओरसे घेर लिया और बडे बडे वृक्षोंसे उसे मारना आरम्भ किया; नाखूनोंसे अनेक वन्दर निर्भीक होकर उसे काटने लगे ॥ २ ॥

बहुधा युध्यमानास्ते युद्धमार्गैः प्लवङ्गमाः ।
नानाप्रहरणैर्भीमं राक्षसेन्द्रमताडयन् ॥ ३ ॥

अनेक प्रकारसे वन्दर उससे युद्ध करने लगे। अनेक प्रकारके शस्त्र और वृक्षोंसे पीटने लगे ॥३॥

स ताडयमानः प्रहसन्भक्षयामास वानरान् ।
पनसं च गवाक्षं च वज्रबाहुं च वानरम् ॥ ४ ॥

वह कुम्भकर्ण पिटकर हंसा और पनस, गवाक्ष और वज्रबाहु नामक वन्दरोंको खा गया ॥ ४ ॥

तद्दृष्ट्वा व्यथनं कर्म कुम्भकर्णस्य रक्षसः ।
उदक्रोशन्परित्रस्तास्तारप्रभृतयस्तदा ॥ ५ ॥

कुम्भकर्णके इस भयानक कर्मको देखकर तार बन्दर आदि डरके कारण चिल्लाने लगे ॥ ५ ॥

तं तारमुच्चैः क्रोशन्तमन्यांश्च हरियूथपान् ।
अभिदुद्राव सुग्रीवः कुम्भकर्णमपेतभीः ॥ ६ ॥

तार आदिक सेनापति वन्दरोंको डरसे चिल्लाते और भागते हुए देखकर निडर सुग्रीव कुम्भकर्णकी ओरको दौडा ॥ ६ ॥

ततोऽभिपत्य वेगेन कुम्भकर्णं महामनाः ।
शालेन जघ्निवान्मूर्ध्नि बलेन कपिकुञ्जरः ॥ ७ ॥

कुम्भकर्णके समीप बडे ही वेगसे आकर मनस्वी वानरश्रेष्ठ सुग्रीवने शालका एक वृक्ष कुम्भकर्णके सिरमें दे मारा ॥ ७ ॥

स महात्मा महावेगः कुम्भकर्णस्य मूर्धनि ।
बिभेद शालं सुग्रीवो न चैवाव्यथयत्कपिः ॥ ८ ॥

उस महात्मा तथा वेगवान् सुग्रीवने कुम्भकर्णके सिरपर सालवृक्षको मार उसके दो टुकडे कर दिए, तो भी वह कुम्भकर्णको व्यथा न पहुंचा सका ॥ ८ ॥

ततो विनद्य प्रहसञ्शालस्पर्शविबोधितः ।
दोर्भ्यामादाय सुग्रीवं कुम्भकर्णोऽहरद्बलात् ॥ ९ ॥

उस शाल वृक्षके लगनेसे कुम्भकर्णको पीडा हुई, तब वह हंसा और गरजकर कुम्भकर्णने सुग्रीवको अपनी भुजाओंमें उठा लिया और उसे जबर्दस्ती ले जाने लगा ॥ ९ ॥

ह्रियमाणं तु सुग्रीवं कुम्भकर्णेन रक्षसा ।
अवेक्ष्याभ्यद्रवद्वीरः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ॥ १० ॥

राक्षस कुम्भकर्ण जब सुग्रीवको हरकर ले जाने लगा, तब मित्रोंको प्रसन्न करनेवाले सुमित्रा-नन्दन वीर लक्ष्मण कुम्भकर्णकी ओर चले ॥ १० ॥

सोऽभिपत्य महावेगं रुक्मपुङ्खं महाशरम् ।
प्राहिणोत्कुम्भकर्णाय लक्ष्मणः परवीरहा ॥ ११ ॥

दौडकर शत्रुनाशक लक्ष्मणने पंख लगे हुए वेगवान् बाणोंको कुम्भकर्णके ऊपर छोडा ॥ ११ ॥

स तस्य देहावरणं भित्त्वा देहं च सायकः ।
जगाम दारयन्भूमिं रुधिरेण समुक्षितः ॥ १२ ॥

शत्रुओंको नाश करनेवाले लक्ष्मणके बाण कुम्भकर्णके कवच और शरीरको छेदकर खूनसे सनकर पृथ्वीमें घुस गये ॥ १२ ॥

तथा स भिन्नहृदयः समुत्सृज्य कपीश्वरम् ।
कुम्भकर्णो महेष्वासः प्रगृहीतशिलायुधः ।
अभिदुद्राव सौमित्रिमुद्यम्य महतीं शिलाम् ॥ १३ ॥

हृदयके भिद जानेसे कुम्भकर्णने वानरराज सुग्रीवको छोड दिया। पश्चात् शिला लेकर महाधनुर्धारी कुम्भकर्ण उस बडीसी चट्टानको लेकर लक्ष्मणकी ओर आया ॥ १३ ॥

तस्याभिद्रवतस्तूर्णं क्षुराभ्यामुच्छ्रितौ करौ ।
चिच्छेद निशिताग्राभ्यां स बभूव चतुर्भुजः ॥ १४ ॥

उसको हाथ उठाये आता देखकर शीघ्रताके साथ तीक्ष्ण बाणोंसे लक्ष्मणने उसके हाथको काट दिया; तब कुम्भकर्ण चतुर्भुजी हो गया ॥ १४ ॥

तानप्यस्य भुजान्सर्वान्प्रगृहीतशिलायुधान् ।
क्षुरैश्चिच्छेद लघ्वस्त्रं सौमित्रिः प्रतिदर्शयन् ॥ १५ ॥

तब सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने अस्त्र छोडनेमें अपनी कुशलता दिखाते हुए कुम्भकर्णकी उन चट्टानोंको उठाए हुए उन भुजाओंको बाणोंसे काट डाला ॥ १५ ॥

स बभूवातिकायश्च बहुपादशिरोभुजः ।
तं ब्रह्मास्त्रेण सौमित्रिर्ददाहाद्रिचयोपमम् ॥ १६ ॥

तब कुम्भकर्ण अनेक पैर और अनेक हाथवाला तथा विशाल शरीरवाला हो गया; तब लक्ष्मणने उस पर्वतसमूहके विशाल शरीरको ब्रह्मास्त्रसे काट डाला ॥ १६ ॥

स पपात महावीर्यो दिव्यास्त्राभिहतो रणे ।
महाशनिविनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ १७ ॥

दिव्य अस्त्रके लगनेसे महाबलवान् कुम्भकर्ण रणभूमिमें ऐसे गिर गया, जैसे बिजलीके लगनेसे शाखा सहित वृक्ष गिर पडता है ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा वृत्रसंकाशं कुम्भकर्णं तरस्विनम् ।
गतासुं पतितं भूमौ राक्षसाः प्राद्रवन्भयात् ॥ १८ ॥

वृत्रासुरके समान बलवान् कुम्भकर्णको पृथ्वीमें मरा हुआ देखकर राक्षस भयसे इधर उधर भागने लगे ॥ १८ ॥

तथा तान्द्रवतो योधान्दृष्ट्वा तौ दूषणानुजौ ।
अवस्थाप्याथ सौमित्रिं संक्रुद्धावभ्यधावताम् ॥ १९ ॥

राक्षस योद्धाओंको इधर उधर भागते देखकर दूषणके दोनों भाइयोंने उन्हें रोका और वे क्रोध करते हुए लक्ष्मणकी ओर दौडे ॥ १९ ॥

तावाद्रवन्तौ संक्रुद्धौ वज्रवेगप्रमाथिनौ ।
प्रतिजग्राह सौमित्रिर्विनद्योभौ पतत्रिभिः ॥ २० ॥

इन दोनों वज्रवेग और प्रमाथीको क्रोधसे भरे और संमुख आये देखकर सुमित्रापुत्र लक्ष्मणने गरजकर बाणोंसे मारा ॥ २० ॥

ततः सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
दूषणानुजयोः पार्थ लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ २१ ॥

हे युधिष्ठिर ! तब बुद्धिमान् लक्ष्मणका और दूषणके भाइयोंका रोवोंको खडे करनेवाला भयानक युद्ध हुआ ॥ २१ ॥

महता शरवर्षेण राक्षसौ सोऽभ्यवर्षत ।
तौ चापि वीरौ संक्रुद्धावुभौ तौ समवर्षताम् ॥ २२ ॥

लक्ष्मणने बाणोंकी वर्षासे उन्हें छा लिया, और दोनों वीरोंने भी लक्ष्मणके ऊपर बहुत बाणोंकी वर्षा की ॥ २२ ॥

मुहूर्तमेवमभवद्वज्रवेगप्रमाथिनोः ।
सौमित्रेश्च महाबाहोः संप्रहारः सुदारुणः ॥ २३ ॥

इस रीतिसे एक मुहूर्ततक वज्रवेग और प्रमाथीके सङ्ग महाबाहु लक्ष्मणका भयानक युद्ध होता रहा ॥ २३ ॥

अथाद्रिशृङ्गमादाय हनूमान्मारुतात्मजः ।
अभिद्रुत्याददे प्राणान्वज्रवेगस्य रक्षसः ॥ २४ ॥

इसके पश्चात् पर्वतके शिखरको लेकर पवनपुत्र हनूमान्ने वज्रवेगके प्राणका नाश कर दिया ॥२४॥

नीलश्च महता ग्राव्णा दूषणावरजं हरिः ।
प्रमाथिनमभिद्रुत्य प्रममाथ महाबलः ॥ २५ ॥

महाबलशाली वानर नील भी एक बडी चट्टान उठाकर वेगसे दौडा और उसने दूषणके छोटे भाई प्रमाथीको मार डाला ॥ २५ ॥

ततः प्रावर्तत पुनः संग्रामः कटुकोदयः ।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ॥ २६ ॥

इसके अनन्तर एक दूसरेपर आक्रमण करते हुए राम और रावणकी सेनाका परस्पर भयानक युद्ध होने लगा ॥ २६ ॥

शतशो नैर्ऋतान्वन्या जघ्नुर्वन्यांश्च नैर्ऋताः ।
नैर्ऋतास्तत्र वध्यन्ते प्रायशो न तु वानराः ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७१ ॥ ९३६१ ॥

बन्दर सहस्रों राक्षसोंको और राक्षस सहस्रों बन्दरोंको मारने लगे। परन्तु ही अधिक राक्षस मरे, बन्दर नहीं ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ इकहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७१ ॥ ९३६२ ॥

: २७२ :

मार्कण्डेय उवाच

ततः श्रुत्वा हतं संख्ये कुम्भकर्णं सहानुगम् ।
प्रहस्तं च महेष्वासं धूम्राक्षं चातितेजसम् ॥ १ ॥
पुत्रमिन्द्रजितं शूरं रावणः प्रत्यभाषत ।
जहि राममित्रघ्न सुग्रीवं च सलक्ष्मणम् ॥ २ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! कुम्भकर्ण, प्रहस्त और महा शस्त्रधारी धूम्राक्षको युद्धमें मरा हुआ सुनकर रावण अपने पुत्र वीर मेघनादसे बोला– हे शत्रुनाशक ! तुम लक्ष्मणके सहित राम और सुग्रीवको मारो ॥ १–२ ॥

त्वया हि मम सत्पुत्र यशो दीप्तमुपार्जितम् ।
जित्वा वज्रधरं संख्ये सहस्राक्षं शचीपतिम् ॥ ३ ॥

हे सुपुत्र ! तुमने इन्द्राणीके स्वामी सहस्र नेत्रवाले वज्रधारी इन्द्रको युद्धमें जीतकर मुझे बहुत यश प्रदान किया है ॥ ३ ॥

अन्तर्हितः प्रकाशो वा दिव्यैर्दत्तवरैः शरैः ।
जहि शत्रूनमित्रघ्न मम शस्त्रभृतां वर ॥ ४ ॥

हे शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ ! हे शत्रुनाशक ! वरदानके रूपमें दिए गए गुप्त और प्रकट दिव्य शस्त्रोंसे मेरे शत्रुओंका नाश करो ॥ ४ ॥

रामलक्ष्मणसुग्रीवाः शरस्पर्शं न तेऽनघ ।
समर्थाः प्रतिसंसोढुं कुतस्तदनुयायिनः ॥ ५ ॥

हे पापरहित ! राम, लक्ष्मण और सुग्रीव भी तुम्हारे बाणोंको नहीं सह सकते । तब उनके सेवक कैसे सह सकेंगे ? ॥ ५ ॥

अकृता या प्रहस्तेन कुम्भकर्णेन चानघ ।
खरस्यापचितिः संख्ये तां गच्छस्व महाभुज ॥ ६ ॥

हे अनघ ! जिस कार्यको कुम्भकर्ण और प्रहस्त नहीं कर सके, उसे तुम करो । हे महाभुज ! युद्धमें जाकर तुम खरका बदला लो ॥ ६ ॥

त्वमद्य निशितैर्बाणैर्हत्वा शत्रून्ससैनिकान् ।
प्रतिनन्दय मां पुत्र पुरा बद्ध्वेव वासवम् ॥ ७ ॥

हे महाभुज ! तुम आज ही तीक्ष्ण बाणोंसे सेनाके सहित शत्रुओंको मारकर मुझे ऐसा आनन्द दो जैसे पहिले इन्द्रको जीतकर दिया था ॥ ७ ॥

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा रथमास्थाय दंशितः ।
प्रययाविन्द्रजिद्राजंस्तूर्णमायोधनं प्रति ॥ ८ ॥

इन्द्रको जीतनेवाले मेघनादने कहा ' बहुत अच्छा ' ऐसा ही करूंगा, यह कहकर वह कवच पहनकर रथमें बैठकर युद्धभूमिकी तरफ चल पडा ॥ ८ ॥

तत्र विश्राव्य विस्पष्टं नाम राक्षसपुङ्गवः ।
आह्वयामास समरे लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ ९ ॥

तब समरभूमिमें जाकर मेघनादने अपने नामको स्पष्ट रीतिसे सुनाके शुभ लक्षणयुक्त लक्ष्मणको युद्धके स्थलपर ललकारा ॥ ९ ॥

तं लक्ष्मणोऽप्यभ्यधावत्प्रगृह्य सशरं धनुः ।
त्रासयंस्तलघोषेण सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ १० ॥

लक्ष्मण भी बाण सहित धनुषको लेकर धनुषकी टङ्कारसे लोगोंको डराते हुए ऐसे चले जैसे सिंह छोटे हरिणोंपर दौडता है ॥ १० ॥

तयोः समभवद्युद्धं सुमहज्जयगृद्धिनोः ।
दिव्यास्त्रविदुषोस्तीव्रमन्योन्यस्पर्धिनोस्तदा ॥ ११ ॥

हे राजन् ! जयकी इच्छा करनेवाले दिव्य अस्त्रोंके जाननेवाले और परस्पर स्पर्धा करनेवाले लक्ष्मण और मेघनादका भयानक युद्ध हुआ ॥ ११ ॥

रावणिस्तु यदा नैनं विशेषयति सायकैः ।
ततो गुरुतरं यत्नमातिष्ठद्बलिनां वरः ॥ १२ ॥

जब रावणका पुत्र बाणोंसे पार न पा सका, तब बलवानोंमें श्रेष्ठ मेघनादने बडा यत्न करके लक्ष्मणके ऊपर तोमर छोडे ॥ १२ ॥

तत एनं महावेगैरर्दयामास तोमरैः ।
तानागतान्स चिच्छेद सौमित्रिर्निशितैः शरैः ।
ते निकृत्ताः शरैस्तीक्ष्णैर्न्यपतन्वसुधातले ॥ १३ ॥

सुमित्रापुत्र लक्ष्मणने तोमरोंको आते हुए देखकर तीक्ष्णबाणोंसे काटकर गिरा दिया। लक्ष्मणके तीक्ष्णबाणोंसे तोमर कटकर पृथ्वीमें गिर गये ॥ १३ ॥

तमङ्गदो वालिसुतः श्रीमानुद्यम्य पादपम् ।
अभिद्रुत्य महावेगस्ताडयामास मूर्धनि ॥ १४ ॥

तब वालिपुत्र श्रीमान् अङ्गद एक वृक्ष लेकर मेघनादकी ओर दौडा और बडे वेगसे राक्षसके सिरमें उस वृक्षको दे मारा ॥ १४ ॥

तस्येन्द्रजिदसंभ्रान्तः प्रासेनोरसि वीर्यवान् ।
प्रहर्तुमैच्छत्तं चास्य प्रासं चिच्छेद लक्ष्मणः ॥ १५ ॥

बलवान् मेघनाद उससे कुछ भी व्याकुल न हुआ, और प्रास अङ्गदको मारनेके लिए उठाया तब लक्ष्मणने उस प्रासको काटकर गिरा दिया ॥ १५ ॥

तमभ्याशगतं वीरमङ्गदं रावणात्मजः ।
गदयाताडयत्सव्ये पार्श्वे वानरपुङ्गवम् ॥ १६ ॥

तब रावणके पुत्र मेघनादने पासमें आए हुए वानरश्रेष्ठ वीर अंगदकी बाईं बगलमें गदा मारी ॥ १६ ॥

तमचिन्त्य प्रहारं स बलवान्वालिनः सुतः ।
ससर्जेन्द्रजितः क्रोधाच्छालस्कन्धममित्रजित् ॥ १७ ॥

बलवान् वालिके पुत्र शत्रुंजय अङ्गदने उस प्रहारको सहकर बडे क्रोधसे एक वृक्ष मेघनादके मारनेको चलाया ॥ १७ ॥

सोऽङ्गदेन रुषोत्सृष्टो वधायेन्द्रजितस्तरुः ।
जघानेन्द्रजितः पार्थ रथं साश्वं ससारथिम् ॥ १८ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! इन्द्राजित्के वधके लिए अंगद द्वारा क्रोधपूर्वक चलाए गए उस वृक्षसे मेघनादके रथके घोडे और सारथी मर गये ॥ १८ ॥

ततो हताश्वात्प्रस्कन्द्य रथात्स हतसारथिः ।
तत्रैवान्तर्दधे राजन्मायया रावणात्मजः ॥ १९ ॥

तब मारे गए घोडों और सारथिवाले रथसे उतरकर रावणका पुत्र मेघनाद मायासे वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ १९ ॥

अन्तर्हितं विदित्वा तं बहुमायं च राक्षसम् ।
रामस्तं देशमागम्य तत्सैन्यं पर्यरक्षत ॥ २० ॥

बहुत माया जाननेवाले मेघनादको अन्तर्धान हुआ जानकर राम वहांपर आए और अपनी सेनाकी रक्षा करने लगे ॥ २० ॥

स राममुद्दिश्य शरैस्ततो दत्तवरैस्तदा ।
विव्याध सर्वगात्रेषु लक्ष्मणं च महारथम् ॥ २१ ॥

तब वह राक्षस वरमें पाये हुए बाणोंसे राम और लक्ष्मणके सभी अंगोंको मारने लगा ॥ २१ ॥

तमदृश्यं शरैः शूरौ माययान्तर्हितं तदा ।
योधयामासतुरुभौ रावणिं रामलक्ष्मणौ ॥ २२ ॥

राम और लक्ष्मण भी अन्तर्धान हुए मेघनादपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २२ ॥

स रुषा सर्वगात्रेषु तयोः पुरुषसिंहयोः ।
व्यसृजत्सायकान्भूयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २३ ॥

मेघनादने बहुत क्रोध करके पुरुषसिंह राम और लक्ष्मणके शरीर सैकडों सहस्रों बाण चलाये ॥ २३ ॥

तमदृश्यं विचिन्वन्तः सृजन्तमनिशं शरान् ।
हरयो विविशुर्व्योम प्रगृह्य महतीः शिलाः ॥ २४ ॥

तब शिला लेकर बन्दर बाण छोडनेवाले उस छिपे हुएको ढूंढनेके वास्ते आकाशमें चढ गये ॥ २४ ॥

तांश्च तौ चाप्यदृश्यः स शरैर्विव्याध राक्षसः ।
स भृशं ताडयन्वीरो रावणिर्मायया वृतः ॥ २५ ॥

छिपे हुए तथा माया करनेवाले मेघनादने उन वानरों और राम-लक्ष्मणपर बाणोंकी वर्षा की ॥ २५ ॥

तौ शरैराचितौ वीरो भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
पेततुर्गगनाद्भूमिं सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७२ ॥ ९३८८ ॥

मेघनादके बाणोंसे व्याकुल होकर राम और लक्ष्मण दोनों वीर भाई आकाशसे भूमिपर ऐसे गिरे, जैसे सूर्य और चन्द्रमा गिरे हों ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ बहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७२ ॥ ९३८८ ॥

: २७३ :

मार्कण्डेय उवाच

तावुभौ पतितौ दृष्ट्वा भ्रातरावमितौजसौ ।
बबन्ध रावणिर्भूयः शरैर्दत्तवरैस्तदा ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले— हे राजन् ! उन राम लक्ष्मण दोनों भाइयोंको गिरा हुआ देखकर रावणके पुत्र मेघनादने वरमें पाये हुए शस्त्रोंसे उन्हें बांध लिया ॥ १ ॥

तौ वीरौ शरजालेन बद्धाविन्द्रजिता रणे ।
रेजतुः पुरुषव्याघ्रौ शकुन्ताविव पञ्जरे ॥ २ ॥

वह दोनों वीर मेघनादके बाणोंके जालसे बंधकर युद्धमें ऐसे शोभायमान हुए, जैसे पिञ्जरेमें पक्षी ॥ २ ॥

तौ दृष्ट्वा पतितौ भूमौ शतशः सायकैश्चितौ ।
सुग्रीवः कपिभिः सार्धं परिवार्य ततः स्थितः ॥ ३ ॥

राम और लक्ष्मणको पृथ्वीमें गिरा और अनेकों बाणोंसे विंधा हुआ देखकर वन्दरोंके सहित सुग्रीव वहांपर आये और उनको घेरकर बैठ गये ॥ ३ ॥

सुषेणमैन्दद्विविदैः कुमुदेनाङ्गदेन च ।
हनूमन्नीलतारैश्च नलेन च कपीश्वरः ॥ ४ ॥

सुषेण, मैन्द, द्विविद, कुमुद, अङ्गद, हनूमान्, नील, तार, नल और सुग्रीव सब वहीं आ गये ॥ ४ ॥

ततस्तं देशमागम्य कृतकर्मा विभीषणः ।
बोधयामास तौ वीरौ प्रज्ञास्त्रेण प्रबोधितौ ॥ ५ ॥

तब उस स्थानपर आकर कार्य सिद्ध करनेवाले, विभीषणने प्रज्ञास्त्रसे राम लक्ष्मणको सचेत किया ॥ ५ ॥

विशल्यौ चापि सुग्रीवः क्षणेनेमौ चकार तौ ।
विशल्यया महौषध्या दिव्यमन्त्रप्रयुक्तया ॥ ६ ॥

और सुग्रीवने मन्त्रयुक्त विशल्या नामक औषधीसे घावरहित किया ॥ ६ ॥

तौ लब्धसंज्ञौ नृवरौ विशल्यावुदतिष्ठताम् ।
गततन्द्रीक्लमौ चास्तां क्षणेनोभौ महारथौ ॥ ७ ॥

पुरुषश्रेष्ठ वे दोनों राम-लक्ष्मण सचेत, घावरहित और बेहोशी और थकावटसे रहित होकर बैठ गये ॥ ७ ॥

ततो विभीषणः पार्थ राममिक्ष्वाकुनन्दनम् ।
उवाच विज्वरं दृष्ट्वा कृताञ्जलिरिदं वचः ॥ ८ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! तब विभीषण इक्ष्वाकुवंशी रामको पीडा रहित देखकर हाथ जोडकर ऐसे वचन बोले ॥ ८ ॥

अयमम्भो गृहीत्वा तु राजराजस्य शासनात् ।
गुह्यकोऽभ्यागतः श्वेतात्त्वत्सकाशमरिन्दम ॥ ९ ॥

हे महाराज ! कुबेरकी आज्ञासे यह गुह्यक जल लेकर श्वेतपर्वतसे आपके पास;आया है ॥९॥

इदमम्भः कुबेरस्ते महाराजः प्रयच्छति ।
अन्तर्हितानां भूतानां दर्शनार्थं परंतप ॥ १० ॥

हे शत्रुको दुःख देनेवाले ! यह जल छिपे हुएको दिखानेके लिए कुबेरने आपके लिये भेजा है ॥ १० ॥

अनेन स्पृष्टनयनो भूतान्यन्तर्हितान्युत ।
भवान्द्रक्ष्यति यस्मै च भगवानेतत्प्रदास्यति ॥ ११ ॥

इस जलसे नेत्रोंको धोते ही छिपे हुए प्राणियोंको आप देखेंगे, और जिस मनुष्यको आप देंगे, वह भी देखेगा ॥ ११ ॥

तथेति रामस्तद्वारि प्रतिगृह्याथ सत्कृतम् ।
चकार नेत्रयोः शौचं लक्ष्मणश्च महामनाः ॥ १२ ॥

रामने बहुत अच्छा कहकर उस सत्कृत जलको ले लिया और उससे महामनस्वी राम तथा लक्ष्मणने अपनी आंखें धोयीं ॥ १२ ॥

सुग्रीवजाम्बवन्तौ च हनूमानङ्गदस्तथा ।
मैन्दद्विविदनीलाश्च प्रायः प्लवगसत्तमाः ॥ १३ ॥

उसी प्रकार सुग्रीव, जाम्बवान्, अंगद, मयन्द, द्विविद और नीलने भी अपने नेत्रोंको धोया ॥ १३ ॥

तथा समभवच्चापि यदुवाच विभीषणः ।
क्षणेनातीन्द्रियाण्येषां चक्षूंष्यासन्युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

और जैसा कुछ विभीषणने कहा था, वैसा ही हुआ । हे युधिष्ठिर ! जो वस्तु नेत्रोंसे नहीं दीख सकती, उन्हें वे सब क्षणभरमें देखने लगे ॥ १४ ॥

इन्द्रजित्कृतकर्मा तु पित्रे कर्म तदात्मनः ।
निवेद्य पुनरागच्छत्त्वरयाजिशिरः प्रति ॥ १५ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! मेघनाद अपने कार्यको समाप्त करके अपने कर्मको पिताके पास कहने गया और कहकर फिर युद्धमें आया ॥ १५ ॥

तमापतन्तं संक्रुद्धं पुनरेव युयुत्सया ।
अभिदुद्राव सौमित्रिर्विभीषणमते स्थितः ॥ १६ ॥

उसको युद्धकी इच्छासे क्रोधमें भरकर आता हुआ देखकर लक्ष्मण उसकी ओर विभीषणकी सम्मतिसे दौडे ॥ १६ ॥

अकृताह्निकमेवैनं जिघांसुर्जितकाशिनम् ।
शरैर्जघान संक्रुद्धः कृतसंज्ञोऽथ लक्ष्मणः ॥ १७ ॥

सन्ध्या वन्दन करनेके पूर्व ही उसको मारनेकी इच्छासे बडे क्रोधसे साथ लक्ष्मणने बाण छोडे ॥ १७ ॥

तयोः समभवद्युद्धं तदान्योन्यं जिगीषतोः।
अतीव चित्रमाश्चर्यं शक्रप्रह्लादयोरिव ॥ १८ ॥

हे राजन्! जीतनेकी इच्छा करनेवाले इन दोनोंका ऐसा विचित्र और आश्चर्यकारक युद्ध हुआ, कि जैसे इन्द्र और प्रह्लादका हुआ था ॥ १८ ॥

अविध्यदिन्द्रजित्तीक्ष्णैः सौमित्रिं मर्मभेदिभिः।
सौमित्रिश्चानलस्पर्शैरविध्यद्रावणिं शरैः ॥ १९ ॥

रावणके पुत्र मेघनादने अपने मर्मभेदी बाणोंसे सुमित्राके पुत्र लक्ष्मणको व्याकुल किया और सुमित्राके पुत्र लक्ष्मणने अग्निके समान बाणोंसे रावणके पुत्र मेघनादको मारा ॥ १९ ॥

सौमित्रिशरसंस्पर्शाद्रावणिः क्रोधमूर्छितः।
असृजल्लक्ष्मणायाष्टौ शरानाशीविषोपमान् ॥ २० ॥

लक्ष्मणके बाणोंके लगनेसे मेघनादने क्रोधसे भुनकर सर्पके समान आठ बाण लक्ष्मणको मारे ॥ २० ॥

तस्यासून्पावकस्पर्शैः सौमित्रिः पत्रिभिस्त्रिभिः।
यथा निरहरद्वीरस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ २१ ॥

लक्ष्मणने भी तीन बाण मेघनादको मारके उसकी जो गति की, सो तुम मुझसे सुनो ॥२१॥

एकेनास्य धनुष्मन्तं बाहुं देहादपातयत्।
द्वितीयेन सनाराचं भुजं भूमौ न्यपातयत् ॥ २२ ॥

एक बाणसे धनुषके सहित उसके हाथ काट दिये, और दूसरे बाणसे बाणयुक्त दूसरा हाथ भी काटकर गिरा दिया ॥ २२ ॥

तृतीयेन तु बाणेन पृथुधारेण भास्वता।
जहार सुनसं चारु शिरो भ्राजिष्णुकुण्डलम् ॥ २३ ॥

तीक्ष्ण धारवाले तीसरे बाणसे चमकीले कुण्डलोंसे युक्त उत्तम नाकवाले सिरको काट दिया ॥२३॥

विनिकृत्तभुजस्कन्धं कबन्धं भीमदर्शनम्।
तं हत्वा सूतमप्यस्त्रैर्जघान बलिनां वरः ॥ २४ ॥

मेघनादके सिर और भुजाओंको काटकर बलवानोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मणने सूतको भी तीक्ष्ण शस्त्रोंसे मार डाला ॥ २४ ॥

लङ्कां प्रवेशयामासुर्वाजिनस्तं रथं तदा।
ददर्श रावणस्तं च रथं पुत्रविनाकृतम् ॥ २५ ॥

तब उस रथको घोडे लङ्कामें ले गये, रावणने उस रथको अपने पुत्रसे खाली देखा ॥ २५ ॥

स पुत्रं निहतं दृष्ट्वा त्रासात्संभ्रान्तलोचनः ।
रावणः शोकमोहार्तो वैदेहीं हन्तुमुद्यतः ॥ २६ ॥

पुत्रको मरा हुआ देखकर रावणका हृदय भयसे व्याकुल हो गया । रावण शोक और मोहसे व्याकुल होकर सीताको मारनेके लिए उद्यत हुआ ॥ २६ ॥

अशोकवनिकास्थां तां रामदर्शनलालसाम् ।
खड्गमादाय दुष्टात्मा जवेनाभिपपात ह ॥ २७ ॥

वह दुष्टात्मा रावण अशोकवाटिकामें रहनेवाली रामका दर्शन चाहनेवाली सीताको मारनेके लिये खड्ग उठाकर चला ॥ २७ ॥

तं दृष्ट्वा तस्य दुर्बुद्धेरविन्ध्यः पापनिश्चयम् ।
शमयामास संक्रुद्धं श्रूयतां येन हेतुना ॥ २८ ॥

क्रुद्ध हुए उस दुर्बुद्धिको पापकर्ममें उसका निश्चय देखकर अविन्ध्य शान्त करनेके लिये ऐसा बोला ॥ २८ ॥

महाराज्ये स्थितो दीप्ते न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
हतैवैषा यदा स्त्री च बन्धनस्था च ते गृहे ॥ २९ ॥

हे राक्षसेन्द्र ! तुम प्रकाशमान राज्यमें स्थित हो; इसलिये स्त्रीको मारने योग्य नहीं हो । जब स्त्री तुम्हारे बन्धन और गृहमें है, तो वह मरी हुई ही है ॥ २९ ॥

न चैषा देहभेदेन हता स्यादिति मे मतिः ।
जहि भर्तारमेवास्या हते तस्मिन्हता भवेत् ॥ ३० ॥

देहके काटनेसे यह नहीं मरेगी ऐसा मेरा विचार है । इसके पतिको मार डालो, तो यह आप ही मर जाएगी ॥ ३० ॥

न हि ते विक्रमे तुल्यः साक्षादपि शतक्रतुः ।
असकृद्धि त्वया सेन्द्रास्त्रासितास्त्रिदशा युधि ॥ ३१ ॥

हे राक्षसेन्द्र ! तुम्हारे बलके समान साक्षात् इन्द्र भी नहीं हैं । तुमने अनेक बार युद्धमें इन्द्र-सहित देवताओंको व्याकुल किया है ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैरविन्ध्यो रावणं तदा ।
क्रुद्धं संशमयामास जगृहे च स तद्वचः ॥ ३२ ॥

इसप्रकार अनेक प्रकारकी वातोंसे क्रोधी रावणको अविन्ध्यने समझाया और रावणने भी उसके वचनोंको ग्रहण किया ॥ ३२ ॥

निर्याणे स मतिं कृत्वा निधायासिं क्षपाचरः।
आज्ञापयामास तदा रथो मे कल्प्यतामिति ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७३ ॥ ९४२१ ॥

तब रावणने युद्धमें चलनेका निश्चय किया, और खड्ग धारण करके उसने आज्ञा दी कि "मेरे रथको तैय्यार करो" ॥ ३३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ तिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७३ ॥ ९४२१ ॥

२७४

मार्कण्डेय उवाच

ततः क्रुद्धो दशग्रीवः प्रिये पुत्रे निपातिते।
निर्ययौ रथमास्थाय हेमरत्नविभूषितम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! अपने प्रिय पुत्रके मारे जानेपर रावणको बडा क्रोध आया। तब वह रत्नजटित सोनेके रथपर बैठकर युद्धके लिए चला ॥ १ ॥

संवृतो राक्षसैर्घोरैर्विविधायुधपाणिभिः।
अभिदुद्राव रामं स पोथयन्हरियूथपान् ॥ २ ॥

अनेक प्रकारके शस्त्र लिये घोर राक्षसोंसे घिरा हुआ रावण वन्दरोंके सेनापतियोंसे लडता हुआ रामकी ओर चला ॥ २ ॥

तमाद्रवन्तं संक्रुद्धं मैन्दनीलनलाङ्गदाः।
हनूमाञ्जाम्बवांश्चैव ससैन्याः पर्यवारयन् ॥ ३ ॥

उस क्रुद्ध हुए रावणको आते हुए देखकर उसे मैन्द, नल, नील, अंगद, हनूमान् और जाम्बवान्ने अपनी सेनासे चारों ओर घेर लिया ॥ ३ ॥

ते दशग्रीवसैन्यं तदृक्षवानरयूथपाः।
द्रुमैर्विध्वंसयाञ्चक्रुर्दशग्रीवस्य पश्यतः ॥ ४ ॥

इन मुख्य वानर और रीछोंकी सेनाके सेनापतियोंने वृक्षोंसे रावणकी सेनाका रावणके सन्मुख ही विनाश किया ॥ ४ ॥

ततः स्वसैन्यमालोक्य वध्यमानमरातिभिः।
मायावी व्यदधान्मायां रावणो राक्षसेश्वरः ॥ ५ ॥

शत्रुओंसे अपनी सेनाका विनाश होते देखकर राक्षसराज मायावी रावणने माया रची ॥ ५ ॥

तस्य देहाद्विनिष्क्रान्ताः शतशोऽथ सहस्रशः ।
राक्षसाः प्रत्यदृश्यन्त शरशक्त्यृष्टिपाणयः ॥ ६ ॥

रावणके शरीरसे हाथोंमें बाण, शक्ति, ऋष्टि आदि शास्त्रोंको धारण किए हुए सैकडों सहस्त्रों राक्षस निकलते दीखने लगे ॥ ६ ॥

तान्रामो जघ्निवान्सर्वान्दिव्येनास्त्रेण राक्षसान् ।
अथ भूयोऽपि मायां स व्यदधाद्राक्षसाधिपः ॥ ७ ॥

रामने दिव्य अस्त्रोंसे उन सब राक्षसोंको मारा । तब राक्षसपति रावणने फिर माया रची ॥७॥

कृत्वा रामस्य रूपाणि लक्ष्मणस्य च भारत ।
अभिदुद्राव रामं च लक्ष्मणं च दशाननः ॥ ८ ॥

हे भारत ! उसने सहस्रों राम और लक्ष्मण उत्पन्न कर दिये और वह दशानन राम और लक्ष्मणकी तरफ दौडा ॥ ८ ॥

ततस्ते राममर्छन्तो लक्ष्मणं च क्षपाचराः ।
अभिपेतुस्तदा राजन्प्रगृहीतोच्चकार्मुकाः ॥ ९ ॥

वह मायाके राम और लक्ष्मण धनुष बाण लेकर राम और लक्ष्मणको मारनेके वास्ते दौडे ॥९॥

तां दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रस्य मायामिक्ष्वाकुनन्दनः ।
उवाच रामं सौमित्रिरसंभ्रान्तो बृहद्वचः ॥ १० ॥

उन मायाके राक्षसोंको आते हुए देखकर और भ्रम रहित होकर रामसे इक्ष्वाकुनन्दन सुमित्रा-पुत्र लक्ष्मण यह गूढ वचन बोले ॥ १० ॥

जहीमान्राक्षसान्पापानात्मनः प्रतिरूपकान् ।
जघान रामस्तांश्चान्यानात्मनः प्रतिरूपकान् ॥ ११ ॥

हे राम ! इन अपने रूपवाले पापी राक्षसोंको मारो । तब रामने अपने समान रूपवाले राक्षसोंको मारा ॥ ११ ॥

ततो हर्यश्वयुक्तेन रथेनादित्यवर्चसा ।
उपतस्थे रणे रामं मातलिः शक्रसारथिः ॥ १२ ॥

इसके अनन्तर इन्द्रका सारथी मातली सूर्यके समान प्रकाशमान घोडे जिसमें लगे हुए थे, ऐसे एक रथको लेकर युद्धमें रामके पास आया ॥ १२ ॥

मातलिरुवाच

अयं हर्यश्वयुग्जैत्रो मघोनः स्यन्दनोत्तमः ।
अनेन शक्रः काकुत्स्थ समरे दैत्यदानवान् ।
शतशः पुरुषव्याघ्र रथोदारेण जघ्निवान् ॥ १३ ॥

मातली बोला— हे काकुत्स्थवंशी राम ! यह उत्तम घोडोंसे युक्त रथ इन्द्रका उत्तम जैत्ररथ है। हे पुरुषव्याघ्र राम ! इसी श्रेष्ठ रथसे सैकडों और सहस्रों दैत्य दानवोंका इन्द्रने युद्धमें नाश किया था ॥ १३ ॥

तदनेन नरव्याघ्र मया यत्तेन संयुगे ।
स्यन्दनेन जहि क्षिप्रं रावणं मा चिरं कृथाः ॥ १४ ॥

हे पुरुषसिंह ! मुझसे नियंत्रित इस रथपर चढकर रावणको युद्धमें मारिये, विलम्ब न कीजिये ॥ १४ ॥

इत्युक्तो राघवस्तथ्यं वचोऽशङ्कत मातलेः ।
मायेयं राक्षसस्येति तमुवाच विभीषणः ॥ १५ ॥

मातलीके ऐसे वचन सुनकर उस सत्य वचनपर भी ' यह राक्षसकी ही माया होगी ' यह सोचकर रामको शंका उत्पन्न हो गई, तब विभीषण उनसे बोला ॥ १५ ॥

नेयं माया नरव्याघ्र रावणस्य दुरात्मनः ।
तदातिष्ठ रथं शीघ्रमिममैन्द्रं महाद्युते ॥ १६ ॥

हे पुरुषसिंह राम ! यह दुरात्मा रावणकी माया नहीं है । इस कारण, हे महातेजस्विन् ! आप इन्द्रके प्रकाशयुक्त इस रथपर शीघ्र चढिये ॥ १६ ॥

ततः प्रहृष्टः काकुत्स्थस्तथेत्युक्त्वा विभीषणम् ।
रथेनाभिपपाताशु दशग्रीवं रुषान्वितः ॥ १७ ॥

तब राम प्रसन्न होकर विभीषणसे " बहुत अच्छा " कहके रथपर चढे, और क्रोधमें भरकर रावणकी ओर चले ॥ १७ ॥

हाहाकृतानि भूतानि रावणे समभिद्रुते ।
सिंहनादाः सपटहा दिवि दिव्याश्च नानदन् ॥ १८ ॥

रावणपर रामके आक्रमण करते ही सब लोग हाहाकार करने लगे । आकाशमें देवता अनेक भांतिके बाजे बजाने लगे तथा चारों ओर सिंहनाद तथा ढोल आदिकी ध्वनि होने लगी ॥ १८ ॥

स रामाय महाघोरं विससर्ज निशाचरः ।
शूलमिन्द्राशनिप्रख्यं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ॥ १९ ॥

तब रावणने इन्द्रके वज्रके समान तथा ब्रह्मदण्डके समान तीक्ष्ण एक महाघोर त्रिशूल रामकी ओर चलाया ॥ १९ ॥

तच्छूलमन्तरा रामश्चिच्छेद निशितैः शरैः ।
तद्दृष्ट्वा दुष्करं कर्म रावणं भयमाविशत् ॥ २० ॥

रामने उस त्रिशूलको बीचमें ही तीक्ष्ण बाणोंसे काटकर गिरा दिया । उस कठिन कर्मको देखकर रावणके हृदयमें भय उत्पन्न हो गया ॥ २० ॥

ततः क्रुद्धः ससर्जाशु दशग्रीवः शिताञ्शरान् ।
सहस्रायुतशो रामे शस्त्राणि विविधानि च ॥ २१ ॥

तब रावणने क्रुद्ध होकर सहस्रों तीक्ष्ण बाण और अनेक भांतिके शस्त्र रामके ऊपर चलाये ॥ २१ ॥

ततो भुशुण्डीः शूलांश्च मुसलानि परश्वधान् ।
शक्तीश्च विविधाकाराः शतघ्नीश्च शितक्षुराः ॥ २२ ॥

ऐसे ही अनेक प्रकारकी बन्दूकें, शूल, मूसल, शक्ति, तीक्ष्ण छुरे रावण छोडने लगा ॥२२॥

तां मायां विकृतां दृष्ट्वा दशग्रीवस्य रक्षसः ।
भयात्प्रदुद्रुवुः सर्वे वानराः सर्वतोदिशम् ॥ २३ ॥

राक्षस रावणकी उस भयंकर मायाको देखकर बन्दर भयभीत होकर दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ २३ ॥

ततः सुपत्रं सुमुखं हेमपुङ्खं शरोत्तमम् ।
तूणादादाय काकुत्स्थो ब्रह्मास्त्रेण युयोज ह ॥ २४ ॥

तब रामने उत्तम पंख लगे हुए, तीक्ष्ण फालवाले सोनेसे आभूषित एक श्रेष्ठ बाणको तरकससे निकालकर ब्रह्मास्त्रसे युक्त किया ॥ २४ ॥

तं बाणवर्यं रामेण ब्रह्मास्त्रेणाभिमन्त्रितम् ।
जहृषुर्देवगन्धर्वा दृष्ट्वा शक्रपुरोगमाः ॥ २५ ॥

रामके द्वारा उस श्रेष्ठ बाणको ब्रह्मास्त्रसे अनुमंत्रित हुआ देखकर इन्द्र आदि देव और गंधर्व बहुत प्रसन्न हुए ॥ २५ ॥

अल्पावशेषमायुश्च ततोऽमन्यन्त रक्षसः ।
ब्रह्मास्त्रोदीरणाच्छत्रोर्देवगन्धर्वकिंनराः ॥ २६ ॥

ब्रह्मास्त्रको चढाते देखकर देव, गंधर्व और किन्नरोंने समझा कि रावणकी थोडी ही आयु शेष रह गई है ॥ २६ ॥

ततः ससर्ज तं रामः शरमप्रतिमौजसम् ।
रावणान्तकरं घोरं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ॥ २७ ॥

तब रामने रावणके नाश करनेवाले तथा जिसका तेज अप्रतिम है और जो ब्रह्मदण्डके समान भयानक है, ऐसे बाणको छोडा ॥ २७ ॥

स तेन राक्षसश्रेष्ठः सरथः साश्वसारथिः ।
प्रजज्वाल महाज्वालेनाग्निनाभिपरिष्कृतः ॥ २८ ॥

हे राजन् युधिष्ठिर ! उस बाणसे वह राक्षसश्रेष्ठ रावण बडी बडी ज्वालाओंवाली अग्निसे घिरकर घोडे और रथके सहित जल मरा ॥ २८ ॥

ततः प्रहृष्टास्त्रिदशाः सगन्धर्वाः सचारणाः ।
निहतं रावणं दृष्ट्वा रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ २९ ॥

तब कठिन कामोंको भी सरलतासे करनेवाले रामके द्वारा रावणको मरा हुआ देखके गन्धर्व और चारणोंके सहित देवता बहुत प्रसन्न हुए ॥ २९ ॥

तत्यजुस्तं महाभागं पञ्च भूतानि रावणम् ।
भ्रंशितः सर्वलोकेषु स हि ब्रह्मास्त्रतेजसा ॥ ३० ॥

उस महाभाग्यशाली रावणको पञ्चतत्त्वोंने त्याग दिया । ब्रह्मास्त्रके तेजसे भस्म होकर वह रावण सब लोकोंसे भ्रष्ट हो गया ॥ ३० ॥

शरीरधातवो ह्यस्य मांसं रुधिरमेव च ।
नेशुर्ब्रह्मास्त्रनिर्दग्धा न च भस्माप्यदृश्यत ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७४ ॥ ९४५२ ॥

रावणके शरीरकी धातु, मांस और रुधिर ब्रह्मास्त्रसे ऐसे जले कि कहीं उनकी भस्म भी न मिली ॥ ३१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ चौहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७४ ॥ ९४५२ ॥

: २७५ :

मार्कण्डेय उवाच

स हत्वा रावणं क्षुद्रं राक्षसेन्द्रं सुरद्विषम् ।
बभूव हृष्टः ससुहृद्रामः सौमित्रिणा सह ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! श्री रामचन्द्र देवोंके शत्रु क्षुद्र राक्षसराज रावणको मारकर लक्ष्मण और अपने मित्रोंके सहित बहुत प्रसन्न हुए ॥ १ ॥

ततो हते दशग्रीवे देवाः सर्षिपुरोगमाः ।
आशीर्भिर्जययुक्ताभिरानर्चुस्तं महाभुजम् ॥ २ ॥

रावणके मारनेपर देवता और ऋषियोंने जयकारयुक्त आशीर्वादसे महाबाहु रामकी स्तुति की ॥ २ ॥

रामं कमलपत्राक्षं तुष्टुवुः सर्वदेवताः ।
गन्धर्वाः पुष्पवर्षैश्च वाग्भिश्च त्रिदशालयाः ॥ ३ ॥

कमलनयन रामपर सब देवता और गन्धर्व फूलोंकी वर्षा और स्तुति करने लगे ॥ ३ ॥

पूजयित्वा यथा रामं प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।
तन्महोत्सवसंकाशमासीदाकाशमच्युत ॥ ४ ॥

रामकी यथायोग्य पूजा करके सब देवता अपने अपने स्थानको चले गये । हे अच्युत युधिष्ठिर ! उस समयके उत्सवसे आकाश परिपूर्ण हो गया ॥ ४ ॥

ततो हत्वा दशग्रीवं लङ्कां रामो महायशाः ।
विभीषणाय प्रददौ प्रभुः परपुरंजयः ॥ ५ ॥

शत्रुके नगरको जीतनेवाले महायशस्वी प्रभु रामने रावणको मारनेके पश्चात् लङ्का विभीषणको दे दी ॥ ५ ॥

ततः सीतां पुरस्कृत्य विभीषणपुरस्कृताम् ।
अविन्ध्यो नाम सुप्रज्ञो वृद्धामात्यो विनिर्ययौ ॥ ६ ॥

इसके पश्चात् विभीषणसे पूजित सीताको आगे करके अविन्ध्य नामक बुद्धिमान् बूढा मन्त्री लङ्कासे बाहर निकला ॥ ६ ॥

उवाच च महात्मानं काकुत्स्थं दैन्यमास्थितम् ।
प्रतीच्छ देवीं सद्वृत्तां महात्मञ्जानकीमिति ॥ ७ ॥

रामके पास आके, दीन होके काकुत्स्थवंशी रामसे बोला— हे महात्मन् ! इस सच्चरित्रवाली देवी जानकीको ग्रहण कीजिये ॥ ७ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्मादवतीर्य रथोत्तमात् ।
बाष्पेणापिहितां सीतां ददर्शेक्ष्वाकुनन्दनः ॥ ८ ॥

इक्ष्वाकुनन्दन रामने उसके ऐसे वचन सुनकर रथसे उतरकर आंसुओंसे भरे नेत्रवाली जानकीको देखा ॥ ८ ॥

तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं यानस्थां शोककर्शिताम् ।
मलोपचितसर्वाङ्गीं जटिलां कृष्णवाससम् ॥ ९ ॥

शोकसे व्याकुल हुई मलिन अङ्ग और वस्त्रवाली, जटा बांधे हुए रथमें बैठी उस सुन्दरी जानकीको देखकर परपुरुषके स्पर्शसे हुई सीताकी अपवित्रताकी शंका करके राम बोले ॥९॥

उवाच रामो वैदेहीं परामर्शविशङ्कितः ।
गच्छ वैदेहि मुक्ता त्वं यत्कार्यं तन्मया कृतम् ॥ १० ॥

हे वैदेही ! जो मेरे करने योग्य कार्य था उसे मैंने किया । हे सीते ! अब तुम स्वतंत्र हो, जहां जाना चाहो, वहां चली जाओ ॥ १० ॥

मामासाद्य पतिं भद्रे न त्वं राक्षसवेश्मनि।
जरां व्रजेथा इति मे निहतोऽसौ निशाचरः ॥ ११ ॥

हे भद्रे ! मुझ पतिको पाकर तुम कहीं राक्षसके घरमें ही बूढी न हो जाओ, ऐसा विचारकर ही इस रावणको मैंने मारा है ॥ ११ ॥

कथं ह्यस्मद्विधो जातु जानन्धर्मविनिश्चयम्।
परहस्तगतां नारीं मुहूर्तमपि धारयेत् ॥ १२ ॥

मुझ जैसा मनुष्य धर्मको जानकर पराये हाथमें गई हुई स्त्रीको एक मुहूर्त्तभर भी अपने पास कैसे रख सकता है? ॥ १२ ॥

सुवृत्तामसुवृत्तां वाप्यहं त्वामद्य मैथिलि।
नोत्सहे परिभोगाय श्वावलीढं हविर्यथा ॥ १३ ॥

हे मिथिलेशपुत्री ! चाहे तुम अच्छे चरित्रवाली हो, चाहे बुरे चरित्रवाली हो, मैं अब तुम्हारा उपभोग उसी तरह नहीं कर सकता, जिसप्रकार कुत्तेकी चाटी हुई खीरका कोई उपभोग नहीं करता ॥ १३ ॥

ततः सा सहसा बाला तच्छ्रुत्वा दारुणं वचः।
पपात देवी व्यथिता निकृत्ता कदली यथा ॥ १४ ॥

हे राजन् ! इस कठोर वचनको सुनकर बहुत दुःखी होकर सीता कटे हुए केलेके वृक्षके समान पृथ्वीपर गिर पडी ॥ १४ ॥

यो ह्यस्या हर्षसंभूतो मुखरागस्तदाभवत्।
क्षणेन स पुनर्भ्रष्टो निःश्वासादिव दर्पणे ॥ १५ ॥

सीताके मुखका जो वर्ण राम मिलनरूप आनन्दके कारण चमकीला हो गया था, वह क्षणभरमें ऐसा मलिन हो गया जैसे दर्पण निःश्वाससे ॥ १५ ॥

ततस्ते हरयः सर्वे तच्छ्रुत्वा रामभाषितम्।
गतासुकल्पा निश्चेष्टा बभूवुः सहलक्ष्मणाः ॥ १६ ॥

रामके ऐसे वचन सुनकर सब वन्दर लक्ष्मणके सहित मरे हुएके समान निश्चेष्ट हो गये ॥ १६ ॥

ततो देवो विशुद्धात्मा विमानेन चतुर्मुखः।
पितामहो जगत्स्रष्टा दर्शयामास राघवम् ॥ १७ ॥

तब शुद्धात्मा पितामह युगके कर्त्ता चतुर्मुख ब्रह्मा विमानपर बैठे हुए रामको दीख पडे ॥ १७ ॥

शक्रश्चाग्निश्च वायुश्च यमो वरुण एव च ।
यक्षाधिपश्च भगवांस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः ॥ १८ ॥
राजा दशरथश्चैव दिव्यभास्वरमूर्तिमान् ।
विमानेन महार्हेण हंसयुक्तेन भास्वता ॥ १९ ॥

इन्द्र, अग्नि, वायु, यम और वरुण, कुबेर, निर्मल सप्त ऋषि तथा दिव्य प्रकाशयुक्त राजा दशरथ हंसयुक्त बहुमूल्य विमानपर बैठे हुए आकाशमें दीख पडे ॥ १८-१९ ॥

ततोऽन्तरिक्षं तत्सर्वं देवगन्धर्वसंकुलम् ।
शुशुभे तारकाचित्रं शरदीव नभस्तलम् ॥ २० ॥

उस समय देवता और गन्धर्वोंसे भरा हुआ आकाश ऐसा जान पडता था, जैसा शरद् ऋतुमें ताराओंसे भरा हुआ अन्तरिक्ष ॥ २० ॥

तत उत्थाय वैदेही तेषां मध्ये यशस्विनी ।
उवाच वाक्यं कल्याणी रामं पृथुलवक्षसम् ॥ २१ ॥

तब यशस्विनी कल्याणी सीताने सबके बीचमें खडे होकर चौडी छातीवाले रामसे यह वाक्य कहा ॥ २१ ॥

राजपुत्र न ते कोपं करोमि विदिता हि मे ।
गतिः स्त्रीणां नराणां च शृणु चेदं वचो मम ॥ २२ ॥

हे राजपुत्र ! मेरा आप पर किसी भी तरहका क्रोध नहीं है । स्त्री और पुरुषोंकी जो गति है, वह मुझे विदित ही है । अतः आप मेरी इस बातको सुनें ॥ २२ ॥

अन्तश्चरति भूतानां मातरिश्वा सदागतिः ।
स मे विमुञ्चतु प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ २३ ॥

हमेशा बहनेवाले ये वायु देवता प्राणियोंके अंतःकरणमें भी विचरते रहते हैं । यदि मैंने पाप किया हो तो वही मेरे प्राणोंका नाश कर दें ॥ २३ ॥

अग्निरापस्तथाकाशं पृथिवी वायुरेव च ।
विमुञ्चन्तु मम प्राणान्यदि पापं चराम्यहम् ॥ २४ ॥

अग्नि, जल, आकाश, पृथ्वी और वायु मेरे प्राणोंका नाश करें, यदि मैंने पाप किया हो ॥ २४ ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीत्सर्वा विश्रावयन्दिशः ।
पुण्या संहर्षणी तेषां वानराणां महात्मनाम् ॥ २५ ॥

हे युधिष्ठिर ! तब उन महात्मा वानरोंको आनन्द देनेवाली पवित्र आकाशवाणी हुई । वह आकाशवाणी सभी दिशाओंमें सुनाई पडी ॥ २५ ॥

वायुरुवाच

भो भो राघव सत्यं वै वायुरस्मि सदागतिः ।
अपापा मैथिली राजन्संगच्छ सह भार्यया ॥ २६ ॥

वायु बोले– हे रघुनन्दन ! मैं सदा चलनेवाला वायु हूं । मैं सत्य कहता हूं, कि तुम सीताको अपनी स्त्री बनाओ, यह निष्पाप है ॥ २६ ॥

अग्निरुवाच

अहमन्तःशरीरस्थो भूतानां रघुनन्दन ।
सुसूक्ष्ममपि काकुत्स्थ मैथिली नापराध्यति ॥ २७ ॥

अग्नि बोले– हे रघुनन्दन ! मैं सब प्राणियोंके भीतर रहता हूं । हे काकुत्स्थ ! जनकनन्दिनीने जरा भी अपराध नहीं किया है ॥ २७ ॥

वरुण उवाच

रसा वै मत्प्रसूता हि भूतदेहेषु राघव ।
अहं वै त्वां प्रब्रवीमि मैथिली प्रतिगृह्यताम् ॥ २८ ॥

वरुण बोले– हे राम ! सब प्राणियोंके शरीरमें रस मेरा ही उत्पन्न किया हुआ है । मैं आपसे कहता हूं कि आप जानकीको स्वीकार करें ॥ २८ ॥

ब्रह्मोवाच

पुत्र नैतदिहाश्चर्यं त्वयि राजर्षिधर्मिणि ।
साधो सद्वृत्तमार्गस्थे शृणु चेदं वचो मम ॥ २९ ॥

ब्रह्मा बोले– हे साधु ! हे पुत्र ! तुम राजऋषिके धर्ममें वर्त्तमान हो तथा तुम सच्चारित्र्यके मार्ग-पर चलनेवाले हो, इसलिए तुमने यह कुछ आश्चर्यकी बात नहीं कही । तथापि तुम मेरी यह बात सुनो ॥ २९ ॥

शत्रुरेष त्वया वीर देवगन्धर्वभोगिनाम् ।
यक्षाणां दानवानां च महर्षीणां च पातितः ॥ ३० ॥

हे वीर ! तुमने देव, दानव, गन्धर्व, सर्प, यक्ष और महर्षियोंके शत्रुको मारा ॥ ३० ॥

अवध्यः सर्वभूतानां मत्प्रसादात्पुराभवत् ।
कस्माच्चित्कारणात्पापः कंचित्कालमुपेक्षितः ॥ ३१ ॥

रावण मेरे ही वरदानसे पहिले सब प्राणियोंके द्वारा मारनेके अयोग्य हो गया था । कुछ काल-तक वह पापी किसी कारणसे बचा रहा ॥ ३१ ॥

वधार्थमात्मनस्तेन हृता सीता दुरात्मना ।
नलकूबरशापेन रक्षा चास्याः कृता मया ॥ ३२ ॥

फिर अपने ही नाशके लिए उस दुष्टने सीताको चुराया । तब नलकूबरके शापके द्वारा मैंने सीताकी रक्षा की ॥ ३२ ॥

यदि ह्यकामामासेवेत्स्त्रियमन्यामपि ध्रुवम् ।
शतधास्य फलेद्देह इत्युक्तः सोऽभवत्पुरा ॥ ३३ ॥

रावणको यह शाप था कि यदि वह किसी दूसरेकी स्त्रीको उस स्त्रीकी इच्छाके विरुद्ध भोगेगा, तो उसके सिरके सौ टुकडे हो जायेंगे ॥ ३३ ॥

नात्र शङ्का त्वया कार्या प्रतीच्छेमां महाद्युते ।
कृतं त्वया महत्कार्यं देवानाममरप्रभ ॥ ३४ ॥

हे देवतुल्य राम ! तुमको इसमें कुछ भी शङ्का न करनी चाहिये; अब सीताको ग्रहण करो। हे महातेजास्विन् ! तुमने देवोंका रावण वधरूप एक बडा भारी काम किया है ॥ ३४ ॥

दशरथ उवाच

प्रीतोऽस्मि वत्स भद्रं ते पिता दशरथोऽस्मि ते ।
अनुजानामि राज्यं च प्रशाधि पुरुषोत्तम ॥ ३५ ॥

दशरथ बोले– हे पुत्र ! मैं तुम्हारा पिता दशरथ हूं, तुमसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारा कल्याण हो । हे पुरुषोत्तम ! मैं तुम्हें राज्य लेनेकी अनुमति देता हूं, तुम राज्यपर शासन करो ॥३५॥

राम उवाच

अभिवादये त्वां राजेन्द्र यदि त्वं जनको मम ।
गमिष्यामि पुरीं रम्यामयोध्यां शासनात्तव ॥ ३६ ॥

राम बोले– हे राजेन्द्र ! यदि आप मेरे पिता हैं, तो मैं आपको प्रणाम करता हूं । आपकी आज्ञासे मैं मनोहर अयोध्या नगरीको जाऊंगा ॥ ३६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तमुवाच पिता भूयः प्रहृष्टो मनुजाधिप ।
गच्छायोध्यां प्रशाधि त्वं राम रक्तान्तलोचन ॥ ३७ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! राजा दशरथ फिर प्रसन्न होकर रामसे बोले– हे लाल नेत्रवाले राम ! कि तुम अयोध्याको जाओ और शासन करो ॥ ३७ ॥

ततो देवान्नमस्कृत्य सुहृद्भिरभिनन्दितः ।
महेन्द्र इव पौलोम्या भार्यया स समेयिवान् ॥ ३८ ॥

तब देवताओंको नमस्कार करके मित्रोंसे अभिनन्दित होकर रामने सीताको ऐसे ग्रहण किया, जैसे इन्द्रने शचीको ग्रहण किया था ॥ ३८ ॥

ततो वरं ददौ तस्मै अविन्ध्याय परंतपः ।
त्रिजटां चार्थमानाभ्यां योजयामास राक्षसीम् ॥ ३९ ॥

तब शत्रुके जीतनेवाले रामने अविन्ध्यको वरदान दिया, और त्रिजटा राक्षसीको भी धन और मानसे प्रसन्न किया ॥ ३९ ॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा देवैः शक्रमुखैर्वृतः ।
कौसल्यामातरिष्टांस्ते वरानद्य ददानि कान् ॥ ४० ॥

तब इन्द्रादि देवताओंके सहित ब्रह्मा रामसे बोले— हे कौसल्यानन्दन ! आज तुम्हें कौन कौनसे अभीष्ट वर दूं ? ॥ ४० ॥

वव्रे रामः स्थितिं धर्मे शत्रुभिश्चापराजयम् ।
राक्षसैर्निहतानां च वानराणां समुद्भवम् ॥ ४१ ॥

रामने धर्ममें स्थिति और शत्रुओंसे अजेयता मांगी तथा राक्षसोंसे मारे गए बन्दरोंका जीवन भी मांगा ॥ ४१ ॥

ततस्ते ब्रह्मणा प्रोक्ते तथेति वचने तदा ।
समुत्तस्थुर्महाराज वानरा लब्धचेतसः ॥ ४२ ॥

ब्रह्माने कहा— ऐसा ही हो । तब, हे महाराज ! ब्रह्माके ऐसे वचन कहते ही सब बन्दर चैतन्य होकर खडे हो गये ॥ ४२ ॥

सीता चापि महाभागा वरं हनुमते ददौ ।
रामकीर्त्या समं पुत्र जीवितं ते भविष्यति ॥ ४३ ॥

तब महाभाग्यवती सीताने हनूमान्को यह वरदान दिया— हे पुत्र ! जबतक रामका यश जगत्में रहे, तबतक तुम जीते रहो ॥ ४३ ॥

दिव्यास्त्वामुपभोगाश्च मत्प्रसादकृताः सदा ।
उपस्थास्यन्ति हनुमन्निति स्म हरिलोचन ॥ ४४ ॥

हे हरिलोचन हनुमन् ! मेरी कृपासे तुमको सदा दिव्य भोग प्राप्त होंगे ॥ ४४ ॥

ततस्ते प्रेक्षमाणानां तेषामक्लिष्टकर्मणाम्।
अन्तर्धानं ययुर्देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः ॥ ४५ ॥

इसके पश्चात् कठोर कर्म भी सरलतासे करनेवाले बन्दरोंके सन्मुख इन्द्रादि देवता अन्तर्धान हो गये ॥ ४५ ॥

दृष्ट्वा तु रामं जानक्या समेतं शक्रसारथिः।
उवाच परमप्रीतः सुहृन्मध्य इदं वचः ॥ ४६ ॥

इन्द्रका सारथी मातलि रामको जानकीके साथ देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, और मित्रोंके बीचमें यह वचन बोला ॥ ४६ ॥

देवगन्धर्वयक्षाणां मानुषासुरभोगिनाम्।
अपनीतं त्वया दुःखमिदं सत्यपराक्रम ॥ ४७ ॥

हे सत्यपराक्रम ! देव, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य और सर्पोंका यह दुःख तुमने दूर किया ॥ ४७ ॥

सदेवासुरगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः।
कथयिष्यन्ति लोकास्त्वां यावद्भूमिर्धरिष्यति ॥ ४८ ॥

जबतक पृथ्वी रहेगी, तबतक देव, असुर, यक्ष, गन्धर्व और राक्षसोंके सहित सब लोग तुम्हारा यश गायेंगे ॥ ४८ ॥

इत्येवमुक्त्वानुज्ञाप्य रामं शस्त्रभृतां वरम्।
संपूज्यापाक्रमत्तेन रथेनादित्यवर्चसा ॥ ४९ ॥

ऐसा कहकर और शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ रामकी आज्ञा लेकर सूर्यके समान प्रकाशयुक्त रथपर चढकर मातलि चला गया ॥ ४९ ॥

ततः सीतां पुरस्कृत्य रामः सौमित्रिणा सह।
सुग्रीवप्रमुखैश्चैव सहितः सर्ववानरैः ॥ ५० ॥

उसके पश्चात् सीता और लक्ष्मणको सङ्ग लेकर सुग्रीवादिक बन्दरोंके सहित राम चले ॥ ५० ॥

विधाय रक्षां लङ्कायां विभीषणपुरस्कृतः।
संततार पुनस्तेन सेतुना मकरालयम् ॥ ५१ ॥
पुष्पकेण विमानेन खेचरेण विराजता।
कामगेन यथा मुख्यैरमात्यैः संवृतो वशी ॥ ५२ ॥

लंकामें रक्षाकी व्यवस्था करके विभीषणको आगे करके अन्य मुख्यमंत्रियोंसे घिरकर जितेन्द्रिय राम आकाशमें इच्छानुसार उडनेवाले पुष्पक विमानसे उसी पुलके ऊपरसे मकरालय समुद्रको पार कर गए ॥ ५१-५२ ॥

ततस्तीरे समुद्रस्य यत्र शिश्ये स पार्थिवः।
तत्रैवोवास धर्मात्मा सहितः सर्ववानरैः ॥ ५३ ॥

इसके बाद धर्मात्मा राजा राम उस समुद्रके किनारे जहां पहिले रहे थे, वहां कुछ काल ठहरे ॥ ५३ ॥

अथैनान्राघवः काले समानीयाभिपूज्य च।
विसर्जयामास तदा रत्नैः संतोष्य सर्वशः ॥ ५४ ॥

समयानुसार बन्दर, रीछ और लंगूरोंकी यथायोग्य पूजा करके और उन्हें रत्नोंसे सन्तुष्ट करके उन लोगोंको विदा किया ॥ ५४ ॥

गतेषु वानरेन्द्रेषु गोपुच्छर्क्षेषु तेषु च।
सुग्रीवसहितो रामः किष्किन्धां पुनरागमत् ॥ ५५ ॥
विभीषणेनानुगतः सुग्रीवसहितस्तदा।
पुष्पकेण विमानेन वैदेह्या दर्शयन्वनम् ॥ ५६ ॥

उन वानरराजाओं, लंगूरों और रीछोंके चले जानेके बाद अपने अनुचर विभीषण तथा सुग्रीवके साथ राम सीताको वे सब वन दिखलाते हुए पुष्पक विमानसे फिर किष्किंधापुरीको आए ॥ ५५-५६ ॥

किष्किन्धां तु समासाद्य रामः प्रहरतां वरः।
अङ्गदं कृतकर्माणं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥ ५७ ॥

शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ राम किष्किंधापुरीमें पहुंचे और वहां कार्य सिद्ध करनेवाले अङ्गदका युवराजके पदपर अभिषेक किया ॥ ५७ ॥

ततस्तैरेव सहितो रामः सौमित्रिणा सह।
यथागतेन मार्गेण प्रययौ स्वपुरं प्रति ॥ ५८ ॥

तब राम सुग्रीवादि लक्ष्मणके सहित जिस मार्गसे आये थे, उसी मार्गसे अपनी अयोध्या नगरीमें पहुंचे ॥ ५८ ॥

अयोध्यां स समासाद्य पुरीं राष्ट्रपतिस्ततः।
भरताय हनूमन्तं दूतं प्रस्थापयत्तदा ॥ ५९ ॥

इसके बाद उन राष्ट्रपति राजा रामने अयोध्यापुरी पहुंकर हनूमान्को भरतके पास दूत बनाकर भेजा ॥ ५९ ॥

लक्षयित्वेङ्गितं सर्वं प्रियं तस्मै निवेद्य च।
वायुपुत्रे पुनः प्राप्ते नन्दिग्राममुपागमत् ॥ ६० ॥

भरतकी इच्छाओंको जानकर और भरतको रामके आगमनरूप हर्षयुक्त सूचना देकर जब वायुपुत्र हनूमान् फिर रामके समीप लौट आये, तब राम नन्दिग्राम पहुंचे ॥ ६० ॥

स तत्र मलदिग्धाङ्गं भरतं चीरवाससम् ।
अग्रतः पादुके कृत्वा ददर्शासीनमासने ॥ ६१ ॥

वहां वल्कलके वस्त्र पहने, मलिन अङ्गवाले, आगे खडाऊं धरकर आसनपर बैठे हुए भरतको देखा ॥ ६१ ॥

समेत्य भरतेनाथ शत्रुघ्नेन च वीर्यवान् ।
राघवः सहसौमित्रिर्मुमुदे भरतर्षभ ॥ ६२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! भरत और शत्रुघ्नसे मिलकर वीर्यवान् राम और लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुये ॥ ६२ ॥

तथा भरतशत्रुघ्नौ समेतौ गुरुणा तदा ।
वैदेह्या दर्शनेनोभौ प्रहर्षं समवापतुः ॥ ६३ ॥

भरत और शत्रुघ्न भी अपने बडे भाई राम, लक्ष्मण और सीताका दर्शन कर बहुत आनन्दित हुये ॥ ६३ ॥

तस्मै तद्भरतो राज्यमागतायाभिसत्कृतम् ।
न्यासं निर्यातयामास युक्तः परमया मुदा ॥ ६४ ॥

भरतने आये हुए रामका सत्कार करके प्रसन्नतापूर्वक रामको धरोहररूप राज्यको सौंप दिया ॥ ६४ ॥

ततस्तं वैष्णवे शूरं नक्षत्रेऽभिमतेऽहनि ।
वसिष्ठो वामदेवश्च सहितावभ्यषिञ्चताम् ॥ ६५ ॥

इसके पश्चात् वशिष्ठ और वामदेवने विष्णु देवतासम्बन्धी श्रवण नक्षत्र और अभीष्ट दिनमें शूरवीर रामका राज्याभिषेक किया ॥ ६५ ॥

सोऽभिषिक्तः कपिश्रेष्ठं सुग्रीवं ससुहृज्जनम् ।
विभीषणं च पौलस्त्यमन्वजानाद् गृहान्प्रति ॥ ६६ ॥

राज्य पाकर रामने अपने प्रियमित्र सुग्रीव और पुलस्त्यनन्दन विभीषणको अपने अपने घरोंको जानेकी आज्ञा दी ॥ ६६ ॥

अभ्यर्च्य विविधै रत्नैः प्रीतियुक्तौ मुदा युतौ ।
समाधायेतिकर्तव्यं दुःखेन विससर्ज ह ॥ ६७ ॥

अनेक प्रकारके भोगोंसे उनका सत्कार करनेके कारण जब वे प्रसन्न हो गए, तब उन्हें राजनीतिका उपदेश करके बडे ही दुःखसे विदा किया ॥ ६७ ॥

पुष्पकं च विमानं तत्पूजयित्वा स राघवः ।
प्रादाद्वैश्रवणायैव प्रीत्या स रघुनन्दनः ॥ ६८ ॥

रघुनन्दन रामने पुष्पक विमानकी पूजा करके प्रसन्नतापूर्वक कुबेरको ही दे दिया ॥ ६८ ॥

ततो देवर्षिसहितः सरितं गोमतीमनु ।
दशाश्वमेधानाजह्रे जारूथ्यान्स निरर्गलान् ॥ ६९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७५ ॥ ९५२१ ॥

इसके पश्चात् गोमतीके तटपर देवऋषियोंके सहित दश अश्वमेध यज्ञ किये । वे यज्ञ अत्यन्त स्तुतिके योग्य थे और उन यज्ञोंके कालमें याचकोंके लिए किसी भी चीजकी न्यूनता नहीं थी ॥ ६९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ पिचहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७५ ॥ ९५२१ ॥

२७६

मार्कण्डेय उवाच

एवमेतन्महाबाहो रामेणामिततेजसा ।
प्राप्तं व्यसनमत्युग्रं वनवासकृतं पुरा ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे युधिष्ठिर ! पहिले समयमें महातेजस्वी रामने इस प्रकार वनमें वास करके घोर दुःख उठाये थे ॥ १ ॥

मा शुचः पुरुषव्याघ्र क्षत्रियोऽसि परंतप ।
बाहुवीर्याश्रये मार्गे वर्तसे दीप्तनिर्णये ॥ २ ॥

हे पुरुषसिंह ! हे शत्रुनाशक ! आप क्षत्रिय हैं, आप ऐसे मार्गपर चल रहे हैं, कि जिसमें अपने ही बाहुओंके बलका भरोसा है और जिसमें फलका निर्णय सन्देहरहित है । इसलिये शोक मत कीजिए ॥ २ ॥

न हि ते वृजिनं किंचिद्दृश्यते परमण्वपि ।
अस्मिन्मार्गे विषीदेयुः सेन्द्रा अपि सुरासुराः ॥ ३ ॥

आपके कर्मोंमें किंचित् भी पाप या कुटिलता नहीं है । जिस मार्गमें आप चलते हैं उसमें चलनेसे इन्द्रादि देवता और राक्षसोंको भी दुःख होता है ॥ ३ ॥

संहत्य निहतो वृत्रो मरुद्भिर्वज्रपाणिना ।
नमुचिश्चैव दुर्धर्षो दीर्घजिह्वा च राक्षसी ॥ ४ ॥

वज्रधारी इन्द्रने मरुत् गणोंकी सहायतासे वृत्र दुर्धर्ष नमुचि और दीर्घजिह्वा राक्षसीको मारा था॥४॥

सहायवति सर्वार्थाः संतिष्ठन्तीह सर्वशः ।
किं नु तस्याजितं संख्ये भ्राता यस्य धनंजयः ॥ ५ ॥

जिस पुरुषके सहायक होते हैं उसे सभी कर्मोंमें सिद्धियां मिलती हैं । जिसके भाई साक्षात् अर्जुन हैं, वे कौनसी वस्तुको नहीं जीत सकते ॥ ५ ॥

अयं च बलिनां श्रेष्ठो भीमो भीमपराक्रमः ।
युवानौ च महेष्वासौ यमौ माद्रवतीसुतौ ।
एभिः सहायैः कस्मात्त्वं विषीदसि परंतप ॥ ६ ॥

यह बलवानोंमें श्रेष्ठ महापराक्रमी भीम, युवा महा धनुर्धारी नकुल और सहदेव आपके सहायक हैं, तब आप क्यों शोक करते हैं ? ॥ ६ ॥

य इमे वज्रिणः सेनां जयेयुः समरुद्गणाम् ।
त्वमप्येभिर्महेष्वासैः सहायैर्देवरूपिभिः ।
विजेष्यसि रणे सर्वानमित्रान्भरतर्षभ ॥ ७ ॥

हे शत्रुनाशन ! आपके भाई मरुत्गणके सहित इन्द्रकी सेनाको भी जीत सकते हैं । हे भरतकुल श्रेष्ठ ! आप भी इन महाधनुर्धारी देवरूपी अपने भाईयोंकी सहायतासे सब शत्रुओंको जीतेंगे ॥ ७ ॥

इतश्च त्वमिमां पश्य सैन्धवेन दुरात्मना ।
बलिना वीर्यमत्तेन हृतामेभिर्महात्मभिः ॥ ८ ॥
आनीतां द्रौपदीं कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
जयद्रथं च राजानं विजितं वशमागतम् ॥ ९ ॥

इधर देखिए, अपने बलसे उन्मत्त, बलशाली दुष्टात्मा सिन्धुराज जयद्रथने द्रौपदीको हर लिया था, पर इन महात्माओंने दुष्कर कर्म करके कृष्णा द्रौपदीको छुडा लिया और राजा जयद्रथको जीतकर अपने वशमें कर लिया ॥ ८-९ ॥

असहायेन रामेण वैदेही पुनराहृता ।
हत्वा संख्ये दशग्रीवं राक्षसं भीमविक्रमम् ॥ १० ॥

रामने तो बिना किसीकी सहायताके ही महापराक्रमी राक्षसराज रावणको युद्धमें मारा और सीताको मुक्त किया था ॥ १० ॥

यस्य शाखामृगा मित्रा ऋक्षाः कालमुखास्तथा।
जात्यन्तरगता राजन्नेतद्बुद्ध्यानुचिन्तय ॥ ११ ॥

हे राजन् ! आप अपनी बुद्धिसे विचारिये कि रामके मित्र वन्दर रीछ और लंगूर थे, उनमें कोई भी मनुष्य नहीं था ॥ ११ ॥

तस्मात्त्वं कुरुशार्दूल मा शुचो भरतर्षभ।
त्वद्विधा हि महात्मानो न शोचन्ति परंतप ॥ १२ ॥

हे भरतर्षभ! हे पुरुषश्रेष्ठ! हे शत्रुओंको तपानेवाले! इसलिये अब आप उत्तम साहस कीजिये, क्योंकि आप जैसे महात्माओंको शोक नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितो राजा मार्कण्डेयेन धीमता।
त्यक्त्वा दुःखमदीनात्मा पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७६ ॥ ९५३४ ॥

वैशम्पायन बोले– बुद्धिमान् मार्कण्डेयके ऐसे सान्त्वनापूर्ण वचन सुनकर महाबलवान् महाराजने दुःखको त्याग दिया और फिर ऐसा कहने लगे ॥ १३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ छिहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७६ ॥ ९५३४ ॥

: २७७ :

युधिष्ठिर उवाच

नात्मानमनुशोचामि नेमान्भ्रातॄन्महामुने।
हरणं चापि राज्यस्य यथेमां द्रुपदात्मजाम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे महामुने! मैं न अपना, न अपने भाइयोंका, और न राज्यके नष्ट होनेका इतना शोक करता हूं, जितना राजपुत्री द्रौपदीका ॥ १ ॥

द्यूते दुरात्मभिः क्लिष्टाः कृष्णया तारिता वयम्।
जयद्रथेन च पुनर्वनादपहृता बलात् ॥ २ ॥

इसने जुएके समयमें दुष्टोंके हाथसे बहुत दुःख पाया और हम लोगोंका उद्धार भी किया। फिर वनमें जयद्रथने अपने बलसे इसको हर लिया ॥ २ ॥

अस्ति सीमन्तिनी काचिद्दृष्टपूर्वाथ वा श्रुता।
पतिव्रता महाभागा यथेयं द्रुपदात्मजा ॥ ३ ॥

आपने पहिले कभी द्रौपदीके समान पतिव्रता और महाभाग्यवती कोई स्त्री देखी वा सुनी है? ॥ ३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

श्रृणु राजन्कुलस्त्रीणां महाभाग्यं युधिष्ठिर ।
सर्वमेतद्यथा प्राप्तं सावित्र्या राजकन्यया ॥ ४ ॥

मार्कण्डेय बोले— हे राजन् युधिष्ठिर ! आप कुलीन स्त्रियोंके चरित्रको सुनिये । राजपुत्री सावित्रीने भी इसप्रकारके बहुत दुःख उठाये थे ॥ ४ ॥

आसीन्मद्रेषु धर्मात्मा राजा परमधार्मिकः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च सत्यसंधो जितेन्द्रियः ॥ ५ ॥
यज्वा दानपतिर्दक्षः पौरजानपदप्रियः ।
पार्थिवोऽश्वपतिर्नाम सर्वभूतहिते रतः ॥ ६ ॥

मद्रदेशमें धर्मात्मा, धर्म जाननेवाले, ब्राह्मणोंके भक्त, महात्मा सत्यवादी, जितेन्द्रिय, यज्ञकर्त्ता, दानी, कुशल, प्रजाके प्यारे और सब प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले अश्वपति नामके एक राजा थे ॥ ५-६ ॥

क्षमावाननपत्यश्च सत्यवाग्विजितेन्द्रियः ।
अतिक्रान्तेन वयसा संतापमुपजग्मिवान् ॥ ७ ॥

वे क्षमाशील, निस्सन्तान, सत्यवादी और जितेन्द्रिय थे । उनकी बहुत अवस्था बीतनेपर भी जब उनके कोई पुत्र उत्पन्न न हुआ, तब उनको बहुत दुःख हुआ ॥ ७ ॥

अपत्योत्पादनार्थं स तीव्रं नियममास्थितः ।
काले परिमिताहारो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥

पुत्र उत्पन्न करनेके लिए वे परम नियम और व्रतोंका आचरण करने लगे । वे समयपर थोडा भोजन करके जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी रहते थे ॥ ८ ॥

हुत्वा शतसहस्रं स सावित्र्या राजसत्तम ।
षष्ठे षष्ठे तदा काले बभूव मितभोजनः ॥ ९ ॥

हे राजसत्तम ! सावित्रीसे एक लाख हवन करके दिनके छठवें भागमें थोडा भोजन करते थे ॥ ९ ॥

एतेन नियमेनासीद्वर्षाण्यष्टादशैव तु ।
पूर्णे त्वष्टादशे वर्षे सावित्री तुष्टिमभ्यगात् ।
स्वरूपिणी तदा राजन्दर्शयामास तं नृपम् ॥ १० ॥

अठारह वर्षोंतक वह राजा इसप्रकार नियमपूर्वक आचरण करते रहे । अठारहवें वर्षके पूर्ण होनेपर सावित्री सन्तुष्ट हो गई । हे राजन् ! तब सावित्रीने साक्षात् रूप धारण करके राजाको अपना दर्शन दिया ॥ १० ॥

×

अग्निहोत्रात्समुत्थाय हर्षेण महतान्विता।
उवाच चैनं वरदा वचनं पार्थिवं तदा ॥ ११ ॥

वह सावित्री अत्यन्त हर्षसे युक्त होकर अग्निहोत्रमें प्रकट हुई। वर देनेवाली सावित्रीने राजासे यह कहा ॥ ११ ॥

ब्रह्मचर्येण शुद्धेन दमेन नियमेन च।
सर्वात्मना च मद्भक्त्या तुष्टास्मि तव पार्थिव ॥ १२ ॥

हे राजन् ! मैं तुम्हारे ब्रह्मचर्य, पवित्रता, दम, नियम और मुझमें तुम्हारी सर्वात्मना भक्तिको देखकर बहुत सन्तुष्ट हूँ ॥ १२ ॥

वरं वृणीष्वाश्वपते मद्रराज यथेप्सितम्।
न प्रमादश्च धर्मेषु कर्तव्यस्ते कथंचन ॥ १३ ॥

हे अश्वपते मद्रराज ! जो तुम्हारा अभीष्ट हो, सो वर मांगो। तुम धर्मके पालनमें प्रमाद कभी न करना ॥ १३ ॥

अश्वपतिरुवाच

अपत्यार्थः समारम्भः कृतो धर्मेप्सया मया।
पुत्रा मे बहवो देवि भवेयुः कुलभावनाः ॥ १४ ॥

अश्वपति बोले– हे देवि ! मैंने पुत्र और धर्मप्राप्तिकी इच्छासे यह समारंभ किया है। हे देवि ! मेरे कुलको बढानेवाले मेरे बहुतसे पुत्र हों ॥ १४ ॥

तुष्टासि यदि मे देवि काममेतं वृणोम्यहम्।
सन्तानं हि परो धर्म इत्याहुर्मां द्विजातयः ॥ १५ ॥

मुझसे ब्राह्मणोंने कहा था कि पुत्र ही परम धर्म है, अतः यदि आप प्रसन्न हुई हैं; तो, हे देवि ! मैं आपसे यही वरदान मागता हूँ ॥ १५ ॥

सावित्र्युवाच

पूर्वमेव मया राजन्नभिप्रायमिमं तव।
ज्ञात्वा पुत्रार्थमुक्तो वै तव हेतोः पितामहः ॥ १६ ॥

सावित्री बोली– हे राजन् ! मैंने पहिले ही तुम्हारे इस अभिप्रायको जानकर तुम्हारे पुत्रकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मासे कहा था ॥ १६ ॥

प्रसादाच्चैव तस्मात्ते स्वयंभुविहिताद्भुवि।
कन्या तेजस्विनी सौम्य क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १७ ॥

हे सौम्य राजन् ! उन ब्रह्माकी कृपासे और प्रसादसे इस पृथ्वीपर तुम्हारे शीघ्र ही एक कन्या उत्पन्न होगी ॥ १७ ॥

उत्तरं च न ते किंचिद्व्याहर्तव्यं कथंचन ।
पितामहनिसर्गेण तुष्टा ह्येतद्‌ब्रवीमि ते ॥ १८ ॥

हे राजन् ! तुम इसका उत्तर कुछ मत दो । मैं तुमसे प्रसन्न होकर ब्रह्माकी आज्ञासे तुमको वर दे रही हूं ॥ १८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय सावित्र्या वचनं नृपः ।
प्रसादयामास पुनः क्षिप्रमेव भवेदिति ॥ १९ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! 'ऐसा ही हो' इस प्रकार सावित्रीके वचनोंको अङ्गीकार करके राजाने फिर सावित्रीको प्रसन्न किया कि सन्तान शीघ्र ही हो ॥ १९ ॥

अन्तर्हितायां सावित्र्यां जगाम स्वगृहं नृपः ।
स्वराज्ये चावसत्प्रीतः प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ २० ॥

तब सावित्री अन्तर्धान हो गई, तो राजा अपने नगरको चले आये और अपने राज्यमें प्रसन्नतापूर्वक रहकर धर्मसे प्रजाका पालन करने लगे ॥ २० ॥

कस्मिंश्चित्तु गते काले स राजा नियतव्रतः ।
ज्येष्ठायां धर्मचारिण्यां महिष्यां गर्भमादधे ॥ २१ ॥

कुछ काल बीतने पर उस व्रतशील राजाने धर्मका आचरण करनेवाली अपनी बडी पटरानीमें गर्भ स्थापित किया ॥ २१ ॥

राजपुत्र्यां तु गर्भः स मालव्यां भरतर्षभ ।
व्यवर्धत यथा शुक्ले तारापतिरिवाम्बरे ॥ २२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! उस मालव देशकी राजपुत्रीका गर्भ ऐसे बढने लगा, जैसे आकाशमें शुक्लपक्षका चन्द्रमा बढता है ॥ २२ ॥

प्राप्ते काले तु सुषुवे कन्यां राजीवलोचनाम् ।
क्रियाश्च तस्या मुदितश्चक्रे स नृपतिस्तदा ॥ २३ ॥

पूर्ण समयपर उस रानीने एक कमलनयनी कन्याको प्रसूत किया । राजाने प्रसन्न होकर जन्मकालकी सब क्रियायें कराईं ॥ २३ ॥

सावित्र्या प्रीतया दत्ता सावित्र्या हुतया ह्यपि ।
सावित्रीत्येव नामास्याश्चक्रुर्विप्रास्तथा पिता ॥ २४ ॥

सावित्री मन्त्रके द्वारा आहुतियां दी जानेपर सावित्रीने प्रसन्न होकर यह कन्या दी थी, इस कारणसे ब्राह्मणोंने और पिताने उस कन्याका नाम सावित्री ही रक्खा ॥ २४ ॥

सा विग्रहवतीव श्रीर्व्यवर्धत नृपात्मजा ।
कालेन चापि सा कन्या यौवनस्था बभूव ह ॥ २५ ॥

वह राजकन्या साक्षात् लक्ष्मीके समान क्रमसे बढने लगी, और यथाकालमें वह कन्या यौवनवती हो गई ॥ २५ ॥

तां सुमध्यां पृथुश्रोणीं प्रतिमां काञ्चनीमिव ।
प्राप्तेयं देवकन्येति दृष्ट्वा संमेनिरे जनाः ॥ २६ ॥

क्षीण कटि और उत्तम नितम्बोंवाली उसे सोनेकी मूर्त्तिके समान देखकर सब लोग मानों देवकन्या ही उत्पन्न हुई हो, इस प्रकार समझते थे ॥ २६ ॥

तां तु पद्मपलाशाक्षीं ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
न कश्चिद्वरयामास तेजसा प्रतिवारितः ॥ २७ ॥

उस कमलनैनीको तेजसे दैदीप्यमान देखकर उसके तेजसे घबडाकर कोई भी व्याहनेकी इच्छा नहीं करता था ॥ २७ ॥

अथोपोष्य शिरःस्नाता दैवतान्यभिगम्य सा ।
हुत्वाग्निं विधिवद्विप्रान्वाचयामास पर्वणि ॥ २८ ॥

एक दिन सावित्रीने व्रत करके और सिरसे स्नान कर देवता और अग्निकी पूजा कर तथा विधिपूर्वक अग्निहोत्र करके पर्वके अवसरपर ब्राह्मणोंसे वेदपाठ करवाया ॥ २८ ॥

ततः सुमनसः शेषाः प्रतिगृह्य महात्मनः ।
पितुः सकाशमगमद्देवी श्रीरिव रूपिणी ॥ २९ ॥

इसके बाद लक्ष्मीके समान रूपवाली वह कन्या देवताका प्रसाद लेकर अपने महात्मा पिताके पास गई ॥ २९ ॥

साभिवाद्य पितुः पादौ शेषाः पूर्वं निवेद्य च ।
कृताञ्जलिर्वरारोहा नृपतेः पार्श्वतः स्थिता ॥ ३० ॥

वह सुन्दरी सावित्री पिताके चरणोंमें प्रणाम करके देवताका प्रसाद अर्पण कर हाथ जोडके पिताके पास बैठ गई ॥ ३० ॥

यौवनस्थां तु तां दृष्ट्वा स्वां सुतां देवरूपिणीम् ।
अयाच्यमानां च वरैर्नृपतिर्दुःखितोऽभवत् ॥ ३१ ॥

अपनी कन्याको यौवनवती तथा देवताओंकी कन्याके समान रूपवाली देखकर और उसके योग्य कोई वर न पाकर राजा दुःखी हो गया ॥ ३१ ॥

राजोवाच

पुत्रि प्रदानकालस्ते न च कश्चिद्वृणोति माम् ।
स्वयमन्विच्छ भर्तारं गुणैः सदृशमात्मनः ॥ ३२ ॥

राजा बोले– हे पुत्री ! तेरे विवाहका समय प्राप्त हो गया है, पर कोई भी मेरे पास आकर तुझसे विवाह करनेके लिए नहीं कहता । इस कारण तू आप ही अपने गुणोंके समान अपने पतिको ढूंढ ले ॥ ३२ ॥

प्रार्थितः पुरुषो यश्च स निवेद्यस्त्वया मम ।
विमृश्याहं प्रदास्यामि वरय त्वं यथेप्सितम् ॥ ३३ ॥

तू जिससे विवाहकी इच्छा करे, तू मुझे उसको दिखाना, मैं विचारकर उसके सङ्ग तेरा विवाह कर दूंगा । तू अपनी इच्छानुसार कोई पति चुन ले ॥ ३३ ॥

श्रुतं हि धर्मशास्त्रे मेपठ्यमानं द्विजातिभिः ।
तथा त्वमपि कल्याणि गदतो मे वचः शृणु ॥ ३४ ॥

मैंने धर्मशास्त्रोंको पढते हुए, ब्राह्मणोंके मुखसे जो सुना है, हे कल्याणी ! मैं तुझसे वह कहता हूं, उस वचनको तू सुन ॥ ३४ ॥

अप्रदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रश्च वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ३५ ॥

जो पिता कन्याका विवाह न करे वह निन्दाके योग्य है । जो पति स्त्रीके ऋतुकालमें उसकी इच्छाको पूरी न करे, वह निन्दाके योग्य है । पतिके मर जानेपर जो पुत्र माताकी रक्षा न करे, वह भी निन्दाके योग्य है ॥ ३५ ॥

इदं मे वचनं श्रुत्वा भर्तुरन्वेषणे त्वर ।
देवतानां यथा वाच्यो न भवेयं तथा कुरु ॥ ३६ ॥

हे पुत्री ! मेरे इस वचनको सुनकर तू शीघ्रतासे पतिको खोज । जिससे मैं देवताओंकी निन्दाके योग्य न रहूं, ऐसा ही काम तुझको करना चाहिये ॥ ३६ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा दुहितरं तथा वृद्धांश्च मन्त्रिणः ।
व्यादिदेशानुयात्रं च गम्यतामित्यचोदयत् ॥ ३७ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! राजाने अपनी पुत्रीसे ऐसा कहकर वृद्ध मन्त्रियोंको यात्राकी सामग्री इकट्ठी करनेकी आज्ञा दी और अपनी पुत्रीको “ जाओ ” कहकर आज्ञा दी ॥ ३७ ॥

सााभिवाद्य पितुः पादौ व्रीडितेव मनस्विनी।
पितुर्वचनमाज्ञाय निर्जगामाविचारितम् ॥ ३८ ॥

मनस्विनी सावित्री पिताके चरणोंको प्रणाम करके और लज्जायुक्त होके पिताके वचनोंको मानकर विना किसी संकोचके चल पडी ॥ ३८ ॥

सा हैमं रथमास्थाय स्थविरैः सचिवैर्वृता।
तपोवनानि रम्याणि राजर्षीणां जगाम ह ॥ ३९ ॥

सावित्री सोनेके रथमें बैठके वृद्ध मन्त्रियोंसे घिरकर राजर्षियोंके मनोहर तपोवनोंको चली ॥ ३९ ॥

मान्यानां तत्र वृद्धानां कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
वनानि क्रमशस्तात सर्वाण्येवाभ्यगच्छत ॥ ४० ॥

हे तात युधिष्ठिर ! वनमें जाकर वृद्ध और मानके योग्य लोगोंके चरणोंको प्रणाम करती हुई वह सब वनोंमें क्रमशः घूमने लगी ॥ ४० ॥

एवं सर्वेषु तीर्थेषु धनोत्सर्गं नृपात्मजा।
कुर्वती द्विजमुख्यानां तं तं देशं जगाम ह ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७७ ॥ ९५७५ ॥

हे तात ! इस प्रकार सब तीर्थोंमें धन देती हुई और मुख्य ब्राह्मणोंकी सेवा करती हुई राजकन्या सावित्री अनेक देशोंमें फिरने लगी ॥ ४१ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ सतहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७७ ॥ ९५७५ ॥

: २७८ :

मार्कण्डेय उवाच

अथ मद्राधिपो राजा नारदेन समागतः।
उपविष्टः सभामध्ये कथायोगेन भारत ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! एक दिन मद्रराज अपनी सभामें नारदके साथ बैठकर कुछ वार्त्तालाप कर रहे थे ॥ १ ॥

ततोऽभिगम्य तीर्थानि सर्वाण्येवाश्रमांस्तथा।
आजगाम पितुर्वेश्म सावित्री सह मन्त्रिभिः ॥ २ ॥

उसी समय सब तीर्थोंमें और आश्रमोंमें घूमकर मन्त्रियोंके सहित सावित्री अपने पिताके घर आई ॥ २ ॥

नारदेन सहासीनं दृष्ट्वा सा पितरं शुभा ।
उभयोरेव शिरसा चक्रे पादाभिवन्दनम् ॥ ३ ॥

उस कल्याणी सावित्रीने नारदके सहित अपने पिताको बैठा हुआ देखकर दोनोंके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ ३ ॥

नारद उवाच

क गताभूत्सुतेयं ते कुतश्चैवागता नृप ।
किमर्थं युवतीं भर्त्रे न चैनां संप्रयच्छसि ॥ ४ ॥

नारद बोले– हे राजन् ! यह तुम्हारी पुत्री कहां गई थी ? और कहांसे आई है ? किस कारणसे तुम इस युवती कन्याको किसी पतिके लिए समर्पित नहीं करते ? ॥ ४ ॥

अश्वपतिरुवाच

कार्येण खल्वनेनैव प्रेषिताद्यैव चागता ।
तदस्याः शृणु देवर्षे भर्तारं योऽनया वृतः ॥ ५ ॥

अश्वपति बोले– हे नारद ! इसी कार्यके लिये मैंने इसे भेजा था । यह आज ही आई है । हे राजर्षे ! इससे सुनिए कि किसको इसने अपना पति चुना है ॥ ५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सा ब्रूहि विस्तरेणेति पित्रा संचोदिता शुभा ।
दैवतस्येव वचनं प्रतिगृह्येदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

मार्कण्डेय बोले– "सावित्री ! तुम विस्तारसे कहो" ऐसे पिताके वचन सुनकर कल्याणी सावित्री उनकी बातको स्वीकार करके ऐसे बोली ॥ ६ ॥

आसीच्छाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रियः पृथिवीपतिः ।
द्युमत्सेन इति ख्यातः पश्चादन्धो बभूव ह ॥ ७ ॥

शाल्व देशमें एक धर्मात्मा क्षत्रिय द्युमत्सेन नामसे प्रसिद्ध एक राजा थे, बादमें वह अन्धे हो गये ॥ ७ ॥

विनष्टचक्षुषस्तस्य बालपुत्रस्य धीमतः ।
सामीप्येन हृतं राज्यं छिद्रेऽस्मिन्पूर्ववैरिणा ॥ ८ ॥

उनके जब नेत्र नष्ट हो गये और उनका पुत्र बालक था, तब बुद्धिमान् राजा द्युमत्सेनके पहिले शत्रुओंने उनके राज्यको छीन लिया ॥ ८ ॥

स बालवत्सया सार्धं भार्यया प्रस्थितो वनम्।
महारण्यगतश्चापि तपस्तेपे महाव्रतः ॥ ९ ॥

वे महाव्रती द्युमत्सेन बालक पुत्र और स्त्रीके सहित वनमें चले गए और एक बडे जंगलमें जाकर तप करने लगे ॥ ९ ॥

तस्य पुत्रः पुरे जातः संवृद्धश्च तपोवने।
सत्यवाननुरूपो मे भर्तेति मनसा वृतः ॥ १० ॥

उनका पुत्र जो नगरमें उत्पन्न हुआ और तपोवनमें बडा हुआ, वही सत्यवान् मेरा पति होने योग्य है, उसीको मैंने मनसे वर लिया है ॥ १० ॥

नारद उवाच

अहो बत महत्पापं सावित्र्या नृपते कृतम्।
अजानन्त्या यदनया गुणवान्सत्यवान्वृतः ॥ ११ ॥

नारद बोले– हे राजन्! तुम्हारी सावित्री कन्याने बडा दोषपूर्ण काम कर डाला, जो बिना जाने गुणवान् सत्यवान्को अपना पति बना लिया ॥ ११ ॥

सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते।
ततोऽस्य ब्राह्मणाश्चक्रुर्नामैतत्सत्यवानिति ॥ १२ ॥

उसके पिता सत्यवादी हैं और माता भी सत्य बोलनेवाली है, इसी कारण ब्राह्मणोंने उसका नाम सत्यवान् रक्खा ॥ १२ ॥

बालस्याश्वाः प्रियाश्चास्य करोत्यश्वांश्च मृन्मयान्।
चित्रेऽपि च लिखत्यश्वांश्चित्राश्व इति चोच्यते ॥ १३ ॥

यह बालक-अवस्थासे घोडोंको बहुत प्यार करता है, इसलिये मिट्टीके घोडे बनाया करता है। घोडोंके चित्र भी खींचा करता है, इस कारण उसको चित्राश्व भी कहते हैं ॥ १३ ॥

राजो उवाच

अपीदानीं स तेजस्वी बुद्धिमान्वा नृपात्मजः।
क्षमावानपि वा शूरः सत्यवान्पितृनन्दनः ॥ १४ ॥

राजा बोले– हे नारद! इस समय वह राजाका बालक तेजस्वी, बुद्धिमान्, क्षमावान्, सत्यवान् वीर और माता पिताको आनन्द देनेवाला है वा नहीं? ॥ १४ ॥

नारद उवाच

विवस्वानिव तेजस्वी बृहस्पतिसमो मतौ।
महेन्द्र इव शूरश्च वसुधेव क्षमान्वितः ॥ १५ ॥

नारद बोले– हे राजन्! वह बालक सूर्यके समान तेजस्वी, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान्, इन्द्रके तुल्य वीर और पृथ्वीके तुल्य क्षमाशील है ॥ १५ ॥

अश्वपतिरुवाच

अपि राजात्मजो दाता ब्रह्मण्यो वापि सत्यवान् ।
रूपवानप्युदारो वाप्यथ वा प्रियदर्शनः ॥ १६ ॥

अश्वपति बोले– वह राजाका पुत्र सत्यवान् दाता, ब्राह्मणभक्त, रूपवान्, उदार तथा मनोहर है वा नहीं ? ॥ १६ ॥

नारद उवाच

साङ्कृते रन्तिदेवस्य स शक्त्या दानतः समः ।
ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शिबिरौशीनरो यथा ॥ १७ ॥

नारद बोले– वह राजा संकृतिके पुत्र रन्तिदेवके तुल्य अपनी शक्तिके अनुसार दान देनेवाला ब्राह्मणभक्त, तथा उशीनरके पुत्र शिबिके समान सत्यवादी है ॥ १७ ॥

ययातिरिव चोदारः सोमवत्प्रियदर्शनः ।
रूपेणान्यतमोऽश्विभ्यां द्युमत्सेनसुतो बली ॥ १८ ॥

वह द्युमत्सेनका पुत्र ययातिके समान उदार, चन्द्रमाके तुल्य मनोहर, अश्विनीकुमारोंके समान रूपवान् तथा बलिष्ठ है ॥ १८ ॥

स दान्तः स मृदुः शूरः स सत्यः स जितेन्द्रियः ।
स मैत्रः सोऽनसूयश्च स ह्रीमान्धृतिमांश्च सः ॥ १९ ॥

वह जितेन्द्रिय है, वह नम्र है, वह वीर है, वह सत्यवादी है, वह इन्द्रियनिग्रही है, वह सबसे मित्रताका व्यवहार करनेवाला है, वह ईर्षारहित है, वह लज्जाशील है, वह तेजस्वी है ॥१९॥

नित्यशश्चार्जवं तस्मिन्स्थितिस्तस्यैव च ध्रुवा ।
संक्षेपतस्तपोवृद्धैः शीलवृद्धैश्च कथ्यते ॥ २० ॥

तप तथा शीलमें महान् पुरुष संक्षेपमें उसे सरलता तथा सद्गुणोंका अविचल स्थान कहते हैं ॥ २० ॥

अश्वपतिरुवाच

गुणैरुपेतं सर्वैस्तं भगवन्प्रब्रवीषि मे ।
दोषानप्यस्य मे ब्रूहि यदि सन्तीह केचन ॥ २१ ॥

अश्वपति बोले– हे भगवन् ! आपने सब गुणोंसे संपन्न उस बालकका वर्णन किया, अब उसमें जो कुछ दोष हों, सो भी कहिये ॥ २१॥

नारद उवाच

एको दोषोऽस्य नान्योऽस्ति सोऽद्य प्रभृति सत्यवान्।
संवत्सरेण क्षीणायुर्देहन्यासं करिष्यति ॥ २२ ॥

नारद बोले— हे राजन्! उसमें एक ही दोष है और कोई दूसरा दोष उसमें नहीं है। वह एक दोष यही है कि वह आजसे एक वर्षके बाद क्षीणायुवाला होकर मर जायेगा ॥२२॥

राजोवाच

एहि सावित्रि गच्छ त्वमन्यं वरय शोभने।
तस्य दोषो महानेको गुणानाक्रम्य तिष्ठतिः ॥ २३ ॥

राजा बोले— हे कल्याणी सावित्री! तुम जाओ और दूसरा पति वरण करो। उसके इस एक ही दोषने सब गुणोंको छिपा लिया है ॥ २३ ॥

यथा मे भगवानाह नारदो देवसत्कृतः।
संवत्सरेण सोऽल्पायुर्देहन्यासं करिष्यति ॥ २४ ॥

जैसा मुझसे देवपूजित भगवान् नारदने कहा है कि एक वर्षके बाद वह अल्पायु होकर अपने शरीरको त्याग देगा ॥ २४ ॥

सावित्र्युवाच

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥ २५ ॥

सावित्री बोली— हे पिता! अंश अर्थात् पैत्रिक सम्पत्तिका विभाग एक ही बार होता है। कन्या एक ही बार दी जाती है। 'मैं देता हूँ' इसप्रकार एक ही बार कहा जाता है। ये तीनों एक ही बार होते हैं ॥ २५ ॥

दीर्घायुरथ वाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ॥ २६ ॥

वह बडी आयुवाला हो, वा थोडी आयुवाला हो, गुणवान् हो, वा गुणरहित हो। मैंने उसे एकबार पति बना लिया है। अब मैं दूसरा पति नहीं करूंगी ॥ २६ ॥

मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते।
क्रियते कर्मणा पश्चात्प्रमाणं मे मनस्ततः ॥ २७ ॥

मनसे निश्चय करनेके बाद वचनसे कहा जाता है; फिर वही कर्मसे किया जाता है। इसमें मेरा मन ही साक्षी है ॥ २७ ॥

नारद उवाच

स्थिरा बुद्धिर्नरश्रेष्ठ सावित्र्या दुहितुस्तव ।
नैषा चालयितुं शक्या धर्मादस्मात्कथंचन ॥ २८ ॥

नारद बोले– हे नरोत्तम ! तुम्हारी पुत्री सावित्रीकी बुद्धि स्थिर है। वह इस धर्मसे किसी भी तरह विचलित नहीं की जा सकती ॥ २८ ॥

नान्यस्मिन्पुरुषे सन्ति ये सत्यवति वै गुणाः ।
प्रदानमेव तस्मान्मे रोचते दुहितुस्तव ॥ २९ ॥

जो सत्यवान्में गुण हैं, वे दूसरे पुरुषमें नहीं हैं। इस कारणसे मैं उसीको इस कन्याका दिया जाना उत्तम समझता हूं ॥ २९ ॥

राजोवाच

अविचार्यमेतदुक्तं हि तथ्यं भगवता वचः ।
करिष्याम्येतदेवं च गुरुर्हि भगवान्मम ॥ ३० ॥

राजा बोले– हे भगवन् ! जो आपने कहा सो अटल है, ऐसा ही मैं करूंगा । क्योंकि आप मेरे गुरु हैं ॥ ३० ॥

नारद उवाच

अविघ्नमस्तु सावित्र्याः प्रदाने दुहितुस्तव ।
साधयिष्यामहे तावत्सर्वेषां भद्रमस्तु वः ॥ ३१ ॥

नारद बोले– तुम्हारी पुत्री सावित्रीका विवाह निर्विघ्न हो । मैं अब जाऊंगा । तुम सबका कल्याण हो ॥ ३१ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा खमुत्पत्य नारदस्त्रिदिवं गतः ।
राजापि दुहितुः सर्वं वैवाहिकमकारयत् ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७८ ॥ ९६०७ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! ऐसा कहकर आकाशमार्गसे नारद स्वर्गको चले गये । और राजा अपनी कन्याके विवाहकी सामग्री इकट्ठी करने लगे ॥ ३२ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ अठहत्तरवां अध्याय समाप्त ॥ २७८ ॥ ९६०७ ॥

: २७९ :

मार्कण्डेय उवाच

अथ कन्याप्रदाने स तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
समानिन्ये च तत्सर्वं भाण्डं वैवाहिकं नृपः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले— हे राजन् ! कन्यादानके बारेमें नारदके वचनपर विचार करते हुए राजा अश्वपतिने विवाहके योग्य सब सामग्री इकट्ठी करनेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

ततो वृद्धान्द्विजान्सर्वानृत्विजः सपुरोहितान् ।
समाहूय तिथौ पुण्ये प्रययौ सह कन्यया ॥ २ ॥

उसके पश्चात् वृद्ध ब्राह्मण, ऋत्विक् और पुरोहितको साथ लेकर कन्याके सहित उत्तम दिन विचारकर मेध्यारण्य वनको चले ॥ २ ॥

मेध्यारण्यं स गत्वा च द्युमत्सेनाश्रमं नृपः ।
पद्भ्यामेव द्विजैः सार्धं राजर्षिं तमुपागमत् ॥ ३ ॥

हे राजन् ! वह राजा मेध्यारण्य पहुंचकर ब्राह्मणोंके सहित पैदल ही द्युमत्सेनके आश्रमपर पहुंचे ॥ ३ ॥

तत्रापश्यन्महाभागं शालवृक्षमुपाश्रितम् ।
कौश्यां बृस्यां समासीनं चक्षुर्हीनं नृपं तदा ॥ ४ ॥

वहां जाकर महाभाग नेत्रोंसे हीन राजा द्युमत्सेनको शाल वृक्षके नीचे कुशके आसनपर बैठे हुए देखा ॥ ४ ॥

स राजा तस्य राजर्षेः कृत्वा पूजां यथार्हतः ।
वाचा सुनियतो भूत्वा चकारात्मनिवेदनम् ॥ ५ ॥

राजा अश्वपतिने राजर्षि द्युमत्सेनकी यथायोग्य पूजा करके अपनी वाणीमें नम्रता लाकर अपना प्रयोजन बताया ॥ ५ ॥

तस्यार्घ्यमासनं चैव गां चावेद्य स धर्मवित् ।
किमागमनमित्येवं राजा राजानमब्रवीत् ॥ ६ ॥

धर्मज्ञ राजा द्युमत्सेनने भी अर्घ्य, आसन और गोदानसे पूजा करके राजा अश्वपतिसे पूछा कि आपके आनेका क्या प्रयोजन है ? ॥ ६ ॥

तस्य सर्वमभिप्रायमितिकर्तव्यतां च ताम् ।
सत्यवन्तं समुद्दिश्य सर्वमेव न्यवेदयत् ॥ ७ ॥

तब राजा अश्वपतिने अपने आनेका प्रयोजन और सत्यवान्‌के विषयमें अपनी इच्छा कह सुनाई ॥ ७ ॥

अश्वपतिरुवाच

सावित्री नाम राजर्षे कन्येयं मम शोभना ।
तां स्वधर्मेण धर्मज्ञ स्नुषार्थे त्वं गृहाण मे ॥ ८ ॥

अश्वपति बोले– हे राजर्षि ! यह सुन्दरी सावित्री नामकी मेरी कन्या है । हे धर्मज्ञ ! इसे आप धर्मानुसार अपनी पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण कीजिये ॥ ८ ॥

द्युमत्सेन उवाच

च्युताः स्म राज्याद्वनवासमाश्रिताश्चराम धर्मं नियतास्तपस्विनः ।
कथं त्वनर्हा वनवासमाश्रमे सहिष्यते क्लेशमिमं सुता तव ॥ ९ ॥

द्युमत्सेन बोले– हे राजन् ! हम लोग राज्यसे भ्रष्ट हैं । वनमें रह रहे हैं । सदा तपस्वियोंके धर्मका आचरण करते हैं । वनवासके अयोग्य तुम्हारी कन्या आश्रममें रहकर इस कष्टको किस प्रकार सहेगी ? ॥ ९ ॥

अश्वपतिरुवाच

सुखं च दुःखं च भवाभवात्मकं यदा विजानाति सुताहमेव च ।
न मद्विधे युज्यति वाक्यमीदृशं विनिश्चयेनाभिगतोऽस्मि ते नृप ॥ १० ॥

अश्वपति बोले– हे राजन् ! सुख और दुःख तो उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं । इस बातको मैं जानता हूँ और मेरी कन्या भी । तब आपको मुझसे ऐसा वचन कहना उचित नहीं । मैं निश्चय करके ही आपके पास आया हूं ॥ १० ॥

आशां नार्हसि मे हन्तुं सौहृदात्प्रणयेन च ।
अभितश्चागतं प्रेम्णा प्रत्याख्यातुं न मार्हसि ॥ ११ ॥

मित्रभाव और प्रेमभावसे आए हुए मेरी आशाको आप मत तोडिये । मैं आप प्रेमसे आया हूँ, इसलिए आप इन्कार न करें ॥ ११ ॥

अनुरूपो हि संयोगे त्वं ममाहं तवापि च ।
स्नुषां प्रतीच्छ मे कन्यां भार्यां सत्यवतः सुताम् ॥ १२ ॥

यह सम्बन्ध दोनोंके अनुरूप है। आप मेरे योग्य हैं, मैं आपके योग्य हूं । अतः मेरी कन्याको अपनी पुत्रवधू और सत्यवान्की स्त्री बनाइये ॥ १२ ॥

द्युमत्सेन उवाच

पूर्वमेवाभिलषितः संबन्धो मे त्वया सह ।
भ्रष्टराज्यस्त्वहमिति तत एतद्विचारितम् ॥ १३ ॥

द्युमत्सेन बोले– हे राजन् ! मेरा विचार पहिले ही तुमसे सम्बन्ध करनेका था । परन्तु इस समय राज्यभ्रष्ट होनेके कारण मैं ऐसे कहता हूं ॥ १३ ॥

अभिप्रायस्त्वयं यो मे पूर्वमेवाभिकाङ्क्षितः ।
स निर्वर्ततु मेऽद्यैव काङ्क्षितो ह्यसि मेऽतिथिः ॥ १४ ॥

जो मेरा पहिला अभिप्राय था सो अब पूर्ण हो गया; तुम मेरे अतिथि हो । जो अच्छा हो सो करो ॥ १४ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ततः सर्वान्समानीय द्विजानाश्रमवासिनः ।
यथाविधि समुद्वाहं कारयामासतुर्नृपौ ॥ १५ ॥

मार्कण्डेय बोले— इसके पश्चात् आश्रमके सब ब्राह्मणोंको बुलाकर दोनों राजाओंने सावित्री सत्यवान्का विधिपूर्वक विवाह कर दिया ॥ १५ ॥

दत्त्वा त्वश्वपतिः कन्यां यथार्हं च परिच्छदम् ।
ययौ स्वमेव भवनं युक्तः परमया मुदा ॥ १६ ॥

राजा अश्वपति कन्या तथा और भी अनेक प्रकारके दान करके परम आनन्दके साथ अपने घरको चले गये ॥ १६ ॥

सत्यवानपि भार्यां तां लब्ध्वा सर्वगुणान्विताम् ।
मुमुदे सा च तं लब्ध्वा भर्तारं मनसेप्सितम् ॥ १७ ॥

सत्यवान् भी सब गुणोंसे सम्पन्न उस स्त्रीको पाकर प्रसन्न हुए, और सावित्री भी इच्छानुसार वर पाकर प्रसन्न हुई ॥ १७ ॥

गते पितरि सर्वाणि संन्यस्याभरणानि सा ।
जगृहे वल्कलान्येव वस्त्रं काषायमेव च ॥ १८ ॥

जब सावित्रीके पिता चले गये, तब सावित्रीने अपने वस्त्र और आभूषण उतारकर वल्कल और गेरूके रंगे वस्त्र पहिन लिये ॥ १८ ॥

परिचारैर्गुणैश्चैव प्रश्रयेण दमेन च ।
सर्वकामक्रियाभिश्च सर्वेषां तुष्टिमावहत् ॥ १९ ॥

सेवासे और अपने उत्तम गुणोंसे तथा नम्रता, जितेन्द्रियता और सबके इष्ट संपादनसे सावित्री सबको प्रसन्न करने लगी ॥ १९ ॥

श्वश्रूं शारीरसत्कारैः सर्वैराच्छादनादिभिः ।
श्वशुरं देवकार्यैश्च वाचः संयमनेन च ॥ २० ॥

सासकी शारीरिक सेवा और वस्त्र भोजनादिसे एवं ससुरकी देवोंकी भक्ति तथा मीठे वचनोंसे सेवा करने लगी ॥ २० ॥

तथैव प्रियवादेन नैपुणेन शमेन च ।
रहश्चैवोपचारेण भर्तारं पर्यतोषयत् ॥ २१ ॥

उसी प्रकार पतिकी मीठे वचनोंसे, चतुरतासे, शमसे और एकान्त क्रीडासे प्रसन्नतापूर्वक सेवा करने लगी ॥ २१ ॥

एवं तत्राश्रमे तेषां तदा निवसतां सताम् ।
कालस्तपस्यतां कश्चिदतिचक्राम भारत ॥ २२ ॥

हे राजन् ! इस रीतिसे उस आश्रममें रहते हुए उन तपस्वियोंके तपस्याका काल व्यतीत हुआ ॥ २२ ॥

सावित्र्यास्तु शयानायास्तिष्ठन्त्याश्च दिवानिशम् ।
नारदेन यदुक्तं तद्वाक्यं मनसि वर्तते ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७९ ॥ ९६३० ॥

रातदिन सोते, उठते, बैठते समय सावित्रीके मनमें नारदने जो कही थी, वह बात घूमा करती थी ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ उनासीवां अध्याय समाप्त ॥ २७९ ॥ ९६३० ॥

: २८० :

मार्कण्डेय उवाच

ततः काले बहुतिथे व्यतिक्रान्ते कदाचन ।
प्राप्तः स कालो मर्तव्यं यत्र सत्यवता नृप ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! बहुत दिन व्यतीत होनेके पश्चात् वह दिन भी आ पहुंचा कि जिस दिन सत्यवान्की मृत्यु होनी थी ॥ १ ॥

गणयन्त्याश्च सावित्र्या दिवसे दिवसे गते ।
यद्वाक्यं नारदेनोक्तं वर्तते हृदि नित्यशः ॥ २ ॥

नारदने जो बात कही थी, वह हमेशा सावित्रीके मनमें बनी रहती थी, इसलिए वह बीतते हुए एक एक दिनको गिना करती थी ॥ २ ॥

चतुर्थेऽहनि मर्तव्यमिति संचिन्त्य भामिनी ।
व्रतं त्रिरात्रमुद्दिश्य दिवारात्रं स्थिताभवत् ॥ ३ ॥

जब सावित्रीने जाना कि आजसे चौथे दिन सत्यवान् मर जायेगा, तभी तीन दिनके उपवासका व्रत धारण कर लिया और रातदिन जागती रही ॥ ३ ॥

तं श्रुत्वा नियमं दुःखं वध्वा दुःखान्वितो नृपः ।
उत्थाय वाक्यं सावित्रीमब्रवीत्परिसान्त्वयन् ॥ ४ ॥

राजा द्युमत्सेन सावित्रीके व्रतके बारेमें सुनकर बहुत दुःखी हुए और सावित्रीको समझाते हुए उठकर ऐसे वचन बोले ॥ ४ ॥

अतितीव्रोऽयमारम्भस्त्वयारब्धो नृपात्मजे ।
तिसृणां वसतीनां हि स्थानं परमदुष्करम् ॥ ५ ॥

हे राजपुत्री ! तुमने जो प्रारंभ किया है, वह यह तुम्हारा व्रत बहुत कठिन है । तीन रात बिना अन्नके रहना बहुत कठिन है ॥ ५ ॥

सावित्र्युवाच

न कार्यस्तात संतापः पारयिष्याम्यहं व्रतम् ।
व्यवसायकृतं हीदं व्यवसायश्च कारणम् ॥ ६ ॥

सावित्री बोली– हे तात ! आप कुछ दुःख मत कीजिए, मैं इस व्रतको पूरा कर लूंगी। कुछ संकल्प करके ही मैंने इस व्रतको धारण किया है, और संकल्प ही सब कार्योंका मूल है ॥६॥

द्युमत्सेन उवाच

व्रतं भिन्धीति वक्तुं त्वां नास्मि शक्तः कथंचन ।
पारयस्वेति वचनं युक्तमस्मद्विधो वदेत् ॥ ७ ॥

द्युमत्सेन बोले– मैं यह कहनेमें किसी भी तरह समर्थ नहीं हूं, कि व्रतको तोड दो । इसके विपरीत हमारे जैसे मनुष्योंको यही कहना उचित है; कि व्रतको पूरा करो ॥ ७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा द्युमत्सेनो विरराम महामनाः ।
तिष्ठन्ती चापि सावित्री काष्ठभूतेव लक्ष्यते ॥ ८ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर महामनस्वी द्युमत्सेन चुप रह गये, और सावित्री काष्ठके समान दृढ होकर व्रत करने लगी ॥ ८ ॥

श्वोभूते भर्तृमरणे सावित्र्या भरतर्षभ ।
दुःखान्वितायास्तिष्ठन्त्याः सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥ ९ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! जब अगले दिन सत्यवान्के मरनेका दिन था, तब दुःखित हुई हुई और बैठी हुई सावित्रीकी वह रात बीत गई ॥ ९ ॥

अद्य तद्दिवसं चेति हुत्वा दीप्तं हुताशनम् ।
युगमात्रोदिते सूर्ये कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ॥ १० ॥

सावित्रीने यह सोचकर कि आज ही मरनेका दिन है, अग्निको जलाकर हवन किया । सूर्यके उदय होते ही पूर्वाह्ण संबंधी क्रिया कर डाली ॥ १० ॥

ततः सर्वान्द्विजान्वृद्धाञ्श्वश्रूं श्वशुरमेव च ।
अभिवाद्यानुपूर्व्येण प्राञ्जलिर्नियता स्थिता ॥ ११ ॥

इसके बाद आश्रमके सम्पूर्ण वृद्ध, ब्राह्मण और सास ससुरको प्रणाम कर हाथ जोडकर सावित्री खडी हुई ॥ ११ ॥

अवैधव्याशिषस्ते तु सावित्र्यर्थं हिताः शुभाः ।
ऊचुस्तपस्विनः सर्वे तपोवननिवासिनः ॥ १२ ॥

तब उन सब वनवासी तपस्वियोंने उसे कभी विधवा न होनेका शुभ और हितकारी आशीर्वाद दिया ॥ १२ ॥

एवमस्त्विति सावित्री ध्यानयोगपरायणा ।
मनसा ता गिरः सर्वाः प्रत्यगृह्णात्तपस्विनाम् ॥ १३ ॥

तपोवनके निवासी तपस्वियोंकी वह वाणी ध्यान और योगमें रत रहनेवाली सावित्रीने बडे ध्यानसे सुनी और ' ऐसा ही हो ' यह कहकर मनसे उन वाणियोंको ग्रहण किया ॥ १३ ॥

तं कालं च मुहूर्तं च प्रतीक्षन्ती नृपात्मजा ।
यथोक्तं नारदवचश्चिन्तयन्ती सुदुःखिता ॥ १४ ॥

नारदने जो कुछ कहा था, उन बातोंपर विचार करती हुई वह दुःखिनी राजपुत्री सावित्री उस समय और उस मुहूर्तकी प्रतीक्षा करने लगी ॥ १४ ॥

ततस्तु श्वश्रूश्वशुरावूचतुस्तां नृपात्मजाम् ।
एकान्तस्थामिदं वाक्यं प्रीत्या भरतसत्तम ॥ १५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तब एकान्तमें बैठी हुई राजकन्या सावित्रीसे सास और ससुर प्रीतिपूर्वक यह वचन बोले ॥ १५ ॥

श्वशुरावूचतुः

व्रतो यथोपदिष्टोऽयं यथावत्पारितस्त्वया ।
आहारकालः संप्राप्तः क्रियतां यदनन्तरम् ॥ १६ ॥

सासससुर बोले– जैसा तुमने व्रत किया था, वह तो पूरा हो गया । अब भोजन करनेका समय हो गया है, इसलिए अब भोजन कर लो ॥ १६ ॥

×

सावित्र्युवाच

अस्तं गते मयादित्ये भोक्तव्यं कृतकामया ।

एष मे हृदि संकल्पः समयश्च कृतो मया ॥ १७॥

सावित्री बोली– सूर्यके अस्त होनेपर जब मेरी कामना पूर्ण होगी, तब मैं भोजन करूंगी, ऐसा मेरे मनका संकल्प है और यही मेरी प्रतिज्ञा भी है ॥ १७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवं संभाषमाणायाः सावित्र्या भोजनं प्रति ।

स्कन्धे परशुमादाय सत्यवान्प्रस्थितो वनम् ॥ १८ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्टिर ! जिस समय अपने भोजनके बारेमें सावित्री ऐसा कही रही थी, कि उसी समय सत्यवान् कन्धेपर फरसा रखकर वनको चले ॥ १८ ॥

सावित्री त्वाह भर्तारं नैकस्त्वं गन्तुमर्हसि ।

सह त्वयागमिष्यामि न हि त्वां हातुमुत्सहे ॥ १९ ॥

अपने पतिसे सावित्री बोली– हे स्वामी ! आप अकेले वनको जाने योग्य नहीं हैं। आज मैं भी आपके सङ्ग चलूंगी । मैं आपको छोड नहीं सकती ॥ १९ ॥

सत्यवानुवाच

वनं न गतपूर्वं ते दुःखः पन्थाश्च भामिनि ।

व्रतोपवासक्षामा च कथं पद्भ्यां गमिष्यसि ॥ २० ॥

सत्यवान् बोले– हे भामिनि ! पहिले तुम कभी वनको नहीं गई हो, वनके मार्ग वडे ही दुःखदाई हैं । इसके अलावा इस समय तुम व्रतसे थकी भी हो। इसलिए पैदल कैसे चलोगी ? ॥२०॥

सावित्र्युवाच

उपवासान्न मे ग्लानिर्नास्ति चापि परिश्रमः ।

गमने च कृतोत्साहां प्रतिषेद्धुं न मार्हसि ॥ २१ ॥

सावित्री बोली– व्रतसे न मुझे कोई ग्लानि ही हुई है और न परिश्रम ही। आपके साथ चलनेके लिए मेरे अन्दर बहुत उत्साह है, अतः आप मुझे न रोकिए ॥ २१ ॥

सत्यवानुवाच

यदि ते गमनोत्साहः करिष्यामि तव प्रियम् ।

मम त्वामन्त्रय गुरून्न मां दोषः स्पृशेदयम् ॥ २२ ॥

सत्यवान् बोले– यदि तुमको चलनेमें उत्साह है, तो मैं तुम्हारा प्रिय काम करूंगा। मेरे माता पितासे आज्ञा ले लो, जिससे मुझे दोष न लगे ॥ २२ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सावित्र्युपेत्याब्रवीच्छ्वश्रूं श्वशुरं च महाव्रता ।
अयं गच्छति मे भर्ता फलाहारो महावनम् ॥ २३ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! सास और ससुरके पास जाकर और उन्हें प्रणाम करके व्रतधारिणी सावित्री कहने लगी– यह मेरे स्वामी फल लानेके लिये वन जा रहे हैं ॥ २३ ॥

इच्छेयमभ्यनुज्ञातुमार्यया श्वशुरेण च ।
अनेन सह निर्गन्तुं न हि मे विरहः क्षमः ॥ २४ ॥

आर्या सास और ससुरकी आज्ञासे मैं भी इनके साथ वन जाना चाहती हूं । मुझसे इस समय विरह सहा नहीं जाता ॥ २४ ॥

गुर्वग्निहोत्रार्थकृते प्रस्थितश्च सुतस्तव ।
न निवार्यो निवार्यः स्यादन्यथा प्रस्थितो वनम् ॥ २५ ॥

गुरुओं तथा अग्निहोत्रके लिए फल एवं समिधा लानेके लिए आपके पुत्र वन जा रहे हैं; इस लिए उन्हें रोकना भी ठीक नहीं है । हां, यदि वे किसी और प्रयोजनसे वन जाते होते तो उन्हें रोका भी जा सकता था ॥ २५ ॥

संवत्सरः किंचिदूनो न निष्क्रान्ताहमाश्रमात् ।
वनं कुसुमितं द्रष्टुं परं कौतूहलं हि मे ॥ २६ ॥

मुझे यहां आये हुए एक वर्षसे कुछ कम ही समय हुआ है, पर आजतक मैं आश्रमसे बाहर कहीं नहीं निकली । अतः आज फूलोंसे भरे हुए वनको देखनेकी मेरी इच्छा है ॥ २६ ॥

द्युमत्सेन उवाच

यतः प्रभृति सावित्री पित्रा दत्ता स्नुषा मम ।
नानयाभ्यर्थनायुक्तमुक्तपूर्वं स्मराम्यहम् ॥ २७ ॥

द्युमत्सेन बोले– जबसे मेरी पुत्रवधू सावित्रीके पिताने कन्यादान किया है, तबसे मुझे याद नहीं आता कि मेरी पुत्रवधूने कोई बात मुझसे मांगी हो ॥ २७ ॥

तदेषा लभतां कामं यथाभिलषितं वधूः ।
अप्रमादश्च कर्तव्यः पुत्रि सत्यवतः पथि ॥ २८ ॥

इसलिये जो पुत्रवधूकी जो इच्छा हो, उसे यह प्राप्त करे । हे पुत्री ! सत्यवान्के मार्गमें कोई प्रमाद मत करना ॥ २८ ॥

मार्कण्डेय उवाच

उभाभ्यामभ्यनुज्ञाता सा जगाम यशस्विनी ।
सह भर्त्रा हसन्तीव हृदयेन विदूयता ॥ २९ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! सास और ससुरसे आज्ञा लेकर यशस्विनी सावित्री बाहरसे हंसती हुईसी पर हृदयमें दुःख करती हुई चली ॥ २९ ॥

सा वनानि विचित्राणि रमणीयानि सर्वशः ।
मयूररवघुष्टानि ददर्श विपुलेक्षणा ॥ ३० ॥

खिले हुए कमलके समान नेत्रवाली उस सावित्रीने मोरोंके झुण्डसे युक्त, विचित्र और मनोहर वनोंको देखा ॥ ३० ॥

नदीः पुण्यवहाश्चैव पुष्पितांश्च नगोत्तमान् ।
सत्यवानाह पश्येति सावित्रीं मधुराक्षरम् ॥ ३१ ॥

सत्यवान्ने सावित्रीसे मीठी वाणीसे कहा कि इन पवित्र जलसे भरी हुई नदियों तथा विकसित फूलोंसे युक्त पर्वतोंको देखो ॥ ३१ ॥

निरीक्षमाणा भर्तारं सर्वावस्थमनिन्दिता ।
मृतमेव हि तं मेने काले मुनिवचः स्मरन् ॥ ३२ ॥

वह अनिन्दित अंगोंवाली सावित्री सभी अवस्थाओंमें अपने पतिका निरीक्षण करती थी । मुनिके वचनोंको याद करके उस सावित्रीने यथासमय अपने पतिके मृत्युको अवश्यम्भावी ही समझा ॥ ३२ ॥

अनुवर्तती तु भर्तारं जगाम मृदुगामिनी ।
द्विधेव हृदयं कृत्वा तं च कालमवेक्षती ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८० ॥ ९६६३ ॥

धीरे धीरे अपने पतिके पीछे चलती हुई वह उसी कालके बारेमें सोचती जाती थी । उस दुःखसे उसके हृदयके दो टुकडे हुए जाते थे ॥ ३३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ अस्सीवां अध्याय समाप्त ॥ २८० ॥ ९६६३ ॥

: २८१ :

मार्कण्डेय उवाच

अथ भार्यासहायः स फलान्यादाय वीर्यवान्।
कठिनं पूरयामास ततः काष्ठान्यपाटयत् ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर! बलशाली सत्यवान्ने अपनी स्त्रीकी सहायतासे फल तोडकर टोकरी भर ली। पश्चात् लकडी तोडने लगे ॥ १ ॥

तस्य पाटयतः काष्ठं स्वेदो वै समजायत।
व्यायामेन च तेनास्य जज्ञे शिरसि वेदना ॥ २ ॥

तब लकडी काटते हुए सत्यवान्के शरीरमें पसीना आ गया। उस परिश्रमसे सत्यवान्के सिरमें पीडा होने लगी ॥ २ ॥

सोऽभिगम्य प्रियां भार्यामुवाच श्रमपीडितः।
व्यायामेन ममानेन जाता शिरसि वेदना ॥ ३ ॥

तब वह अपनी प्यारी स्त्रीके पास आये और थककर ऐसे वचन बोले– इस परिश्रमसे मेरे सिरमें पीडा होने लगी है ॥ ३ ॥

अङ्गानि चैव सावित्रि हृदयं दूयतीव च।
अस्वस्थमिव चात्मानं लक्षये मितभाषिणि ॥ ४ ॥

हे सावित्री! मेरे अङ्ग टूट रहे हैं, हृदय शिथिलसा हुआ जा रहा है। हे थोडा बोलनेवाली! मैं अपनेको स्वस्थ नहीं देखता ॥ ४ ॥

शूलैरिव शिरो विद्धमिदं संलक्षयाम्यहम्।
तत्स्वप्तुमिच्छे कल्याणि न स्थातुं शक्तिरस्ति मे ॥ ५ ॥

मेरे सिरमें ऐसी पीडा होती है, मानों कोई इसे शूलोंसे वेध रहा हो। हे कल्याणी! इस कारण मैं सोना चाहता हूं। बैठनेकी शक्ति मुझमें नहीं है ॥ ५ ॥

समासाद्याथ सावित्री भर्तारमुपगूह्य च।
उत्सङ्गेऽस्य शिरः कृत्वा निषसाद महीतले ॥ ६ ॥

सावित्री अपने पतिके निकट जाकर उसके सिरको अपनी गोदमें रखकर पृथ्वीपर बैठ गई ॥ ६ ॥

ततः सा नारदवचो विमृशन्ती तपस्विनी।
तं मुहूर्तं क्षणं वेलां दिवसं च युयोज ह ॥ ७ ॥

तब वह तपस्विनी नारदके वचनको स्मरण करती हुई उस मुहूर्त्त क्षण, समय और दिनको मिलाने लगी ॥ ७ ॥

मुहूर्तादिव चापश्यत्पुरुषं पीतवाससम्।
बद्धमौलिं वपुष्मन्तमादित्यसमतेजसम् ॥ ८ ॥
मुहूर्तभरके बाद उसने पीले वस्त्रवाले सूर्यके समान तेजयुक्त तथा सिरपर किरीट पहने हुए एक पुरुषको देखा ॥ ८ ॥

श्यामावदातं रक्ताक्षं पाशहस्तं भयावहम्।
स्थितं सत्यवतः पार्श्वे निरीक्षन्तं तमेव च ॥ ९ ॥
सत्यवान्के पास खडे हुए उस रूपवाले काले शरीर और लाल नेत्रवाले, हाथमें फांस लिये भयंकर पुरुषको सावित्रीने देखा। वह पुरुष सत्यवान्को ही देख रहा था ॥ ९ ॥

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय भर्तुर्न्यस्य शनैः शिरः।
कृताञ्जलिरुवाचार्ता हृदयेन प्रवेपता ॥ १० ॥
उसे देखकर सावित्री धीरे धीरे अपने पतिके सिरको पृथ्वीपर रखकर उठ खडी हुई और हाथ जोडकर कांपते हुए हृदयसे आर्त होकर बोली ॥ १० ॥

दैवतं त्वाभिजानामि वपुरेतद्ध्यमानुषम्।
कामया ब्रूहि मे देव कस्त्वं किं च चिकीर्षसि ॥ ११ ॥
मैं जानती हूं कि आप देवता हैं, क्योंकि ऐसा शरीर मनुष्योंका नहीं होता। हे देव ! विस्तारसे कहिये कि आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं ? ॥ ११ ॥

यम उवाच

पतिव्रतासि सावित्रि तथैव च तपोन्विता।
अतस्त्वामभिभाषामि विद्धि मां त्वं शुभे यमम् ॥ १२ ॥
यमराज बोले– हे सावित्री ! तुम पतिव्रता और तपसे सम्पन्न हो, इसीलिए मैं तुम्हारे साथ बोल रहा हूं। हे कल्याणि ! तुम मुझे यमराज समझो ॥ १२ ॥

अयं ते सत्यवान्भर्ता क्षीणायुः पार्थिवात्मजः।
नेष्याम्येनमहं बद्ध्वा विद्ध्येतन्मे चिकीर्षितम् ॥ १३ ॥
इस तुम्हारे पति राजपुत्र सत्यवान्की आयु पूर्ण हो गई है। अतः मैं इसे बांधकर ले जानेके लिए आया हूं, इसे ही मेरा कार्य समझो ॥ १३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वा पितृराजस्तां भगवान्स्वं चिकीर्षितम्।
यथावत्सर्वमाख्यातुं तत्प्रियार्थं प्रचक्रमे ॥ १४ ॥
मार्कंडेय बोले– हे राजन् ! ऐसा कहकर भगवान् पितृराज सावित्रीको प्रसन्न करनेके लिए विस्तारसे अपनी इच्छा कहने लगे ॥ १४ ॥

अयं हि धर्मसंयुक्तो रूपवान्गुणसागरः ।
नार्हो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागतः ॥ १५ ॥

यह धर्मवान्, रूपवान् और गुणोंका भण्डार सत्यवान् मेरे दूतोंके द्वारा ले जाने योग्य नहीं था, इसकारण मैं स्वयं आया हूं ॥ १५ ॥

ततः सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशं गतम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥ १६ ॥

हे राजन् ! इसके पश्चात् सत्यवान्के शरीरसे पाशसे बंधे हुए होनेके कारण वशमें हुए हुए अंगुष्ठमात्र पुरुषको यमराजने बलपूर्वक खींचा ॥ १६ ॥

ततः समुद्धृतप्राणं गतश्वासं हतप्रभम् ।
निर्विचेष्टं शरीरं तद्बभूवाप्रियदर्शनम् ॥ १७ ॥

तब सत्यवान्का शरीर प्राणसे रहित तथा श्वाससे हीन हो जानेके कारण प्रभाहीन हो गया । तब चेष्टारहित हो जानेके कारण उसका शरीर बहुत ही अप्रिय हो गया ॥ १७ ॥

यमस्तु तं तथा बद्ध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः ।
सावित्री चापि दुःखार्ता यममेवान्वगच्छत ।
नियमव्रतसंसिद्धा महाभागा पतिव्रता ॥ १८ ॥

इसके बाद यम उसको बांधकर दक्षिणकी ओरको चले । नियम और व्रतोंसे सिद्ध, महाभाग्यशालिनी पतिव्रता, दुःखसे व्याकुल सावित्री भी यमके पीछे पीछे चली ॥ १८ ॥

यम उवाच

निवर्त गच्छ सावित्रि कुरुष्वास्यौर्ध्वदेहिकम् ।
कृतं भर्तुस्त्वयानृण्यं यावद्गम्यं गतं त्वया ॥ १९ ॥

यमराज बोले– हे सावित्री ! तुमको जहांतक पतिके सङ्ग जाना चाहिये था, वहांतक तुम आई । अपने पतिके ऋणसे तुम मुक्त हो गई । अब तुम लौट जाओ और इस अपने पतिकी और्ध्वदैहिक क्रिया करो ॥ १९ ॥

सावित्र्युवाच

यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति ।
मयापि तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ २० ॥

सावित्री बोली– जहां मेरे पतिको कोई ले जाया जाये वा मेरा पति स्वयं जहां जाये, वहीं मुझे भी जाना चाहिये । यही सनातन धर्म है ॥ २० ॥

तपसा गुरुवृत्त्या च भर्तुः स्नेहाद्व्रतेन च ।
तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः ॥ २१ ॥

तप, गुरुभक्ति, पतिस्नेह, व्रत और आपकी कृपासे मेरी गति कहीं भी नहीं रुक सकती ॥ २१ ॥

प्राहुः सप्तपदं मित्रं बुधास्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
मित्रतां च पुरस्कृत्य किंचिद्वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २२ ॥

हे यम ! तत्त्वको जाननेवाले पण्डित सात कदम साथ साथ चलनेको मित्रताका लक्षण मानते हैं। मैं मित्रताको सामने रखकर जो कहती हूं, उसे सुनिए ॥ २२ ॥

नानात्मवन्तस्तु वने चरन्ति धर्मं च वासं च परिश्रमं च ।
विज्ञानतो धर्ममुदाहरन्ति तस्मात्सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥ २३ ॥

अज्ञानी वनमें नहीं रहते; न वे धर्म ही करते हैं, न गुरुकुलमें निवास करते हैं, न परिश्रम ही कर सकते हैं। ज्ञानी ज्ञानसे ही धर्मप्राप्तिकी बात कहते हैं। इसलिए सन्तगण धर्महीको प्रधान कहते हैं ॥ २३ ॥

एकस्य धर्मेण सतां मतेन सर्वे स्म तं मार्गमनुप्रपन्नाः ।
मा वै द्वितीयं मा तृतीयं च वाञ्छे तस्मात्सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ॥२४॥

सज्जन जिसे मानते हों, वह एक ही धर्म सबके लिए मानने योग्य है। दूसरे वा तीसरे धर्मकी इच्छा न करें। इसलिये महात्मा धर्महीको प्रधान कहते हैं ॥ २४ ॥

यम उवाच

निवर्त तुष्टोऽस्मि तवानया गिरा स्वराक्षरव्यञ्जनहेतुयुक्तया ।
वरं वृणीष्वेह विनास्य जीवितं ददानि ते सर्वमनिन्दिते वरम् ॥ २५ ॥

यम बोले— हे सावित्री ! मैं तुम्हारी इस स्पष्ट स्वर, अक्षर व्यञ्जनयुक्त वाणीसे प्रसन्न हुआ। हे अनिंदिते ! इस सत्यवान्के जीवनके सिवाय जो तुम्हारी इच्छा हो सो वर मांगो। वह तुम्हें दूंगा। अब तुम लौट जाओ ॥ २५ ॥

सावित्र्युवाच

च्युतः स्वराज्याद्वनवासमाश्रितो विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाश्रमे ।
स लब्धचक्षुर्बलवान्भवेन्नृपस्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसंनिभः ॥ २६ ॥

सावित्री बोली— मेरे आश्रममें मेरे अन्धे ससुर हैं, जो राज्यसे भ्रष्ट हो जानेके कारण आज-कल वनवासका आश्रय लिए हुए हैं। वे मेरे ससुर आपकी कृपासे नेत्रयुक्त, बलवान् सूर्य और अग्निके समान कांतिमान् और राजा हों ॥ २६ ॥

यम उवाच

ददानि ते सर्वमनिन्दिते वरं यथा त्वयोक्तं भविता च तत्तथा ।
तवाध्वना ग्लानिमिवोपलक्षये निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥ २७ ॥

यम बोले– हे निन्दारहित सावित्री ! जो तुमने कहा मैं वह सब देता हूं। वह सब कुछ वैसा ही होगा, जैसा कि तुम कहती हो । जान पडता है, कि मार्गकी थकावटसे तुम्हें ग्लानि आ गई है । इसलिये अब अधिक श्रम मत करो, लौट जावो ॥ २७ ॥

सावित्र्युवाच

कुतः श्रमो भर्तृसमीपतो हि मे यतो हि भर्ता मम सा गतिर्ध्रुवा ।
यतः पतिं नेष्यसि तत्र मे गतिः सुरेश भूयश्च वचो निबोध मे ॥ २८ ॥

सावित्री बोली– हे देवराज ! मैं अपने पतिके पास हूँ, इसलिये मुझे थकावट कहां ? क्योंकि मेरा एकमात्र आश्रय पति ही है । अतः जहां आप मेरे पतिको लिये जाते हैं, मैं भी वहीं चलूंगी । आप मेरे और भी वचन सुनिये ॥ २८ ॥

सतां सकृत्संगतमीप्सितं परं ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते ।
न चाफलं सत्पुरुषेण संगतं ततः सतां संनिवसेत्समागमे ॥ २९ ॥

सज्जनोंसे एकबार भी मिलना उत्तम है । उस प्रथम मिलनके बाद वह सज्जन मित्र कहा जाता है। सज्जनोंका सङ्ग कभी निष्फल नहीं होता । इसलिये सदा सज्जनोंके समीप ही रहना चाहिये ॥ २९ ॥

यम उवाच

मनोनुकूलं बुधबुद्धिवर्धनं त्वयाहमुक्तो वचनं हिताश्रयम् ।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं वरं द्वितीयं वरयस्व भामिनि ॥ ३० ॥

यम बोले– हे भामिनी ! तुमने जो वचन मुझसे कहा, वह मनके अनुकूल, पण्डितोंकी भी बुद्धिको बढानेवाला और हितकारी है । इस कारण सत्यवान्के जीवनके सिवाय जो इच्छा हो, सो वर मांगो ॥ ३० ॥

सावित्र्यु उवाच

हृतं पुरा मे श्वशुरस्य धीमतः स्वमेव राज्यं स लभेत पार्थिवः ।
जह्यात्स्वधर्मं न च मे गुरुर्यथा द्वितीयमेतं वरयामि ते वरम् ॥ ३१ ॥

सावित्री बोली– मेरे बुद्धिमान् ससुरका पहिले जो राज्य नष्ट हो गया है, उस राज्यको वह राजा फिर प्राप्त करें । मेरे ससुर धर्मका भी परित्याग न करें । यही दूसरा वर आपसे मांगती हूं ॥ ३१ ॥

×

यम उवाच

स्वमेव राज्यं प्रतिपत्स्यतेऽचिरान्न च स्वधर्मात्परिहास्यते नृपः।
कृतेन कामेन मया नृपात्मजे निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥ ३२ ॥

यम बोले– हे सावित्री ! तुम्हारे ससुर शीघ्र ही अपने राज्यको प्राप्त करेंगे, और धर्मको कभी नहीं छोडेंगे। हे राजपुत्री ! अब तुम्हारे कार्यको मैंने सिद्ध कर दिया। तुम लौट जाओ। तुम्हें अब अधिक परिश्रम न हो ॥ ३२ ॥

सावित्र्युवाच

प्रजास्त्वयेमा नियमेन संयता नियम्य चैता नयसे न कामया।
अतो यमत्वं तव देव विश्रुतं निबोध चेमां गिरमीरितां मया ॥ ३३ ॥

सावित्री बोली–हे यमराज ! आपने प्रजाको नियममें बांधकर रखा है। आप सबके नियन्ता हैं, सबको कर्मका फल देते हैं। इसीकारण, हे देव ! आपका नाम यम प्रसिद्ध है। आप मेरे द्वारा कही जानेवाली इस वाणीको सुनिये ॥ ३३ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ ३४ ॥

मन वचन और कायासे किसी प्राणीका द्रोह न करना, सबपर दया करना, दान देना यह सज्जनोंका सनातन धर्म है ॥ ३४ ॥

एवंप्रायश्च लोकोऽयं मनुष्याः शक्तिपेशलाः।
सन्तस्त्वेवाप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते ॥ ३५ ॥

लोग प्रायः मेरे पतिके समान ही अल्पायुषी हैं। इस जगत्‌के मनुष्य शक्ति तथा कौशलसे हीन हैं। तथापि महात्मा शरणमें आये हुए शत्रुपर भी दया करते हैं ? ॥ ३५ ॥

यम उवाच

पिपासितस्येव यथा भवेत्पयस्तथा त्वया वाक्यमिदं समीरितम्।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं वरं वृणीष्वेह शुभे यदिच्छसि ॥३६॥

यम बोले– जिसप्रकार एक प्यासेको जल प्रसन्नता प्रदान करता है, तुम्हारे द्वारा कही गई यह वाणी प्रसन्नता दायक है। हे शुभे ! इसलिए सत्यवान्‌को जिलानेके अलावा जो तुम्हारी इच्छा हो, सो वर मांगो ॥ ३६ ॥

सावित्र्युवाच

ममानपत्यः पृथिवीपतिः पिता भवेत्पितुः पुत्रशतं ममौरसम्।
कुलस्य संतानकरं च यद्भवेत्तृतीयमेतं वरयामि ते वरम् ॥ ३७ ॥

सावित्री बोली– मेरे पिता राजा होकर भी पुत्रहीन हैं। अतः उनके मेरे सौ औरस पुत्र (भाई) हों। जिनसे मेरे पिताका कुल चले। यह तीसरा वर मांगती हूं ॥ ३७ ॥

यम उवाच

कुलस्य संतानकरं सुवर्चसं शतं सुतानां पितुरस्तु ते शुभे ।
कृतेन कामेन नराधिपात्मजे निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ३८ ॥

यम बोले– हे कल्याणी ! तुम्हारे पिताके कुलको बढानेवाले बडे तेजस्वी सौ पुत्र होंगे । हे राजपुत्री ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुआ । तुम बहुत दूर आ गई हो, लौट जाओ ॥ ३८ ॥

सावित्र्युवाच

न दूरमेतन्मम भर्तृसंनिधौ मनो हि मे दूरतरं प्रधावति ।
तथा व्रजन्नेव गिरं समुद्यतां मयोच्यमानां शृणु भूय एव च ॥ ३९ ॥

सावित्री बोली– यह तो दूर नहीं है, मेरा मन तो पतिके साथ बहुत ही दूरतक गमन करनेमें उत्साह रखता है। इसलिये आपके साथ आती हुई मैं कुछ कहना चाहती हूं। आप पुनरपि मेरी वाणीको सुनिये ॥ ३९ ॥

विवस्वतस्त्वं तनयः प्रतापवांस्ततो हि वैवस्वत उच्यसे बुधैः ।
शमेन धर्मेण च रञ्जिताः प्रजास्ततस्तवेहेश्वर धर्मराजता ॥ ४० ॥

आप सूर्यके पुत्र और बडे प्रतापी हैं, इसलिये आपको पण्डित वैवस्वत कहते हैं । प्रजा आपके शम और धर्ममें रहती है; इस कारण आपका नाम धर्मराज है ॥ ४० ॥

आत्मन्यपि न विश्वासस्तावान्भवति सत्सु यः ।
तस्मात्सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥ ४१ ॥

मनुष्योंका जैसा विश्वास सज्जनोंमें होता है वैसा उनका विश्वास अपनी आत्मामें भी नहीं होता । इस कारण सभी प्राणी सज्जनोंसे विशेष प्रेम करना चाहते हैं ॥ ४१ ॥

सौहृदात्सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते ।
तस्मात्सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः ॥ ४२ ॥

सब प्राणियोंसे प्रेम करनेपर ही विश्वास उत्पन्न होता है । इसीसे विशेष करके सब प्राणी महात्माओंका विश्वास करते हैं ॥ ४२ ॥

यम उवाच

उदाहृतं ते वचनं यदङ्गने शुभे न तादृक्त्वदृते मया श्रुतम् ।
अनेन तुष्टोऽस्मि विनास्य जीवितं वरं चतुर्थं वरयस्व गच्छ च ॥ ४३ ॥

यम बोले– हे कल्याणि ! जैसे तुमने वचन कहे, ऐसे वचन तुम्हारे सिवाय और किसीसे मैंने नहीं सुने । इन तुम्हारे वचनोंसे मैं प्रसन्न हुआ हूं, इस सत्यवान्के जीवनके सिवाय और जो चाहो, सो वर मांगो ॥ ४३ ॥

सावित्र्युवाच
ममात्मजं सत्यवतस्तथौरसं भवेदुभाभ्यामिह यत्कुलोद्वहम् ।
शतं सुतानां बलवीर्यशालिनामिदं चतुर्थं वरयामि ते वरम् ॥ ४४ ॥
सावित्री बोली— हे देव ! मेरे और सत्यवान् इन दोनोंके संयोगसे ऐसे वीर्यवान् सौ पुत्र उत्पन्न हों कि जो हमारे कुलको उन्नत करनेवाले हों। यह मैं चौथा वर आपसे मांगती हूं ॥४४॥

यम उवाच
शतं सुतानां बलवीर्यशालिनां भविष्यति प्रीतिकरं तवाबले ।
परिश्रमस्ते न भवेन्नृपात्मजे निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ॥ ४५ ॥
यम बोले— हे स्त्री ! तुम्हें प्रसन्नता देनेवाले तुम्हारे बलवान् सौ पुत्र होंगे । हे राजपुत्री ! तुमको बहुत परिश्रम न हो । इसलिये लौट जाओ, अब तुम बहुत दूर आ गई हो ! ॥४५॥

सावित्र्युवाच
सतां सदा शाश्वती धर्मवृत्तिः सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति ।
सतां सद्भिर्नाफलः सङ्गमोऽस्ति सद्भ्यो भयं नानुवर्तन्ति सन्तः ॥ ४६ ॥
सावित्री बोली— सज्जनोंकी प्रवृत्ति सदा धर्ममें ही रहती है । सज्जन कभी दुःखी नहीं होते; और न कभी पछताते हैं । सज्जनोंका सङ्ग निष्फल नहीं होता। सज्जन अभयदान देके फिर नहीं लौटाते ॥ ४६ ॥

सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति ।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ॥ ४७ ॥
वे भूत और भविष्यत्के आश्रय हैं । साधुजन सत्यसे सूर्यको ले जाते हैं और सतजन तपसे पृथ्वीको धारण करते हैं । सज्जन पुरुष संतोंमें रहकर कभी दुःखी नहीं होते ॥ ४७ ॥

आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम् ।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम् ॥ ४८ ॥
हे यमराज ! यह व्रत आर्योंके द्वारा ही करने योग्य है। इस सनातन धर्मको जानकर साधुजन उपकार करते हैं, और दूसरोंसे अपने उपकारके बदलेकी इच्छा नहीं रखते ॥ ४८ ॥

न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः ।
यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं तस्मात्सन्तो रक्षितारो भवन्ति ॥ ४९ ॥
सज्जनों द्वारा जो कृपा की जाती है, वह व्यर्थ नहीं होती । उनकी कृपाके कारण न अर्थ ही नष्ट होता है, और न मान ही । इस कारण धर्म सदा महात्माओंमें ही रहता है। इसलिए श्रेष्ठ पुरुष धर्मकी रक्षा करते हैं ॥ ४९ ॥

यम उवाच

यथा यथा भाषसि धर्मसंहितं मनोनुकूलं सुपदं महार्थवत् ।
तथा तथा मे त्वयि भक्तिरुत्तमा वरं वृणीष्वाप्रतिमं यतव्रते ॥ ५० ॥

यम बोले– हे भामिनी ! तुम जो जो धर्मके अनुसार और मनकी अच्छी लगनेवाली बातोंको कहती हो, वह सब गंभीर अर्थोंसे भरी हुई हैं। हे पतिव्रते ! तुम्हारी बातोंको सुनकर मेरी भक्ति तुममें बढती जाती है । इसलिये तुम एक अद्वितीय वर मांगो ॥ ५० ॥

सावित्र्युवाच

न तेऽपवर्गः सुकृताद्विनाकृतस्तथा यथान्येषु वरेषु मानद ।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं यथा मृता ह्येवमहं विना पतिम् ॥ ५१ ॥

सावित्री बोली– हे वरदान देनेवाले ! आपने जो मुझे सौ पुत्र होनेका वरदान दिया है, वह पुण्यमय दाम्पत्य संयोगके बिना सिद्ध नहीं हो सकता। अन्य वरोंके समान यह अन्तिम वर नहीं है । अतः मैं यही वर मांगती हूँ, कि मेरे पति ये सत्यवान् जी जायें, क्योंकि मैं भी बिना पतिके मरे हुएके समान ही हूं ॥ ५१ ॥

न कामये भर्तृविनाकृता सुखं न कामये भर्तृविनाकृता दिवम् ।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम् ॥ ५२ ॥

मैं बिना पतिके कोई सुख नहीं भोगना चाहती । मैं बिना पतिके स्वर्गमें भी नहीं जाना चाहती । मैं बिना पतिके ऐश्वर्यकी इच्छा नहीं करती, और बिना पतिके जीना भी नहीं चाहती ॥ ५२ ॥

वरातिसर्गः शतपुत्रता मम त्वयैव दत्तो ह्रियते च मे पतिः ।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं तवैव सत्यं वचनं भविष्यति ॥ ५३ ॥

अपने वरदान दिया है कि तुम्हारे गर्भसे और सत्यवानके वीर्यसे सौ पुत्र उत्पन्न होंगे और अब आपही मेरे पतिको लिये जाते हैं, तब उस वरकी सिद्धि कैसे होगी ? इसलिये मैं यह वरदान मांगती हूं कि मेरे पति जी जायें, क्योंकि उनके जीनेहीसे आपके वचन सत्य होंगे ॥ ५३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तथेत्युक्त्वा तु तान्पाशान्मुक्त्वा वैवस्वतो यमः ।
धर्मराजः प्रहृष्टात्मा सावित्रीमिदमब्रवीत् ॥ ५४ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! सूर्यपुत्र यमराज सावित्रीके वचन सुनकर प्रसन्न हुए,और ' वैसा ही हो ' कहकर सत्यवान्को पाशसे छोडकर सावित्री से बोले ॥ ५४ ॥

एष भद्रे मया मुक्तो भर्ता ते कुलनन्दिनि ।
अरोगस्तव नेयश्च सिद्धार्थश्च भविष्यति ॥ ५५ ॥

हे भद्रे ! हे कुलनन्दिनी ! यह लो, मैंने तुम्हारे पतिको छोड दिया । यह रोगरहित स्तुति करनेके योग्य और अर्थोंको सिद्ध करनेवाला और तुम्हारे द्वारा ले जाने योग्य हो गया ॥ ५५॥

चतुर्वर्षशतं चायुस्त्वया सार्धमवाप्स्यति ।
इष्ट्वा यज्ञैश्च धर्मेण ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥ ५६ ॥

यह तुम्हारे साथ चार सौ वर्षतक आनन्द करेगा। यह तुम्हारे सहित धर्मपूर्वक अनेक यज्ञोंको करके लोकमें कीर्तिको प्राप्त करेगा ॥ ५६ ॥

त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवाञ्जनयिष्यति ।
ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः ।
ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यन्तीह शाश्वताः ॥ ५७ ॥

यह सत्यवान् तुम्हारे गर्भसे सौ पुत्र पैदा करेगा। वे सब राजा बलवान् पुत्र पौत्रोंसे युक्त जगत्में विख्यात और बहुत समय तक तुम्हारे नामसे प्रसिद्ध रहेंगे ॥ ५७ ॥

पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि ।
मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः ।
भ्रातरस्ते भविष्यन्ति क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः ॥ ५८ ॥

तुम्हारे पिताके वीर्यसे तुम्हारी माताके सौ पुत्र उत्पन्न होंगे । वे सब पुत्रपौत्र मालवीसे उत्पन्न होनेके कारण मालव नामसे प्रसिद्ध होंगे। तुम्हारे सौ भाई देवताओंके समान बलवान् तथा पुत्र और पौत्रोंके सहित बहुत दिनतक आनन्द से काल व्यतीत करेंगे ॥ ५८ ॥

एवं तस्यै वरं दत्त्वा धर्मराजः प्रतापवान् ।
निवर्तयित्वा सावित्रीं स्वमेव भवनं ययौ ॥ ५९ ॥

महाप्रतापी यमराज सावित्रीको ऐसा वर देकर और उसको वापस लौटाकर अपने घरको चले गये ॥ ५९ ॥

सावित्र्यपि यमे याते भर्तारं प्रतिलभ्य च ।
जगाम तत्र यत्रास्या भर्तुः शावं कलेवरम् ॥ ६० ॥

जब यमराज चले गये और सावित्रीने अपने पतिको प्राप्त कर लिया, तब सावित्री पुनः उसी स्थानपर आई, जहां उसके मरे हुए पतिका शरीर पडा हुआ था ॥ ६० ॥

सा भूमौ प्रेक्ष्य भर्तारमुपसृत्योपगूह्य च ।
उत्सङ्गे शिर आरोप्य भूमावुपविवेश ह ॥ ६१ ॥

वह अपने पतिको मरा हुआ देख उसके पास गई और उसके सिरको अपनी गोदमें रखकर भूमि पर बैठ गई ॥ ६१ ॥

संज्ञां च सत्यवाँल्लब्ध्वा सावित्रीमभ्यभाषत ।
प्रोष्यागत इव प्रेम्णा पुनः पुनरुदीक्ष्य वै ॥ ६२ ॥

उसी समय सत्यवान् जागे और सावित्रीसे कहने लगे । उस समय सत्यवान् प्रेमसे अपनी स्त्रीको बार बार इस प्रकार देखने लगे जैसे कोई परदेशसे आकर अपनी स्त्रीको देखता है ॥ ६२ ॥

सत्यवानुवाच

सुचिरं बत सुप्तोऽस्मि किमर्थं नावबोधितः ।
क चासौ पुरुषः श्यामो योऽसौ मां संचकर्ष ह ॥ ६३ ॥

सत्यवान् बोले– मैं बहुत समय तक सोता रहा; तुमने क्यों नहीं जगाया ? वह जो काला पुरुष मुझको खींच रहा था वह अब कहां चला गया ? ॥ ६३ ॥

सावित्र्युवाच

सुचिरं बत सुप्तोऽसि ममाङ्के पुरुषर्षभ ।
गतः स भगवान्देवः प्रजासंयमनो यमः ॥ ६४ ॥

सावित्री बोली– हे पुरुषसिंह ! तुम मेरी गोदमें बहुत देर तक सोते रहे । पुरुषोंको नियममें रखनेवाले भगवान् यमराज चले गये ॥ ६४ ॥

विश्रान्तोऽसि महाभाग विनिद्रश्च नृपात्मज ।
यदि शक्यं समुत्तिष्ठ विगाढां पश्य शर्वरीम् ॥ ६५ ॥

हे महाभाग राजपुत्र ! तुम बहुत थक गये हो, और तुम्हारी निद्राभी खुल गई है । यदि तुममें उठनेकी शक्ति हो तो उठो; देखो यह समय आधी रातका है ॥ ६५ ॥

मार्कण्डेय उवाच

उपलभ्य ततः संज्ञां सुखसुप्त इवोत्थितः ।
दिशः सर्वा वनान्तांश्च निरीक्ष्योवाच सत्यवान् ॥ ६६ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! उसी समय सत्यवा चैतन्य होकर इस प्रकार उठे, जैसे कोई सुखसे उठता है । तब सब दिशाओंको और वन को देखकर सत्यवान् सावित्रीसे बोले ॥ ६६ ॥

फलाहारोऽस्मि निष्क्रान्तस्त्वया सह सुमध्यमे ।
ततः पाटयतः काष्ठं शिरसो मे रुजाभवत् ॥ ६७ ॥

हे पतली कमरवाली ! मैं आज तुम्हारे साथ फल लेने वनको आया था, परन्तु लकडी काटते समय मेरे सिरमें पीडा हुई ॥ ६७ ॥

शिरोऽभितापसंतप्तः स्थातुं चिरमशक्नुवन् ।
तवोत्सङ्गे प्रसुप्तोऽहमिति सर्वं स्मरे शुभे ॥ ६८ ॥

उस समय अत्यन्त पीडित होकर खडा न रह सका, तब तुम्हारी गोदमें सो गया। मुझको यहां तक सब स्मरण है ॥ ६८ ॥

त्वयोपगूढस्य च मे निद्रयापहृतं मनः ।
ततोऽपश्यं तमो घोरं पुरुषं च महौजसम् ॥ ६९ ॥

हे सुन्दरी ! जब मैं तुम्हारी गोदमें सो गया, तब मेरा मन निद्राके वशमें होगया; इसके पश्चात् मुझको घोर अन्धकार दिखाई दिया, फिर मैंने एक महातेजस्वी पुरुष देखा ॥ ६९ ॥

तद्यदि त्वं विजानासि किं तद्ब्रूहि सुमध्यमे ।
स्वप्नो मे यदि वा दृष्टो यदि वा सत्यमेव तत् ॥ ७० ॥

हे सुन्दरी ! यदि तुम इस वृत्तान्तको जानती हो, तो मुझसे कहो। क्या मैंने स्वप्न देखा था अथवा वह सब सत्य है ? ॥ ७० ॥

तमुवाचाथ सावित्री रजनी व्यवगाहते ।
श्वस्ते सर्वं यथावृत्तमाख्यास्यामि नृपात्मज ॥ ७१ ॥

तब सावित्री उससे बोली– रात बढती जा रही है; इसलिये मैं आपसे यह सब वृत्तान्त प्रातःकाल कहूंगी ॥ ७१ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते पितरौ पश्य सुव्रत ।
विगाढा रजनी चेयं निवृत्तश्च दिवाकरः ॥ ७२ ॥

हे उत्तम व्रतधारी ! आपका कल्याण हो, आप उठिए और चलकर अपने माता पिताको देखिए । यह अंधियारी रात है और सूर्य अस्त हो गया है ॥ ७२ ॥

नक्तंचराश्चरन्त्येते हृष्टाः क्रूराभिभाषिणः ।
श्रूयन्ते पर्णशब्दाश्च मृगाणां चरतां वने ॥ ७३ ॥

ये घोर शब्द करनेवाले राक्षस प्रसन्न होकर घूम रहे हैं । वनमें घूमते हुए पशुओंके पैरोंमें लगकर पत्तोंका शब्द हो रहा है ॥ ७३ ॥

एताः शिवा घोरनादा दिशं दक्षिणपश्चिमाम् ।
आस्थाय विरुवन्त्युग्राः कम्पयन्त्यो मनो मम ॥ ७४ ॥

ये सियारी दक्षिणकी ओर मुंह करके घोर शब्द कर रही है, यह कभी पश्चिमको मुंह करके भी घोर शब्द करने लगती है, इससे मेरा हृदय कांप जाता है ॥ ७४ ॥

सत्यवानुवाच

वनं प्रतिभयाकारं घनेन तमसा वृतम् ।
न विज्ञास्यसि पन्थानं गन्तुं चैव न शक्ष्यसि ॥ ७५ ॥

सत्यवान् बोले– इस वनमें घोर अन्धकार छा गया है । इससे मार्ग नहीं दिखाई देता और तुमभी चल नहीं सकोगी ॥ ७५ ॥

सावित्र्युवाच

अस्मिन्नद्य वने दग्धे शुष्कवृक्षः स्थितो ज्वलन् ।
वायुना धम्यमानोऽग्निर्दृश्यतेऽत्र क्वचित्क्वचित् ॥ ७६ ॥

सावित्री बोली– हे राजपुत्र ! इस वन में आग लग गई है और एक सूखा वृक्ष जल रहा है । वायु लगनेसे कहीं कहीं अग्नि दिखाई देती है ॥ ७६ ॥

ततोऽग्निमानयित्वेह ज्वालयिष्यामि सर्वतः ।
काष्ठानीमानि सन्तीह जहि सन्तापमात्मनः ॥ ७७ ॥

मैं वहांसे अग्नि ले आती हूं और इन लकडियोंमें लगाती हूं, तब प्रकाश होनेसे मार्ग दीखने लगेगा । आप अपने दुःखको दूर कीजिये ॥ ७७ ॥

यदि नोत्सहसे गन्तुं सरुजं त्वाभिलक्षये ।
न च ज्ञास्यसि पन्थानं तमसा संवृते वने ॥ ७८ ॥

मैं आपको अस्वस्थ देख रही हूँ, अतः यदि आप पीडाके कारण इस समय न चल सकें, और इस अन्धकारसे भरे हुए वनमें मार्गको न देख सकें ॥ ७८ ॥

श्वः प्रभाते वने दृश्ये यास्यावोऽनुमते तव ।
वसावेह क्षपामेतां रुचितं यदि तेऽनघ ॥ ७९ ॥

हे अनघ ! यदि पसन्द हो तो आपकी आज्ञानुसार हम इस रात इसी वन में रहें, प्रातःकाल जब सूर्य उदय होगा तब यहांसे चलेंगे ॥ ७९ ॥

सत्यवानुवाच

शिरोरुजा निवृत्ता मे स्वस्थान्यङ्गानि लक्षये ।
मातापितृभ्यामिच्छामि संगमं त्वत्प्रसादजम् ॥ ८० ॥

सत्यवान् बोले– मेरे सिरकी पीडा दूर हो गई और सब शरीर स्वस्थ हो गया है । इसलिये मेरी इच्छा है, कि तुम्हारी सहायतासे अपने माता पिताके दर्शन करूं ॥ ८० ॥

न कदाचिद्विकाले हि गतपूर्वो मयाश्रमः ।
अनागतायां सन्ध्यायां माता मे प्ररुणद्धि माम् ॥ ८१ ॥

मैं पहिले कभी इतने समय तक आश्रमसे बाहर नहीं रहा । सन्ध्या होतेही मेरी माता मुझे रोक लेती थी अर्थात् आश्रमसे बाहर नहीं निकलने देती थी ॥ ८१ ॥

×

दिवापि मयि निष्क्रान्ते संतप्येते गुरू मम ।
विचिनोति च मां तातः सहैवाश्रमवासिभिः ॥ ८२ ॥

दिनमें भी यदि मैं कहीं चला जाता हूं, तो मेरे माता पिता घबडाने लगते हैं। निश्चयसे मेरे पिता आश्रमवासियोंके सहित ढूंढते फिरते होंगे ॥ ८२ ॥

मात्रा पित्रा च सुभृशं दुःखिताभ्यामहं पुरा ।
उपालब्धः सुबहुशश्चिरेणागच्छसीति हि ॥ ८३ ॥

मेरे मातापिताने बहुत दुःखसे मुझको प्राप्त किया है। उन्होंने मुझे कई बार उपालंभ भी दिया है कि तुम बहुत देरसे आते हो ॥ ८३ ॥

का त्ववस्था तयोरद्य मदर्थमिति चिन्तये ।
तयोरदृश्ये मयि च महद्दुःखं भविष्यति ॥ ८४ ॥

मुझे बहुत चिन्ता है, कि आज मेरे लिये उन दोनोंकी क्या दशा हुई होगी। उनको बिना देखे मुझको भी बहुत दुःख होगा ॥ ८४ ॥

पुरा मामूचतुश्चैव रात्रावस्रायमाणकौ ।
भृशं सुदुःखितौ वृद्धौ बहुशः प्रीतिसंयुतौ ॥ ८५ ॥

पहले की बात है, उन दोनों बूढोंने बहुत प्रीतिके सहित चलते समय रात्रि में रोकर मुझसे बार बार यह कहा था, ॥ ८५ ॥

त्वया हीनौ न जीवाव मुहूर्तमपि पुत्रक ।
यावद्धरिष्यसे पुत्र तावन्नौ जीवितं ध्रुवम् ॥ ८६ ॥

हे पुत्र! हम दोनों तुम्हारे बिना क्षण भरभी नहीं जा सकते। जबतक तुम जीवित रहोगे तभीतक हमारा भी जीवन रह सकेगा ॥ ८६ ॥

वृद्धयोरन्धयोर्दृष्टिस्त्वयि वंशः प्रतिष्ठितः ।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च सन्तानं चावयोरिति ॥ ८७ ॥

तुम हम वृद्धोंकी दृष्टि हो, तुम्हीं हमारे वंशकी प्रतिष्ठा हो, तुम्हीं पिण्डदाता और कीर्ति तथा वंशके बढानेवाले पुत्र हो ॥ ८७ ॥

माता वृद्धा पिता वृद्धस्तयोर्यष्टिरहं किल ।
तौ रात्रौ मामपश्यन्तौ कामवस्थां गमिष्यतः ॥ ८८ ॥

मेरी माता बूढी है; और पिता भी बूढे हैं; मैं ही उनकी लाठी हूं; इस रात्रिमें मुझको न देखकर उनकी क्या दशा हुई होगी? ॥ ८८ ॥

निद्रायाश्चाभ्यसूयामि यस्या हेतोः पिता मम ।
माता च संशयं प्राप्ताः मत्कृतेऽनपकारिणी ॥ ८९ ॥

मैं इस निद्राकी बहुत निन्दा करता हूं; इस अनुपकारिणी निद्राके कारणसे मेरे माता पिताको और मुझे इतना दुःख हुआ ॥ ८९ ॥

अहं च संशयं प्राप्तः कृच्छ्रामापदमास्थितः ।
मातापितृभ्यां हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ९० ॥

इस घोर आपत्तिमें पडे हुए मेरा जीवन संशय में पड गया है क्योंकि बिना माता पिताको देखे मैं जी नहीं सकता ॥ ९० ॥

व्यक्तमाकुलया बुद्ध्या प्रज्ञाचक्षुः पिता मम ।
एकैकमस्यां वेलायां पृच्छत्याश्रमवासिनम् ॥ ९१ ॥

निश्चयसे मेरे अन्धे पिता घबडाकर प्रतिक्षण एक एक आश्रमवासीसे मेरा समाचार पूछ रहे होंगे ॥ ९१ ॥

नात्मानमनुशोचामि यथाहं पितरं शुभे ।
भर्तारं चाप्यनुगतां मातरं परिदुर्बलाम् ॥ ९२ ॥

हे सुन्दरी ! मुझे अपना इतना शोक नहीं है, जितना पिता और पतिव्रता और अत्यन्त दुर्बल माताका है ॥ ९२ ॥

मत्कृतेन हि तावद्य संतापं परमेष्यतः ।
जीवन्तावनुजीवामि भर्तव्यौ तौ मयेति ह ।
तयोः प्रियं मे कर्तव्यमिति जीवामि चाप्यहम् ॥ ९३ ॥

क्योंकि वे दोनों आज मेरेही कारणसे घोर दुःखमें पडे हैं। उनके जीनेपर ही मैं भी जी सकता हूं, क्योंकि उनका पालन मुझे ही करना है । मुझे उनका प्रिय काम करना है इसीलिए मैं जी रहा हूं ॥ ९३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा गुरुवर्ती गुरुप्रियः ।
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्तः सस्वरं प्ररुरोद ह ॥ ९४ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! पिताके प्यारे, पिताके भक्त, धर्मात्मा सत्यवान् ऐसा कहकर दुःखसे व्याकुल होकर और अपने हाथोंको फैलाकर ऊंचे स्वरसे रोने लगे ॥ ९४ ॥

ततोऽब्रवीत्तथा दृष्ट्वा भर्तारं शोककर्शितम् ।
प्रमृज्याश्रूणि नेत्राभ्यां सावित्री धर्मचारिणी ॥९५ ॥

धर्म करनेवाली सावित्री अपने पतिको शोकसे व्याकुल देखकर और उनके आंसुओंको अपने हाथसे पोंछकर कहने लगी ॥ ९५ ॥

यदि मेऽस्ति तपस्तप्तं यदि दत्तं हुतं यदि।
श्वश्रूश्वशुरभर्तॄणां मम पुण्यास्तु शर्वरी ॥ ९६ ॥

यदि मैंने कुछ तप किया हो, यदि मैंने अग्नि में कुछ आहुति दी हो, तो उस पुण्यसे मेरे ससुर और सासकी यह रात्रि सुखसे बीते ॥ ९६ ॥

न स्मराम्युक्तपूर्वां वै स्वैरेष्वप्यनृतां गिरम्।
तेन सत्येन तावद्य ध्रियेतां श्वशुरो मम ॥ ॥ ९७ ॥

मुझे स्मरण नहीं है कि मैंने कभी खेलमें भी झूठ बोला हो। वही सत्य की शक्ति मेरे सास और ससुरकी रक्षा करे ॥ ९७ ॥

सत्यवानुवाच

कामये दर्शनं पित्रोर्याहि सावित्रि माचिरम्।
पुरा मातुः पितुर्वापि यदि पश्यामि विप्रियम्।
न जीविष्ये वरारोहे सत्येनात्मानमालभे ॥ ॥ ९८ ॥

सत्यबान् बोले— हे सावित्री ! मैं अपने माता पिताके दर्शन करना चाहता हूं; इसलिये तुम चलो, विलम्ब मत करो। हे सुन्दरमुखी ! मैं अपने आत्मा की शपथ खा करके सत्य कहता हूं, कि यदि मेरे मातापिताका कुछ भी अनिष्ट हुआ होगा, तो मैं नहीं जीऊंगा ॥ ९८ ॥

यदि धर्मे च ते बुद्धिर्मां चेज्जीवन्तमिच्छसि।
मम प्रियं वा कर्तव्यं गच्छस्वाश्रमसान्तिकात् ॥ ९९ ॥

यदि तुम्हारी बुद्धि धर्ममें हो, यदि तुम मुझे जिलाना चाहती हो, और मेरा प्रिय कार्य करनेकी तुम्हारी इच्छा है, तो शीघ्र आश्रमको चलो ॥ ९९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

सावित्री तत उत्थाय केशान्संयम्य भामिनी।
पतिमुत्थापयामास बाहुभ्यां परिगृह्य वै ॥ १०० ॥

मार्कण्डेय बोले—हे राजन् ! अपने पतिके ऐसे वचन सुनकर सुन्दरी सावित्रीने उठकर अपने बालोंको बांधा। तब हाथोंसे पकडकर अपने पतिको उठाया ॥ १०० ॥

उत्थाय सत्यवांश्चापि प्रमृज्याङ्गानि पाणिना।
दिशः सर्वाः समालोक्य कठिने दृष्टिमादधे ॥ १०१ ॥

सत्यवान्ने उठकर अपने शरीरको हाथसे पोंछा, फिर सब दिशाओंको देखकर फलकी टोकरीकी ओर देखने लगे ॥ १०१ ॥

तमुवाचाथ सावित्री श्वः फलानीह नेष्यसि ।
योगक्षेमार्थमेतत्ते नेष्यामि परशुं त्वहम् ॥ १०२ ॥

तब सावित्री बोली– इन फलोंको आप प्रातःकाल ले जाइयेगा, आपके कल्याणके निमित्त मैं कुल्हाडी ले चलती हूं ॥ १०२ ॥

कृत्वा कठिनभारं सा वृक्षशाखावलम्बिनम् ।
गृहीत्वा परशुं भर्तुः सकाशं पुनरागमत् ॥ १०३ ॥

फिर सावित्रीने उस फलके टोकरेको एक वृक्षकी डालीमें बांध दिया और कुल्हाडी उठाकर फिर अपने पतिके पास आई ॥ १०३ ॥

वामे स्कन्धे तु वामोरूर्भर्तुर्बाहुं निवेश्य सा ।
दक्षिणेन परिष्वज्य जगाम मृदुगामिनी ॥ १०४ ॥

मृदुगामिनी सुन्दरी सावित्री अपने बायें कन्धे पर अपने पतिका हाथ रखकर और दाहिने हाथसे उसे अपने शरीरसे चिपटाकर चली ॥ १०४ ॥

सत्यवानुवाच

अभ्यासगमनाद्भीरु पन्थानो विदिता मम ।
वृक्षान्तरालोकितया ज्योत्स्नया चापि लक्षये ॥ १०५ ॥

सत्यवान् बोले– हे सुन्दरी ! यहां बार बार आनेके अभ्यासके कारण मैं सब मार्गोंको जानता हूं, और वृक्षोंके बीचमें चांदनीसे भी सब मार्ग दीखते हैं ॥ १०५ ॥

आगतौ स्वः पथा येन फलान्यवचितानि च ।
यथागतं शुभे गच्छ पन्थानं मा विचारय ॥ १०६ ॥

हे सुन्दरी ! अब हम उसी स्थानपर आ गये हैं जहांसे हमने फल तोडे थे । अब मार्गका कुछ विचार न करो, सुखसे चली चलो ॥ १०६ ॥

पलाशषण्डे चैतस्मिन्पन्था व्यावर्तते द्विधा ।
तस्योत्तरेण यः पन्थास्तेन गच्छ त्वरस्व च ।
स्वस्थोऽस्मि बलवानस्मि दिदृक्षुः पितरावुभौ ॥ १०७ ॥

आगे ढाकके वनमें दो मार्ग आवेंगे, उनमेंसे उत्तरकी ओर वाला जो मार्ग है, उसीसे तुम शीघ्र चलना । मैं बहुत स्वस्थ और बलवान् हो गया हूं । अब मेरी इच्छा माता पिताको देखनेकी है ॥ १०७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

ब्रुवन्नेवं त्वरायुक्तः स प्रायादाश्रमं प्रति ॥ १०८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८१ ॥ ९७७१ ॥

मार्कण्डेय बोले– सावित्री और सत्यवान् इस प्रकार बातें करते हुए आश्रमकी ओर बहुत शीघ्रतासे चले ॥१०८॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ इक्क्यासीवां अध्याय समाप्त ॥ २८१ ॥ ९७७१ ॥

: २८२ :

मार्कण्डेय उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु द्युमत्सेनो महावने ।
लब्धचक्षुः प्रसन्नात्मा दृष्ट्या सर्वं ददर्श ह ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् युधिष्ठिर ! उसी समय महाबलवान् राजा द्युमत्सेनकी दृष्टि ठीक हो गई, और वे उत्तम आंखोंसे जगत्की सब वस्तुओंको देखने लगे ॥ १ ॥

स सर्वानाश्रमान्गत्वा शैब्यया सह भार्यया ।
पुत्रहेतोः परामार्तिं जगाम मनुजर्षभ ॥ २ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! तब वे अपनी स्त्री शैब्याके सहित सब आश्रममें अपने पुत्रको ढूंढने लगे, परन्तु उसे न पाकर बहुत दुःखी हुए ॥ २ ॥

तावाश्रमान्नदीश्चैव वनानि च सरांसि च ।
तांस्तान्देशान्विचिन्वन्तौ दम्पती परिजग्मतुः ॥ ३ ॥

तब वे दोनों स्त्री पुरुष आश्रम, वन, नदी और तालाबोंमें तथा जहां जहां सत्यवान् जाता था, उन जगहोंमें अपने पुत्रको ढूंढते हुए घूमने लगे ॥ ३ ॥

श्रुत्वा शब्दं तु यत्किंचिदुन्मुखौ सुतशङ्कया ।
सावित्रीसहितोऽभ्येति सत्यवानित्यधावताम् ॥ ४ ॥

किसीका शब्द सुनकर अपने पुत्रकी शङ्का कर उधरहीको देखने लगते थे, और कहने लगते थे कि 'वह सावित्रीके सहित सत्यवान् चला आता है' और यह कहकर उसी तरफ दौडते थे॥४॥

भिन्नैश्च परुषैः पादैः सव्रणैः शोणितोक्षितैः ।
कुशकण्टकविद्धाङ्गावुन्मत्ताविव धावतः ॥ ५ ॥

इस प्रकार पागलोंकी तरह दौडनेसे उन दोनोंके पैर फट गए, उनमें घाव हो गये, और रुधिर बहने लगा, उनके शरीर कुशके कांटोंके लगनेसे छिल गये ॥ ५ ॥

ततोऽभिसृत्य तैर्विप्रैः सर्वैराश्रमवासिभिः ।
परिवार्य समाश्वास्य समानीतौ स्वमाश्रमम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर आश्रममें रहनेवाले ब्राह्मण उनके पास गये और उनको समझा बुझाकर आश्रममें ले आये ॥ ६ ॥

तत्र भार्यासहायः स वृतो वृद्धैस्तपोधनैः ।
आश्वासितो विचित्रार्थैः पूर्वराज्ञां कथाश्रयैः ॥ ७ ॥

तपोधन वृद्ध ब्राह्मणोंने स्त्री सहित राजा द्युमत्सेनसे पुराने राजाओंकी कथायें कहकर उन्हें सांत्वना दी ॥ ७ ॥

ततस्तौ पुनराश्वस्तौ वृद्धौ पुत्रदिदृक्षया ।
बाल्ये वृत्तानि पुत्रस्य स्मरन्तौ भृशदुःखितौ ॥ ८ ॥

उनको सुनकर वे दोनों बूढे आश्वस्त हुए, और अपने पुत्रको देखनेकी इच्छासे अपने पुत्रके बालचरितोंका स्मरण करके बहुत दुःखी हुए ॥ ८ ॥

पुनरुक्त्वा च करुणां वाचं तौ शोककर्शितौ ।
हा पुत्र हा साध्वि वधूः क्वासि क्वासीत्यरोदताम्

फिर वे दोनों बूढे करुणापूर्ण वाक्यों को बोलते हुए दुःखसे व्याकुल होकर "-हा पुत्र ! हा पतिव्रता बहू ! तुम दोनों कहां हो ?" ऐसा कहकर रोने लगे, (तब एक सत्यवादी ब्राह्मणने उनसे यह बात कही) ॥ ९ ॥

सुवर्चा उवाच

यथास्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च ।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १० ॥

सुवर्चा बोले– उस सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री तप, दम और आचारसे सम्पन्न है। इसलिए हमें निश्चय है, कि सत्यवान् जीता है ॥ १० ॥

गौतम उवाच

वेदाः साङ्गा मयाधीतास्तपो मे संचितं महत् ।
कौमारं ब्रह्मचर्यं मे गुरवोऽग्निश्च तोषिताः ॥ ११ ॥

गौतम बोले–'मैंने अङ्गोंके सहित वेदोंको पढा है, मैंने बहुत तप और बाल्यावस्थासे ब्रह्मचर्य्य साधन किया है। मैंने गुरु और अग्निको सन्तुष्ट किया है ॥ ११ ॥

समाहितेन चीर्णानि सर्वाण्येव व्रतानि मे।
वायुभक्षोपवासश्च कुशलानि च यानि मे ॥ १२ ॥

मैंने सावधान होकर समस्त व्रतोंको किया है, और विधिपूर्वक वायुभक्षण तथा उपवास भी किये हैं ॥ १२ ॥

अनेन तपसा वेद्मि सर्वं परिचिकीर्षितम्।
सत्यमेतन्निबोध त्वं ध्रियते सत्यवानिति ॥ १३ ॥

उसी तपके बलसे सबके कर्मोंको जानता हूं। आप मेरी बात सत्य समझिए कि सत्यवान् जीवित है ॥ १३ ॥

शिष्य उवाच

उपाध्यायस्य मे वक्त्राद्यथा वाक्यं विनिःसृतम्।
नैतज्जातु भवेन्मिथ्या तथा जीवति सत्यवान् ॥ १४ ॥

शिष्य बोला– मेरे गुरुके मुखसे जो कुछ वचन निकला है, वह कभी मिथ्या नहीं होगा, इससे मैं यही समझता हूं, कि सत्यवान् जीता है ॥ १४ ॥

ऋषय ऊचुः

यथास्य भार्या सावित्री सर्वैरेव सुलक्षणैः।
अवैधव्यकरैर्युक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १५ ॥

ऋषि बोले– उसकी भार्या सावित्री वैधव्यका निवारण करनेवाले सभी उत्तम लक्षणोंसे युक्त है। इसलिए सत्यवान् अवश्य जीवित है ॥ १५ ॥

भारद्वाज उवाच

यथास्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ॥ १६ ॥

भारद्वाज बोले– सत्यवान्की स्त्री सावित्री तप, दम और शुद्धाचारसे सम्पन्न है, इससे हम समझते हैं कि सत्यवान् जीता है ॥ १६ ॥

दाल्भ्य उवाच

यथा दृष्टिः प्रवृत्ता ते सावित्र्याश्च यथा व्रतम्।
गताहारमकृत्वा च तथा जीवति सत्यवान् ॥ १७ ॥

दाल्भ्य बोले– जिस कारण आपको आपकी दृष्टि मिल गई है और जिस तरह सावित्रीके व्रत हैं, उसने निरन्तर कई उपवास किये हैं इससे निश्चय होता है कि सत्यवान् अवश्य जीता है ॥ १७ ॥

माण्डव्य उवाच

यथा वदन्ति शान्तायां दिशि वै मृगपक्षिणः ।
पार्थिवी च प्रवृत्तिस्ते तथा जीवति सत्यवान् ॥ १८ ॥

माण्डव्य बोले– यह शान्त दिशामें पक्षी और हरिण बोल रहे हैं, और आप भी जो राजोचित धर्मका अनुष्ठान कर रहे हैं, इससे यही जान पडता है, कि सत्यवान् जीवित है ॥१८॥

धौम्य उवाच

सर्वैर्गुणैरुपेतस्ते यथा पुत्रो जनप्रियः ।
दीर्घायुर्लक्षणोपेतस्तथा जीवति सत्यवान् ॥ १९ ॥

धौम्य बोले– तुम्हारा पुत्र सब गुणोंसे युक्त, सब जगत्का प्रिय और सब दीर्घआयुके लक्षणोंसे युक्त है; इससे यही जान पडता है कि सत्यवान् जीवित है ॥ १९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

एवमाश्वासितस्तैस्तु सत्यवाग्भिस्तपस्विभिः ।
तांस्तान्विगणयन्नर्थानवस्थित इवाभवत् ॥ २० ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! जब सत्यवादी तपस्वी महात्माओंके ऐसे ऐसे वचन सुने, तब उन सबका विचार करके राजा द्युमत्सेन कुछ शान्त हुए ॥ २० ॥

ततो मुहूर्तात्सावित्री भर्त्रा सत्यवता सह ।
आजगामाश्रमं रात्रौ प्रहृष्टा प्रविवेश ह ॥ २१ ॥

इसके मुहूर्तभर बाद ही सावित्री भी प्रसन्न होती हुई अपने पति सत्यवान्के सहित आश्रममें आ पहुंची और प्रसन्न होकर आश्रममें प्रविष्ट हुई ॥ २१ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

पुत्रेण संगतं त्वाद्य चक्षुष्मन्तं निरीक्ष्य च ।
सर्वे वयं वै पृच्छामो वृद्धिं ते पृथिवीपते ॥ २२ ॥

ब्राह्मण बोले– हे पृथ्वीनाथ ! हमलोग आपको आंखोंसे युक्त तथा पुत्रसे मिलता हुआ देखकर बहुत प्रसन्न हुए। हम लोग आपकी वृद्धि चाहते हैं ॥ २२ ॥

समागमेन पुत्रस्य सावित्र्या दर्शनेन च ।
चक्षुषश्चात्मनो लाभात्त्रिभिर्दिष्ट्या विवर्धसे ॥ २३ ॥

आपका पुत्र आपको मिल गया, सावित्रीके भी दर्शन हो गए और आपको आपकी आंखें भी मिल गईं, इन तीनोंको पाकर आप सौभाग्यहीसे ही वृद्धिलाभ कर रहे हैं ॥ २३ ॥

सर्वैरस्माभिरुक्तं यत्तथा तन्नात्र संशयः।
भूयो भूयश्च वृद्धिस्ते क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ २४ ॥
हम सब लोगोंने जो पहिले कहा था वह वैसा ही होगा, उसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अब शीघ्रही आपकी अत्यधिक उन्नति होगी ॥ २४ ॥

मार्कण्डेय उवाच
ततोऽग्निं तत्र संज्वाल्य द्विजास्ते सर्व एव हि।
उपासाञ्चक्रिरे पार्थ द्युमत्सेनं महीपतिम् ॥ २५ ॥
मार्कण्डेय बोले– हे पृथापुत्र युधिष्ठिर ! उसी समय उन सब ब्राह्मणोंने अग्नि जलाई और राजाके समीप बैठकर अग्निहोत्र करने लगे ॥ २५ ॥

शैब्या च सत्यवांश्चैव सावित्री चैकतः स्थिताः।
सर्वैस्तैरभ्यनुज्ञाता विशोकाः समुपाविशन् ॥ २६ ॥
उस यज्ञमें शैब्या, सत्यवान् और सावित्री ये तीनों उन ब्राह्मणोंकी आज्ञा पाकर शोकरहित होकर एक जगह बैठ गए ॥ २६ ॥

ततो राज्ञा सहासीनाः सर्वे ते वनवासिनः।
जातकौतूहलाः पार्थ पप्रच्छुर्नृपतेः सुतम् ॥ २७ ॥
हे युधिष्ठिर ! तब उन वनवासी ऋषियोंने राजाके समीप बैठकर कौतूहलके सहित राजपुत्र सत्यवान्‌से पूछा ॥ २७ ॥

प्रागेव नागतं कस्मात्सभार्येण त्वया विभो।
विरात्रे चागतं कस्मात्कोऽनुबन्धश्च तेऽभवत् ॥ २८ ॥
हे राजपुत्र ! तुम अपनी स्त्रीके सहित पहिले ही क्यों नहीं आये ? तुम किस कारण इतनी रात बीतने पर लौटे ? वह ऐसा विशेष कार्य क्या हो गया था ? ॥ २८ ॥

संतापितः पिता माता वयं चैव नृपात्मज।
नाकस्मादिति जानीमस्तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ २९ ॥
हे राजपुत्र ! तुम्हारे न आनेसे तुम्हारे माता पिता और हमको भी बहुत दुःख हुआ। हम-लोग जानते हैं कि यह सब अकस्मात् नहीं हुआ है, अतः तुम हमसे कहो ॥ २९ ॥

सत्यवानुवाच
पित्राहमभ्यनुज्ञातः सावित्रीसहितो गतः।
अथ मेऽभूच्छिरोदुःखं वने काष्ठानि भिन्दतः ॥ ३० ॥
सत्यवान् बोले– मैं अपने पिताकी आज्ञा लेकर सावित्रीके सहित वन गया। वहां वनमें लकडी काटते समय मेरे शिरमें पीडा हुई ॥ ३० ॥

सुप्तश्चाहं वेदनया चिरमित्युपलक्षये ।
तावत्कालं च न मया सुप्तपूर्वं कदाचन ॥ ३१ ॥

मुझे मालूम पडता है कि मैं उस पीडाके कारण बहुत देरतक सोया ही रहा । जैसा मैं आज सोया वैसे पहिले कभी नहीं सोया था ॥ ३१ ॥

सर्वेषामेव भवतां संतापो मा भवेदिति ।
अतो चिरात्रागमनं नान्यदस्तीह कारणम् ॥ ३२ ॥

आप सभी दुःखी न हों, इसीलिये मुझे इतनी रात्री बीत जानेपर भी आना पडा । इसके सिवाय और कोई कारण नहीं है ॥ ३२ ॥

गौतम उवाच

अकस्माच्चक्षुषः प्राप्तिर्द्युमत्सेनस्य ते पितुः।
नास्य त्वं कारणं वेत्थ सावित्री वक्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

गौतम बोले– तुम्हारे पिताको अकस्मात् ही नेत्रों की ज्योति मिल गई। इसका कारण तुम नहीं जानते । उसे शायद सावित्री बतला सकेगी ॥ ३३ ॥

श्रोतुमिच्छामि सावित्रि त्वं हि वेत्थ परावरम्।
त्वां हि जानामि सावित्रि सावित्रीमिव तेजसा ॥ ३४ ॥

हे सावित्री ! तुम इसके आदि और अन्तको जानती हो तो मैं सुनना चाहता हूँ। मैं तुमको तेजमें सावित्रीके समान ही समझता हूँ ॥ ३४ ॥

त्वमत्र हेतुं जानीषे तस्मात्सत्यं निरुच्यताम्
रहस्यं यदि ते नास्ति किंचिदत्र वदस्व नः ॥ ३५ ॥

यदि इसमें कोई गुप्त बात न हो तो तुम हमसे कहो, क्योंकि तुम इसके सब कारणोंको जानती हो, इसलिये जो कुछ भी हुआ हो उसे सच सच कहो ॥ ३५ ॥

सावित्र्युवाच

एवमेतद्यथा वेत्थ संकल्पो नान्यथा हि वः ।
न च किंचिद्रहस्यं मे श्रूयतां तथ्यमत्र यत् ॥ ३६ ॥

सावित्री बोली– हे ब्रह्मन् ! आपने जो कहा, वह सब सत्य है। आप लोगोंका सङ्कल्प झूठा नहीं है और इसमें कोई गुप्त बात भी नहीं है। मै सब सत्य सत्य कहती हूं, आप सुनिये ॥ ६३ ॥

मृत्युर्मे भर्तुराख्यातो नारदेन महात्मना ।
स चाद्य दिवसः प्राप्तस्ततो नैनं जहाम्यहम् ॥ ३७ ॥

मुझसे महात्मा नारदने मेरे पिताके घरमें कहा था, कि तुम्हारे पतिकी मृत्यु हो जायेगी । सो वह दिन आज ही था, इसलिये मैंने इनका संग नहीं छोडा ॥ ३७ ॥

सुप्तं चैनं यमः साक्षादुपागच्छत्सकिङ्करः।
स एनमनयद्बद्ध्वा दिशं पितृनिषेविताम् ॥ ३८ ॥

जब यह वनमें सो गये, तब साक्षात् यमराज अपने दूतोंके सहित इनके पास आये, और इनको पाशमें बांधके पितरोंसे सेवित दक्षिणकी ओर ले चले ॥ ३८ ॥

अस्तौषं तमहं देवं सत्येन वचसा विभुम्।
पञ्च वै तेन मे दत्ता वराः शृणुत तान्मम ॥ ३९ ॥

उसी समय मैंने सत्यवचनसे जगत् के स्वामी भगवान् यमराजकी स्तुति कि तब उन्होंने मुझको पांच वरदान दिये उन्हें आप सुनिये ॥ ३९ ॥

चक्षुषी च स्वराज्यं च द्वौ वरौ श्वशुरस्य मे।
लब्धं पितुः पुत्रशतं पुत्राणामात्मनः शतम् ॥ ४० ॥

मेरे ससुरको राज्य और नेत्र प्राप्त हों, मैंने ये दो वरदान ससुरके लिये मांगे। अपने पिताके सौ पुत्र, अपने सौ पुत्र, ये वर भी प्राप्त किये ॥ ४० ॥

चतुर्वर्षशतायुर्मे भर्ता लब्धश्च सत्यवान्।
भर्तुर्हि जीवितार्थं तु मया चीर्णं स्थिरं व्रतम् ॥ ४१ ॥

पांचवां वर मैंने अपने पतिके लिये मांगा जिससे सत्यवान्की चार सौ वर्षकी आयु हुई। मैंने अपने पतिको जिलानेके लियेही यह व्रत किया था ॥ ४१ ॥

एतत्सत्यं मयाख्यातं कारणं विस्तरेण वः।
यथा वृत्तं सुखोदर्कमिदं दुःखं महन्मम ॥ ४२ ॥

मैंने सब कारण विस्तारपूर्वक आप लोगोंसे कहा। आज मैं बहुत प्रसन्न हुई, मेरा सब दुःख नष्ट होगया ॥ ४२ ॥

ऋषय ऊचुः

निमज्जमानं व्यसनैरभिद्रुतं कुलं नरेन्द्रस्य तमोमये ह्रदे।
त्वया सुशीले धृतधर्मपुण्यया समुद्धृतं साध्वि पुनः कुलीनया ॥ ४३ ॥

ऋषि बोले— हे सुशीले! हे पतिव्रते! दुःखके कारण अन्धकारसे परिपूर्ण तालाबमें तेजीसे डूबते हुये राजाके कुलका कुलीन वंशमें उत्पन्न हुई और धर्मके आचरणसे पुण्यशालिनी बनी हुई तुमने उद्धार किया ॥ ४३ ॥

मार्कण्डेय उवाच

तथा प्रशस्य ह्यभिपूज्य चैव ते वरस्त्रियं तामृषयः समागताः ।
नरेन्द्रमामन्त्र्य सपुत्रमञ्जसा शिवेन जग्मुर्मुदिताः स्वमालयम् ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८२ ॥ ९८१५ ॥

मार्कण्डेय बोले– हे राजन् ! इस प्रकार वहां आये हुए सब मुनियोंने पतिव्रता सावित्रीकी प्रशंसा की और सत्कार किया। फिर वे सब राजा द्युमत्सेन और सत्यवान्‌की अनुमति लेकर सुखी और प्रसन्न होकर अपने अपने घरोंको चले गये ॥ ४४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ बयासीवां अध्याय समाप्त ॥ २८२ ॥ ९८१५ ॥

: २८३ :

मार्कण्डेय उवाच

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामुदिते सूर्यमण्डले ।
कृतपूर्वाह्णिकाः सर्वे समेयुस्ते तपोधना ॥ १ ॥

मार्कण्डेय बोले – हे महाराज युधिष्ठिर ! जब वह रात्रि व्यतीत होगई और सूर्य उदय हुए, तब सब मुनि अपनी पूर्वाह्णिक क्रियायें समाप्त करके राजा द्युमत्सेनके पास आये ॥ १ ॥

तदेव सर्वं सावित्र्या महाभाग्यं महर्षयः ।
द्युमत्सेनाय नातृप्यन्कथयन्तः पुनः पुनः ॥ २ ॥

वे सब महर्षि सावित्रीकी महाभाग्यशाली कथा कहते कहते तृप्त नहीं होते थे; इसलिये द्युमत्सेनसे बार बार कहते जाते थे ॥ २ ॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः शाल्वेभ्योऽभ्यागता नृप ।
आचख्युर्निहतं चैव स्वेनामात्येन तं नृपम् ॥ ३ ॥

हे राजन् ! उसी समय शाल्व देशसे राजा द्युमत्सेनकी सब प्रजायें आयीं और उनमेंसे प्रधान मन्त्रीने राजा द्युमत्सेनसे कहा, कि आपका शत्रु राजा अपनेही मन्त्रीके हाथोंसे मारा गया है ॥ ३ ॥

तं मन्त्रिणा हतं श्रुत्वा ससहायं सबान्धवम् ।
न्यवेदयन्यथातत्त्वं विद्रुतं च द्विषद्बलम् ॥ ४ ॥

उन्होंने यह भी कहा कि आपका शत्रु बन्धुबान्धव और सेनाके सहित मंत्रीके द्वारा मार दिया गया है और आपकी शत्रुसेना भाग गई है ॥ ४ ॥

ऐकमत्यं च सर्वस्य जनस्याथ नृपं प्रति।
सचक्षुर्वाप्यचक्षुर्वा स नो राजा भवत्विति ॥ ५ ॥

आपके सब मन्त्री एक मत होकर आपको ही राज्य देना चाहते हैं। वे लोग कहते हैं कि राजा द्युमत्सेन चाहे अन्धे हों चाहे नेत्रवान् हों, हम उन्हींको राजा बनावेंगे ॥ ५ ॥

अनेन निश्चयेनेह वयं प्रस्थापिता नृप।
प्राप्तानीमानि यानानि चतुरङ्गं च ते बलम् ॥ ६ ॥

हे राजन्! ऐसाही निश्चय करके हम लोग यहां आये हैं। हे महाराज! यह आपकी चतुरङ्गिणी सेना और वाहन उपस्थित हैं ॥ ६ ॥

प्रयाहि राजन्भद्रं ते घुष्टस्ते नगरे जयः।
अध्यास्स्व चिररात्राय पितृपैतामहं पदम् ॥ ७ ॥

हे राजन्! आपका कल्याण हो। नगरमें आपकी विजयकी घोषणा हो चुकी है। अब आप चलिए और चलकर बहुत दिनतक अपने पितापितामहके राज्यका उपभोग कीजिये ॥ ७ ॥

चक्षुष्मन्तं च तं दृष्ट्वा राजानं वपुषान्वितम्।
मूर्धभिः पतिताः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ ८ ॥

जब मन्त्रियोंने राजाको नेत्रवान् और तेजस्वी देखा, तब उन सब लोगोंकी आँखें विस्मयके कारण विकसित हो गईं और वे उनके चरणोंपर गिर पडे ॥ ८ ॥

ततोऽभिवाद्य तान्वृद्धान्द्विजानाश्रमवासिनः।
तैश्चाभिपूजितः सर्वैः प्रययौ नगरं प्रति ॥ ९ ॥

तब राजा द्युमत्सेनने बहुत प्रसन्न होकर आश्रममें रहनेवाले बूढे ब्राह्मणोंको प्रणाम किया और उनसे सत्कृत होकर राजा अपने मन्त्रियोंके सहित नगरकी ओर चले गये ॥ ९ ॥

शैब्या च सह सावित्र्या स्वास्तीर्णेन सुवर्चसा।
नरयुक्तेन यानेन प्रययौ सेनया वृता ॥ १० ॥

शैब्या महातेजस्विनी सावित्रीके सहित, उत्तम वस्त्र जिसमें बिछे हुए थे, और जिसे मनुष्य ढोते थे, ऐसी एक पालकीमें बैठकर सेनाके सहित चली ॥ १० ॥

ततोऽभिषिषिचुः प्रीत्या द्युमत्सेनं पुरोहिताः।
पुत्रं चास्य महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ११ ॥

नगरमें पहुंचनेके पश्चात् पुरोहितोंने प्रेमपूर्वक राजा द्युमत्सेनका अभिषेक किया और उनके पुत्र महात्मा सत्यवान्का युवराजपदपर अभिषेक किया ॥ ११ ॥

ततः कालेन महता सावित्र्याः कीर्तिवर्धनम् ।
तद्वै पुत्रशतं जज्ञे शूराणामनिवर्तिनाम् ॥ १२ ॥

बहुत समय बीतनेके पश्चात् सावित्रीके सौ पुत्र उत्पन्न हुए। वे सब अपने कुल की कीर्ति बढाने वाले, बलवान् और युद्ध करनेवाले तथा युद्धमें पीछे न हटने वाले थे ॥ १२ ॥

भ्रातृणां सोदराणां च तथैवास्याभवच्छतम् ।
मद्राधिपस्याश्वपतेर्माल्व्यां सुमहाबलम् ॥ १३ ॥

इसी प्रकार मालवदेशकी पटरानीमें मद्रदेशके राजा अश्वपतिसे सावित्रीके सौ महाबली सगे भाई पैदा हुए ॥ १३ ॥

एवमात्मा पिता माता श्वश्रूः श्वशुर एव च ।
भर्तुः कुलं च सावित्र्या सर्वं कृच्छ्रात्समुद्धृतम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार सावित्रीने पिता, माता, सास, ससुर, पति अपने और अपने पतिके कुलका दुःखसे उद्धार किया ॥ १४ ॥

तथैवैषापि कल्याणी द्रौपदी शीलसंमता ।
तारयिष्यति वः सर्वान्सावित्रीव कुलाङ्गना ॥ १५ ॥

इस प्रकार शीलवती कल्याणी उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई द्रौपदी भी सावित्रीके समान आप लोगोंके कुलका उद्धार करेगी ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स पाण्डवस्तेन अनुनीतो महात्मना ।
विशोको विज्वरो राजन्काम्यके न्यवसत्तदा ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८३ ॥
समाप्तं द्रौपदीहरणपर्व ॥ ९८३८ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् जनमेजय ! मार्कण्डेय मुनिके इसप्रकार सांत्वना प्रदान करने पर पाण्डुपुत्र महात्मा युधिष्ठिर शोक और दुःखसे रहित होकर काम्यक वनमें रहने लगे ॥ १६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ तिरसीवां अध्याय समाप्त ॥ २८३ ॥
द्रौपदीहरणपर्व समाप्त ॥ ९८३१ ॥

: २८४ :

जनमेजय उवाच

यत्तत्तदा महाब्रह्मँल्लोमशो वाक्यमब्रवीत्।
इन्द्रस्य वचनादेत्य पाण्डुपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥
यच्चापि ते भयं तीव्रं न च कीर्तयसे क्वचित्।
तच्चाप्यपहरिष्यामि सव्यसाचाविहागते ॥ २ ॥

जनमेजय बोले— हे ब्रह्मन्! इन्द्रकी आज्ञानुसार लोमश मुनिने पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरसे आकर जो महत्त्वपूर्ण वचन कहे थे कि जिसका तुम्हें अत्यधिक डर है और जिस भयको तुम किसीसे नहीं कहते हो, अर्जुनके यहां आनेपर मैं उस भयका नाश कर दूंगा ॥ १-२ ॥

किं नु तद्विदुषां श्रेष्ठ कर्णं प्रति महद्भयम्।
आसीन्न च स धर्मात्मा कथयामास कस्यचित् ॥ ३ ॥

हे विद्वानोंमें श्रेष्ठ! क्या वह महान् भय कर्णसेही था? क्या उन धर्मात्मा युधिष्ठिरने उस भयका वृत्तान्त किसीसे नहीं कहा था? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अहं ते राजशार्दूल कथयामि कथामिमाम्।
पृच्छते भरतश्रेष्ठ शुश्रूषस्व गिरं मम ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले— हे राजशार्दूल! मैं इस प्रश्नको पूछनेवाले तुमसे इस कथाको कहता हूँ, तुम ध्यान देकर मेरे वचनोंको सुनो ॥ ४ ॥

द्वादशे समतिक्रान्ते वर्षे प्राप्ते त्रयोदशे।
पाण्डूनां हितकृच्छक्रः कर्णं भिक्षितुमुद्यतः ॥ ५ ॥

जब पाण्डवोंको वनमें रहते रहते बारह वर्ष बीत गये और तेरहवां वर्ष आरंभ हुआ, तब पाण्डवोंके हित करनेवाले इन्द्रने कर्णसे भिक्षा मांगनेका विचार किया ॥ ५ ॥

अभिप्रायमथो ज्ञात्वा महेन्द्रस्य विभावसुः।
कुण्डलार्थे महाराज सूर्यः कर्णमुपागमत् ॥ ६ ॥

हे महाराज! जब सूर्यने जाना कि इन्द्र कर्णके पास कुण्डल लेने जायेंगे, तब वे सूर्यदेव कर्णके पास गये ॥ ६ ॥

महार्हे शयने वीरं स्पर्ध्यास्तरणसंवृते।
शयानमभिविश्वस्तं ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम् ॥ ७ ॥

उस समय ब्राह्मणभक्त तथा सत्यवादी वीर कर्ण महामूल्य पलंगपर उत्तम बिछौना बिछाये निश्चिन्त होकर सो रहे थे ॥ ७ ॥

स्वप्नान्ते निशि राजेन्द्र दर्शयामास रश्मिवान् ।
कृपया परयाविष्टः पुत्रस्नेहाच्च भारत ॥ ८ ॥

हे भारत ! अपने पुत्रके स्नेहके कारण दयासे युक्त होकर रातको स्वप्नके अन्तमें सूर्यने कर्णको अपने दर्शन दिए ॥ ८ ॥

ब्राह्मणो वेदविद्भूत्वा सूर्यो योगाद्धि रूपवान् ।
हितार्थमब्रवीत्कर्णं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ ९ ॥

सूर्यने योगसे परम सुन्दर वेदपाठी ब्राह्मणका रूप बनाया, और कर्णका कल्याण करनेके लिये उसे सांत्वना देते हुए यह वचन कहा ॥ ९ ॥

कर्ण मद्वचनं तात शृणु सत्यभृतां वर ।
ब्रुवतोऽद्य महाबाहो सौहृदात्परमं हितम् ॥ १० ॥

हे कर्ण ! हे तात ! हे सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ ! हे महाबाहो ! आज तुम मेरे हितकारी वचनोंको सुनो, मैं तुम्हारे प्रेमसे ही यह कहता हूँ ॥ १० ॥

उपायास्यति शक्रस्त्वां पाण्डवानां हितेप्सया ।
ब्राह्मणच्छद्मना कर्ण कुण्डलापजिहीर्षया ॥ ११ ॥

हे कर्ण ! तुम्हारे पास पाण्डवोंका कल्याण करनेकी इच्छासे इन्द्र आवेंगे । वे ब्राह्मणका छद्म रूप बनाकर तुमसे कुण्डल मांगेंगे ॥ ११ ॥

विदितं तेन शीलं ते सर्वस्य जगतस्तथा ।
यथा त्वं भिक्षितः सद्भिर्ददास्येव न याचसे ॥ १२ ॥

उन्होंने तुम्हारे और सब जगत्‌का स्वभाव जान लिया है । वे अच्छी प्रकारसे जानते हैं, कि तुम मांगनेवालेको सब कुछ दे देते हो, और किसीसे कुछ मांगते नहीं हो ॥ १२ ॥

त्वं हि तात ददास्येव ब्राह्मणेभ्यः प्रयाचितः ।
वित्तं यच्चान्यदप्याहुर्न प्रत्याख्यासि कर्हिचित् ॥ १३ ॥

हे तात ! तुम मांगनेपर ब्राह्मणको वह धन या जो भी कुछ वह मांगे, देही देते हो, कभी किसी चीजके लिए मना नहीं करते ॥ १३ ॥

तं त्वामेवंविधं ज्ञात्वा स्वयं वै पाकशासनः ।
आगन्ता कुण्डलार्थाय कवचं चैव भिक्षितुम् ॥ १४ ॥

तुम्हारा यह स्वभाव जानकर इन्द्र स्वयंही कुण्डल और कवच मांगनेके लिए तुम्हारे पास आवेंगे ॥ १४ ॥

×

तस्मै प्रयाचमानाय न देये कुण्डले त्वया ।
अनुनेयः परं शक्त्या श्रेय एतद्धि ते परम् ॥ १५ ॥

तुम माँगनेपर भी उनको कुण्डल मत देना और शक्तिके अनुसार उनको प्रसन्न कर लेना, इसीमें तुम्हारा परम कल्याण है ॥ १५ ॥

कुण्डलार्थे ब्रुवंस्तात कारणैर्बहुभिस्त्वया ।
अन्यैर्बहुविधैर्वित्तैः स निवार्यः पुनः पुनः ॥ १६ ॥
रत्नैः स्त्रीभिस्तथा भोगैर्धनैर्बहुविधैरपि ।
निदर्शनैश्च बहुभिः कुण्डलेप्सुः पुरन्दरः ॥ १७ ॥

हे तात ! जब कुण्डल पानेकी इच्छावाले इन्द्र तुम्हारे पास आयें, तो उन्हें अनेक बहाने बनाकर तथा रत्न, स्त्री, गाय तथा अन्य अनेक तरहके धनोंको देनेका लोभ दिखाकर उन्हें कवच-कुण्डलके याचनारूप कार्यसे विमुख करनेकी कोशिश करना ॥ १६-१७ ॥

यदि दास्यसि कर्ण त्वं सहजे कुण्डले शुभे ।
आयुषः प्रक्षयं गत्वा मृत्योर्वशमुपेष्यसि ॥ १८ ॥

हे कर्ण ! यदि तुम अपने जन्मके साथ उत्पन्न हुए कल्याणकारी कुण्डलोंको दे दोगे, तो तुम्हारी आयु नष्ट हो जायेगी और तुम मृत्युके अधीन जाओगे ॥ १८ ॥

कवचेन च संयुक्तः कुण्डलाभ्यां च मानद ।
अवध्यस्त्वं रणेऽरीणामिति विद्धि वचो मम ॥ १९ ॥

हे मानद ! तुम मेरे वचनोंको सच मानो कि जबतक तुम्हारे शरीरपर कवच और कुण्डल हैं, तबतक तुमको कोई शत्रु युद्धमें नहीं मार सकता ॥ १९ ॥

अमृतादुत्थितं ह्येतदुभयं रत्नसंभवम् ।
तस्माद्रक्ष्यं त्वया कर्ण जीवितं चेत्प्रियं तव ॥ २० ॥

हे कर्ण ! ये रत्नरूपी कवच और कुण्डल अमृतसे उत्पन्न हुए हैं । अतः यदि तुमको अपना जीवन प्रिय हो तो इनकी रक्षा करो ॥ २० ॥

कर्ण उवाच

को मामेवं भवान्प्राह दर्शयन्सौहृदं परम् ।
कामया भगवन्ब्रूहि को भवान्द्विजवेषधृक् ॥ २१ ॥

कर्ण बोले– हे भगवन् ! मेरे विषयमें इतनी प्रीति दिखलाते हुए मुझसे इस प्रकार बोलनेवाले आप कौन हैं ? आपने हमारे हितके वचन कहे । अब आप मुझे बताइए कि ब्राह्मणवेषधारी आप कौन हैं ॥ २१ ॥

ब्राह्मण उवाच

अहं तात सहस्रांशुः सौहृदात्त्वां निदर्शये ।
कुरुष्वैतद्वचो मे त्वमेतच्छ्रेयः परं हि ते ॥ २२ ॥

ब्राह्मण बोले– हे तात ! मैं सूर्य हूं, पुत्रस्नेहके कारण मैंने तुम्हें दर्शन दिया है । तुम मेरे कथनानुसार करो, तभी तुम्हारा कल्याण होगा ॥ २२ ॥

कर्ण उवाच

श्रेय एव ममात्यन्तं यस्य मे गोपतिः प्रभुः ।
प्रवक्ताद्य हितान्वेषी शृणु चेदं वचो मम ॥ २३ ॥

कर्ण बोले– साक्षात् सूर्य जिसके हित करनेवाले तथा हितकारी उपदेश देनेवाले तथा स्वामी हैं, ऐसे कर्णका सदा कल्याण ही है । तथापि आप मेरे इन वचनोंको सुनिये ॥२३॥

प्रसादये त्वां वरदं प्रणयाच्च ब्रवीम्यहम् ।
न निवार्यो व्रतादस्मादहं यद्यस्मि ते प्रियः ॥ २४ ॥

मैं वर देनेवाले आपकी स्तुति करता हूँ, और प्रेमपूर्वक यह कहता हूँ, कि यदि मैं आपको प्रिय हूँ, तो इस व्रतसे विमुख मत कीजिए ॥ २४ ॥

व्रतं वै मम लोकोऽयं वेत्ति कृत्स्नो विभावसो ।
यथाहं द्विजमुख्येभ्यो दद्यां प्राणानपि ध्रुवम् ॥ २५ ॥

हे सूर्य ! मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको अपने प्राण भी बिना किसी संकोचके दे सकता हूँ । इस मेरे व्रतको यह सारा संसार जानता है ॥ २५ ॥

यद्यागच्छति शक्रो मां ब्राह्मणच्छद्मनावृतः ।
हितार्थं पाण्डुपुत्राणां खेचरोत्तम भिक्षितुम् ॥ २६ ॥
दास्यामि विबुधश्रेष्ठ कुण्डले वर्म चोत्तमम् ।
न मे कीर्तिः प्रणश्येत त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ २७ ॥

हे आकाशगामियोंमें श्रेष्ठ ! यदि पाण्डवोंके कल्याणके लिए ब्राह्मणका छद्म वेष बनाकर इन्द्र मेरे पास भिक्षा मांगनेको आवेंगे, तो मैं कुण्डल और उत्तम कवचको देदूंगा । हे देवश्रेष्ठ ! मेरी यह इच्छा है, कि तीनों लोकोंमें फैले हुए मेरे इस यशका नाश न हो ॥ २६–२७ ॥

मद्विधस्यायशस्यं हि न युक्तं प्राणरक्षणम् ।
युक्तं हि यशसा युक्तं मरणं लोकसंमतम् ॥ २८ ॥

मेरे जैसे मनुष्यके लिए यशको खोकर अपने प्राणोंकी रक्षा करना योग्य नहीं है । इसके विपरीत यशके सहित मरण उत्तम है ॥ २८ ॥

सोऽहमिन्द्राय दास्यामि कुण्डले सह वर्मणा।
यदि मां बलवृत्रघ्नो भिक्षार्थमुपयास्यति ॥ २९ ॥

यदि बल और वृत्रासुरको मारनेवाले इन्द्र मेरे पास भिक्षा मांगनेको आयेंगे; तो मैं कवच और कुण्डल दे दूंगा ॥ २९ ॥

हितार्थं पाण्डुपुत्राणां कुण्डले मे प्रयाचितुम्।
तन्मे कीर्तिकरं लोके तस्याकीर्तिर्भविष्यति ॥ ३० ॥

यदि पाण्डवोंके कल्याणके निमित्त इन्द्र मुझसे कवच और कुण्डल मांगनेको आवें तो उससे मेरी बहुत कीर्ति होगी और इन्द्रकी अकीर्ति होगी ॥ ३० ॥

वृणोमि कीर्तिं लोके हि जीवितेनापि भानुमन्।
कीर्तिमानश्नुते स्वर्गं हीनकीर्तिस्तु नश्यति ॥ ३१ ॥

हे सूर्य ! मैं अपना शरीर देकर भी कीर्तिको प्राप्त करना चाहता हूं क्योंकि कीर्तिमान्को स्वर्ग मिलता है और कीर्तिहीनका नाश हो जाता है ॥ ३१ ॥

कीर्तिर्हि पुरुषं लोके संजीवयति मातृवत्।
अकीर्तिर्जीवितं हन्ति जीवतोऽपि शरीरिणः ॥ ३२ ॥

कीर्ति ही संसारमें पुरुषकी माताके समान रक्षा करती है और अपकीर्ति जीते हुए पुरुषका भी नाश कर देती है ॥ ३२ ॥

अयं पुराणः श्लोको हि स्वयं गीतो विभावसो।
धात्रा लोकेश्वर यथा कीर्तिरायुर्नरस्य वै ॥ ३३ ॥

हे सूर्य ! इस पुराने श्लोकमें साक्षात् ब्रह्माने कीर्तिको ही पुरुषकी आयु बताया है ॥ ३३ ॥

पुरुषस्य परे लोके कीर्तिरेव परायणम्।
इह लोके विशुद्धा च कीर्तिरायुर्विवर्धनी ॥ ३४ ॥

कीर्ति ही परलोकमें पुरुषका आश्रय है और इस लोकमें भी पवित्र कीर्ति आयुको बढाती है ॥ ३४ ॥

सोऽहं शरीरजे दत्त्वा कीर्तिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम्।
दत्त्वा च विधिवद्दानं ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ॥ ३५ ॥

इसलिए मैं अपने शरीरके साथ उत्पन्न हुए कवच और कुण्डलका ब्राह्मणोंके लिए विधिपूर्वक दान देकर अनन्त कीर्तिको प्राप्त करूंगा ॥ ३५ ॥

हुत्वा शरीरं संग्रामे कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
विजित्य वा परानाजौ यशः प्राप्स्यामि केवलम् ॥ ३६ ॥

घोर कर्म करके युद्धमें अपने शरीरकी आहुति दे दूंगा। फिर युद्धमें मैं सब शत्रुओंको जीतकर केवल यशको प्राप्त करूंगा ॥ ३६ ॥

भीतानामभयं दत्त्वा संग्रामे जीवितार्थिनाम् ।
वृद्धान्बालान्द्विजातींश्च मोक्षयित्वा महाभयात् ॥ ३७ ॥

जो लोग युद्धमें भयभीत होकर जीवदान मांगेंगे उन्हें अभय दूंगा, बूढे, बालक और ब्राह्मणोंको महाभयसे छुडाऊंगा ॥ ३७ ॥

प्राप्स्यामि परमं लोके यशः स्वर्भानुसूदन ।
जीवितेनापि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद्विद्धि मे व्रतम् ॥ ३८ ॥

हे राहूको मारनेवाले सूर्यदेव ! अपना जीव देकर भी यशकी रक्षा करूंगा, और इस लोकमें महान् यश प्राप्त करूंगा । यही मेरा प्रण है, यह आप जान लें ॥ ३८ ॥

सोऽहं दत्त्वा मघवते भिक्षामेतामनुत्तमाम् ।
ब्राह्मणच्छद्मिने देव लोके गन्ता परां गतिम् ॥ ३९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८४ ॥ ९८७० ॥

अतः, हे देव ! मैं ब्राह्मणके कपट वेषधारी इन्द्रको कवच और कुण्डलकी उत्तम भिक्षाको देकर परलोकरूपी उत्तम गतिको प्राप्त करूंगा ॥ ३९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ चौरासीवां अध्याय समाप्त ॥ २८४ ॥ ९८७० ॥

: २८५ :

सूर्य उवाच

माहितं कर्ण कार्षीस्त्वमात्मनः सुहृदां तथा ।
पुत्राणामथ भार्याणामथो मातुरथो पितुः ॥ १ ॥

सूर्य बोले– हे कर्ण ! तुम अपना, अपने मित्रोंका, पुत्रोंका, पत्नियोंका माताका और पिताका अहित कर्म मत करो ॥ १ ॥

शरीरस्याविरोधेन प्राणिनां प्राणभृद्वर ।
इष्यते यशसः प्राप्तिः कीर्तिश्च त्रिदिवे स्थिरा ॥ २ ॥

हे शरीरधारियोंमें श्रेष्ठ ! पुरुषको उचित है कि जो कर्म शरीरके अनुकूल हो उसीको करे, क्योंकि शरीरके रहनेसे ही इस लोकमें यशकी प्राप्ति होती है और परलोकमें वही यश स्थिर होता है ॥ २ ॥

यस्त्वं प्राणविरोधेन कीर्तिमिच्छसि शाश्वतीम् ।
सा ते प्राणान्समादाय गमिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥

तुम अपना शरीर देकर भी जो कीर्तिकी इच्छा करते हो; इससे उस कीर्तिके कारण निःसन्देह तुम्हारा शरीर नष्ट हो जायेगा ॥ ३ ॥

जीवतां कुरुते कार्यं पिता माता सुतास्तथा ।
ये चान्ये बान्धवाः केचिल्लोकेऽस्मिन्पुरुषर्षभ ।
राजानश्च नरव्याघ्र पौरुषेण निबोध तत् ॥ ४ ॥

हे पुरुपश्रेष्ठ ! जीवनके लिये पिता, माता, पुत्र आदि सब बान्धव तथा जो भी इस संसारमें रहते हैं, वे भी कार्यको करते हैं। हे नरसिंह ! राजा भी पौरुप प्रकट करके कीर्तिका लाभ करते हैं यह बात तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ ४ ॥

कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्य महाद्युते ।
मृतस्य कीर्त्या किं कार्यं भस्मीभूतस्य देहिनः ।
मृतः कीर्तिं न जानाति जीवन्कीर्तिं समश्नुते ॥ ५ ॥

परन्तु, हे महातेजस्विन् ! कीर्ति भी जीते रहनेपर ही कार्य सिद्ध कर सकती है, और मरनेके पश्चात् शरीर जल गया, तब कीर्ति किस काम आवेगी ? मरा हुआ मनुष्य कीर्त्तिको देखने नहीं आता । जीता हुआ ही कीर्तिको भोगता है ॥ ५ ॥

मृतस्य कीर्तिर्मर्त्यस्य यथा माला गतायुषः ।
अहं तु त्वां ब्रवीम्येतद्भक्तोऽसीति हितेप्सया ॥ ६ ॥

मरे हुए मनुष्यके लिए तो कीर्ति ऐसे ही है कि जैसे मरे हुएको माला पहिनाना । मैं तुमको भक्त जानकर ही ये सब हितकी बातें कह रहा हूँ ॥ ६ ॥

भक्तिमन्तो हि मे रक्ष्या इत्येतेनापि हेतुना ।
भक्तोऽयं परया भक्त्या मामित्येव महाभुज ।
ममापि भक्तिरुत्पन्ना स त्वं कुरु वचो मम ॥ ७ ॥

क्योंकि भक्तोंकी रक्षा करना मेरा काम है। हे महाभुज ! मैं तुमको अपना परम भक्त मानता हूँ, तुमको भक्त देखकर मुझमें भी भक्ति उत्पन्न हुई है, इसलिए तुम मेरे वचनोंको स्वीकार करो ॥ ७ ॥

अस्ति चात्र परं किंचिदध्यात्मं देवनिर्मितम् ।
अतश्च त्वां ब्रवीम्येतत्क्रियतामविशङ्कया ॥ ८ ॥

इसमें कुछ देवताओंकी बनाई हुई गुप्त बात भी है, इसीलिये मैं तुमसे कहता हूँ। मेरे वचनोंको विना किसी शङ्काके तुम करो ॥ ८ ॥

देवगुह्यं त्वया ज्ञातुं न शक्यं पुरुषर्षभ।
तस्मान्नाख्यामि ते गुह्यं काले वेत्स्यति तद्भवान् ॥ ९ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! तुम देवोंकी गुह्य बात नहीं जान सकते हो। इसलिए मैं तुम्हें देवोंके उस गुप्त बातको नहीं बतला रहा। तुम्हीं समयपर स्वयं जान लोगे ॥ ९ ॥

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि त्वं राधेय निबोध तत्।
मास्मै ते कुण्डले दद्या भिक्षवे वज्रपाणये ॥ १० ॥

हे राधापुत्र ! तुम मेरी बात सुनो ! मैं तुमसे बार बार वही बात कहता हूँ। तुम याचना करनेवाले वज्रधारी इन्द्रको अपने कुण्डल मत देना ॥ १० ॥

शोभसे कुण्डलाभ्यां हि रुचिराभ्यां महाद्युते।
विशाखयोर्मध्यगतः शशीव विमलो दिवि ॥ ११ ॥

हे महातेजस्वी ! इन दोनों कुण्डलोंसे तुम्हारी ऐसी शोभा होती है, जैसे विशाखाके बीचमें आकाशमें उदय हुए चन्द्रमाकी होती है ॥ ११ ॥

कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्येति विद्धि तत्।
प्रत्याख्येयस्त्वया तात कुण्डलार्थे पुरंदरः ॥ १२ ॥

तुम इस बातको निश्चयसे जान लो कि जीते हुए पुरुषकी ही कीर्ति सहायक है। इसलिये इन्द्र जब तुमसे कुण्डल लेनेको आवें, तब मना कर देना ॥ १२ ॥

शक्या बहुविधैर्वाक्यैः कुण्डलेप्सा त्वयानघ।
विहन्तुं देवराजस्य हेतुयुक्तैः पुनः पुनः ॥ १३ ॥

हे पापरहित ! जब देवराज इन्द्र तुम्हारे पास कुण्डल मांगनेको आवें, तब तुम अनेक प्रकारकी बात करके उनको कुण्डल न देना ॥ १३ ॥

उपपत्त्युपपन्नार्थैर्माधुर्यकृतभूषणैः।
पुरन्दरस्य कर्ण त्वं बुद्धिमेतामपानुद ॥ १४ ॥

हे कर्ण ! तुम मीठे, हेतुके सहित मनोहर वचनोंसे इन्द्रकी बुद्धिको अपने वशमें कर लेना और उनकी इच्छा पूरी मत करना ॥ १४ ॥

त्वं हि नित्यं नरव्याघ्र स्पर्धसे सव्यसाचिना।
सव्यसाची त्वया चैव युधि शूरः समेष्यति ॥ १५ ॥

हे पुरुषसिंह ! तुम सदा ही अर्जुनसे युद्ध करनेकी इच्छा रखते हो। वही वीर अर्जुन संग्राममें तुमसे युद्ध करनेको आयेगा ॥ १५ ॥

न तु त्वामर्जुनः शक्तः कुण्डलाभ्यां समन्वितम् ।
विजेतुं युधि यद्यस्य स्वयमिन्द्रः शरो भवेत् ॥ १६ ॥

यदि साक्षात् इन्द्र भी बाण बनकर अर्जुनके पास आ जायें तो भी अर्जुन कुण्डलोंसे युक्त रहनेपर तुमको नहीं मार सकते ॥ १६ ॥

तस्मान्न देये शक्राय त्वयैते कुण्डले शुभे ।
संग्रामे यदि निर्जेतुं कर्ण कामयसेऽर्जुनम् ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८५ ॥ ९८८७ ॥

हे कर्ण ! यदि तुम युद्धमें अर्जुनको जीतनेकी इच्छा करते हो, तो ये सुन्दर कुण्डल इन्द्रको मत देना ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ पिच्चासीवां अध्याय समाप्त ॥ २८५ ॥ ९८८७ ॥

: २८६ :

कर्ण उवाच

भगवन्तमहं भक्तो यथा मां वेत्थ गोपते ।
तथा परमतिग्मांशो नान्यं देवं कथंचन ॥ १ ॥

कर्ण बोले– हे किरणोंके स्वामिन् ! जैसा कि आप मुझे जानते हैं, मैं आपका परमभक्त हूँ । हे तेजस्वी किरणोंवाले ! जितनी भक्ति मैं आपकी करता हूँ, उतनी अन्य किसी देवकी नहीं करता ॥ १ ॥

न मे दारा न मे पुत्रा न चात्मा सुहृदो न च ।
तथेष्टा वै सदा भक्त्या यथा त्वं गोपते मम ॥ २ ॥

हे सूर्य ! इस भक्तिके कारण आप मुझे जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय मेरे लिए न स्त्री है, न पुत्र हैं, न मेरी स्वयंकी आत्मा और न मित्र हैं ॥ २ ॥

इष्टानां च महात्मानो भक्तानां च न संशयः ।
कुर्वन्ति भक्तिमिष्टां च जानीषे त्वं च भास्कर ॥ ३ ॥

जगत्की यह रीति है कि महात्मा अपने भक्तोंके ऊपर कृपा और उनका कार्य सिद्ध करते ही हैं । हे सूर्य ! आप निःसन्देह इन सब बातोंको जानते ही हैं ॥ ३ ॥

इष्टो भक्तश्च मे कर्णो न चान्यद्दैवतं दिवि ।
जानीत इति वै कृत्वा भगवानाह मद्धितम् ॥ ४ ॥

कर्ण मेरा प्यारा भक्त है । वह कभी किसी दूसरे देवताकी उपासना नहीं करता यह आप जानते हैं । इसलिये आपने यह सब हित मुझसे कहा है ॥ ४ ॥

भूयश्च शिरसा याचे प्रसाद्य च पुनः पुनः ।
इति ब्रवीमि तिग्मांशो त्वं तु मे क्षन्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

हे तिग्मांशो ! अब मैं आपके चरणोंमें सिरसे प्रणाम करता हूँ और बार बार यही वरदान मांगता हूँ कि आप मेरे इन सब अपराधोंको क्षमा कीजिये ॥ ५ ॥

बिभेमि न तथा मृत्योर्यथा बिभ्येऽनृतादहम् ।
विशेषेण द्विजातीनां सर्वेषां सर्वदा सताम् ।
प्रदाने जीवितस्यापि न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ६ ॥

मैं मृत्युसे भी इतना नहीं डरता, जितना झूठमे। विशेषकर मैं पण्डित ब्राह्मणोंसे अधिक डरता हूँ, मैं उनके लिये अपना जीव देनेमें भी कुछ विचार नहीं करता ॥ ६ ॥

यच्च मामात्थ देव त्वं पाण्डवं फल्गुनं प्रति
व्येतु संतापजं दुःखं तव भास्कर मानसम् ।
अर्जुनं प्रति मां चैव विजेष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥ ७ ॥

हे देव सूर्य ! आपने जो मुझसे पाण्डुपुत्र अर्जुनकी बात कही, उसके लिये आप अपने मनमें जरा भी दुःख न कीजिये, मैं अर्जुनको युद्धमें जीत लूंगा ॥ ७ ॥

तवापि विदितं देव ममाप्यस्त्रबलं महत् ।
जामदग्न्यादुपात्तं यत्तथा द्रोणान्महात्मनः ॥ ८ ॥

हे देव ! आप मेरे भी महान् अस्त्र बलको जानते हैं। मैंने परशुराम और महात्मा द्रोणाचार्यसे अस्त्रविद्या सीखी है ॥ ८ ॥

इदं त्वमनुजानीहि सुरश्रेष्ठ व्रतं मम ।
भिक्षते वज्रिणे दद्यामपि जीवितमात्मनः ॥ ९ ॥

हे देवश्रेष्ठ ! आप मेरे इस व्रतको जानतेही हैं । इसलिये यदि इन्द्र मेरा शरीरभी मांगेंगे तो उसेभी मैं दे दूंगा ॥ ९ ॥

सूर्य उवाच

यदि तात ददास्येते वज्रिणे कुण्डले शुभे ।
त्वमप्येनमथो ब्रूया विजयार्थं महाबल ॥ १० ॥

सूर्य बोले– हे महाबलशाली तात कर्ण ! यदि तुम अपने सुन्दर कुण्डल दो, तो उनसे अपने विजयके लिये वरदान मांग लेना ॥ १० ॥

नियमेन प्रदद्यास्त्वं कुण्डले वै शतक्रतोः ।
अवध्यो ह्यसि भूतानां कुण्डलाभ्यां समन्वितः ॥ ११ ॥

तुम इन कुण्डलों से युक्त होने के कारण प्राणियों के लिये अवध्य हो । इसलिये तुम इन्द्रको एक शर्तपर ये कुण्डल देना ॥ ११ ॥

अर्जुनेन विनाशं हि तव दानवसूदनः ।
प्रार्थयानो रणे वत्स कुण्डले ते जिहीर्षति ॥ १२ ॥

हे वत्स कर्ण ! दानवनाशक इन्द्र तुमसे कुण्डल मांग लेंगे । तुमसे कुंडल ले जाने पर अर्जुन तुमको मार सकेगा इसीलिये वे तुमसे ये कुण्डल हर लेना चाहते हैं ॥ १२ ॥

स त्वमप्येनमाराध्य सूनृताभिः पुनः पुनः ।
अभ्यर्थयेथा देवेशममोघार्थं पुरन्दरम् ॥ १३ ॥

तब तुम बार बार अच्छी बातें कहकर उन्हें प्रसन्न करना । इस प्रकार तुम अमोघ शक्तिकी प्राप्तिके लिए देवराज इन्द्रकी आराधना करना, तब तुम्हारा कल्याण होगा ॥ १३ ॥

अमोघां देहि मे शक्तिममित्रविनिबर्हिणीम् ।
दास्यामि ते सहस्राक्ष कुण्डले वर्म चोत्तमम् ॥ १४ ॥

जब इन्द्र प्रसन्न हों, तब तुम उनसे अमोघ शक्ति की याचना करना और कहना कि शत्रुओंके नाश करनेवाली अमोघशक्ति दीजिये । हे सहस्राक्ष ! तब मैं आपको अपने उत्तम कुण्डल और कवच दूँगा ॥ १४ ॥

इत्येवं नियमेन त्वं दद्याः शक्राय कुण्डले ।
तया त्वं कर्ण संग्रामे हनिष्यसि रणे रिपून् ॥ १५ ॥

हे कर्ण ! जब इन्द्र इस शर्तको मान लें, तभी तुम अपने कवच और कुण्डल देना, हे कर्ण ! उस शक्तिसे युद्धमें तुम अपने शत्रुओंका नाश करोगे ॥ १५ ॥

नाहत्वा हि महाबाहो शत्रूनेति करं पुनः ।
सा शक्तिर्देवराजस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १६ ॥

हे मह बाहा ! इन्द्रकी वह शक्ति सैकडों सहस्रों शत्रुओंको मारे विना पुनः हाथमें नहीं आती है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सहस्रांशुः सहसान्तरधीयत ।
ततः सूर्याय जप्यान्ते कर्णः स्वप्नं न्यवेदयत् ॥ १७ ॥

वैशम्पायन बोले– सूर्य कर्णसे ऐसा कहकर वहीं अन्तर्धान हो गये । तब कर्णने सन्ध्या करनेके पश्चात् सूर्य से अपने स्वप्न की बात कही ॥ १७ ॥

यथादृष्टं यथातत्त्वं यथोक्तमुभयोर्निशि ।
तत्सर्वमानुपूर्व्येण शशंसास्मै वृषस्तदा ॥ १८ ॥

तब कर्णने अपने देखे हुए स्वप्नको और रातकी बातोंको शुरुसे लेकर अन्त तक सूर्यसे कह दिया ॥ १८ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवान्देवो भानुः स्वर्भानुसूदनः ।
उवाच तं तथेत्येव कर्णं सूर्यः स्मयन्निव ॥ १९ ॥

इस सब समाचारको सुनकर राहुके जीतनेवाले भगवान् सूर्य देवने हंसकर कहा कि यह सब सत्य है ॥ १९ ॥

ततस्तत्त्वमिति ज्ञात्वा राधेयः परवीरहा ।
शक्तिमेवाभिकाङ्क्षन्वै वासवं प्रत्यपालयत् ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८६ ॥ ९९०७ ॥

शत्रुनाशी राधापुत्र कर्ण इस सबको सत्य जानकर शक्तिकी इच्छाकर इन्द्रका मार्ग देखने लगे ॥ २० ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दो सौ छियासीवां अध्याय समाप्त ॥ २८६ ॥ ९९०७ ॥

: २८७ :

जनमेजय उवाच

किं तद्गुह्यं न चाख्यातं कर्णायेहोष्णरश्मिना ।
कीदृशे कुण्डले ते च कवचं चैव कीदृशम् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे तपोधन ! वह कौनसी गुप्त बात थी जो सूर्यने कर्णसे नहीं कही ? कर्णके कुण्डल कैसे थे और वह कवच भी कैसा था ? ॥ १ ॥

कुतश्च कवचं तस्य कुण्डले चैव सत्तम ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ २ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! वह कवच और कुण्डल कहांसे उत्पन्न हुए थे ? मैं यह सब कथा सुनना चाहता हूँ, हे तपोधन ! वह मुझसे आप कहिये ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

अयं राजन्ब्रवीम्येतद्यत्तद्गुह्यं विभावसोः ।
यादृशे कुण्डले चैव कवचं चैव यादृशम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! मैं आपसे सूर्यकी गुप्त बात कहता हूं तथा कर्णके कुण्डल कैसे थे और कवच कैसा था, यह भी बताता हूँ ॥ ३ ॥

कुन्तिभोजं पुरा राजन्ब्राह्मणः समुपस्थितः।
तिग्मतेजा महाप्रांशुः श्मश्रुदण्डजटाधरः ॥ ४ ॥

हे राजन् ! पहिले समयमें राजा कुन्तिभोजके पास एक ब्राह्मण गया। वह महातेजस्वी, सुन्दर लम्बी जटा मूंछ और दण्डको धारण किये था ॥ ४ ॥

दर्शनीयोऽनवद्याङ्गस्तेजसा प्रज्वलन्निव।
मधुपिङ्गो मधुरवाक्तपःस्वाध्यायभूषणः ॥ ५ ॥

वह सुन्दर, उत्तम शरीरवाला, तेजसे प्रकाशित होता हुआ, न्यूनगौर वर्ण और मीठे वचनवाला वेदपाठी था ॥ ५ ॥

स राजानं कुन्तिभोजमब्रवीत्सुमहातपाः।
भिक्षामिच्छाम्यहं भोक्तुं तव गेहे विमत्सर ॥ ६ ॥

वह महातपस्वी ब्राह्मण राजा कुन्तिभोजसे बोला— हे छलरहित ! मैं तुम्हारे घर में भिक्षाका अन्न खाना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

न मे व्यलीकं कर्तव्यं त्वया वा तव चानुगैः।
एवं वत्स्यामि ते गेहे यदि ते रोचतेऽनघ ॥ ७ ॥

तुम अपने दासोंके सहित मेरे कहे के विपरीत कभी मत करना। हे पापरहित ! यदि तुम मेरे वचनों को स्वीकार करो, तो मैं तुम्हारे घरमें रहूँ ॥ ७ ॥

यथाकामं च गच्छेयमागच्छेयं तथैव च।
शय्यासने च मे राजन्नापराध्येत कश्चन ॥ ८ ॥

मैं अपनी इच्छानुसार बाहर जाऊँगा और इच्छानुसार आऊंगा। हे राजन् ! मेरी शय्या और आसनपर कोई वैठने न पावे ॥ ८ ॥

तमब्रवीत्कुन्तिभोजः प्रीतियुक्तमिदं वचः।
एवमस्तु परं चेति पुनश्चैनमथाब्रवीत् ॥ ९ ॥

तब राजा कुन्तिभोजने प्रसन्न होकर ब्राह्मणसे कहा—आप जैसा कहते हैं वैसा ही होगा। यह कहकर फिर वह बोले ॥ ९ ॥

मम कन्या महाब्रह्मन्पृथा नाम यशस्विनी।
शीलवृत्तान्विता साध्वी नियता न च मानिनी ॥ १० ॥

हे ब्रह्मन् ! मेरी पृथा नामक यशस्विनी कन्या है, वह बडी शीलवती, धर्मचारिणी, सती और साध्वी है ॥ १० ॥

उपस्थास्यति सा त्वां वै पूजयानवमन्य च।
तस्याश्च शीलवृत्तेन तुष्टिं समुपयास्यसि ॥ ११ ॥

वह आपकी पूजा और सत्कार करेगी। आप उसके शीलको देखकर अवश्य प्रसन्न होंगे ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु तं विप्रमभिपूज्य यथाविधि ।
उवाच कन्यामभ्येत्य पृथां पृथुललोचनाम् ॥ १२ ॥

ऐसा कहकर राजाने उस ब्राह्मणकी पूजा की और अपनी विशालनैनी कन्या कुन्तीको बुलाकर बोले ॥ १२ ॥

अयं वत्से महाभागो ब्राह्मणो वस्तुमिच्छति ।
मम गेहे मया चास्य तथेत्येवं प्रतिश्रुतम् ॥ १३ ॥

हे पुत्री ! यह महाभाग ब्राह्मण हमारे घरमें रहनेकी इच्छा करते हैं । मैंनेभी इनको यहां रखनेकी प्रतिज्ञा की है ॥ १३ ॥

त्वयि वत्से पराश्वस्य ब्राह्मणस्याभिराधनम् ।
तन्मे वाक्यं न मिथ्या त्वं कर्तुमर्हसि कर्हिचित् ॥ १४ ॥

हे पुत्री । तुम इन ब्राह्मणकी सेवा करो । तुम मेरे वचनको कभी मिथ्या न करना ॥ १४ ॥

अयं तपस्वी भगवान्स्वाध्यायनियतो द्विजः ।
यद्यद्ब्रूयान्महातेजास्तत्तद्देयममत्सरात् ॥ १५ ॥

यह तपस्वी भगवान् ब्राह्मण सदा वेदपठन में रत रहते हैं । यह तेजस्वी ब्राह्मण जो तुमसे मांगें, वह वह दे देना । कभी छल मत करना ॥ १५ ॥

ब्राह्मणा हि परं तेजो ब्राह्मणा हि परं तपः ।
ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते ॥ १६ ॥

ब्राह्मणही परम तेज है। ब्राह्मणही परम तप है । ब्राह्मणोंको नमस्कार करनेके कारण ही आकाशमें सूर्य तपता है ॥ १६ ॥

अमानयन्हि मानार्हान्वातापिश्च महासुरः ।
निहतो ब्रह्मदण्डेन तालजङ्घस्तथैव च ॥ १७ ॥

वातापि नामक दानवने मान के योग्य ब्राह्मणोंका संमान नहीं किया था, इसीसे ब्रह्मदण्डसे उसका नाश हो गया और तालजंघ भी इसी कारण नष्ट हुअ ॥ १७ ॥

सोऽयं वत्से महाभार आहितस्त्वयि सांप्रतम् ।
त्वं सदा नियता कुर्या ब्राह्मणस्याभिराधनम् ॥ १८ ॥

हे पुत्री ! मैं अब इस महाभारको तुम्हारे सिरपर रखता हूँ । तुम सावधान होकर इस ब्राह्मणकी सदा सेवा करना ॥ १८ ॥

जानामि प्रणिधानं ते बाल्यात्प्रभृति नन्दिनि ।
ब्राह्मणेष्विह सर्वेषु गुरुबन्धुषु चैव ह ॥ १९ ॥

हे नन्दिनी ! मैं ब्राह्मण, गुरु और बन्धुओंमें तुम्हारे प्रेमको बालकपनसे जानता हूँ ॥ १९ ॥

तथा प्रेष्येषु सर्वेषु मित्रसंबन्धिमातृषु ।
मयि चैव यथावत्त्वं सर्वमाहृत्य वर्तसे ॥ २० ॥

सेवक, सम्बन्धी और मित्रमें भी सदासे तुम्हारी समान प्रीति है । तुम मुझसे भी सदा आदरपूर्वक व्यवहार करती हो ॥ २० ॥

न ह्यतुष्टो जनोऽस्तीह पुरे चान्तःपुरे च ते ।
सम्यग्वृत्त्यानवद्याङ्गि तव भृत्यजनेष्वपि ॥ २१ ॥

रनवासमें और नगरमें तुमसे असन्तुष्ट कोई नहीं है । हे सुन्दरी ! सेवकों पर भी तुम्हारी समान प्रीति है ॥ २१ ॥

संदेष्टव्यां तु मन्ये त्वां द्विजातिं कोपनं प्रति ।
पृथे बालेति कृत्वा वै सुता चासि ममेति च ॥ २२ ॥

पृथे ! तुम अभी बालिका हो और मेरी पुत्री हो, इसलिये ब्राह्मणों के क्रोध के प्रति तुम्हें सावधान कर देना अपना कर्तव्य समझता हूँ ॥ २२ ॥

वृष्णीनां त्वं कुले जाता शूरस्य दयिता सुता ।
दत्ता प्रीतिमता मह्यं पित्रा बाला पुरा स्वयम् ॥ २३ ॥

तुम उत्तम वृष्णिवंशमें उत्पन्न हुई हो, और शूरसेनकी प्रिय पुत्री हो । मैं तुमसे बहुत प्रेम भी करता हूं । तुम्हारे पिताने प्रसन्न होकर तुम्हें मुझे दे दिया था ॥ २३ ॥

वसुदेवस्य भगिनी सुतानां प्रवरा मम ।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय तेनासि दुहिता मम ॥ २४ ॥

तुम वसुदेव की बहिन हो, और मेरी सब पुत्रियोंमें श्रेष्ठ हो। मैंने तुम्हारे पितासे पहिले ऐसीही प्रतिज्ञा की थी । इसलिये तुम मेरी पुत्री हो ॥ २४ ॥

तादृशे हि कुले जाता कुले चैव विवर्धिता ।
सुखात्सुखमनुप्राप्ता ह्रदाद्ध्रदमिवागता ॥ २५ ॥

तुम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई हो और उत्तम कुलमें ही तुम्हारा पालनपोषण हुआ है, एक कमलिनी जिस तरह एक तालाबसे दूसरे तालाबमें ले जाई जाती है उसी तरह तुम एक सुखसे निकालकर अन्य सुखमें लाई गई हो ॥ २५ ॥

दौष्कुलेया विशेषेण कथंचित्प्रग्रहं गताः
बालभावाद्विकुर्वन्ति प्रायशः प्रमदाः शुभे ॥ २६ ॥

हे सुन्दरी ! प्रायः स्त्रियां बालभावसे अपने किसी आग्रहके कारण दुष्टता कर बैठती हैं । परन्तु वे स्त्रियां दुष्ट कुलमें उत्पन्न हुई और बन्धनरहित होती हैं ॥ २६ ॥

पृथे राजकुले जन्म रूपं चाद्भुतदर्शनम् ।
तेन तेनासि संपन्ना समुपेता च भामिनी ॥ २७ ॥

हे पृथे ! तुम राजकुलमें उत्पन्न हुई हो और रूपभी तुम्हारा अद्भुत है, इसलिये तुम्हारे समान और कोई स्त्री चतुर नहीं है ॥ २७ ॥

सा त्वं दर्पं परित्यज्य दम्भं मानं च भामिनि ।
आराध्य वरदं विप्रं श्रेयसा योक्ष्यसे पृथे ॥ २८ ॥

इसलिये, हे भामिनी ! तुम अभिमान और छलको छोडकर वरदान देनेवाले ब्राह्मणकी सेवा करो । हे पृथे ! वर देनेवाले ब्राह्मणको प्रसन्न करके तुम कल्याणसे संयुक्त होओगी ॥ २८ ॥

एवं प्राप्स्यसि कल्याणि कल्याणमनघे ध्रुवम् ।
कोपिते तु द्विजश्रेष्ठे कृत्स्नं दह्येत मे कुलम् ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८७ ॥ ९९३६ ॥

हे कल्याणी ! ऐसा करनेसे निश्चयसे तुम्हारा कल्याण होगा । हे अनघे ! यदि यह ब्राह्मण क्रुद्ध हो जायेंगे, तो वह मेरे सब वंशको भस्म कर देंगे ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ सतासीवां अध्याय समाप्त ॥ २८७ ॥ ९९३६ ॥

२८८

कुन्त्युवाच

ब्राह्मणं यन्त्रिता राजन्नुपस्थास्यामि पूजया ।
यथाप्रतिज्ञं राजेन्द्र न च मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥

कुन्ती बोली– हे राजन् ! मैं सावधान होकर ब्राह्मणकी सेवा करूंगी । आपकी प्रतिज्ञाको कभी झूठी नहीं करूंगी, हे राजेन्द्र ! मैं यह मिथ्या नहीं कहती ॥ १ ॥

एष चैव स्वभावो मे पूजयेयं द्विजानिति ।
तव चैव प्रियं कार्यं श्रेयश्चैतत्परं मम ॥ २ ॥

मैं ब्राह्मणोंकी पूजा करूं यह मेरा स्वभावही है । उसमें भी आपका प्रिय कार्य करनेसेही मेरा कल्याण होगा ॥ २ ॥

यद्येवैष्यति सायाह्ने यदि प्रातरथो निशि ।
यद्यर्धरात्रे भगवान्न मे कोपं करिष्यति ॥ ३ ॥

चाहे ब्राह्मण दिनमें आये, चाहे रात्रिमें आये, चाहे संध्यामें आये अथवा वह आधी रात्रिहीको क्यों न आये परन्तु मैं ऐसी सेवा करूंगी कि वे मुझ पर कभी क्रोधित न होंगे ॥ ३ ॥

लाभो ममैष राजेन्द्र यद्वै पूजयती द्विजान् ।
आदेशे तव तिष्ठन्ती हितं कुर्यां नरोत्तम ॥ ४ ॥

हे राजेन्द्र ! मुझको ब्राह्मणोंकी सेवा करनेसे बहुत लाभही होगा। हे नरोत्तम ! आपकी आज्ञामें रहनेसे मैं अपना हित ही करूंगी ॥ ४ ॥

विस्रब्धो भव राजेन्द्र न व्यलीकं द्विजोत्तमः ।
वसन्प्राप्स्यति ते गेहे सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ५ ॥

हे राजेन्द्र ! आप निश्चिन्त रहिये, मैं बिना अपराधके ब्राह्मणकी सेवा करूंगी। मैं सत्य कहती हूं कि आपके घरमें रहते हुए ब्राह्मणको जराभी दुःख न होगा ॥ ५ ॥

यत्प्रियं च द्विजस्यास्य हितं चैव तवानघ ।
यतिष्यामि तथा राजन्व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ६ ॥

हे पापरहित ! जिससे ब्राह्मण प्रसन्न हो और जिससें आपका लाभ हो, मैं वैसा ही यत्न करूंगी। आप अपने मनके दुःखको दूर कीजिये ॥ ६ ॥

ब्राह्मणा हि महाभागाः पूजिताः पृथिवीपते ।
तारणाय समर्थाः स्युर्विपरीते वधाय च ॥ ७ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! महाभाग ब्राह्मण पूजा करनेसे तार सकते हैं और क्रोध करके नाश भी कर सकते हैं ॥ ७ ॥

साहमेतद्विजानन्ती तोषयिष्ये द्विजोत्तमम् ।
न मत्कृते व्यथां राजन्प्राप्स्यसि द्विजसत्तमात् ॥ ८ ॥

मैं इन सब बातोंको विचार कर ब्राह्मणश्रेष्ठ तपस्वीकी सेवा करूंगी। हे राजन् ! मेरे कारण आप इन ब्राह्मण से जरा भी दुःख नहीं पायेंगे ॥ ८ ॥

अपराधे हि राजेन्द्र राज्ञामश्रेयसे द्विजाः ।
भवन्ति च्यवनो यद्वत्सुकन्यायाः कृते पुरा ॥ ९ ॥

हे राजेन्द्र ! दूसरोंके अपराधसे भी ब्राह्मण राजाका नाश कर देते हैं। जैसे च्यवन मुनिने सुकन्याके अपराधसे राजा शर्यातीको शाप दिया था ॥ ९ ॥

नियमेन परेणाहमुपस्थास्ये द्विजोत्तमम् ।
यथा त्वया नरेन्द्रेदं भाषितं ब्राह्मणं प्रति ॥ १० ॥

मैं परम यत्न करके नियमपूर्वक ब्राह्मणकी सेवा करूंगी । हे नरेन्द्र ! जैसे तुमने ब्राह्मणसे कहा, यह सब काम वैसा ही होगा ॥ १० ॥

राजोवाच

एवमेतत्त्वया भद्रे कर्तव्यमविशङ्कया ।
मद्धितार्थं कुलार्थं च तथात्मार्थं च नन्दिनि ॥ ११ ॥

राजा बोले– हे भद्रे ! तुम इन सब कार्योंको शङ्कारहित होकर करना । हे अनिन्दिते ! इसमें तुम्हारा, मेरा और कुलका कल्याण होगा ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु तां कन्यां कुन्तिभोजो महायशाः ।
पृथां परिददौ तस्मै द्विजाय सुतवत्सलः ॥ १२ ॥

वैशम्पायन बोले– महायशस्वी पुत्र से प्रेम करने वाले राजा कुन्तिभोजने यह कहकर कन्या ब्राह्मणको दे दी, फिर राजाने ब्राह्मणसे कहा ॥ १२ ॥

इयं ब्रह्मन्मम सुता बाला सुखविवर्धिता ।
अपराध्येत यत्किंचिन्न तत्कार्यं हृदि त्वया ॥ १३ ॥

हे ब्राह्मण ! यह मेरी कन्या जन्मसे सुखमें ही पलकर बढी है, और अभी अवस्था बहुत कम है, यदि यह आपका कोई अपराध कर भी दे, तो उसे क्षमा कीजियेगा ॥ १३ ॥

द्विजातयो महाभागा वृद्धबालतपस्विषु ।
भवन्त्यक्रोधनाः प्रायो विरुद्धेष्वपि नित्यदा ॥ १४ ॥

महाभाग ब्राह्मण बूढे, बालक और तपस्वियोंपर प्रायः हमेशा अपराध करनेपर भी क्रोध नहीं किया करते ॥ १४ ॥

सुमहत्यपराधेऽपि क्षान्तिः कार्या द्विजातिभिः ।
यथाशक्ति यथोत्साहं पूजा ग्राह्या द्विजोत्तम ॥ १५ ॥

हे द्विजोत्तम ! ब्राह्मणोंको चाहिये कि चाहे कोई कैसाही अपराध करे, उस पर शान्ति रक्खें और उत्साह तथा शक्तिके अनुसार पूजा ग्रहण करें ॥ १५ ॥

तथेति ब्राह्मणेनोक्ते स राजा प्रीतमानसः ।
हंसचन्द्रांशुसंकाशं गृहमस्य न्यवेदयत् ॥ १६ ॥

जब ब्राह्मणने कहा ‘ बहुत अच्छा ’ तब राजाने प्रसन्न होकर हंस और चन्द्रमाकी किरणोंके समान सफेद घर ब्राह्मणको दिया ॥ १६ ॥

×

तत्राग्निशरणे क्लृप्तमासनं तस्य भानुमत्।
आहारादि च सर्वं तत्तथैव प्रत्यवेदयत् ॥ १७ ॥

उस स्थानमें अग्निशालामें उज्ज्वल आसन और आहारादिकी सब वस्तुयें कुन्तीने उपस्थित कर दीं ॥ १७ ॥

निक्षिप्य राजपुत्री तु तन्द्रीं मानं तथैव च।
आतस्थे परमं यत्नं ब्राह्मणस्याभिराधने ॥ १८ ॥

राजपुत्रीने आलस और अभिमानको छोडकर ब्राह्मणकी बडे यत्नके साथ सेवा करनी आरंभ की ॥ १८ ॥

तत्र सा ब्राह्मणं गत्वा पृथा शौचपरा सती।
विधिवत्परिचारार्हं देववत्पर्यतोषयत् ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८८ ॥ ९९५५ ॥

कुन्तीने बहुत शुद्ध होकर सेवाके योग्य ब्राह्मणकी देवताके समान विधिपूर्वक सेवा की और उसे प्रसन्न किया ॥ १९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दो सौ अट्ठासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २८८ ॥ ९९५५ ॥

: २८९ :

वैशम्पायन उवाच

सा तु कन्या महाराज ब्राह्मणं संशितव्रतम्।
तोषयामास शुद्धेन मनसा संशितव्रता ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन्! उस व्रत करनेवाले ब्राह्मणको उस व्रतशीला कन्याने शुद्ध मनसे सेवा करके प्रसन्न किया ॥ १ ॥

प्रातरायास्य इत्युक्त्वा कदाचिद्द्विजसत्तमः।
तत आयाति राजेन्द्र सायें रात्रावथो पुनः ॥ २ ॥

वह ब्राह्मण कभी यह कहकर कि 'मैं प्रातःकालही आऊंगा', सन्ध्याको वा रात्रीको आता था ॥ २ ॥

तं च सर्वासु वेलासु भक्ष्यभोज्यप्रतिश्रयैः।
पूजयामास सा कन्या वर्धमानैस्तु सर्वदा ॥ ३ ॥

परन्तु सब समयमें खाने वा पीने योग्य भोजन वह कन्या तैय्यार रखती थी और उस ब्राह्मणका सम्मान करती थी ॥ ३ ॥

अन्नादिसमुदाचारः शय्यासनकृतस्तथा ·
दिवसे दिवसे तस्य वर्धते न तु हीयते ॥ ४ ॥

अन्नादिक तथा शय्या और आसन आदि सेवा करनेमें उस कन्याकी श्रद्धा प्रतिदिन बढती जाती थी, कम नहीं होती थी ॥ ४ ॥

निर्भर्त्सनापवादैश्च तथैवाप्रियया गिरा।
ब्राह्मणस्य पृथा राजन्न चकाराप्रियं तदा ॥ ५ ॥

हे राजन ! ब्राह्मणकी डांटकर फटकार, निन्दा तथा अप्रिय वचन सुनकर भी कुन्तीने कभी ब्राह्मणका अनादर नहीं किया ॥ ५ ॥

व्यस्ते काले पुनश्चैति न चैति बहुशो द्विजः।
दुर्लभ्यमपि चैवान्नं दीयतामिति सोऽब्रवीत् ॥ ६ ॥

कभी वह ब्राह्मण समयपर आता था और कभी समयपर नहीं भी आता था और कभी कभी वह " बहुत दुर्लभ अन्न मुझे दो " इस प्रकार कहता था ॥ ६ ॥

कृतमेव च तत्सर्वं पृथा तस्मै न्यवेदयत्।
शिष्यवत्पुत्रवच्चैव स्वसृवच्च सुसंयता ॥ ७ ॥

जो वह मांगता था, वह सब बना हुआ पाता था। कुन्तीने उसकी शिष्याके समान, पुत्रके तुल्य अथवा भगिनीके समान सेवा की ॥ ७ ॥

यथोपजोषं राजेन्द्र द्विजातिप्रवरस्य सा।
प्रीतिमुत्पादयामास कन्या यत्नैरनिन्दिता ॥ ८ ॥

हे राजेन्द्र ! मनकी इच्छाके अनुसार ब्राह्मणको निन्दारहित कुन्तीने महान् प्रयत्नोंसे प्रसन्न किया ॥ ८ ॥

तस्यास्तु शीलवृत्तेन तुतोष द्विजसत्तमः।
अवधानेन भूयोऽस्य परं यत्नमथाकरोत् ॥ ९ ॥

वह ब्राह्मणश्रेष्ठ कुन्तीके शील और व्रतसे प्रसन्न हुआ, और बडे यत्नसे उसके कल्याणकी चिन्ता करने लगा ॥ ९ ॥

तां प्रभाते च सायं च पिता पप्रच्छ भारत।
अपि तुष्यति ते पुत्रि ब्राह्मणः परिचर्यया ॥ १० ॥

हे भारत ! कुन्तीका पिता रोज सन्ध्यासमय और प्रातःकाल पूछता था कि हे पुत्री ! तुम्हारी सेवासे ब्राह्मण प्रसन्न हैं या नहीं ? ॥ १० ॥

तं सा परममित्येव प्रत्युवाच यशस्विनी ।
ततः प्रीतिमवापाग्र्यां कुन्तीभोजो महामनाः ॥ ११ ॥

यशस्विनी कुन्ती अपने पिता राजा कुन्तिभोजसे यही कह देती थी कि ब्राह्मण बहुत प्रसन्न है इसप्रकार महामनस्वी कुन्तीभोज भी बहुत प्रसन्न हुए ॥ ११ ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे यदासौ जपतां वरः ।
नापश्यद्दुष्कृतं किंचित्पृथायाः सौहृदे रतः ॥ १२ ॥

इस प्रकारसे जब एक वर्ष पूरा होगया, और जपकरनेवालोंमें श्रेष्ठ तथा प्रेममें रत उस ब्राह्मणने कुन्तीका कोई दोष न देखा ॥ १२ ॥

ततः प्रीतमना भूत्वा स एनां ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
प्रीतोऽस्मि परमं भद्रे परिचारेण ते शुभे ॥ १३ ॥

तब प्रसन्न हुए मनवाले ब्राह्मणने उससे कहा– हे कल्याणी ! मैं तुम्हारी सेवासे बहुत प्रसन्न हूं ॥ १३ ॥

वरान्वृणीष्व कल्याणि दुरापान्मानुषैरिह ।
यैस्त्वं सीमन्तिनीः सर्वा यशसाभिभविष्यसि ॥ १४ ॥

हे कल्याणि ! इस संसारमें मनुष्योंके लिए अलभ्य वरोंको मांगो । जिन वरोंको पाकर तुम अपने यशसे सारी स्त्रियोंको मात कर दोगी ॥ १४ ॥

कुन्त्युवाच

कृतानि मम सर्वाणि यस्या मे वेदवित्तम ।
त्वं प्रसन्नः पिता चैव कृतं विप्र वरैर्मम ॥ १५ ॥

कुन्ती बोली– हे वेदके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ ! जो तुम और मेरे पिता प्रसन्न हुए, तो मेरे सब कार्य सिद्ध हो गए, अब मुझे वरोंकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ १५ ॥

ब्राह्मण उवाच

यदि नेच्छसि भद्रे त्वं वरं मत्तः शुचिस्मिते ।
इमं मन्त्रं गृहाण त्वमाह्वानाय दिवौकसाम् ॥ १६ ॥

ब्राह्मण बोला– हे सुहासिनि ! जो तुम मुझसे वर मांगना नहीं चाहती हो, तो देवताओंके बुलानेके लिए यह मन्त्र देता हूं, इसे ग्रहण करो ॥ १६ ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
तेन तेन वशे भद्रे स्थातव्यं ते भविष्यति ॥ १७ ॥

हे कल्याणी ! इस मन्त्रसे तुम जिस जिस देवताको बुलाओगी, वही वही तुम्हारे वशमें हो जायेगा ॥ १७ ॥

अकामो वा सकामो वा न स नैष्यति ते वशम् ।
विबुधो मन्त्रसंशान्तो वाक्ये भृत्य इवानतः ॥ १८ ॥

इस मंत्र से जिस देवताको भी बुलाओगी उसकी आनेकी इच्छा चाहे हो या न हो वह अवश्य आएगा । वही इस मन्त्रके प्रतापसे तुम्हारा सेवकसा हो जायेगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

न शशाक द्वितीयं सा प्रत्याख्यातुमनिन्दिता ।
तं वै द्विजातिप्रवरं तदा शापभयान्नृप ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोले– उन श्रेष्ठ ब्राह्मणके शापके भयसे दूसरी बार अनिन्दिता कुन्ती उनसे मना न कर सकी ॥ १९ ॥

ततस्तामनवद्याङ्गीं ग्राहयामास वै द्विजः ।
मन्त्रग्रामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम् ॥ २० ॥

तब उस ब्राह्मणने उत्तम अङ्गवाली कुन्तीको अथर्ववेदमें लिखे हुये मन्त्रोंका उपदेश किया ॥ २० ॥

तं प्रदाय तु राजेन्द्र कुन्तिभोजमुवाच ह ।
उषितोऽस्मि सुखं राजन्कन्यया परितोषितः ॥ २१ ॥

हे राजेन्द्र ! कुन्तीको मन्त्रका उपदेश करके राजा कुन्तिभोजसे ब्राह्मणने कहा- मैं तुम्हारी कन्याकी सेवासे बहुत सुखी रहा ॥ २१ ॥

तव गेहे सुविहितः सदा सुप्रतिपूजितः ।
साधयिष्यामहे तावदित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ २२ ॥

तुम्हारे घरमें हमेशा पूजित होकर सुखी रहा, इसीकारणसे तुम्हारे घरमें कल्याण होगा, यह कहकर वह ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान होगया ॥ २२ ॥

स तु राजा द्विजं दृष्ट्वा तत्रैवान्तर्हितं तदा ।
बभूव विस्मयाविष्टः पृथां च समपूजयत् ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८९ ॥ ९९७८ ॥

राजा कुन्तीभोज उसको वहीं अंतर्धान हुआ देखकर बहुत आश्चर्य करने लगे, और उन्होंने कुन्तीकी प्रशंसा की ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ नवासीवां अध्याय समाप्त ॥ २८९ ॥ ९९७८ ॥

: २९० :

वैशम्पायन उवाच

गते तस्मिन्द्विजश्रेष्ठे कस्मिंश्चित्कालपर्यये ।
चिन्तयामास सा कन्या मन्त्रग्रामबलाबलम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– जब वह ब्राह्मणश्रेष्ठ चला गया, तब कुन्तीने कुछ समयके बाद उस दिये हुए मन्त्रके बलाबलका विचार किया ॥ १ ॥

अयं वै कीदृशस्तेन मम दत्तो महात्मना ।
मन्त्रग्रामो बलं तस्य ज्ञास्ये नातिचिरादिव ॥ २ ॥

उस महात्माने मुझे यह मन्त्र कैसा दिया है ? इसके बलको शीघ्रही जानूंगी ॥ २ ॥

एवं संचिन्तयन्ती सा ददर्शर्तुं यदृच्छया ।
व्रीडिता साभवद्बाला कन्याभावे रजस्वला ॥ ३ ॥

इस प्रकारसे जब कुन्ती सोच रही थी, उसी समय उसको अचानक रजस्वलापन जान पडा। कन्यावस्थामें अपना ऋतुकाल देखकर वह बहुत लज्जित हुई ॥ ३ ॥

अथोद्यन्तं सहस्रांशुं पृथा दीप्तं ददर्श ह ।
न ततर्प च रूपेण भानोः संध्यागतस्य सा ॥ ४ ॥

उस समय संध्या करती हुई पृथाने उदय होते हुए तेजस्वी सहस्रांशु सूर्य को देखा और उस सूर्यके रूपको देखकर वह तृप्त नहीं हुई ॥ ४ ॥

तस्या दृष्टिरभूद्दिव्या सापश्यद्दिव्यदर्शनम् ।
आमुक्तकवचं देवं कुण्डलाभ्यां विभूषितम् ॥ ५ ॥

कुन्तीकी दृष्टि दिव्य होगई, तब उसने कुण्डल और कवचसे भूषित दिव्य दर्शनवाले सूर्यदेवको प्रत्यक्ष रूपसे देखा ॥ ५ ॥

तस्याः कौतूहलं त्वासीन्मन्त्रं प्रति नराधिप ।
आह्वानमकरोत्साथ तस्य देवस्य भामिनी ॥ ६ ॥

हे राजन् ! उस मंत्रके प्रति कुन्तीके मनमें पहलेसे ही कौतूहल था, इसलिये उस सुन्दरीने सूर्यदेवका ही आह्वान किया ॥ ६ ॥

प्राणानुपस्पृश्य तदा आजुहाव दिवाकरम् ।
आजगाम ततो राजंस्त्वरमाणो दिवाकरः ॥ ७ ॥

कुन्तीने प्रणाम करके सूर्यके नामकी आहुति दी; तब, हे राजन् ! बहुत शीघ्रताके साथ सूर्य वहां आ गये ॥ ७ ॥

मधुपिङ्गो महाबाहुः कम्बुग्रीवो हसन्निव ।
अङ्गदी बद्धमुकुटो दिशः प्रज्वालयन्निव ॥ ८ ॥

पिङ्गल वर्ण, शंखके समान कण्ठवाले, महाबाहु, आभूषण पहिने, बाजूबन्द तथा मुकुट बांधे हुए अपने तेजसे दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे ॥ ८ ॥

योगात्कृत्वा द्विधात्मानमाजगाम तताप च ।
आबभाषे ततः कुन्तीं साम्ना परमवल्गुना ॥ ९ ॥

योगसे अपने दो स्वरूप बनाकर सूर्यदेव कुन्तीके पास आये, और कुन्तीसे बहुत ही मीठी वाणीसे शान्तिपूर्वक ऐसे वचन बोले ॥ ९ ॥

आगतोऽस्मि वशं भद्रे तव मन्त्रबलात्कृतः ।
किं करोम्यवशो राज्ञि ब्रूहि कर्ता तदस्मि ते ॥ १० ॥

हे कल्याणी ! मैं मन्त्रके प्रतापसे खिंचकर तुम्हारे वशमें होकर यहां आया हूं, तुम जो भी कहोगी, उसे मुझे विवश होकर करना पडेगा ॥ १० ॥

कुन्त्युवाच

गम्यतां भगवंस्तत्र यतोऽसि समुपागतः ।
कौतूहलात्समाहूतः प्रसीद भगवन्निति ॥ ११ ॥

कुन्ती बोली– हे भगवन् ! आप जहांसे आए हैं वहीं चले जाइये । मैंने कौतूहलके कारण आपको बुला लिया था । हे भगवन् ! आप मुझपर कृपा कीजिये ॥ ११ ॥

सूर्य उवाच

गमिष्येऽहं यथा मां त्वं ब्रवीषि तनुमध्यमे ।
न तु देवं समाहूय न्याय्यं प्रेषयितुं वृथा ॥ १२ ॥

सूर्य बोले– हे कृशकमरवाली ! जैसा तुम कहती हो, मैं वैसेही चला जाऊंगा । किन्तु देवताको एक बार बुलाकर उसे वृथा लौटा देना अच्छा नहीं ॥ १२ ॥

तवाभिसन्धिः सुभगे सूर्यात्पुत्रो भवेदिति ।
वीर्येणाप्रतिमो लोके कवची कुण्डलीति च ॥ १३ ॥

हे कल्याणि ! सूर्यके वीर्यसे कवच कुण्डल धारण किये, अनुपम वीर्यवाला तुम्हारा पुत्र हो, यह तुम्हारी इच्छा थी ॥ १३ ॥

सा त्वमात्मप्रदानं वै कुरुष्व गजगामिनि ।
उत्पत्स्यति हि पुत्रस्ते यथासंकल्पमङ्गने ॥ १४ ॥

हे हाथीके समान चालवाली ! तुम मुझे यह आत्मदान दो । हे सुन्दरी ! तुम्हारी इच्छाके अनुसार ही तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होगा ॥ १४ ॥

अथ गच्छाम्यहं भद्रे त्वयासंगम्य सुस्मिते ।
शप्स्यामि त्वामहं क्रुद्धो ब्राह्मणं पितरं च ते ॥ १५ ॥

हे चारुहासिनि ! मैं तुम्हारे साथ समागम करके चला जाऊंगा, अन्यथा क्रुद्ध होकर मैं तुम्हें, ब्राह्मणको और तुम्हारे पिताको शाप दूंगा ॥ १५ ॥

त्वत्कृते तान्प्रधक्ष्यामि सर्वानपि न संशयः ।
पितरं चैव ते मूढं यो न वेत्ति तवानयम् ॥ १६ ॥

और निस्सन्देह तुम्हारे कारण उन सबको भस्म कर दूंगा । तुम्हारे मूर्ख पिताको भी जो तुम्हारे इस अन्यायको नहीं जानता, भस्म कर दूंगा ॥ १६ ॥

तस्य च ब्राह्मणस्याद्य योऽसौ मन्त्रमदात्तव ।
शीलवृत्तमविज्ञाय धास्यामि विनयं परम् ॥ १७ ॥

तुम्हारे शील, स्वभाव और उत्तम विनयका विचार न करके जिसने तुम्हें यह मंत्र दिया उस ब्राह्मणको भस्म कर दूंगा ॥ १७ ॥

एते हि विबुधाः सर्वे पुरन्दरमुखा दिवि ।
त्वया प्रलब्धं पश्यन्ति स्मयन्त इव भामिनि ॥ १८ ॥

स्वर्गमें बैठे हुए इन्द्रादि देवता तुमसे ठगे जानेके कारण, हे भामिनि ! मेरी तरफ मुस्कराते हुए देख रहे हैं ॥ १८ ॥

पश्य चैनान्सुरगणान्दिव्यं चक्षुरिदं हि ते ।
पूर्वमेव मया दत्तं दृष्टवत्यसि येन माम् ॥ १९ ॥

हे भामिनी ! तुम इन्द्रादिक देवोंको स्वर्गमें देखो । मैंने दिव्यदृष्टि तुमको प्रथमही दे दी है जिससे तुमने मुझे देखा था ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽपश्यत्त्रिदशान्राजपुत्री सर्वानेव स्वेषु धिष्ण्येषु खस्थान् ।
प्रभासन्तं भानुमन्तं महान्तं यथादित्यं रोचमानं तथैव ॥ २० ॥

वैशम्पायन बोले– तब राजपुत्री कुन्तीने आकाशमें अपने अपने विमानोंमें बैठे हुए सूर्यके समान प्रकाशयुक्त तेजस्वी महान् देवोंको देखा ॥ २० ॥

सा तान्दृष्ट्वा व्रीडमानेव बाला सूर्यं देवी वचनं प्राह भीता ।
गच्छ त्वं वै गोपते स्वं विमानं कन्याभावाद्दुःख एषोपचारः ॥ २१ ॥

उनको देखकर कुन्ती लज्जित हुई और भयभीत होकर सूर्यसे ऐसे वचन बोली– हे गोपते ! आप अपने विमानमें चले जाइये, मैंने बालभावसे आपका यह दुःखदायक अपराध किया है ॥२१ ॥

पिता माता गुरवश्चैव येऽन्ये देहस्यास्य प्रभवन्ति प्रदाने ।
नाहं धर्मं लोपयिष्यामि लोके स्त्रीणां वृत्तं पूज्यते देहरक्षा ॥ २२ ॥

माता, पिता तथा और बडे लोग इस शरीरको दान करनेमें समर्थ होते हैं। मैं धर्मका नाश नहीं कर सकती हूं। स्त्रियोंका परम धर्म अपनी देहकी रक्षा करना ही है ॥ २२ ॥

मया मन्त्रबलं ज्ञातुमाहूतस्त्वं विभावसो ।
बाल्याद्बालेति कृत्वा तत्क्षन्तुमर्हसि मे विभो ॥ २३ ॥

हे सूर्य! मैंने बालस्वभावसे मन्त्रका बल जाननेके लिये आपको बुलाया था। अतः आप मुझे बालिका जान कर क्षमा कीजिये ॥ २३ ॥

सूर्य उवाच

बालेति कृत्वानुनयं तवाहं ददानि नान्यानुनयं लभेत ।
आत्मप्रदानं कुरु कुन्तिकन्ये शान्तिस्तवैवं हि भवेच्च भीरु ॥ २४ ॥

सूर्य बोले— मैं तुम्हें बालिका समझकर ही तुमसे अनुनय विनय कर रहा हूँ। कोई दूसरा इस प्रकार मुझसे विनय नहीं प्राप्त कर सकता। हे कुन्तिभोजकी कन्ये! तुम मुझे अपना दान करो। हे भीरु! इसीसे तुमको शान्ति प्राप्त होगी ॥ २४ ॥

न चापि युक्तं गन्तुं हि मया मिथ्याकृतेन वै ।
गमिष्याम्यनवद्याङ्गि लोके समवहास्यताम् ।
सर्वेषां विबुधानां च वक्तव्यः स्यामहं शुभे ॥ २५ ॥

हे अनिन्दित अंगोंवाली! बिना अपने कार्य को सिद्ध किए मेरा वृथा लौट जाना ठीक नहीं है। मैं अपने लोकमें जाकर सब देवोंके हंसी का पात्र बनूंगा और सब विद्वान् मेरे विषय में चर्चा करेंगे ॥ २५ ॥

सा त्वं मया समागच्छ पुत्रं लप्स्यसि मादृशम् ।
विशिष्टा सर्वलोकेषु भविष्यसि च भामिनि ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९० ॥ १०००४ ॥

इसलिये, हे भामिनि! तुम मुझसे सङ्गम करो, ऐसा करनेसे तुम्हारे मेरेही समान पुत्र उत्पन्न होगा और सब लोकमें तुम्हारी कीर्ति होगी ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दो सौ नव्वेवां अध्याय समाप्त ॥ २९० ॥ १०००४ ॥

: २९१ :

वैशम्पायन उवाच

सा तु कन्या बहुविधं ब्रुवन्ती मधुरं वचः।
अनुनेतुं सहस्रांशुं न शशाक मनस्विनी ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– वह मनस्विनी कन्या अनेक भांतिके मीठे वचन कह कर के भी सूर्यको प्रसन्न न कर सकी ॥ १ ॥

न शशाक यदा बाला प्रत्याख्यातुं तमोनुदम्।
भीता शापात्ततो राजन्दध्यौ दीर्घमथान्तरम् ॥ २ ॥

जब अन्धकारको निवारण करनेवाले सूर्यको मना न कर सकी, तब सूर्य के शापसे डरी कुन्तीने दीर्घकालतक मन ही मनमें सोचा ॥ २ ॥

अनागसः पितुः शापो ब्राह्मणस्य तथैव च।
मन्निमित्तः कथं न स्यात्क्रुद्धादस्माद्विभावसोः ॥ ३ ॥

(उसने सोचा) मैं ऐसा कौनसा उपाय करूं ? जिससे मेरे कारण ये सूर्यदेव मेरे निरपराध पिता और ब्राह्मणको शाप न दें ॥ ३ ॥

बालेनापि सता मोहाद् भृशं सापह्नवान्यपि।
नात्यासादयितव्यानि तेजांसि च तपांसि च ॥ ४ ॥

बालकको भी चाहिये कि वह मोहसे भी अत्यन्त तेजस्वी और तपस्वी लोगों का अतिक्रमण न करे ॥ ४ ॥

साहमद्य भृशं भीता गृहीता च करे भृशम्।
कथं त्वकार्यं कुर्यां वै प्रदानं ह्यात्मनः स्वयम् ॥ ५ ॥

मैं अत्यन्त भयभीत होकर सूर्यदेवके हाथमें पड गई हूँ। पर मैं आत्मसमर्पणरूप इस न करने योग्य कार्य को किस तरह करूं ? ॥ ५ ॥

सैवं शापपरित्रस्ता बहु चिन्तयती तदा।
मोहेनाभिपरीताङ्गी स्मयमाना पुनः पुनः ॥ ६ ॥

वह कन्या शापके भयसे व्याकुल, मोहसे भरी, लज्जित होके बारबार विचार करने लगी॥ ६॥

तं देवमब्रवीद्भीता बन्धूनां राजसत्तम।
व्रीडाविह्वलया वाचा शापत्रस्ता विशां पते ॥ ७ ॥

हे राजश्रेष्ठ ! वह सूर्यके शापसे भयभीत तथा बन्धुओंसे भी भयभीत होकर लज्जा से व्याकुल वाणी से सूर्यदेवसे बोली ॥ ७ ॥

कुन्त्युवाच

पिता मे ध्रियते देव माता चान्ये च बान्धवाः ।
न तेषु ध्रियमाणेषु विधिलोपो भवेदयम् ॥ ८ ॥

कुन्ती बोली– हे देव ! मेरे पिता, माता और बन्धु बान्धव अभी जीते हैं, उनके जीवित रहते हुए मेरा यह आत्मसमर्पण करना धर्मका लोप करनेवाला होगा ॥ ८ ॥

त्वया मे संगमो देव यदि स्याद्विधिवर्जितः ।
मन्निमित्तं कुलस्यास्य लोके कीर्तिर्नशेत्ततः ॥ ९ ॥

यदि विधिको छोडकर मैं आपसे संगम करूं, तो मेरे कारण इस कुल की कीर्तिका नाश हो जायेगा ॥ ९ ॥

अथ वा धर्ममेतं त्वं मन्यसे तपतां वर ।
ऋते प्रदानाद्बन्धुभ्यस्तव कामं करोम्यहम् ॥ १० ॥

अथवा, हे तपनेवालों में श्रेष्ठ ! यदि तुम इसको धर्म मानते हो, तो बिना बांधवों की आज्ञाके ही मैं आपकी अभिलाषा पूरी करूंगी ॥ १० ॥

आत्मप्रदानं दुर्धर्ष तव कृत्वा सती त्वहम् ।
त्वयि धर्मो यशश्चैव कीर्तिरायुश्च देहिनाम् ॥ ११ ॥

हे उल्लंघन करनेके अयोग्य देव ! आत्मप्रदान करनेके बावजूद भी मेरा सतीत्व अक्षुण्ण रह सकता है ? प्राणियोंका धर्म, यश कीर्ति और आयु आप ही में स्थिर हैं ॥ ११ ॥

सूर्य उवाच

न ते पिता न ते माता गुरवो वा शुचिस्मिते ।
प्रभवन्ति वरारोहे भद्रं ते शृणु मे वचः ॥ १२ ॥

सूर्य बोले– हे मन्द हंसनेवाली ! सुन्दर मुखवाली ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारे माता पिता और गुरु भी तुम्हें इस कार्यसे रोकनेमें समर्थ नहीं हैं । मेरी बात सुनो ॥ १२ ॥

सर्वान्कामयते यस्मात्कनेर्धातोश्च भामिनि ।
तस्मात्कन्येह सुश्रोणि स्वतन्त्रा वरवर्णिनि ॥ १३ ॥

हे भामिनि ! "कन्" धातुसे बनी हुई कन्या सभी की कामना करती है । इसीकारण, हे उत्तम जांघोंवाली सुन्दरी ! कन्या यहां अपने पतिको चुननेमें स्वतंत्र है ॥ १३ ॥

नाधर्मश्चरितः कश्चित्त्वया भवति भामिनि ।
अधर्मं कुत एवाहं चरेयं लोककाम्यया ॥ १४ ॥

हे उत्तम वर्णवाली ! जो तुम काम करोगी वह अधर्म नहीं होगा, क्योंकि सांसारिक विषयकी कामनासे भला मैं ही किस तरह अधर्मका आचरण कर सकता हूँ ? ॥ १४ ॥

अनावृताः स्त्रियः सर्वा नराश्च वरवर्णिनि।
स्वभाव एष लोकानां विकारोऽन्य इति स्मृतः ॥ १५ ॥

हे सुन्दरी! मेरे लिए सभी स्त्रियां और पुरुष आवरणरहित हैं क्योंकि मैं सबका साक्षी हूँ। बाकीके जो विकार हैं, वे अन्य साधारण मनुष्योंके स्वभाव हैं ॥ १५ ॥

सा मया सह संगम्य पुनः कन्या भविष्यसि।
पुत्रश्च ते महाबाहुर्भविष्यति महायशाः ॥ १६ ॥

तुम मुझसे संगम करके फिर कन्या हो जाओगी और तुम्हारा पुत्र भी बडा बलवान् और कीर्तिमान् हो ॥ १६ ॥

कुन्त्युवाच

यदि पुत्रो मम भवेत्त्वत्तः सर्वतमोपह।
कुण्डली कवची शूरो महाबाहुर्महाबलः ॥ १७ ॥

कुन्ती बोली– हे अन्धकारके दूर करनेवाले! यदि आपसे मेरा एक पुत्र हो तो वह कुण्डल कवच धारण किये हुए महाशूरवीर, महाबाहु और महाबलशाली हो ॥ १७ ॥

सूर्य उवाच

भविष्यति महाबाहुः कुण्डली दिव्यवर्मभृत्।
उभयं चामृतमयं तस्य भद्रे भविष्यति ॥ १८ ॥

सूर्य बोले– हे कल्याणी! तुम्हारा पुत्र बडा बलवान् और कुण्डल तथा दिव्य कवच धारण किये होगा। उसके कवच और कुण्डल ये दोनों अमृतमय होंगे। ॥ १८ ॥

कुन्त्युवाच

यद्येतदमृतादस्ति कुण्डले वर्म चोत्तमम्।
मम पुत्रस्य यं वै त्वं मत्त उत्पादयिष्यसि ॥ १९ ॥
अस्तु मे संगमो देव यथोक्तं भगवंस्त्वया।
त्वद्वीर्यरूपसत्त्वौजा धर्मयुक्तो भवेत्स च ॥ २० ॥

कुन्ती बोली– जिसे तुम मुझसे उत्पन्न करोगे, उस मेरे पुत्रके दोनों कुण्डल तथा उत्तम कवच अमृतसे उत्पन्न होनेवाले हों; तो, हे भगवन्! जैसा आपने कहा वैसेही मेरे साथ सङ्गम कीजिये। और वह मेरा पुत्र रूप और तेजमें आपके समान तथा धर्मात्मा हो ॥ १९-२० ॥

सूर्य उवाच

अदित्या कुण्डले राज्ञि दत्ते मे मत्तकाशिनि ।
तेऽस्य दास्यामि वै भीरु वर्म चैवेदमुत्तमम् ॥ २१ ॥

सूर्य बोले– हे यौवनके मदसे चमकनेवाली भीरु राजकुमारी ! अदितीने मुझे प्रकाशयुक्त कुण्डल दिये थे, वे मैं तुम्हारे पुत्रको दूंगा, और यह उत्तम कवच भी दूंगा ॥ २१ ॥

पृथोवाच

परमं भगवन्देव संगमिष्ये त्वया सह ।
यदि पुत्रो भवेदेवं यथा वदसि गोपते ॥ २२ ॥

कुन्ती बोली– हे भगवन् ! हे तेजस्विन् ! यदि जैसा कि आप कहते हैं, वैसाही मेरे पुत्र हो, तो हे किरणोंके स्वामिन् ! मैं आपसे सङ्गम करूंगी ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा तु तां कुन्तीमाविवेश विहङ्गमः ।
स्वर्भानुशत्रुर्योगात्मा नाभ्यां पस्पर्श चैव ताम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायन बोले– 'वैसाही हो' ऐसे कहकर राहुके शत्रु योगसे युक्त आत्मावाले अन्दर प्रविष्ट हो आकाशचारी सूर्य कुन्तीके पास गये और उन्होंने उसकी नाभिको स्पर्श किया ॥ २३ ॥

ततः सा विह्वलेवासीत्कन्या सूर्यस्य तेजसा ।
पपाताथ च सा देवी शयने मूढचेतना ॥ २४ ॥

तब वह कन्या सूर्यके तेजसे विकल होगई और वह देवी मूर्च्छित होकर शय्या पर गिर पडी ॥ २४ ॥

सूर्य उवाच

साधयिष्यामि सुश्रोणि पुत्रं वै जनयिष्यसि ।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं कन्या चैव भविष्यसि ॥ २५ ॥

सूर्य बोले– हे सुन्दरी ! अब मैं समागम करता हूँ तुम्हारे गर्भमें सब शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुत्र होगा, और तुम फिर कन्या होजाओगी ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सा व्रीडिता बाला तदा सूर्यमथाब्रवीत् ।
एवमस्त्विति राजेन्द्र प्रस्थितं भूरिवर्चसम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजेन्द्र ! जब कुन्तीने देखा कि महातेजस्वी सूर्य मुझसे सङ्गम करनेको उपस्थित है, तब लज्जासे उनके वचनको स्वीकार किया ॥ २६ ॥

इति स्मोक्त्वा कुन्तिराजात्मजा सा विवस्वन्तं याचमाना सलज्जा ।
तस्मिन्पुण्ये शयनीये पपात मोहाविष्टा भज्यमाना लतेव ॥ २७ ॥

इसप्रकार कहकर कुन्तीराजकी पुत्री वह कुन्ती सूर्यसे पुत्रकी प्रार्थना करती हुई लज्जासे युक्त होकर मूर्च्छित होकर टूटी हुई लताके समान उस सुन्दर बिछौने पर गिर गई ॥ २७ ॥

तां तिग्मांशुस्तेजसा मोहयित्वा योगेनाविश्यात्मसंस्थां चकार ।
न चैवैनां दूषयामास भानुः संज्ञां लेभे भूय एवाथ बाला ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकानवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९१ ॥ १००३२ ॥

तब सूर्यने अपने तेजसे उसको मोहित कर दिया, और योगसे अपनी आत्माको उसके शरीरमें प्रवेश कराया, परन्तु उसका कन्याभाव नष्ट नहीं किया। इसके बाद कुन्ती फिर संज्ञाको प्राप्त हुई ॥ २८ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ इक्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २९१ ॥ १००३२ ॥

: २९२ :

वैशम्पायन उवाच

तततो गर्भः समभवत्पृथायाः पृथिवीपते ।
शुक्ले दशोत्तरे पक्षे तारापतिरिवाम्बरे ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् ! इस प्रकार जैसे आकाशमें चन्द्रमा का उदय होता है, उसी तरह ग्यारहवें मास के शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको कुन्ती के उदरमें सूर्यके द्वारा गर्भ स्थापित हुआ ॥ १ ॥

सा बान्धवभयाद्बाला तं गर्भं विनिगूहती ।
धारयामास सुश्रोणी न चैनां बुबुधे जनः ॥ २ ॥

सुन्दरी कुन्ती अपने बान्धवोंके भयसे उस गर्भको छिपाती हुई धारण करने लगी, इससे किसीने नहीं जाना कि सुन्दरी कुन्तीके गर्भ है ॥ २ ॥

न हि तां वेद नार्यन्या काचिद्धात्रेयिकामृते ।
कन्यापुरगतां बालां निपुणां परिरक्षणे ॥ ३ ॥

धात्रीके सिवाय और कोई स्त्री उसके गर्भको नहीं जान सकी । वह अपने घरमें रहकर गर्भकी रक्षा करती रही ॥ ३ ॥

ततः कालेन सा गर्भं सुषुवे वरवर्णिनी ।
कन्यैव तस्य देवस्य प्रसादादमरप्रभम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर उत्तम वर्णवाली कुन्तीके गर्भसे यथा समय देवताके समान पुत्र उत्पन्न हुआ और कुन्ती सूर्यकी कृपासे फिर कन्या होगई ॥ ४ ॥

तथैव बद्धकवचं कनकोज्ज्वलकुण्डलम् ।
हर्यक्षं वृषभस्कन्धं यथास्य पितरं तथा ॥ ५ ॥

वह वालक कवच और सोनेके समान प्रकाशमान सुन्दर कुण्डल धारण किये उत्पन्न हुआ। उसके पिता के समान उसकेभी नेत्र सिंहके समान और कन्धे बैलके कन्धेके समान ऊंचे थे ॥ ५ ॥

जातमात्रं च तं गर्भं धात्र्या संमन्त्र्य भामिनी ।
मंजूषायामवदधे स्वास्तीर्णायां समन्ततः ॥ ६ ॥

उस बालकके उत्पन्न होतेही कुन्तीने अपनी धात्रीके साथ सम्मति करके उस लडकेको चारों ओरसे एक बडे सन्दूक में रख दिया ॥ ६ ॥

मधूच्छिष्टस्थितायां सा सुखायां रुदती तथा ।
श्लक्ष्णायां सुपिधानायामश्वनद्यामवासृजत् ॥ ७ ॥

वह सन्दूक मोमसे लिपटा हुआ सुन्दर विस्तृत कोमल सोनेके योग्य था। उसमें लिटाकर रोती हुई कुन्तीने उसे अश्वनदीमें बहा दिया ॥ ७ ॥

जानती चाप्यकर्तव्यं कन्याया गर्भधारणम् ।
पुत्रस्नेहेन राजेन्द्र करुणं पर्यदेवयत् ॥ ८ ॥

हे राजेन्द्र ! कुन्ती जानती थी कि कन्याकी अवस्थामें गर्भको धारण करना उचित नहीं है, तो भी पुत्रके प्रेमके कारण वह करुणासे युक्त होकर रोने लगी ॥ ८ ॥

समुत्सृजन्ती मंजूषामश्वनद्यास्तदा जले ।
उवाच रुदती कुन्ती यानि वाक्यानि तच्छृणु ॥ ९ ॥

उस सन्दूकको अश्वनदीके जलमें छोडते समय कुन्तीने रोकर जो कुछ वचन कहे, सो सुनिये ॥ ९ ॥

स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च पुत्रक ।
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यस्तथा तोयचराश्च ये ॥ १० ॥

हे पुत्र ! आकाश, पृथ्वी, स्वर्ग और जलमें रहने वाले प्राणी तुम्हारी-रक्षा करें ॥ १० ॥

शिवास्ते सन्तु पन्थानो मा च ते परिपन्थिनः।
आगमाश्च तथा पुत्र भवन्त्वद्रोहचेतसः ॥ ११ ॥

तुम्हारा मार्गमें कल्याण हो। तुम्हें कोई शत्रु दुःख न दे, हे पुत्र! जो तुम्हारा शत्रु तुम्हारे समीप आवे, वह भी तुम्हारा मित्र हो जाये ॥ ११ ॥

पातु त्वां वरुणो राजा सलिले सलिलेश्वरः।
अन्तरिक्षेऽन्तरिक्षस्थः पवनः सर्वगस्तथा ॥ १२ ॥

जलमें जलके स्वामी वरुण और अन्तरिक्षमें आकाशगामी तथा सर्वत्र जानेवाले पवनदेव तुम्हारी रक्षा करें ॥ १२ ॥

पिता त्वां पातु सर्वत्र तपनस्तपतां वरः।
येन दत्तोऽसि मे पुत्र दिव्येन विधिना किल ॥ १३ ॥

जिन्होंने दिव्य विधिसे तुमको मुझे दिया था, वह सब तेजधारियोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे पिता सूर्य तुम्हारी रक्षा करें ॥ १३ ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्या विश्वे च देवताः।
मरुतश्च सहेन्द्रेण दिशश्च सदिगीश्वराः ॥ १४ ॥

आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, विश्वदेव, मरुत्, इन्द्र, दिशा और दिग्पाल ॥ १४ ॥

रक्षन्तु त्वां सुराः सर्वे समेषु विषमेषु च।
वेत्स्यामि त्वां विदेशेऽपि कवचेनोपसूचितम् ॥ १५ ॥

आदि सब देवता सुख और दुःखमें तुम्हारी रक्षा करें। मैं जब तुम्हें विदेशमें भी देखूंगी तब इसीही कवचसे पहिचान लूंगी ॥ १५ ॥

धन्यस्ते पुत्र जनको देवो भानुर्विभावसुः।
यस्त्वां द्रक्ष्यति दिव्येन चक्षुषा वाहिनीगतम् ॥ १६ ॥

हे पुत्र! तुम्हारे पिता प्रकाशमय किरणों वाले देव सूर्य धन्य हैं, जो अपनी दिव्य दृष्टिसे तुम्हें नदीमें बहता हुआ देखेंगे ॥ १६ ॥

धन्या सा प्रमदा या त्वां पुत्रत्वे कल्पयिष्यति।
यस्यास्त्वं तृषितः पुत्र स्तनं पास्यसि देवज ॥ १७ ॥

हे देवपुत्र! जो तुमको अपना पुत्र बनायेगी और प्यासमें जिसका तुम स्तन पियोगे, वह स्त्री धन्य है ॥ १७ ॥

को नु स्वप्नस्तया दृष्टो या त्वामादित्यवर्चसम् ।
दिव्यवर्मसमायुक्तं दिव्यकुण्डलभूषितम् ॥ १८ ॥
पद्मायतविशालाक्षं पद्मताम्रतलोज्ज्वलम् ।
सुललाटं सुकेशान्तं पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ॥ १९ ॥

उस स्त्रीने कौनसा स्वप्न देखा होगा, जो सूर्यके समान तेजस्वी, दिव्य कवच दिव्यकुण्डल-धारी पद्मके समान विशाल आंखोंवाले, लाल कमलके समान उज्ज्वल वर्णवाले, उत्तम माथावाले सुन्दर केशवाले तुमको अपना पुत्र बनावेगी ? ॥ १८-१९ ॥

धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्र त्वां भूमौ संसर्पमाणकम् ।
अव्यक्तकलवाक्यानि वदन्तं रेणुगुण्ठितम् ॥ २० ॥

वे स्त्रियां धन्य हैं जो तुमको पृथ्वीमें चलते हुए, तोतली बानी बोलते हुए, और धूलमें लिपटे हुए देखेंगी ॥ २० ॥

धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्र त्वां पुनर्यौवनगे मुखे ।
हिमवद्वनसंभूतं सिंहं केसरिणं यथा ॥ २१ ॥

हे पुत्र ! वे पुरुष धन्य हैं जो तुमको यौवन अवस्थामें हिमाचलके वनमें उत्पन्न हुए सिंहके समान बलवान् देखेंगे ॥ २१ ॥

एवं बहुविधं राजन्विलप्य करुणं पृथा ।
अवासृजत मञ्जूषामश्वनद्यास्तदा जले ॥ २२ ॥

इस प्रकारसे बहुत करुणासे रोकर कुन्तीने उस बालकको सन्दूकमें रखकर अश्वनदीके जलमें बहा दिया ॥ २२ ॥

रुदती पुत्रशोकार्ता निशीथे कमलेक्षणा ।
धात्र्या सह पृथा राजन्पुत्रदर्शनलालसा ॥ २३ ॥
विसर्जयित्वा मञ्जूषां संबोधनभयात्पितुः ।
विवेश राजभवनं पुनः शोकातुरा ततः ॥ २४ ॥

हे राजन् ! फिर कमलनयनी कुन्ती उसी आधीरातके समय पुत्रके शोकसे व्याकुल रोती हुई पुत्रको देखनेकी अभिलाषिणी वह अपनी धात्रीके साथ उस सन्दूकको बहाकर पिताके जगजानेके भयसे नगरको चली आई और शोकसे व्याकुल होकर राजभवनमें चली गई ॥ २३-२४ ॥

मञ्जूषा त्वश्वनद्याः सा ययौ चर्मण्वतीं नदीम् ।
चर्मण्वत्याश्च यमुनां ततो गङ्गां जगाम ह ॥ २५ ॥

वह टोकरी अश्वनदीमें बहती बहती चर्मण्वतीमें जा पहुंची, वहांसे यमुनामें और यमुनासे गंगामें पहुंची ॥ २५ ॥

×

गङ्गायाः सूतविषयं चम्पामभ्याययौ पुरीम् ।
स मञ्जूषागतो गर्भस्तरङ्गैरुह्यमानकः ॥ २६ ॥

फिर गंगासे सूतकी राजधानी चम्पापुरीमें पहुंची । वह बालक गङ्गाकी तरंगोंसे कभी ऊंचा और कभी नीचा हो जाता था ॥ २६ ॥

अमृतादुत्थितं दिव्यं तत्तु वर्म सकुण्डलम् ।
धारयामास तं गर्भं दैवं च विधिनिर्मितम् ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९ ॥ १००५९ ॥

इस प्रवासमें अमृतसे उत्पन्न तथा विधिके द्वारा बनाये गए वे दिव्य कवच और कुण्डल तथा भाग्य उस बच्चेकी रक्षा करते रहे ॥ २७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ बयानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २९२ ॥ १००५९ ॥

: २९३ :

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु धृतराष्ट्रस्य वै सखा ।
सूतोऽधिरथ इत्येव सदारो जाह्नवीं ययौ ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! उसी समय राजा धृतराष्ट्रका मित्र अधिरथ नामक सूत अपनी स्त्रीके सहित गङ्गास्नान करने गया था ॥ १ ॥

तस्य भार्याभवद्राजन्रूपेणासदृशी भुवि ।
राधा नाम महाभागा न सा पुत्रमविन्दत ।
अपत्यार्थे परं यत्नमकरोच्च विशेषतः ॥ २ ॥

अधिरथकी सुन्दरी स्त्रीका नाम राधा था, उसके समान सुन्दरी स्त्री पृथ्वीमें कोई नहीं थी । परन्तु उसके पुत्र नहीं था । वह पुत्रके लिये अनेक यत्न किया करती थी ॥ २ ॥

सा ददर्शाथ मञ्जूषामुह्यमानां यदृच्छया ।
दत्तरक्षाप्रतिसरामन्वालभनशोभिताम् ।
ऊर्मीतरङ्गैर्जाह्नव्याः समानीतामुपह्वरम् ॥ ३ ॥

उसने नदीमें इधर उधर बहती हुई टोकरीको देखा, इतनेहीमें वह घाससे ढकी हुई हाथसे पकडने योग्य सुन्दर कण्डी गंगाकी तरङ्गोंसे बहती हुई राधाके पास आगई ॥ ३ ॥

सा तां कौतूहलात्प्राप्तां ग्राहयामास भामिनी ।
ततो निवेदयामास सूतस्याधिरथस्य वै । ॥ ४ ॥
तब सुन्दरी राधाने उसे कौतूहलसे पकड लिया, फिर अपने पति अधिरथसे कह दिया ॥ ४ ॥

स तामुद्धृत्य मञ्जूषामुत्सार्य जलमन्तिकात् ।
यन्त्रैरुद्घाटयामास सोऽपश्यत्तत्र बालकम् ॥ ५ ॥
अधिरथने अनेक यन्त्रोंसे उसके पासके जलको हटाकर उसे खोल दिया, तो उसमें उसने एक लडका देखा ॥ ५ ॥

तरुणादित्यसंकाशं हेमवर्मधरं तथा ।
मृष्टकुण्डलयुक्तेन वदनेन विराजता ॥ ६ ॥
दोपहरके सूर्यके समान तेजस्वी वह बालक, सोनेका कवच पहने था और सुन्दर कुण्डलोंसे सुन्दर मुखवाला था ॥ ६ ॥

स सूतो भार्यया सार्धं विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
अङ्कमारोप्य तं बालं भार्यां वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥
तब अधिरथ अपनी स्त्रीके सहित बहुत आश्चर्य करने लगा, और आश्चर्यसे उसकी आखें फटीसी रह गई और उस बालकको गोदमें लेकर अपनी स्त्रीसे बोला ॥ ७ ॥

इदमत्यद्भुतं भीरु यतो जातोऽस्मि भामिनि ।
दृष्टवान्देवगर्भोऽयं मन्येऽस्मान्समुपागतः ॥ ८ ॥
हे सुन्दरी ! हे भीरु ! यह बडे आश्चर्यकी बात मैंने अपनी आयुमें देखी है कि यह देवपुत्र हमको प्राप्त हुआ ॥ ८ ॥

अनपत्यस्य पुत्रोऽयं देवैर्दत्तो ध्रुवं मम ।
इत्युक्त्वा तं ददौ पुत्रं राधायै स महीपते ॥ ९ ॥
इसमें कुछ सन्देह नहीं कि देवताओंने मुझे पुत्ररहित जानकरही यह पुत्र दिया है। ऐसा कहकर उस पुत्रको अपनी स्त्रीको दे दिया ॥ ९ ॥

प्रतिजग्राह तं राधा विधिवद्दिव्यरूपिणम् ।
पुत्रं कमलगर्भाभं देवगर्भं श्रिया वृतम् ॥ १० ॥
राधाने उस दिव्यरूपवाले कमलके गर्भ समान लाल, लक्ष्मीवान् देवपुत्रको विधिपूर्वक ग्रहण किया ॥ १० ॥

पुपोष चैनं विधिवद्ववृधे स च वीर्यवान् ।
ततः प्रभृति चाप्यन्ये प्राभवन्नौरसाः सुताः ॥ ११ ॥
और इसे विधिपूर्वक पालने लगी, बलवान् कर्णभी बडे होने लगे। इसके पश्चात् राधाके गर्भसे और भी अनके पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥

वसुवर्मधरं दृष्ट्वा तं बालं हेमकुण्डलम् ।
नामास्य वसुषेणेति ततश्चक्रुर्द्विजातयः ॥ १२ ॥

ब्राह्मणोंने उस बालकको वसु अर्थात् सोनेका कवच और सोनेका कुण्डल धारण किये हुए देखकर उसका वसुषेण नाम रक्खा ॥ १२ ॥

एवं स सूतपुत्रत्वं जगामामितविक्रमः ।
वसुषेण इति ख्यातो वृष इत्येव च प्रभुः ॥ १३ ॥

इसरीतिसे कर्ण सूतपुत्र हुए। वह महाबलवान् कर्ण वृष और वसुषेणके नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ १३ ॥

स ज्येष्ठपुत्रः सूतस्य ववृधेऽङ्गेषु वीर्यवान् ।
चारेण विदितश्चासीत्पृथाया दिव्यवर्मभृत् ॥ १४ ॥

कुन्तीने भी दूतोंके मुखसे सुना कि वह दिव्य कवचधारी बलवान् अंगराज्यमें एक सूतके घर ज्येष्ठ बालकके रूपमें पल रहा है ॥ १४ ॥

सूतस्त्वधिरथः पुत्रं विवृद्धं समये ततः ।
दृष्ट्वा प्रस्थापयामास पुरं वारणसाह्वयम् ॥ १५ ॥

अधिरथ सूतने जब देखा कि मेरा पुत्र बडा हो गया, तब उसे पढनेके लिये हस्तिनापुर भेज दिया ॥ १५ ॥

तत्रोपसदनं चक्रे द्रोणस्येष्वस्त्रकर्मणि ।
सख्यं दुर्योधनेनैवमगच्छत्स च वीर्यवान् ॥ १६ ॥

कर्ण वहां आकर द्रोणाचार्यके यहां रहने लगे, और उनसे धनुर्वेद पढने लगे। कुछ दिनके पश्चात् महाबलवान् कर्णकी दुर्योधन से मित्रता हो गई ॥ १६ ॥

द्रोणात्कृपाच्च रामाच्च सोऽस्त्रग्रामं चतुर्विधम् ।
लब्ध्वा लोकेऽभवत्ख्यातः परमेष्वासतां गतः ॥ १७ ॥

कर्णने द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और परशुरामसे चार प्रकारकी अस्त्रविद्या सीखी। तदनन्तर संसारमें वह महाधनुर्धारियोंमें गिने जाने लगे ॥ १७ ॥

संधाय धार्तराष्ट्रेण पार्थानां विप्रिये स्थितः ।
योद्धुमाशंसते नित्यं फल्गुनेन महात्मना ॥ १८ ॥

फिर इन्होंने दुर्योधनसे मित्रता करके पाण्डवोंसे शत्रुता कर ली। ये महात्मा सदा अर्जुनसे युद्ध करनेकी इच्छा रखते हैं ॥ १८ ॥

सदा हि तस्य स्पर्धासीदर्जुनेन विशां पते ।
अर्जुनस्य च कर्णेन यतो दृष्टो बभूव सः ॥ १९ ॥

ये अर्जुनसे स्पर्धा किया करते हैं । हे पृथ्वीनाथ ! इसी प्रकार अर्जुन भी इनसे सदा युद्ध करनेको उपस्थित रहते हैं क्योंकि उन्होंने उनका बल देख लिया था ॥ १९ ॥

तं तु कुण्डलिनं दृष्ट्वा वर्मणा च समन्वितम् ।
अवध्यं समरे मत्वा पर्यतप्यद्युधिष्ठिरः ॥ २० ॥

कर्ण को दिव्य कवच कुण्डलसे युक्त देखकर राजा युधिष्ठिर सदा दुःखित होते थे । वे जानते थे कि कर्णको युद्धमें कोई नहीं मार सकता ॥ २० ॥

यदा तु कर्णो राजेन्द्र भानुमन्तं दिवाकरम् ।
स्तौति मध्यन्दिने प्राप्ते प्राञ्जलिः सलिले स्थितः ॥ २१ ॥

हे राजेन्द्र ! दिनके मध्यमें कर्ण स्नान करनेके पश्चात् जलमें खडे होकर हाथ जोडकर सूर्यकी स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

तत्रैनमुपतिष्ठन्ति ब्राह्मणा धनहेतवः ।
नादेयं तस्य तत्काले किंचिदस्ति द्विजातिषु ॥ २२ ॥

उसी समय धन मांगनेके लिये अनेक ब्राह्मण उनके समीप आते हैं । जगत्में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो उस समय कर्ण ब्राह्मणोंको न दें ॥ २२ ॥

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षां देहीत्युपस्थितः ।
स्वागतं चेति राधेयस्तमथ प्रत्यभाषत ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९३ ॥ १००८२ ॥

एक दिन इन्द्र ब्राह्मणका वेष बनाकर कर्णके पास भिक्षा मांगनेके लिये आये और बोले– " भिक्षा दो " । तब कर्णने भी " स्वागत है " कहकर उनका बहुत सत्कार किया ॥ २३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ तिरानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २९३ ॥ १००८२ ॥

: २९४ :

वैशंपायन उवाच

देवराजमनुप्राप्तं ब्राह्मणच्छद्मना वृषः ।
दृष्ट्वा स्वागतमित्याह न बुबोधास्य मानसम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! उस ब्राह्मणके कपटवेषमें इन्द्रको आया देखकर कर्णने उनका स्वागत किया, पर उनके मनोगत इच्छाको न समझा ॥ १ ॥

हिरण्यकण्ठीः प्रमदा ग्रामान्वा बहुगोकुलान् ।
किं ददानीति तं विप्रमुवाचाधिरथिस्ततः ॥ २ ॥

अधिरथपुत्र कर्णने ब्राह्मणसे कहा- कि मैं तुमको क्या दूं ? सुवर्ण अलङ्कार कण्ठमें भूषण पहिने स्त्री, गांव अथवा बहुतसी गौ ? ॥ २ ॥

ब्राह्मण उवाच

हिरण्यकण्ठयः प्रमदा यच्चान्यत्प्रीतिवर्धनम् ।
नाहं दत्तमिहेच्छामि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मण बोला– मैं सोनेके आभूषण पहने हुई स्त्रियों अथवा प्रीतिको बढानेवाली और वस्तुओंको लेना नहीं चाहता हूं, यह किसी भिखारीको देना ॥ ३ ॥

यदेतत्सहजं वर्म कुण्डले च तवानघ ।
एतदुत्कृत्य मे देहि यदि सत्यव्रतो भवान् ॥ ४ ॥

हे अनघ ! यदि तुम सत्यका पालन करनेवाले हो, तो यह जो तुम्हारे साथ उत्पन्न हुआ कवच और कुण्डल है, उनको अपने शरीरसे उतार कर मुझे दो ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं क्षिप्रं त्वया दत्तं परन्तप ।
एष मे सर्वलाभानां लाभः परमको मतः ॥ ५ ॥

मैं आपसे यही मांगता हूं। हे शत्रुनाशक! यही मेरा सब लाभसे उत्तम लाभ है । यही आप मुझे दीजिये ॥ ५ ॥

कर्ण उवाच

अवनिं प्रमदा गाश्च निर्वापं बहुवार्षिकम् ।
तत्ते विप्र प्रदास्यामि न तु वर्म न कुण्डले ॥ ६ ॥

कर्ण बोले– हे ब्राह्मण ! मैं तुमको पृथ्वी, अनेक स्त्रियां गौ और अनेक वर्षोंका भोजन दे सकता हूं किन्तु कवच और कुण्डल नहीं दूंगा ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानः स तु द्विजः ।
कर्णेन भरतश्रेष्ठ नान्यं वरमयाचत ॥ ७ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् ! इस प्रकारसे उस ब्राह्मणसे कर्णने अनेक तरह वाक्योंसे प्रार्थना की, पर उसने कोई दूसरा वर न मांगा ॥ ७ ॥

सान्त्वितश्च यथाशक्ति पूजितश्च यथाविधि ।
नैवान्यं स द्विजश्रेष्ठः कामयामास वै वरम् ॥ ८ ॥

कर्णने अपनी शक्तिके अनुसार उस ब्राह्मणको शान्त भी किया और उनकी विधिपूर्वक पूजा की, परन्तु उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने कोई दूसरा वर न मांगा ॥ ८ ॥

यदा नान्यं प्रवृणुते वरं वै द्विजसत्तमः ।
तदैनमब्रवीद्भूयो राधेयः प्रहसन्निव ॥ ९ ॥

जब कर्णने देखा कि यह ब्राह्मणश्रेष्ठ और कोई दूसरा वर नहीं मांगता है, तो हंसकर राधापुत्र कर्णने ब्राह्मणसे कहा ॥ ९ ॥

सहजं वर्म मे विप्र कुण्डले चामृतोद्भवे ।
तेनावध्योऽस्मि लोकेषु ततो नैतद्ददाम्यहम् ॥ १० ॥

हे ब्राह्मण ! यह कवच और कुण्डल माताके गर्भसे ही मेरे सङ्ग उत्पन्न हुए हैं । ये दोनों ही अमृतमय हैं । इनसे मैं शत्रुओंसे मारनेके अयोग्य हूं, इस कारण मैं इन्हें नहीं उतार सकता ॥ १० ॥

विशालं पृथिवीराज्यं क्षेमं निहतकण्टकम् ।
प्रतिगृह्णीष्व मत्तस्त्वं साधु ब्राह्मणपुङ्गव ॥ ११ ॥

हे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ! तुम मुझसे बहुतसा निष्कण्टक पूर्ण तथा विशाल पृथ्वीका राज्य खुशीसे लो ॥ ११ ॥

कुण्डलाभ्यां विमुक्तोऽहं वर्मणा सहजेन च ।
गमनीयो भविष्यामि शत्रूणां द्विजसत्तम ॥ १२ ॥

हे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ! जब मैं अपने जन्मके साथ उत्पन्न हुए कुण्डल और कवचसे हीन हो जाऊंगा, तब शत्रु मुझे मार डालेंगे ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

यदा नान्यं वरं वव्रे भगवान्पाकशासनः ।
ततः प्रहस्य कर्णस्तं पुनरित्यब्रवीद्वचः ॥ १३ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् ! जब भगवान् इन्द्रने दूसरा वर न मांगा, तब कर्णने फिर हंसके ऐसे वचन कहे ॥ १३ ॥

विदितो देवदेवेश प्रागेवासि मम प्रभो ।
न तु न्याय्यं मया दातुं तव शक्र वृथा वरम् ॥ १४ ॥

हे देवताओंके स्वामी ! मैं आपको पहिलेही जान गया था, परन्तु यह उचित नहीं है कि मैं आपको वृथा ही जाने दूं ॥ १४ ॥

त्वं हि देवेश्वरः साक्षात्त्वया देयो वरो मम ।
अन्येषां चैव भूतानामीश्वरो ह्यसि भूतकृत् ॥ १५ ॥

आप साक्षात् देवपति इन्द्र हैं, आपको चाहिये कि मुझे वर दें । हे प्राणियोंको उत्पन्न करने वाले ! आप सब प्राणियों के स्वामी हैं ॥ १५ ॥

यदि दास्यामि ते देव कुण्डले कवचं तथा ।
वध्यतामुपयास्यामि त्वं च शक्रावहास्यताम् ॥ १६ ॥

हे देव ! यदि मैं आपको कुण्डल और कवच दे दूं तो मैं शत्रुओंसे मारे जाने योग्य हो जाऊंगा और आपकी जगत्में हंसी होगी ॥ १६ ॥

तस्माद्विनिमयं कृत्वा कुण्डले वर्म चोत्तमम् ।
हरस्व शक्र कामं मे न दद्यामहमन्यथा ॥ १७ ॥

हे इन्द्र ! इस कारणसे आप एक चीजके वदलेमें मुझसे कवच और कुण्डल लीजिये नहीं तो मैं कवच कुण्डल नहीं दूंगा ॥ १७ ॥

शक्र उवाच

विदितोऽहं रवेः पूर्वमायन्नेव तवान्तिकम् ।
तेन ते सर्वमाख्यातमेवमेतन्न संशयः ॥ १८ ॥

इन्द्र बोले— जब मैं तुम्हारे पास आरहा था तभी सूर्यने मुझे जान लिया था, इसी कारण तुमको मेरा हाल मालूम होगया है इसमें कोई संशय नहीं है ॥ १८ ॥

काममस्तु तथा तात तव कर्ण यथेच्छसि ।
वर्जयित्वा तु मे वज्रं प्रवृणीष्व यदिच्छसि ॥ १९ ॥

हे तात कर्ण ! जैसा तुम कहते हो, वैसाही हो । मेरे वज्रको छोडकर जो तुम्हारी इच्छा हो सो वर मांगो ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कर्णः प्रहृष्टस्तु उपसंगम्य वासवम् ।
अमोघां शक्तिमभ्येत्य वव्रे संपूर्णमानसः ॥ २० ॥

वैशम्पायन बोले— तब कर्णने प्रसन्न चित्त होकर इन्द्रसे कहा, और शत्रुओंको नाश करनेवाली तथा युद्धमें निवारणके अयोग्य शक्ति मांगी ॥ २० ॥

कर्ण उवाच

वर्मणा कुण्डलाभ्यां च शक्तिं मे देहि वासव ।
अमोघां शत्रुसंघानां घातनीं पृतनामुखे ॥ २१ ॥

कर्ण बोले— हे इन्द्र ! कुण्डल और कवचके वदलेमें सेनाके मध्यमें शत्रुओंका नाश करनेवाली अव्यर्थ शक्ति दीजिये ॥ २१ ॥

ततः संचिन्त्य मनसा मुहूर्तमिव वासवः ।
शक्त्यर्थं पृथिवीपाल कर्णं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ २२ ॥

इन्द्र थोडे समय तक मनही मन विचार करके शक्तिके वारेमें कर्ण से यह वाक्य वोले ॥ २२ ॥

कुण्डले मे प्रयच्छस्व वर्म चैव शरीरजम् ।
गृहाण कर्ण शक्तिं त्वमनेन समयेन मे ॥ २३ ॥

हे कर्ण ! तुम मुझे अपने जन्मके साथ उत्पन्न कुण्डल और कवच देकर मुझसे शक्ति ग्रहण करो, यही मेरा तुमसे प्रण है ॥ २३ ॥

अमोघा हन्ति शतशः शत्रून्मम करच्युता ।
पुनश्च पाणिमभ्येति मम दैत्यान्विनिघ्नतः ॥ २४ ॥

यह शक्ति मेरे हाथसे छूटकर सैंकडों शत्रुओंका नाश करती है और सैकडों दैत्योंका नाश करके फिर मेरे हाथमें चली आती है ॥ २४ ॥

सेयं तव करं प्राप्य हत्वैकं रिपुमूर्जितम् ।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च मामेवैष्यति सूतज ॥ २५ ॥

हे सूतपुत्र ! वही अमोघशक्ति तुम्हारे हाथसे छूटकर एक तेजस्वी गर्जते और दौडते शत्रुको मारकर फिर मेरे पास चली आवेगी ॥ २५ ॥

कर्ण उवाच

एकमेवाहमिच्छामि रिपुं हन्तुं महाहवे ।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च यतो मम भयं भवेत् ॥ २६ ॥

कर्ण बोले– मैं युद्धमें गर्जते और दौडते एकही शत्रुको मारना चाहता हूं, जिस शत्रुसे मुझे भय है ॥ २६ ॥

इन्द्र उवाच

एकं हनिष्यसि रिपुं गर्जन्तं बलिनं रणे ।
त्वं तु यं प्रार्थयस्येकं रक्ष्यते स महात्मना ॥ २७ ॥

इन्द्र बोले– हे कर्ण ! बलवान् युद्धमें गर्जते हुए एक शत्रुको तुम अवश्य मारोगे, पर तुम जिसे मारना चाहते हो, उसकी महात्मा कृष्ण रक्षा करते हैं ॥ २७ ॥

यमाहुर्वेदविद्वांसो वराहमजितं हरिम् ।
नारायणमचिन्त्यं च तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥ २८ ॥

वेदके जाननेवाले पण्डित जिसे जीतनेके अयोग्य, वराह और नारायण कहते हैं, वही कृष्ण तुम्हारे शत्रुकी रक्षा करते हैं ॥ २८ ॥

×

कर्ण उवाच

एवमप्यस्तु भगवन्नेकवीरवधे मम ।
अमोघां प्रवरां शक्तिर्येन हन्यां प्रतापिनम् ॥ २९ ॥

कर्ण बोले– हे भगवन् ! जैसा आप कहते हैं, वैसाही हो, एक प्रतापी वीर को मारनेके लिये आप मुझको अमोघ शक्ति दीजिये ॥ २९ ॥

उत्कृत्य तु प्रदास्यामि कुण्डले कवचं च ते ।
निकृत्तेषु तु गात्रेषु न मे बीभत्सता भवेत् ॥ ३० ॥

मैं देहसे निकालकर कवच और कुण्डल दूंगा। परन्तु कवच निकालनेसे भी मेरा शरीर विरूप नहीं होना चाहिये ॥ ३० ॥

इन्द्र उवाच

न ते बीभत्सता कर्ण भविष्यति कथंचन ।
व्रणश्चापि न गात्रेषु यस्त्वं नानृतमिच्छसि ॥ ३१ ॥

इन्द्र बोले– हे कर्ण ! तुम कभी विरूप किसी प्रकारसे भी न होगे और गात्रोंमें व्रण भी नहीं होगा, क्योंकि तुम झूठकी इच्छा नहीं करते हो ॥ ३१ ॥

यादृशस्ते पितुर्वर्णस्तेजश्च वदतां वर ।
तादृशेनैव वर्णेन त्वं कर्ण भविता पुनः ॥ ३२ ॥

हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ कर्ण ! जैसे तुम्हारे पिताका वर्ण और तेज है, वैसा ही अबसे तुम्हारा भी तेज और वर्ण होगा ॥ ३२ ॥

विद्यमानेषु शस्त्रेषु यद्यमोघामसंशये ।
प्रमत्तो मोक्ष्यसे चापि त्वय्येवैषा पतिष्यति ॥ ३३ ॥

तुम्हारे पास और शस्त्र होने पर भी यदि तुम इस अमोघ शक्तिको असावधान होकर चलाओगे, तो यह शक्ति तुम्हें ही आकर लगेगी ॥ ३३ ॥

कर्ण उवाच

संशयं परमं प्राप्य विमोक्ष्ये वासवीमिमाम् ।
यथा मामात्थ शक्र त्वं सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

कर्ण बोले– हे इन्द्र ! जब मुझे अपने प्राणोंका सङ्कट जान पडेगा, तभी मैं इस इन्द्रकी शक्तिको चलाऊंगा, जैसा आपने कहा है, वैसा ही करूंगा मैं यह सत्य कहता हूँ ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः शक्तिं प्रज्वलितां प्रतिगृह्य विशां पते ।
शस्त्रं गृहीत्वा निशितं सर्वगात्राण्यकृन्तत ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन बोले– हे महीपाल ! तब कर्णने जलती हुई शक्तिको इन्द्रसे ले लिया और तीक्ष्ण शस्त्रोंसे अपने सब अङ्गोंको काट डाला ॥ ३५ ॥

ततो देवा मानवा दानवाश्च निकृन्तन्तं कर्णमात्मानमेवम् ।
दृष्ट्वा सर्वे सिद्धसंघाश्च नेदुर्न ह्यस्यासीद्दुःखजो वै विकारः ॥ ३६ ॥

अपने अंगोंको काटते समय कर्णके मुखपर कुछ भी विकार न आया, इस प्रकारसे कर्णको अपने अङ्गोंको काटते हुए देखकर देवता, दानव और सिद्धसंघों एवं मनुष्योंने शब्द किया ॥ ३६ ॥

ततो दिव्या दुन्दुभयः प्रणेदुः पपातोच्चैः पुष्पवर्षं च दिव्यम् ।
दृष्ट्वा कर्णं शस्त्रसंकृत्तगात्रं मुहुश्चापि स्मयमानं नृवीरम् ॥ ३७ ॥

उस समय मनुष्योंमें वीर कर्णको हंसते हुए अपने अंग काटते देखकर कर्ण पर आकाशसे फूलोंकी वृष्टि होने लगी और देवोंकी दुन्दुभियां बजने लगीं ॥ ३७ ॥

ततश्छित्वा कवचं दिव्यमङ्गात्तथैवार्द्रं प्रददौ वासवाय ।
तथोत्कृत्य प्रददौ कुण्डले ते वैकर्तनः कर्मणा तेन कर्णः ॥ ३८ ॥

कर्णने अपने अङ्गोंसे निकालकर गीला ही दिव्य कवच इन्द्रको दे दिया । ऐसे ही कानोंको काटकर कुण्डल भी दे दिये, इसी कर्मसे सूतपुत्र कर्णका नाम वैकर्तन पडा ॥ ३८ ॥

ततः शक्रः प्रहसन्वञ्चयित्वा कर्णं लोके यशसा योजयित्वा ।
कृतं कार्यं पाण्डवानां हि मेने ततः पश्चाद्दिवमेवोत्पपात ॥ ३९ ॥

इन्द्र कर्णको छलकर तथा लोकमें कर्णको यशस्वी बनाकर और पाण्डवोंके कार्यको पूरा हुआ समझके हंसते हुए स्वर्गको चले गये ॥ ३९ ॥

श्रुत्वा कर्णं मुषितं धार्तराष्ट्रा दीनाः सर्वे भग्नदर्पा इवासन् ।
तां चावस्थां गमितं सूतपुत्रं श्रुत्वा पार्था जहृषुः काननस्थाः ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्रपुत्र कौरव कर्णको छला हुआ सुनकर बहुत दीन और मान रहित हो गये । वन-निवासी पाण्डव कर्णकी उस दशाको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ ४० ॥

जनमेजय उवाच

कस्था वीराः पाण्डवास्ते बभूवुः कुतश्चैतच्छ्रुतवन्तः प्रियं ते ।
किं वाकार्षुर्द्वादशेऽब्दे व्यतीते तन्मे सर्वं भगवान्व्याकरोतु ॥ ४१ ॥

जनमेजय बोले– हे भगवन् ! उस समय वीर पाण्डव कहां रहते थे ? उन्होंने इस प्रिय बातको किससे सुना था ? बारह वर्ष बीत जानेके बाद उन्होंने क्या किया ? यह सब आप मुझसे कहिये ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

लब्ध्वा कृष्णां सैन्धवं द्रावयित्वा विप्रैः सार्धं काम्यकादाश्रमात्ते ।
मार्कण्डेयाच्छ्रुतवन्तः पुराणं देवर्षीणां चरितं विस्तरेण ॥ ४२ ॥
प्रत्याजग्मुः सरथाः सानुयात्राः सर्वैः सार्धं सूदपौरोगवैश्च ।
ततः पुण्यं द्वैतवनं नृवीरा निस्तीर्योग्रं वनवासं समग्रम् ॥ ४३ ॥

॥ इति श्री महाभारते आरण्यकपर्वणि चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९४ ॥ १०१२५ ॥
॥ समाप्तं कुण्डलाहरणपर्व ॥

वैशम्पायन बोले– द्रौपदीको प्राप्त करके और सिन्धुदेशके राजा जयद्रथको भगाकर, काम्यक वनमें मार्कण्डेय ऋषिसे ब्राह्मणोंके सहित देवता और ऋषियोंके पुराने चरित्र सुनते हुए पाण्डव उस काम्यक बनसे रथ सहित, यात्राके साथ रसोइये, पुरवासीके साथ वे वीर अपने समग्र भयंकर वनवासको समाप्त करके पवित्र द्वैतवनमें आए ॥ ४२–४३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ चौरानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २९४ ॥ १०१२५ ॥
॥ कुण्डलाहरणपर्व समाप्त ॥

२९५

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
प्रतिलभ्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पाण्डवाः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले– हे महामुने ! जब द्रौपदी हरी गई, तब उसके कारण पाण्डवोंने बहुत क्लेश उठाया । पश्चात् द्रौपदीको पाकर पाण्डवोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ॥ २ ॥
पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः ।
स्वादुमूलफलं रम्यं मार्कण्डेयाश्रमं प्रति ॥ ३ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् ! इस प्रकारसे द्रौपदीके हरे जानेके कारण कठिन क्लेशको पाकर महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयोंके सहित काम्यक वनको त्यागकर मनोहर स्वादयुक्त फल मूलसे भरे, सुन्दर द्वैतवनमें आकर मार्कण्डेयके आश्रमके पास रहने लगे ॥ २-३ ॥

अनुगुप्तफलाहाराः सर्व एव मिताशनाः ।
न्यवसन्पाण्डवास्तत्र कृष्णया सह भारत ॥ ४ ॥

हे भारत ! व्रत करनेवाले, थोडा भोजन करनेवाले पाण्डव द्रौपदीके सहित द्वैतवनमें रहने लगे ॥ ४ ॥

वसन्द्वैतवने राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ५ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा पाण्डुसे माद्रीमें उत्पन्न दोनों नकुल तथा सहदेव उसी द्वैतवनमें रहने लगे ॥ ५ ॥

ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ता धर्मात्मानो यतव्रताः ।
क्लेशमार्छन्त विपुलं सुखोदर्कं परंतपाः ॥ ६ ॥

उन व्रतशील, धर्मात्मा शत्रुनाशी पाण्डवोंने एक दिन एक ब्राह्मणके लिये बहुत क्लेश उठाया पर वह क्लेश परिणाममें सुखकारी ही हुआ ॥ ६ ॥

अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने ।
आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संतप्त इदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

एक दिन वनमें महाराज युधिष्ठिर भाईयोंके सहित बैठे हुए थे, उसी समय एक ब्राह्मणने उनके पास जाकर बडे दुःखके साथ यह कहा ॥ ७ ॥

अरणीसहितं मह्यं समासक्तं वनस्पतौ ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ ८ ॥

हे महाराज ! मेरी अरणी और मथानी एक वृक्षमें लटकी हुई थी, एक हरिण आकर उस वृक्षसे अपने शरीरको रगडने लगा, हरिणके सींगमें मेरी अरणी और मथानी उलझ गई ॥ ८ ॥

तदादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः।
आश्रमात्त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥ ९ ॥

हे राजन्! वह बडे वेगवाला महामृग शीघ्रताके साथ उन्हें लेकर मेरे आश्रमसे चला गया ॥ ९ ॥

तस्य गत्वा पदं शीघ्रमासाद्य च महामृगम्।
अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पाण्डवाः ॥ १० ॥

हे पाण्डवो! उस हरिणके पैरोंके चिह्नसे उस हरिनको पकडकर मेरी अरणी और मथानीको आप लोग ला दीजिये, जिससे मेरे अग्निहोत्रका नाश न हो ॥ १० ॥

ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा संतप्तोऽथ युधिष्ठिरः।
धनुरादाय कौन्तेयः प्राद्रवद्भ्रातृभिः सह ॥ ११ ॥

महाराज युधिष्ठिर ब्राह्मणके वचनोंको सुनके बहुत दुःखी हुए, और कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर धनुष लेकर भाइयोंके सहित दौडे ॥ ११ ॥

सन्नद्धा धन्विनः सर्वे प्राद्रवन्नरपुङ्गवाः।
ब्राह्मणार्थे यतन्तस्ते शीघ्रमन्वगमन्मृगम् ॥ १२ ॥

वे नरश्रेष्ठ पाण्डव कवच पहनकर और धनुष धारण करके ब्राह्मणके लिए उस मृगके पैरोंके चिह्नपर चल दिये ॥ १२ ॥

कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन्तो महारथाः।
नाविध्यन्पाण्डवास्तत्र पश्यन्तो मृगमन्तिकात् ॥ १३ ॥

कुछ दूर जाकर उन्हें वह मृग मिल गया। महारथी पाण्डव लोग कानतक खींच कर कर्णिक, नालीक, नाराच आदि बाण मारते थे, तोभी समीप खडा हरिण उन बाणोंसे न वेधा गया ॥ १३ ॥

तेषां प्रयतमानानां नादृश्यत महामृगः।
अपश्यन्तो मृगं श्रान्ता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः ॥ १४ ॥

उन यत्न करनेवालोंकी दृष्टिसे वह मृग अदृश्य होगया। थके हुए मनस्वी पाण्डव उस मृगको न देखकर बहुत ही दुःखी हुए ॥ १४ ॥

शीतलच्छायमासाद्य न्यग्रोधं गहने वने।
क्षुत्पिपासापरीताङ्गाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥ १५ ॥

उस घोर वनमें पाण्डव भूख और प्याससे व्याकुल होकर एक बडकी ठंडी छायामें जा बैठे ॥ १५ ॥

तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा ।
अब्रवीद्भ्रातरं ज्येष्ठममर्षात्कुरुसत्तम ॥ १६ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ! जब पाण्डव छायामें जा बैठे, तब दुःखके साथ क्रोधसे नकुल बडे भाई युधिष्ठिरसे बोले ॥ १६ ॥

नास्मिन्कुले जातु ममज्ज धर्मो न चालस्यादर्थलोपो बभूव ।
अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः संप्राप्ताः स्मः संशयं केन राजन् ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९५ ॥ १०१४२ ॥

हे राजन्! हमारे कुलमें कभी धर्मका लोप नहीं हुआ, और न कभी आलस्यसे अर्थका नाश हुआ है। किसी प्राणीके प्रार्थना करने पर हमने उसे कोरा जवाब नहीं दिया, तब फिर किस कारणसे संकटमें पड गये हैं? ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ पिच्चानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २९५ ॥ १०१४२ ॥

: २९६ :

युधिष्ठिर उवाच

नापदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम् ।
धर्मस्तु विभजत्यत्र उभयोः पुण्यपापयोः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले– आपत्तिके कालमें कोई मर्यादा नहीं। होती आपत्तियोंका कोई निमित्त और कारण भी नहीं होता। पुण्य और पापका विभाग धर्मही करता है ॥ १ ॥

भीम उवाच

प्रातिकाम्यनयत्कृष्णां सभायां प्रेष्यवत्तदा ।
न मया निहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ २ ॥

भीमसेन बोले– जब दुर्योधनका सूत प्रातिकामी द्रौपदीको सभामें दासीके समान लाया था, तब मैंने उसको नहीं मारा, इसी कारणसे हम लोगोंको यह कष्ट प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच

वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः ।
अतितीक्ष्णा मया क्षान्तास्तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ३ ॥

अर्जुन बोले– सूतपुत्र कर्णने हड्डीको भी भेद जानेवाले बहुत कठोर वचन कहे थे, और मैंने उन्हें क्षमा कर दिया, इसी कारणसे हम लोगोंको यह कष्ट मिला है ॥ ३ ॥

सहदेव उवाच

शकुनिस्त्वां यदाजैषीदक्षद्यूतेन भारत ।
स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥ ४ ॥

सहदेव बोले— हे भारत! जब शकुनिने आपको जुएमें जीता था; तब मैंने उसे वहीं नहीं मार दिया, इसी कारणसे हम लोगोंको कष्ट मिला है ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत् ।
आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ॥ ५ ॥

वैशंपायन बोले— इसके अनन्तर महाराज युधिष्ठिर नकुलसे ऐसा वाक्य बोले— हे माद्रीनन्दन! तुम वृक्षपर चढकर दसों दिशाओंको देखो ॥ ५ ॥

पानीयमन्तिके पश्य वृक्षान्वाप्युदकाश्रयान् ।
इमे हि भ्रातरः श्रान्तास्तव तात पिपासिताः ॥ ६ ॥

कहीं समीपमें जलके किनारे वाले वृक्ष और पानी हैं या नहीं? हे तात! ये तुम्हारे भाई प्यासे और श्रान्त हो रहे हैं ॥ ६ ॥

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम् ।
अब्रवीद्भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥ ७ ॥

नकुलभी "बहुत अच्छा" कहके शीघ्रताके साथ वृक्षपर चढ गये और चारों ओर देखकर अपने बडे भाईसे बोले ॥ ७ ॥

पश्यामि बहुलान्राजन्वृक्षानुदकसंश्रयान् ।
सारसानां च निर्ह्रादमत्रोदकमसंशयम् ॥ ८ ॥

हे राजन्! मैं जलके तटपर उगनेवाले अनेक वृक्षोंको देखता हूं, सारसोंका शब्द भी सुनाई देता है, वहां अवश्यही जल होगा ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीत्सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूर्णं पानीयमानय ॥ ९ ॥

तब सत्यवादी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर बोले— हे सौम्य! तुम जाओ और शीघ्रतासे तरकसमें जल भरकर ले आओ ॥ ९ ॥

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात् ।
प्राद्रवद्यत्र पानीयं शीघ्रं चैवान्वपद्यत ॥ १० ॥

नकुल "बहुत अच्छा" कहकर बडे भाईकी आज्ञासे वहां चले जहां पानी था और बहुत शीघ्र वहां पहुंच गये ॥ १० ॥

स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम् ।
पातुकामस्ततो वाचमन्तरिक्षात्स शुश्रुवे ॥ ११ ॥

नकुलने सारसोंसे घिरे हुए विमल जलको देखके पीनेकी इच्छा की, इतनेहीमें नकुलने आकाशवाणी सुनी ॥ ११ ॥

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्व च ॥ १२ ॥

हे तात माद्रीपुत्र ! साहस मत करो, यहांपर पहलेसेही मेरा अधिकार है । अतः पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर जल पीओ और ले भी जाओ ॥ १२ ॥

अनादृत्य तु तद्वाक्यं नकुलः सुपिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १३ ॥

बहुतही प्यासे नकुलने उस वाक्यका अनादर करके ठण्डा जल पिया, किन्तु जल पीतेही नकुल पृथ्वीपर गिर पडे ॥ १३ ॥

चिरायमाणे नकुले कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीद्भ्रातरं वीरं सहदेवमरिन्दमम् ॥ १४ ॥

जब नकुलको देर हुई, तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुओंका नाश करनेवाले अपने वीर भाई सहदेवसे कहा ॥ १४ ॥

भ्राता चिरायते तात सहदेव तवाग्रजः ।
तं चैवानय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय ॥ १५ ॥

हे तात ! तुम्हारे बडे भाईको गये बहुत देर होगई है, अतः तुम जाकर भाईको बुला लाओ और पानीको भी ले आओ ॥ १५ ॥

सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत ।
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥ १६ ॥

सहदेव भी " बहुत अच्छा " कहके उसी ओर गये और जलके समीप जाके अपने भाई नकुलको पृथ्वीपर मरा हुआ पडा देखा ॥ १६ ॥

भ्रातृशोकाभिसंतप्तस्तृषया च प्रपीडितः ।
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ॥ १७ ॥

अपने भाईकी मृत्युसे संतप्त सहदेव प्याससे बहुतही व्याकुल होकर पानी पीनेको चले । तब आकाशवाणी हुई ॥ १७ ॥

×

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं ततः पिब हरस्व च ॥ १८ ॥

हे तात ! हठ मत करो, यहांपर पहलेसेही मेरा अधिकार है, अतः पहिले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, फिर जल पीयो और ले भी जाओ ॥ १८ ॥

अनादृत्य तु तद्वाक्यं सहदेवः पिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १९ ॥

प्यासे सहदेवने उस वचनका अनादर करके ठण्डा जल पिया, और पीकर वह भी गिर पडे ॥ १९ ॥

अथाब्रवीत्स विजयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भ्रातरौ ते परिगतौ बीभत्सो शत्रुकर्शन ।
तौ चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ॥ २० ॥

इसके पश्चात् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा– हे शत्रुओंको दुःख देनेवाले अर्जुन ! तुम्हारे दो भाई जल लेने गये हैं, तुम जाकर दोनों भाइयोंको और जलको ले आओ ॥ २० ॥

एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
आमुक्तखड्गो मेधावी तत्सरः प्रत्यपद्यत ॥ २१ ॥

ऐसे वचन सुनकर धनुषबाण और नङ्गा खङ्ग लेकर बुद्धिमान् अर्जुन उस तालावपर पहुंचे ॥ २१ ॥

यतः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ ।
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ॥ २२ ॥

वहां श्वेत घोडेवाले अर्जुनने, जो जल लानेके लिए पहिले दोनों भाई गये थे, उन दोनों पुरुषसिंहोंको पृथ्वीपर पडा हुआ देखा ॥ २२ ॥

प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः ।
धनुरुद्यम्य कौन्तेयो व्यलोकयत तद्वनम् ॥ २३ ॥

सोए हुएके समान उन दोनों भाइयोंको देखकर पुरुषसिंह अर्जुनको बडा दुःख हुआ, तब धनुष चढाकर अर्जुनने उस सब वनको देखा ॥ २३ ॥

नापश्यत्तत्र किंचित्स भूतं तस्मिन्महावने ।
सव्यसाची ततः श्रान्तः पानीयं सोऽभ्यधावत ॥ २४ ॥

अर्जुनने जब उस वनमें किसी भी प्राणीको न देखा, तब थककर पानी पीनेको चले ॥२४॥

अभिधावंस्ततो वाचमन्तरिक्षात्स शुश्रुवे ।
किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात्त्वया ॥ २५ ॥

जब अर्जुन जल पीनेको चले, तब उन्होंने अन्तरिक्षसे बिना शरीरकी वाणी सुनी। हे अर्जुन! तुम पानीके पास क्यों जा रहे हो ? तुम बलसे पानी नहीं पी सकते ॥ २५ ॥

कौन्तेय यदि वै प्रश्नान्मयोक्तान्प्रतिपत्स्यसे ।
ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत ॥ २६ ॥

हे भारत ! यदि मेरे कहे हुए प्रश्नोंका उत्तर दोगे, तो जल पी भी सकोगे और लेभी जा सकोगे ॥२६॥

वारितस्त्वब्रवीत्पार्थो दृश्यमानो निवारय ।
यावद्बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ॥ २७ ॥

अर्जुनको जल पीनेसे जब रोका; तब अर्जुनने कहा कि प्रत्यक्ष होकर मुझे रोको; मेरे बाणोंसे छिदकर फिर ऐसे न बोलोगे ॥ २७ ॥

एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः ।
ववर्ष तां दिशं कृत्स्नां शब्दवेधं च दर्शयन् ॥ २८ ॥

अर्जुनने ऐसे कहके बाणोंको दिव्य अस्त्रोंसे युक्त करके शब्दवेधी रीतिसे चारों ओर बाणवर्षा करनी आरम्भ की ॥ २८ ॥

कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन्भरतर्षभ ।
अनेकैरिषुसंघातैरन्तरिक्षे ववर्ष ह ॥ २९ ॥

हे भरतवंशी जनमेजय ! कानों तक खींचकर निवारण होनेके अयोग्य बाणोंकी वर्षा करके अनेक बाणोंसे अन्तरिक्षको छा दिया ॥ २९ ॥

यक्ष उवाच

किं विघातेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब ।
अनुक्त्वा तु ततः प्रश्नान्पीत्वैव न भविष्यसि ॥ ३० ॥

अर्जुनसे यक्ष बोला– हे कुन्तीपुत्र । इस उपायसे कुछ फल नहीं होगा, मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर फिर जल पियो । बिना प्रश्नोंका उत्तर दिये जल पियोगे तो पींतेही मर जाओगे ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

स त्वमोघानिषून्मुक्त्वा तृष्णयाभिप्रपीडितः ।
अविज्ञायैव तान्प्रश्नान्पीत्वैव निपपात ह ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन बोले– बाणोंकी वर्षा करनेके कारण प्याससे पीडित होकर सव्यसाची अर्जुन उस यक्षकी वाणीका अनादर करके जल पीने लगे और जल पीतेही मर गये ॥ ३१ ॥

अथाब्रवीद्भीमसेनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः
नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्चापराजितः ॥ ३२ ॥
चिरं गतास्तोयहेतोर्न चागच्छन्ति भारत ।
तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ॥ ३३ ॥

इसके पश्चात् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा– नकुल, सहदेव और अपराजित अर्जुन बहुत देरसे जल लेनेके लिये गये हुए हैं, परन्तु हे भारत! कोईभी अबतक नहीं आये। तुम्हारा कल्याण हो, तुम जाकर सब भाइयोंको और जलको ले आओ ॥ ३२-३३ ॥

भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत
यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः ॥ ३४ ॥

भीमसेनभी "बहुत अच्छा" कहकर वहीं पहुंचे, जहां उनके पुरुषसिंह भाई मरे पडे थे ॥३४॥

तान्दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः ।
अमन्यत महाबाहुः कर्म तद्यक्षरक्षसाम् ।
स चिन्तयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य मे ॥ ३५ ॥

उनको देखकर भीमसेन बहुत दुःखी और प्याससे व्याकुल हो गये। महाबली भीमने समझा कि यह कर्म किसी यक्ष वा राक्षसका है; भीमसेनने विचार किया कि यहां पर मुझे युद्ध अवश्य करना पडेगा ॥ ३५ ॥

पास्यामि तावत्पानीयमिति पार्थो वृकोदरः ।
ततोऽभ्यधावत्पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः ॥ ३६ ॥

पर पहले पानी पी लूँ, ऐसा विचार कर प्यासे पुरुषश्रेष्ठ भीमसेन जल पीनेके लिए चले ॥ ३६ ॥

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ ३७ ॥

यक्ष बोला– हे तात कुन्तीपुत्र! हठ मत करो; इसपर पहलेसे ही मेरा अधिकार है, अतः पहिले मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर जल पीयो और ले जाओ ॥ ३७ ॥

वैशंपायन उवाच

एवमुक्तस्ततो भीमो यक्षेणामिततेजसा ।
अविज्ञायैव तान्प्रश्नान्पीत्वैव निपपात ह ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन बोले– भीमसेन यक्षकी बातको सुनके और तेजस्वी यक्षके प्रश्नोंका उत्तर दिये विनाही जल पीकर पृथ्वीपर गिर पडे ॥ ३८ ॥

ततः कुन्तीसुतो राजा विचिन्त्य पुरुषर्षभः ।
समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा ॥ ३९ ॥

तब नरश्रेष्ठ कुन्ती-नन्दन राजा युधिष्ठिर वारंवार चिन्ता करके उठे । उस समय युधिष्ठिरका मन दुःखसे जल रहा था ॥ ३९ ॥

अपेतजननिर्घोषं प्रविवेश महावनम् ।
रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिरने उस वनमें प्रवेश किया जिसमें किसी मनुष्यका शब्द नहीं सुन पडता था । रुरु, वराह, और अनेक प्रकारके पक्षी उस वनकी सेवा करते थे ॥ ४० ॥

नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम् ।
भ्रमरैरुपगीतं च पक्षिभिश्च महायशाः ॥ ४१ ॥

वह वन नीले और धौले वृक्षोंसे शोभायमान था । उसमें भौंरे और पक्षी शब्द कर रहे थे । ऐसे वनमें महायशस्वी राजा प्रविष्ट हुए ॥ ४१ ॥

स गच्छन्कानने तस्मिन्हेमजालपरिष्कृतम् ।
ददर्श तत्सरः श्रीमान्विश्वकर्मकृतं यथा ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिरने उस वनमें जाके कमलोंसे भरे उस तालावको देखा जो सुनहले वर्णके कुसुम केसरोंसे विभूषित था । उसे मानो विश्वकर्मानेही बनाया था ॥ ४२ ॥

उपेतं नलिनीजालैः सिन्धुवारैश्च वेतसैः ।
केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संवृतम् ।
श्रमार्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाथ विस्मितः ॥ ४३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९६ ॥ १०१८५ ॥

वह तालाव कमलिनियोंसे भरा सिन्धु वारोंसे भरे उत्तम जातिके कमलोंसे पूर्ण, केतकी, कनेर और पीपलके वृक्षोंसे घिरा हुआ था । थके हुए राजा युधिष्ठिर उस तलावको देखकर आश्चर्यचकित हो गए ॥ ४३ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ छियानवंवां अध्याय समाप्त ॥ २९६ ॥ १०१८५ ॥

: २०७ :

वैशम्पायन उवाच

स ददर्श हतान्भ्रातॄँल्लोकपालानिव च्युतान् ।
युगान्ते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! महाराज युधिष्ठिरने इन्द्रके समान बलशाली अपने भाइयोंको इसप्रकार निर्जीव पडे हुए देखा, जैसे कि मानों प्रलयकालमें लोकपाल लोकोंसे भ्रष्ट होकर गिर गए हों ॥ १ ॥

विप्रकीर्णधनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम् ।
भीमसेनं यमौ चोभौ निर्विचेष्टान्गतायुषः ॥ २ ॥
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकबाष्पपरिप्लुतः ।
बुद्ध्या विचिन्तयामास वीराः केन निपातिताः ॥ ३ ॥

अर्जुनको धनुष बाण छोडकर मरा हुआ पडा देखकर ऐसे ही भीमसेन और नकुल तथा सहदेवको पडा हुआ देख लम्बी सांस लेकर शोकसे आंसू बहाने लगे। तब धर्मराज युधिष्ठिर बुद्धिसे विचारने लगे कि इन वीरोंको किसने मारा है ? ॥ २-३ ॥

नैषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहास्ति कस्यचित् ।
भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः ।
एकाग्रं चिन्तयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम् ॥ ४ ॥

इनके शरीरोंमें कोई शस्त्र भी नहीं लगा है , न यहांपर किसीके पैरही दीखते हैं। मैं यही मानता हूं कि वह कोई अद्भुत जीव है, जिसने मेरे भाइयोंको मारा है। मैं चित्तको एकाग्र करके विचारूंगा अथवा जल पीकर निश्चय करूंगा ॥ ४ ॥

स्यात्तु दुर्योधनेनेदमुपांशुविहितं कृतम् ।
गांधारराजरचितं सततं जिह्मबुद्धिना ॥ ५ ॥

हो सकता है कि दुर्योधनने गुप्त रीतिसे कोई उपाय किया हो अथवा सदा कुटिल बुद्धिवाले गान्धार देशके राजा शकुनिने कोई छल किया हो ॥ ५ ॥

यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत ।
कस्तस्य विश्वसेद्वीरो दुर्मतेरकृतात्मनः ॥ ६ ॥

उसे करने योग्य और न करने योग्य सब कार्य एकसे ही दीखते हैं। उस पापीका कौन विश्वास कर सकता है ? ॥ ६ ॥

अथ वा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः ।
भवेदिति महाबाहुर्बहुधा समचिन्तयत् ॥ ७ ॥

अथवा किसी दुरात्मा गुप्त दूतका यह काम है, इस प्रकारसे बुद्धिमान् युधिष्ठिरने अनेक भांतिसे विचार किया ॥ ७ ॥

तस्यासीन्न विषेणेदमुदकं दूषितं यथा ।
मुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातॄणामित्यचिन्तयत् ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरने सोचा कि भाइयोंके मुखके रंग अभीतक प्रसन्न हैं, इसलिए उन्हें यह निश्चय हो गया कि यह जल विषसे दूषित नहीं है ॥ ८ ॥

एकैकशश्चौघबलानिमान्पुरुषसत्तमान् ।
कोऽन्यः प्रतिसमासेत कालान्तकयमादृते ॥ ९ ॥

इन एक एक पुरुषश्रेष्ठ महाबलियोंसे सबका अन्त करनेवाले यम के सिवाय और कौन लड सकता है ? ॥ ९ ॥

एतेनाध्यवसायेन तत्तोयमवगाढवान् ।
गाहमानश्च तत्तोयमन्तरिक्षात्स शुश्रुवे ॥ १० ॥

ऐसा विचार करके महाराज युधिष्ठिर जलमें घुसे । जलमें घुसतेही युधिष्ठिरने आकाशवाणी सुनी ॥ १० ॥

यक्ष उवाच

अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षो मया नीताः प्रेतवशं तवानुजाः ।
त्वं पंचमो भविता राजपुत्र न चेत्प्रश्नान्पृच्छतो व्याकरोषि ॥ ११ ॥

यक्ष बोला– हे राजपुत्र ! मैं सेवार और मछलियोंको खानेवाला बगुला हूं । मैंनेही तुम्हारे चारो भाइयोंको मारा है, यदि मेरे प्रश्नका उत्तर न दोगे तो तुम भी इनके साथ पांचवें बनोगे ॥ ११ ॥

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च ॥ १२ ॥

हे तात कुन्तीपुत्र ! तुम साहस मत करो, यहां पर पहलेसे ही मेरा अधिकार है । पहिले मेरे प्रश्नका उत्तर देकर फिर जल पियो और लेभी जावो ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

रुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक्।
पृच्छामि को भवान्देवो नैतच्छकुनिना कृतम् ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर बोले– मैं पूछता हूं कि तुम कौन हो? रुद्र, वसु वा मरुद्गणके प्रधान देवता हो? यह काम कोई पक्षी नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

हिमवान्पारियात्रश्च विंध्यो मलय एव च।
चत्वारः पर्वताः केन पातिता भुवि तेजसा ॥ १४ ॥

हिमाचल, पारियात्र, विन्ध्याचल और मलय पर्वतके समान मेरे चार भाईयोंको अपने तेजसे किसने पृथ्वीपर मारके गिराया है? ॥ १४ ॥

अतीव ते महत्कर्म कृतं बलवतां वर।
यन्न देवा न गंधर्वा नासुरा न च राक्षसाः
विषहेरन्महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्भुतम् ॥ १५ ॥

हे बलवानोंमें श्रेष्ठ! तुमने यह बडा भारी काम किया है। जिस कामको महायुद्धमें न देव, न गन्धर्व, न असुर और न राक्षस ही कर सकते हैं, उस महा अद्भुत कार्यको तुमने किया है ॥ १५ ॥

न ते जानामि यत्कार्यं नाभिजानामि काङ्क्षितम्।
कौतूहलं महज्जातं साध्वसं चागतं मम ॥ १६ ॥

तुम्हारा क्या कार्य है, मैं नहीं जानता और तुम क्या करना चाहते हो, वह भी मैं नहीं जानता। मुझे बहुत कौतूहल हो रहा है, और साथ ही मुझे बहुत थकावट भी आ रही है ॥ १६ ॥

येनास्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः
पृच्छामि भगवंस्तस्मात्को भवानिह तिष्ठति ॥ १७ ॥

इसी कारणसे मेरा चित्त घबडा रहा है। मेरे सिरमें भी दर्द हो रहा है। हे भगवन्! इसी कारणसे पूछता हूं कि तुम कौन हो? जो यहां निवास करते हो ॥ १७ ॥

यक्ष उवाच

यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नास्मि पक्षी जलेचरः।
मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः ॥ १८ ॥

यक्ष बोला– हे राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। मैं यक्ष हूं, मैं कोई जलमें विचरनेवाला साधारण पक्षी नहीं हूँ। मैंनेही तुम्हारे इन तेजस्वी भाइयोंको मारा है ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तामशिवां श्रुत्वा वाचं स परुषाक्षराम्।
यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नुपक्रम्य तदा स्थितः ॥ १९ ॥

वैशम्पायन बोले– तब उस यक्षके द्वारा बोले जाते हुए कल्याणरहित कठोर अक्षरोंसे भरी वाणीको सुनकर राजा युधिष्ठिर सावधान होकर खडे होगये ॥ १९ ॥

विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम्।
ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम् ॥ २० ॥
सेतुमाश्रित्य तिष्ठन्तं ददर्श भरतर्षभः।
मेघगंभीरया वाचा तर्जयन्तं महाबलम् ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने भयानक नेत्र और बडी देहवाले, ताडके समान लम्बे, सूर्य और अग्निके समान प्रकाशयुक्त, पर्वतके समान अधृष्य, मेघके समान गंभीर वाणीसे युधिष्ठिरको डराते हुए तथा पुलको घेरकर बैठे हुए महाबली यक्षको देखा ॥ २०-२१ ॥

यक्ष उवाच

इमे ते भ्रातरो राजन्वार्यमाणा मयासकृत्।
बलात्तोयं जिहीर्षन्तस्ततो वै सूदिता मया ॥ २२ ॥

यक्ष बोला– हे राजन्! तुम्हारे भाइयोंको बार बार मैंने जल पीनेसे रोका, जब यह बलसे जल लेने लगे, तब मैंने मार डाला ॥ २२ ॥

न पेयमुदकं राजन्प्राणानिह परीप्सता।
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥ २३ ॥

हे राजन्! तुमको भी यदि प्राण की रक्षा करनी हो तो जल मत पियो। हे तात कुन्तीपुत्रो साहस मत करो, इस सरोवर पर पहलेसे ही मेरा अधिकार है, अतः पहिले मेरे प्रश्नोंके उत्तर देकर फिर जल पियो और लेभी जाओ ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नैवाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम्।
कामं नैतत्प्रशंसन्ति सन्तो हि पुरुषाः सदा ॥ २४ ॥
यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसेत्पुरुषः प्रभोः।
यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान्प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे यक्ष! मैं तुम्हारे अधिकारको छीनना नहीं चाहता। स्वयं अपनी ही प्रशंसा करना ठीक नहीं, क्योंकि साधुजन उसकी प्रशंसा नहीं करते। इसलिये तुम प्रश्न करो मैं अपनी बुद्धिके अनुसार उत्तर दूंगा ॥ २४-२५ ॥

×

यक्ष उवाच

किं स्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चराः ।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति ॥ २६ ॥

यक्षने पूछा– सूर्यको कौन उदय करता है ? उसके चारों ओर कौन चलते हैं ? कौन सूर्यको अस्त करता है, और सूर्य किसमें स्थित है ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः ।
धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर बोले– ब्रह्म सूर्यको उदय करता है । देव सूर्यके चारों ओर चलते हैं । धर्म सूर्यको अस्त करता है, और सत्यमें सूर्य स्थित है ॥ २७ ॥

यक्ष उवाच

केन स्विच्छ्रोत्रियो भवति केन स्विद्विन्दते महत् ।
केन द्वितीयवान्भवति राजन्केन च बुद्धिमान् ॥ २८ ॥

यक्षने पूछा– हे राजन् ! किससे मनुष्य श्रोत्रिय होता है ? किससे महत्त्वको प्राप्त होता है ? किससे दूसरेसे युक्त होता है ? और किससे बुद्धिमान् होता है ? ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विन्दते महत् ।
धृत्या द्वितीयवान्भवति बुद्धिमान्वृद्धसेवया ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर बोले– मनुष्य वेदसे श्रोत्रिय होता है, तपसे महत्त्वको पाता है, धारणासे दूसरेसे युक्त होता है, और वृद्धोंकी सेवासे बुद्धिमान् होता है ॥ २९ ॥

यक्ष उवाच

किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ३० ॥

यक्षने पूछा– ब्राह्मणोंमें देवतापन क्या है ? सज्जनोंके समान उनका धर्म क्या है ? उनमें मनुष्यत्व क्या है ? और दुष्टोंके समान धर्म क्या है ? ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर बोले– नित्य ही वेदको पढना ब्राह्मणमें देवतापन है, तप ही सज्जनोंके समान धर्म है, मरना मनुष्यता है और दूसरोंकी निन्दा करना ही दुष्टोंका सा कर्म है ॥ ३१ ॥

यक्ष उवाच

किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ३२ ॥

यक्षने पूछा– क्षत्रियोंमें देवतापन क्या है ? क्षत्रियोंमें सद्धर्म क्या है ? क्षत्रियोंमें मनुष्यभाव क्या है ? और क्षत्रियोंमें दुष्टभाव क्या है ? ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर बोले– बाण और अस्त्रोंको धारण करना ही क्षत्रियोंका देवतापन है, और यज्ञ करना सद्धर्म है, भय करना क्षत्रियोंमें मनुष्यभाव है, शरणागतको वा युद्धको त्यागना क्षत्रियोंका दुष्ट कर्म है ॥ ३३ ॥

यक्ष उवाच

किमेकं यज्ञियं साम किमेकं यज्ञियं यजुः ।
का चैका वृश्चते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ३४ ॥

यक्षने बोले– यज्ञिय साम कौन है ? यजुर्वेदका एक वह मन्त्र कौनसा है, जिससे यज्ञ हो सकता हो ? यज्ञको आच्छादन करनेवाली कौन है ? किसको यज्ञ नहीं लांघ सकता है ? ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः ।
वागेका वृश्चते यज्ञं तां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर बोले– प्राण ही यज्ञका साम है । मन यजुर्वेदके यज्ञका मन्त्र है । वाण ही यज्ञका आच्छादन करती है । वाणीको यज्ञ नहीं लांघ सकता ॥ ३५ ॥

यक्ष उवाच

किं स्विदापततां श्रेष्ठं किं स्विन्निपततां वरम् ।
किं स्वित्प्रतिष्ठमानानां किं स्वित्प्रवदतां वरम् ॥ ३६ ॥

यक्षने पूछा– गिरनेवालोंमें कौन श्रेष्ठ है ? बोये जानेवाले पदार्थोंमें कौनसी वस्तु श्रेष्ठ है ? प्रतिष्ठा चाहनेवालोंके लिए क्या उत्तम है ? और बोलनेवालोंके लिए क्या उत्तम है ? ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्षमापततां श्रेष्ठं बीजं निपततां वरम्।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रवदतां वरः ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर बोले– गिरनेवालोंमें जलकी वर्षा उत्तम है। बोये जानेवालोंमें बीज ही श्रेष्ठ है। प्रतिष्ठा चाहनेवालोंके लिए गौ उत्तम है। उत्तम बोलनेवालोंमें पुत्र उत्तम है ॥ ३७ ॥

यक्ष उवाच

इन्द्रियार्थाननुभवन्बुद्धिमाँल्लोकपूजितः।
संमतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन्को न जीवति ॥ ३८ ॥

यक्षने पूछा– इन्द्रियोंके विषयोंको भोगता हुआ, बुद्धियुक्त संसारमें आदरयुक्त, सब प्राणियोंका मान्य, सांस लेते हुए भी कौन नहीं जीता है ? ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिर बोले– देवता, अतिथि, पितर और सेवकोंको और अपनी आत्मा इन पांचोंको जो यथायोग्य पदार्थ नहीं देता है, वह सांस लेता हुआ भी मरा हुआ ही है ॥ ३९ ॥

यक्ष उवाच

किं स्विद्गुरुतरं भूमेः किं स्विदुच्चतरं च खात्।
किं स्विच्छीघ्रतरं वायोः किं स्विद्बहुतरं नृणाम् ॥ ४० ॥

यक्षने पूछा– पृथ्वीसे भारी कौन है ? आकाशसे ऊंचा कौन है ? वायुसे जल्दी चलनेवाला कौन है ? मनुष्योंके लिए अत्यन्त कष्टदायक क्या है ? ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर उवाच

माता गुरुतरा भूमेः पिता उच्चतरश्च खात्।
मनः शीघ्रतरं वायोश्चिंता बहुतरी नृणाम् ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर बोले– माता भूमिसे भारी है। पिता आकाशसे ऊंचा है। मन वायुसे जल्दी चलनेवाला है। मनुष्योंके लिए चिन्ता सबसे अधिक कष्टदायक है ॥ ४१ ॥

यक्ष उवाच

किं स्वित्सुप्तं न निमिषति किं स्विज्जातं न चोपति।
कस्य स्विद्धृदयं नास्ति किं स्विद्वेगेन वर्धते ॥ ४२ ॥

यक्ष ने पूछा– कौन सोता हुआ पलक नहीं मारता ? उत्पन्न होकर कौन नहीं चलता ? किसके हृदय नहीं है ? वेगसे कौन बढता है ? ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले— मछली सोते हुए पलक नहीं मारती। अण्डा उत्पन्न होकर नहीं चलता। पत्थरके हृदय नहीं होता। नदी शीघ्रतासे बढती है ॥ ४३ ॥

यक्ष उवाच

किं स्वित्प्रवसतो मित्रं किं स्विन्मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य च किं मित्रं किं स्विन्मित्रं मरिष्यतः ॥ ४४ ॥

यक्षने पूछा— यात्रामें कौन मित्र है ? घरमें कौन मित्र होता है ? रोगीका कौन मित्र है ? मरनेके समय कौन मित्र होता है ? ॥ ४४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य भिषङ्मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर बोले— यात्रामें सार्थ अर्थात् काफिला मित्र है। घरमें स्त्री मित्र है। वैद्य रोगीका मित्र है और दान मरनेके समयका मित्र होता है ॥ ४५ ॥

यक्ष उवाच

किं स्विदेको विचरति जातः को जायते पुनः ।
किं स्विद्धिमस्य भैषज्यं किं स्विदावपनं महत् ॥ ४६ ॥

यक्षने पूछा— अकेला कौन विचरता है ? उत्पन्न होकर फिर कौन उत्पन्न होता है ? शीतकी औषधी क्या है ? बोनेका बडा स्थान क्या है ? ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सूर्य एको विचरति चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर बोले— सूर्य अकेला घूमता है। चन्द्रमा फिर उत्पन्न होता है। अग्नि शीतकी औषधी है। बोनेका बडा स्थान भूमि है ॥ ४७ ॥

यक्ष उवाच

किं स्विदेकपदं धर्म्यं किं स्विदेकपदं यशः ।
किं स्विदेकपदं स्वर्ग्यं किं स्विदेकपदं सुखम् ॥ ४८ ॥

यक्षने पूछा— धर्मका एक स्थान क्या है ? यशका एक स्थान क्या है ? स्वर्गका एक उपाय क्या है और सुख पानेका एक उपाय क्या है ? ॥ ४८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर बोले– दक्षता ही धर्मका स्थान है। दान ही यशका एकमात्र स्थान है। सत्य स्वर्गका एकमात्र स्थान है और शील ही सुखका एक उपाय है ॥ ४९ ॥

यक्ष उवाच

किं स्विदात्मा मनुष्यस्य किं स्विद्दैवकृतः सखा।
उपजीवनं किं स्विदस्य किं स्विदस्य परायणम् ॥ ५० ॥

यक्षने पूछा– मनुष्यकी आत्मा क्या है? देवका दिया हुआ मित्र कौन है? मनुष्यका जीवन क्या है? मनुष्यका आधार क्या है? ॥ ५० ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर बोले– पुत्र मनुष्यकी आत्मा है। स्त्री देवकी दी हुई मित्र है। मेघ जीवन है, और दान मनुष्यका आधार है ॥ ५१ ॥

यक्ष उवाच

धन्यानामुत्तमं किं स्विद्धनानां किं स्विदुत्तमम्।
लाभानामुत्तमं किं स्वित्किं सुखानां तथोत्तमम् ॥ ५२ ॥

यक्षने पूछा– धन्य लोगोंमें उत्तम क्या है? धनोंमें उत्तम धन क्या है? लाभोंमें उत्तम लाभ क्या है? और सुखोंमें उत्तम सुख क्या है ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम्।
लाभानां श्रेयमारोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर बोले– धन्य लोगोंमें चतुरता उत्तम है। धनोंमें विद्या उत्तम है। लाभोंमें नीरोगता उत्तम है और सुखोंमें सन्तोष उत्तम है ॥ ५३ ॥

यक्ष उवाच

कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः।
किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च सन्धिर्न जीर्यते ॥ ५४ ॥

यक्षने पूछा– कौनसा धर्म सबसे उत्तम है? कौनसा धर्म सदा फल देनेवाला है? किसको संयत करनेसे शोक नहीं करना होता? और किनकी सन्धि नहीं टूटती? ॥ ५४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ।
मनो यम्य न शोचन्ति सद्भिः सन्धिर्न जीर्यते　　॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर बोले– सब भूतोंको अभय देना ही सबसे उत्तम धर्म है । वेदोक्त धर्म सदा फल देनेवाला है। मनको रोकनेपर शोक नहीं होता । सज्जनोंकी सन्धि कभी नहीं टूटती ॥ ५५ ॥

यक्ष उवाच

किं नु हित्वा प्रियो भवति किं हित्वा न शोचति ।
किं नु हित्वार्थवान्भवति किं नु हित्वा सुखी भवेत् ॥ ५६ ॥

यक्षने पूछा– किसको त्यागनेसे मनुष्य लोगोंका प्रिय होता है? किसको त्यागनेसे शोक नहीं होता ? किसको त्यागनेसे मनुष्य धनी होता है ? किसको त्यागनेसे मनुष्य सुखी होता है ? ॥ ५६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वाऽर्थवान्भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत्　　॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर बोले– अभिमानको त्यागनेसे मनुष्य सबका प्यारा होता है । क्रोधको त्यागनेसे शोक नहीं करना पडता । कामको त्यागनेसे धनी होता है और लोभको त्यागनेसे सुखी होता है ॥ ५७ ॥

यक्ष उवाच

मृतः कथं स्यात्पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ।
श्राद्धं मृतं कथं च स्यात्कथं यज्ञो मृतो भवेत्　　॥ ५८ ॥

यक्षने पूछा– पुरुष किससे मरता है ? देश किससे मरता है ? श्राद्ध किससे मरता है ? और यज्ञ किससे मरता है ? ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः　　॥ ५९ ॥

युधिष्ठिर बोले– दरिद्रतासे पुरुष मरता है । राजाके विना देश मरता है । विद्याहीन पुरोहितसे श्राद्ध मरता है । और दक्षिणाके बिना यज्ञ मरता है ॥ ५९ ॥

यक्ष उवाच

का दिक्किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं पार्थ किं विषम् ।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ॥ ६० ॥

यक्षने पूछा– दिशा कौनसी है ? जल क्या है ? अन्न क्या है ? विष क्या है ? हे राजन् ! श्राद्धका काल कहो, तब जल पिओ और ले जावो ॥ ६० ॥

युधिष्ठिर उवाच

सन्तो दिग्जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् ।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ॥ ६१ ॥

युधिष्ठिर बोले– सज्जन दिशा हैं, आकाश जल है, गौ अन्न है, मांगना विष है और श्राद्धका समय ब्राह्मण है । हे यक्ष ! तुम्हारा मत क्या है ? ॥ ६१ ॥

यक्ष उवाच

व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना यथातथ्यं परंतप ।
पुरुषं त्विदानीमाख्याहि यश्च सर्वधनी नरः ॥ ६२ ॥

यक्ष बोले– हे शत्रुनाशक ! तुमने मेरे प्रश्नोंका ठीक ठीक उत्तर दे दिया । अब पुरुषकी व्याख्या करो और यह बतलाओ कि सब धनवाला पुरुष कौन है ? ॥ ६२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः ।
यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर बोले– पुण्यकर्मका यश आकाश और भूमिमें फैलता है, जबतक वह यश रहता है, तबतक वह पुरुष कहाता है ॥ ६३ ॥

तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च ।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥ ६४ ॥

जिसके लिए प्रिय और अप्रिय, सुख और दुःख, भूत और भविष्यत् समान हों, वही सबसे अधिक धनी है ॥ ६४ ॥

यक्ष उवाच

व्याख्यातः पुरुषो राजन्यश्च सर्वधनी नरः ।
तस्मात्तवैको भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु ॥ ६५ ॥

यक्ष बोले– हे राजन् ! तुमने सबसे धनी पुरुषकी व्याख्या की, इस कारण चारों भाइयोंमेंसे जिस एकको कहो, वही जी जाये ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोद्गतः ।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु ॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे यक्ष ! यह जो श्याम वर्ण, लाल नेत्रवाला, शालके समान ऊंचा, चौडी छातीवाला महाबली नकुल है, यही जी जाये ॥ ६६ ॥

यक्ष उवाच

प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम् ।
स कस्मान्नकुलो राजन्सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ ६७ ॥

यक्ष बोले– हे राजन् ! यह तुम्हारा प्रिय भीम तथा तुम्हारी रक्षा करनेवाला अर्जुन है, इनको त्यागकर अपनी सौतेली मांके पुत्र नकुलको जिलानेकी क्यों इच्छा करते हो ? ॥ ६७ ॥

यस्य नागसहस्रेण दशसंख्येन वै बलम् ।
तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं जीवमिच्छसि ॥ ६८ ॥

जिस भीमसेनमें दश सहस्र हाथीका बल है, उसे छोडकर नकुलको जिलानेकी इच्छा क्यों करते हो ? ॥ ६८ ॥

तथैनं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव ।
अथ केनानुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ ६९ ॥

सब लोग कहते हैं कि भीमसेन युधिष्ठिरका प्यारा है, उसे त्यागकर सौतेली मांके पुत्र नकुलको क्यों जिलाना चाहते हो ? ॥ ६९ ॥

यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः समुपाश्रिताः ।
अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि ॥ ७० ॥

जिस अर्जुनके बाहुबलके आश्रयसे पाण्डव जगत्में रहते हैं, उस अर्जुनको त्यागकर नकुलको जिलानेकी क्यों इच्छा करते हो ? ॥ ७० ॥

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम् ।
आनृँशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिर बोले– दया ही परम धर्म है, मैं यथार्थ रीतिसे जानता हूं। मैं दयाका पालन करना चाहता हूँ, इसलिए, हे यक्ष ! नकुल ही जीवे ॥ ७१ ॥

धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः ।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ ७२ ॥

हे यक्ष ! जगत्में मनुष्य कहते हैं कि राजा युधिष्ठिर बडे ही धर्मशील हैं । मैं अपने धर्मसे विचलित होना नहीं चाहता, अतः नकुल जीवित हो ॥ ७२ ॥

×

यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः ।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ ७३ ॥

कुन्ती और माद्रीको मैं समान ही मानता हूं, उन दोनोंके विषयमें भेदबुद्धि मेरे मनमें नहीं है । दोनों माताओंमें समानताका होना ही मैं चाहता हूं, इसलिये, हे यक्ष ! यह नकुल ही जीवे ॥ ७३ ॥

यक्ष उवाच

यस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम् ।
तस्मात्ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ ॥ ७४ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९७ ॥ १०२५९ ॥

यक्ष बोले– चूंकि तुम अर्थ और कामसे भी दयाको बढकर मानते हो; अतः हे भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे सब भाई जी जायें ॥ ७४ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दो सौ सत्तानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २९७ ॥ १०२५९ ॥

: २९८ :

वैशंपायन उवाच

ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठन्त पाण्डवाः ।
क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणे तस्मिन्व्यगच्छताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले– तब यक्षके वचनसे सब पाण्डव खडे हो गये । क्षण भरमें भूख और प्यास से वे सब मुक्त होगये ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सरस्येकेन पादेन तिष्ठन्तमपराजितम् ।
पृच्छामि को भवान्देवो न मे यक्षो मतो भवान् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले– तालाबमें एक पैरसे खडे हुए, पराजय रहित आप कौन हैं ? मैं आपसे पूछता हूँ कि आप कौन हैं ? आप कोई देव होंगे, आप यक्ष नहीं हो सकते ऐसा मेरा विचार है ॥ २ ॥

वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथ वा भवान् ।
अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः ॥ ३ ॥

या आप वसुवोंमेंसे कोई एक हैं ? अथवा रुद्र हैं या मरुद्गणमेंसे कोई हैं ? अथवा आप वज्रधारी देवराज इन्द्र ही हैं ॥ ३ ॥

मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः ।
न तं योगं प्रपश्यामि येन स्युर्विनिपातिताः ॥ ४ ॥

मेरे यह भाई जो सैकडों और सहस्रोंसे लडनेवाले हैं, मैं ऐसा कोई योद्धा नहीं देखता, जो इन सबको मार डाले ॥ ४ ॥

सुखं प्रतिविबुद्धानामिन्द्रियाण्युपलक्षये ।
स भवान्सुहृदस्माकमथ वा नः पिता भवान् ॥ ५ ॥

अब मैं इन सबको सुखसे जिया हुआ तथा विकार रहित इन्द्रियोंवाला देखता हूं । आप हमारे बान्धव हैं अथवा आप हमारे पिता ही हैं ॥ ५ ॥

यक्ष उवाच

अहं ते जनकस्तात धर्मो मृदुपराक्रम ।
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ ॥ ६ ॥

यक्ष बोला– हे तात ! हे कोमल पराक्रमवाले ! मैं तुम्हारा पिता धर्म हूं । हे भरतश्रेष्ठ ! तुम्हें देखने की इच्छासे यहां आया हूँ ऐसा समझो ॥ ६ ॥

यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम् ।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥ ७ ॥

यश, सत्य, दम, शौच, कोमलता, लज्जा, धीरता, दान, तप और ब्रह्मचर्य यह सब मेरे शरीर हैं ॥ ७ ॥

अहिंसा समता शान्तिस्तपः शौचममत्सरः ।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥ ८ ॥

अहिंसा, समता, शान्ति, तप, शौच, प्रमादरहित होना यह मेरी प्राप्तिके द्वार हैं ऐसा समझो । तुम सदासे मुझे प्रिय हो ॥ ८ ॥

दिष्ट्या पंचसु रक्तोऽसि दिष्ट्या ते षट्पदी जिता ।
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चान्ते सांपरायिके ॥ ९ ॥

सौभाग्यसेही तुम नित्य पांच यज्ञोंमें तत्पर रहते हो । सौभाग्यसेही तुमने भूख, प्यास, शोक मोह और जरा, मृत्यु इन छ शत्रुओंको जीता है । इन शत्रुओंमेंसे दो प्रथम अवस्थामें, दो मध्य अवस्थामें और दो अन्तकी अवस्थामें दुःख देते हैं ॥ ९ ॥

धर्मोऽहमस्मि भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहागतः ।
आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ ॥ १० ॥

हे राजन् ! मैं धर्म हूं । तुम्हारा कल्याण हो । मैं तुमको जाननेके लिए यहां आया था । हे पापरहित ! मैं तुम्हारी दयासे बहुत प्रसन्न हुआ । अब मैं तुम्हें वर दूंगा ॥ १० ॥

वरं वृणीष्व राजेन्द्र दाता ह्यस्मि तवानघ ।
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ॥ ११ ॥

हे निष्पाप राजेन्द्र ! तुम वर मांगो, मैं तुम्हें वह वर दे दूंगा। क्योंकि जो मेरे भक्त हैं, उनकी दुर्गति कभी नहीं होती ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति ।
तस्याग्नयो न लुप्येरन्प्रथमोऽस्तु वरो मम ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले– जिस ब्राह्मणकी अरणीको लेकर हरिन भाग गया है, उसका अग्निहोत्र नष्ट न हो, यह मुझको पहिला वर दीजिये ॥ १२ ॥

धर्म उवाच

अरणीसहितं तस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया ।
मृगवेषेण कौन्तेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो ॥ १३ ॥

धर्म बोले– हे सामर्थ्यशाली राजेन्द्र ! ब्राह्मणकी अरणीको तुम्हारी परीक्षा करनेके लिए मैं हरिण बनकर उठा लाया हूं ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
अन्यं वरय भद्रं ते वरं त्वममरोपम ॥ १४ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् जनमेजय ! धर्मने कहा कि हे देवतुल्य राजपुत्र युधिष्ठिर ! तुम्हारा कल्याण हो, यह वर मैंने तुमको दिया, अब दूसरा वर मांगो ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्षाणि द्वादशारण्ये त्रयोदशमुपस्थितम् ।
तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित् ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले– हम लोगोंने बारह वर्ष वनमें बिताये; अब तेरहवां वर्ष आ गया है। इस वर्षमें हमको कोई मनुष्य न जान पाये, यह दूसरा वर दीजिये ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
भूयश्चाश्वासयामास कौन्तेयं सत्यविक्रमम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायन बोले– भगवान् धर्मने उत्तर दिया कि यह वर भी मैंने तुम्हें दिया। धर्मने फिर सत्यपराक्रमी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको सांत्वना दी ॥ १६ ॥

यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम् ।
न वो विज्ञास्यते कश्चित् त्रिषु लोकेषु भारत ॥ १७ ॥

हे भारत ! यद्यपि तुम इस पृथ्वीपर अपने रूपसेही विचरोगे, तो भी तुम्हें तीनों लोकोंमें कोई नहीं जान सकेगा ॥ १७ ॥

वर्षं त्रयोदशं चेदं मत्प्रसादात्कुरूद्वहाः ।
विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ ॥ १८ ॥

हे कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवो ! यह तेरहवां वर्ष है। इस वर्ष मेरी कृपासे तुम विराटनगरमें छिपकर और अज्ञात होकर रहो ॥ १८ ॥

यद्वः संकल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम् ।
तादृशं तादृशं सर्वे छन्दतो धारयिष्यथ ॥ १९ ॥

तुम लोगोंके मनमें जैसा रूप धारण करनेकी इच्छा हो वैसा ही रूप तुम इच्छानुसार धारण करके विचरो ॥ १९ ॥

अरणीसहितं चेदं ब्राह्मणाय प्रयच्छत ।
जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा ॥ २० ॥

यह अरणी सहित मथानी, जिसे तुम्हारी परीक्षा लेनेकी इच्छासे मैं हरिण बनकर उठा लाया था, ब्राह्मणको दे देना ॥ २० ॥

तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत् ।
त्वं हि मत्प्रभवो राजन्विदुरश्च ममांशभाक् ॥ २१ ॥

हे राजन् ! तीसरा वर ऐसा मांगो कि उसकी कोई उपमा न हो। तुम मेरे पुत्र हो और विदुर भी मेरे ही अंशसे उत्पन्न हैं ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवो मया दृष्टो भवान्साक्षात्सनातनः ।
यं ददासि वरं तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर बोले– हे देवदेव ! हे सनातन ! मैंने सनातन भगवान्को साक्षात् देख लिया है। हे पिता ! आप जो प्रसन्न होकर वर देंगे, सो मैं ग्रहण करूंगा ॥ २२ ॥

जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो ।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥ २३ ॥

हे विभो ! मैं लोभ, मोह और क्रोधको सदा जीतूं। दान, तप और सत्यमें मेरा मन सदा लगा रहे ॥ २३ ॥

राजन्विद्वान्भवान्दान्तः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः।
नैवंविधाः प्रमुह्यन्ति नराः कस्यांचिदापदि ॥ ९ ॥

हे राजन् ! विद्वान्, दानी आप सत्यवादी और जितेन्द्रिय हैं, आप जैसे मनुष्य किसी भी विपत्तिमें शोक नहीं करते ॥ ९ ॥

देवैरप्यापदः प्राप्ताश्छन्नैश्च बहुशस्तथा।
तत्र तत्र सपत्नानां निग्रहार्थं महात्मभिः ॥ १० ॥

महात्मा देवोंको भी शत्रुओंको पकडनेके लिए छिपना पडा और विपत्ति भोगनी पडी थी ॥ १० ॥

इन्द्रेण निषधान्प्राप्य गिरिप्रस्थाश्रमे तदा।
छन्नेनोष्य कृतं कर्म द्विषतां बलनिग्रहे ॥ ११ ॥

इन्द्रने पहाडके ऊपर और निषधदेशमें गुप्त रहकर शत्रुओंके पकडनेका उपाय किया था ॥ ११ ॥

विष्णुनाश्वशिरः प्राप्य तथादित्यां निवत्स्यता।
गर्भे वधार्थं दैत्यानामज्ञातेनोषितं चिरम् ॥ १२ ॥

विष्णुने घोडेका सिर पाकर अदितिके गर्भमें दैत्योंके मारनेके लिये बहुत दिन तक छिपकर निवास किया था ॥ १२ ॥

प्राप्य वामनरूपेण प्रच्छन्नं ब्रह्मरूपिणा।
बलेर्यथा हृतं राज्यं विक्रमैस्तच्च ते श्रुतम् ॥ १३ ॥

फिर ब्राह्मणरूपी विष्णुने वामनरूप धारण करके अपनेको छिपाकर जैसे बलिके राज्यको छीना, वह सब आपने सुना ही है ॥ १३ ॥

और्वेण वसता च्छन्नमूरौ ब्रह्मर्षिणा तदा।
यत्कृतं तात लोकेषु तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ १४ ॥

हे तात युधिष्ठिर ! ब्रह्मऋषि और्वने जो माताकी जांघमें छिपकर लोकोंमें जो कार्य किया था, वह भी आपने सुना ही है ॥ १४ ॥

प्रच्छन्नं चापि धर्मज्ञ हरिणा वृत्रनिग्रहे।
वज्रं प्रविश्य शक्रस्य यत्कृतं तच्च ते श्रुतम् ॥ १५ ॥

हे धर्मको जाननेवाले ! वृत्रको मारनेके अवसरपर इन्द्रके वज्रमें घुसकर जैसे विष्णुने शत्रुओंका नाश किया, वह भी आपने सुना ही है ॥ १५ ॥

हुताशनेन यच्चापः प्रविश्य च्छन्नमासता।
विबुधानां कृतं कर्म तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ १६ ॥

जैसे अग्निने जलमें प्रविष्ट होकर और वहां छन्नरूपमें रहकर देवताओंका कार्य किया, वह सब आपने सुना ही है ॥ १६ ॥

एवं विवस्वता तात छन्नेनोत्तमतेजसा ।
निर्दग्धाः शत्रवः सर्वे वसता भुवि सर्वशः ॥ १७ ॥

हे तात ! इसीतरह उत्तम तेजवाले सूर्यने पृथ्वीमें रहकर जैसे छिपकर शत्रुओंको जलाया था, उसे भी आप जानते हैं ॥ १७ ॥

विष्णुना वसता चापि गृहे दशरथस्य वै ।
दशग्रीवो हतश्छन्नं संयुगे भीमकर्मणा ॥ १८ ॥

ऐसे ही भयंकर कर्म करनेवाले विष्णुने दशरथके घरमें छन्नरूपमें रहकर युद्धमें रावणको मारा था ॥ १८ ॥

एवमेते महात्मानः प्रच्छन्नास्तत्र तत्र ह ।
अजयञ्शात्रवान्युद्धे तथा त्वमपि जेष्यसि ॥ १९ ॥

इस प्रकार इन महात्माओंने इधर उधर छिपकर शत्रुओंको युद्धोंमें जीता था; वैसे ही तुम भी जीतोगे ॥ १९ ॥

तथा धौम्येन धर्मज्ञो वाक्यैः संपरितोषितः ।
शास्त्रबुद्ध्या स्वबुद्ध्या च न चचाल युधिष्ठिरः ॥ २० ॥

धर्मज्ञ धौम्यने ऐसे वाक्योंसे राजाको समझाया, तब राजा शास्त्रकी बुद्धिसे और अपनी बुद्धिके कारण अपने धर्मसे विचलित न हुए ॥ २० ॥

अथाब्रवीन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।
राजानं बलिनां श्रेष्ठो गिरा संपरिहर्षयन् ॥ २१ ॥

पश्चात् बलवानोंमें श्रेष्ठ महाभुज महाबली भीमसेन अपनी वाणीसे राजाको प्रसन्न करते हुए ऐसे बोले ॥ २१ ॥

अवेक्षया महाराज तव गाण्डीवधन्वना ।
धर्मानुगतया बुद्ध्या न किंचित्साहसं कृतम् ॥ २२ ॥

हे राजन् ! आपकी धर्मबुद्धिको देखकर ही गाण्डीवधारी अर्जुनने कुछ साहस नहीं किया था ॥ २२ ॥

सहदेवो मया नित्यं नकुलश्च निवारितौ ।
शक्तौ विध्वंसने तेषां शत्रुघ्नौ भीमविक्रमौ ॥ २३ ॥

नकुल और सहदेव दोनों अपने शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं, तो भी भयकर पराक्रमी शत्रुओंको मारनेवाले उन दोनोंको मैंने सदा ही रोका ॥ २३ ॥

न वयं तत्प्रहास्यामो यस्मिन्योक्ष्यति नो भवान्।
भवान्विधत्तां तत्सर्वं क्षिप्रं जेष्यामहे परान् ॥ २४ ॥

जिस शत्रुको मारनेके लिए आप हमें नियुक्त करेंगे, हम वहांपर अपनी हंसी नहीं करायेंगे। आप आज्ञा दीजिये, हम बहुत शीघ्र शत्रुओंको जीतेंगे ॥ २४ ॥

इत्युक्ते भीमसेनेन ब्राह्मणाः परमाशिषः।
प्रयुज्यापृच्छय भरतान्यथान्स्वान्स्वान्ययुर्गृहान् ॥ २५ ॥

भीमसेनके ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मणोंने परम आशीर्वाद दिया और पाण्डवोंसे आज्ञा लेकर अपने घर चले गये ॥ २५ ॥

सर्वे वेदविदो मुख्या यतयो मुनयस्तथा।
आशीरुक्त्वा यथान्यायं पुनर्दर्शनकांक्षिणः ॥ २६ ॥

वेदोंके जाननेवालोंमें मुख्य यति और मुनि यथायोग्य आशीर्वाद देकर फिर दर्शनकी इच्छासे अपने अपने घर चले गये ॥ २६ ॥

सह धौम्येन विद्वांसस्तथा ते पंच पाण्डवाः।
उत्थाय प्रययुर्वीराः कृष्णामादाय भारत ॥ २७ ॥

हे भारत जनमेजय ! धौम्यके सहित विद्वान् तथा वे वीर पांच पाण्डव द्रौपदीके सहित उठकर चले ॥ २७ ॥

क्रोशमात्रमुपागम्य तस्माद्देशान्निमित्ततः।
श्वोभूते मनुजव्याघ्राश्छन्नवासार्थमुद्यताः ॥ २८ ॥

उस स्थानसे एक कोस चलकर अगले दिन प्रातःकाल होनेपर वे पुरुषसिंह पाण्डव अज्ञातवासके लिए उद्यत हुए ॥ २८ ॥

पृथक्शास्त्रविदः सर्वे सर्वे मन्त्रविशारदाः।
सन्धिविग्रहकालज्ञा मन्त्राय समुपाविशन् ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आरण्यकपर्वणि एकोनत्रिशततमोऽध्यायः ॥ २९९ ॥
समाप्तमारणेयपर्व ॥ १०३१६ ॥

वे सभी पाण्डव सभी शास्त्रोंमें कुशल थे, वे सभी विचार करनेमें कुशल थे। सभी संधि और विग्रहके समयको जाननेवाले थे। वे सभी पाण्डव परस्पर सलाह करनेके लिए एक जगहपर बैठे ॥ २९ ॥

॥ महाभारतके आरण्यकपर्वमें दोसौ निन्यानवेवां अध्याय समाप्त ॥ २९९ ॥
आरणेयपर्व समाप्त ॥ १०३१६ ॥

॥ आरण्यकपर्व समाप्त ॥